८२७ ३.म.

विषय-सूची

मुनियों के अयोग्य कार्य

८२८७ S. A.

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—द्वितीय किरण

अथ समाचाराधिकार ।

❀ मङ्गलाचरण ❀

सुरासुरनरेन्द्राद्यैर्वन्दनीयपदाब्जकम् ।
नत्वा जिनं समाचारं संयतानां लिखाम्यहम् ॥१॥

प्रथम किरण में साधुओं के मूलगुणों का विवेचन करके अब द्वितीय किरण में समाचार अधिकार पर प्रकाश डाला जाता है । मुनि और आर्यिकाओं के आचरण को समाचार कहते हैं ।

समाचार शब्द के अर्थ

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो ।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥ (मूला० समा०)

(१) रागद्वेष के अभाव रूप समता परिणाम को समाचार कहते हैं । अथवा त्रिकाल सम्बन्धी देव-वन्दना रूप या पंचनमस्कार रूप परिणाम एवं समता को अथवा सामायिक व्रत को समाचार कहते हैं ।

(२) सम्यक् अर्थात् अतिचार रहित मूलगुणों के आचरण को समाचार कहते हैं । अथवा 'चर्' धातु का गति और भक्षण अर्थ है, तदनुसार सम्यक् अवगति अर्थात् बोध को तथा निर्दोष भिक्षा-ग्रहण करने को समाचार कहते हैं ।

(३) प्रमत्त (छठे गुणस्थानवर्त्ती) तथा अप्रमत्त (सातवें गुणस्थानवर्त्ती) आदि सम्पूर्ण मुनियों के अहिंसा, सत्य आदि रूप समान आचार को समाचार कहते हैं ।

(४) क्रोधादि के अभाव से जो क्षमादि स्वरूप दशलाक्षणिक धर्म अङ्गीकार किया जाता है उसे समाचार कहते हैं । अथवा भिक्षाके ग्रहण और देव-वन्दनादि के साथ सम्बन्ध रखने वाले पूज्य और अभिप्रेत (इष्ट) आचार को समाचार कहते हैं । अथवा सब क्षेत्रों में जो स्वसिद्धान्त के अनुकूल समान आचार है उसे समाचार कहते हैं ।

समाचार के भेद

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव ।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागी य ॥१२४॥ (मूला० समा०)

अर्थ— समाचार के दो भेद हैं:- (१) औघिक और पदविभागी । औघिक समाचार दश प्रकार और पदविभागी समाचार अनेक प्रकार का है ।

भावार्थ—संयमियों के सम्यक् आचरण को समाचार कहते हैं। गाथा में जो सामाचार शब्द आया है उसका अर्थ सम्यक् आचरण ही है। प्राकृत व्याकरण के नियम से सम्यक् शब्द के सयुक्त यकार का लोप होने से उसके पूर्व स्वर (अकार) को दीर्घ हो गया है। मुनियों के सामान्य आचरण को औघिक समाचार कहते हैं। उस के दश भेद हैं। तथा सूर्योदय से लेकर रात्रिपर्यन्त अर्थात् सम्पूर्ण दिन रात आठ पहर के आचार को पदविभागी समाचार कहते हैं। उसके अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार के दश भेद

इच्छामिच्छाकारो तधाकारो य आसिआ णिसिही ।
आपुच्छा पडिपुंच्छा छंदण सणिमंतणा य उवसंपा ॥१२५॥ (मूला० समा०)

अर्थ—१ इच्छाकार, २ मिथ्याकार, ३ तथाकार, ४ आसिका, ५ निषेधिका, ६ पृच्छा, ७ प्रतिपृच्छा, ८ छन्दन, ९ सनिमंत्रणा, १० और उपसम्पत् ये औघिक समाचार के दश भेद हैं—

अब इनका अर्थ दिखाते हैं :—

इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे ।
पडिसुणणम्हि तहत्ति य णिग्गमणे आसिया भणिया ॥१२६॥
पविसंते य णिसिही आपुच्छणिया सकज्जआरंभे ।
साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिद्धम्हि पडिपुच्छा ॥२२७॥
छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा भणिदा ।
तुम्हमह ति गुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥ (मूला० समा०)

अर्थ—(१) **इच्छाकार**—सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणामों तथा व्रतादि शुभ परिणामों को स्वीकार करना, उनमें हर्ष करना तथा उन (शुभ परिणामों) के अनुकूल स्वेच्छा से प्रवृत्ति करने को इच्छाकार कहते हैं।

(२) **मिथ्याकार**—व्रतादि में अतिचार होने पर मन, वचन और काय द्वारा उनसे निवृत्त होना, अर्थात् व्रतादि में लगे हुए दोषों को धिक्कार देकर उनसे मन, वचन और काय को रोकना मिथ्याकार कहलाता है।

(३) **तथाकार**—सूत्र तथा अर्थ का श्रवण करते समय, ग्रहण करते समय 'तथेति' शब्द का उच्चारण करना अर्थात् सूत्र और अर्थ का उपदेश देते तथा पढ़ाते समय गुरु को कहना कि 'आपने जैसा कहा है वैसा ही वस्तु का स्वरूप है, अन्यथा नही है' इसे तथाकार कहते हैं।

(४) **आसिका**—किसी स्थान से निकलते समय देवता तथा गृहस्थादि से पूछ कर गमन करने को असिका कहते हैं। अथवा पाप जनक क्रियाओं से मन को निवृत्त करना (हटाना) आसिका कहा जाता है।

(५) **निसिही (निषेधिका)**—जिस स्थान में ठहरना हो, उस स्थान के स्वामी से स्वीकारता लेकर ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि गुणों में स्थिर रहना निसिही कहलाता है।

(६) **आपृच्छना**—पठन-पाठन, गमन तथा उपवास आदि तपस्या धारण करने के लिए वन्दना-पूर्वक गुरु आदि से पूछना। अर्थात् किसी कार्य के प्रारम्भ करने की इच्छा हो तो विनयपूर्वक गुरु आदि की वन्दना करके उनसे आज्ञा लेना कि हे भगवन्! मै अमुक कार्य करना चाहता हूँ, उसके लिए आप आज्ञा दीजिए, इस प्रकार पूछने को आपृच्छना कहते हैं।

(७) **प्रतिपृच्छा**—समान धर्म वाले किसी मुनि को अथवा दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और तपश्चरण तथा ज्ञान से महान् मुनीश्वरों को, यदि पहले पुस्तक उपकरण आदि वस्तु दी हो और वह उनसे वापिस लेनी हों तो पूछ कर लेने को प्रतिपृच्छा कहते हैं।

(८) **छदन**—ग्रहण किये हुए पुस्तक, उपकरण आदि को, देने वाले के अभिप्राय के अनुसार उपयोग में लाने, उन्हें सुरक्षित रखने को छंदन कहते हैं।

(९) **निमन्त्रणा**—प्रयोजन वश दूसरे से पुस्तक, उपकरण आदि वस्तुओं की सत्कार पूर्वक याचना करने अथवा ग्रहण की हुई पुस्तक, उपकरणादि वस्तुओं को प्रयोजन होने पर सत्कार पूर्वक लौटा देने को निमन्त्रणा कहते हैं।

(१०) **उपसंपत्**—मै आपका हूँ, ऐसा निवेदन करना, अर्थात् गुरुकुल में गुरु की आम्नाय में अपनी आत्मा को समर्पण करना, उनके अनुकूल आचरण करना उपसम्पत् कहलाता है।

भावार्थ—साधुओं को इन्द्रियों के विषयों से निवृत्तिरूप तथा छह काय के जीवों की रक्षारूप संयम में तथा संयम के साधन पिच्छी आदि में, ज्ञानावरण के क्षयोपशम के बाह्य-साधन पुस्तकादि में तथा श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में, तपश्चरणादि में तथा उनके साधन-भूत कमण्डलु, शुद्ध आहारादि के विषय में, भिक्षा के विषय में तथा अन्य साधु आदि की वैयावृत्य के निमित्त औषधादि के विषय में तथा आतापनयोग, वृक्ष मूलयोग, अभ्रावकाश योगादि के आचरण में और ऐसे ही अन्य शुभ अनुष्ठान में इच्छाकार करना चाहिए। अर्थात् उक्त शुभ कार्यों में चित्त की प्रवृत्ति करते हुए शुभ परिणाम रखना ही साधुओं का कर्तव्य है।

'मिच्छा मि दुक्कड' मैंने जो दुष्कृत (पाप-कार्य) किया है वह मेरा मिथ्या हो, फिर कभी मुझसे यह दुष्कृत न हो—इस प्रकार के भावों से दुष्कर्म का तिरस्कार करना। केवल वचन से ही नहीं, किन्तु मन से और काय से भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में उस अपराध का जो करने वाला नहीं होता है, उसी के दुष्कर्म के विषय में मिथ्याकार होता है।

जिस समय गुरुदेव सिद्धान्त-शास्त्र की वाचना (व्याख्या) कर रहे हों, आचार्य परम्परा से आगत अविसंवाद (निर्बाध) मन्त्र-तन्त्र आदि सम्बन्धी उपदेश दे रहे हों, सूत्रों की अर्थ के साथ योजना करने वाले वृत्ति ग्रन्थ, वार्त्तिक तथा भाष्यादि के स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादन कर रहे हों, उस समय अपने मुख से कहना कि यह सब अवितथ (सत्य) है, अर्थात् जैसा परम भट्टारक अर्हन्त देव ने दिव्य-वाणी द्वारा उपदेश दिया है, उसी प्रकार आपके मुखारविन्द से प्रकाशित हुआ उपदेश है, अन्यथा नहीं है।

पश्चात् उसी उपदेश अथवा व्याख्या का श्रवण करने का अवसर प्राप्त हो, उस समय 'तथाकार' शब्द का उच्चारण करे।

जब मुनिराज विहार करते हुए किसी जल के प्रवाह से विदारण किये हुए पर्वत के स्थान विशेष कन्दरा में, पर्वत के पार्श्व भाग में रहने वाली गुफा में, नदी आदि जलाशय के मध्यवर्ती जलरहित प्रदेश पुलिनादि में एवं किसी मन्दिर, मठ, शून्य-गृह, उपवन, स्मशान आदि स्थानों में प्रवेश करें, उस समय उन्हें 'णिसीहि' (निसीहि) शब्द का उच्चारण करना चाहिये। इसका आशय यह है कि यदि उस स्थान का स्वामी अथवा अन्य कोई देव वहाँ पर उपस्थित हो तो उक्त शब्द के उच्चारण करने से उसकी आज्ञा ली जाती है, जिससे उसका अनादर नहीं होता है। जिस स्थान का कोई मनुष्य स्वामी होता है, उसकी आज्ञा विना तो मुनीश्वर उस स्थान में पैर तक नहीं रखते हैं; किन्तु जिस स्थान का कोई अधिपति प्रतीत नहीं होता है, ऐसे पर्वत की कन्दरा, गुफा आदि स्थानों में प्रवेश करते समय 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करके मुनिराज उसमें प्रवेश करते हैं। 'निसीहि' शब्द का अर्थ पाप की निवृत्ति भी होता है। अर्थात् गमनादि से जो पाप-क्रिया हुई हो, उससे मैं निवृत्ति की भावना भाता हूँ।

इसी प्रकार उक्त पर्वत की कन्दरा, गुफा आदि से बाहर निकलते समय मुनि को 'आसिका' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् देव व गृहस्थ आदि उस स्थान के अधिपति से पूछ कर निकलने के लिए 'आसिका' शब्द मुनीश्वर उच्चारण करते हैं।

यदि ग्रीष्म काल में आतापन-योग, शीतकाल में अभ्रावकाश (निरावरण स्थिति) योग, वर्षाकाल में वृक्षमूलयोग तथा कायोत्सर्ग आदि का ग्रहण करने के लिए किसी कारण विशेष से अन्य ग्राम की ओर गमन करने के लिए अथवा तपश्चरण, पठन-पाठन आदि किसी भी कार्य का प्रारम्भ करने के निमित्त आचार्य, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणधर आदि यथायोग्य अधिकारी गुरु आदि से पूछ कर जो कार्य किया जाता है, उसे आपृच्छा कहते हैं।

मुनीश्वरों को यदि कोई महान् कार्य करना हो तो आचार्य, प्रवर्त्तक, गणधरादि से पूछ कर वे पुनरपि साधुओं को पूछते हैं, उसे प्रतिपृच्छा कहते हैं। अर्थात् जब किसी योग्य साधु को कोई विशाल कार्य करना हो तो चाहे वे स्वयं धुरन्धर विद्वान् अथवा परम तपस्वी आदि ही क्यों न हों, तथापि वह अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों से समय-समय पर पुनः पुनः पूछ कर ही कार्य प्रारम्भ करते हैं। अपनी विद्वत्ता तथा तपस्या प्रतिष्ठा आदि का अभिमान लेशमात्र न करके गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त करके ही कार्य करते हैं।

सूत्र तथा अर्थ और तद्विषयक प्रश्नादि करते समय, पिच्छी कमण्डलु आदि उपकरण का ग्रहण करते समय, विनय करने के समय, वन्दना करते समय, गणधर, आचार्य एवं गुरु आदि के अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं, अथवा उपकरण द्रव्य के स्वामी की इच्छा के अनुकूल उनका उपयोग करते हैं, उसे छन्दन कहते हैं।

जो पुस्तक आदि पदार्थ गुरु के अथवा सधर्मा साधु मुनिराज के आश्रित हो और उस को ग्रहण करने की आवश्यकता साधुको आ पड़े तो विनय पूर्वक गुरु आदि से उस पदार्थ की याचना करे उसे निमन्त्रणा कहते हैं।

जिस संघ में साधु रहते हैं वे उस संघ की आम्नाय के अनुकूल आचरण करते हैं। अर्थात् गुरुके पूज्य पदारविन्द में आत्मसमर्पण कर उनके अनुकूल ही आत्मप्रवृत्ति करते हैं।

उपसम्पत् के पांच भेद हैं —

उपसंपयाय णेया पंचविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा।
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य॥ १३६॥ (मूला० समा०)

अर्थ—विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुख-दुःख तथा सूत्र के भेद से उपसम्पत् के पांच भेद हैं।

(१) **विनय-उपसम्पत्**— अन्य संघ के कोई मुनिराज अपने संघ में कारण वश आवें उन्हें पाहुने साधु कहते हैं। उन पाहुने साधुओं का अंग-मर्दन आदि द्वारा वैयावृत्त्य करना, प्रिय वचन उच्चारण करना, योग्य आसनादि देकर उनका आदर-सत्कार करना, संघ की कुशल-क्षेम पूछना, मार्ग के कष्टों में सहानुभूति प्रकट करना, उनसे पुस्तक, शास्त्र, उपकरण आदि आवश्यक वस्तु ग्रहण करने के लिए निवेदन करना तथा उनके अनुकूल आचरण करना इत्यादि।

गुरु आदि पूज्य पुरुषों की आसन पर बैठने की इच्छा जानकर आसन आदि का प्रमार्जन कर योग्य स्थान पर आसन पट्टे आदि का बिछाना, शय्या, संस्तर, पुस्तक, उपकरणादि का प्रमार्जन करना, निर्बाध वसतिका आदि की व्यवस्था करना तथा रुग्णावस्था में औषधादिका प्रयोग,सेवा, सुश्रूषा आदि द्वारा अनुकूल प्रवृत्ति करना। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार से संघ की भक्ति के लिए आत्मा का समर्पण करना विनय-उपसम्पत् कहलाता है।

(२) **क्षेत्र-उपसम्पत्**—यम, नियम, संयम, तप, गुण व शील आदि आचरण की वृद्धि और संरक्षण जिस क्षेत्र में होता है उस क्षेत्र मे निवास करने को क्षेत्र उपसम्पत् कहते हैं।

जिन व्रतों का मरण-पर्यन्त पालन होता है उन्हें यम कहते हैं। जिनका काल आदि की अवधि से आचरण किया जाता है उन्हें नियम कहते हैं। षट्काय के जीवों के सयमन (रक्षण) तथा पांच इन्द्रियों के सयमन (वश मे करने) को सयम कहते है। अनशन (उपवास) आदि द्वारा काय-क्लेश करने को तप कहते है। क्रोधादि को उपशम कर क्षमादि धारण करने को गुण कहते हैं। धारण किये हुए व्रतों के सरक्षण के उपाय को शील कहते है। इन की सतत वृद्धि जिस क्षेत्र मे होती है उस क्षेत्र मे वास करना ही क्षेत्र उपसम्पत् है।

(३) **मार्ग उपसम्पत्**—जो अन्य संघ के साधु अपने सघ मे आकर ठहरे हों उनसे गमनागमन सम्बन्धी मार्ग के समाचार पूछना। आपको मार्ग मे कुछ कष्ट तो नहीं हुआ ? मार्ग मे सयम तप आदि का उत्तमता से पालन हुआ ? इस प्रकार कुशल-क्षेम पूछना, मार्ग उपसम्पत् है।

(४) **सुख-दुःख-उपसम्पत्**—सुख दुःख मे सयमियों की वसतिका, औषध, आहार आदि से वैयावृत्त्य करना। गुरु आदि को शिष्यादि का लाभ होने पर उनके लिए पिच्छी, कमण्डलु, पुस्तक आदि आवश्यक योग्य वस्तुओं का सयोग मिलाना। यदि कोई साधु व्याधि से पीडित हों तो उनका औषध-पान, सुखकर-शय्या, आसन, अङ्ग-मर्दन आदि द्वारा उपचार करना तथा हम आपके ही है, हमको दूसरे न समझिए, इस प्रकार सान्त्वना तथा सहानुभूति प्रदान करना सुख-दुःख उपसम्पत् है। आशय यह है कि जिस प्रकार व्याधि-पीडित साधु को शान्ति और सुख उत्पन्न हो उसी प्रकार वाह्य निमित्तों को मिलाना, वचनों द्वारा पूर्ण सहानुभूति और धैर्य धारण करवाना, काय द्वारा निरन्तर सेवा टहल मे लगे रहना, सुखी साधु के आवश्यक कार्य मे सहयोग देना, उसके लिए उपकरण, पुस्तक, निर्वाध-वसतिका आदि का योग मिला देना, सब प्रकार की सेवा मे तत्परता रखना, इसे सुख-दुःख-उपसम्पत् कहते हैं।

(५) **सूत्र-उपसम्पत्**—सूत्रसम्बन्धी उपसम्पत के तीन भेद हैं। सूत्रोपसम्पत, अर्थोपसम्पत, और सूत्रार्थ-उभयोपसम्पत।

(१) सूत्र के लिए यत्न करना, सूत्रोपसम्पत् है।

(२) सूत्र के अर्थ निमित्त यत्न करना अर्थोपसम्पत् है।

(३) सूत्रार्थ दोनों के लिए यत्न करना सूत्रार्थ-उभयोपसम्पत् है।

उक्त तीनों भेदों मे से प्रत्येक के लौकिक, वैदिक और सामायिक के भेद से तीन २ भेद होते हैं। अर्थात् सूत्रोपसम्पत के लौकिक, वैदिक और सामायिक ऐसे तीन भेद होते है। अर्थ और सूत्रार्थ (उभय) के भी इसी प्रकार लौकिक, वैदिक और सामायिक तीन तीन भेद होते हैं।

शंका—सामायिक (स्वमत के सिद्धान्त) सूत्र, अर्थ और उभय के अध्ययनादि के लिए यत्न करना तो साधुओं के हितकर है, किन्तु लौकिक व वैदिक सूत्रादि के लिए यत्न करने से क्या लाभ ?

समाधान—लौकिक-नीतिशास्त्र, गणित, व्याकरणादि सूत्रों के अभ्यास करने से स्वसिद्धान्त के तत्त्वज्ञान में पूर्ण सहायता मिलती है। वैदिक शास्त्र के परिज्ञान से स्वसिद्धान्त में विशेष रुचि उत्पन्न होती है। स्वसिद्धान्त का समर्थन तथा परमत के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने से जनता को स्वसिद्धान्त में गाढ रुचि उत्पन्न होती है। स्वमत व परमत का भेद ज्ञान हो जाता है तो फिर वह श्रद्धान से विचलित नहीं होती है। अथवा पर मतावलम्बियों से विवाद उपस्थित हो जाने पर मत का खंडन तथा स्वसिद्धान्त का मण्डन करना पड़ता है। एतदर्थ पर-सिद्धान्त का भी ज्ञान परमावश्यक है। अतः स्वसिद्धान्त की पुष्टि के लिए स्वमत मे निष्णात (निपुण) मुनीश्वर वैदिकादि अन्यमत के सिद्धान्तों का भी अभ्यास किया करते हैं। अथवा लौकिक सूत्रादि शब्द से लौकिक अङ्कगणित राजनीति आदि का ग्रहण करना चाहिए। वैदिक—सूत्रादि से सिद्धान्त शास्त्र गोम्मट्टसार, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति आदि का ग्रहण होता है। सामायिक—सूत्रादि से स्याद्वाद-नय के प्ररूपक देवागमस्तोत्र, अष्टसहस्री, नयचक्र, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड इत्यादि न्यायशास्त्र तथा आध्यात्मिक समयसार, प्रवचनसार आत्मप्रकाशादि शुद्ध आत्मतत्त्व का विवेचन करने वाले शास्त्रों का ग्रहण होता है।

आचार सार नामक ग्रन्थ में 'समाचार' के संक्षेप और विस्तार दो भेद बताये हैं। उनमें सक्षेप समाचार के दश भेद और विस्तार समाचार को अनल्प (बहुत) भेद वाला कहा है। संक्षेप समाचार के दश भेद पूर्वोक्त मूलाचार के औघिक समाचार के समान ही हैं। थोड़ासा अन्तर है, वह नीचे दिखाते हैं।

इच्छामिथ्यातथाकारेच्छावृत्त्याशीर्निषिद्धिका ।
आपृच्छनं प्रतिप्रश्नश्चानिमन्त्रणसंश्रयौ ॥५॥ (आचारसार अ० २)

अर्थात्—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, इच्छावृत्ति, आशीर्वाद, निषिद्धिका, आपृच्छन, प्रतिप्रश्न, आनिमन्त्रण और संश्रय से सक्षेप समाचार के दश भेद हैं। इनमें चौथे भेद इच्छावृत्ति, पाँचवें आशीर्वाद, छठे निषिद्धिका और दशवें भेद संश्रय इन चार भेदों में से 'आशीर्वाद' को छोड़ कर शेष तीन भेदों मे तो नाममात्र भेद हैं, अर्थभेद प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि आपृच्छा के स्थान मे यहाँ इच्छावृत्ति, निषेधिका के स्थान में निषिद्धिका तथा उपसंपत् के स्थान में संश्रय कहा गया है। इनमें अर्थभेद नहीं है। केवल 'आसिका' के स्थान में आशीर्वाद कहा गया है। उसमें अर्थभेद भी है। अर्थात् मूलाचार में पर्वत की कन्दरा, गुफा, पुलिन (जलाशय के मध्य सूखे प्रदेश) उपवनादि से निकलते समय साधु 'आसिका' शब्द का उच्चारण करते हैं—ऐसा बताया है और आचार-सार में इसके स्थान में कहा है कि—

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोऽस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यन्तरादेराशीर्निरुच्यते ॥ १० ॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—हे व्यन्तरादि देवो। हम ने इतने काल पर्यन्त आपके स्थान में वास किया है, अब हम जाते हैं। तुम्हारे क्षेम-कुशल की वृद्धि हो। अर्थात् तुम्हारी आत्मा मे सम्यग्दर्शनादि गुणों की उन्नति हो। इस प्रकार व्यन्तरादिकों के इष्टवस्तु की कामना करना, इसे आशीर्वाद कहते हैं।

अब पद-विभागी (विस्तार) समाचार का निरूपण करते हैं—

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं ।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥१४५॥ (मूला० समा०)

अर्थ—पराक्रम, धैर्य, विद्या, बल, उत्साह आदि से सामर्थ्यवान् कोई साधु अपने गुरु उपाध्याय से पढने योग्य सर्व शास्त्रों का अध्ययन करके अधीत शास्त्रों के अतिरिक्त शास्त्रों के अध्ययन की इच्छा रखता हुआ गुरु के निकट जाकर विनय-पूर्वक प्रणामादि करके पूछे कि हे गुरुपाद । मैं आपके पादपद्म के प्रसाद से अमुक शास्त्र का अध्ययन करने की इच्छा से आपकी आज्ञा के अनुसार अमुक संघ में अध्ययन के लिए जाना चाहता हूँ। इस प्रकार गुरु महाराज से पूछ कर उनकी अनुज्ञा मिलने पर उसे अन्यत्र जाना चाहिये।

भावार्थ—जिस मुनिपुङ्गव मे आत्मबल का विकास, शारीरिक शक्ति की परिपूर्णता, विकार के कारणों के उपस्थित होने पर भी चित्त की स्थिरता, उत्साह तथा जिन-धर्म के उद्योत करने की प्रबल उत्कण्ठा आदि शक्ति की सम्पन्नता हो, जिसने अपने गुरुदेव से पढ़ने योग्य सब सिद्धान्तों का अध्ययन कर लिया हो और जिसे अन्यत्र जाकर ग्रन्थ विशेष के अध्ययन करने की अभिलाषा हो वह गुरु के निकट जाकर विनय पुरसर वन्दनादि करके हाथ जोड कर तीन, चार, पाँच तथा छह वार तक विनीत शब्दों मे पूछे कि हे गुरुदेव । हे पूज्यपाद । आपके चरणकमल के प्रसाद से अमुक शास्त्र के अध्ययन के निमित्त अमुक संघ मे जाने की मेरी इच्छा है। मैं पूज्यपाद की अनुज्ञा चाहता हूँ—इस प्रकार पूछे । स्वकीय गुरु की आज्ञा मिल जाने पर अपने साथ अन्य तीन या दो साधुओं को अथवा कम से कम एक साधु को साथ लेकर विहार करे । क्योंकि उत्कृष्ट चार, मध्यम तीन और जघन्य दो साधुओं का विहार माना गया है। अकेले साधु का विहार आगम में निषिद्ध है।

शंका—क्या कोई अकेला मुनि विहार नहीं कर सकता ?

समाधान—इस समय अकेले विहार करने की योग्यता मुनियों मे नहीं पाई जाती है। एकाकी विहार करने वाले मुनिपुंगव का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है:—

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४६॥ (मूला० समा०)

जो मुनीश्वर तप, श्रुत (सूत्र), सत्व (बल), एकत्व भाव, संहनन और धैर्य में परिपूर्ण हो तथा प्रव्रज्या (तपस्या) और आगम में वलवान् हो, वही एकाकी-विहारी होने योग्य आगम मे माना गया है।

भावार्थ—जिसने ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है अथवा क्षेत्र और काल के अनुकूल सम्पूर्ण सिद्धान्तों और प्रायश्चित्तादि शास्त्रों का मनन किया है, जिसमें शारीरिक वल भी परिपूर्ण है, जिसने शरीरादि से भिन्न आत्मा मे ही एकत्व-भावना का अभ्यास कर

लिया है, जिसकी आत्मा में सतत शुभ परिणामों की धारा बहा करती है तथा जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच—इन तीन संहननों में से किसी एक संहनन का धारक है, जिसमें मनोबल है और इसीलिए जिसे क्षुधादि की बाधा विचलित नहीं करती है, इतना ही नहीं; बल्कि जो तपस्या में बढ़ा हुआ और आगम (आचार-सिद्धान्त) का पूर्ण ज्ञाता भी है; वही समर्थ मुनिराज एकल विहारी होने योग्य है।

उक्त गुणों से रहित साधु एकल-विहारी नहीं हो सकता :—

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे ।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जो साधु शयन, आसन, आदान (वस्तु का ग्रहण), भिक्षा और व्युत्सर्ग (मलमूत्र का त्याग) करते समय स्वच्छन्द गमनागमन करता है तथा जिसकी रुचि स्वेच्छा पूर्वक भाषण करने की रहती है, ऐसा साधु मेरा शत्रु भी हो तो भी वह अकेला गमन न करे। (ऐसी आचार्यों की भावना है।)

भावार्थ—जो साधु पूर्व गाथा में वर्णित एकाकी विहार करने वाले साधु के सब गुणों से परिपूर्ण है, तथापि जो शयन करने में, उठने-बैठने में, किसी वस्तु के ग्रहण करने में, भिक्षा के ग्रहण करने में यथेच्छ प्रवृत्ति करता है, ऐसा साधु अकेला विहार करने योग्य नहीं है। आचार्य उस एकल-विहारी के लिए घोर पश्चात्ताप करते हैं, क्योंकि उसकी आत्मा का पतन अवश्यम्भावी है, इसलिए वे कहते हैं कि यथेच्छ प्रवृत्ति वाला हमारा शत्रु भी कभी एकल-विहारी न बने। यही आचारसार में भी कहा गया है :—

ज्ञानसंहननस्वान्तभावनाबलवन्मुनेः ।
चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मतः श्रुते ॥२७॥
एतद्गुणगणापेतः स्वेच्छाचाररतः पुमान् ।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥२८॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—जो मुनिश्रेष्ठ आगम के रहस्य-ज्ञान से परिपूर्ण है; जो आदि के—वज्रर्षभनाराच आदि—तीन उत्तम संहनन का धारक है, जो आत्मा में मनोबल प्रकट होगया है—विकार के अनेक कारणों के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त डांवाडोल नहीं होता है; जिसका अन्तस्तम-भावना में अतीव रंग गया है तथा जिसकी प्रव्रज्या (दीक्षा) चिरकालीन है, अर्थात् जिसको मुनिधर्म का पालन करते हुए बहुत काल के कारण आचारधर्म का यथार्थ अनुभव होगया है, उसी धैर्यशील, अनुभवी, महातपस्वी मुनि का एकाकी विहार आगम में स्वीकार गया है। किन्तु जो मुनि पूर्वोक्त सम्पूर्ण गुणों से भूषित होने पर भी यदि किसी के अंकुश को स्वीकार न करके यथेच्छ प्रवृत्ति करता है तो

उसका एकाकी विहार आगम में निषिद्ध माना गया है। उसके लिए आचार्य हित की भावना करते हुए कहते हैं कि मेरे शत्रु का भी एक क्षण भी एकाकी विहार न हो।

यदि ऐसा साधु एकाकी विहार करे तो क्या होता है? उसके लिए कहते हैं :—

श्रुतसन्तानविच्छित्तिरनवस्था यमक्षयः ।
आज्ञाभंगश्च दुःकीर्त्तिस्तीर्थस्य स्याद्व गुरोरपि ॥२९॥
अग्नितोयगराजीर्णसर्पक्रूरादिभिः क्षयः ।
स्वस्याप्यार्त्तादिकादेकविहारेऽनुचिते यतः ॥३०॥ (आचार० अ० २)

अर्थ—जो साधु आगम से असम्मत (निषिद्ध) एकाकी विहार करता है, वह आगम की परिपाटी का विच्छेदक होता है, क्योंकि उसको देखकर दूसरे भी आगम-विरुद्ध एकाकी-विहार में प्रवृत्ति करने लगते हैं। इससे मुनिमार्ग की व्यवस्था का नाश होता है, अहिंसादि व्रतों की क्षति होती है, जिनेन्द्र-प्रवर्त्तित पवित्र धर्म की एवं निज-गुरु की अपकीर्त्ति होती है। तथा अग्नि, जल, विष, अजीर्णादि रोग, सर्पादि जन्तु, सिंहादि क्रूर प्राणी और दुष्ट मनुष्यादि के द्वारा अनेक प्रकार की बाधाएँ होती हैं।

मूलाचार में भी कहा है :—

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा ।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥१५१॥ (मूला० समा०)

अर्थ—एकाकी विहार करने से गुरु की निन्दा होती है। लोग कहते हैं कि ऐसे दुःशील साधु को किस अनुभवहीन गुरु ने मुनि-दीक्षा दी है? श्रुत का विच्छेद होता है, अर्थात् किसी को अकेला विहार करते देखकर दूसरे भी स्वच्छन्दता से विहार करने लगते हैं, गुरु के समीप में रहना पसन्द नहीं करते हैं, इससे श्रुताज्ञा का लोप होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में ऐसे स्वच्छन्द साधु विहार करते हैं—इस प्रकार मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते हैं, इससे जिन-शासन में मलिनता आती है तथा जड़ता (मूर्खता, विवेक-शून्यता), व्याकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आती है। अर्थात् गुरु आदि अनुभवी साधुओं का सम्पर्क न रहने से विवेक जाता रहता है। अनेक विरुद्ध परिस्थिति के उपस्थित होने पर सहायरहित होने के कारण चित्त में व्याकुलपना उत्पन्न होता है। अंकुश के अभाव से कुशीलपना (व्रतों की रक्षा का अभाव) उत्पन्न होता है तथा पार्श्वस्थपना (साध्वाभास-चारित्रभ्रष्ट साधुपना) आता है। वह जहाँ जाता है वहाँ कलह, विसंवाद और फूट आदि महा अशान्ति के कारण उपस्थित कर देता है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने मुनि को अकेले विहार करने का सर्वथा निषेध किया है।

एकल-विहारी के इतने ही दोप नहीं हैं, उसकी आत्मा भी विपत्ति का अनुभव करती है। जैसा कि कहा भी है:—

कंटयखण्णुयपडिणियसाणागोणादिसप्पमेच्छेहिं ।
पावइ आदिविवत्ती विसेण व विसूइगा चेव ॥१५२॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जो साधु संघ छोड़ कर, अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके, अकेला विहार करता है उसे शारीरिक दुःख भोगना पड़ता है। वह कटक, स्थाणु (ठूंठ), क्रोध को प्राप्त हुए कुत्ते, गाय, भैंस आदि पशुओं, सर्पादि विषैले जन्तुओं, दुष्ट मनुष्यों से तथा विषद्रव्य के संयोग और हैजे आदि संक्रामक रोग से पीड़ित होकर आत्म-विनाश को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो साधु आगम के प्रतिकूल अकेला विहार करता है, अपने गुरु की आज्ञा को भग करता है, स्वच्छंद होकर शयनासन, भिक्षा आदि में प्रवृत्ति करता है, वह तीर्थंकर आदि महान् पुरुषोत्तमों से उपदिष्ट पतितपावन पवित्र जैन-धर्म की निन्दा करनें वाला होता है। संसार से पार करने वाले अपने गुरुदेव का अपयश करवाता है। उसके अहिंसा, सत्यादि महाव्रतों का विनाश होता है। इस प्रकार आत्मीय-गुणों का क्षय होने से वह अपने शरीर का भी विध्वस करता है।

अकेले विहार करने वाले के पाँव आदि में काँटा कंकर पत्थर शूल आदि लगजाने पर कौन उसे निकालेगा ? सदा गृहस्थ लोगों का सम्पर्क साधुओं के लिए वर्जित बताया है। तथा साधुओं के अतिरिक्त साधु के इस कष्टको कौन समझ सकता है ? कोई २ विवेकी सद्गृहस्थ समझ भी लेते हैं तो उनका संयोग सदा नहीं रहता है। इस लिए साधु के कंटकादि व्यथा से आर्त्तध्यान होता है और उस से पाप कर्म का वन्ध होता है। मुनिसंघ में रहने वाला साधु इस दुःख से दूर रहता है।

रात्रि के समय किसी कारण से गिर पड़े या आकस्मिक शारीरिक पीड़ा आदि उत्पन्न हो जावे तो उस समय कौन वैयावृत्त्य करे ? रात मे संयमियों के निकट गृहस्थजन के रहने का विधान तो है नहीं।

दिन में भी विहार करते समय किसी श्रावक-शून्य स्थान में साधु को चक्कर आजाय तथा वह मूर्छा आदि के आजाने से वेहोश होकर गिर पड़े तो वहाँ पर साधु के सिवा कौन सहायक हो सकता है ? ऐसे समय यदि दूसरा साधु न हो तो उसका यथायोग्य उपचार, सेवा-सुश्रूषा तथा सान्त्वना और धैर्य कौन धारण करावेगा ?

मार्ग में चलते समय यदि गाय वैल आदि पशुओं द्वारा चोट आजाय, या कोई कुत्ता आदि काट खावे, तो उसका उपाय कौन करे ? यदि कोई सर्प आदि विषैला जन्तु डस ले और विप का प्रवल वेग शरीर को असमर्थ और चेष्टाहीन वनादे तो उस समय उसका यथार्थ स्वरूप समझ कर कौन उचित उपचार करे ?

अचानक हैजा आदि संक्रामक रोग का आक्रमण हो जावे और पास में कोई साधु न हो तो उसका यथोचित उपचार कौन करे ? यदि उपचार करने पर भी प्रतिकूल कर्म के उदय से रोग की शान्ति न हो और मृत्यु का समय सन्निकट आ पहुँचे तो उस समय किसी दूसरे साधु

के न होने से समाधि-मरण कौन करवावे ? समाधि-मरण न होकर यदि कुमरण हो जावे तो जन्म भर की उपार्जन की गई पुण्य-सम्पत्ति, तपस्या आदि सब निरर्थक हो जाती हैं और आत्मा असद्गति का पात्र बन जाता है; इसलिए कोई भी साधु अकेला विहार करता है तो वह अपने धर्म और शरीर के नाश करने का साधन जुटाता है, यह निश्चय समझना चाहिए।

प्रश्न— क्या सब को छोडकर अकेले स्वच्छद विहार करने वाले साधु अथवा आर्यिका के उपर्युक्त दोष ही होते हैं अथवा और भी दोष हैं ?

उत्तर— अन्य दोष भी हैं। उन्हें ही दिखाते हैं—

आणा अणवत्था विय मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणा विय एदे दु णिकाइया ठाणा ॥ १५४ ॥ (मूला० समा०)

अर्थ— साधु अथवा आर्यिका कोई भी हो जो संघ को छोड़कर अकेला विचरता है, वह स्वच्छद विहारी निम्नोक्त पांच दोष से नहीं बच सकता है। १ आज्ञा भंग, २ अनवस्था, ३ मिथ्यात्व की आराधना, ४ आत्मा का विनाश, और ५ संयम की विराधना।

इन दोनों का नीचे विशेष खुलासा करते हैं—

(१) आज्ञा भंग—जिनागम मे अकेले साधु को विचरने का निषेध किया है, अतः जो आगम की आज्ञा का उल्लंघन कर विना नथुए के वैल की तरह, विना नकेल के ऊंट की तरह अथवा विना लगाम के उद्दण्ड घोडे की तरह स्वच्छद घूमता है, वह जिनोक्त मार्ग का उल्लंघन करने वाला एवं असन्मार्ग में चलने वाला माना गया है। जो सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह वास्तविक मुनिपद से च्युत हुआ समझा जाता है। जो जिन शासन के विरुद्ध चलता है उसे साधु समझ कर व्यवहार करने वाला श्रावक भी इसका जिम्मेवार है।

(२) अनवस्था— इससे मुनि मार्ग की व्यवस्था का लोप होता है, एक साधु को स्वच्छंद प्रवर्त्तन करते हुए देख कर दूसरे साधु भी स्वच्छन्द विचरने लगते हैं, इससे मुनि धर्म की अव्यवस्था होजाती है।

(३) मिथ्यात्व की आराधना— निरकुश हुआ अकेला साधु अपनी इच्छानुसार शास्त्र-प्ररूपणा करता है। अपनी प्रतिष्ठा और मान का इच्छुक होकर विपरीत मार्ग का अवलम्बन लेता है। आगम के मन्तव्य को विपरीत बतला कर आप मिथ्यात्व का सेवन करता है और लोगों को मिथ्या-मार्ग मे ढकेलता है। अपने मुख से अज्ञान वश निकले हुए अपसिद्धान्त को सच्चा सिद्ध करने के लिए अपने सम्यक्त्व, संयम और व्रत-भंग की परवाह नहीं करता। यदि उसके सिर पर गुरु का हाथ हो, गुरु के अधीन उसकी प्रवृत्ति हो तो वह असन्मार्ग (मिथ्यात्व) की ओर कदापि गमन करने में समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए एकाकी रहना मुनि के मिथ्यात्व का पोषक है।

(४) आत्मा का विनाश— आत्मा का असली स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । स्वच्छन्द होकर विचरने वाले साधु के उक्त तीनों गुणों का विनाश होता है । क्योंकि अकेला स्वच्छन्द गमन करने वाला साधु केवली की आज्ञा के विपरीत चलने के कारण विपरीत श्रद्धा होने से सम्यग्दर्शन का नाश करता है। जिसके सम्यक्त्व का अभाव है उसके सम्यग्ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में स्वच्छन्द-विहारी के सम्यक्चारित्र कैसे टिक सकता है ? इसलिए एकल विहारी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक-चारित्र का विनाश होना ही आत्मा का विनाश है।

संयम विराधना—जो साधु अकेला रहता है, उस को किसी का भय न रहने से उसकी इन्द्रियाँ विषय की ओर दौड़ने लगती हैं । स्वच्छद साधु अपनी इन्द्रिय-लालसा की पूर्ति के लिए निरकुश प्रवृत्ति करता है, श्रावकों को वैसा ही उपदेश देता है जिससे उस की लालसा तृप्त हो। वह सदोप आहार का सेवन करता है तथा भक्ष्य अभक्ष्य वस्तु का विपरीत उपदेश देकर अन्य जीवों को भी अभक्ष्य-भक्षण में प्रवृत्त करके आप भी अभक्ष्य वस्तु सेवन करने लगता है। अंकुश के न होने से जब इन्द्रियों की विषय-लालसा को बढ़ने का स्वच्छन्द मार्ग मिल जाता है तब वह इन्द्रिय-सयम का विनाश कर देता है और जिसका आत्मा इन्द्रियों के अधीन हो जाता है उसकी प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्ति हो जाती है। क्योंकि विषयान्धों की यह अवस्था होना स्वाभाविक ही है। कहा भी है:—

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥ (आत्मानु०)

अर्थ— विषयान्ध मनुष्य आँखों के अन्धे से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि आँखों के अन्धे का ज्ञान-नेत्र फिर भी सुरक्षित रह सकता है पर विषयान्ध का तो ज्ञान-नेत्र भी नष्ट हो जाता है ।

सयमी के विषय में भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी भाव-पाहुड़ में कहते हैं—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

अर्थ जो साधु दया धर्म,चारित्रधर्म,आत्मस्वभावात्मक धर्म,तथा उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म से शून्य है एवं दोषों का निवासस्थान है वह इक्षु के पुष्प समान है। जैसे इक्षु (ईख) के पुष्प में न तो कोई फल आता है और न कुछ गन्ध ही होती है । वैसे ही धर्म-वासना से शून्य साधु को न तो मोक्ष रूप संयम का फल ही मिलता है और न उसमें अन्य को सम्बोध करने का गुण होता है। क्योंकि जो स्वयं धर्म-वासना रहित है, वह अन्य में धर्म-वासना कैसे उत्पन्न कर सकता है ? वह तो नग्न रूप धारण करने वाले (मुनिवेषी) नट के समान है।

प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि सुगन्ध-वासना वाले कस्तूरी आदि द्रव्य अपने साथ सम्बन्ध करने वाले वस्त्रादि को सुगन्ध-वासना से युक्त कर देते हैं। किन्तु ककर पत्थर आदि द्रव्य सुगन्ध-वासना से शून्य होने के कारण अपने से सम्बन्धित दूसरे पदार्थों को सुगन्ध-वासना से युक्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो स्वंय धर्मवासना से शून्य होकर दूसरों मे धर्मवासना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता वह कभी साधु कहलाने योग्य नहीं है। बल्कि अपयश का पात्र है। यही भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड में कहा है:—

अयसाण भायणेण य किंते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥

अर्थात्— पाप से मलीन एव पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से भरा हुआ जो साधु अपनी और धर्म की अपकीर्त्ति कराता है, पाप क्रियाएँ करता है तथा परनिन्दा आत्म-प्रशंसादि दुर्गुणों से भरा हुआ है, वह मुनिवेष की ओट मे अपना और अन्य भोले अधर्मभीरु जीवों का अकल्याण करने वाला होता है। ऐसे साधु को भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने नट व भाण्ड के समान कहा है।

आगम की आज्ञा के अनुकूल चलने वाले मोक्षाभिलाषी साधु को किस प्रकार के मुनिसंघ मे न रहना चाहिए, इसे दिखाते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जिस मुनिसघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर—ये पाँच आधार न हों, उसमें वास करना मुनि को योग्य नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानादि गुणों के धारक जिस महामुनि से अन्य मुनिजन व्रतों तथा मुनिदीक्षा का आचरण (धारण) करते हैं, उसे आचार्य कहते है। व्रत,शील, भावना के आधारभूत जिस श्रुत-पारगत मुनि से आगम का अभ्यास करते है, उसे उपाध्याय कहते हैं। जो सघ का प्रवर्त्तन करने वाला अनुभवी साधु है, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं। गण के धारण करने वाले प्रभावशाली साधु गणधर कहलाते हैं। ये पांचों प्रकार के साधु (अन्य साधुओं के अनुग्रह करने मे समर्थ) जिस मुनिसंघ में न हों, उस संघ में आत्महित के इच्छुक साधुओं को न रहना चाहिए।

मूलाचार मे संघनायक पाँचों मुनियों का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥१५६॥ (समा०)

अर्थ— जो दीक्षा आदि देकर शिष्यों का उपकार करने मे कुशल होते है उन्हें आचार्य कहते हैं। जो मुनियों के चारित्र धर्म, तथा दश लक्षण धर्म और वस्तु के स्वभाव रूप धर्म का उपदेश करते है वे उपाध्याय है। जो चर्यादि से सघ का उपकार करते हैं, संघ की प्रवृत्ति

करते हैं वे प्रवर्त्तक कहलाते हैं। जो संघ को कुल क्रमागत रीति, स्थिति एवं मर्यादा का उपदेश देते हैं उन्हें स्थविर कहते हैं। और जो गण की रक्षा करते हैं, उसका पालन करते हैं, वे गणधर होते हैं।

ये पाँचों प्रकार के मुनीश्वर संघ के नेता होते हैं। अब इनका भिन्न २ स्वरूप विस्तार से प्रतिपादन करते हैं :—

(१) आचार्य का स्वरूप—

संग्रहानुग्रहप्रौढो रूढः श्रुतचरित्रयोः।
यः पञ्चविधमाचारमाचारयति योगिनः ॥ ३२ ॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ— जो शिष्यादि का संग्रह करने में एवं संगृहीत शिष्यों के अनुग्रह करने मे प्रवीण हैं तथा श्रुत-ज्ञान और चारित्र के आचरण में आरूढ हैं और जो संघ में स्थित साधुओं को दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार वीर्याचार एवं तप आचार का पालन करवाते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। यही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने द्रव्य-संग्रह में भी कहा है—

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ स आयरिओ मुणेयव्वो ॥ ५२ ॥

अर्थ— जिसमें दर्शन व ज्ञान प्रधान हैं ऐसे चारित्र तप और वीर्य के आचरण रूप पाँच प्रकार के आचार में, जो अपनी आत्मा को और अन्य शिष्य समुदाय को लगाते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

ये आचार्य परमेष्ठी छत्तीस गुणों के धारक होते हैं। वे छत्तीस गुण ये हैं—

आचारवान्[१] श्रुताधारः[२] प्रायश्चित्ता[३]सनादिदः[४]।
आयापायकथी[५] दोषाभाषको[६]ऽस्रावकोऽ[७]पि च ॥ १ ॥
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक[८] इमेऽष्ट च।
दिगम्बरो[९]ऽप्यनुद्दिष्टभोजी[१०] शय्याशनीति[११] च ॥ २ ॥

१२ अराजभुक् १३ क्रियायुक्तो १४ व्रतवान् १५ ज्येष्ठसद्गुणः ।
१६ प्रतिक्रमी च १७ षण्मासयोगी १८ तद्द्विनिषद्यकः ॥२॥
३० द्विषट्तपास्तथा ३६ षट् चावश्यकानि गुणा गुरोः (बोध प्राभृत टीका गा० २)

अनगारधर्मामृत में भी यही कहा है—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः ।
कल्पा दशावश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः ॥ ७६ ॥ (अ० ६)

अर्थ— १ आचारवान् २ आधारवान् ३ व्यवहारवान् (प्रायश्चित शास्त्र का ज्ञाता) ४ प्रकारक, ५ आयपायकथी, ६ उत्पीडक, ७ अपरिस्रावी, ८ और निर्यापक (सन्तोष कारक, सुखकारी) ये आठ तथा ९ आचेलक्य (दिगम्बरत्व) १० अनुद्दिष्टभोजी, ११ शय्याधर-अभोजी १२ राजपिडाभोजी, १३ कृतिकर्मयुक्त, १४ व्रतारोपणयोग्यता, १५ ज्येष्ठ गुणता, १६ प्रतिक्रमी १७ मासनिवासिता, १८ योग तथा १९-३० अनशनादि बारह प्रकार के तप और ३०-३६ षडावश्यक ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

(१) आचारवान्— जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पॉच प्रकार के आचारों का स्वय पालन करते है और दूसरों को आचरण करवाते हैं उन्हें आचारवान कहते हैं। जीवादि सात तत्वों के श्रद्धान रूप आत्मा की परिणति को दर्शनाचार कहते है। वाचना पृच्छनादि पॉच प्रकार के स्वाध्याय में आत्मा की प्रवृत्ति को ज्ञानाचार कहते हैं। हिंसा आदि पापों के त्याग रूप आत्मा के परिणाम को चारित्राचार कहते हैं। अनशनादि छह प्रकार के बाह्य और प्रायश्चित्त आदि छह प्रकार के अन्तरग ऐसे १२ प्रकार के तपश्चरण के पालन करने को तप आचार कहते हैं। तपस्या करने मे आत्मा की शक्ति को नहीं छिपाने को वीर्याचार कहते हैं।

शंका— सम्यग्दर्शनादि का विनय भी कहा गया है और उन्हीं का आचार भी कहा है अतः विनय और आचार में क्या भेद है ?

उत्तर— सम्यग्दर्शनादि के निर्मल करने का प्रयत्न करना तो विनय है, और निर्मल किये सम्यग्दर्शनादि में शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति करना आचार है। यही कहा है—

"सद्दृग्वीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥"

(२) **आधारवान्**—जो चौदह पूर्व, या ग्यारह पूर्व अथवा दश पूर्व के ज्ञाता हैं तथा प्रायश्चित्त शास्त्र के जानकार हैं, जो सागर के समान गंभीर हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और रक्षा के आधार हैं उन्हें आधारवान् कहते हैं।

(३) **व्यवहारवान्**— पाँच प्रकार के व्यवहार के ज्ञाताओं को व्यवहारवान् कहते हैं। आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीद ये पाँच प्रकार का व्यवहार है।

(१) आगम—ग्यारहवें अंग में वर्णित प्रायश्चित्त विधान को यहाँ आगम कहते हैं।

(२) श्रुत—चौदह पूर्वों में वर्णित ज्ञान श्रुत कहलाता है।

(३) आज्ञा—अन्य देश में स्थित एक आचार्य का अन्य देश में स्थित किसी दूसरे आचार्य के समीप अपने दोष प्रकट करने के लिए अपने किसी बड़े शिष्य को भेजना आज्ञा कहलाता है।

(४) धारणा—विहार करने की शक्ति से क्षीण हुआ अकेला साधु अपने लगे हुए दोष का पूर्व धारणा के अनुसार जो प्रायश्चित्त लेता है, उसे धारणा कहते हैं।

(५) जीद (जीत)—बहत्तर पुरुष समूह के स्वरूप की अपेक्षा से जो आधुनिक आचार्यों के द्वारा वर्णित प्रायश्चित्त है, उसे जीद (जीत) कहते हैं।

(४) **प्रकारक**—वसतिका मे प्रवेश करने तथा वहाँ से निकलने में, वसतिका, आसन और उपकरण के शोधन में तथा साधु की रुग्णावस्था में करवट बदलाने, बैठाने, उठाने और शय्या में मलादि कर देने पर उसको स्वच्छ करने तथा भोजन पान की विधि मिलाने में साधुओं की शारीरिक सहायता करने वाले को प्रकारक कहते हैं।

(५) **आयोपायकथी**—अपने दोषों की आलोचना करने के लिए उद्यत हुए मुनि को कहना कि जो तुम मायाचार से अपने दोषों को प्रकट नहीं करोगे तो तुम्हें उन दोषों से उत्पन्न हुए दुष्कर्मों से भव २ मे दुःख भोगना पड़ेगा, और जो तुम सरल चित्त से अपने दोषों को प्रकट कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाओगे तो तुम्हारा सयमाराधन सफल होगा, परभव में सुख पावोगे एवं परम्परया मोक्ष के भागी बनोगे। इस प्रकार हानि और लाभ का उपदेश करने वाले को आयोपायकथी कहते हैं।

(६) **उत्पीड़क**—जो अपनी बुद्धि के कौशल (चतुराई) से असरल चित्त वाले साधु के अत्यन्त गुप्त दोषों को भी उस से प्रकट करवा लेते हैं, उन्हें उत्पीड़क कहते हैं। साधु के अन्तः करण में छिपे हुए रहस्य का भेदन करने वाला यह आचार्य का उत्पीड़कता नामा गुण है। कहा है :—

ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्त्तिराचार्यः ।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीलको नाम ॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ६ श्लो० ७६)

अर्थात्—जो आचार्य उत्कृष्ट आत्मबली, शारीरिक तेज से विभूषित, प्रशस्त भाषण करने वाला तथा जिसकी कीर्त्ति संसार में प्रसिद्ध है और जो सिंह के समान श्रेष्ठ पराक्रम का धारक होता है, वह उत्पीलक या उत्पीड़क कहलाता है।

(७) अपरिस्रावी— आचार्य के समीप साधु अपने ऐसे गुप्त दोषों को भी प्रकट कर देते हैं, जिनके प्रकाशित होने पर संसार में उनकी अपकीर्त्ति तथा भयंकर परिणाम उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। आचार्य ऐसे तथा अन्य किसी भी प्रकार के साधुओं के दोष को प्रकट नहीं करते, उसको इस प्रकार पी जाते हैं जैसे जल को समुद्रफेन पी जाता है (सोख लेता है)। ऐसे आचार्य को अपरिस्रावी कहते हैं।

(८) निर्वापक— स्नेह-युक्त, मधुर, मनोहर तथा गंभीर और कर्ण-प्रिय वाणी से साधु के भूख प्यास आदि परीषह के असह्य दुःख को जो शान्त करने में समर्थ होते हैं, उन्हे निर्वापक कहते हैं। कहा भी है—

गम्भीरस्निग्धमधुरामतिहृद्यां श्रवःसुखाम् ।
निर्वापकः कथां कुर्यात् स्मृत्यानयनकारणम् ॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ६ श्लो० ७६)

(९) आचेलक्य (दिगम्बरत्व-नग्नता)—जो सूती, रेशमी, ऊनी, चर्ममय तथा वृक्ष की त्वचा (छाल) आदि किसी भी प्रकार के वस्त्रों को संयम के घातक समझ कर शरीर पर धारण नहीं करते हैं किन्तु जात रूप नग्नत्व को गुणों का आधार समझ कर सदा दिगम्बर रहते हैं उनके (दिगम्बरत्व-आचेलक्य) गुण होता है।

वस्त्र धारण करने में कितनी आकुलताएँ होजाती हैं इस सम्बन्ध में पद्मनन्दि पंचविंशितिका में कहा है—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो,
नष्टे व्याकुलचित्तताऽथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥ ४१ ॥ (अ० १)

अर्थ—वस्त्र मैला होने पर जलसे धोना पड़ता है, उससे जलकायादि जीवों का आरम्भ और हिंसा होती हैं। हिंसा के सद्भाव मे संयम कैसे रह सकता है ? जब वस्त्र नष्ट होजाता है या खोजाता है,तब चित्त मे व्याकुलता उत्पन्न होती है और मुनि जैसे महान् पुरुषों को भी दूसरों से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। अधिक वस्त्र को जाने दीजिए, कौपीन (लगोट) मात्र के रखने पर भी यदि उसे कोई छीन ले तो क्रोध उत्पन्न होसकता है। तब आत्मा मे व्याकुलता, क्षोभरूप परिणाम उत्पन्न होने से आत्मा की शान्ति भग हो जाती है। इसलिए शुद्ध वीतरागता व शान्ति के इच्छुक महामुनियों को केवल दिशामण्डल रूप वस्त्र ही धारण करना चाहिए। (इसका विशेष वर्णन प्रथम किरण के आचेलक्य प्रकरण मे आ चुका है)

(१०) **अनुदिष्ट-भोजी**—अपने निमित्त बने हुए भोजन का त्याग कर छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित श्रावक के घर निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले को अनुदिष्ट-भोजी कहते हैं।

(११) **शय्याधराभोजी**—शय्याधर के तीन अर्थ हैं—(१) जो वसतिका का बनवाने वाला है, (२) जो बनी हुई वसतिका का संस्कार करवाने वाला अथवा गिरी हुई वसतिका को सुधरवाने वाला या वसतिका के गिरे हुए एक भागको सुधरवाने वाला है एवं (३) जिसने वसतिका न तो बनवाई है और न उसका संस्कार ही करवाया है; किन्तु जो मुनीश्वरों को 'आप यहां ठहरिये' ऐसा कहकर वसतिका में ठहरने देता है। इन तीनों को शय्याधर कहते हैं। इनके घर के आहार, पिच्छिका आदि उपकरण का त्याग करना चाहिए। यहाँ भोजन के उपलक्षण से उपकरणादि का भी ग्रहण किया गया है।

शंका—शय्याधर के घरका आहार क्यों नहीं लेते? इसमें क्या दोष है?

समाधान—१ यदि आचार्यादि शय्याधर का आहार लेने लगें तो धर्म के लोभ से शय्याधर प्रच्छन्नरूप से आहारादि की योजना करने लगेंगे। २ तथा जो आहारादि देने मे असमर्थ, दरिद्र या लोभी होगा वह वसतिका न देगा क्योंकि उसे इस जनापवाद का भय रहता है कि इस मंद भाग्य—भाग्यहीन—को तो देखो, मुनिराज इसकी वसतिका में रहते हैं और यह उन्हें आहार भी नहीं देता है। ३ जो वसतिका और आहार दोनों का दान देता है उस पर (बहुत उपकारी होने के कारण) मुनिका स्नेह होना सभव है; इसलिए मुनि शय्याधर के घर का आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

कोई आचार्य शय्यागृह-पिंडत्याग ऐसा पाठ देकर कहते हैं कि मार्ग में विहार करते हुए साधु रात्रि में जिसके घर शयन करते हैं, दूसरे दिन उसके घर का भोजन नहीं करते हैं।

(१२) **राजपिण्डाभोजी**—राजा तथा राजाके सदृश महाऋद्धिवाले राजमंत्री आदि का राजशब्द से ग्रहण किया जाताहै,उनके घर का चार प्रकार का आहार तथा तृण, काष्ठ के पट्टे, आसनादि अनाहार और पिच्छी कमण्डलु आदि उपकरण ग्रहण नहीं करते हैं।

शंका—राजपिण्ड के ग्रहण से क्या दोष होता है?

समाधान—आत्मजन्य और परजन्य दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। परजन्य दोष मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत होताहै। तिर्यंचकृत भी दो प्रकार का है, एक ग्राम्य (गाँवके) पशुओं से तथा दूसरा जगली पशुओं से होनेवाला। ये दोनों ही पशु दो प्रकार के होते है,एक दुष्ट स्वभाववाले और दूसरे भद्रस्वभाव वाले। दुष्ट हाथी घोड़े गाय बैल भैंस मैंढ़ा कुत्ता ये गाँव के तिर्यंच राज घर मे निवास करते हैं। कारणवश इनके बन्धन से छूट (खुल) जाने पर संयमी का घात हो सकता है, तथा भद्रप्रकृति वाले उक्त तिर्यंचों के बधन से छूटकर दौड़ने से भी सयमी को पीड़ा होना सभव है। राजभवन में

पींजरे आदि बन्धनों से किसी कारणवश निकल कर भगे हुए व्याघ्र सिंहादि दुष्ट जीवों से सयमी के प्राणों का संहार होने की सम्भावना है, तथा भद्रप्रकृति वाले भागते हुए वानरादि प्राणियों से भी संयमी का मर्दन होना या चोट आना सभव है।

राजभवन में कोतवाल आदि दयाहीन लोग नौकर-चाकर, दास-दासी आदि भी रहा करते हैं। उनके कारण राजकुल में प्रवेश होना कठिन है और यदि प्रवेश भी हो जावे तो ये मदिरादि से मतवाले दास दासी आदि मुनि का उपहास करते हैं, दुर्वचन बोलते हैं या आगे जाने से रोक देते हैं।

राज-गृह में कई स्त्रियाँ अवरुद्ध (रोकी गई) रहती हैं वे काम से पीड़ित हुई अथवा पुत्र की इच्छुक हुई मुनि को बलात्कार से अपने घर में प्रवेश कराती हैं।

राजघर में रत्न सुवर्णादि इधर उधर पडे रहते हैं, उसे दूसरे लोग चुराकर मुनि के दोप लगा सकते हैं कि यहाँ पर मुनि आये थे ले गये होंगे। ये पर-जन्य दोप हैं। अत्र आत्म-जन्य दोषों को कहते हैं—

राजकुल मे मुनि आहार का यथार्थ शोधन नहीं कर सकते। परदे में से लाये हुए तथा आहृत आहार को भी ग्रहण करना पड़ता है। अतः शास्त्रविरुद्ध आहार का ग्रहण करने से तथा विकृति का भी सेवन होजाने से इंगाल (अंगार) दोष उत्पन्न होता है।

जिसने गृहस्थ अवस्था में समृद्धि (ऐश्वर्य) का अनुभव नहीं किया है ऐसा साधु राज भवन की बहुमूल्य मनोहर रत्नादि सम्पत्ति को देख कर तथा देवाङ्गना समान सुन्दर स्त्रियों को क्रीड़ा करती हुई देखकर विकार को प्राप्त हो सकता है। तथा उत्कृष्ट विभूति का, अन्तःपुर की अनुपम सुन्दरियों का अवलोकन कर निदान करना सम्भव है। इसलिए राजपिण्ड भोजन का त्याग करना आवश्यक बताया है।

(१३) **कृतिकर्मयुक्त**—जो स्वयं छह आवश्यक क्रियाओं का आचरण करते हैं, अपने से गुणों में अधिक पुरुषों की तथा गुरुजन की विनय-सुश्रूषा करते हैं, उन्हें कृतिकर्मयुक्त कहते हैं।

(१४) **व्रतारोपण-योग्यता**—जो उद्दिष्टादि सदोष भोजन के त्याग करने में उद्यम करने वाला है तथा गुरुजनों की भक्ति में तत्पर रहता है और विनय-धर्म में परायण है, वही व्रत धारण करने के योग्य माना गया है। वही कहा है :—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ६ श्लोक ७६)

अर्थात्—जो नग्न परीषह के सहन करने में पूर्ण सामर्थ्य रखता है तथा उद्देशादि आहार के दोषों का सर्वथा त्याग करने में तत्पर रहता है, गुरुजन की भक्ति-सेवा मे रत रहता है और विनय-गुण से भूपित है, वही साधु व्रत धारण करने योग्य होता है।

उक्त गुण युक्त साधु की परीक्षा करके, उसको व्रतों का आरोपण (धारण) करने वाले आचार्य के गुण को व्रतारोपण-योग्यता कहते हैं।

(१५) **ज्येष्ठ-गुणता**—जो माता-पिता, गृहस्थावस्था के शिक्षक, आर्यिका आदि से आचरण में श्रेष्ठता होती है, उसे ज्येष्ठ-गुणता कहते हैं।

(१६) **प्रतिक्रमी**—मन, वचन और काय से जो अपराध किये गये हों, उन्हें आलस्य रहित होकर निराकरण करने वाले को प्रतिक्रमी कहते हैं।

(१७) **मासनिवासिता**—मुनीश्वर छहों ऋतुओं में (वर्षायोग को छोड़ कर) एक ग्रामादि में अधिक से अधिक एक जगह तीस दिन तक ठहर सकते हैं। अन्य काल में निरन्तर विहार करते हैं।

एक स्थान में चिरकाल तक ठहरने पर नित्य उद्गम दोष का परिहार करना अशक्य हो जाता है। क्षेत्र से अनुराग होता है, गौरव नष्ट होता है, आलस्य घेर लेता है, सुकुमारपना आ जाता है, जिन श्रावकों के पूर्व आहार हुआ था उन्हीं के घर पुनः-पुनः आहार लेना पड़ता है। फलतः श्रावकों से अनुराग आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

मूल आराधना टीका की टिप्पणी में बताया है कि वर्षायोग ग्रहण करने के पूर्व तथा वर्षायोग समाप्त होने के पश्चात् उसी स्थान में एक मास तक रहते हैं, यह मास-वासिता नामक स्थिति-कल्प है। कहा है :—

पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं।
णाणादीण अवुद्धी दोसा अविहारपरिकम्हि ॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ६ श्लो० ८१)

अर्थात्—जो मुनि विहार नहीं करते हैं उनके क्षेत्रादि में अनुराग होता है, लघुता होती है अर्थात् गौरव जाता रहता है; जनता का उपकार नहीं हो पाता और न देश-देशान्तर का विशेष परिज्ञान होता है तथा ज्ञानादि की वृद्धि रुक जाती है। ये सब दोष एक स्थान पर रहने से उत्पन्न होते हैं।

(१८) **पाद्य (वर्षायोग)**—वर्षा-काल में चार मास एक स्थान पर रहने को, विहार का त्याग करने को पाद्य-नामक स्थिति-कल्प कहते हैं।

वर्षाकाल में भूमि त्रस और स्थावर जीवों से व्याप्त हो जाती है। उस समय भूमि का प्रत्येक प्रदेश जीव से युक्त होता है। उस समय से मुनि के संयम का विनाश होता है। वृष्टि के कारण शीत वायु के चलते रहने से मुनि के शरीर की विराधना होना सम्भव है। उस प्रायः जलमग्न रहते हैं, इसलिए कुए, बावड़ी आदि में गिरने की सम्भावना रहती है, जल से आच्छन्न होने से पाँव आदि में कांटे, पत्थर

आदि के गड़ जाने की तथा ठूंठ (स्थाणु) आदि की चोट लगने का भय रहता है, कीचड़ की बाधा होती है। इसलिए मुनीश्वर वर्षायोग में एक जगह एकसौ बीस दिन (४ मास) तक ठहरते हैं। यह उत्सर्ग मार्ग (सामान्य नियम) है।

कारण विशेष से हीनाधिक ठहर सकते हैं। आषाढ़ शुक्ला दशमी के दिन ठहरे हुए संयमी कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा से तीस दिन आगे और ठहर सकते हैं। वृष्टि बहुत हो रही हो, श्रुत (आगम) का अभ्यास करना हो, विहार करने की शक्ति न हो, किसी वृद्ध या रोगी साधु का वैयावृत्त्य करना हो आदि किसी प्रयोजन से एक जगह उक्त समय पर्यन्त ठहरने को उत्कृष्ट काल माना है।

प्लेग, हैजा आदि भयानक रोगों के उत्पन्न होने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, गाँव या देश में उपद्रव उपस्थित होने पर अथवा गच्छ के नाश के निमित्त मालूम होने पर वर्षायोग (चातुर्मास) मे भी मुनि अन्य स्थान में गमन कर सकते हैं। यदि मुनि वहाँ पर ही ठहरे रहें तो उनके रत्नत्रय का विनाश हो जाने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसलिए आषाढ़ की पूर्णिमा के बीतने पर प्रतिपदा वगैरह तिथियों में अन्यत्र गमन कर सकते हैं। अतः बीस दिन एकसौ बीस दिनों में कम किये जाते हैं, इस प्रकार काल की हीनता है। यह पाद्य अर्थात् वर्षायोग नाम का स्थितिकल्प है। ऐसा मूलाराधना टीका में उल्लेख है। टिप्पणी में यह कहा है कि दो-दो महीने से निषिद्धिका-द्रष्टव्य है। यह पाद्य (वर्षायोग) नाम का स्थितिकल्प बताया गया है।

यहाँ तक आचार्य के अठारह गुणों का वर्णन किया। बारह प्रकार के तप का वर्णन पञ्चाचार अधिकार में आगे करेंगे, वहाँ से जान लेना चाहिये। षट् आवश्यकों का वर्णन मूल गुणाधिकार में कर आये हैं।

उपाध्याय का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥ (द्रव्यसं०)

अर्थ—जो बाह्य रत्नत्रय और अन्तरङ्ग रत्नत्रय के आचरण मे उद्यमशील हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन छह द्रव्यों मे से एक निज शुद्धात्म-द्रव्य को, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—इन बहुप्रदेशी पाँच अस्तिकायों में से एक निज शुद्ध जीवास्तिकाय को, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों में से एक निज शुद्ध आत्म-तत्त्व को, जीवादि सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से नवपदार्थ होते हैं, उनमे से एक निज शुद्ध आत्म पदार्थ को उपादेय और शेष द्रव्य, शेष अस्तिकाय, शेष तत्त्व और शेष पदार्थों को हेय और इसी तरह उत्तम क्षमा आदि दश धर्म को उपादेय समझते हैं तथा शिष्यादि को भी वैसा ही नित्य उपदेश देते हैं और जो पञ्चेन्द्रियों के विषयों को जीत कर अपने शुद्ध आत्मा मे प्रयत्न करने वाले संयमियों में प्रधान हैं, उन उपाध्याय-परमेष्ठी को मैं वचन एवं काय द्वारा द्रव्य नमस्कार और मन द्वारा भाव-नमस्कार करता हूँ।

प्रवर्तक का स्वरूप

"यो नियोजयति संघस्थान् भुक्तियात्रादिकर्मणि ।
प्रवर्त्तकः स विज्ञेयः शास्त्रनीतिविशारदः ॥"

अर्थ—जो संघ के साधुओं के लिए भिक्षादि की अनुकूल व्यवस्था करते हैं तथा संघके योग्य क्षेत्रमें विहार कुशल क्षेमादि कार्यों के करने में निपुण हैं और व्यवहार-नीति तथा धर्म-नीति में निष्णात हैं, वे संघ के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

भावार्थ—संघ का प्रवर्त्तक-मुनि संघ की भिक्षा, विहारादि सब प्रकार की सुव्यवस्था करता है। शीतकाल में किस देश में विहार करने से मुनियों के शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मीय स्वास्थ्य (रत्नत्रय) की वृद्धि होगी ? उष्णकाल से किस सरस और सजल शीत-प्रधान देश में विहार करने से सघ अपने धर्म की वृद्धि कर सकेगा ? वर्षाकाल मे कौन देश संघ के ठहरने योग्य है ? जहाँ पर जीव-जन्तुओं की अधिक उत्पत्ति न होती हो तथा जो सघ के अन्तरङ्ग और बाह्य स्वास्थ्य का साधक हो वही क्षेत्र विहार करने योग्य होता है। किस क्षेत्र में विहार करने से जनता का अधिक उपकार होगा ? इस समय धर्म का प्रकाश करना किस क्षेत्र में अत्यन्त आवश्यक है ? कौनसा देश साधारण ज्ञान के धारक मुनियों के योग्य है और किस क्षेत्र में शास्त्र-विशारद मुनिराजों के विहार की आवश्यकता है इत्यादि प्रत्येक बात की देखभाल कर सुव्यवस्था करना प्रवर्त्तक मुनि का कर्तव्य होता है। वही आचारसार में कहा है :—

प्रभावनाधिकोऽबाधमन्नाद्यैः संघवर्त्तकः ।
जगदादेयवाग्मूर्तिर्वर्तकः कालदेशवित् ॥३५॥ (अ० २)

अर्थ—जो धर्म की प्रभावना करने मे सिद्ध हस्त है तथा भिक्षादि से निर्बाध संघ की व्यवस्था करने वाला है, जिसके वचन लोगों को अमृत के समान प्रिय और जिसकी वीतरागमय मंजुल मूर्ति सब को प्यारी लगती है तथा जो देश और काल के स्वरूप का ज्ञाता होता है, वह साधु सघ का प्रवर्त्तक होता है।

स्थविर और गणधर का स्वरूप

समयस्थितिसद्गीतिः स्थविरः स्याद्गुणस्थिरः ।
गणरक्षाक्षमः सूरिर्गुणी गणधरः स्मृतः ॥३६॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—जिसको समय की परिस्थिति का पूर्ण अनुभव है, तथा कुलपरम्परा से चली आई रीति, प्रवृत्ति और सघ की आम्नाय को जो अच्छी तरह जानता है वह स्थिर गुण वाला साधु स्थविर कहलाता है।

जो विद्वान् साधु गण संघ) को आने वाली आपत्तियों से बचाकर सब तरह सुरक्षित रखने की क्षमता रखते हैं, उन्हें गणधर कहते हैं। रोगी, बाल, वृद्ध, नवदीक्षित आदि साधुओं की यथायोग्य देखभाल करने का कार्य-भार गणधर पर ही रहता है।

पूर्व वर्णित साधुजन के उपकारक आचार्य, उपाध्यायादि पाँच प्रकार के साधु जिस संघ में हों, उसी संघ में आत्महितेच्छु साधुओं को रहना चाहिए। जहाँ ये न हों वहाँ कभी न रहना चाहिए। यहाँ पाठकों को संक्षेप में उन साधुओं का स्वरूप भी बतला देते हैं, जो बाह्य में दिगम्बर भेप धारण किये हुए हैं, किन्तु जिनमें दि० जैन साधुओं के गुण नहीं पाये जाते हैं, और भोले जीव उनको साधु समझते हैं एवं ठगे जाते हैं, इसलिये संक्षिप्त रूप से उनका स्वरूप हर एक सज्जन को समझलेना चाहिए; जिससे वह उनके संसर्ग से अपने धर्म को नष्ट न कर दे। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है :—

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३३६॥ (भग० आ० प्राकृत)

पार्श्वस्थासन्नसंसक्तकुशीलमृगचारिणः।
मलिनीक्रियते शश्वत् कज्जलेनेव संगतम् ॥३४२॥
कषायाकुलचित्तानां पार्श्वस्थानां दुरात्मनाम्।
भुजगानामिव त्याज्यः संगश्छिद्रगवेषिणाम् ॥३४३॥ (सं० भग० आ०)

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशील और मृगचारी ये पाँच साध्वाभास (झूठे साधु) है। इनका दूरसे ही त्याग करदेना चाहिए। क्योंकि इनका संसर्ग करने वाले पुरुष भी उनके समान आचरण-भ्रष्ट होजाते हैं। जैसे कज्जल के संसर्ग से शरीर मलीन हो जाता है, वैसे ही कषाय से व्याकुल चित्तवाले पाखण्डियों के सम्पर्क से आत्मा मलीन होजाता है। जैसे सर्प अपने-निवास करने के लिए छिद्र (छेद) ढूंढ़ता रहता है, वैसे ही दूसरों के छिद्र (दोष) ढूंढ़ने वाले ये पार्श्वस्थादि साधु होते हैं। इसलिये सर्प के समान इनका सम्पर्क विनाश का कारण होता है। अब इन पार्श्वस्थादि का भिन्न २ स्वरूप लिखते हैं।

पार्श्वस्थ का स्वरूप

वसदीसु अ पडिवद्धो अहवा उवकरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होइ ॥१॥

अर्थ—जो साधु-भेष को धारण किये हुए वसतिका में आसक्ति रखते हैं, एक ही जगह निवास करते हैं, पिच्छिका आदि उपकरणों से आजीविका करते हैं, मुनिव्रतों के आचरण में शिथिल रहते हैं, मुनियों के पार्श्व (नजदीक) मे रहते हैं अर्थात् महाव्रतों के पालन करने में उनके बहुत पीछे रहते हैं और आचरण शून्य होते हैं, उन्हें पार्श्वस्थ कहते हैं।

संसक्त का स्वरूप

"वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो ।
रायादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होइ ॥२॥"

अर्थ—जो वैद्यक से वा मन्त्र-तन्त्र से अथवा ज्योतिष से अपनी आजीविका करते हैं अथवा राजादि की सेवा करते हैं उन्हें संसक्त कहते हैं।

भावार्थ—जो साधु नाम धारण कर साधु के आचरण से हीन होता है और साधु के लिए अयोग्य बताये गये कार्यों को करता है, औषध-चिकित्सा से मन्त्र, तन्त्र, झाड़ा, फूका आदि प्रयोगों से एवं ज्योतिष शास्त्रादि से भविष्य-कथन द्वारा अपनी जीविका चलाता है, राजा अथवा किसी ऐश्वर्यशाली का कृपा-पात्र बन कर अपना निर्वाह करता है, उसे संसक्त कहते हैं। जो गृहस्थों के साथ निरन्तर संसर्ग रखता है और धनादि परिग्रह मे आसक्त रहता है, उसे संसक्त कहते हैं।

अवसन्न का स्वरूप

"जिणवयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्ण सेवाओ ॥३॥"

अर्थ—जो जिनेन्द्रदेव के वचनों से अनभिज्ञ हैं, जिसने चारित्र के भार को उतार दिया है, जो ज्ञान और चरित्र से पतित है, और क्रिया-पालन में आलसी है, उसे अवसन्न कहते हैं।

अर्थात् जो जैन सिद्धान्त के ज्ञान से शून्य है; जिसे तत्वज्ञान नहीं है और जो आचरण से भी भ्रष्ट है, जो वाह्य क्रियाओं का भी पालन नहीं करता है, बिना नकेल के ऊँट के समान स्वच्छंद आचरण करता है और भोले जीवों को मिथ्या-मार्ग का उपदेश देकर उन्मार्ग-गामी बना देता है, ऐसे पतित साधु को अवसन्न कहते हैं।

मृगचारी का स्वरूप

"आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो हवइ मिगचारी ॥४॥"

अर्थ—जो मुनि संघ का त्याग करके स्वच्छन्द होकर एकाकी (अकेला) विहार करता है, जिनेन्द्र देव के उपदेश से विपरीत मार्ग का उपदेश करता है, तथा जिन वचनों की निन्दा करता है, उस उच्छृङ्खल साधु को मृगचारी कहते हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि अकेला मुनि विहार न करे। जो गुरु-आज्ञा की अवहेलना कर, सघ को त्याग कर स्वच्छन्द गमन करता है, वह मृग (पशु) समान आचरण करने वाला भ्रष्ट-साधु मृगचारी कहलाता है। वह जिनागम के अनुसार वन्दना करने योग्य नहीं है। जो गृहस्थ,जिनाज्ञा से विपरीत चलने वाले, गुरु के अकुश की परवाह न कर अपनी मनमानी पद्धति पर चलने वाले मृगचारी (भ्रष्ट-साधु) को साधु मान कर उसका अनुमोदन और समर्थन करते हैं, वे जिन-शासन का तिरस्कार करते हैं। उनका श्रद्धान मिथ्यात्व का पोषण करने वाला है। उनका ज्ञान और चारित्र जिनेन्द्र देव के उपदिष्ट मार्ग से विपरीत होने के कारण अनन्त ससार का कारण होता है। जो आत्म-हितैपी साधु हैं वे जिनाज्ञा से विरुद्ध प्रवृत्ति नही करते हैं। धर्म-श्रद्धालु श्रावक हीन-पतित-साधु को सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यदि प्रयत्न करने पर भी कोई हीन साधु विरुद्ध प्रवृत्ति को न छोड़े तो निर्भीक होकर जिन-मार्ग की रक्षा करने के हेतु उसके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। यही मुनि-मार्ग की रक्षा का अमोघ उपाय है तथा मुनि-भक्ति का सच्चा परिचय है।

कुशील का स्वरूप

"कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहिं चावि परिहीणो।
संघस्स अणयकारी कुसीलसमणोत्ति णायव्वो ॥५॥"

अर्थ—क्रोधादि कषायों से जिसकी आत्मा कलुषित (मलीन) हो रही है, जो व्रत, गुण और शील से रहित है, तथा संघ में अनीति का व्यवहार या प्रचार करने वाला है, ऐसे दुर्वृत्त साधु को कुशील कहते हैं।

भावार्थ—जिस साधु की आत्मा में क्रोधाग्नि की ज्वालाएँ जलती रहती है, जो मान के शिखर पर आरूढ़ रहता है, अपने सामने दूसरों को हीन समझता है, जो मायाचार और लोभ के मैल से सदा मलीन रहता है, जो अहिंसादि व्रतों, उत्तम क्षमादि धर्मों और व्रत-रक्षक गुणों से हीन है, संघ मे उपद्रव, कलहादि करने का जिसका स्वभाव सा होगया है उस दुःशील के धारक साधु को कुशील साधु कहते है।

ये पाँचों प्रकार के साधु पतित, हीनाचारी व जिन-शासन के विपरीत चलने वाले हैं, इसलिये इनका सम्पर्क सर्वथा त्याज्य है। प्राण जाने की सम्भावना होने पर भी इनका साथ नहीं करना चाहिए और न किसी प्रकार की इन्हें सहायता देना चाहिए।

अब आगे दिखलाते हैं कि मार्ग में आचार्य की आज्ञा के अनुसार विहार करते हुए शिष्य को यदि कोई पुस्तकादि वस्तु मिल जावे तो आचार्य को निवेदन कर दे। वे ही इसके प्रबन्ध करने के योग्य हैं।

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं ।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सो वि ॥१५७॥ (मूला० समा०)

अर्थ—मार्ग में विहार करते समय साधु को शिष्यादि सचित्त; पुस्तक, पिच्छी आदि अचित्त और पुस्तकादि सहित शिष्यादि मिश्र पदार्थ यदि प्राप्त हो जाय तो यह बात आचार्य को निवेदन कर दे। स्वयं उसकी कोई व्यवस्था न करे। इस विषय में जो भी कुछ उचित कर्तव्य है उसे करने के लिए आचार्य की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जाय तो वह जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन करना कहलायेगा।

जो साधु, आचार्य की आज्ञा प्राप्त करके विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए दूसरे संघ में जाता है, उस संघ के आचार्य में कैसे गुण होने चाहिए, इसे दिखाते हैं :—

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती ।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥१५८॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मपहावणासीलो ।
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥१५९॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जो दीक्षा देकर शिष्यों के संग्रह करने तथा दीक्षित साधुओं को शास्त्रादि का ज्ञान देकर उन्हें योग्य बनाने में प्रवीण हैं, जो सूत्र और अर्थ के पूर्ण वेत्ता हैं, जिनकी कीर्ति संसार में विस्तृत है, जो क्रिया और आचरण में अनुरक्त हैं तथा जिनके वचन कर्ण-प्रिय और आदरणीय होते हैं, जिनका हृदय गुणों से गम्भीर है, परवादी जिनका पराभव करने में असमर्थ हैं; जो शूरता गुण से विभूषित हैं तथा धर्म की प्रभावना करने में तत्पर रहते हैं, जो क्षमा धारण करने में पृथ्वी के समान हैं, संघ के साधुओं और भव्य जीवों के चित्त में शान्ति पहुँचाने के लिए चन्द्रमा के समान हैं, तथा निर्मलता और गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, ऐसे गुणों के धारक आचार्य को ज्ञानोपार्जन के लिए प्राप्त करे।

भावार्थ—जिस साधु ने अपने संघ के उपाध्याय या आचार्य के पाद मूल में रह कर उनसे स्व-सिद्धान्त का यथायोग्य शिक्षण प्राप्त कर लिया है, वह विशेष शास्त्राध्ययन करने के लिए अपने आचार्य से आज्ञा प्राप्त कर किसी दूसरे योग्य संघ में जाता है, उस संघ के अधिनायक आचार्य में कैसे गुण होने चाहिए—यह इस गाथा-युगल में दिखलाया गया है।

जो आचार्य नवीन शिष्यों का संग्रह करता रहता है, तथा संग्रह किये हुये दीक्षित शिष्यों को शास्त्र-ज्ञान, नीति एवं व्यवहार-ज्ञान की शिक्षा देकर योग्य बनाने में दक्ष (निपुण) है, उसके पाद-मूल में रहकर आगन्तुक शिष्य अपने उद्देश्य की पूर्त्ति कर सकता है। यदि वह आचार्य स्वय ही शास्त्र-रहस्यानुभवी न हो तो उससे लाभ के बदले हानि की सम्भावना रहती है। इसलिए कहा है कि वह सूत्र और अर्थ के रहस्य का पूर्ण वेत्ता हो और उसकी ज्ञान-विषयक कीर्त्ति संसार में प्रख्यात हो। क्योंकि प्रख्यात आचार्य के शिष्य की भी संसार में प्रतिष्ठा और ख्याति होती है। प्रख्यात व्यक्ति के उपदेश व शिक्षा का लोगों के चित्त में असर भी होता है।

आचार्य में पॉच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका—ये तेरह प्रकार की क्रियाएँ और पॉच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति—यह तेरह प्रकार का चारित्र होना चाहिए। क्योंकि जो आचार्य क्रिया और आचरण से हीन होता है, उसके शिष्य भी क्रिया और आचरण से शून्य होते हैं। उसके उपदेश और आदेश का शिष्यों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

उक्त गुणों से विभूषित होने के अतिरिक्त आचार्य में ग्राह्य-वचनता का भी गुण होना चाहिए। यदि उसके वचन ग्राह्य और आदरणीय नहीं होंगे तो उसकी आज्ञा व उपदेश शिष्यों या जन-समूह के हित करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। इसलिए आचार्य के वचन ग्रहण करने योग्य अर्थात् प्रामाणिक और सारमय होने चाहिए। आचार्य को शिष्य व पात्र की योग्यता, शक्ति आदि को लक्ष्य में रखकर हित, मित और प्रिय वचन बोलना चाहिए। आचार्य क्षमा धारण करने में पृथ्वी के समान होते हैं, क्रोध को उत्पन्न करने वाले प्रबल कारणों के उपस्थित होने पर भी उनके अन्तःकरण में नित्य क्षमा का साम्राज्य रहता है, जिससे उनके चित्त में क्षमारूपी जल का प्रवाह सतत बहता रहता है। जिन पर क्रोधाग्नि प्रज्वलित करने के बाह्य कारण कुछ असर नहीं करते, सब अपने आप शान्त हो जाते हैं। जिनके वचन व कार्य शिष्य समूह व जनता को चन्द्रमा की किरणों के समान शान्ति और आह्लाद उत्पन्न करने वाले होते हैं, जिनका हृदय समुद्र के समान क्षोभ रहित निर्मल और गम्भीर होता है, शिष्य के अपराधों को सुन कर व देख कर जो क्षोभित नहीं होते और न बाहर में कभी उनको प्रकाशित करते हैं, किन्तु उनको योग्य प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कर लेते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी धन्य हैं।

संघ-नायक में ओजस्विता एव तेजस्विता गुण भी होने चाहिए। जिनका वाद-विवाद में परवादी भी तिरस्कार न कर सकें, जो शौर्य गुण से भरपूर हों, कठिन से कठिन कार्य करने में भी जो पीछे पॉव नहीं दें, जो स्वमत की स्थापना अर्थात् जैन-सिद्धान्तों की सिद्धि करने आदि धर्म-प्रभावना के कार्यों में सदा तत्पर रहते हों—इत्यादि अनेक गुणों से अलकृत उन्हीं आचार्य के सम्पर्क में रहकर ही शिष्य अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकता है। इसलिए उक्त गुण युक्त आचार्य की छत्र-छाया में रहता हुआ एव कल्याणकारी मुनिधर्म का योग्य रीति से पालन करता हुआ शिष्य विद्योपार्जन में अग्रसर होवे।

अब शिष्य अन्य संघ के आचार्य के निकट जावे तब उसके प्रति संघाधिपति आदि का क्या कर्तव्य है, इसका निरूपण करते हैं।

आएसे एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे ।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठन्ति ॥१६०॥ (मूला० समा०)

अर्थ—मार्ग के अनेक प्रकार के परिश्रम का अनुभव करके आये हुए पाहुने मुनि को देखकर संघ मे स्थित सब मुनीश्वर वात्सल्य-भाव से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन करने के लिए तथा आगन्तुक साधु को आत्मीय (अपना) बनाने के लिए नम्रता पूर्वक एकदम खड़े हो जावें।

भावार्थ—आगन्तुक अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना, भक्ति, प्रेम तथा विनय प्रकट करना आर्य पुरुषों का आदर्श धर्म रहा है। इसी आर्य-धर्म का पालन करने के निमित्त संसार के ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति आदि का त्याग करके बनवासी, परम विरक्त तपोधन भी अपने योग्य पाहुन-गति करने मे कभी नहीं चूकते। वे उसे अपना परम धर्म समझते हैं। घर पर (संघ में) आये हुए अतिथि (पाहुने साधु) का आतिथ्य करने में आचार्य महाराज ने चार कारण प्रदर्शित किये हैं—

(१) वात्सल्य के कारण सहृदय मुनीश्वरों का हृदय सधर्मा आगत साधु के प्रेम से पूरित हो जाता है, उस प्रेम-प्रवाह की कल्लोलें उनके हृदय में प्रबल वेग से उमड़ कर इतनी लहराती है कि उनके हृदय मे नहीं समाती; इसलिए वे मुनीश्वर आगत साधु को भी उस प्रेम-कल्लोल से सिंचित करने के लिए सहसा उठ खड़े होते हैं।

(२) सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक भव्य का मुख्य कर्तव्य होता है। इसलिए संघ के सम्पूर्ण मुनिराज आगत सधर्मा अतिथि साधु का सत्कार करने के लिए अपने स्थान से उठ खडे होते हैं। क्योंकि—"आणासंगहवच्छलदाए अब्भुट्ठेयो समणो सुत्तत्थविसारदो उवासेज्ज" अर्थात्—सर्वज्ञ देव की आज्ञा, संग्रह और वात्सल्य प्रकट करने के लिए सूत्रार्थ-विशारद संघस्थ-साधु, आगत साधु के लिए खड़े होवें, ऐसी सर्वज्ञ देव की आज्ञा है। ऐसा कहा है।

(३) किसी अपरिचित व्यक्ति को आत्मीय बनाने का मुख्य-मन्त्र प्रेम है। इसीलिए प्रेम को वशीकरण मन्त्र कहते हैं। क्योंकि प्रेम ही हृदय का आकर्षण करने वाला है। अतः आगन्तुक साधु के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करने के लिए साधुओं को प्रेम पूर्वक उठकर उसकी आवभगत करना चाहिए।

(४) 'विणयमूलो धम्मो' विनय धर्म का मूल है। नम्रता गुणों का आधार है। जिस आत्मा में नम्रता होती है, उसमे सम्पूर्ण गुण आकर स्वतः निवास करते हैं। इसलिए मुनीश्वर अपनी विनयशीलता-नम्र-भाव-दिखला कर सम्पूर्ण संघ को गुणवान् और मञ्जुल-प्रकृति घोषित करने के लिए आगत अतिथि का विनय करने के निमित्त उठ खडे होते हैं।

वही भगवती-आराधना में भी कहा है :—

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठंति सहसा हु दट्ठूणं ।
आणासंगहवच्छलदाए चरणे य णादुं जे ॥४१०॥

अर्थ—आगत अतिथि साधु को देखकर सघ-स्थित समस्त मुनीश्वर सर्वज्ञ की आज्ञा पालन करने के हेतु, वात्सल्य-भाव प्रकट करने के निमित्त तथा चारित्र का परिज्ञान करने के हेतु आगत साधु को स्वीकार करने के लिये उठ कर खड़े हो जाते हैं, यही उनका कर्तव्य है।

इसके विषय में और भी कहा है:—

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च ।
पाहुणकरणयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥१६१॥ (मूला० समा०)

अर्थ—अतिथि साधु को आया हुआ देखकर सात पैंड उसके सम्मुख जाकर परस्पर एक दूसरे को वन्दना, प्रति-वन्दना करे, पाहुने के योग्य कर्तव्य करने के पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में कुशलक्षेम पूछे, तथा आगत मुनि के साथ सहवास (एक साथ आचरण) करेंगे, इसलिये उस मुनि की स्वाध्याय, वन्दनादि छह आवश्यक, शयन करने योग्य प्रदेश, भिक्षा, मल-मूत्रादि का त्याग इत्यादि कार्यों की परीक्षा करने के निमित्त तीन रात्रि पर्यंत संघाटक (सहायता) तथा शय्या (वसतिका) और संस्तर देवे । अर्थात् आचार्य तीन रात तक उसे सघ मे रखने की आज्ञा और उसे शय्या एव संस्तर देते हैं। 'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्'—जिसके कुल व शील (आचरण) का परिचय न हो उसके साथ वास करने का नीति-शास्त्र में निषेध है । इसलिए आचार्य आगत साधु की क्रिया, आचार, स्वभावादि जानने के लिए केवल तीन रात्रि तक संघ मे स्थान देते हैं। तथा—

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं ।
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥१६३॥ (मूला० समा०)

अर्थ—आगन्तुक और संघ में स्थित साधु दोनों एक दूसरे की परिस्थिति का ज्ञान करने के लिए परस्पर की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की और व्रत समिति आदि तेरह प्रकार के चारित्र की परीक्षा करते हैं।

भावार्थ—सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग रूप षडावश्यक क्रियाओं के यथायोग्य परिपालन करने में; शरीर, उपकरण, शय्या, भूमि आदि को नेत्रों द्वारा तथा पिच्छिका से शोधन व मार्जन करने मे, तथा पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी आदि के उठाने, रखने मे; उठने, बैठने, मार्ग चलने मे, स्वाध्याय करने में; भोजन ग्रहण करने मे एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं । इसी प्रकार अहिंसा के पालन करने मे,

सत्य वचन के उच्चारण करने में, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह-त्याग महाव्रत के आचरण करने में, ईर्या भाषादि पाँच समितियों के पालन और मन-वचन-काय गुप्ति के धारण करने में भी एक-दूसरे की जाँच करते हैं।

आगन्तुक साधु को भी संघ के साधुओं की उक्त प्रकार से परीक्षा करना चाहिए, क्योंकि जिस संघ में ज्ञानादि की विशेष उन्नति के लिए वह आया है, कदाचित् उस संघ के साधु शिथिलाचारी हों तो उसके चारित्र में शिथिलता आ सकती है, इसलिए वह साधु भी संघ के साधुओं की परीक्षा करता है तथा उस संघ के साधु भी आगन्तुक साधु के आचरणादि की परीक्षा करते हैं। कहीं यह आगन्तुक साधु हीनाचारी, कलह-प्रिय या उच्छृङ्खल न हो, क्योंकि दुष्ट प्रकृति या हीनाचारी साधु का सम्पर्क अन्य साधुओं के ऊपर बुरा असर डालता है। जैसे-एक भैंसा तालाब के पानी को गदला करने में समर्थ होता है वैसे ही एक दुष्ट स्वभाववाला साधु संघ में विकृति उत्पन्न कर सकता है; अतः संघ के साधु आगन्तुक मुनि की परीक्षा अवश्य करते हैं।

किन-किन बातों में उसकी परीक्षा करते हैं—इसे और भी कहते हैं :—

आवासयठाणादिसु य पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१२॥ (भग० आ०)

अर्थ—संवर और निर्जरा के अभिलाषी साधुओं के द्वारा अवश्य किये जाने वाले सामायिक आदि कृत्यों को आवश्यक कहते हैं, उनमें आत्मा का परिणमन करने को आवश्यक स्थिति कहते हैं। अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकों का पालन करता है या नहीं और करता है तो योग्य समय पर करता है या नहीं? यह साधु द्रव्य-सामायिकादि में प्रवृत्ति करता है या भाव-सामायिकादि में? (वचन से सामायिक आदि पाठ उच्चारण करने को तथा काय से सामायिक आदि की क्रिया करने को द्रव्य-सामायिकादि कहते हैं। अशुभ योग का त्याग करने, तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करने, आचार्य-उपाध्याय आदि पूजनीय पुरुषों का गुण स्मरण करने, अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की निन्दा वगैरह करने, त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करने, शरीर के अनुराग का त्याग करने इत्यादि संवर एवं निर्जरा के कार्यों के करने से भाव-सामायिकादि होते हैं।) उनमें आगत साधु की प्रवृत्ति होती है या नहीं? यह परीक्षा करते हैं।

यह भूमि पुस्तकादि प्रतिलेखन (मार्जन) करने योग्य है या नहीं? इस प्रकार यह आगत साधु नेत्रों से देखता है या नहीं देखता? लघु व कोमल पिच्छी से प्रमार्जन करता है या नहीं? अथवा शीघ्रता से प्रमार्जन करता हुआ जन्तुओं को पीड़ा देता है क्या? या दूरस्थित जीवों को नीचे गिराता है क्या? परस्पर विरोधी जीवों को एक साथ मिलाता है क्या? आहार में तत्पर हुए जीवों की, आहार ग्रहण करते हुए जीवों की, जो अण्डों को ग्रहण किये हुए हैं—उन जीवों की, अपने निवास-क्षेत्र में ठहरे हुए जीवों की, मूर्छा को प्राप्त हुए जीवों की प्रमार्जना यह साधु करता है या नहीं करता है, इसकी परीक्षा करते हैं।

आगत साधुके वचनों की परीक्षा इस प्रकार करते हैं—यह साधु कठोर वचन बोलता है क्या ? पर की निन्दा और आत्म-प्रशंसासूचक वचनों का उच्चारण करता है क्या ? आरम्भ और परिग्रह मे प्रवृत्ति कराने वाले वचन उच्चारण करता है क्या ? मिथ्यात्व के पोषक वचन बोलता है क्या ? मिथ्या-ज्ञान का प्रकाश करने वाले वचन, असत्य वचन अथवा गृहस्थों के से वचन अर्थात् तुम वहाँ जाओ, तुम अमुक काम करो इत्यादि सावद्य प्रवृत्ति कराने वाले वचन अपने मुँह से निकालता है क्या ? इस प्रकार वचन की परीक्षा करते हैं।

यह साधु जिस स्थान से वस्तु लेता है अथवा जहाँ रखता है उन दोनों स्थानों का प्रमार्जन करके उठाता है या रखता है अथवा प्रमार्जन किये बिना ही उठाता या रखता है ? इसकी परीक्षा करते हैं।

यह साधु कालादि, शुद्धि का विचार करके स्वाध्याय करता है या नहीं ? अथवा जिस ग्रन्थ का यह मुनि पठन करता है उसके अर्थ का व्याख्यान कैसा करता है ? इसकी परीक्षा करते हैं।

विहार की परीक्षा इस प्रकार करते हैं—यह साधु अपने निवास स्थान से आगमोक्त दूरी पर जीव-जन्तु रहित, छेद बिल रहित, समतल, विरोध रहित, मार्ग पर चलने वाले मनुष्य जिसे देख न पावें ऐसे स्थंडिल प्रदेश मे अपने शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करता है या नहीं ? इस प्रकार विहार की परीक्षा करते हैं।

आगत साधु की भिक्षा के विषय में इसतरह परीक्षा करते हैं कि भ्रामरी के लिए निकला हुआ यह साधु जैसी भिक्षा मिल जावे वैसी ही ले लेता है ? अथवा नवकोटि से शुद्ध आगमानुसार भिक्षा ग्रहण करता है ?

इस विषय में मूलाचार मे भी उक्त गाथा के अनुकूल गाथा कही है—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाएग्गविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥१६४॥ (समा०)

भगवती आराधना की गाथा के पाठ मे और उक्त गाथा के पाठ मे केवल तृतीय चरण मे अन्तर है। भगवती आराधना मे 'सज्झाए य विहारे' ऐसा पाठ है और मूलाचार मे 'सज्झाएग्गविहारे' ऐसा पाठ है। मूलाचार मे स्वाध्याय और एकलविहार (गमनागमन) के विषय में परीक्षा करने के लिए लिखा है और भगवती आराधना मे स्वाध्याय और विहार (शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करना) की परीक्षा करने के लिए कहा गया है। इतना ही मात्र अन्तर है। अन्य अर्थ सब समान है।

शंका—आचार्य शुद्ध दिगम्बर मुद्रा के धारक साधु की बिना परीक्षा किये उसे अपने सघ मे स्थान क्यों नहीं देते ? इसमे क्या हानि है ? क्योंकि नीति मे भी कहा है—

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥

अर्थात्—उत्तम वर्ण वाले ब्राह्मणादि के घर पर नीच वर्ण का चाण्डालादि व्यक्ति भी आ जावे तो उसका भी उसको यथायोग्य आदर-सत्कार करना चाहिए—यह नीति कहती है, तब दिगम्बर शुद्ध मुद्रा के धारक साधु को तो स्थान क्यों नहीं देना चाहिए ?

सामाधान—यदि अगन्तुक साधु आचरण-हीन हो तो उसके साथ रहने वाले स्व-संघ के साधु भी दोषी होजाते हैं। क्योंकि दोषयुक्त को आश्रय देने वाले भी दोषी माने जाते हैं, जैसे चोर को आश्रय देने वाला व्यक्ति भी राजा का अपराधी होता है । इस विषय में भगवती आराधना मे कहा है—

उग्गमउप्पादणएसणासु सोधी ण विज्जदे तस्स ।
अणगारमणालोइय दोम संभुज्जमाणस्स ॥४१५॥

अर्थ—जो मुनि अपने व्रतादि में उत्पन्न हुए दोषों की आलोचना नहीं करता है, जो उद्गम, उत्पादना और एषणा (भिक्षा) सम्बन्धी दोषों से युक्त आहार का, वसतिका का, उपकरण का और संस्तर का सेवन करता है, ऐसे मुनि के साथ विना परीक्षा किये जो आचार्य रहता है, अथवा उसके साथ रहने की अन्य मुनियों को अनुमति देता है वह भी आगन्तुक मुनि के समान दोषी माना गया है । जो आगत मुनि उद्गमादि दोषों से अशुद्ध है तथा वह आलोचना भी नहीं करता है उसे संघ से पृथक् रखना ही योग्य है।

इसलिए आचार्य तीन रात्रि तक आगन्तुक साधु की परीक्षा करते हैं। परीक्षा करने के लिए नियुक्त किये गये संघ के साधु उस आगत साधु की तीन दिन तक उक्त प्रकार से परीक्षा करके आचार्य को निवेदन करते हैं। उनके निवेदन करने के पश्चात् आचार्य क्या करते हैं, यह बताते हैं:-

आगन्तुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरसवासं च ।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादि य गुरुपुच्छा ॥१६६॥ (मूला समा०)

अर्थ—आचार्य आगन्तुक मुनि से पूछते हैं कि साधो। तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा कुल क्या है ? अर्थात् तुम किस संघ के हो ? तुम्हारा दीक्षा-गुरु कौन है ? तुम्हें दीक्षा लिए कितना काल हुआ ? तुमने चातुर्मास (वर्षायोग) कहाँ कहाँ किये ? तुम किस दिशा से आये हो ? तुमने क्या क्या अध्ययन किया है ? कितने शास्त्रों का श्रवण किया है ? तुम्हारे कितने प्रतिक्रमण हो चुके हैं ? और कितने नहीं हुए हैं ? तुम्हें अब क्या अध्ययन करना है ? तथा क्या श्रवण करना है ? कितने दूर मार्ग से चल कर तुम आये हो ? इत्यादि प्रश्न आचार्य आगन्तुक साधु से करते हैं।

उक्त प्रश्नों का योग्य उत्तर मिलने पर

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी ।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥ (मूला० समा०)

अर्थ—यदि वह आगन्तुक साधु चरण (व्रत-समिति-गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र) और करण (पंच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका रूप तेरह प्रकार की क्रिया) से शुद्ध प्रतीत हो, नित्य उद्यमशील अर्थात् अतिचार रहित प्रवृत्ति करने में तत्पर विदित हो, विनयवान् और बुद्धिमान् ज्ञात हो तो आचार्य का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार उस साधु को उसके इष्ट-शास्त्र का अध्ययन व श्रवण करवावे।

यदि आगत साधु यथोक्त गुणों से विशिष्ट न हो तो आचार्य का क्या कर्त्तव्य होता है? इसको दिखाते हैं—

जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं ।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेह्णदि सो वि छेदरिहो ॥१६८॥ (मूला० समा०)

अर्थ—यदि आगत साधु चरण और करण से शुद्ध न हो, अर्थात् व्रत-समिति-गुप्तिरूप त्रयोदश प्रकार के चारित्र और पंचनमस्कार, षट् आवश्यक, आसिका और निषेधिका रूप तेरह प्रकार की क्रियाओं का पालन करने वाला न हो, तथा देव-वन्दनादि न करने के कारण अयोग्य सिद्ध हो, अथवा प्रायश्चित्त के योग्य हो तो प्रायश्चित्त-शास्त्र के अनुसार उसकी तपस्या अथवा दीक्षा के काल को चौथाई, तिहाई या अर्ध घटा देना चाहिये। यदि वह साधु सर्वथा मूल-व्रत से भ्रष्ट हो गया हो तो उसे नवीन दीक्षा देना योग्य है। यदि वह छेद या उपस्थापना के योग्य होता हुआ भी छेद या उपस्थापन (नवीन दीक्षा)ग्रहण न करे तो उसका त्याग कर दे, उसको संघ में स्थान न दे। यदि आचार्य शिष्य के मोह से उसे संघ में सम्मिलित करे तो वह (आचार्य) भी छेद-प्रायश्चित्त के योग्य होता है। अर्थात् सदोष शिष्य को आश्रय देने के कारण आचार्य भी दूषित माना गया है।

सदोष शिष्यों को अध्ययन, शास्त्र-श्रवण करवाने वाला आचार्य नराधम माना गया है। इसे आचारसार में निम्न प्रकार कहा है:—

शिलाभिन्नघटाजाविडालमृच्चालिनी शुकैः ।
मशकैश्चाहिमहिषैरपि श्रोतन् समान् त्यजेत् ॥ ४३ ॥
मोहाद्दिना निषिद्धस्य श्रोतुर्मन्दमतेरपि ।
सति प्राज्ञैर्विनीतेऽस्मिन् यो व्याख्याति नराधमः ॥४४॥

षट्खण्डागम के जीवस्थान की धवला टीका में कहा है :—

सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहए-सुएहि ।
मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥ ६२ ॥
धद-गारव-पडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्ठबोहि-लाहो भमइ चिरं भववणे मूढो॥ ६३ ॥

अर्थात्—शैलघन (सिला-मेघ) भिन्न (फूटा) घट, अहि (सर्प), चालनी, महिष (भैंसा), अवि (मेंढ़ा), जाहक (जोंक), शुक, मिट्टी, और मशक (मच्छर) के समान श्रोताओं को मोह से जो श्रुत का व्याख्यान करता है वह मूढ़ इस गौरव के वश हुआ विषयों की आसक्ति रूपी विष के वश वेहोश हो रत्नत्रय की प्राप्ति से पतित होकर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

भावार्थ—(१) जैसे शिला पर चिरकाल तक मेघ के बरसने पर भी शिला कोमल नहीं होती, उसी प्रकार जो श्रोता चिरकाल पर्यन्त गुरु के उपदेशामृत की वृष्टि से भी आर्द्र-हृदय नहीं होता है, ऐसे श्रोता को शैल-घन के समान कहा है।

(२) जिस प्रकार भग्न-घट (फूटे घड़े) में से भरा हुआ पानी निकल जाता है, उसी प्रकार जो श्रोता उपदेश को सुनकर हृदय में धारण नहीं करता, एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता है, उसे भग्न-घट के समान माना है।

(३) जैसे सर्प को पिलाया हुआ मिश्री-मिश्रित भी दुग्ध विषरूप ही परिणमन करता है वैसे ही जिसमें गुरुदेव का कर्ण-मधुर, प्रिय, हितकर उपदेशामृत विपरीत होकर परिणाम करता है उसे सर्प समान श्रोता कहा है।

(४) जैसे चालनी आटे आदि सार पदार्थ को नीचे गिरा देती है और कङ्कर, पत्थर, भूसा, कूड़ा-कर्कट को अपने अन्दर रख लेती है, वैसे ही जो गुरु के आत्म-कल्याण-कारक सारभूत उपदेश सुनकर उसे तो हृदय में स्थान नही देते और सारहीन तत्व को मनमें धारण कर लेते हैं, ऐसे श्रोताओं को चालनी के समान कहा है।

(५) जिस प्रकार महिष (भैंसा) तालाव में जल पीने की इच्छा से न घुसकर समस्त तालाव को गदला कर देता है, उस पानी को दूसरों के उपभोग के योग्य भी नहीं रखता है, उसी प्रकार जो श्रोता सभा मे हितकर उपदेश को तो नहीं ग्रहण करता लेकिन प्रसंग पाकर सभा मे क्षोभ या अशान्ति-कलह उत्पन्न कर देता है, उस श्रोता को महिष के समान कहा है।

(६) जैसे अवि (मेंढ़ा) किसी कारण से विगड़ कर पालने वाले को ही मार देता है, वैसे जो श्रोता कारणवश विगड कर हितचिन्तक उपदेश देने वाले पर ही अपनी शक्तिकी जॉच करता है, उसका प्राण हरण तक करने के लिये उद्यत हो जाता है। ऐसे श्रोता को अवि के समान कहा है। आचारसार में अवि के स्थान 'अज' (वकरा) कहा है। उसका भी तात्पर्य अवि के समान ही समझना चाहिए।

(७) जैसे जाहक (जोंक) दूध से भरे स्तन पर लगाने पर भी दूध को न पीकर रुधिर को ही पीता है, वैसे ही जो श्रोता गुरु या उपदेशक के शिक्षापूर्ण उपदेश में से दोषों का ही अन्वेषण करता है, किन्तु उस के गुणों का ग्रहण नहीं करता, ऐसे श्रोता को जाहक के समान कहा है। आचारसार में जाहक के स्थान पर विडाल (बिलाव-मार्जार) कहा है। उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बिलाव छींके आदि पर रखे हुए दुग्ध, दधि आदि के पात्र को छलांग मार कर नीचे गिरा देता है, तमाम दुग्ध-दधि को भूमि पर फैला कर किसी के काम का नहीं रखता है, उसी प्रकार जो श्रोता गुरु के उपदेश को किसी प्रकार का उपद्रव खड़ा कर मलीन कर देता है, ऐसे श्रोता को विडाल (बिलाव) के समान कहा है।

(८) जैसे शुक (तोता) को जो कुछ सिखाया जाता है, उसे वह रट लेता है, किन्तु उसे उसके अर्थ का प्रतिभास नहीं होता है वैसे ही जो श्रोता या शिष्य गुरु के उपदेश या शिक्षण को कण्ठस्थ तो कर लेता है, किन्तु उसके अर्थ का अनुसन्धान उसे नहीं होता, ऐसे श्रोता या शिष्य को शुक के समान कहा है।

(९) जिस प्रकार मिट्टी जल के संसर्ग को पाकर शीघ्र कोमल हो जाती है, थोडे से जल को अपने अन्दर रख सकती है, शेष जल को बहा देती है तथा जल के अभाव मे पहले से अधिक कठोर हो जाती है, उसी प्रकार जो श्रोता गुरु के उपदेश में से थोडे से भाग की धारणा करते हैं तथा शीघ्र कोमल परिणामी हो जाते हैं; किन्तु गुरु के उपदेश के पश्चात् पहले से भी अधिक कठोर परिणाम वाले हो जाते हैं, उन्हें मिट्टी के समान श्रोता कहते हैं।

(१०) मशक (मच्छर) जिस प्रकार पहले कानों के समीप आकर गुनगुनाता है, पाँवों में गिरता है और छिद्र मिलते ही काट लेता है, उसी प्रकार जो श्रोता पहले तो उपदेशक या गुरु की सुश्रूषा-सेवा करता है, चरणों में गिरता है, अपनी भक्ति दिखलाता है, पश्चात् अवसर मिलते ही उपदेशक या गुरु की निन्दा करता है, उस श्रोता को मशक के समान माना है।

ये दश प्रकार के कुश्रोता हैं, कुशिष्य हैं। ये सर्वथा शिक्षा व उपदेश के अपात्र (अयोग्य) हैं। इन निषिद्ध श्रोताओं को जो गुरु शिक्षा देता है, उसे आचार्य नराधम कहते हैं। जो गुरु केवल शिष्य के मोह में फँसकर या अज्ञानता से अपने गौरव के वशीभूत हुआ उक्त कुशिष्यों को शिक्षा देता है, वह मूढ़ात्मा रत्नत्रय से भ्रष्ट होकर अपरिमित काल तक भव-कानन में परिभ्रमण करता है। इसलिये आचार्य को उचित है कि वह शिष्य की सर्व प्रकार से पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् उसे संघ में स्थान दे।

परीक्षा कर चुकने के बाद आचार्य का क्या कर्तव्य है यह दिखाते हैं—

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सो त्तिसंगहिदो।
सुत्तत्थं सिक्खंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥१६९॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जिसने उक्त प्रकार से आगन्तुक की चारित्र-शुद्धि आदि की परीक्षा कर ली है ऐसा आचार्य, आगन प्राघूर्णिक (पाहुने) साधु को आत्मसात करता हुआ (अपनाता हुआ) अपनी शक्ति के अनुसार मनोयोग से उसके अभीष्ट सूत्रार्थ का शिक्षण करे या करवावे।

भावार्थ—आचार्य ने आगत साधु की प्रकृति की तथा चारित्र के अनुष्ठानादि की परीक्षा करके मन सन्तोष कर लिया हो तथा आगन्तुक साधु ने भी तीन दिन तक संघ में रह कर संघस्थ साधुओं के क्रिया व चारित्र के अनुष्ठान, रहन-सहन तथा स्वभाव का परिचय पाकर तसल्ली कर ली हो तब आचार्य आगन्तुक साधु को अपनाता है और जिस उद्देश्य से वह इस संघ में सम्मिलित हुआ है उस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये मन, वचन और काय से भरसक प्रयत्न करता है। वह साधु जिस विषय के जिस शास्त्र के अध्ययन करने की अभिलाषा प्रकट करता है, उसके लिये उस शास्त्र के अध्ययन करने की अनुकूलता मिला देता है तथा उसके हित का सदा ध्यान रखता है। यह आचार्य का कर्तव्य है।

अब शिष्य का कर्तव्य क्या है, इसे दिखाते हैं :—

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य।
विणयउवयारजुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥१७०॥ (मूला० समा०)

अर्थ—आगत साधु सम्यक् प्रकार, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रतिलेखन करके तथा आचार्य महाराज का विनय और उपचार (आदर-सत्कार) करके यत्न पूर्वक अध्ययन करना प्रारम्भ करे।

भावार्थ—शरीर के फोडा, फुंसी आदि व्रण सम्बन्धी शारीरिक अशुद्धि तथा चर्म, अस्थि (हड्डी), मल-मूत्रादि सम्बन्धी भूमि-अशुद्धि को दूर करना द्रव्य-शुद्धि है। सौ हाथ प्रमाण भूमि प्रदेश में मृतक पञ्चेन्द्रिय शरीर एवं रुधिरादि का न होना क्षेत्र-शुद्धि है। संध्या का समय, मेघ-गर्जना, बिजली का चमकना, उत्पात, दिशाओं में अग्निदाह, चन्द्र-सूर्य-ग्रहणादि काल-कृत अशुद्धि का न होना काल-शुद्धि है। क्रोध, मान, माया, लोभादि आत्मा के अशुद्ध परिणामों के अभाव को भाव-शुद्धि कहते हैं। इन चारों प्रकार की शुद्धियों के होने पर सूत्र व अर्थ का अध्ययन किया जाता है। इसलिये शिक्षा ग्रहण करने वाले को उक्त शुद्धियों का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। जो शिष्य उक्त शुद्धियों की ओर ध्यान न देकर सूत्र का अध्ययन करता है, वह जिनाज्ञा के विपरीत आचरण करने के कारण जिनाज्ञा का उल्लंघन करने वाला माना गया है। जो आत्मकल्याण के मार्ग का इच्छुक है, वह जिनेन्द्र देव की आज्ञा को कभी भंग न करके उक्त शुद्धियों का पालन करता है। अत सब प्रकार की शुद्धियों से शुद्ध हुआ शिष्य, विनय पूर्वक आचार्य महाराज के समीप जाकर आगम की विधि के अनुकूल गुरु की वन्दनादि द्वारा आदर-सत्कार करके शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करे। जो शिष्य—

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।
असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥१७१॥ (मूला० समा०)

अर्थ—सूत्रार्थ के शिक्षण के लोभ से द्रव्यादि शुद्धियों का व्यतिक्रमण करता है, उसके असमाधि (मन का असमाधान या सम्यक्त्व की विराधना), अस्वाध्याय, कलह, व्याधि तथा शिष्य या गुरु में से किसी एक का वियोग आदि होता है।

भावार्थ—सूत्र का अध्ययन करने वाले शिष्य के लिए शास्त्रकार हित की शिक्षा देते हैं कि हे मुने। जो तुम सूत्रार्थ के सीखने के लोभ मे आकर द्रव्यादि की शुद्धि का उल्लघन कर शास्त्र का परिभव (तिरस्कार) करोगे तो तुम अपने उद्देश्य की सिद्धि भी न कर सकोगे और बाह्य तथा अन्तरङ्ग अनेक प्रकार के अनिष्ट उपद्रवों को उत्पन्न करोगे। आगम के प्रतिकूल आचरण करने से तुम्हारे अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न होगा। तथा सर्वज्ञ देव की आज्ञा का भग करने पर तुम्हारे सम्यक्त्व आदि की विराधना होगी। तुम्हें शास्त्र का वास्तविक अर्थ-ज्ञान न हो पावेगा तथा आगम-विरुद्ध शास्त्र का पठन करने के पाप के दुष्परिणाम से तुम्हारे शरीर का विनाश हो जाना भी सभव है। तुम्हारा गुरु के साथ अथवा अन्य सहयोगी साधु आदि से कलह-विसवाद उठ खड़ा होगा। शरीर मे ज्वर, श्वास, खासी, जलदर, भगदर आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जावेंगे। अथवा गुरु और शिष्य मे से किसी एक का वियोग हो जावेगा। इसलिए तुम्हें सूत्र के अध्ययन करने के लिए उक्त शुद्धियों का भले प्रकार पालन करना उचित है।

'स्वार्थं साधयेद्धीमान्,' 'कार्यभ्रंशो हि मूर्खता' इस नीति-वाक्य के अनुसार अपने प्रयोजन को सिद्ध करना ही बुद्धिमानी मानी गई है और जो अपने प्रयोजन भूत कार्य को ध्वंस करता है उसे मूर्ख समझा गया है। अतः तुम्हें अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रमाद का त्याग कर द्रव्यादिक शुद्धि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, इससे तुम्हारे यथेष्ट कार्य की सिद्धि होगी, अन्यथा अपने कार्य का भी नाश करोगे और पूर्वोक्त अनेक उपद्रवों के भागी बनोगे।

केवल शास्त्राध्ययन करने के निमित्त ही शुद्धि नहीं की जाती है, किन्तु जीव रक्षा के निमित्त भी आगत साधु को तथा संघस्थ साधु को भी शुद्धि करना उचित है, इसे दिखाते हैं—

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥१७२॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जिस प्रकाश में हाथ की रेखाएँ अच्छी तरह दीखने लगें ऐसे प्रकाश से युक्त प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय संस्तार (सथारा-आसन) और अवकाश (ठहरने के भूमि प्रदेश) की याचना के साथ प्रतिलेखन (प्रमार्जन) करना चाहिए।

भावार्थ—आगम में संस्तार (सथारे-आसन) चार प्रकार माने गये हैं-१ भूमि, २ शिला, ३ काष्ठके पट्टे, तख्ते आदि, ४ तृण तथा तृण की बनी चटाई आसनादि। अवकाश (भूमि का वह भाग जिसमे मुनि शयनासन करते हैं) का पूर्वाह्ण (प्रातःकाल) और अपराह्ण (सायंकाल) में प्रमार्जन करना चाहिए। अर्थात् कोमल पिच्छी से जीवजन्तु की बाधा रहित आसन और वसतिका (मुनि के उपभोग मे आने वाला भूमि भाग) का प्रमार्जन करना चाहिए। वह प्रमार्जन ऐसे प्रकाश में करना उचित है जब कि हस्तगत रेखाएँ स्पष्ट दिखाई देने लगें। अथवा हस्तरेखाओं की सख्या और परिमाण का ज्ञान जिस समय हो सके ऐसे समय मे अथवा भोजन के लिए प्राणियों के नेत्रों की ज्योति का प्रसार अच्छी तरह जिस समय मे हो सकता हो ऐसे समय मे बड़े यत्न पूर्वक सस्तार व अवकाश (निवासस्थान) का प्रमार्जन करे।

आशय यह है कि साधु जितना परिग्रह अल्प रखेगा, उतना ही वह जीवरक्षा का अधिक पालन कर सकेगा और आत्मीय-शान्ति का भी उतना ही अधिक अनुभव करेगा। यद्यपि गाथा में संस्तार (आसन) और अवकाश (निवास-क्षेत्र) की प्रमार्जना करने का आदेश दिया है। किन्तु उपलक्षण से पुस्तकादि सम्पूर्ण उपधि और कमण्डलु आदि उपकरण का ग्रहण कर लेना चाहिए। ये उपधि, उपकरणादि जितने अल्पतम होंगे, उतना ही आत्मा हलका होगा।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के दीक्षान्वयकल्प में सथारे के विषय में लिखा है कि संस्तार (संथारा) किस को होता है? वहाँ पर ऋषि के चार भेद बताये हैं— १ ब्रह्म-ऋषि, २ ऋद्धि-ऋषि, ३ देव-ऋषि, और ४ राजर्षि। इनका वर्णन निम्न प्रकार है:—

(१) ब्रह्मर्षि वह है जो आत्मा के विचार ही में मग्न रहे, संस्तार न लगावे।
(२) ऋद्धि-ऋषि उन्हें कहते हैं, जिनके अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। देव व मनुष्य जिनका जय जय कार करते हैं।
(३) देवर्षि—इनके आसन नहीं होता है, कारण कि ये गगन में गमन करते हैं।
(४) राजर्षि—इनके लिए संस्तर माना गया है, अतः ये सस्तर वाले कहलाते हैं।

श्री अमितगति आचार्य सामायिक पाठ में लिखते हैं—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं, न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

अर्थ—शुद्ध बुद्धि के धारक महात्माओं ने साम्यभाव की प्राप्ति के लिए विधानरूप से न तो शिला या चट्टान, न तृण या घास की बनी चटाई आदि, न भूमि और न काठ के चौकी पट्टे आदि को आसन माना है। किन्तु रागद्वेषादि विभाव परणति रहित शुद्ध स्वभाव में आत्मा का स्थिर होना ही आसन माना है। क्योंकि आत्मा का पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना और क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करना ही सच्चा आसन है।

हे भद्र! यह चौकी पट्टा आदि आसन समाधि का साधन नहीं है, न जन-पूजा और न संघ का सम्मेलन ही समाधि में कारण है। यदि तुम्हें वास्तविक आत्म-शान्ति की आकांक्षा है तो तुम बाह्य पदार्थों में जो वासना लगी हुई उसको सर्वथा छोड़ कर निरन्तर आत्म-स्वरूप में रति उत्पन्न करो।

आशय यह है कि शारीरिक संहनन की हीनता के कारण, निद्रा कर्म के उदय आने पर और वीर्यान्तराय कर्म के विशेष क्षयोपशम के अभाव से शरीर के श्रमको मिटाने की आवश्यकता प्रतीत हो तो ऐसे आसन का उपभोग करना उचित है, जिससे आगम की आज्ञा का भंग न हो, आलस्य व प्रमाद न बढ़े और आत्म-संयम में बाधा न आवे। तथा जिसका प्रतिलेखन (प्रमार्जन) भले प्रकार किया जासके ऐसा अल्पल्प व वैराग्य-वर्धक आसन होना चाहिए।

प्रश्न—जो साधु दूसरे संघमें जाकर सम्मिलित हुआ है, उसे स्वेच्छ-प्रवृत्ति करनी चाहिए या किसी का आज्ञावशवर्त्ती होना चाहिए।

उत्तर—

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकज्जआरंभे।

इच्छाकारणिजुत्ते आपुच्छा होइ कायव्वा ॥१७३॥ (मूला० समा)

अर्थ—स्व-संघस्थित या पर-संघ के आगन्तुक साधु को भोजन के लिए, मल-मूत्र की बाधा निवारण आदि के लिए गमनागमन करना हो तो उसके लिए, वृक्षमूल आतपनादि उत्तर योग के साधन करने के निमित्त तथा स्व-कार्य (आत्मीय कार्य स्वाध्यायादि) का प्रारम्भ करने के लिए प्रथम गुरु की विनय पूर्वक आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि पर संघ के आगन्तुक साधु को भी और स्वसंघ के साधु को भी चर्या (भिक्षा) व्युत्सर्ग, विहारादि तथा स्वाध्यायादि कोई कार्य करना हो तो उसके पूर्व विनय-प्रणामादि करके आचार्य की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। कारण कि जिस महात्मा पर संघ का समस्त भार है उसको प्रत्येक मुनिकी परिस्थिति आदि का ज्ञान प्रत्येक समय में रखना पडता है। व्यवस्था तभी सुचारु रूप से चल सकती है जब कि समस्त कार्य उसके शासन (आज्ञा) व अनुमति से प्रवृत्त हों। समस्त संघ का कल्याण मार्ग पर सचालन करने वाले आचार्य की आज्ञा प्राप्त किये विना कोई साधु यदि कार्य करता है तो वह अपना व सम्पूर्ण संघ का अहित करता है। अतः शुद्ध-बुद्धि साधु को आचार्य की आज्ञा के अनुकूल ही सब कार्य करने चाहिए।

आगन्तुक साधु को वैयावृत्त्य भी करना चाहिए :—

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरुबालवुड्ढसेहाणं।

जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥१७४॥ (मूला० समा०)

अर्थ—चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का तथा ग्लान, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष साधुओं का अपनी शक्ति को न छिपा कर प्रयत्न पूर्वक यथायोग्य वैयावृत्त्य करना मुख्य कर्त्तव्य है।

भावार्थ—आगन्तुक साधु का भी परम कर्त्तव्य होता है कि वह सम्पूर्ण संघ का वैयावृत्त्य (सेवा-टहल) करे। चातुर्वर्ण्य श्रमण समूह को संघ कहते हैं। अर्थात् ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार तरह के साधुओं के समुदाय को संघ कहते हैं। अथवा जिस गच्छ में सात साधु हों अथवा तीन साधु हों, उसे संघ कहते हैं। आगत साधु यदि उक्त संघ के साधुओं को शारिरिक कष्ट उत्पन्न हो जावे या व्याधि प्रादुर्भूत हो

जावे तो उनकी शरीर द्वारा सेवा-टहल करे, उनके आहारादि की योग्यता मिलाकर तथा औषधादि द्वारा सेवा करे। अन्य भी किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो तो वह करे। अर्थात् उनके मल-मूत्रादि का प्रमार्जन करे, उनको उठाने,बैठाने, शय्या-परिवर्तन कराने आदि कार्यों में अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर सेवा करे।

संघमें आचार्यादि दश प्रकार के मुनिराज होते हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करे। जिस समय जिस प्रकार की सेवा की आवश्यकता हो उस समय वैसी ही सेवा करने में तत्पर रहे। प्रमाद न करे।

मोक्षशास्त्र में भी कहा है:—

'आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्'

(१) *आचार्य*—जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र-वीर्य और तप रूप पाँच प्रकार के आचार का स्वय पालन करते हैं और दूसरे साधुओं को पालन करवाते हैं, दीक्षा का आचरण करवाते हैं, वे सघं के अधिपति आचार्य कहलाते है।

(२) *उपाध्याय*—जिन से अन्य साधु आगम का अध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो चौदह पूर्व या दश पूर्व अथवा कालानुक्रम से सिद्धान्त के वेत्ता होते हैं वे उपाध्याय कहे जाते हैं। उनसे ही अन्य विद्या-अभिलाषी साधु आगम का अभ्यास करते है।

(३) *तपस्वी*—जो साधु चतुर्थ (उपवास), पष्ठ (वेला), अष्टम (तेला), पक्ष, मास आदि के उपवास, सिंह-क्रीड़न आदि एक सौ व्रतों में से देश कालादि की योग्यता के अनुसार यथाशक्ति तपस्या करते रहते हैं उन तपश्चरण प्रधान साधुओं को तपस्वी कहते हैं।

(४) *शैक्ष*—जिन साधुओं का शिक्षा-विद्याध्यन करना-ही परम उद्देश्य है, जो निरन्तर विद्या के अभ्यास में तल्लीन रहते है उन विद्यार्थी साधुओं को शैक्ष कहते हैं।

(५) *ग्लान*—जो साधु तीव्र असाता वेदनीय के उदय के कारण चिरकाल से रुग्णावस्था को भोग रहे हैं, जिनके शरीर में विषम-ज्वर, श्वास, खाँस, जलन्दर, भगन्दर आदि अनेक रोगों ने घर कर लिया है, ऐसे व्याधि-पीड़ित साधुओं को ग्लान कहते हैं।

(६) *गण*—स्थविर साधुओं की सन्तान-परम्परा को गण कहते हैं। जो साधु संघ की आम्नाय के ज्ञाता होते हैं, संघ की परिपाटी से-प्रवृत्ति से-पूर्ण परिचित होते हैं उन साधुओं को 'गण' कहते हैं।

(७) कुल—आचार्य की संतान-परम्परा को कुल कहते हैं। जो आचार्य के कर्तव्य-पालन की शक्ति व योग्यता रखते हों, संघ का सचालन करने की, सघ की व्यवस्था और उसके अनिष्ट का परिहार करने व शान्ति बनाये रखने की क्षमता रखते हों उन्हें 'कुल' कहते है।

(८) सघ—ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के साधुओंके समूह को संघ कहते हैं। जिनके बुद्धि-ऋद्धि, चारण-ऋद्धि आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हुई है, वे ऋद्धि-धारक साधु ऋषि कहलाते हैं। जो साधु यमादि का निरतिचार पालन करते हैं, इन्द्रियों पर जिनका पूरा आधिपत्य है, उन जितेन्द्रिय साधुओं को यति कहते हैं। जो आत्मा का मनन करने में, आत्म-ध्यान में तत्पर रहते है, उन आत्म-ध्यानी साधुओं को मुनि कहते हैं। जो घर का त्याग करके, ससार के विषयों को विष, व भोगो को भुजग समझकर पच-महाव्रतों को धारण करते हैं, साधुओं के २८ मूलगुणों का पालन करने में तत्पर रहते हैं, ऐसे गृह-त्यागी दिगम्बर मुद्रा के धारक सब साधुओं को अनगार कहते हैं।

(९) साधु—जिन को मुनि-दीक्षा धारण किये चिरकाल हो गया है; उन चिरकालीन दीक्षा के धारक अनुभवी सयमियों को साधु नाम से कहते हैं।

(१०) मनोज्ञ—जो लोक में विद्वान, प्रवक्ता, महाकुलीन आदि प्रसिद्ध हों, जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा जो असयत सम्यग्दृष्टी हों—उन्हें मनोज्ञ कहते हैं।

उक्तदश प्रकार के संघ-स्थित वाल-वृद्धादि संयमियों की उनके योग्य वैयावृत्त्य करना, उनको सब प्रकार की सहायता देना आगन्तुक साधु का भी मुख्य धर्म है।

प्रश्न—आगन्तुक साधु पर-संघ में रहकर वन्दनादि क्रियाएँ अकेला करता है अथवा सब संघस्थ साधुओं के साथ सम्मिलित होकर करता है ?

उत्तर—

दिवसिय-रादिय-पक्खिय-चाउम्मासिय-वरिस्सकिरियासु ।
रिसि-देव-वन्दणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥१७५॥ (मूला० समा०)

अर्थ—प्राघूर्णिक (पाहुना) साधु दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक चातुर्मासिक तथा वार्षिक देववन्दना गुरुवन्दनादि क्रियाओं का आचरण सम्पूर्ण संघस्थ साधुओं के साथ मिलकर करे।

भावार्थ—आगन्तुक साधु के पूर्वोक्त परीक्षा मे उत्तीर्ण होजाने के बाद आचार्य ने उसे अपना लिया है, इसलिए वह संघ के आम्नाय व शासन का तथा क्रिया का अनुष्ठान करने मे सहयोगी बन चुका है। सघ के इतर साधु जो दैवसिकादि क्रियाएँ करते है उनमे सम्मिलित होकर वह भी उनका

आचरण करता है। देव-वन्दना, गुरु-वन्दना, देव-स्तव आदि षडावश्यक, नित्य, नैमित्तिक व कालिक क्रियाएँ जो मुनि के कर्तव्य में परिगणित की गई हैं, उन सब का पालन संघ के साधुओं के साथ मिलकर यथाकाल में करता है। वे क्रियाएँ दैवसिकादि भेद से पाँच प्रकार की निम्न प्रकार है—

दैवसिक—जो क्रियाएँ देववन्दना, प्रतिक्रमणादि अपराह्न (सायंकाल) के समय की जाती है उन्हें दैवसिक कहते हैं।

रात्रिकी—जो क्रियाएँ रात्रि के पिछले प्रहर मे आचरण की जाती है उन्हें रात्रिकी कहते हैं।

पाक्षिकी—चतुर्दशी, अमावस्या पूर्णिमा के दिन जो प्रति-क्रमणादि क्रियाएँ की जाती हैं उन्हें पाक्षिकी क्रिया कहते हैं।

चातुर्मासिकी—चार मास बीतने पर जो प्रति-क्रमणादि क्रियाएँ आचरण करने योग्य होती हैं वे चातुर्मासिकी क्रियाएँ कही जाती हैं।

वार्षिकी—एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर जो सांवत्सरिक प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ पालन की जाती हैं, उन्हें वार्षिकी क्रियाएँ कहते हैं।

यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखने की है कि आगन्तुक साधु के व्रतादि के पालन मे या षडावश्यकादि के आचरण में कोई अतिचार लग जावे तो वह जिस संघ में रहते हुए अपराध उत्पन्न हुआ हो, उसी संघ मे 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' इस प्रकार 'मिथ्याकार'द्वारा उस की निवृत्ति करले। अथवा कोई ऐसा अपराध हो जावे, जो गुरु के सम्मुख आलोचना किये बिना शुद्ध न हो तो उस दोष को उसी संघ के आचार्य से निवेदन करके आचार्य द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का पालन कर उस दोष की निवृत्ति कर ले। उस दोष को अन्य संघ मे न ले जावे।

प्रश्न—साधु को अपने संयम की रक्षा के लिए आर्यकादि स्त्री के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए?

उत्तर—

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण ।
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७॥ (मूला० समा०)

अर्थ—आर्या (साध्वी) आदि स्त्रियों के आगमन के समय, एकाकी, जन शून्य प्रदेश में साधु को नहीं ठहरना चाहिए। धर्म-कार्य के सिवा उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर आर्यिका शब्द से स्त्री-मात्र का ग्रहण समझना चाहिए। आर्यिका हो अथवा अन्य गृहस्थ स्त्री हो, उसके साथ एकान्त स्थान में, अथवा आप अकेला हो दूसरा पुरुष निकट वर्ती न हो तो उसके साथ वार्तालाप करना तो दूर रहा, एक क्षण भर ठहरना भी नही चाहिए। क्योंकि—

"बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"

इन्द्रियाँ निमित्त पाकर अतिशय बलवान् हो जाती हैं, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, बड़े २ विद्वान् तपस्वी, महात्माओं को भी उन्मार्ग (कुमार्ग) में खींच ले जाती हैं। इसलिए स्त्रियों का सम्पर्क अत्यन्त हानिकारक कहा गया है।

"दर्शने हरते चित्तं, स्पर्शने हरते बलम् ।
संयोगे हरते प्राणान्, नारी प्रत्यक्ष-राक्षसी" ॥

व्यवहार में राक्षसी को प्राणघातक मानते हैं। किन्तु वह क्रोधित होने पर ही प्राणों का संहार करती है, किन्तु नारी अपूर्व (विलक्षण) राक्षसी है, जो नेत्र के गोचर होते ही चित्त का हरण कर लेती है, धर्म-कर्म में लवलीन रहने वाले चित्त को खींचकर वह अपने अधीन कर लेती है। यदि दुर्भाग्य से कदाचित् उसके शरीर का स्पर्श हो जावे तो शारीरिक बल के साथ आत्म-बल का संहार कर डालती है। यदि महापाप के उदय आने पर उसका गाढ़-संयोग हो जावे तो प्राणों को छीन लेती है। सम्यग्ज्ञानादिक भाव-प्राण तो उसके दर्शन-स्पर्शन से ही विकारवान् हो जाते हैं तथा द्रव्य-प्राणों (शरीरादि) को भी वह अपने वश में कर लेती है, शारीरिक इंद्रियाँ उनमें आसक्त हो जाती हैं; अतः नारी परम राक्षसी प्रत्यक्ष है।

आचारसार में कहा है—

मुनिनैकेन नो वाच्यमेकार्या यदि पृच्छति।
गणमुख्यां पुरस्कृत्य पृष्टं ब्रूयात्तदीप्सितम् ॥७२॥
मालालापं कथाश्चार्याजनैः सार्धं यमी त्यजेत्।
तदाश्रयेऽशनं स्थानं व्याख्यानं शयनादिकम् ॥७३॥
नामाऽप्यानन्दनिष्यन्दि 'स्त्री'ति लोचनगोचरम्।
तदंगमंगजस्फारशरोग्रं न करोति किम् ॥७५॥ (अधि० २)

अर्थ—आर्या किसी मुनि से यदि अकेली धार्मिक प्रश्न भी करे तो उस साधु को उचित है कि वह गणिनी (आर्या,संघ-नायिका)को आगे करके पूछे गये आर्यिका के प्रश्न का उत्तर दे।

संयमी को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि यदि अनेक आर्यिकाएँ साथ में हों तो भी उनके साथ अकेला वार्तालाप तथा धर्म-कथा न करे। और आर्यिकाओं के निवास भवन में अशन (भोजन), स्थान (स्थिति ठहरना), एवं शयनासन आदि न करे। अर्थात् जिस स्थान में आर्यिका ठहरी हो, वह विशाल भवन हो, उसके किसी एक वसतिका के योग्य भाग में गृहस्थ रहते हों तो वहाँ पर भी आहार न करे, न ठहरे तथा उसका एक भाग रिक्त हो तो भी वहाँ पर शयनासनादि न करे।

कानमें पड़ा 'स्त्री' शब्द मात्र भी अन्तःकरण में कामानुराग को उत्पन्न करता है। यदि उस स्त्री का स्वरूप नेत्र-गोचर (आखों के सामने) आजावे तो वह क्या न करेगा? अर्थात् स्त्री का रूप चित्त में चिरकाल से संचित जो ज्ञान व वैराग्य हैं, उनका समूल नाश करके चित्त को

विषय से मलीन कर देता है। उसका शरीर जो कि कामदेव का अत्यन्त उग्र बाण है, वह क्या नहीं करता ? अर्थात् वह तो आत्मा का सर्वतोमुखी पतन कर देता है। जिस अभागे सयमी के शरीर से स्त्री के शरीर का स्पर्श हो जाता है उसका सर्व प्रकार से पतन अवश्यंभावी है।

भगवती आराधना में कहा है—

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं।
अज्जाणुचरो साहू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण ॥३३०॥

अर्थ—हे मुनियो। आर्यिकाओं का सम्बन्ध अग्नि के तथा विष के समान है; इसलिए उनका सम्पर्क न हो, इसमें पूरी २ सावधानी रक्खो।

भावार्थ—आर्यिका का सम्पर्क चित्त में संताप (कामज्वर) उत्पन्न करने वाला है, इसलिए वह अग्नि के समान है। तथा जैसे विष-भक्षण शरीर का विनाश करने वाला होता है, वैसे ही आर्या-संसर्ग संयमी के संयत-जीवन का विघातक है, अतः वह विष के समान है। जो साधु आर्यिका से ससर्ग (वार्तालाप, समीप मे बैठना आदि) रखता है, वह ससार मे अयश का भाजन होता है। स्त्री के संसर्ग को पाप और अकीर्त्ति का साधन समझकर असंयमी जन (धर्म-भीरु गृहस्थ) भी उसका सर्वथा त्याग करने में सावधान रहता है तो फिर शास्त्र के वेत्ता, संयम को ही धन मान कर उसकी रक्षा मे सदा तत्पर रहने वाले साधु की तो बात ही क्या है ? क्या वह रत्नत्रय को चुराने वाले इस स्त्री रूप तस्कर के संसर्ग को न छोड़ेगा ? अवश्य छोड़ेगा। यदि नही छोड़ेगा तो वह लोकापवादका पात्र होगा। कहा भी है—

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स-वि पमाणभूदस्स।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जा हि ॥३३१॥
किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो वा।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥३३२॥ (भग० आ०)

अर्थ—स्थविर (बृद्ध) साधु, जिसे सघ के आम्नाय, रहन-सहन तथा लोक-व्यवहार का पूर्ण अनुभव हो तथा जिसको सब संघ प्रमाण-भूत मानते हैं ऐसा बहुश्रुत का वेत्ता प्रकाण्ड विद्वान् साधु भी आर्यिकाओं के साथ परिचय रखने से लोकापवाद का पात्र होता है तो जो साधु तरुणावस्था का धारक है, जिसे आगम का साधारण ज्ञान है, जिसका चारित्र भी उत्कृष्ट नही है वह क्या संसार मे निन्दनीय नहीं होगा ? उसकी निन्दा होना अवश्यंभावी है। इसमें किसी प्रकार का सदेह नहीं समझना चाहिए।

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥३३३॥ (भग० आ०)

आर्यिका मानसं सद्यो यतिसगे विनश्यति ।
सर्पिर्वह्नेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥३३३॥ (सं० भग० आ०)

अर्थ—यदि कोई साधु जितेन्द्रिय, स्थिर बुद्धिवाला हो, जिसका कि चित्त मेरु के समान अडोल हो, जिसके चित्त मे किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न होता हो, उसके भी ससर्ग (वार्तालापादि करने) से आर्यिका का चित उल्लास को प्राप्त हो कर अग्नि के समीप मे रखे हुए घृत के समान पिघल जाता है। अग्नि के समीप मे रखा हुआ कड़ाके की ठड से पत्थर समान कठोर हुआ भी घृत क्या नहीं पिघलता ? अवश्य पिघल जाता है।

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।
सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥३३५॥ (भग० आ०)

जो साधु घर-महल, वाग-वगीचे, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, मित्रादि मोह-जनक समस्त परिग्रह का त्याग कर स्वतन्त्र वना हुआ आत्मा मे अनुरक्त हुआ है वही साधु आर्यिका के साथ परिचय करके परतन्त्र होजाता है अर्थात् मोह जाल में फॅस कर अपने आपको खो वैठता है इसलिए आर्यिकाओं का संसर्ग उसके लिए सर्वथा त्याज्य है। वह उनका अवलोकन तथा उनसे वार्त्तालापादि भी न करे।

शंका—आर्यिकाएँ अथवा गृहस्थ स्त्रियॉ मुनियों के दर्शन करने अथवा उनके उपदेश-प्रवचन का श्रवण करने के लिए आवें तो उन पर दृष्टिका पड़ना अवश्यंभावी है। उस समय साधुओं को अपनी ऑखें वन्द कर लेनी चाहिए या ऑखों पर पट्टी वॉध लेनी चाहिए। यदि वह जनता के समक्ष कुछ प्रश्न कर लें तो उनका उत्तर देना चाहिए या गूंगे की भॉति मौन वन कर वैठ जाना चाहिये ?

समाधान—आर्यिका अथवा अन्य गृहस्थ स्त्रियों के ऊपर अकस्मात् दृष्टि पड़ जावे तो, उसे शीघ्र खींच लेना चाहिए, उस दृष्टि मे अनुराग का पुट नहीं चढ़ने देना चाहिए। तथा आर्यिका आदि के प्रश्न करने पर किसी मुख्य वृद्ध आर्यिका को लक्ष्य करके सक्षेप मे विरक्ति पैदा करने वाला उत्तर देना चाहिए। अधिक सभाषण या उनमें अनुराग उत्पन्न करने वाला वार्त्तालाप न करना चाहिए। सभाषण करने का ढग, विरक्ति का वर्धक सीधा-सादा होना चाहिए।

स्त्रीणां दर्शनमादरेक्षणमतो वार्तेष्टवार्त्ता मनाङ्,-
नर्मोक्तिर्नतिनर्मरत्यनुगवाक् शृङ्गारसारं वचः।
स्वान्तस्योल्लसनं धृतेः क्षितिरतिप्रीतिर्मतेर्भ्रान्तता,
तस्यां घस्मरमारवीरविशिखव्रातस्य लक्ष्यः क्षणात् ॥७६॥ (आचार० अ० २)

अर्थात्—स्त्री वर्ग का अवलोकन मात्र पापजनक नहीं होता। यदि उनको नेत्र से देख लेना ही दोष का कारण मान लिया जावे तो आर्य सदाचारी पुरुष के माता व भगिनी का अवलोकन भी पाप का उत्पादक मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, अतः महिलाजन को अनुराग-दृष्टि से अवलोकन करना हेय माना है। स्त्री-जन के धार्मिक प्रश्न करने पर उत्तर देने वाले मुनि के पापास्रव नहीं होता, परन्तु हँसी-ठट्ठा करते हुए उत्तर देने वाले उनके अभिप्राय के अनुकूल उनके चित्त को प्रफुल्लित करने वाली इष्ट बात बोलने वाले, अपनी नम्रता दिखाते हुए मुस्किरा कर प्रेम के अनुकूल वचन उच्चारण करने वाले, शृङ्गार-रस के पोषण करने वाले दृष्टान्त कथा आदि का प्रकाश करने वाले साधु के पाप-कर्मों का वन्ध होता है। क्योंकि उक्त प्रकार के अवलोकन तथा वचनों के उच्चारण से अन्तःकरण में कामानुराग उत्पन्न होता है, धैर्य का ध्वंस होता है, अशुभ प्रेम की वृद्धि होती है, मति में विभ्रम पैदा होता है। इसके पश्चात् वह शूरवीर कामदेव के वाण का अति शीघ्र लक्ष्य वन जाता है। अर्थात् वह स्त्री के साथ परिचय करने वाला साधु काम-वासना के वशीभूत होकर चारित्र से पतित हो जाता है।

यद्यपि कोई जितेन्द्रिय साधु आर्यिकादि के साथ सम्भाषणादि करता हुआ भी अपनी आत्मा को सन्मार्ग से विचलित नहीं करता है, तथापि निम्नोक्त कन्या, विधवा आदि के साथ सम्पर्क रखने वाला साधु जनापवाद का भागी अवश्य होता है।

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जो साधु विवाह के योग्य कन्या, विधवा, अन्तःपुर में रहने वाली रानी, अन्य विलास-प्रिय महिला, स्वच्छन्द आचरण वाली व्यभिचारिणी स्त्री, जिन-दीक्षा धारण करने वाली आर्यिका आदि तथा जैनेतर लिंग का धारण करने वाली साध्वी—इन स्त्रियों के साथ क्षण मात्र भी संभाषणादि करता है वह साधु संसार में अपवाद को प्राप्त होता है। उसकी संसार में निन्दा अवश्य होती है।

शंका—यदि आर्यिकादि के साथ सर्वथा संसर्ग अयोग्य है तो उनके प्रतिक्रमणादि की क्या व्यवस्था होगी?

समाधान—उनके साथ सर्वथा संसर्ग का निषेध नहीं किया है, किन्तु यह अवश्य है कि आर्यिकाओं के साथ संभाषणादि करने का अधिकार प्रत्येक साधु को नहीं है। जो विशिष्ट साधु उनके साथ संभाषणादि कर सकते हैं उनका स्वरूप आगे बताते हैं—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जिसको उत्तम क्षमादि धर्म अथवा चारित्र-धर्म अत्यन्त प्यारा है, अर्थात् जो क्षमा आदि के पालन करने और महाव्रतादि के रक्षण मे सर्वदा तत्पर रहता है, जिसका मन धर्म मे दृढ है, अर्थात् अनेक विरोधी निमित्तों का सयोग होने पर भी जिसका चित्त धर्मसे नहीं डिगता है, जो धर्म तथा धर्म के फल में श्रद्धा रखता है, पाप से सदा भयभीत रहता है, जिसका चारित्र अखण्डित है, जो दीक्षा, शिक्षा, व्याख्यानादि मे प्रवीण है तथा पाप-क्रियाओं की निवृत्ति से जो युक्त है, जो दूसरों को हितोपदेश देकर उनकी रक्षा करने मे तत्पर रहता है, गुणों का जो अगाध भण्डार है, जिसके चित्त पर दूसरे का प्रभाव अङ्कित नहीं होता है अर्थात् जो स्थिर चित्त है, जो अल्पभाषी है, जिसको विस्मय (आश्चर्य) नहीं होता अथवा जिसका गुह्यांग अल्प एवं स्तब्धता से रहित है, जो चिरकाल से दीक्षित और श्रेष्ठ गुणों से गरिष्ठ है, जिसको पदार्थ का स्वरूप-ज्ञान हो गया है अर्थात् आचार-शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रादि का जो पूर्ण ज्ञाता है, ऐसा महात्मा साधु ही आर्यादि का गणधर हो सकता है, अर्थात् उक्त गुण-विशिष्ट प्रबल आत्म-बली मुनि ही आर्यिकादि के योग्य प्रश्नो का उत्तर-दाता तथा उनको प्रायश्चित्तादि का आचरण कराने वाला माना गया है।

इसका आशय यह है कि हर एक साधु आर्या अथवा स्त्रियों के मध्य उपदेशादि देने योग्य नहीं है। क्योंकि सामान्य साधु के चित्त पर बाह्य-निमित्त का बहुत जल्दी प्रभाव हो सकता है। इसलिए चिरकाल के दीक्षित, अत्यन्त प्रभावशाली, तपस्यादि गुणों से भरपूर तथा जिसका पुरुष-चिह्न अल्प परिमाण वाला और विकार-विवर्जित हो, उस परम सौम्य और वैराग्य मूर्ति को ही आचार्यों ने आर्यिकादि के प्रायश्चित्तादि का आचरण करवाने वाला बताया है। उसके अतिरिक्त जो साधु आर्यिका या और स्त्रियों के साथ गोष्ठी आदि करता है, उनसे किसी प्रकार का सभाषणादि द्वारा परिचय रखता है वह अपना अकल्याण करता है। दूसरों के पतन का कारण होता है और अपने धर्म को भी कलङ्कित करता है।

यही आचारसार मे कहा है :—

> चिरप्रव्रजितः सूरिः स्थविरः श्रुतपारगः।
> तपस्वीति यतो नास्ति गणना विषमायुधे ॥७७॥
> आज्ञाभङ्गादि दोषार्हः करोति यदि सूरिताम्।
> मदोदयाद्गुणव्रातैर्नैतेन रहितो यतिः ॥७८॥ (अधि० २)

चिरकाल से जो संयम का आराधन कर रहे हैं अर्थात् अभ्यास के वश जिनकी आत्मा सयम रूप बन चुकी है, जिनकी अवस्था ढल चुकी है अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ वृद्धावस्था के कारण शक्तिहीन हो गई है, जो आगम मे पारंगत है तथा जो सदा तपस्या मे रत रहते है वे ही आर्या आदि को शिक्षा-दीक्षा देने के योग्य हैं, किन्तु जो उक्त गुणों से रहित है और मद के आवेश मे आकर आर्यिकादि को दीक्षा-शिक्षादि देने का कार्य भार ग्रहण करते हैं, वे जिनागम की अवहेलना करते है और स्व-पर का चारित्र लोप करने के लिए कदम बढ़ाते है।

भगवती-आराधना में भी इसकी (स्त्री-संसर्ग की) घोर निन्दा की गई है:—

नार्या बन्धेन बन्धोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यतेः ।
वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सहचर्मणा ॥३३८॥
ब्रह्मव्रतं मुमूक्षाणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ।
मण्डूकः पन्नगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥३३९॥
चौराणामिव सांगत्यं पुंसां सर्वस्वरक्षिणा ।
योगिना योषितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥३४०॥ (सं० भग० आ०)

अर्थात्—जिस प्रकार चोरों के सहवास में रह कर कोई भी धनवान व्यक्ति अपने धन की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई ब्रह्मचारी (साधु आदि संयमी) स्त्री का सम्पर्क रखते हुए अपने ब्रह्मचर्य को अक्षत कदापि नहीं रख सकता, यह निश्चित व ध्रुव सत्य है। भीषण नाग के मुख का ग्रास बना हुआ मेंढक क्या अपने जीवन की आशा कर सकता है ? कभी नहीं। वैसे ही स्त्रियों से सम्पर्क रखने वाले संयमी को भी यह समझ लेना चाहिए कि उसका संयम नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। यह समझ कर उसे स्त्री-संसर्ग का अवश्य त्याग करना चाहिये, अन्यथा वह निर्मल और पतित-पावन जिन शासन को कलङ्कित कर रहा है। वह सिंह का चर्म ओढ़ कर गर्दभ के समान बर्त्ताव करने वाला, अपने को सिंह कहता हुआ भी शृगाल के समान आचरण करने वाला ढोंगी है। वह धर्म की निन्दा कराने वाला स्व-पर का अकल्याणकर्ता माना गया है।

मूलाचार में तो यहाँ तक वर्णन किया है कि वृद्ध तथा तपस्वी और श्रुत के अभ्यासी विद्वान् साधु को भी आर्यिकादि स्त्रियों के साथ वार्तालापादि नहीं करना चाहिए, क्योंकि काम से मलीन हुआ साधु अपने कुल की भी परवाह नहीं करता है ।

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥ (मूला० समा०)

अर्थ—आर्यिकादि स्त्रियों के संसर्ग को पाकर जब साधु काम-विकार से विकृत हो जाता है तब वह अपनी वृद्धावस्था की, चिरकाल की अपनी जिन-दीक्षा की, मैं आचार्य हूँ, बहुश्रुत का अभ्यासी हूँ, तपस्वी हूँ, इन सब की परवाह नहीं करता है। और तो क्या, वह अपने कुल का भी विनाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जो साधु स्त्रियोंके संसर्ग के निमित्त से काम के वशीभूत हो जाता है, वह चाहे महान विद्वान्, तपस्वी, आगम के

रहस्य का वेत्ता, संघ-नायक पद पर विराजमान आदि ही क्यों न हो, इन सब की अवहेलना कर देता है। अथवा किसी साधु का मन जब काम से मलीन हो जाता है तब वह किसी वृद्ध साधु की, किसी श्रुत के पारगामी धुरन्धर विद्वान् की, किसी तपस्वी की तथा आचार्य के अंकुश की भी परवाह नहीं करता है। वह अपने कुल का भी विचार नहीं करता है। सार यह है कि काम से अन्धा हुआ साधु अपने आपको भूल जाता है। उसका पतन होना निश्चित है, इसलिये साधु को चाहिए कि वह स्वप्न में भी आर्यिकादि स्त्रियों का संसर्ग न होने दे।

पूर्वोक्त गुण के धारक तपस्वी जितेन्द्रिय साधु के अतिरिक्त जो आर्यिकाओं के गणधरपने को करता है, उनकी शिक्षा-दीक्षा में प्रवृत्त होता है, वह कितने दोषों का भागी होता है, इसे दिखाते हैं—

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥१८५॥ (मूला० समा०)

अर्थ—पूर्वोक्त गुणों से शून्य साधु यदि आर्यिकाओं के गणधरत्व को स्वीकार करता है, उनको प्रतिक्रमणादि कराता है तो उसके गण-पोषण, आत्म-संस्कार, सल्लेखना तथा उत्तमार्थ सम्बन्धी काल की विराधना होती है।

अथवा कालिका शब्द से प्रायश्चित्त का ग्रहण होता है। अत छेद, मूल, परिहार और पारचिक ये चार प्रायश्चित्त उस आर्याओं के गणधर को प्राप्त होते हैं।

अथवा उसके चार महीने कांजिक चॉवल के आहार से व्यतीत होते हैं। जो आचार्य आर्यिकाओं के संघ का नायकपना स्वीकार करता है, उसके संघ का विनाश हो जाता है अथवा संघ में विरुद्ध परिणति उत्पन्न हो जाती है। एवं संघ के साथ उसकी आत्मा का भी अहित होता है।

प्राचीन समय के मनुष्यों में संहनन-शक्ति, प्रकृति-भद्रता, सुशीलता, पाप-भीरुतादि गुण विद्यमान थे। किन्तु इस समय उनकी विरलता दिखाई देती है। इसलिए इस समय के साधुवर्ग को तो स्त्री-समाज के सम्पर्क से सर्वथा विलग रहना चाहिए। जो इस आगम-आज्ञा की ओर ध्यान न देकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, वह भगवान् की आज्ञा का लोप करने वाला अपराधी माना गया है। उसे ऊपर कहे हुए प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्म-शुद्धि करनी चाहिए। अन्यथा वह मुनिपद के योग्य नहीं है।

आर्यिकादि स्त्रियों के साथ वार्तालापादि करने वाले साधु को जो छेदादि चार प्रायश्चित्त लगते हैं, उनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) छेद—जो साधु चिरकाल का दीक्षित है, स्वाभाविक बल का धारक है, जिसमें स्वाभाविक शूरता है, परन्तु गर्व के कारण ऐसे साधु से कोई दोष हो जाने पर उसकी दिवस, पक्ष, मास, वर्षादि की दीक्षा का घटा देना छेद-प्रायश्चित्त कहा गया है। दीक्षा-छेद के कारण उसके

अभिमान का मर्दन होजाता है। क्योंकि दीक्षा का काल-छेद हो जाने के पश्चात् अल्प-काल के दीक्षित साधु को भी उसे वन्दनादि करने पड़ते हैं।

(२) मूल—जो स्वच्छंदाचारी एवं जिनागम की आज्ञा की अवहेलना करने वाला होता है, पार्श्वस्थादि भ्रष्ट-साधु के समान जिसका आचरण है, जो एकाकी हो निरर्गल विहार करता है, जिसके मूलगुण में भी दोष लग जाते हैं वह मूल-प्रायश्चित्त के योग्य है। ऐसे साधु को पुनः दीक्षा दी जाती है, यही मूल-प्रायश्चित्त कहलाता है।

(३) परिहार—इस के दो भेद हैं-(१) स्वसंघ-परिहार और(२) पर-संघ-उपस्थापन।

(१) स्वसंघ—परिहार—जिस मुनि ने प्रमाद से किसी अन्य साधु के छात्र अथवा किसी दूसरे के किसी पदार्थ का अपहरण किया हो, किसी स्त्री की चोरी की हो, किसी मुनि पर पहार किया हो, अथवा ऐसा ही अन्य कोई महापराध कर लिया हो और वह नवपूर्व या दशपूर्व का ज्ञाता हो, आदि के तीन संहनन का धारक हो, धर्म पर दृढ रहने की उसकी सम्भावना हो, धीर और भव से भयभीत हो तो ऐसे मुनि को स्वसंघ-परिहार नाम का दण्ड दिया जाता है। अर्थात् उसको संघ से बत्तीस धनुष के अन्तर (दूरी) पर रह कर विहार करना पड़ता है, बाल मुनियों की भी वन्दना करनी पड़ती है। उसको कोई प्रतिवन्दना (वन्दना के बदले में वंदना) नहीं करता। वह केवल गुरु से आलोचना कर सकता है, संघका कोई साधु उसके साथ सभाषणादि नहीं करता है, उसे उल्टी पिच्छी धारण करनी पड़ती है, तथा उसे कम से कम पाँच-पाँच उपवास बारह वर्ष पर्यन्त और उत्कृष्ट छह-छह मास के उपवास बारह वर्ष पर्यन्त करने पड़ते हैं।

(२) परसंघोपस्थापन—जो दर्प (अभिमान) के वशीभूत हुआ उक्त (स्व-संघ-परिहार) प्रायश्चित्त का आचरण नहीं करता है, उसको परसंघोपस्थापन प्रायश्चित्त दिया जाता है। आचार्य द्वारा वह अपराधी साधु परसंघ के आचार्य के समीप भेजा जाता है। वह द्वितीय आचार्य भी उसकी आलोचना को सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये उसे तीसरे संघ के आचार्य के निकट भेजता है। वह आचार्य भी उसके दोषों को सुनकर चौथे आचार्य के पास भेज देता है, इस प्रकार वह अपराधी सात आचार्यों के निकट भेजा जाता है। सातवाँ आचार्य उसके अपराध को सुनकर प्रायश्चित्त न देकर उसे प्रथम आचार्य के समीप भेज देता है। पश्चात् वही प्रथमाचार्य उसको पूर्वोक्त दण्ड देता है। इसे परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त कहते हैं।

(४) पारंचिक—जो साधु तीर्थङ्कर, गणधर, गणी, प्रवचन, संघ आदि की आसादना करता है, जिसने राजविरुद्धाचरण किया है, राजा के प्रिय मंत्री आदि को दीक्षा दी है, अथवा जिसने राजकुल की स्त्री का सेवन किया है, ऐसे ही अन्य गुरुतर अपराध के करने वाले धर्म- को पारंचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। अर्थात् उक्त दोष से दूषित साधु को संघ के सब साधु इकट्ठे होकर बुलाते हैं और सब संघ के समक्ष यह घोषणा करते हैं कि 'यह महापातकी संघ के बाहर किया जाता है।'

साधुओं का आचार उक्त प्रकार है तो आर्यिकाओं का आचार क्या है? इसका वर्णन करते हैं—

एसो अज्जाण वि अ सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं ।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥ (मूला० समा०)

अर्थ—जो आचार पहले वर्णन कर आये है, वह सब आचार आर्यिकाओं को भी यथा योग्य (वृक्षमूल-योग, आतपन-योगादि को छोड़ कर) पालन करना चाहिए।

भावार्थ—मुनीश्वरों के आचरण करने योग्य जितना क्रिया-कलाप वर्णन कर आये हैं वह सब आर्यिकाओं के भी आचरण करने योग्य है। किन्तु जो आर्यिकाओं की शक्ति और परिस्थिति के अनुकूल न हो ऐसे वृक्षमूल योगादि का वर्जन किया गया है। अर्थात् उन्हें एकान्तयास, वृक्षमूल-योग, आतपन-योग वर्षा-योगादि का आचरण नहीं करना चाहिये। वसतिका मे ही रह कर जो उनके योग्य आचरण है उसका पालन करना चाहिए।

आर्यिकाएँ वसतिका मे. काल-यापन किस प्रकार करें? इस प्रश्न के उत्तर मे कहते हैं—

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ ।
गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ ॥१८८॥ (मूला० समा०)

अर्थ—वसतिका में साथ २ निवास करती हुई आर्यिकाओं मे परस्पर प्रेम का वर्त्ताव होना चाहिए तथा एक दूसरे की रक्षा करने में वे तत्पर रहें। आपस में वैर-विरोध एवं माया का वर्त्ताव कदापि न करें तथा लज्जा, मर्यादा आदि का पालन करने मे सदा दत्तचित रहे।

भावार्थ—आर्यिकाएँ अपने सघ मे रहकर ही अपने संयम की रक्षा और वृद्धि कर सकती है। आयिका को हमेशा अन्य आर्यिकाओं के सहयोग की आवश्यकता रहती है। अकेली आर्यिका का विहार सर्वथा वर्जनीय है। वह अपने शीलधर्मादि को सुरक्षित रखने के लिए अपने सघ की आर्यिकाओं के साथ अनुकूल प्रवृत्ति करे। उनके साथ प्रीति पूर्वक व्यवहार रखे। स्त्री पर्याय में लज्जा परम भूषण है। लोकापवाद से आत्मा मे जो भय बना रहता है, उसे लज्जा कहते हैं। राग व द्वेष के वश होकर न्याय मार्ग मे विपरीत मार्ग मे प्रवृत्ति न करना मर्यादा मानी गई है। उभय कुल के अनुकूल आचरण करना क्रिया बतलाई गई है। इनका परिपालन करना आर्यिकाओं का परम कर्त्तव्य है।

आचारसार मे भी कहा है :—

लज्जाविनयवैराग्यसदाचारादिभूषिते ।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥८१॥ (अधि० २)

अर्थात्—आर्यिकाओं का सघ लज्जा, विनय और वैराग्य तथा सदाचार से विभूपित होता है। अर्थात् आर्यिका उन्हीं का नाम है जो

लज्जा विनय वैराग्यादि श्रेष्ठ गुणों की धारक होती हैं। जिनमे ये गुण नहीं पाये जाते हैं, वे आर्यिका नहीं मानी गई हैं। उक्त सदाचार से अलंकृत आर्यिकाओं का समाचार प्राय संयमी (मुनि) जनों के समान ही होता है। किंचित् अन्तर है—उसे कहते हैं।

द्व्याद्याः समं वसन्त्यार्या गृहस्था संकराश्रये।
तद्गृहानतिदूरातिसमीपेऽन्यवर्जिते ॥८२॥ (आचारसार अधि०२)

अर्थ—आर्यिकाएँ कम से कम दो तो एक साथ अवश्य ही रहें। उनको गृहस्थों के घरों के न तो अत्यन्त समीप में रहना चाहिए और न अतिदूर। किन्तु ऐसे स्थान में रहना चाहिए, जहाँ गृहस्थों का संपर्क न हो। आर्यिकाएँ सर्वथा एकान्त स्थान मे भी न रहें। उनका रहना ऐसे मध्य स्थान में होना चाहिये, जहाँ अपने शील संयमादि की रक्षा और आत्मा के तप आदि गुणों की वृद्धि हो सके। ऐसी ही उत्तम वसतिका आर्यिकाओं के निवास के योग्य है। मूलाचार में भी कहा है:—

अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१९१॥ (मूला० समा०)

अर्थात्—आर्यिका के योग्य वसतिका ऐसी होनी चाहिए, जिसमें असंयमी (गृहस्थी) लोगों का निवास न हो, क्योंकि उनके निकट में रहने से उनकी अनेक रागोत्पादक क्रियाओं को देख या सुन कर आर्यिकाओं के चित्त में विकार भाव उत्पन्न होने की संभावना रहती है। इसलिए आर्यिकाओं का विश्रामस्थान गृहस्थों के सम्पर्क से रहित होना चाहिए। तथा उसमे व्यभिचारी चौर बदमाश-लुच्चे-लफंगे-धूर्त-चारित्रहीन मनुष्यों का एव दुष्ट तिर्यञ्चों (सिंहादि) का आना जाना न हो, क्योंकि दुराचारीजनों के सम्पर्क से आर्यिकाओं के पवित्राचरण में मलीनता उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अथवा असंयमी पुरुषों का गमनागमन या उनका निवास-स्थान निकट न हो, उनके मल मूत्रादि के त्यागने का स्थान विशुद्ध एवं संक्लेश रहित हो अथवा वह स्थान सुरक्षित एवं अप्रकट हो, ऐसे सर्व प्रकार योग्य स्थान में दो या तीन अथवा अनेक आर्यिकाएँ एक साथ रहें। कोई भी आर्यिका कभी अकेली न रहे, वे एक दूसरे की रक्षा करने में कटिवद्ध हों। वे परस्पर अनुकूलता का वर्त्ताव करें, आपस में शत्रुभाव, क्रोध, ईर्षा, द्वेप, मात्सर्यादि न रखें। लज्जा व मर्यादादि से युक्त रहें। निरन्तर शास्त्रों के पठन पाठन, श्रवण और उपदेशादि क्रियाओं में दत्तचित्त रहें। अनित्यादि भावनाओं से अन्तःकरण को भावित करें अर्थात् बारह भावनाओं का प्रतिक्षण चिंतन करती रहें। सदा अपने कर्तव्य मे सावधान रहें। उनका वेष विकार रहित एव उदासीनता उत्पन्न करने वाला हो, वे शरीर से ममत्वहीन रहें और निजधर्म-कुल-कीर्त्ति तथा दीक्षा के अनुकूल पवित्र चर्या करने वाली हों। इस प्रकार के गुणों से विभूपित, वैराग्य की मूर्त्ति रूप आर्यिकाएँ ही आदरणीय हैं।

आर्यिकाओं को निम्नोक्त क्रियाएँ अपने निवासस्थान पर अथवा गृहस्थ के घर कदापि न करनी चाहिए।

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे ।
विरदाण पादमक्खणधोवण गेयं च ण य कुज्जा ॥१६३॥ (मूला० समा०)

अर्थ—पराये घर में जाकर अथवा अपनी वसतिका मे कहीं भी आर्यिका रुदन न करे, बाल बच्चों आदि को स्नान या भोजनादि न करावे। रसोई न बनावे। सूत न काते। असि मषि कृषि वाणिज्य व लेखन क्रिया रूप छह प्रकार के आरम्भ न करे। तथा संयमियों के पावों का मर्दन न करे और न उन्हें धोवे। न राग पूर्वक गीत गावे। इसी प्रकार अन्य अयोग्य क्रियाओं के आचरण का भी त्याग करे।

भावार्थ—जिन्होंने संसार से विरक्त होकर सयम धारण किया है, जिनके अन्तःकरण मे संसार से भय उत्पन्न हुआ है ऐसी त्याग की मूर्त्ति आर्यिकाएँ उक्त रुदनादि क्रियाएँ क्यों करेंगी ? किन्तु मोहनीय कर्म बड़ा बलवान है, वह समय पाकर धुरन्धर तपस्वियों और प्रकाण्ड विद्वानों के चित्त को भी चंचल बना देता है। कहा है—

राग, रति, प्रेम, स्नेह ओकार्थ है

'मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम् ।'

अर्थात्—जब तक आत्मा में मोहनीय कर्म की सत्ता रहती है तब तक समय २ पर बडे २ योगियों के चित्त मे भी चंचलता उत्पन्न हो जाना सम्भव है। तब जो स्त्री स्वभाव से ही भीरु और चचल-चित्त मानी जाती है उसका चित्त निमित्त पाकर यदि चचल हो जावे तो उसमें क्या आश्चर्य है ? इसलिए आचार्यों ने शिक्षा दी है कि चित्त में विकार और क्षोभ उत्पन्न करने वाले रोने के कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी आर्यिकाओं का यह धर्म है कि वे कदापि रुदन न करें। प्रेम के वश होकर अथवा गृहस्थों को अनुरागी बनाने के लिए उनके बाल बच्चों को मार्जन (स्नान) आदि न करवावें, न उनको भोजन खिलावे और न उनका लाड प्यार करे। पहले का संस्कार होने के कारण सभव है कि कोई आर्यिका प्रेम के उद्वेग से किसी के घर रसोई बनाने लग जाय या सहानुभूति प्रकट करने के लिए रसोई बनाने मे किसी प्रकार की सहायता देने लग जाय तो यह ठीक नहीं है, इससे संयम का घात होता है। किसी स्त्री को सूत कातते देखकर आर्यिका उसके स्थान मे स्वयं कातने लग जावे तो यह भी अनुचित है। इसी प्रकार असिकार्य, मषिकार्य, कृषि (खेतीका) कार्य, वाणिज्य कार्य, शिल्प कार्य और लेखन कार्य इन छह प्रकारके पापजनक आरंभ कर्मो को आर्यिकाएँ न करें, क्योंकि इन से संयम (प्राणि संयम) का विनाश होता है। शास्त्र लिखने की मनाई नहीं है।

कोई भी आर्यिका किसी भी प्रकार के साधु की वैयावृत्त्य करने के लिए पाद मर्दनादिके निमित्त उसके शरीर का स्पर्शन न करे; उसके पांव भी न धोवे। इस का आशय यह है कि आर्यिकाएँ अपने शरीर का साधु के शरीर के साथ ससर्गमात्र भी न होने दें। क्योंकि यह तत्काल मनोविकार का उत्पन्न करने वाला है। इस संबध में आर्यिकाओं को काफी सतर्क रहना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मचर्य का विध्वंस हुए बिना न रहेगा। इसको ध्रुव सत्य समझना चाहिए।

आर्यिकाएँ भिक्षा (गोचरी) के लिए किस तरह जाती हैं ? इसे दिखाते हैं।

मौनेनाटन्ति भिक्षार्थं वृद्धार्यान्तरिता गृहान् ।
अन्योन्यपरिरक्षाऽनुकूलवृत्तिपरायणाः ॥८३॥
अन्यदावश्यगन्तव्यं धर्मकार्यं गृहेऽस्ति चेत् ।
गणिन्यादेशतो यान्ति द्व्याद्याः सार्धं न चान्यथा ॥८४॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—अनेक आर्यिकाएँ एक दूसरी के रक्षा कार्य में उद्यत हुईं, परस्पर अनुकूल वर्त्ताव में तत्पर हुईं, एक साथ, वृद्ध आर्यिका की ओट में रहकर, मौन धारण करती हुईं गृहस्थों के घर अहार लेने के लिए जाती हैं। इसके सिवाय अन्य धर्म-कार्य के लिए यदि पराये घर जाना पड़े तो गणिनी (संघ की नायिका) की आज्ञा लेकर दो तीन आदि आर्यिकाएँ एक साथ मिल कर जा सकती हैं। धर्म-कार्य के विना आर्यिकाएँ गृहस्थ के घर कदापि नहीं जा सकतीं।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि वृद्ध वय वाली आर्यिका के साथ दो तीन आदि आर्यिकाएं एक साथ भिक्षादि के लिए जाती हैं। अकेली आर्यिका के गमनागमन का सर्वथा निषेध किया गया है।

मूलाचार में कहा है—

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥
ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे ।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१९२॥ (मूला० समा०)

इन का अर्थ आचार सार के उक्त श्लोक के अनुसार ही है। केवल इतना अन्तर है कि मूलाचार में तीन या पाँच या सात आर्यिका एक साथ अनेक वृद्ध आर्यिकाओं की ओट में रहकर भिक्षा के लिए जावे, ऐसा लिखा गया है और आचारसार में कम से कम दो आर्यिकाओं को भिक्षा के लिए या अन्य धार्मिक कार्य के लिए गृहस्थ के गृहादि में गमन करने का विधान किया गया है।

प्रश्न—आर्यिकाएँ आचार्यादि की वन्दना करती हैं, तब मुनियों के समान ही करती हैं या कुछ अन्तर है?

उत्तर—

नमन्ति सूर्युपाध्यायसाधूनार्या यथाक्रमम् ।
पञ्चषट्सप्तहस्थान्तरालस्थाः पशुशय्यया ॥८५॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—आचार्य से पांच हाथ, उपाध्याय से छह हाथ, और साधु सामान्य से सात हाथ दूर रह कर आर्यिकाएँ गो-आसन द्वारा उन आचार्यादिकों को वन्दना करती हैं।

अर्थात्—आर्यिकाओं का वन्दना करने का आसन गवासन ही बताया है। यहाँ आर्यिकाओं के समाचार का प्रकरण है, इसलिए गाथा में 'आर्यिका' पद दिया गया है, किन्तु इससे, उपलक्षण से स्त्री मात्र का ग्रहण होता है, स्त्रियों का वन्दना करने के लिए गवासन ही सिद्ध होता है। देव-वन्दना गुरु-वन्दना, शास्त्र-वन्दना इत्यादि वन्दना करते समय स्त्रियों को गवासन से बैठना चाहिए। गवासन के सिवा स्त्रियों के लिए दूसरा आसन नहीं बताया गया है। इस आसन से स्त्रियों की लज्जादि का संरक्षण होता है, अतः गवासन ही श्रेष्ठ माना गया है।

आर्यिकाएँ आचार्य से आलोचना करती हैं, इसलिए उनसे पांच हाथ दूर रहकर उनकी वन्दना करती हैं, उपाध्याय से अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी प्रश्न किया जाता है, इसलिए छह हाथ दूर ठहर कर उनको वन्दना करती हैं और साधुओं की स्तुति की जाती है; इसलिए सात हाथ दूर ठहर कर उनकी वन्दना करती हैं।

जब कि वैराग्य परायण त्याग की मूर्ति आर्यिकाएँ साधुओं से सात हाथ दूर रहती हैं, तब शृङ्गारप्रिय विलासवती स्त्रियों को साधुओं से अवश्य ही कम से कम इतनी दूर पर रहना चाहिए। जो साधु उक्त जिनाज्ञा का तिरस्कार करके विपरीत प्रवृत्ति करता है, स्त्रियों के शरीर (हस्तादि) का स्पर्श करवाता है तो वह जिन शासन की अवहेलना करता है और अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति से पवित्र जिन मार्ग को मलीन करता है, एवं अपनी आत्मा का पतन करता है और अन्य के पतन करने में सहायक होता है। इस तरह आगम के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला साधु छेदादि प्रायश्चित्त के योग्य है। जब तक वह उक्त प्रायश्चित्तादि लेकर आत्मशुद्धि नहीं कर लेता तब तक वह साधु अपराधी माना गया है। और इस अपराध को करने वाला साधु महा-पापी एवं अवन्दनीय कहा गया है। इसी प्रकार जो आर्यिका उक्त मार्ग से विपरीत आचरण करती है वह भी निरंकुश होने से दूषित है और प्रायश्चित्त की पात्र है।

आर्यिकाओं का वेष कैसा होना चाहिए इस विषय में कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है —

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥२२॥ (सूत्रपाहुड)

अर्थात्—जिनागम में तीन लिंग (वेष) माने गये हैं। एक मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक तथा तीसरा स्त्रीलिंग। क्षुल्लिका और आर्यिका के वेष को स्त्रीलिंग कहते हैं। क्षुल्लिका और आर्यिका दिन में एक बार ही भोजन करती हैं, अधिक बार भोजन नहीं कर सकतीं। क्षुल्लिका एक वस्त्र पहनती व दूसरा ओढती है। किन्तु आर्यिका एक वस्त्र ही रखती है। वह एक वस्त्र (साड़ी) ऐसा होना चाहिए जिससे पूर्ण शरीर ढका रहे। अर्थात् अधोवस्त्र तथा ऊपर के वस्त्र का काम हो जावे।

शङ्का—आर्यिकाओं को दो साड़ियाँ रखने की आज्ञा है या एक साड़ी रखने की।

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्रप्राभृत में स्पष्ट वर्णन किया है कि आर्यिका एक वस्त्र ही रखती है। जिसका प्रमाण ऊपर दिया जा चुका है।

हरिवंशपुराण में लिखा है—

सुता चेटकराजस्य कुमारी चंदना तदा।
धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणां पुरःसरी ॥ (सर्ग २।७०)

अर्थ—चेटक महाराज की पुत्री चंदना कुमारी धुली हुई एक साड़ी धारण कर आर्यिकाओं की नायिका हुई, आर्यिकाओं में प्रधान बनी।

सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः शुद्धैकवसनावृताः।
सहस्रशो दधुः शुद्धा नार्यस्तत्रार्यिकाव्रतम् ॥ (सर्ग २।१३३)

अर्थ—सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा शुद्ध हो गई है ऐसी हजारों स्त्रियाँ शुद्ध एक वस्त्र मात्र धारण करके विपुलाचल पर भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में आर्यिकाएँ हुईं।

श्री महासेनाचार्य ने प्रद्युम्नचरित्र में लिखा है—

वन्दारवो वयमपीश ! जिनेन्द्रनेमिं
सर्वा विधूतमदमत्सररागदोषाः।
राजीमतीसविधमाप्य तव प्रसादात्
शुद्धैकवस्त्रपरिधानयुता भवामः ॥ (सर्ग १३।३३)

अर्थ—अपने प्राणपति कामदेव प्रद्युम्नकुमार का जिनदीक्षा ग्रहण करने का दृढ सकल्प जान कर रति आदि सब पत्नियाँ कहती हैं कि हे स्वामिन्! हम सब नेमिनाथ जिनेश्वर की वन्दना करेंगी और हम भी आपकी कृपा से राजीमती के निकट जाकर मद, मात्सर्य, राग, द्वेषादि के परित्याग पूर्वक शुद्ध एक वस्त्र धारण कर आर्यिका का व्रत ग्रहण करेंगी।

और भी ऐसे अनेक कथन आये हैं। श्री शान्तिनाथ पुराण में देखिये—

एकां साटीं विना हत्वा संगं सर्वं द्विधात्मकं ।
कन्यासप्तशतैः सार्द्धं प्राव्राजीत्सा स्वमुक्तये ॥ (७।९३)

अर्थात्—एक साड़ी के अतिरिक्त सारे बाह्य-अभ्यतर-परिग्रह का त्याग कर वह (अपराजित नाम की विद्याधरी) सात सौ कन्याओं के साथ मुक्ति-प्राप्ति के लिए दीक्षित हुई।

एकसाटीं विना संगं त्यक्त्वा बाह्यमनेकधा ।
मिथ्यात्वादिभवं चांतरंगं शांतिमती खगी ॥ (९।८२)

शान्तिमती नाम की विद्याधरी ने एक साड़ी के सिवाय अनेक प्रकार के बाह्य-परिग्रह एवं मिथ्यात्वादि अन्तरङ्ग परिग्रह को छोड़कर दीक्षा धारण की।

इसी प्रकार के अनेक उल्लेख हैं। आदिपुराण के कथनानुसार ब्राह्मी एवं सुन्दरी ने जब आर्यिका का व्रत ग्रहण किया तब एक साड़ी ही रखी थी। पद्मपुराण में भी सीताजी आर्यिका हुईं तब उनके एक साड़ी धारण करने का ही कथन है। कैकेयी के लिए भी ऐसा ही लिखा है—

पूर्वमेव जिनोक्तेन धर्मेणासौ सुभाविता ।
महासंवेगसम्पन्ना सितैकवसनान्विता ॥ (पद्म पु० पर्व ८६।२३)

अर्थ—पहले से ही जिसका आत्मा धर्म की भावना से भावित (संस्कृत) था ऐसी कैकेयी महारानी ने महा संवेग को प्राप्त होकर एक सफेद साड़ी धारण कर आर्यिका का व्रत ग्रहण किया।

संसारप्रकृतिबोधनपरैर्वाक्यैर्मनोहारिभि—
स्तस्याः प्राप्य विबोधमुत्तमगुणा संवेगमुग्रं श्रिता ।
त्यक्ताशेषगृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता ।
जाताऽत्यन्तविशुद्धधर्मनिरता शुक्लैकवस्त्रावृता ॥ ९४ ॥
लब्ध्वा बोधिमनुत्तमां शशिनखाऽप्यार्यामिमामाश्रिता ।
संशुद्धश्रमणा व्रतोरुविभवा जाता नितान्तोत्कटा ।

चत्वारिंशदथाष्टकं सुमनसां ज्ञेयं सहस्राणि हि ।
स्त्रीणां संयममाश्रितानि परमं तुल्यानि भासांरवेः ॥९५॥ (पद्मपुराण पर्व ७८)

अर्थ—पति व पुत्र की विरह वेदना से दुःखित हुई गुणवती मन्दोदरी, शशिकान्ता नाम की अर्यिका के संसार के अनित्य व दुःखद स्वभाव का वर्णन करनेवाले मनोहर वाक्यों से प्रतिबोध को प्राप्त होकर उत्कट संवेग को प्राप्त हुई और गृहस्थ की समस्त वेष भूषा का त्याग कर शुद्ध एक वस्त्र धारण कर अत्यन्त विशुद्ध धर्म में निरत आर्यिका हुई।

शशिनखा (चन्द्रनखा) ने भी उत्तम बोध को पाकर मन्दोदरी आर्यिका के निकट उत्कृष्ट आर्यिका के व्रत अंगीकार किये। तथा सूर्य की दीप्ति के समान उज्ज्वल अड़तालीस हजार अन्य कुलीन रमणियों ने नितान्त उत्कृष्ट आर्यिका के व्रत धारण किये।

सुकुमाल चरित्र के उल्लेखानुसार वायुभूति के जीव ने नागश्री की पर्याय में आर्यिका के व्रत धारण किये तब एक साड़ी मात्र रखी थी। इसी तरह अन्य ग्रन्थों में भी—आर्यिकाओं के एक वस्त्रका ही विधान मिलता है। केवल प्रायश्चित्त शास्त्र मे वस्त्र-युगल के धोने का प्रायश्चित्त बताया है। वह इस प्रकार है—

एकस्स वत्थजुयलस्सेक्कस्स गोणिया एक्ककंथाए ।
पासुगजलेण पक्खालणम्मि एक्को विउस्सग्गो ॥ २९३ ॥ (प्रायश्चित्त संग्रह छेदपिण्ड)

अर्थ—वस्त्र-युगल—एक वस्त्र तो गौणी और दूसरा वस्त्र कन्था (कन्था को साड़ी और गौणी को जीर्ण-वस्त्र-खण्ड कहते हैं)—में से किसी एक को प्रासुक जल से धोने मे आर्यिका को व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है।

इसका आशय यह है कि आर्यिका को जब मासिक-धर्म होता है, उस समय साड़ी को ऋतुस्राव से दूषित न होने देने के लिए एक जीर्ण वस्त्र-खण्ड के उपयोग की आवश्यकता होती है। उसी को यहाँ गौणी नाम से कहा गया है; क्योंकि गौणी शब्द का अर्थ गौण (अप्रधान) वस्त्र होता है जो कि समय विशेष के लिए उपयोगी मानकर ग्रहण किया जाता है।

कोश में 'गौणी' शब्द का प्रयोग जीर्ण वस्त्र के अर्थ मे माना गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यिकाएँ दो साड़ियाँ नहीं रख सकतीं। यदि दो साड़ियाँ रखने का विधान होता तो एक कन्था और एक गौणी—ऐसा न कहकर दो कन्था ही कहते। अथवा गौणी शब्द साड़ी का वाचक होता तो दो गौणी का ही नाम निर्देश करते। लेकिन ऐसा न करके विभिन्न प्रकार के वस्त्र युगल का जो नाम निर्देश किया गया है उससे उक्त अर्थ ही प्रतिभासित होता है।

आर्यिकाओं के साथ ब्रह्मचारिणी आदि श्राविकाएँ रहती हैं, मासिक-धर्म के समय 'गौणी' वस्त्र (जीर्ण-वस्त्र)उन से उपलब्ध हो सकता

है। आर्यिकाएँ उसे सदा अपने साथ नहीं रखतीं क्योंकि वह समय विशेष के लिए ही उपयोगी होता है—इसलिए समस्त शास्त्रों में आर्यिकाओं के लिए एक वस्त्र का ही विधान किया गया है।

जैनेतर ग्रन्थों में भी आर्यिकाओं के एक वस्त्र धारण करने का कथन आया है। बौद्ध-शास्त्र 'अंगुत्तर-निकाय' में लिखा है:—

"लोहिताभिजाति नाम निग्गन्था एक-साटिकातिवदति।" (भाग ३ पृ० ३८३)

इस उल्लेख से जैन देशव्रती उत्कृष्ट स्त्री के एक ही साडी का होना सिद्ध है। बौद्धों के और भी भद्दा (भद्रा) कुन्दलकेशा नामक एक पुरोहित की लड़की की कथा आई है। वह पहले जैन थी। उसने लिखा है—"मैं पहले जैन-भिक्षुणी थी तब 'केशों का लोचना और एक ही वस्त्र शरीर पर रखना'—इनको मैं हानिकारक समझती थी, पर यह हानिकारक नहीं है"।

निष्कर्ष यह है कि आर्यिकाओं के एक वस्त्र रखने का ही सब जगह कथन है, अतः आर्यिकाओं को एक ही साडी धारण करना उचित है, न कि दो।

शङ्का— यदि अधिक वस्त्र रखना बुराई का कारण है और इसीलिए आर्यिकाओं को एक ही साड़ी धारण करने की आज्ञा है तो उनके लिए भी मुनियों की भाँति नग्नता को श्रेष्ठ क्यों नहीं बता दिया गया ?

समाधान—स्त्रियों के संहनन, शरीरावयव आदि की प्रतिकूल परिस्थिति होने के कारण उनको नग्नपने की आज्ञा नहीं दी गई है। इसी कमी के कारण उनकी मुक्ति का भी निषेध है।

जैसा कि कहा भी है—

कर्म-भू-द्रव्य-नारीणां नाद्यं संहनन-त्रयम्।
वस्त्रादानाश्च चारित्रं तासां मुक्ति-कथा वृथा ॥ ८६ ॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—कर्मभूमि की द्रव्य-स्त्रियों के आदि के तीन (वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच) संहनन नहीं होते हैं। उनके चारित्र वस्त्र सहित होता है। वे नग्न मुनिवेश धारण नहीं कर सकतीं; इसलिए उनके उपचार से महाव्रत माना गया है। क्योंकि आर्यिकाएँ भगवान की आज्ञा के अनुसार एक वस्त्र (साड़ी) धारण करती हैं। जहाँ वस्त्र का ग्रहण होता है, वहाँ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग नहीं होता और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किये बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव मानी गयी है।

शंका—मोक्ष-प्राप्ति का कारण रत्नत्रय है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' (मोक्षशास्त्र अ० १। १) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का उपाय है, इनकी पूर्णता को ही मोक्ष कहते हैं। इस मे सवस्त्रपने और अवस्त्रपने (नग्नता) को मोक्ष का

साधन नहीं माना गया है। यदि नम्रता को मोक्ष का कारण मान लिया जावे तो तिर्यञ्चों की मुक्ति भी अनिवार्य होगी। क्योंकि तिर्यञ्च सर्वदा नग्न रहते हैं।

समाधान—यद्यपि रत्नत्रय को ही मोक्ष का मुख्य साधन माना है, तथापि उसकी प्राप्ति नम्रता विना नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। इनमें सम्यक्चारित्र की प्राप्ति सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करने पर ही होती है। क्योंकि तेरह प्रकार के चारित्र में पाँच महाव्रत का धारण, पाँच समिति का पालन और तीन गुप्ति का आचरण होता है। परिग्रह त्याग नाम का पाँचवाँ महाव्रत है। वह चौदह प्रकार के अतरङ्ग और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का सर्वथा त्याग करने से होता है। जब तक शरीर पर सूत का धागा मात्र भी परिग्रह रहता है, तब तक वह पाँचवाँ (परिग्रह-त्याग)महाव्रत नहीं होता है। नम्रता धारण करने पर ही उसका पालन होता है। इसलिए सवस्त्रता मोक्ष में बाधक सिद्ध होने से स्त्रियों के मोक्ष की प्राप्ति का अभाव माना गया है।

शङ्का—शरीर पर वस्त्र धारण करने पर भी, उसमें मूर्छा न होने से आर्यिकाओं के महाव्रत हो सकता है। 'मूर्छा परिग्रहः' आगम में मूर्छा (ममत्व) को परिग्रह कहा है। आर्यिकाओं के एक साड़ी रहती है उसमे भी उनका ममत्व नहीं होता। अतः एक वस्त्र रखने पर भी तेरह प्रकार के चारित्र का पालन कर सकने के कारण रत्नत्रय का सद्भाव होने से वे मोक्ष की अधिकारिणी क्यों नहीं होंगीं ?

समाधान—आर्यिकाएँ अपने हाथों से इच्छा पूर्वक शरीर पर वस्त्र धारण करती हैं; एव वायु आदि से शरीर का वस्त्र अलग होने पर उसे यथायोग्य स्थान पर ओढ़ती है। इससे अनुमान किया जाता है कि उनको वस्त्र पर ममत्व अवश्य है। यदि ममत्व नहीं है तो उसको अपने आप शरीर पर ओढ़ना आदि नहीं बन सकता। वस्त्र के कारण मनुष्य के कई प्रकार की झंझटें हो जाती हैं जो मुक्ति की प्राप्ति मे बाधक हैं। इसलिए जैन शास्त्रों में सवस्त्र को मुक्ति का अधिकारी नहीं माना गया। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए नम्रता मुख्य कारण है।

यदि स्त्रियों की नग्न वेष धारण किये विना ही मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता मानी जावे तो उनके आतापनादि योग तथा पूर्ण श्रुत-ज्ञान आदि क्यों नहीं माने जावें ? उनके केवल ग्यारह अंगों का ज्ञान ही क्यों माना गया है ? उनके स्तवनादि का निषेध क्यों किया गया है ? नग्न साधुओं की तरह उनकी प्रतिमा क्यों नहीं होती ? क्या नग्न आर्यिकाओं की मूर्ति कहीं देखी सुनी गई है ?

यदि त्रिरत्नमात्रेण सा पुंसां नग्नता वृथा।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणाश्रिरलिंगिता ॥ ८७ ॥
मुक्तिश्चेदस्ति किं नासां प्रतिमाःस्तवनान्यपि।
क्रियन्ते पूज्याश्च तासां मुक्तेर्दत्तो जलाञ्जलिः ॥ ८८ ॥ (आचारसार अ० २)

अर्थ—यदि रत्नत्रय से ही मुक्ति मानी गई है, तो पुरुषों को भी नग्न रूप धारण करना व्यर्थ है। यदि नग्नता को ही मोक्ष का साधन मान लिया जावे तो तिर्यंच सदा नग्न रहते हैं, उनके भी मोक्ष-प्राप्ति अनिवार्य हो जावेगी। यदि मुक्ति में नग्न-वेष साधन नहीं माना जावे और आर्यिकाओं की मुक्ति वस्त्र धारण किये ही होजाती है—ऐसा मान लिया जावे तो वे मुनि के समान पूज्य हुईं। मुनि के समान ही उन की भी प्रतिमा एवं स्तवनादि होने चाहिए। किन्तु कहीं पर किसी समय भी उनकी प्रतिमा नहीं देखी गई है और न उनके स्तवन ही मिलते हैं। जब उनमें प्रतिमा और स्तवन की ही पात्रता नहीं है तब सर्वथा मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता कैसे सम्भव हो सकती है?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मल्लिनाथ स्वामी (उन्नीसवें तीर्थंकर) को स्त्री माना है। इसके लिए आचार्य कहते हैं कि यदि वे वास्तव में स्त्री थे तो उनकी कहीं पर किसी समय प्रतिमा तो होनी चाहिये थी।

उनके लिए श्री वामदेव विरचित भाव-संग्रह में कहा है—

योषित्स्वरूपतीर्थेशां तल्लिंगस्तनभूषिताः ।
अर्चाः प्रतिष्ठिताः क्वापि विद्यन्ते चेत् प्रकथ्यताम् ॥ २४९ ॥
न सन्ति चेन्मताभावः सन्ति चेद्द्रण्डिमास्पदम् ।
एवं दोषद्वयासंगान्मोक्षो न घटते स्त्रियः ॥ २५० ॥

अर्थ—यदि मल्लिनाथ भगवान स्त्री थे तो हम पूछते हैं कि स्त्री के लिंग व स्तनादि सहित उनकी प्रतिमा कहीं पर क्यों नहीं है? यदि है तो बतलाना चाहिए कि कहाँ है? कहीं होगी भी तो यह अश्लीलता का कारण अवश्य होगी। यदि नहीं है तो तुम्हारी मान्यता का अभाव होगा। इस तरह दोनों ही पक्ष दूषित होने से स्त्रियों के मोक्ष मानना युक्ति सगत नही है।

एक बात यह भी है कि उनके ग्यारह अङ्ग से अधिक श्रुत-ज्ञान भी नही होता तब केवलज्ञान की प्राप्ति की संभावना कैसे की जा सकती है? हरिवंश पुराण में कहा है—

द्वादशाङ्गधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी ।
एकादशाङ्गभृज्जाता साऽर्यिकाऽपि सुलोचना ॥ (सर्ग १२।५२)

अर्थ—मेघेश्वर (जय कुमार) तपस्या के प्रभाव से शीघ्र ही द्वादशाङ्ग के पाठी गणधर होगये और जयकुमार की धर्मपत्नी सुलोचना भी आर्यिका होकर अति शीघ्र ग्यारह अङ्ग की धारक होगई। अर्थात् दोनों धीरात्माएँ अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार श्रुत की पराकाष्ठा को प्राप्त हुईं।

सुलोचना स्त्री होने से ग्यारह अङ्ग से अधिक श्रुतज्ञान की पात्र नहीं थी, इसलिए वह स्त्री-पर्याय में होने वाले श्रुतज्ञान की चरम-सीमा को पहुँच गई। मेघेश्वर पुरुष होने से द्वादशाङ्ग के पारगामी हुए।

मोक्ष का साक्षात् कारण शुक्ल ध्यान माना गया है और वह उत्तम संहनन वाले के ही होता है। वज्रर्षभनाराच संहनन स्त्रियों के नहीं होता, क्योंकि कर्मभूमि की द्रव्य-स्त्रियों के प्रारंभ के (वज्रर्षभनाराचादि) तीन संहनन नहीं होते हैं। वज्रर्षभ नाराच संहनन वाला ही सप्तम नरक पृथ्वी में गमन करने योग्य घोर दुष्कर्म को कर सकता है तथा वही मोक्ष गमन करने योग्य उत्कृष्ट कर्म की निर्जरा करने में समर्थ हो सकता है। स्त्री सप्तम पृथ्वी में गमन करने योग्य घोर पाप कर्म का उपार्जन न कर सकने के कारण वहाँ नहीं गमन कर सकती। उसका उत्कृष्ट गमन छठी पृथ्वी तक ही माना गया है। इस से सिद्ध होता है कि उसके वज्रर्षभनाराच संहनन नहीं होता है। वज्रर्षभनाराच संहनन के बिना उत्कृष्ट ध्यान नहीं हो सकता और उत्कृष्ट ध्यान के अभाव से मोक्ष का होना सर्वथा असम्भव है। मोक्ष-शास्त्र में कहा है—

" उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् "

और भी श्रीदेवसेन विरचित भावसंग्रह में कहा है:—

जइ तप्पइ उग्गतव मासे मासे च पारणं कुणइ।
तह वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥९२॥
मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं।
णिच्चं जोणिस्सावो दाण्डइं णत्थि चित्तस्स ॥९३॥
सुहुमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणाहिकक्खेसु।
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसु ॥९४॥
ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरण।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥९५॥

अर्थ—चाहे स्त्रियाँ उग्र तप का आचरण करती रहें तथा एक-एक मास में पारणा करें, तथापि वे अपने कुत्सित लिंग (योनि) के दोष से सिद्धावस्था को नहीं प्राप्त कर सकतीं, क्योंकि वे माया की मूर्त्ति और प्रमाद से प्रचुर होती हैं। उनके प्रति मास मासिक-धर्म होता रहता है तथा नित्य योनि का स्राव होता रहता है और उनके चित्त में चपलता रहती है। उनकी योनि, नाभि और कांख तथा ऐसे ही अन्य शरीर के अवयवों मे

लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म सम्मूर्छन मनुष्यों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है। इसलिए उनके इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम—दोनों प्रकार का संयम नहीं होता है और संयम धारण किये बिना मोक्ष हो नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि स्त्रियों को सम्पूर्ण कर्मों के क्षय करने के पूरे साधन उपलब्ध नहीं होते हैं इसलिए वे मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। निम्न प्रकार से मोक्ष के कारण स्त्रियों में नहीं हो सकते —

(१) मोक्ष का साक्षात् साधन परम शुक्ल ध्यान है, वह अत्युत्तम संहनन (वज्रर्षभनाराच संहनन) वाले के ही होता है और वह स्त्रियों के नहीं होता है, इसलिए स्त्रियां तद्भव मोक्ष जाने में असमर्थ हैं।

(२) संयम का आराधन मोक्ष का कारण है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही मोक्ष का साधन माना गया है और संयम-आराधन के बिना सम्यक्चारित्र का पालन असम्भव है। स्त्रियों की योनि, नाभि, कांखादि शरीर के अशुचि स्थानों में निरन्तर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म सम्मूर्छन मनुष्य उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, इसलिए उनके प्राणी-संयम नहीं होता। संयम के अभाव से चारित्र का भी अभाव हुआ और चारित्र के अभाव से मोक्ष का सद्भाव आकाश फूल के समान सर्वथा असम्भव है।

(३) स्त्रियों के माया का प्राचुर्य तथा प्रमाद का आधिक्य पाया जाता है, इसलिए मोक्ष की प्राप्ति वन्ध्या पुत्रवत् असम्भवित है।

(४) स्त्रियों के पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति की भी योग्यता नहीं मानी गई है, उनके ग्यारह अङ्ग तक ही श्रुतज्ञान हो सकता है। जिनकी आत्मा में पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त करने की भी योग्यता नहीं है, वे सर्वोत्कृष्ट केवल ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती हैं ?

(५) उनके प्रतिमास रजोदर्शन होता है, अत्यन्त घृणास्पद दूषित रक्तादि का स्राव होता रहता है, अतः उनके ध्यान में पूर्ण विशुद्धि की सम्भावना बालू रेत से तेल की सम्भावना के समान हास्यास्पद है।

(६) जिनका लिंग (योनि) कुत्सित और वीभत्स है तथा स्तनादि अवयव विकार-जनक हैं, उन्हें आच्छादन करने के लिए वस्त्र अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए आगम में उनके कल्याण करने के लिए और दूसरों को पाप-कृत्य से बचाने के लिए उनके लिए एक साड़ी की आज्ञा दी, जिससे वे अपने सब गुह्य अङ्गों को आवृत रखे रहें। जहाँ परिग्रह रखना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, वहाँ परिग्रह त्याग नामक पाँचवाँ महाव्रत नहीं हो सकता और महाव्रत के अभाव में उनके मोक्ष की मान्यता गधे के सींग के समान सर्वथा असम्भव है।

(७) स्त्रियों के चित्त में धैर्य का अभाव होता है। प्रबल प्रतिकूल कारणों का संयोग मिलने पर उनका अन्तःकरण विकृत हो जाता है। उनके चित्त में दृढ़ता नहीं होती, इसलिए उनके मोक्ष के साधन रूप निश्चल ध्यान की कल्पना इक्षु के फल समान सर्वथा असंभव समझना चाहिए।

(८) आर्यिकाओं की न तो मूर्ति पूज्य ही मानी गई है, और न उनका स्तवन करने का ही विधान है। जिनमें इतनी भी योग्यता नहीं

पाई जाती, वे केवली (सर्व देव एवं मनुष्यों से पूज्य) हो सकती है यह समझ में नहीं आता। यदि स्त्रियों का मोक्ष हुआ हो तो उनकी कहीं पर योनि, स्तनादि चिह्न विशिष्ट मूर्ति मिलनी चाहिए, किन्तु नहीं मिलती; अत ज्ञात होता है कि स्त्री का मोक्ष नहीं होता।

(९) अत्यन्त वृद्ध, बहुत काल की दीक्षित आर्यिका के द्वारा एक दिन का दीक्षित साधु भी वन्दनीय माना गया है। किन्तु एक दिनका भी दीक्षित साधु सत्तर वर्ष की दीक्षित आर्यिका की वन्दना नहीं करता;ऐसी आगम की आज्ञा है। यदि उसके केवलज्ञान की योग्यता होती तो ऐसी आज्ञा कैसे हो सकती थी ? इससे स्पष्ट है कि स्त्री के केवलज्ञान नहीं होता और इसीलिए मोक्ष की अधिकारिणी न होने से उसमें पूज्यता भी नहीं है।

(१०) यदि स्त्रियों में पुरुषों के समान मोक्ष प्राप्त करने तक की योग्यता होती तो उनके लिए पर्यायछेद प्रायश्चित्त, मूल प्रायश्चित्त व परिहार प्रायश्चित्त का निषेध क्यों किया गया तथा पुरुषों के समान प्रायश्चित्त का विधान न करके अल्प प्रायश्चित्त का विधान क्यों किया गया ? इसका कारण यह है कि पुरुषों के समान स्त्रियों में संहनन-शक्ति नहीं होती,इसलिए उनको उतना (मुनि समान) अपराध करने पर भी मुनियों के सदृश प्रायश्चित्त नही दिया जाता, किन्तु अल्प (मुनियों से आधा) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

(११) स्त्रियों में अल्प शक्ति होने व योग्यता का अभाव होनें से उनके दिनप्रतिमा तथा आतपनयोग,वृक्षमूलयोग और अभ्रावकाशयोग नही होता तब मोक्ष-प्राप्ति के योग्य उत्कृष्ट योग-साधना कैसे हो सकती है ?

शंका—आर्यिकाओं के महाव्रत होता है या नहीं ? यदि होता है तो उनके सर्वथा वस्त्रादि का त्याग होना चाहिये, क्योंकि तिल-तुष-मात्र भी शरीर पर धारण किया हुआ परिग्रह महाव्रत का नाशक बताया गया है। यदि उनके महाव्रत नहीं होता है तो उनको श्राविका न कह कर आर्यिका कैसे कहते हैं ?

समाधान—आर्यिकाएँ वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं, इसलिए उनके अपरिग्रह महाव्रत तो नहीं होता, किन्तु अन्य सब अहिंसादि व्रतों का पालन होता है। वे केवल एक वस्त्र मात्र रखती हैं, इसलिये उनकी उत्तमता प्रकट होती है। श्राविकाओं में सर्वोच्च पद क्षुल्लिका का है, वह दो साड़ी रखती हैं और आर्यिका एक साड़ी रखती हैं, इसलिए इनको श्राविका नहीं कह सकते। इनका सब आचार प्राय मुनि के समान होता है, इसलिए इन्हें आर्यिका कहते हैं। आर्यिकाओं के उपचार से महाव्रत माना गया है।

आचारसार में भी कहा है:—

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्ततः ।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥८९॥ (अधि० २)

अर्थ—आर्यिकाओं के देशव्रत ही होते हैं, किन्तु उपचार से आचार्यों ने उनके महाव्रत मान लिये हैं। महाव्रत मान लेने का कारण यह है कि इससे उनकी सज्जाति का प्रकाश होता है। क्योंकि उत्तम जाति में उत्पन्न हुई महिला ही आर्यिका हो सकती है।

शंका—जब आर्यिकाओं के ऋतुदर्शन (मासिक धर्म) होता है उस समय उनकी चर्या कैसे होती है ?

समाधान—आर्यिकाएँ ऋतुधर्म के चौथे दिन स्नान करने पर शुद्ध होती हैं। ऋतु के समय वे शक्ति होने पर तीन दिन उपवास करें अथवा इतनी शक्ति न हो तो एकान्तर उपवास करें। इतनी भी शक्ति न हो तो रस हीन भोजन करें और निरन्तर णमोकार मंत्रादि के मौनपूर्वक जाप्यादि सत्कार्यों में निरत रहें। आचारसार मे भी यही कहा है—

ऋतौ स्नात्वा तु पूर्वेऽह्नि शुद्ध्यन्त्यरसभुक्तयः।
कृत्वा त्रिरात्रमेकान्तरं वा सज्जपसंयुताः ॥९०॥ (अधि० २)

इसका आशय ऊपर आ चुका है।

प्रायश्चित्त चूलिका में कहा है—

क्षान्त्या पुष्पं प्रपश्यन्त्या तद्दिनात् स्याच्चतुर्दिनम् ।
आचाम्लनीरसाहारः कर्त्तव्या चाथवा क्षमा ॥ १३४ ॥

अर्थ—आर्यिका को जब रजोदर्शन हो, तब उस दिन से चौथे दिन तक वह या तो आचाम्ल (कांजिक भोजन) करे या नीरस अहार करे अथवा उपवास करे।

इन चार दिनों तक उसे अपनी सब आवश्यक क्रियायें मौनपूर्वक करनी चाहिए। अर्थात् यथायोग्य शुद्धि करके उसे सामायिक प्रतिक्रमण, वन्दना, स्तुति, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग विना शब्दोच्चारण किये मौन से करना चाहिए।

यही प्रायश्चित चूलिका में भी कहा है—

तदा तस्याः समुद्दिष्टा मौनेनावश्यकक्रियाः ।
व्रतारोपः प्रकर्त्तव्यः पश्चाच्च गुरुसन्निधौ ॥ १३५ ॥

अर्थ—मासिक धर्म के समय आर्यिका को मौन पूर्वक सामायिक, प्रतिक्रमण, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग यह छह आवश्यक

क्रियाएँ करनी चाहिए। तथा शुद्ध होजाने के पश्चात् गुरु के निकट जाकर व्रतों का ग्रहण (प्रायश्चित) करना चाहिए।

छेदपिंड मे निम्न प्रकार वर्णन किया है—

पुप्फवदी जदि विरदी जायदि तो कुणउ तिण्णि दिवसाणि ।
आयंविलणिव्वियडीखमणाणं एक्कदरगं दु ॥ २९८ ॥
सज्झायदेववंदणणियमादियाओ सव्वकिरियाओ ।
मोणेण कुणउ तिण्णि वि दिणाणि तो तुरियदिवसम्मि ॥ २९९ ॥
पच्छण्णए पएसे पासुगसलिलेण एगकलसेण ।
पक्खालिदूण गत्तं गुरुमूले गिण्हदु वदाइं ॥ ३०० ॥

अर्थ—यदि आर्यिका रजस्वला हो जाय तो तीन दिन तक या तो आयविल (कांजिक भोजन) करे अथवा नीरस अहार करे अथवा उपवास करे। अर्थात् तीन दिन पर्यन्त इन तीनों में कोई एक करे।

तीन दिन पर्यन्त वह ऋतुमती आर्यिका स्वाध्याय, देव वन्दना, नियमादि सब कर्तव्य क्रियाएँ मौन पूर्वक करे। तत्पश्चात् चौथे दिन एकान्त गुप्त स्थान में प्रासुक जल के एक घड़े से शरीरका प्रक्षालन करके गुरु के समीप जाकर व्रतों का प्रायश्चित्त ग्रहण करे।

उक्त कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि आर्यिका ऋतुमती होती है तब उसके प्राणी-संयम का विघात अवश्य होता है, तब ही तो आचार्यों ने चतुर्थ दिन में स्नान करने के पश्चात् उनको गुरु के निकट जाकर व्रत ग्रहण करने की आज्ञा दी है। संयम के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति खरगोश के सींग के समान सर्वथा असंभव है।

चाण्डालादि का स्पर्श हो जाने पर भी आर्यिका को जलस्नान करना चाहिए।

शंका—स्नान शुद्धि तीन प्रकार से मानी गई है—जल से व्रत, से और मन्त्र से। आर्यिकादि सयमियों को जल से स्नान करने की क्या आवश्यकता है? वे तो व्रत से या णमोकारादि मन्त्र से ही शुद्ध हो सकते हैं।

समाधान—चाण्डालादि अस्पृश्य जाति के साथ स्पर्श होने पर मुनिश्वरों की भी एक दण्ड जल स्नान से शुद्धि बताई है। अर्थात् मस्तक पर एक जल-धारा छोड़ी जाती है, उसके पादतल तक पहुँच जाने पर मुनीश्वरों को शारीरिक शुद्धि हो जाती है। जो सर्वथा वस्त्र के त्यागी हैं, जिनके शरीर पर एक धागा सूत मात्र भी परिग्रह नहीं है उनको भी एक दण्ड मात्र जल से अपने शरीर की शुद्धि करनी पड़ती है तो जो सोलह हाथ

नहीं रहता है। ज्ञान का उपकरण एक या दो पुस्तकें, संयम का उपकरण पिच्छी, और शौच का उपकरण कमण्डलु रखती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं रखतीं। उनके वस्त्र-वेष से विरक्तभाव प्रकट होता है। यद्यपि वह सोलह हाथ की साड़ी रखती हैं, प्ररन्तु वह केवल शरीर के आवरण मात्र का साधन होती है और उसको भी शरीर पर इस प्रकार धारण करती हैं कि जिससे वेष मे सौन्दर्य और विकार नहीं आता। वे अपने शरीर का संस्कार नहीं करती हैं। किन्तु उनके शरीर को देखकर दूसरों को भी वैराग्य उत्पन्न होता है। अपने शरीर मे निरीह भाव धारण कर अनेक व्रत उपवासादि से उसका शोषण करती रहती हैं। संसार के पदार्थों मे उन्हें दुःख के सिवा सुख का लेश भी दृष्टि में नहीं आता। इसलिए उन्हें इष्ट पदार्थों के संयोग से हर्ष और उनके वियोग से शोक नहीं होता। अथवा अनिष्ट पदार्थों के संयोग से दुःख और उनके वियोग से सुख का अनुभव नहीं करतीं। इसलिए वे मधुरालाप से गीत-गान नहीं करतीं और न विपरीत कारणों का संयोग होने पर आर्त्तनाद ही करती हैं। अपने वस्त्र और शरीर का सम्मार्जन नहीं करतीं, जिससे कि दूसरे का चित्त आकर्षित हो जावे। वे विकथादि कोई पापजनक क्रिया नहीं करती हैं। उनका आचार व व्यवहार शास्त्रानुकूल, कीर्त्ति का कारण और उत्तमता का द्योतक होता है। उन की वाणी पवित्रता और सद्भावना को प्रकट करती है। वे अपना सम्पूर्ण समय शास्त्रों के पठन-पाठन में व्यतीत करती हैं। महिलाओं को उन्नति का मार्ग दिखलाती हैं। उपदेश देकर स्त्री-स्वभाव से उत्पन्न हुई त्रुटियों को दूर करा कर उन्हें नीति और सद्धर्म के पथ पर चलाती हैं। उनका कर्त्तव्य समझा कर धर्म में रुचि उत्पन्न करती है। उनमें सद्भावना उत्पन्न कर कलह और अनैक्य भाव के प्रति घृणा उत्पन्न करती हैं। स्वयं कर्तव्यनिष्ठ होती हैं और परोपकार में तत्पर रहती हैं। जिस प्रकार मुनीश्वरों का उपदेश-शिक्षादि का अधिक सम्बन्ध पुरुषों के साथ रहता है, उसी प्रकार उनके उपदेशादि का विशेष सम्बन्ध महिलाओं के साथ रहता है।

आर्यिकाएँ मुनि की तरह खड़ी होकर अहार नहीं करें—किन्तु बैठकर हाथ रूपी पात्र में ही अहार लें।

मुनि के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास का माना है और आर्यिका के अट्ठाईस ग्रास का विधान है। इस एक ग्रास का प्रमाण एक हजार चॉवल माना गया है। अर्थात् एक हजार चॉवल का जितना बड़ा ग्रास होता है उतने प्रमाणवाले रोटी, चॉवल, खीचड़ी आदि के अट्ठाईस ग्रास से अधिक का आहार आर्यिकाओं के लिए वर्जित है। अट्ठाईस ग्रास में भी जहॉ तक सम्भव हो अल्पता करने का प्रयत्न करना चाहिए। आहार अत्यन्त गरिष्ठ और इन्द्रियों मे विकार उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिए। किन्तु जिससे शरीर सामायिक, स्वाध्याय, ध्यानादि धार्मिक-क्रियाओं के आचरण मे तत्परता से लगा रहे, प्रमाद के वशीभूत न हो ऐसा आहार करना चाहिए।

मासिक धर्म के दिनों में भोजन के समय दातार के घर दो आर्यिकाएँ साथ जावें। दूसरी आर्यिका संकेत द्वारा गृहस्थ को रजस्वला होने की सूचना दे दे। गृहस्थ ऋतुमती आर्यिका को पडगाह कर अपने घर के भीतर ले जाकर एकान्त स्थान मे उसके लिए स्नान की व्यवस्था कर देवे। तथा शुद्ध साड़ी पहनने को दे देवे। आर्यिका प्रासुक जलसे अपनी शुद्धि करले, और गृहस्थ द्वारा प्रदत्त शुद्ध साड़ी पहन ले। तत्पश्चात् दाता भक्ति करे। दूर से आर्यिका के पैर पर जल डालदे तथा चौके के बाहर शुद्ध और पवित्र स्थान मे आर्यिका को उच्च-स्थान पर बिठा कर मुनिवत् नवधा भक्ति करे। इसके अनन्तर उसके भोजन की थाली परोस कर दूसरा व्यक्ति वहॉ पर ले आवे और बिना किसी प्रकार का सपर्क किये दूर से कर-पात्र में आहार देता

रहे। जब उसका आहार पूर्ण हो जावे तब हस्त मुखादि की प्रासुक जल से शुद्धि करवा दे। दँतौन करने का तो निषेध है, किन्तु दाँतों से अन्नादि को अलग करने के लिए अंगुली दाँतों पर लगाने में कोई हानि नहीं है। आहार हो चुकने के पश्चात् उकाला हुआ प्रासुक जल आर्यिका के कमण्डलु में भर देवे। जब आर्यिका अपने स्थान पर चली जावे तब गृहस्थ आर्यिका की पड़ी हुई साड़ी की तथा वर्त्तनों की और अपनी भी शुद्धि कर ले।

आर्यिका मासिक धर्म के सिवा अन्य समय मे चौके में बैठकर आहार लेती है, लेकिन वहां पर भी उसके लिए उच्च आसन ही होना चाहिए। आर्यिका भी मुनि के समान आहार जलादि एक समय ही ग्रहण करती है। चाहे बीमार हो या स्वस्थ हो, औषध आदि भी दुबारा ग्रहण नहीं करती है। बीमारी में शरीर के ऊपर लगाने की औषधि का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन शुद्ध प्रासुक द्रव्य से बनी औषधि तैलादि का ही शरीर पर स्पर्श होने देना चाहिये। अप्रासुक व अशुद्ध पदार्थ को शरीर से नहीं छूने देना चाहिये।

मुनियों के अकर्तव्य कर्म

अब यहाँ पर कुछ ऐसे कृत्यों पर विचार करते हैं जो मुनियों के अयोग्य हैं। किसी भी संयमी को, लोक में अपने को प्रसिद्ध करने के लिए या अपने मान-पोषण आदि के लिए ऐसे कृत्यों को कदापि नहीं करना चाहिए।

(१) केशलोच का विज्ञापन

कितने ही मुनिवेष को लजाने वाले नाम मात्र के मुनि अपने केशलोच का समय बता कर गृहस्थों को उसका उत्सव करने के लिये उत्साहित करते हैं और यह चाहते हैं कि उनके केशलोच का नाटक देखने के लिये लोग काफी तादाद मे इकट्ठे हों। गृहस्थ उनके संकेत से अथवा उनके स्पष्ट वक्तव्य से केशलोच का काल जान अन्य शहरों मे पत्रों द्वारा या दूसरे उपायों से जनता को निमन्त्रित करते हैं और इसे प्रभावना समझते हैं। इस सम्बन्ध मे मुनियों को सोचना चाहिए कि क्या यह कृत्य उनके योग्य है? निमन्त्रित लोग दूर-दूर से अनेक वाहनों पर चढ़ कर या पैदल चल कर आते हैं, उस समय त्रस-स्थावर जीवों की कितनी हिंसा होती है तथा उनके भोजन आदि मे कितना आरम्भ होता है? अग्निकाय का जहाँ आरम्भ होता है वहाँ छहों काय के जीवों की हिंसा होती है। जो मुनि अपने निमित्त बनाये हुए भोजन को भी महापाप-जनक समझ कर ग्रहण नहीं करता है, वह केवल ख्याति की इच्छा से इतनी भयानक हिंसा का भागी बन जाता है, यह कितना घोर पतन है? जो षट्काय के जीवों का रक्षक अपने को प्रसिद्ध करता है वही तुच्छ 'जय जय' शब्द सुनने के लोभ से महा हिंसा की भी परवाह नहीं करता। इसे अज्ञान ही का माहात्म्य समझना चाहिए।

हे मुनियो! यदि तुम प्रभावना करने की अभिलाषा रखते हो तो स्वामी समन्तभद्र, अकलङ्कदेव, विद्यानन्दी आदि मुनीश्वरों की तरह धर्म का उद्योत करने वाला कार्य करो। सम्यग्ज्ञान और जिन-शासन का माहात्म्य प्रकट कर संसार के जीवों को सन्मार्ग पर आरूढ़ करो। रत्नत्रय

(सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) की सतत वृद्धि करते हुए आत्मा को प्रभावशाली बनाओ। अपनी आत्मा मे वैराग्य-भावना ऐसी प्रबल बनाओ जिससे तुम्हारा शरीर ही वैराग्य की मूर्ति बन जावे और उसका दर्शन करने वालों के भी राग-द्वेष दूर हो जावें।

हे धर्मध्वजियो! क्या केशलोच की क्रिया को जनता के समक्ष गाजे-बाजे व धूम-धाम से करने के लिए किसी भी शास्त्र में लिखा है? जनता के मध्य मे बैठ कर केशलोच करने से धर्म प्रभावना होती है—ऐसा किसी शास्त्र मे भी वर्णन नहीं है। यह तो एकान्त में करने की क्रिया है। केश भी शरीर का मल है, इसकी उत्पत्ति रुधिर के मल से होती है। इनके अधिक बढ़ जाने से इनमे सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है; इसलिए आचार्यों ने दो मास, तीन मास या अधिक से अधिक चार मास में इनको उखाड़ फेंकने की आज्ञा दी है। प्रत्येक क्रिया का आशय समझ कर उसका यथोचित पालन करना ही हितावह है, अन्यथा वही कर्म-बन्धन का कारण हो जाती है। अतः श्रावक लोग केशलोच का समय किसी तरह जान कर आडम्बर करने का उद्योग करें तो उनको समझा देना चाहिए कि यह धर्म-प्रभावना का अङ्ग नहीं है। प्रभावना का स्वरूप स्वामी समन्तभद्राचार्य ने निम्न प्रकार कहा है :—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥ (रत्न० श्रा०)

अर्थात्—उचित मार्ग का अवलम्बन लेकर अज्ञान-अन्धकार को दूर कर जैनेन्द्र-शासन की महिमा प्रकट करना ही प्रभावना है।

जनता के अन्दर फैले हुए अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ज्ञान-प्रकाश की आवश्यक्ता है। वह ज्ञान का प्रकाश ओजस्विनी भाषा में जिनागम के महत्त्व को प्रकाशित करने से होता है। उसके मुख्य तीन उपाय है—(१) उपदेश, (२) परमत का यथार्थ स्वरूप दिखाकर जिन-मत की सिद्धि और (३) जैन-साहित्य का आधुनिक ढंग से प्रकाशन।

(१) उपदेश—जब तक जिनागम के सच्चे रहस्य को सरल और सुन्दर भाषा में जनता के समक्ष नहीं रखा जावेगा, विद्वत्ता पूर्वक उसका मर्म-स्पर्शी शब्दों में विवेचन नहीं किया जावेगा तबतक जनता मे फैला हुआ अज्ञान दूर नहीं हो सकता है; इसलिए जनता के हृदय तक पहुँचने वाले सारगर्भित तात्विक उपदेशों की बड़ी आवश्यकता है।

(२) परमत प्रदर्शन पूर्वक स्वमत की सिद्धि—विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे मधुर व प्रिय शब्दों मे परमत का स्वरूप दिखाकर उस का समन्वय करते हुए स्वसिद्धान्त का उत्कर्ष जनता के समक्ष मनोहर भाषामे रखें। इस से जनता की आँखे खुलेगी, उसे काच और मणि का विवेक ज्ञान होगा, जिन शासन की महिमा प्रकट होगी। अकलकादि महात्माओं ने इसी तरह जिन शासन का महत्व प्रकट किया था।

(३) जैन साहित्य का नूतन शैली से प्रकाशन—प्रतिवर्ष हमारे धर्म-प्रेमी श्रावक लोग लाखों रुपये अन्यत्र ऐसे कार्योंमें खर्च करते हैं,

जिनकी इस समय बिलकुल आवश्यकता नहीं है। जिस समय प्यास शरीर को व्याकुल कर रही है, उस समय मिष्टान्न भोजन भी अहितकर हो जाता है, उस समय तो पानी पिलाना ही उसे जीवन दान देता है। इसलिए समय की परिस्थिति के अनुकूल धर्म के लिए किये गये कार्य प्रभावना के कारण होते हैं। इस समय सभी धर्मावलम्बी अपने साहित्य का प्रकाशन इस ढ़ग से कर रहे हैं, जिससे जनता का आकर्षण हो और वह उसे पढ़ कर लाभ उठा सके। ऐसा ही कार्य यदि जैन करते तो अभी जैनतत्वों का प्रकाश सम्पूर्ण विश्व को चकित कर देता। लेकिन हो कैसे? धनिक श्रीमान् लोगों की दृष्टि एक ओर है और विद्वत्समाज की दृष्टि दूसरी ओर। यह कार्य दोनों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। साधुओं का कर्तव्य है कि वे दोनों को एक मार्ग में लगाने का प्रयत्न करें। यही उत्कृष्ट धर्म-प्रभावना अंग है।

श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है —

आत्मा प्रभावनीयो·रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

अर्थ—रत्नत्रय के तेज से अर्थात् सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन कर आत्मा को प्रभावशाली बनाना चाहिये। तथा दान, तपस्या, जिन पूजा और विद्या के अतिशय से जैन धर्म को प्रभावना करना और कराना चाहिए। इनमें से जिनपूजा के अतिरिक्त सब कारणों से जिन धर्म की व आत्मा की प्रभावना मुनि कर सकते हैं। इसी तरह गृहस्थ एक देश रत्नत्रय का पालन कर आत्मा की तथा दानादि सब साधनों से द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देख कर जिन धर्म की प्रभावना कर सकता है।

जिनाज्ञा के अनुकूल कार्य करने से ही जिन-धर्म की प्रभावना हो सकती है। अपने मन के अनुसार यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने से सिवा कर्म-बन्ध के और कुछ भी लाभ नहीं होता।

मुनीश्वरों की सब क्रियाएँ निरवद्य होती हैं। जिन क्रियाओं के करने में हिंसादि पाप होते हैं, उनमें साधुओं को भाग नहीं लेना चाहिए। गृहस्थों की क्रियाएँ अल्प सावद्य वाली भी होती हैं, जैसे—जिनेन्द्र पूजन, रथयात्रादि। इन क्रियाओं को उपयोग पूर्वक सावधानता से करने पर भी गृहस्थ सावद्यकर्म से बच नहीं सकता है, किन्तु मुनीश्वरों के लिए यह वर्जनीय है। इस लिए रथयात्रा के समय शहर में गृहस्थों के साथ मुनीश्वरों का भ्रमण करना उचित नहीं जचता। पंडित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत अध्याय ५ के श्लोक ४२ वें में इसी का समर्थन किया है। यह कार्य गृहस्थों का है। उनके साथ २ भीड़ भड़क्के में फिरना जिन लिंगधारकों के लिए अशोभनीय है। उनको भगवान् के दर्शन करना हो तो वे अपने वसतिका के समीप आजाने पर कर सकते हैं। उनके लिए जिन प्रतिमा का दर्शन गृहस्थों के समान आवश्यक नहीं बताया है। यदि उनके निवासस्थान के समीप में मन्दिर हो अथवा आहारादि के लिए गमन करते समय मार्ग में मन्दिर पड़ता हो अथवा विहार करते समय मार्ग में मन्दिर हो तो वे दर्शन कर सकते हैं। गृहस्थों के मध्य गाजे बाजे के साथ गमन करना त्यागमूर्त्ति संसार से विरक्त साधुओं के लिए सर्वथा वर्जनीय है।

कोई २ साधु गृहस्थ के घर आहार कर लौटते समय गाजे बाजे के साथ वसतिका मे आते हैं, उनके साथ पुरुषों का जमघट रहता है तथा उनके पीछे स्त्रियाँ गीत गाती हुईं उनको वसतिका मे पहुँचाने को आती हैं, यह कैसा वैराग्यमय मुनिधर्म है ? यह तो मुनि-धर्म का परिहास है। यह सरांग क्रियाएँ वैराग्य का जड़-मूल से उच्छेद करने वाली हैं। जैन धर्म का उपहास कराने वाली है। हे मुनियो। जरा सोचो, तुम यह क्या विपरीत कर्म कर रहे हो ? यदि तुम्हें इन से ही प्रेम था तो गृहस्थपने का त्याग क्यों किया ? वैराग्य पूर्ण जैन धर्म के उत्कृष्ट दिगम्बर वेप को क्यों धारण किया ? सरांग क्रियाओं मे भाग लेकर तुम केवल अपना ही अकल्याण नहीं कर रहे हो प्रत्युत जैन धर्म के पवित्र और आदर्श मुनिधर्म के भी अपवाद लगा रहे हो। ऐसी अहितकारिणी क्रियाओं का त्याग करने से ही तुम्हारा और दूसरों का भी भला है।

(२) दीपक का उपयोग

हे मुनियो ! जव तुमने महाव्रत लिये थे तव षट्काय के जीवों की रक्षा की तुमने प्रतिज्ञा ली थी। विश्व भर के प्राणियों को अभयदान दिया था। अब तुम्हें ध्यान होना चाहिये कि दीपक के जलाने व जलवाने तथा उसकी अनुमोदना करने से षट्काय के जीवों की हिंसा होती है। जहाँ पर दीपक जलता है, वहाँ प्रत्यक्ष में दिखाई देता है कि उसके आस पास पतङ्ग आदि असंख्य जन्तु मरे हुए पड़े रहते हैं। उसके धुएँ से मच्छर आदि अनेक प्राणी प्राण रहित हो जाते हैं।

मुनियों के दीपक चन्द्रमा व तारागण हैं। जैनेतर विद्वानों ने भी मुनियों के ऐश्वर्य तथा स्वरूप का वर्णन करते समय उक्त कथन की पुष्टि की है। भर्तृहरि ने कहा है—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदितः।
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥ ७०॥

अर्थ—मनोहर निर्दोष भूमि ही जिनकी शय्या है, भुजा जिनका विस्तीर्ण तकिया है, आकाश जिनका चँदोवा है, अनुकूल वायु जिनका पङ्खा है, चन्द्रमा जिनका देदीप्यमान दीपक है, परम विरक्ति रूपी स्त्री के संसर्ग से जो आनन्द का अनुभव करते हैं। ऐसे शान्त स्वरूप मुनि, राजा के समान अतुल ऐश्वर्य सुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् बाह्य विभूति आत्मा को मोह-जाल में फँसाने वाली है—ऐसा समझ कर उसका त्याग करने पर स्वतन्त्र होकर अन्तरङ्ग ऐश्वर्य का अनुभव कर मुनि सदा आनन्द से मग्न रहते हैं।

स्वतन्त्र मुनि दीपादि से परतन्त्र बन कर अपनी आत्मीय-विभूति को खो देता है। इसलिए आचार्यों ने मुनि की स्वतन्त्रता की बाधक जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उनका त्याग करने की आज्ञा दी है। एक कौपीन रखने वाले को भी गृहस्थ कहा है। दीपक रखने वाले मुनि को तो परिग्रह-दोष के अतिरिक्त षट्काय के जीवों के बधजन्य महापाप का दोष भी आता है, जो उसके महाव्रत का सर्वथा घातक है। चाहे वह लालटेन का उपयोग करे, चाहे बिजली का उपयोग करे, चाहे गैस तैलादि के लेम्पों या दीपकों का उपयोग करे, सब से षट्काय के जीवों की विराधना होना अवश्यभावी है, क्योंकि यह सब अग्नि स्वरूप हैं। इसलिए मुनियों को भूल कर भी किसी प्रकार के दीपक को न स्वय जलाना चाहिए, न किसी दूसरे से जलवाना चाहिए और न जलाने वाले की अनुमोदना करना चाहिए। अपनी वृत्ति सदा ऐसी बनाना चाहिए जिसमें कभी दीपक के प्रकाश की आवश्यकता न हो। जो मुनि दीपक के प्रकाश में पढ़ते-लिखते हैं वे जिन-मार्ग के विपरीत आचरण करते हैं। उनकी यह वृत्ति निर्मल मुनि-धर्म को बदनाम करने वाली है।

(३) ऐनक (चश्मा) का उपयोग

आजकल मुनि अपने पास ऐनक भी रखने लग गये हैं। पर वास्तविकता की दृष्टि से तिल-तुष-मात्र परिग्रह भी मुनि-पद का घातक है; फिर ऐनक जैसी मूल्यवान् वस्तु अपने पास रखना कैसे उचित हो सकता है? भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने सूत्र पाहुड़ मे कहा है :—

बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥ १७ ॥

अर्थ—साधु लोग बाल के अग्रभाग मात्र परिग्रह का भी ग्रहण नहीं करते। आगम के अनुसार आहार-विधि के ज्ञाता श्रावक के द्वारा दिया हुआ प्रासुक भोजन हस्त-पात्र में खडे होकर एक बार लेते हैं।

इसका आशय यह है कि जो मुनि-वेष-दिगम्बर रूप-धारण करके उसके विपरीत आचरण करता है, किसी प्रकार का परिग्रह रखता है, वह जिन-शासन के अनुसार मुनि कहलाने योग्य नहीं हो सकता है। बाल के अग्रभाग जितना परिग्रह भी मुनि-धर्म का बाधक है। तिल-तुष-मात्र परिग्रह रखने से भी मुनि निगोद का पात्र बनता है। अब विचारणीय यह है कि जब किंचिन्मात्र परिग्रह रखने वाला भी मुनि नहीं हो सकता तब चश्मा, रुपया-पैसा आदि अपने पास रखने वाला तो मुनि हो ही कैसे सकता है? मुनि-वेष सोलह टञ्च का सोना है। उसमे थोडे से भी कीट अथवा कालिमा को स्थान नहीं है। सोने को जैसे पहले कसौटी पर लगा कर परखा जाता है और पीछे खरा उतरने पर उसका ग्रहण किया जाता है, वैसे ही मुनियों की पहले जिनशासन रूपी कसौटी से जॉच की जाती है और पश्चात् उनका ग्रहण होता है। मुनि-पद श्वेत उज्ज्वल वस्त्र के समान है। जिस प्रकार सफेद कपड़े मे जरा सा भी काला दाग स्पष्ट झलकने लगता है, उसी प्रकार दिगम्बर मुनिपद मे जरा सा भी विपरीत कृत्य कलक की भांति सब को अखरने लगता है।

गृहस्थों के अनेक दर्जे हैं, इसलिये उनके कर्त्तव्यों की भी अनेक श्रेणियाँ हैं; किन्तु मुनियों के गृहस्थों के समान अनेक दर्जे नहीं हैं। उनका सामान्य मार्ग अट्ठाईस मूलगुण धारण करना सब मुनियों के लिए समान है। चाहे कोई बाल हो, युवा हो या वृद्ध हो—इतना हर एक साधु को अवश्य पालन करना पड़ता है, इसके विना कोई मुनि नहीं कहा जा सकता। इसलिए हे मुनियो! अपने पद की रक्षा का ख्याल रखो। जिस धर्म को भगवान् कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, विद्यानन्द स्वामी आदि उद्भट विद्वान् व तपोमूर्ति मुनीश्वरों ने विश्वभर मे देदीप्यमान किया था, अपने जीवन की परवाह न कर जिसकी कीर्त्ति को सम्पूर्ण विश्व में फैलाया था। जिसका आश्रय लेकर अब भी भव्य जीव अपनी आत्माओं का कल्याण कर रहे हैं। तुम उसी कल्पवृक्ष के समान अचिन्त्य अभीष्ट फल देने वाले धर्म के पालन से कायर बन कर उसकी निन्दा कराते हो और अपने गौरव को नष्ट करते हो। यह सर्वथा अनुचित है। अपने लिए कल्याण का मार्ग सोचो और मुनि-धर्म के अयोग्य सब कुकृत्यों का एक दम त्याग कर आदर्श-मुनि वनो।

शंका—अपरिग्रह महाव्रत के धारक मुनियों को संयम के पवित्र उपकरण—पिच्छिका और कमण्डलु—अपने पास रखने की आज्ञा है। ज्ञान के उपकरण-शास्त्र-भी वे अपने पास रखते हैं। इसी प्रकार चश्मा को भी ज्ञान का उपकरण मान कर अपने पास रखा जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—हानि यही है कि निष्परिग्रहता में दोष आता है। मुनियों को चश्मा ऐसी वस्तु का अपने शरीर से सम्बन्ध रखते हुए देख कोई भी उन्हें अपरिग्रह महाव्रत का पालन करने वाला नहीं समझ सकता; इसीलिए उसे ज्ञान का उपकरण मान कर अपने पास रखना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ज्ञान का उपकरण मान कर यदि श्वेताम्बर साधु उसे अपने पास रखें तो ठीक भी हो सकता है, पर दिगम्बर साधु का स्वरूप तो सर्वथा निर्ग्रंथ होता है; अतः दिगम्बरता में दोष लगाने वाली किसी भी वस्तु का अपने शरीर से ससर्ग रखने का समर्थन करना उसके लिए उचित नहीं। एक कमण्डलु, एक पिच्छिका और एक शास्त्र ही उसके पास हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

शङ्का—क्या किसी भी दशा में उक्त तीनों वस्तुओं के अतिरिक्त वे अपने पास कुछ नहीं रख सकते?

उत्तर—हाँ, मुनि के लिए यही उत्कृष्ट मार्ग है। इससे अधिक तिल-तुष-मात्र रखना भी दोप है। किन्तु आचार्यों के लिए श्री इन्द्रनन्दी ने नीतिसार में एक अपवाद का भी उल्लेख किया है। यथा—

क्वचित् कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।
संघपुस्तकवृद्ध्यर्थमयाचितमथाल्पकम् ॥८६॥

टीका—सूरिः = आचार्यः, क्वचित = कुत्रचिद्देशे, कालानुसारेण = समयानुसारेण, आवश्यकं चेत्तदा द्रव्यं = पिच्छिका-कमण्डलु-ग्रन्थादीनामुपादानकारणं पिच्छः, काष्ठः, तुम्बी, ताड़पत्र, लेखनी—लोहोपकरणप्रभृतिः तथा वानप्रस्थेभ्यः कौपीनपात्रार्थं आर्यिकाभ्यश्च साटिकार्थं वस्त्र च भेषजं च उपाहरेत् = श्रावकर्हस्तेन स्थापयेत् एष अपवादमार्गः—इति षट्प्राभृतस्य टीकायां श्रीश्रुतसागरसूरिणा कथ्यते। भाषायां द्रव्यशब्दस्यार्थो मुद्रा-रूप्यकं गृह्यते, न तु संस्कृतभाषायां तत्तद्वाचकः।

अर्थात किसी दुष्प्राप्य देश में श्रावक लोग मुनि-संघ एवं शास्त्रों की वृद्धि होगी—यह विचार कर बिना मांगे ही आचार्य को द्रव्य, पिच्छी, काष्ठ, तुम्बी, ताड़पत्र (कागज), लेखनी (होल्डर) आदि (पुट्ठे, वेष्टन, सुई, डोरा, स्याही आदि) दें, वानप्रस्थों की कौपीन एवं आर्यिकाओं की साड़ी के लिए वस्त्र तथा औषधि दे तो वह ग्रहण कर ले। खुद तो न ले, अपने हाथ से तो छुए भी नहीं, ब्रह्मचारी आदि श्रावकके पास रखे और उसके पास भी अधिक रूप में न रहने दे, अत्यावश्यक हो उतनी ही रखे।

इस अपवाद कथन से भी जब यह स्पष्ट है कि ज्ञानादि के विशेष उपकरणों को भी साधु अपने पास न रखे तब यह तो आज्ञा हो ही कैसे सकती है कि वह ऐनक आदि वस्तुओं को अपने पास रखने लग जाय। भाव यह है कि अपवाद मे भी उन्हीं अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को श्रावकों के पास रखने के लिए कहा है जिनका कि मुनियों को अपने शरीर से सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं होती। जो उनके आत्म-कल्याण के बाधक नहीं हैं और संघ का जिनसे उपकार सम्भव है।

हे मुनियो। तुमने अपने बाल-बच्चों आदि के मोह-जाल को तोड़ कर अपनी आत्मा के कल्याण के लिए इस परम पुनीत मुनि-वेष को धारण किया है तो तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह सोचो। तुम उत्कृष्ट तपस्या नहीं कर सकते तो न सही, पर मुनि के योग्य साधारण कर्तव्यों का तो अवश्य पालन करो। जिन कृत्यों से मुनि-धर्म का सर्वथा घात होता है, जिनसे तुम्हारे मूलगुण का विनाश होता है, ऐसे कार्यों का तो सर्वथा परित्याग करो। यदि तुम कदाग्रह अथवा लोभादि के वश मे होकर उनका त्याग नहीं करते तो तुम अपने को किस आधार से मुनि कह सकते हो ? ऐसी स्थिति मे दूसरे धर्म-प्रिय श्रद्धालु जीवों को अपने चरणों मे झुकवा कर क्यों पापबन्ध करते हो ? तुम्हारा कल्याण इसमे ही है कि तुम मुनि-पद के विरुद्ध कोई कार्य न करो।

तुम्हारा सब से मुख्य कर्तव्य अपनी आत्मा में रत्नत्रय की वृद्धि करना है। अत जिन-जिन कार्यों से रत्नत्रय की उन्नति हो उनमें ही तुम्हे निमग्न रहना चाहिए। धर्मोपदेश भी स्वाध्याय का एक अङ्ग है, इसलिए जिससे जीव कुमार्ग को छोड़ कर सन्मार्ग में लग जावें, उनको सुख-शान्ति का मार्ग मिल जावे—ऐसा प्रयत्न करो, ऐसा सदुपदेश उन्हें दो। यदि कहीं पर जैन-धर्म की शिक्षा का अभाव हो और वहाँ पर ज्ञान-प्राप्ति के साधन न हों और उन साधनों(पाठशालादि)के लिए द्रव्यादि की आवश्यकता हो तो उनके दान का महत्व समझा कर लोगों को अपना कर्तव्य समझा दो; केवल इतना तुम्हारा कर्तव्य है। उस द्रव्य के साथ तुम्हारा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। द्रव्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों प्रकार का सम्बन्ध आत्मा का पतन करने वाला है। द्रव्य का स्पर्श आत्मा मे विकार और क्षोभ उत्पन्न करने वाला है और सब अनर्थों की जड़ है, इसलिए आत्म-हितेच्छु मुनीश्वरों को किसी भी प्रकारके द्रव्य का सम्बन्ध विष के समान आत्मघातक समझ कर दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

(४) विहार के साथ चौके का आयोजन

मुनियों का विहार पक्षियों के समान निःसंग कहा है। जैसे पक्षियों के साथ कोई परिग्रह नहीं होता तथा उनका वास अनियत होता है,

उसी प्रकार मुनियों के साथ भी कुछ परिग्रह नहीं होना चाहिए और उनका विहार-स्थल भी अनियत ही रहना चाहिए। किन्तु आजकल देखने मे आता है कि मुनियों के साथ गाड़ियाँ चलती हैं और चौके रहते हैं। यह सर्वथा अनुचित है।

हे भिक्षुको। तुमने गृहस्थाश्रम छोड़ा, अपने प्राणों से भी प्यारे बाल-बच्चों का त्याग किया, धन-सम्पत्ति, महल-मकान, गाड़ी-घोड़े आदि सब को छोड़ा सो उनके साथ तुम्हारा शत्रु-भाव तो था ही नही, उनको संसार-जनक समझ कर ही तो तुमने उनका त्याग किया है, फिर शरीर से भी मोह क्यों रखते हो, इसके पोषण की चिन्ता क्यो करते हो? यह शरीर भी परिग्रह है, किन्तु इसका त्याग नहीं किया जा सकता अत अन्यान्य परिग्रह की भाँति इससे भी मोह हटा कर इसे अनेक प्रकार की तपस्या करने मे लगाते रहो और अपना आत्म-कल्याण करते रहो। अपने शरीर-पोषण के लिए गाड़ियाँ व चौके अपने साथ रखना तुम्हे शोभा नहीं देता।

प्रश्न—साथ में गाड़ियाँ वगैरह तो गृहस्थ रखते हैं और वे ही चौका बनाते हैं, इसका मुनियों से क्या सम्बन्ध?

उत्तर—मुनियों के साथ गाडियों मे आहारादि की सामग्री लेकर गृहस्थ फिरते है, वे किसके लिए फिरते हैं? उनको क्या प्रयोजन है जिससे वे इस प्रकार साथ-साथ भ्रमण करते हैं? वे केवल साधुओं के आहार के लिए यह सब आरम्भ करते है। अत मार्ग में चलते समय गाड़ी, बैल आदि से जो जीव-हिंसा होती है उसका निमित्त कौन है? आहारादि बनाने मे जो हिंसा होती है उसका भागी कौन है? मुनि महाराज के लिए आहार बनाया जाता है तब क्या वह अनुदिष्ट भोजन है? अत साथ में रहनेवाले चौकों से मुनियों का कोई सम्बन्ध नही, यह नहीं माना जा सकता। यदि किसी की आत्मा मे मुनिमार्ग के साधारण कर्तव्यों का पालन करने की भी सामर्थ्य नहीं है तो क्या आवश्यकता है कि वह मुनि-वेष धारण करे और उसकी अनुपम उज्ज्वल महिमा पर कालिमा पोते। सारांश यह है कि मुनि को ऐसे क्षेत्र मे ही विहार करना चाहिए जहाँ उसके धर्म में किसी प्रकार का आघात न पहुँचे और आहारादि के लिए साथ में परिग्रह रखने का प्रपञ्च न रचना पड़े। यदि दैवयोग से एक-दो दिन आहारादि न मिले तो अपने धर्म की रक्षा के लिये उसे कर्म-क्षय का सुलभ निमित्त प्राप्त हुआ समझ कर शान्त भाव से सहन करना ही उचित है।

(५) पक्षपात या दुराग्रह

जैन-धर्म का निरूपण करना, जैन-धर्म के मान्य तत्वो का व्याख्यान करना मुनि का कर्तव्य है। उनका व्याख्यान करते समय पर-मत के मान्य तत्वों का स्वरूप भी दिखाना पड़े तो उसे पक्षपात रहित, मधुर और प्रिय भाषा मे कहना चाहिए। क्योंकि विद्वत्समाज के सम्मुख जब तक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विवेचन नहीं किया जावे तब तक स्व-तत्व का महत्व उसके हृदय मे अङ्कित नही होता। जौहरी के सामने बनावटी और असली जवाहरात को जब व्यापारी रख देता है और उसमें से प्रत्येक जवाहरात का असली स्वरूप भी स्पष्ट कर देता है, तब खरीदार जौहरी असली जवाहरात की विशेषता देखकर उसे स्वय खरीद लेता है और नकली को छोड़ देता है, उसी प्रकार विद्वान् मुनि जब स्वमत-मान्य तत्त्व और परमत-मान्य तत्त्व का

रहस्योद्‌घाटन स्याद्वादनय से भले प्रकार कर देता है और अपने मान्य-तत्त्वों की महत्ता दिखा देता है, तब आत्म-हितैषी श्रोता सम्यक् तत्त्वों का ग्रहण कर लेते हैं और हेय तत्त्वों का त्याग कर देते हैं।

किसी भी विषय का वर्णन करते समय जिनागम के प्रतिकूल कोई शब्द अज्ञानता से अथवा कषाय से न निकलने पावे, इसका पूरा-पूरा ख्याल रक्खो, क्योंकि मुनि का वेष जिनेन्द्र के समान है। मुनिके शब्द को लोग आगम की भाँति प्रमाण समझते हैं। अत ऐसा न हो कि तुम्हारे भाषण से जिनागम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति हो जावे। यदि भूल से तुम्हारे मुख से जिन-शासन के विपरीत कोई वचन निकल जावे तो तुम उस असत्य आगम-विरुद्ध वचन की पुष्टि मत करो, अपनी भूल को शीघ्र सम्हाल लो। छद्मस्थ से पद-पद पर भूल हो जाना सम्भव है, इससे अपना अपमान मत समझो। यदि तुम अपनी भूल न सम्हालोगे और 'जो मेरे मुँह से निकला वही सत्य है' ऐसा दुराग्रह व पक्षपात करोगे तो यह दुराग्रह रूप पिशाच तुम्हारी आत्मा की तपस्या और रत्नत्रय रूपी प्राण का हरण किये बिना न रहेगा। यह तुम्हारे अध.पतन का कारण अवश्य होगा। क्योंकि-जिसका हृदय दुराग्रह के वशीभूत या कलहाग्नि से प्रज्वलित रहता है, उसकी आकृति भयानक सी प्रतीत होती है, उसकी आत्मा में मुनि-चारित्र का निवास नहीं हो सकता। मुनि-चारित्र शीतल जल के समान है, उसे कलहाग्नि तत्क्षण जला डालती है। इसलिए दुराग्रह या पक्षपात के चक्कर मे पड़ना मुनि के लिए कदापि उचित नहीं।

जो मुनि का वेष तो धारण किये हुए है पर जिसके चित्त मे राग, द्वेष क्रोध, मानादि निवास करते है, वह वास्तविक मुनि नही है, वह तो बहुरूपिया के समान है। जैसे बहुरूपिया अपनी जीविका के लिए अनेक प्रकार के रूप (वेष) धारण कर लेता है, किन्तु उन वेषों के गुण उसमे नहीं पाये जाते; वैसे ही जो पुरुष मुनि-धर्म के योग्य क्रोधादि रहित शान्त स्वरूप को प्राप्त किये विना ही मुनिवेष धारण करलेता है, वह भी तथाभूत गुण न होने से उसकी ओट मे अपनी उदरपूर्तिमात्र करता है। सच्चा मुनि नहीं है।

जिसके चित्त में अनुपम शान्ति नहीं है, जरा २ से निमित्त के सयोग से जिसकी क्रोधाग्नि दहक उठती है, वह कभी आत्मशान्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। साधु को ससार से निरन्तर भयभीत रहना चाहिए। चौदह प्रकार के अन्तरग और दश प्रकार के वाह्य परिग्रह का सर्वथा त्याग करने से ही मुनिलिंग हो सकता है। जिसके अन्त करण मे राग, द्वेष, क्रोध, मान माया, लोभादि अन्तरङ्ग परिग्रह विद्यमान हैं वह वाह्यपरिग्रह का त्याग करने पर भी मुनि कैसे हो सकता है ? यदि केवल वाह्य परिग्रह के अभाव मात्र से मुनि मान लिये जावें तब तो तिर्यच भी मुनि हो जावेंगे, क्योंकि उनके पास भी वाह्यपरिग्रह नही है। अत याद रखो मुनि वेष को धारण करने पर भी जिनके तीव्र रागद्वेष क्रोधादि विद्यमान है,—वे मुनि नही माने गये है। जो उन्हे मुनि मानते हैं वे स्वयं धोखा खाते हैं और जिनागम को कलङ्कित करते है।

साधुओं को जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्म का सच्चा ज्ञान होना चाहिए। आजकल कलिकाल के प्रभाव से मुनि-वेषी अपने को श्रावकों का गुरु समझ कर 'हम तुम्हारे गुरु हैं, क्या तुम गुरु की बात नहीं मानते ? यदि नहीं मानते तो तुम मिथ्या-दृष्टी हो, तुम जैन नही हो' इत्यादि वचनों

द्वारा उनका निरादर करते हैं और विपरीत मार्ग का निरूपण करते हैं। मिथ्यात्व का पोषण करते हैं, भोले जीवों की मिथ्या मार्ग में—कुचारित्र मे प्रवृत्ति कराते हैं और उसी मे अपनी महत्ता और विद्वत्ता समझते हैं। परन्तु क्या उसे विद्वत्ता कहा जा सकता है ? कभी नहीं। त्याग-मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों का त्याग भग करवा कर कुचारित्र में प्रवृत्ति कराना तथा जिन कामों में स्थावर काय और त्रस काय की हिंसा होती है, ऐसे कार्यों को कुयुक्तियों द्वारा धर्म-मार्ग बतला कर भोले जीवों को उस असन्मार्ग मे चलाना, स्वयं जाकर सावद्य कार्यों को देखना, उनकी अनुमोदना करना और उनको पुण्य-कर्म घोषित करना—यह क्या साधुता है ?

साधु तो नवकोटि से आरम्भ के त्यागी होते हैं, क्या उन्हें षट्काय के जीवों के विध्वसक कर्मों का उपदेश या आदेश देना योग्य है ? यह अज्ञान एवं तीव्र मोह के कार्य हैं। इसलिए इनको छोड़ कर आपने मुनि-पद के योग्य कर्तव्यों का पालन करो, इसी से ससार का क्षय होगा और अविनश्वर मोक्ष-सुख का लाभ होगा।

(६) सतत विहारशील न होना

मुनि को चातुर्मास के अतिरिक्त गाँव में एक दिन और शहर में अधिक से अधिक पाँच दिन तक एक साथ ठहरने की आगम में आज्ञा है। इससे अधिक ठहरने वाला साधु आगम की आज्ञा का लोप करता है। कारण यह है कि एक स्थान से अधिक रहने से साधु को उस स्थान से मोह उत्पन्न हो जाता है और वहाँ के समीपवर्ती श्रावकों आदि के साथ प्रेम की वृद्धि हो जाती है, जो आत्मा में राग की उत्पादका है। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष भी अपने आप आकर स्थान बना लेता है। जब राग-द्वेष के घटाने के लिए ही स्त्री पुत्र, मित्रादि का त्याग किया, निर्ग्रंथ बने, तब उसीके बढ़ाने का कार्य करना कहाँ की बुद्धिमानी है ? निरन्तर विहार करने से लाभ यह है कि अनेक गाँवों और शहरों की जनता को मुनियों के सत्सग से धर्म का लाभ होता है एव अनेक ग्राम और शहरों में भ्रमण करने से मुनियों के भी अनुभव की वृद्धि होती है, जिससे वे जनता की प्रकृति, परिस्थिति आदि को समझ कर उसके अनुकूल उपदेशादि देकर उसका सुधार करने में समर्थ होते है। और लाभ यह है कि मुनि पैदल ही विहार करते हैं इससे उनका शरीर स्वस्थ एव कष्ट-सहिष्णु बनता है तथा मार्ग मे घने जङ्गलों में भी असहाय गमन करने के कारण उनकी आत्मा में विशेष निर्भीकता आती है। खुले पैर चलने से मार्ग में कङ्कर, पत्थर, काटे, शीत उष्ण वर्षा आदि की परीषहों पर विजय प्राप्त करने से कर्मों की निर्जरा होती है और शरीर का सुखियापना दूर होकर दुष्कर ध्यान धारण करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

सतत विहार करने से साधु सब प्रान्तो और देशों का उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं। सब में समभाव बना रहता है और धर्म का प्रचार होता है। इस समय जैन-धर्म के मानने वालों की संख्या जो इतनी अल्प हो गई है, उसका मुख्य कारण यही है कि साधुओं का सर्वत्र विहार न होने से जैन भी अजैन बन गये हैं ? ❀ जहाँ-जहाँ साधुओं का थोडा-बहुत भी संचार रहा है, वहां जैनों की संख्या कम घटी है।

❀ जैसे श्रीसम्मेदशिखरजी के आस-पास 'सराक' जाति है ('सराक' शब्द श्रावक का अपभ्रंश मालूम होता है) उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की उपासना अब तक चली आ रही है। किन्तु वे सराक अब जैन-धर्मसे विमुख हैं। इसका मुख्य कारण उन्हें धर्मके उपदेशका न मिलना ही समझा जा सकता है।

में अभी तक चारों वर्ण के जैन उपलब्ध हैं। अतः सतत विहार ही उपयोगी होने से आगम की आज्ञा के विरुद्ध मुनियों को एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए।

चातुर्मास के अतिरिक्त गाँवों में एक दिन और शहरों में पाँच दिन तक रहने की आगम की आज्ञा है ऐसा पहले कहा गया है, पर जहाँ चातुर्मास करना हो वहाँ एक माह पूर्व और भी ठहरा जा सकता है, ऐसा भी मत है। उसका आशय यह है कि वहां का जल-वायु स्वास्थ्य के लिए पथ्य (हितकर) है या अपथ्य है ? वहां के निवासी मुनि-धर्म के अनुरागी हैं या विरोधी इत्यादि परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वहाँ अधिक से अधिक एक मास तक चातुर्मास प्रारम्भ होने के पूर्व भी मुनि ठहर सकता है। चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् उसको तुरन्त विहार कर देना चाहिए।

यदि संघ के किसी संयमी को शारीरिक व्याधि या रोग उत्पन्न हो जावे, अथवा किसी साधु की वैयावृत्य करना हो या वहाँ ठहरने से धर्म सम्बन्धी कोई विशेष कार्य होने की सम्भावना हो, कोई विशेष नवीन ग्रन्थ लिखना या लिखवाना हो तो साधु चातुर्मास व्यतीत होने के पश्चात् भी एक मास तक और ठहर सकते हैं। इस का तात्पर्य यह नहीं है कि श्रावकों से एक बृहत्पूजा विधान करने का संकेत करके अथवा रथ-यात्रादि का आयोजन करवा कर चातुर्मास के पश्चात भी साधु ठहर जाय। इस निमित्त साधु का ठहरना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि पूजा-विधान, रथ-यात्रादि सावद्यकार्य गृहस्थों के कर्तव्य हैं। उनमें भाग लेना मुनिधर्म के प्रतिकूल है। क्योंकि यह कृत्य साधुओं के धर्म की वृद्धि करने वाले नहीं हैं, प्रत्युत उसमें बाधा पहुंचाने वाले हैं। इस लिए ऐसे निमित्तों का आश्रय लेकर अधिक ठहना उचित नहीं।

जो साधु उक्त नियमों का पालन न करके आगम-विरुद्ध निवास करता है, वह मुनिधर्म को अमर्यादित करता है और अपने संयम में लांछन लगाता है। अतः चातुर्मास के अतिरिक्त गाँवों में एक २ दिन और शहरों में पाँच २ दिन तक अधिक से अधिक निवास करें। इस से अधिक निवास न करे।

(७) गृहस्थ के घर से बिना शास्त्रीय दोष के लौट आना

शास्त्रीय दोष देखे बिना गृहस्थ के घर से लौट आना उचित नहीं। जब मुनि गोचरी को जावे उस समय उसे शास्त्र के अनुकूल वृत्तिपरिसंख्यान करना चाहिए। सिद्धान्त की आज्ञा के विरुद्ध वृत्तिपरिसंख्यान धारण नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे धर्म की निन्दा होती है और मुनि-पद दूषित होता है। जो वृत्तिपरिसंख्यान आहार के लिए गमन करने के पूर्व आगम के व व्यवहार के अविरुद्ध समय की मर्यादा बांध कर धारण कर लिया उसको उसका काल बीतने पर ही बदलना चाहिए। अर्थात् जैसे एक दिन के लिए लिया हुआ वृत्ति-परिसंख्यान यदि पूरा न पड़े तो उसका उसी दिन परिवर्त्तन न करे। दूसरे दिन बदले।

वृत्तिपरिसंख्यान पूर्ण हो जाने पर बिना किसी दोष के गृहस्थ के घरसे लौट आना मुनिधर्म के विपरीत प्रवृत्ति है। जब गृहस्थ नवधा भक्ति पूर्वक निर्दोष आहार देता है, तब मुनि का धर्म है कि जैसा रूखा-सूखा, सरस-नीरस आहार उसके घरमें हो, या जैसा आहार वह दे रहा हो, यदि

मुनि के लिए त्याज्य न हो तो उसे अवश्य ग्रहण कर लेवे। आगमोक्त दोषों के अतिरिक्त मनमाना दोष लगाकर गृहस्थ के घरसे लौट जाना साधुओं का काम नहीं है। बिना कारण गृहस्थ के घरसे लौट जाने से गृहस्थ के चित्त मे भारी चोट पहुँचती है, उसका हृदय खिन्न हो जाता है और साधु की निन्दा होती है कि यह साधु स्वादु है, अनेक घरों में व्यर्थ भ्रमण करता है। पर इस उच्छृङ्खलता के जमाने मे अनेक साधु ऐसे भी देखे आते हैं जो गृहस्थों के घर जाकर थाली में भोजन परोसवा-परोसवा कर बिना कारण ही चार-चार पॉच पॉच चौकों से लौट आते हैं। क्या यह मुनिचर्या है ? कहॉ तो वे मासोपवासी मुनि जो एक मासके उपवासके पारणे मे भी कडुवी तुम्बी का आहार गृहस्थ के घर मिला उससे ही अपने उदर के खड्डे को भरकर तुरन्त तपस्या के लिए वन की ओर चल दिये। और कहाँ ऐसे साधु जो गृहस्थ के घर आहार की सब विधि मिल जाने पर भोजन परोसवा कर भी बिना कारण आहार छोडकर लौट जाते हैं और अपने मनोऽनुकूल भोजन जिस गृहस्थ के यहॉ मिलता है, उसके यहॉ भोजन करते हैं, ऐसे साधु वेष को लजाने वाले पुरुषों को धिक्कार है। सच्चे साधु को कभी ढोंग नहीं करना चाहिए।

(८) स्त्रियों के संपर्क से भय न खाना

साधुओं को सदा ही स्त्रियों के संपर्क से दूर रहना चाहिए और इस विषय मे पूर्ण सावधानी से काम लेना चाहिए। स्त्रियों के संपर्क से-उनको देखने, सामने बैठने आदि से भी कितने दोष उत्पन्न हो सकते हैं इसका वर्णन पहले किया जा चुका है साधुओं को उस स्थान में ठहरने की भी आज्ञा नहीं है, जहाँ स्त्रियों के चित्राम, तस्वीरें आदि हों। क्योंकि उनका स्मरण, चित्र आदि देखना भी ब्रह्मचर्य का बाधक है। तब प्रत्यक्ष सपर्क के के भयावह होने मे तो सन्देह ही क्या है ? पर इस विषय मे आज-कल के साधुओं को उतना सतर्क नहीं देखा जाता, जितना कि उन्हें होना चाहिए। यह भी एक महा दोष है। क्योंकि निमित्त बलवान होते हैं। अपने पतन के कारणभूत निमित्तों के मिलाने, या स्वयं मिल जाने पर उनसे न बचने में सयमी को कोई लाभ नहीं, बुराई ही बुराई है। स्त्री का सम्बन्ध पाकर माघनन्दी ऐसे सिद्धान्त के ज्ञाता, विशेष मनोबली, महा मुनियों का भी पतन हो गया तब आज-कल के अल्पज्ञानी, विशेष मनोबल-हीन साधारण मुनि उनका सपर्क पाकर कैसे दृढ़ रह सकते हैं ? कभी न कभी उनका पतन अवश्य हो सकता है। मनुष्य की ऐसी ही कमजोरी का ख्याल करके परम त्याग की मूर्ति, संसार से विरक्त, परम तपस्विनी, निरन्तर आत्म-भावना में तत्पर रहने वाली आर्यिकाओं को भी साधुओं से सात हाथ दूर रहकर वन्दना करने की आज्ञा दी गई है, जैसा कि मूलाचार का पहले उल्लेख किया जा चुका है। तब सामान्य गृहस्थ स्त्रियों की तो बात ही क्या है ? उनके लिए तो मुनियों के शरीर का स्पर्श करना, उनके पैर आदि को छूना भी स्वय निषिद्ध हो जाता है। तब इसका जो ध्यान नहीं रखते वे मुनि अवश्य दोषी हैं।

शङ्का—यदि आप स्त्रियों के लिए मुनियों के पादादि को छूने का भी निषेध करते हैं और इस विषय मे सतर्क न रहने वाले साधु को भी दूषित बताते हैं तब तो स्त्रियों के लिए मुनि को आहार देने का मार्ग ही बन्द हो जावेगा। क्योंकि मुनि को आहार-दान नवधा भक्ति पूर्वक होता है और नवधा-भक्ति में पाद-प्रक्षालन एक आवश्यक भक्ति है। यदि मुनि के शरीर के साथ स्त्री के हाथ का स्पर्श सर्वथा अनुचित है तब पाद-प्रक्षालन भक्ति कैसे होगी और इसके बिना आहार कैसे दिया जा सकेगा ?

समाधान—जिस प्रकार पुरुष मुनि को आहार देने का अधिकारी है उसी प्रकार स्त्री भी मुनि को आहार देने का अधिकार रखती है। अन्य दानों को तो केवल पुरुष भी कर सकता है, किन्तु आहार दान में तो स्त्री की प्रथम आवश्यकता है। क्योंकि भोजन बनाना आदि गृहकार्यों का भार स्त्री पर ही विशेष निर्भर होता है। विवाह के मुख्य उद्देश्यों में आहार दान भी एक मुख्य उद्देश्य है। इसलिए आहार-दान में स्त्री का सबसे प्रथम अधिकार है और मुनि को आहार-दान नवधा भक्ति पूर्वक ही होता है, यह भी आगमोक्त सिद्धान्त है। पर इन दोनों बातों के सत्य होते हुए भी इनमें विरोध न समझना चाहिए। क्योंकि पाद-प्रक्षालन भक्ति में स्त्री के हस्तादि के स्पर्श की आवश्यकता नहीं है। स्त्री मुनि के पाद-प्रक्षालन के लिए ऊपर से पावों पर जल-धारा डालकर पाद-प्रक्षालन कर दे। जैसा कि हरिवंश पुराण के पन्द्रहवें पर्व में वनमाला का कथन आया है।

प्रियवधूकरधारितसत्कनत्कनककर्करिकाजलधारया।
व्यपगतांशुकया वरभूभृता स्वकरधौतमकारि मुनेः पदम् ॥ ११ ॥

अर्थ—श्रीसुमुख महाराज की प्राण प्यारी वधू वनमाला के हाथ में धारण की हुई, जिसके ऊपर का ढका हुआ वस्त्र अलग कर दिया गया है ऐसी देदीप्यमान सुवर्ण की झारी से जलधारा गिराई गई और महाराज सुमुख ने अपने हाथ से वरधर्म मुनीश्वर के चरणों को धोया।

अर्थात् वनमाला ने मुनि की पाद-प्रक्षालन नामक भक्ति झारी से चरणों पर जल गिराकर की और सुमुख महाराजने मुनि चरणों को अपने हाथ से धोकर की। इससे स्पष्ट होता है कि महिलाएँ पाद-प्रक्षालन भक्ति चरणों पर जल-धारा गिराकर कर सकती है। उनको मुनिके अङ्ग का स्पर्श करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पुन. शङ्का—जहाँ पर स्त्री और पुरुष दोनों आहार देने वाले होंगे। वहाँ तो आपने कहा वैसा हो जायगा कि स्त्री ऊपर से जल डाल देगी और पुरुष अपने हाथ से मुनि के पैर धो देगा और इस तरह दोनों की ओर से पाद-प्रक्षालन भक्ति सपन्न हो जायगी। पर जहाँ दैव-योग से कोई पुरुष आहार देनेवाला नहीं है वहाँ अकेली स्त्री मुनि को आहार कैसे दे सकेगी ?

समाधान—जिस घर में केवल एक स्त्री ही हो, दूसरी स्त्री साथ में न हो और न कोई पुरुष ही हो तो वह अकेली स्त्री मुनि को आहार नहीं दे सकती, क्योंकि अकेली स्त्री का आहार देना वर्जित है। जैसा कि लिखा भी है—

चन्द्रगुप्तिस्तृतीयेऽह्नि प्रवन्द्य गुरुपङ्कजम्। ॥ २६ ॥
कायस्थित्यै चचालासौ तत्राप्येकाकिनीं स्त्रियम्।
विलोक्यायोग्यतां मत्वा विरराम ततो जवात् ॥ २७॥

गुरुमभ्येत्य वन्दित्वा पुनस्तद्वृत्तमालपत् ।
तदाकर्ण्य समाचष्टे दीक्षितं शंसयन् गुरुः ॥२८॥ (भद्रबाहु च० तृ० परि०)

अर्थ—'चन्द्रगुप्ति' मुनि तीसरे दिन गुरु के पाद-पद्म की वन्दना करके शरीर की स्थिति के निमित्त भिक्षा के लिए चले। दैवयोग से वहाँ पर अकेली स्त्री को पड़गाहन करते हुए देख कर आहार की अयोग्यता को समझ कर वहाँ से तत्काल लौट पड़े और गुरु के निकट जाकर वन्दना करने के पश्चात् उन्होंने गोचरी का सब वृत्तान्त गुरु से निवेदन कर दिया। उस वृत्तान्त को सुन कर गुरुजी शिष्य की प्रशसा करते हुए बोले"।

इससे स्पष्ट है कि यदि स्त्री अकेली हो तो मुनि उसके यहाँ आहार नहीं ले सकते; क्योंकि अकेली स्त्री आहार देने के अयोग्य है।

शंका—श्रावकों की तरह श्राविकाएँ भी मुनियों को आहार देने का अधिकार रखती हैं, पर आपने आर्यिकाओं को भी साधुओं से सात हाथ दूर रहने के लिए कहा है; तब श्राविकाएँ भी साधु को आहार देते समय यदि साधु से सात हाथ दूर रहेगी तो वे आहार कैसे दे सकेंगी ?

समाधान—श्राविका मुनि को आहार देते समय इतनी दूर रहे जिससे कि वह भोजन विनय-पूर्वक मुनि के कर-पात्र में रख सके। आहार देते समय भी उसे अपने हस्त आदि शरीर के अवयव का मुनि के शरीर से स्पर्श न होने देना चाहिए। आहार के अतिरिक्त समय में तो उसे मुनि से कम से कम उतनी दूर पर अवश्य रहना चाहिए, जितनी दूर पर परम वैराग्य की मूर्ति आर्यिकाएँ रहती हैं।

प्रश्न—शास्त्रों की कथाओं में अनेक ऐसे प्रसग पढ़ने में आते हैं जिनसे गृहस्थ स्त्रियों का भी मुनियों के शरीर को छू लेना अत्यन्त निषिद्ध नहीं सिद्ध होता और केवल स्त्रियों का नवधा-भक्ति करना भी प्रमाणित होता है। जैसे कि 'पद्मपुराण' में लिखा है:—

" अयोध्या नगरी मे एक अर्हद्दास सेठ रहता था। वह बड़ा ही धर्मात्मा था। एक दिन मथुरा में चातुर्मास करने वाले चारण-ऋद्धि के धारी एक मुनि अयोध्या मे आहार के लिए आये। सेठ ने उनको देखकर कहा कि अभी चातुर्मास में यह नये मुनि कहाँ से आये ? सेठ ने उनको भ्रष्ट समझ कर आहार नहीं दिया। किन्तु उनकी पुत्र-वधू ने उनका पड़गाहन करके आहार दे दिया। "

" सेठ बुद्धदास की धर्मपत्नी सुभद्रा के यहाँ अभयनन्दी मुनिराज आहार के लिए पधारे। तव उसने नवधा-भक्ति करके उन्हें आहार दिया। आहार देते समय उसको यह मालूम हुआ कि मुनिराज की आँखों में कोई पदार्थ गिर गया है जिससे उनको बहुत कष्ट है। यह विचार कर उस सेठानी ने अपनी जीभ से उनकी आँखों मे से वह पदार्थ निकाल दिया। उस समय सेठानी के शिर में हींगलू की बिन्दु लगी हुई थी। उसने जब मुनिराज की आंखों में से वह पदार्थ जिह्वा से निकाला तो वह हींगलू की बिन्दु मुनिराज के शिर मे भी लग गई, जिसको देखकर उसकी सासू के हृदय में उसके प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया। "

" एक बार राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया और रानी चेलना को आकर कहा। रानी मुनिराज

के पास गई और सर्प के कारण उनके शरीर पर उस समय जो हजारों चींटियाँ चढ़ गई थीं उनको उसने उतारा और हजारों मुनिराजों को आहार दिया।"

उत्तर—यह सब किसी विशेष अवसर पर किये गये कृत्य हैं—अपवाद-मार्ग की बातें हैं। ऐसी घटनाओं से स्त्रियों द्वारा मुनि के शरीर को स्पर्श करना राज-मार्ग नहीं माना जा सकता। नवधा-भक्ति करने का उनके लिए निषेध नहीं है, परन्तु वे मुनि के पैरों को न छू कर विनम्रता के साथ ऊँचे से पानी डाल कर मुनियों का पाद-प्रक्षालन करें—यही उचित एवं श्रेयस्कर है। मुनियों को इस सम्बन्ध में पूर्ण सावधान रहने की शिक्षा दी गई है। श्री इन्द्रनन्दी ने तो यहाँ तक कहा है—

न योषितः स्पृशेद्योगी काष्ठ-चित्र-कृता अपि।
किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ॥६४॥
चित्रस्थामपि संस्पृश्य योषितं नैव भुज्यते।
तस्मिन्नहनि भुंजेच्चेत् षष्ठं स्यात्पापनाशनम् ॥६५॥ (नीतिसार)

अर्थ—योगी काष्ठ, पत्थर, कागज आदि में बनी हुई स्त्रियों की अचेतन आकृति को भी न छुए; उन चेतन स्त्रियों के छूने की तो बात ही क्या, जिनके कि स्मरण मात्र से भी आपत्ति में फँसा जा सकता है। योगी चित्र की स्त्री से छू जाने पर भी उस दिन भोजन न करे और उस दिन भोजन कर ले तो उस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप आगे दो दिन का उपवास (बेला) करे।

अतः आहारादि किसी भी समय में स्त्रियों का मुनियों के शरीर को स्पर्श करना आदर्श कभी नहीं समझना चाहिए।

प्रश्न—यदि स्त्रियों से पैर धुलाने में आपत्ति है तो ऐसा ही मार्ग क्यों न चलाया जाय जिसमें उक्त अड़चन आवे ही नहीं। मुनि स्वयं ही अपने कमण्डलु के जल से चौके के बाहर उचित स्थान पर रास्ते की मिट्टी से दूषित अपने पैरों को धोकर चौके के निकट आहार देने योग्य प्रदेश में प्रवेश करें और वहाँ उच्च स्थान पर बिठाया जाने पर पाद-प्रक्षालनादि नवधा-भक्तियों की शेष क्रिया को पूर्ण करा लेवे। ऐसा करने पर उसके सामने भी कोई अड़चन न रहेगी और गृहस्थों को भी सुविधा हो जायगी। किसी गृहस्थ के घर पर स्थान की कमी के कारण पाद-प्रक्षालन-भक्ति करने का स्थान चौके के समीप ही होता है। वहाँ पर यदि बिना पैर धोये ही साधु चला जाता है तो वह स्थान आहार देने के योग्य नहीं रहता है और ऐसे समय में गृहस्थ को बड़े संकट का अनुभव होता है; इसलिए साधु को चाहिए कि वह चौके के बाहर अपने पैर आप ही धो लिया करे।

उत्तर—ऐसा करना ठीक नहीं। जब साधु आहार के लिए गृहस्थ के घर पर जाते हैं तब गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह दान देने के लिए

उनका उचित रीति से प्रतिग्रह करे [पड़गाहे] और ऐसे स्थान पर उनका उच्च आसन लगावे जो चौके से पृथक् हो, जहाँ तक बिना पाँव धोये सब जा सकते हों। वहाँ जाकर गृहस्थ स्वयं अपने पैर धोये और पश्चात् उनका पाद-प्रक्षालन करे। यही आगमोक्त मुनि को आहार देने की विधि है। मुनि को स्वयं अपने पैर धोने की आवश्यकता नही। यह कार्य तो गृहस्थों का है। यदि यह मुनि का कर्तव्य होता तो नवधा-भक्ति में पाद-प्रक्षालन क्रिया को कभी नहीं गिनाया जाता। यदि आहार लेने के लिए गया हुआ मुनि अपने पैर आप धोने लगे तो इससे उसके भोजन में गृद्धता—अधिक लम्पटता—प्रकट होती है। सिंह-वृत्ति नहीं दीखती। इसलिए मुनियों को अपने आप पैर धो लेने का मार्ग चलाना उचित नहीं। इस तरह करने पर तो धीरे-धीरे सभी भक्तियों मे कमी होने लगेगी और आर्ष-मार्ग ही बिगड़ जावेगा। अब रही उनके पैरों के लगी हुई रास्ते की धूल की अपने घरमें आने की बात, सो जो लोग संयमियों के चरणों की धूल से अपने घरको अपवित्र समझते हैं उनकी बुद्धि को धन्य है। मुनि सिद्ध-क्षेत्रों मे जहाँ जाकर ध्यान करने खड़े हो जाते हैं उस स्थान को बड़े-बड़े ऋद्धि धारी देव और चक्रवर्ति भी नमस्कार करते हैं और उस स्थान की धूलि को अपने माथे पर रखते हैं। तब फिर उसके सम्बन्ध में अपवित्रता का विचार करना जुगुप्सा कर्म का ही कार्य है। इसके बिना ऐसे विचार नहीं हो सकते। अपने कमण्डलु के पानी से स्वयं पैर धोकर चौके मे जाने में मुनियों के लिए एक कठिनाई यह भी आवेगी कि एक घरमें तो वे अपने पैरों को धोकर चौके में चले जावेंगे, पर वहाँ ही आहार की विधि के सम्पन्न हो जाने का तो निश्चय नहीं, यदि उनको दूसरे गृहस्थ के जाने की आवश्यकता हुई और उनके कमण्डलु में जल न रहा तो ऐसी स्थिति मे वे क्या करेंगे? उनके तो मौन रहेगी और बिना पैर धोये गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं कर सकेंगे तब वे या तो भोजन से वञ्चित रहें या भोजन के पहले पानी मांगें-इन दोनों कार्यों मे से कोई एक करना उनके लिए अनिवार्य होगा। पर विचारा जाय तो यह दोनों ही उचित नहीं। इसलिए पाद-प्रक्षालन गृहस्थ का ही कार्य है और वही उसे करे। स्त्रियों के लिए इस विषय मे जो कर्त्तव्य पहले बताया गया है वही उचित है।

प्रश्न—आपने स्त्रियों के स्पर्श का अत्यन्त निषेध किया सो तो ठीक, पर उनके साथ वार्तालाप में भी क्या हानि है?

उत्तर—साधु के लिए स्त्रियों का संपर्क ही बुरा है, वह चाहे किसी रूप में भी हो। इस विषय में पहले पर्याप्त लिखा जा चुका है। दूसरी बात यह है कि विशेष वार्तालापादि राग-भाव के बिना नहीं हो सकते और सच्चे साधुओं के रागादि भाव होते नहीं तब वे स्त्रियों के साथ वार्तालापादि क्यों करने लगे? यदि इस विषय में यह पूछा जाय कि किसी धार्मिक प्रश्न के पूछने पर भी मुनि स्त्रियों को उत्तर दें या नहीं तो इसका समाधान भी पहले किया जा चुका है। साधारण स्त्रियों की तो बात ही क्या, परम वैराग्य की मूर्ति युवती आर्यिकाएँ भी यदि किसी धार्मिक विषय की शङ्का का समाधान चाहती हैं तो वे उनको भी सीधा उत्तर नही देते। उनको लक्ष्य करके कोई बात नहीं कहते। उनके साथ जो वृद्धा गणिनी आर्यिका हो उसको लक्ष्य करके उत्तर देते है। आर्यिकाओं के साथ और धर्म-विषय के प्रश्नोत्तर के लिए भी इतना प्रतिबन्ध है, तब मुनि गृहस्थ स्त्रियों के साथ तो वार्तालाप कर ही कैसे सकते है? यदि कोई मुनि राग भाव के अधीन होकर इस विषय मे कदम बढ़ाता है तो वह कलङ्कित हुए बिना नही रहता। कहा भी है—

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥ १३ ॥ (ज्ञानार्णव सर्ग १४)

अर्थ—जिस के संसर्ग मात्र से भी मुनिपन कलङ्कित होता है, उसी स्त्री के साथ वार्तालाप करने से—उसके कुटिल कटाक्ष-सुन्दर विभ्रम-विलास देखने से क्या मुनिपन कलङ्कित नहीं होगा ? अवश्य होगा।

इसका आशय यह है कि स्त्रियों का सम्पर्कमात्र मुनि को कलङ्क युक्त कर देता है, मुनि के मन में विकार और लोक में अपवाद का कारण बन जाता है। तब जो मुनि उन शृङ्गारप्रिय, सुन्दर वेष-भूषासे अलङ्कृत स्त्रियों के साथ बात-चीत में आसक्त होते हैं वे कलंकित नहीं होंगे ? अवश्य होंगे।

महाकवि मल्लिषेण ने स्त्रियों के साथ गोष्ठी (बातचीत) करने वाले साधुओं को कितनी अच्छी शिक्षा दी है। वे कहते हैं—

दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतं भिक्षाटनाद्भोजनं
शय्या स्थण्डिलभूमिषु प्रतिदिनं कट्यां न ते कर्पटम् ।
मुण्डं मुण्डितमर्धदग्धशववत्त्वं दृश्यते भो जनैः
साधो ! ऽद्याप्यबलाजनस्य भवतो गोष्ठी कथं रोचते ॥ ७ ॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे साधो। दन्तधावन न करने से तेरे मुख से बुरी गन्ध आती है, स्नान न करने के कारण तेरा शरीर मैल से भरा है, तुझे गृहस्थ के घर भिक्षा से भोजन मिलता है, प्रतिदिन तू ककरीली पथरीली भूमि पर शयन करता है, कमर मे तेरे कौपीनमात्र फटा कपड़ा तक नहीं है अर्थात् तू नंगा है, केशलोच करने के कारण तेरा मुण्ड (सिर) मुडा हुआ है, इसलिए मनुष्यों की दृष्टि मे तू अधजले मुर्दे के समान प्रतीत होता है। इतने पर भी तुझे स्त्रियों के साथ वचनालाप करते कैसे रुचता है ?

अर्थात् जिसने उक्त वर्णन के अनुसार अपना स्वरूप वैराग्य मय बना लिया है, वह स्त्रियों के साथ बातचीत करते हुए कैसे नहीं लजाता ? । अरे साधो। अन्य वेषी साधु भी उनके साथ वार्त्तालाप करने में दोष समझता है, तब साक्षात् वैराग्य की प्रतिमा स्वरूप मुनि तो स्त्रियों के सम्पर्क और उनके साथ वचनालपन को उचित कैसे समझेगा ? वह तो निरन्तर शरीरादि से निर्ममत्व की भावना मे ही अपना कल्याण समझेगा और उसीमें लीन रहेगा।

प्रश्न—आपने स्त्रियों के सम्पर्क से बचने के लिए इतना जोर दिया है, उनके साथ वार्तालापादि करने का भी निषेध किया है। पर प्रायश्चित्त-शास्त्र मे तो दो स्त्रियों के मध्य सोने वाले साधु को भी कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया ? प्रायश्चित्त-समुचय मे देखिए —

मैथुने रात्रि-भुक्तौ च स्वस्थानं परिकीर्तितं ।
स्त्रियोः संघे प्रसुप्तस्य मनोरोधान्न दूषणम् ॥११७॥

अर्थात्—मन को वश में रखने के कारण स्त्रियों के मध्य मे सोये हुए साधु के कोई दूषण नहीं है, वह किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का पात्र नहीं है।

उत्तर—प्रायश्चित्त किसी प्रकार का दोष होने पर उस दोष की शुद्धि के लिए दिया जाता है। इस लिए स्त्रियों के संपर्क से मुनि को बचना चाहिए यह तो उचित है और यदि वह स्वयं इच्छा करके उनका संपर्क मिलाता है तो दोषी भी है, पर यदि कहीं ऐसा अवसर आजावे कि मुनि सोया हुआ है और दोनों तरफ़ स्त्रियाँ आकर सो गई हैं और मनोबल की विशिष्टता के कारण उस मुनि के मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ है तो उस संयमी को कोई प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए क्योंकि वह दूषित नहीं है, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों के मध्य जाकर सो जाने वाले साधु भी निन्द्य नहीं हैं। अपने पतन के कारणों को मिलाने वाले तो निन्द्य ही हैं, उनका पतन हुए विना नहीं रहता। क्योंकि सभी में मनोबल की विशिष्टता का होना असंभव है। स्त्रियों की प्रेम भरी दृष्टि ही कितने पतन का कारण है। श्री शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं :—

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः ।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥ (ज्ञानार्णव सर्ग १४)

अर्थ—जिस प्रकार वज्र से ताडित हुए पर्वत शीघ्र ही खंड-खंड होकर भूमिपर गिर जाते हैं, उसी प्रकार यौवन से मदोन्मत्त हुई स्त्री के कटाक्षों के प्रहार मात्र से अल्प ज्ञानी भी खंड-खंड हो जाते हैं।

अर्थात्—स्त्रियों के प्रेम भरे दर्शन से साधु अपने पथ से भ्रष्ट हो सकता है इस लिए साधु का स्त्री जनों की ओर देखना **भी** पतन का कारण है।

और भी कहा है :—

नवनीत-निभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्नि-संतप्तं सतामपि न संशयः ॥ ८ ॥ (ज्ञानार्णव सर्ग १४)

अर्थ—स्त्री रूपी अग्नि के संसर्ग को पाकर संतप्त हुआ सत् पुरुषों का भी मन मक्खन की तरह शीघ्र पिघल जाता है। अर्थात् स्त्री का संसर्ग सत्पुरुषों के चित्त को भी तत्काल विकारवान बना देता है। इसी लिए साधुओं को ऐसे एकान्त स्थान मे रहने के लिए कहा गया है जहाँ कि वे स्त्रियों के दर्शन आदि से सर्वथा बचे रहें।

योषापण्ढकगोविवर्जितपदे संतिष्ठ भिक्षो सदा,
भुक्त्वाहारमकारितं परगृहे लब्धं यथासम्भवम् ।
षड्धावश्यकसत्क्रियासु निरतो धर्मानुरागं वहन्,
सार्द्धं योगिभिरात्मभावनपरो रत्नत्रयालंकृतः ॥ ६ ॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे साधो । पराये घरमे तुम्हारे लिए नहीं बनाया हुआ दैवयोग से रूखा सूखा प्रासुक निर्दोष आहार जैसा भी मिलजावे, उसे खाकर सामायिक स्तवन वन्दनादि षट् आवश्यक सत्क्रियाओं में लीन होकर उत्तमक्षमादि दशधर्म में अनुरक्त होकर आत्मभावना में निमग्न होकर रत्नत्रय से भूषित हुए अन्य साधुओं के साथ सदा ऐसे स्थान मे ठहरो जो स्त्रियों से नपुसकों से और गाय आदि पशुओं से रहित हो ।

आचार्यों ने मनुष्य स्त्रियों से वर्जित स्थान मे ही नहीं, किन्तु मनोविकार उत्पन्न करने वाले नपुसक और गाय भैंस आदि तिर्यंच स्त्रियों के भी ससर्ग से रहित स्थान मे रहने का उपदेश दिया है । जो इस बात की परवाह न करके स्वेच्छाचारी बने हुए साधु-सघ को छोड़ कर अकेले ही इधर उधर घूमा करते है, स्त्री सपर्क से बचने का प्रयत्न नहीं करते उनके लिए भी उपदेश सुनिए—

एकाकी विहरत्यनास्थितबलीवर्दो यथा स्वेच्छया,
योषामध्यरतस्तथा त्वमपि भो त्यक्त्वात्मयूथं यते ।
तस्मिश्चेदभिलाषता न भवतः किं भ्राम्यसि प्रत्यहं,
मध्ये साधुजनस्य तिष्ठसि न किं कृत्वा सदाचारताम् ॥१६॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे मुने । जिस प्रकार खुला हुआ बैल या सांड स्वजातीय स्त्रियों अर्थात् गायों में आसक्त हुआ अपने यूथ (झुंड) को छोडकर स्वच्छन्दता पूर्वक इधर उधर अकेला जहाँ चाहता है वहाँ घूमा करता है, उसी प्रकार तू भी सघ को छोडकर अकेला जहाँ तहाँ घूमता फिरता है । यदि स्त्री आदि हेय पदार्थों में तेरी अभिलाषा नहीं है अर्थात् सयमसाधन करने मे ही तेरी अभिलाषा है तो तू प्रतिदिन अकेला क्यों घूमता (विहार करता) है । सदाचार का पालन करता हुआ तू साधुओं के मध्य क्यों नहीं टिकता ?

भावार्थ—आचार्य ने श्लोक के चौथे चरण से साधु के अकेले स्वच्छंद विहार करने के कारण का दिग्दर्शनमात्र कर दिया है । जो साधु मुनि के योग्य आगमोक्त आचरण का पालन नहीं करता है, जिसकी प्रवृत्ति निरकुश व स्वच्छद है वह गुरु की आज्ञा मे अथवा अन्य साधुओं के साथ मे न रह कर अकेला बैल के समान घूमना पसद करता है । जिसका आचरण निर्दोष आगमोक्त नहीं होता है, वही साधु सघ का त्याग कर

मुनिवेष को लजाता है। आत्म-हितैषी साधु तो किसी गुरु आदि के अंकुश में रहकर अपनी त्रुटियों को निकाल कर आत्मा को निर्मल बनाने में तत्पर रहता है और स्त्रियों को संयम-प्राण का नाश करने वाली राक्षसी समझता है। यही कहा भी है—

वेतालाकृतिमर्द्ध दग्धमृतकं दृष्ट्वा भवन्तं यने,
यासां नास्ति भयं त्वया सममहो जल्पन्ति तास्तत्पुनः।
राक्षस्यो भुवने भवन्ति वनिता मामागतं भक्षितुं,
मावैवं प्रपलाय्यतां मृतिभयात्त्वं तत्र मास्थाः क्षणम् ॥२२॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे मुने। तेरा आकार भूत के समान तथा अधजले मुर्दे के समान है, किन्तु उसे देख कर भी जिनको भय नहीं होता, बल्कि यह आश्चर्य है कि ऐसे रूपवाले भी तेरे साथ वे निःशङ्क वार्तालाप करती हैं; इस लिए उन्हें तू स्त्रियाँ मत समझ, वे तो राक्षसी हैं। वे तुझे भक्षण करने के लिए आई हैं, अतः तू मृत्यु के भय से उनसे दूर भाग और उनके निकट एक क्षण भी मत ठहर।

आचार्य का आशय यह है कि जो स्त्री साधु के मलीन शरीर को वैराग्य का साधन न समझकर उनके साथ इधर उधर की बात चीत करती है, साधु के समय का और अपने समय का दुरुपयोग करती है और यह नहीं समझती कि मैं अत्यन्त अनुचित व संयम का विनाश करनेवाला कार्य कर रही हूँ, उसे तुम हे साधो! राक्षसी के समान समझो। राक्षसी को लोक में प्राण हरण करने वाली मानते हैं, यह तो तुम्हारे चिर सञ्चित दुष्प्राप्य संयम-प्राणों का हरण करना चाहती है, इसलिए तुम इसे पास तक में मत फटकने दो। इससे सदा दूर रहो, ऐसा न हो कि किसी अवसर पर यह तुम्हारे संयम-प्राण चुरा कर चल दे। इससे डरकर ही तो तुमने घर-द्वार छोड़ा है, इसने यहाँ भी तुम्हारा पीछा न छोड़ा तो तुम्हारी रक्षा कौन कर सकेगा? अतः इसका संसर्ग तक मत होने दो। इसी में तुम्हारा भला है।

(९) मूलगुणों की उपेक्षा

मुनि के धर्म की रक्षा मूल गुणों से ही होती है, जो मुनि मूलगुणों का पालन करने में उपेक्षा करते हैं और उत्तर गुणों की ओर दौड़ते हैं वे मानो कल्पवृक्ष की जड़ को उखाड़ करके उसके पत्तों को सींचकर मनोवाञ्छित फल की कामना करते हैं? पर क्या इस तरह उनकी वासना सफल हो सकती है? कभी नहीं। इसके लिए पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका में कहा है—

मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं-
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः।

एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं,
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो नरो बुद्धिमान ॥४०॥

अर्थ—जिस समय योद्धा लोग रणांगण में विजय की लालसा की उमगों से भरे हुए गमन करते हैं, उस समय वे अपने साथ अनेक अस्त्र-शस्त्र सजाकर ले जाते हैं। अपनी रक्षा के उपायों से सुसज्जित हुए प्रतिक्षण सावधान रहते हैं। प्रतिपक्षी के अस्त्र-शस्त्र से अपनी रक्षा करने मे चौकन्ने रहते हैं। और शत्रु के प्रहार को बचा कर उस पर अपना प्रहार करने मे उत्सुक रहते हैं। परन्तु दैवयोग से यदि किसी योद्धा पर शत्रु के पक्ष की ओर से एक साथ दो शस्त्रों का प्रहार हुआ हो, उनमें से एक शस्त्र मस्तक का छेदन करनेवाला हो और दूसरा अगुलि के अग्रभाग का छेदन करनेवाला हो, उस समय यदि वह योद्धा शिरच्छेदन करनेवाले शस्त्र की उपेक्षा करके अगुलि के अग्रभाग के छेदन करनेवाले शस्त्र से अपने को बचाने का प्रयत्न करे तो उसके समान मूर्ख कौन होगा ? उसको उचित तो यह था कि वह सबसे प्रथम अपनी सब शक्ति का सग्रह कर शिर-छेदन करनेवाले शस्त्र के प्रहार को निष्फल बनाने का भरसक प्रयत्न करता, उससे बचने का पूर्ण प्रयत्न करता। इसी प्रकार जो साधु मोहनीय आदि अष्टकर्म रूपी जगद्विजयी योद्धाओं से संग्राम करने के लिए संसार रूपी रणभूमि मे उतरा है उसका क्या यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूजा प्रतिष्ठादि के लोभ मे आकर उत्तर गुणों के पालन का दिखावा करता रहे और मूलगुणों की रक्षा की चिन्ता न करे नहीं, उस का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह पहले मूलगुणों के पालन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगावे। मूल गुणों की रक्षा करने मे यदि उत्तर गुणों का पालन न हो सके तो उसकी परवा न कर पहले मूलगुणों की रक्षा करे। जब मूलगुणों के परिपूर्ण पालन करने की क्षमता हो जाय तब उत्तर गुणों के पालन करने में प्रवृत्ति करे। जो साधु मूलगुणों की तो रक्षा नहीं करता है, अर्थात् मूलगुणों में दोष लगाता है। जिनका कि पालन करना उसके साधु होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जिनके बिना साधुपन एक क्षण भर भी नहीं टिक सकता, उनका तो निरन्तर घात करता है। और अपनी पूजा प्रतिष्ठा करवाने के लिए उत्तर गुणों के पालन का ढोंग करता है, वह ऊपर कहे हुए उस मूर्ख के समान है जो अपने प्राण-घातक शस्त्र से तो अपने को नहीं बचाता है और अङ्गुलि के अग्रभाग को हानि पहुँचाने वाले शस्त्रसे बचने के लिए ही सम्पूर्ण शक्ति को लगा देता है।

इसका आशय यह है कि मुनि को मूलगुणों की परिपूर्ण पालना करनी चाहिए। मूलगुणों की रक्षा करते हुए यदि उत्तर गुणों की आराधना हो सके तो उनकी आराधना (सेवन) करनी चाहिए। किन्तु मूलगुणों की विराधना करके उत्तर गुणों के पालन करने का ढोंग करना अपने साधुपने का नाश करने का उद्योग करना है। जिसके अठाईस मूलगुणों में से किसी एक भी गुण के पालन में कमी रहती है, वह साधु नहीं कहा जाता, उसे आगम मे भ्रष्ट साधु या पाखण्डी साधु माना है।

(१०) अज्ञान-युक्त आरम्भ

हे मुनियों! आपने सदा के लिए समस्त प्रकार के आरम्भ का नव कोटि से त्याग किया है। आरम्भ का त्याग तो श्रावक की दशवीं प्रतिमा मे ही हो जाता है। आप महाव्रती है, क्या आरभ का कार्य आप के धर्म व पद के अनुकूल है ? कदापि नही। अत आरम्भ से सर्वथा दूर रहो।

कभी कभी साधु अपनी वसतिका मे नौकरों के द्वारा अंगीठियों पर पानी गर्म करवाते हैं। यह कितना अनुचित है। बिना छने एक बिन्दु जल में असंख्यत्रस जीव होते हैं यदि वह छान लिया जावे तो भी उस मे से बड़े त्रस जीव ही निकलते है किन्तु छोटे त्रस जीव और जिनका जल ही शरीर है ऐसे जल कायिक जीव तो उसमें रहते ही हैं। उस जल को गर्म करने से उनका घात होता है, तथा अग्नि के सम्बन्ध मे अनेक त्रस जीवों की तथा वायुकायिक आदि स्थावर जीवों की हिंसा होती है। उस हिंसा का भागी कौन होता है ? क्या उक्त कार्य कराने वाला साधु उस हिंसा से वच सकता है ? यद्यपि उसने काय से नहीं किया, स्पष्ट वचन से भी नहीं कहा, तथापि मन से कारित व अनुमोदना जन्य दोष (पाप) तो उसने अवश्य किया। जैसे किसी सेठ के अभिप्राय को समझकर नौकर उसके लिए आहारादि क्रिया करता है, और उसका सेवन वे सेठ साहब करते हैं तो क्या उस आरंभजन्य पाप से उनको अलिप्त कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। उसी तरह मुनि भी अपने निमित्त उक्त आरभ से अपने को जल कमलवत् अलिप्त कैसे कह सकते हैं ? अब जरा सोचा जाय कि ऐसे मुनि के अहिंसा महाव्रत सुरक्षित कहाँ है. यह तो जड़ से ही उखडकर वायुमण्डल में अदृश्य हो गया। सब महाव्रतों में प्रधान अहिंसा महाव्रत है, उसका ही पता नहीं तो शेष का क्या हाल होगा ? 'मूल नास्ति कुतः शाखा'। जब जड़ ही नहीं तो शाखाएं कहाँ ठहरेंगी। इसलिये हे मुनियो। अपने धर्म का मूलोच्छेद करने वाले गृहस्थ के योग्य कार्यों का सर्वथा त्याग करो।

श्रावक के घर से निर्दोष प्रासुक जल तुम कमण्डलु में छात्रों या श्रावक आपके लिए आवश्यक समझकर यथा समय भर दें, वही प्रासुक जल आपके लिए निर्दोष है। उसी का शुद्धि के लिए उपयोग करो। जितना अधिक अनावश्यक जल का उपयोग करोगे, अर्थात् एक कमण्डलु जल की जगह चार चार कमण्डलु जल बहाओगे तो सोचो ! उक्त आरभजन्य हिंसा से कभी नहीं बच सकोगे। क्योंकि जो आपको गर्म जल मिला है वह उक्त आरंभ-क्रिया के बिना सिद्ध नहीं हुआ है। थोड़ा जल तो गृहस्थ के घर अनायास मिल सकता है, लेकिन एक साधु के लिए चार चार कमण्डलु जल अनायास कैसे उपलब्ध हो सकता है। पुरातन काल मे जब सहस्र व लक्ष मुनिराज विहार करते थे, तब वे यदि इतना जल उपयोग में लाते होते तो उतना जल उन्हें कहाँ से उपलब्ध होता ? अतः मुनियों को अनावश्यक अधिक जल का व्यर्थ उपयोग न करना ही उचित है।

प्रश्न—मुनियों के कमण्डलु में यदि जल नहीं हो और शौचादि के लिए जल की जरूरत हो तो वे क्या करें ?

उत्तर—यदि कमण्डलु में जल नहीं रहे और शौचादि क्रिया के लिए मुनियों को जल की आवश्यकता हो तो बहती हुई नदी, तालाब, नीझरना आदि से जल लेसकते हैं। शौचादि क्रिया से निवृत्त होजाने के बाद तत्काल ही कमण्डलु को खाली करदे। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने आदत्तादान के प्रकरण में श्लोकवार्तिक में इस प्रकार कहा है—

तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकम् ॥२॥

भस्मादिर्वा स्वयं मुक्तं पिच्छातुम्बफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥३॥

अर्थ—नदी, नीझरना आदि का जल, सूखे गोवर का टुकडा या भस्म अपने आप छोड़े हुए मोर के पंख और सूखी तूमडी आदि प्रासुक वस्तुओं को लेने मे मुनि को अदत्तादान का दोष नहीं लगता। क्योंकि उसके प्रमाद का योग नहीं है और इन पदार्थों पर किसी का अधिकार भी नहीं है।

शंका—जहाँ पर उक्त वस्तुएं प्राप्त न हों और सयमी को दीर्घशंका आदि की तीव्र बाधा हो तब जल कैसे और कहाँ से लावे ?

उत्तर—यद्यपि सिद्धान्तों में साधु के लिए विना जरूरत असमय में ग्राम में जाने का निषेध है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर शहर या ग्राम में जाने की आज्ञा भी दी गई है। अत जब कमण्डलु में जल न हो तब सयमी शहर या ग्राम मे जाकर जल माँग लावे।

शंका—मुनि लोग जब इस प्रकार ग्रामादि में जाकर जल मांग लावेंगे तो उनकी अयाचना वृत्ति में हीनता न आवेगी ?

उत्तर—कदापि नहीं। वीरता में हीनता तो तब आवे जब वे गृहस्थों से इस प्रकार कहें कि भाई! मुझे थोड़ा जल देदो और फिर भी गृहस्थ नहीं दे। किन्तु ऐसा तो है नहीं। वे तो सिंह-वृत्ति से आचार्यों की आज्ञानुसार सिद्धान्त मे वर्णित विधान को खयाल में रखते हुए अपनी चर्या करते हैं। जब वे जल लेने के लिए श्रावकों के घरों की तरफ विहार करते हैं तब पिच्छिका को तो काँख में रखते हैं और कमण्डलु को खोल कर एक हाथ मे कमण्डलु और दूसरे में उसका ढक्कन रखते हैं। गृहस्थ लोग यह देख कर स्वय विचार लेते हैं कि मुनि के कमण्डलु में जल नहीं है और इनको जल की आवश्यकता है अन्यथा यह खुला क्यों होता ? ऐसा विचार कर स्वय गृहस्थ यह आवाज लगाते हैं कि स्वामिन्! जल तैयार है। यह सुन कर मुनि वहाँ खडे होजाते हैं और गृहस्थ जल लाकर कमण्डलु को धोकर उसमें प्रासुक जल भर कर मुनि को सोंप देते हैं और मुनि उसे लेकर चले जाते हैं। इस प्रकार ग्राम या नगर में जाकर जल लाने की विधि शास्त्रानुकूल है।

शंका—यदि मुनिराज को फिर भी जल की आवश्यकता हो तो क्या इसी प्रकार वार वार नगर या ग्राम में जावेंगे ?

उत्तर—जब गृहस्थों को ज्ञात होजाता है कि महाराज को शौचादि क्रिया के लिये लिए वार २ जल की आवश्यकता है तब स्वयं गृहस्थ ही प्रासुक जल का प्रवन्ध कर देते हैं। इसके लिए वार वार उनको गृहस्थों के घर पर जाने की जरूरत नहीं होती।

(११) चातुर्मास्य स्वीकृति

श्रद्धालु भक्तिमान् श्रावक चातुर्मास्य के प्रारम्भ के पूर्व चातुर्मास्य की प्रार्थना करने के लिए साधुओं के निकट आवें तो उनका कर्त्तव्य है कि उन धर्मबुद्धि श्रावकों को मधुर वचनों से समझा देवें कि साधुओं का मार्ग चातुर्मास्य का निमन्त्रण मानने का नहीं है। यदि वे भी निमन्त्रण स्वीकार करने लगेंगे तो गृहस्थ मे और उनमे क्या अन्तर रहेगा ? वे तो अतिथि हैं जिनके विहार की कोई तिथि नियत नहीं होती। अतर्कित

तिथि में ही उनका गमनागमन होता है। यदि वे धर्म के अनुराग से निमन्त्रण मान लें और उस निमन्त्रण के पालन करने में दैवयोग से कोई अन्तराय उपस्थित हो जावे और वे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर सकें तो उनके वचन मे असत्यता का दूषण आवेगा और इससे उनके सत्य महाव्रत का नाश होगा, अविश्वास के वे पात्र बन जावेंगे। और दूषण यह है कि निश्चित स्वीकृति दे देने से उनके वहाँ पहुँचने का संकल्प-विकल्प लगा रहेगा और परतन्त्रता सी आ जावेगी, जो मुनि वृत्तिके सर्वथा विरुद्ध है। अतः मुनि को कहीं भी निश्चित समय पर पहुँचने की स्वीकारता कदापि नहीं देनी चाहिए।

चातुर्मास्य के विषय में यह भी स्मरणीय है कि—जिस ग्राम या नगर में मुनि वर्षायोग (चातुर्मास्य) स्थापन करें, वहाँ के श्रावक जनों के साथ सरल और मृदु व्यवहार रखें। उन पर किसी प्रकार का दबाव न डालें। मुनि के चातुर्मास्य का फल धर्म की जागृति और शान्तिका वातावरण स्थापित करना होना चाहिए। ऐसा न हो कि मुनि के चातुर्मास्य से लोगों पर आफत का पहाड़ आ गिरे। मुनि के चातुर्मास्य को लोग अपने लिए इतना प्रिय और हितकर अनुभव करें जितना कि चकवा चन्द्रोदय को, कमल सूर्य को और मयूर मेघोदय को अनुभव करता है।

प्रश्न—पहले से आगमन की स्वीकृति देना तो खैर ठीक नहीं, पर मुनियों के आने-जाने के समय गृहस्थ लोग गाजे बाजे आदि का आयोजन करें तो इसमें क्या दोष है?

उत्तर—पहले यह कहा जा चुका है कि मुनि तो अतिथि हैं, अतः वे कब आते हैं और कब जाते हैं इसकी सूचना पहले से किसी को क्यों हो? उनके आने-जाने के समय गाजे-बाजे एवं हाथी-घोडे आदि लवाजमे का आयोजन करना भी सर्वथा अनुचित है। गृहस्थ इस वैभव का सम्बन्ध जुटा कर उन्हें क्या दिखलाना चाहते हैं? जो संसार के सभी प्रकार के वैभव से विरक्त हैं—उनके लिए ऐसी चीजें शोभा नही देतीं। यह वीतरागता में सरागता का सम्मिश्रण सचमुच ही उपहास-जनक प्रतीत होता है। जन-साधारण के हृदय पर ऐसे आयोजन का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता; क्योंकि राग-रङ्ग एव ऐश्वर्य का सम्बन्ध वीतरागता के सर्वथा प्रतिकूल है, इससे कोई धर्म-प्रभावना भी नहीं होती। मुनि का तो अकस्मात् आना और अकस्मात् चला जाना ही प्रभाव-जनक है। इसी से जैनेतरों के हृदय पर उनकी वीतरागता और साधुता का प्रभाव पड़ सकता है। जैन-साधु में जितनी अधिक वीतरागता और निवृत्ति परकता व्यावहारिक रूप में दृष्टिगोचर होगी, उतनी ही अधिक वह धर्म-प्रभावना का कारण बनेगी। अतः वैभव को लात मारने वाले साधु के लिए फिर वैभवों का उपयोग किया जाय—यह किसी भी तरह संगत नही है। ऐसी बातें देखकर दुनियाँ यही कहेगी कि यह केवल वीतरागता का प्रदर्शन है, उसकी यथार्थ प्राप्ति नही है। इसलिए मुनियों का कर्तव्य है कि गृहस्थों का आग्रह हो तो भी वे ऐसे आयोजनों का कभी उपयोग न करें। यह गृहस्थ लोगों के अविवेक-पूर्ण कार्य हैं, यदि गृहस्थ लोग मुनियों के लिए कोई अविवेक पूर्ण कार्य करें तो मुनियों का कर्त्तव्य है कि वे उसका निषेध करें और उनको मुनिपद के विरुद्ध कार्यों को समझा दें। श्रद्धालु श्रावक मुनियों के समझाने पर मुनियों के धर्मका विध्वंस करनेवाले कार्यों को कदापि नहीं कर सकते। यह कार्य तो तभी होते हैं, जब कि मुनि उनका निषेध नहीं करते। इसलिए मुनियों को ध्यान रहे कि वे धर्म प्रभावना के कार्य भी ऐसे ही करें, जिनसे आरम्भादि सावद्य कार्य और लोकनिन्दा न हो।

प्रश्न—अच्छा, यह भी बता दीजिए कि गृहस्थ यदि धर्म-प्रभावना के लिए उत्सव आदि करें तो मुनि उसमें सम्मिलित हों या नही?

उत्तर—मुनियों के सम्मिलित होने का क्या तात्पर्य है ? स्पष्टतया कहिए।

प्रश्न—रथयात्रा आदि धार्मिक उत्सवों मे जलूस के साथ-साथ मुनियों को जाना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—कभी नहीं। उन्हे इन धर्म-प्रभावना के अङ्गों से क्या लेना-देना है ? गृहस्थों के लिए उनका काम तो केवल धर्मोपदेश देना है। सैकड़ों हजारों जन-समुदाय के बीच इस प्रकार उनका जाना कैसे उचित हो सकता है ? गृहस्थों द्वारा की गई धर्म-प्रभावना से वे बहुत ऊपर उठे हुए हैं। उनको ऐसे नीचे धरातल पर आना किसी तरह भी ठीक नहीं। जिनके लिए शुभोपयोग भी एक अपराध माना गया है, वे ऐसे जल-यात्रा, रथ-यात्रा आदि उत्सवों में कैसे शामिल होंगे ?

प्रश्न—अच्छा, यदि उनके समागम के अवसर पर उनकी प्रेरणा के बिना ही कोई उत्सव आदि का आयोजन किया जाय तो आप इसे कैसा समझते हैं ?

उत्तर—मुनियों के चातुर्मास्य की समाप्ति पर आजकल बहुधा उत्सव हुआ करते हैं। उन्हीं उत्सवों के सम्बन्ध मे शायद आपका प्रश्न है। अपनी प्रेरणा या संकेत के बिना किये गये ऐसे उत्सवों के सम्बन्ध मे मुनियों का कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता। मुनियों की उपस्थिति मे गृहस्थ लोग कोई उत्सव करें तो उसको मुनियों के निमित्त किया गया क्यों माना जाय ? ऐसे अवसरों पर लोग मुनियों की इच्छा न होने पर और कभी-कभी उनके मना करने पर भी इसलिए उत्सव करना उचित समझते हैं कि मुनियों की उपस्थिति के कारण ऐसे उत्सवों मे अधिक सफलता मिलती है और अधिकाधिक जन-समुदाय उनसे लाभ उठाते हैं। ऐसे उत्सवों में मुनि आते-जाते हैं, धर्मोपदेश देते हैं और उसके विधि-विधानों को भी देखते हैं, इसमें कोई हानि नहीं प्रतीत होती। हाँ, यदि स्वयं मुनि के ऐसा कोई आयोजन कराने के भाव हों तब बात दूसरी है। वह अनुचित होगी।

प्रश्न—अच्छा, यदि स्वय समागम न मिला हो तो मुनि जान-बूझ कर पञ्चकल्याणक महोत्सव, वेदी प्रतिष्ठा उत्सव और मंडल-विधान आदि उत्सवों में सम्मिलित होने जावें या नहीं ?

उत्तर—मुनियों को इन उत्सवों में जान-बूझकर कभी शामिल नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह सब गृहस्थों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य हैं। संयमी मुनि पाँचों पापों के सर्वथा त्यागी होते हैं, वे ऐसे किसी भी कार्य मे सम्मिलित नहीं होते, जो उनके महाव्रतों मे दोष लगाने वाला हो। इन कार्यों से धर्म की प्रभावना होती है—यह ठीक है, किन्तु मुनि तो रत्नत्रय के तेज से ही अपनी आत्मा को प्रभावान्वित करते हैं। उनकी रत्नत्रयमय प्रवृत्ति को देखकर दूसरे लोगों पर जो प्रभाव पडता है वह प्रभाव गृहस्थों द्वारा किये गये हजारों उत्सवों से भी अधिक है।

"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाद् शेषं अभ्यागतं विदुः ॥"

इस श्लोक में जो पर्व और उत्सव शब्द आया है वह स्पष्ट बतलाता है कि मुनि लोग पर्व और उत्सवों का भी परित्याग कर देते हैं। इसलिए किसी भी पर्व का आधार लेकर जो उत्सव किया जाता है अथवा किसी विशेष विधान के लिए जो मेले आदि होते हैं उनमें मुनियों को कभी शामिल नहीं होना चाहिए। जैन मुनियों को अपनी दिगम्बरता का ख्याल रखना चाहिए। पूजनोत्सवादि क्रियाओं के सम्बन्ध में देखिए आचार्य पात्रकेसरी क्या कहते हैं:—

विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडना-हेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन न देशिताः किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥३७॥ (पात्र० स्तोत्र)

अर्थात् अनेक तरह के प्राणियों की हिंसा और पीड़ा के कारण ऐसी जिन प्रतिमाएँ बनवाना, दान देना, पूजा करना आदि क्रियाओं का उपदेश, समस्त पदार्थों के प्रकाशक देदीप्यमान केवलज्ञान के धारण करने वाले आपने नहीं दिया, किन्तु आप में अतिशय भक्ति रखने वाले श्रावकों ने विमोक्ष सुख के लिए यह क्रियाएँ अपने आप निर्माण करली हैं।

इससे यही अर्थ निकलता है कि उत्सवादि सब क्रियाएं केवल श्रावकों के लिए ही उपयोगी है—

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भी प्रवचनसार में लिखा है:—

दंसणणाणुवदेशो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरायाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश करना, शिष्यों का सग्रह करना और उनका पोषण करना, और जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागियों की क्रियाएँ हैं।

इससे स्पष्ट है कि भगवान की पूजा का उपदेश भी सरागता है तब वीतराग मुनि उक्त प्रकार के उत्सवों में शामिल हों तो क्या सराग होने के कारण उनसे शुभोपयोग रूप अपराध नहीं बन पड़ेगा ?

प्रायश्चित्त ग्रन्थों से जाना जाता है कि पूजा के आरभ का उपदेश भी अपराध है और उसका प्रायश्चित्त लिया जाता है।

प्रायश्चित्त चूलिका में लिखा है:—

जानानस्यापि सशुद्धिः सकृच्चासकृदेव च ।
सोपस्थानं हि कल्याण मासिकं मूलमानधे ॥ ७८ ॥ (प्रायश्चित्त-चूलिका)

जो मुनि पूजारभ से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानता हो वह यदि पूजा के आरंभ का एकवार उपदेश दे तो उसके उस अपराध की शुद्धि प्रतिक्रमण सहित कल्याण है। यदि वह वार-वार ऐसा उपदेश दे तो उसकी मासिक पचकल्याण से शुद्धि होती है। जिस पूजोपदेश के देने से छह कायके जीवों का वध होना सभव हो उसका उपदेश देने से पुनर्दीक्षा का दण्ड ही प्रायश्चित्त है। तभी उसकी शुद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

जव पूजा का उपदेश देना भी अपराध है और ऐसे अपराध का प्रायश्चित्त-ग्रन्थों में प्रायश्चित्त विधान भी है तव गृहस्थों द्वारा किये गये किसी भी प्रवृत्ति-प्रधान धार्मिक उत्सव में भी मुनि यदि शरीक हों तो क्या उनका यह काम प्रायश्चित योग्य नहीं होगा ? जान वूझ कर कोई प्रायश्चित्त योग्य कार्य करे तो यह कहना होगा कि वह अपने कर्तव्य से गिर रहा है। इस लिए मुनियों को किसी भी प्रकार के उत्सव में शामिल होने की इच्छा या प्रयत्न न करके अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी वनाना चाहिए, एक आत्म-ध्यान से ही विशेप प्रयोजन रखना चाहिए।

इसी प्रकार और भी अनेक कार्य वे चाहे कितने ही पुण्यवन्ध और प्रभावना के हों, यदि उनमें आरम्भ और हिंसा का लेश भी हो तो वे मुनियों के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। जो मुनि मान-प्रतिष्ठा आदि के आशय से किसी भी धार्मिक सस्था या मन्दिर आदि की नीव लगाने चले जाते हैं या ऐसे अवसरों पर वहाँ जाकर अगुना वनते हैं वे सरासर गल्ती करते हैं। अष्टम प्रतिमाधारी गृहस्थ भी जव नव कोटि से आरम्भ का त्यागी होता है तव मुनि के लिए ऐसे कार्यों मे शामिल होना तो उचित हो ही कैसे सकता है ?

(१२) भिक्षा-भोजन के पश्चात् दान करवाना

आज कल आहार होने पर प्राय देखा जाता है कि कतिपय साधु आहार-दाता श्रावक से द्रव्य दान करवाते हैं। यह प्रवृत्ति दिगम्बर मुनियों के पद के विरुद्ध और धर्म का ह्रास करने वाली है। मुनियों की भिक्षा को गोचरी कहा है। जैसे गौ वन मे चरने जाती है तो ऊपर-ऊपर से रूखा-सूखा घास चर कर अपना उदर भर लेती है, किसी को कष्ट नहीं देती। तथा मुनि-भिक्षा को 'भ्रामरी' वृत्ति भी कहा है। जैसे भौंरा पुष्पों से गन्ध ग्रहण करता है, किन्तु पुष्पों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता; वैसे ही मुनि भी गृहस्थ के घर रूखा-सूखा निर्दोष प्रासुक जैसा भी आहार मिल जाता है, उससे अपना उदर-गर्त्त भर कर अपने ध्यान की सिद्धि के लिए वनमे चले जाते हैं। गृहस्थ पर किसी प्रकार का भार नहीं लादते। आगम मे ऐसा कहीं पर भी देखने मे नहीं आया कि मुनियों ने आहार के अन्त में गृहस्थ से द्रव्य का दान करवाया हो। इससे मुनियों पर गृहस्थों की श्रद्धा घटती है और दूसरे आहार-दाताओं को आहार-दान करते सकोच होता है। वे वेचारे मुनि आहार-दान के पुण्य से वचित रह जाते हैं। मुनियों का उचित समय पर उपदेश करने का कर्तव्य है, किन्तु आहार हो जाने पर द्रव्य-दान करवाने की प्रवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है, इसका सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

किसी संस्था से जिस साधु का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध जुड़ा होता है, वही प्रायः आहारादि के अवसर पर गृहस्थों से द्रव्य-दान करवाता है और वह सम्पूर्ण द्रव्य या उसका अधिक भाग उसी संस्था में भेजने का आदेश देता है। यह द्रव्य का सम्बन्ध मोह को इतना बढ़ाता है कि मुनि अपने चारित्र से गिर जाते हैं। इसलिए हे मुनियो! इस द्रव्य-दान को आत्म-पतनकारक समझ कर ऐसी प्रवृत्ति का दूर से ही त्याग करो। इसी से धार्मिक जैन समाज का और तुम्हारा कल्याण है।

(१३) संस्थाओं के साथ सम्बन्ध

आचार्य को मुनि-संस्था (मुनि-संघ) का नेतृत्व करना पड़ता है। उसका उद्देश्य यह है कि जिन पवित्र आत्माओं ने भीषण भव-भ्रमणके कष्टों से ऊब कर शान्ति की इच्छासे मुनि-व्रत धारण किया है, या जो देश-व्रतका पालन करना चाहते हैं, उनको वे शान्ति के मार्ग-सम्यक्-चारित्र-पथ पर चलावें और उस पर चलते हुए उनके मार्ग मे अनेक अतिचार रूप कंटक आ जावें तो उनका शोधन कर उनके मार्ग को अक्षुण्ण बनाये रखें तथा अपनी आत्मा को भी चारित्र-पथ पर आरूढ़ रखें। इसके अतिरिक्त अन्य किसी संस्था से किसी भी प्रकार का आत्मीय सम्बन्ध रखना उनके लिए अनिष्ट है। यद्यपि विद्यालय, अनाथालय, ब्रह्मचर्याश्रम आदि संस्थाएँ धर्म सम्बन्धी हैं, तथापि वे द्रव्यादि साधनों की भित्ति पर आश्रित रहती हैं। मुनीश्वर समस्त (१४ प्रकार के अन्तरङ्ग और १० प्रकार के बाह्य) परिग्रह के त्यागी होते हैं। यदि वे उनसे सम्बन्ध रखें तो उनके चित्त में रात-दिन उन संस्थाओं के लिए द्रव्यादि की चिन्ता बनी रहेगी। इस चिन्ता पिशाचिनी से भयभीत होकर ही तो उन्होंने वन का मार्ग लिया और वहाँ पर भी उन्होंने उसे निमन्त्रण देकर बुला लिया तो उनके गृह-त्याग का क्या फल हुआ? मुनि-पद में रह कर गृहस्थ के योग्य कार्य करना मुनि-धर्म को दूषित करना है। अत. यह कार्य मुनि के लिए सर्वथा अयोग्य है। द्रव्यादि का सम्बन्ध आत्मा में मोह का जनक है और मोह आत्मा का शत्रु है, इसलिए मोह के जनक कार्यों से सम्बन्ध रखना अपनी आत्मा को मोह-शत्रु के अधीन बनाना है। यह समझ कर जिन कार्यों से द्रव्य (रुपये-पैसे) का सम्बन्ध है, उन कार्यों से मुनियों को सदा दूर रहना चाहिए। जिस द्रव्य (रुपये-पैसे आदि) के छूते मात्र से मुनि को कलङ्कित बताया गया है, उसका अपने साथ साक्षात् या अपने संघ के किसी व्यक्ति के द्वारा अपना सम्बन्ध रखने से क्या मुनि-पद नष्ट नहीं होता? अवश्य नष्ट होता है। इसलिए रुपये-पैसे से सम्बन्ध रखने वाला मुनि नहीं होता, वह श्रावक से भी हीन और पतित बन जाता है। व्यवहार में भी कहते हैं कि 'गृहस्थ कौड़ी बिन कौड़ी का और साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का।' साधु तो वही होता है जिसके पास तिल-तुष-मात्र भी परिग्रह नहीं होता, फिर परिग्रह रखने वाला कैसे मुनि हो सकता है? किन्तु क्या करें।

फूटी आँख विवेक की, सूझ पड़े नहिं पन्थ।
ऊंट बलध लादत फिरैं, तिनसों कहत महन्त ॥

यदि कोई अत्यन्त आवश्यक धर्म कार्य व ज्ञानवृद्धि का कार्य करवाना हो तो वह कार्य किसी गृहस्थ को सौंप देना चाहिए। उसका भार अपने पर रखना परिग्रह का धारण करना ही है। जब दि० मुनि ही परिग्रह रखने लग जायें, तब अन्य धर्मों से इस में क्या अन्तर रहा?

जो लोग मुनिवेष धारण करके भी सन्दूक आदि रखते हैं और उनमें कुछ रखकर ताला कुंजी लगाते हैं वे मुनि नहीं, पाखण्डी और भ्रष्टाचारी हैं। मुनियों के पास पुस्तक, कमण्डलु और पिच्छी के सिवा कुछ नहीं हो सकता। और उन्हें रखने के लिए भी सन्दूक आदि की कोई आवश्यकता नहीं।

(१४) शास्त्र-संग्रह

साधुओं को स्वाध्यायके लिए शास्त्रों की आवश्यकता होती है। परन्तु उनको एतदर्थ भी शास्त्रों का संग्रह नहीं करना चाहिए। जहाँ शास्त्रों के पाने की सुविधा हो वहाँ ही वे उनका उपयोग करें। हाँ, उनके संग में यदि कोई अन्य यति हों वे जरूर शास्त्र रख सकते हैं और मुनि भी उनका उपयोग कर सकते हैं। शास्त्रों का संग्रह करना भी एक प्रकार का परिग्रह है, क्योंकि उनसे भी आसक्ति अथवा मूर्च्छा उत्पन्न हो सकती है। अतः विहार में जहाँ-जहाँ स्थिति हो वहाँ वहाँ, ग्रन्थ मिल सकें तब व्यर्थ परिग्रह बढ़ाने से क्या लाभ? ज्यादा ग्रन्थ रखने से उनकी नित्य प्रति प्रतिलेखना करनी पड़ती है और उनकी सुरक्षा आदि की चिन्ता रहती है। जहाँ पर ऐसे बाह्य पदार्थों में मानसिक-विकल्प रहते हैं, वहाँ ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए आत्म-ध्यान की सिद्धि के लिए, आत्मा से निरापद व निराकुल स्थिति के लिए यह आवश्यक है कि किसी प्रकार की बाह्य वस्तुका सम्बन्ध आत्माके साथ न हो। बाह्य भार को लघु बनने के लिए ही गृहस्थावस्था के स्त्री, पुत्र, धनादि का त्याग कर मुनि अवस्था धारण की, और यदि वैसा ही भार पुस्तक, शिष्यादि रूपमें साधुपन में भी बना रहा तो फिर क्षुधादि परिषहों के सहने, एवं शीतादि के घोर कष्टों के अनुभव करने से भी कोई फल नहीं हो सकता। अतएव हे मुनियो! सावधान होकर प्रवृत्ति करो। शास्त्रों का संग्रह भी तुम्हारे लिए कहीं भार या परिग्रह रूप न हो इसका ध्यान रखो। क्योंकि तुम्हारे पास शौच का उपकरण कमण्डलु एक से अधिक नहीं रह सकता, संयम का उपकरण पिच्छी भी अधिक नहीं रहती। अन्य कोई पदार्थ तुम नहीं रखते और न रखने की तुम्हें आगम आज्ञा देता है। एक ज्ञान के उपकरण-शास्त्र-ही अधिक रूप में हो सकते हैं। इसलिए अपने भले के लिए और जनापवाद से बचने के लिए तुम्हें अपने साथ ग्रन्थादि का परिग्रह बढ़ाना भी उचित नहीं?

(१५) पत्र-व्यवहार

साधु ने संसार के सब सम्बन्धों का त्याग करके दीक्षा धारण की है। किसी के साथ किसी प्रकार का प्रेम सम्बन्ध होता है तब ही पत्र व्यवहार किया जाता है। जो साधु पत्र-व्यवहार करता है, अथवा दूसरे को कह कर उसके द्वारा पत्र-व्यवहार करवाता है, वह त्यक्त मोह का पुनः सम्बन्ध करता है। अतः वह श्रावक से भी पतित है। इस लिए वन जाता साधु को किसी के भी साथ लौकिक पत्र व्यवहार नहीं करना चाहिए। इससे मुनि-मार्ग मलीन होता है। पत्र व्यवहार करने वाले साधु को अपने सम्पर्क में टिकिट व कार्ड भी रखने पड़ते हैं। टिकिट व कार्ड को रुपये पैसे के समान द्रव्य माना गया है। जैसे इस समय कागज के नोट रुपयों के स्थान में उपयोग में आ रहे हैं वैसे ही टिकिट व कार्ड हैं। उनको बेच कर रुपये व पैसे खड़े किये जा सकते हैं। अतएव जो साधु अपने निकट पोस्ट के टिकिट व कार्ड रखता है, वह रुपये पैसे रखने वाले की तरह ही निन्द्य एवं परिग्रह का धारक है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने थोड़ासा भी परिग्रह रखने वाले साधु को जिनागम में गर्हित वर्णन किया है।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥ १९ ॥ (सूत्रपाहुड)

अर्थ—जिस सम्प्रदाय के मुनि वेष में थोड़ा या बहुत परिग्रह होता है, वह जिनशासन में निन्दनीय माना गया है, क्योंकि जिनागम में परिग्रह रहित को ही साधु माना है। अत: किसी से पत्र व्यवहार आदि का संबंध भी मुनियों को नहीं रखना चाहिए। अन्यथा मोह के वशीभूत रहने से उनका उत्थान नहीं होगा।

प्रश्न—सभी प्रकार के पत्र व्यवहार का मुनियों के लिए निषेध है या राग-भाव युक्त का ही ?

उत्तर—पत्र व्यवहार आदि से उपयोग दूसरी ओर बटता है अत: अच्छी बात तो यही है कि साधु का किसी भी प्रकार के पत्र-व्यवहार से संबध न रहे। पर यदि किसी धर्मात्मा श्रावक आदि से भूल या प्रमाद वश कोई दोष बन जावे और वह उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्तादि पत्र द्वारा पूछे तो सिद्धान्त के अनुकूल उसका उत्तर देने या दिलाने का निषेध नहीं है। इसी प्रकार किसी विशेष धार्मिक कार्य के लिए या शका समाधान आदि के लिए पत्र-व्यवहार की आवश्यकता हो तो उसका भी निषेध नहीं समझना चाहिए। जैसे कि श्री धरसेन मुनिराज को यह ज्ञान हो गया था कि अब मेरी आयु अल्प रह गई है तब उन्होंने उज्जैनी से पत्र भेजकर पुष्पदन्त और भूतवली नाम के दो मुनियों को गिरनार से बुलाया था। ऐसे ही किसी विशेष धार्मिक प्रयोजन के विना किसी से पत्र-व्यवहार करना साधु के लिए सर्वथा वर्जित है। धार्मिक प्रयोजन होने पर वह व्यवहार मुनि के पतन का कारण नहीं होता बल्कि धर्म की रक्षा व उन्नति का कारण होता है। क्योंकि पतन की वस्तु मोह या राग-द्वेष होता है और ऐसे कार्यों में अपना कोई स्वार्थ न होने से मोह नहीं कहा जा सकता।

धर्म का संबंध होने पर पत्र-व्यवहार ही क्या, मुनि गृहस्थों के घर पर जाना भी अनुचित नहीं समझते। क्योंकि स्व-पर कल्याण ही उनका प्रयोजन है अत. किसी के कल्याण की आशा से उसके संबोधने आदि के निमित्त उसके घर या निवास-स्थान पर चला जाना भीउ नका कर्तव्य है। जैन पुराणों में इसके अनेक उल्लेख भी आये हैं। सुकुमाल चरित्र (पाँचवें सर्ग) में देखिये—

भूतलं विहरन्मुक्त्या स्वीर्यापथात्तलोचनः ।
चर्यार्थमेकदा कौशांबीं पुरीं प्राविशच्छुभां ॥ २१ ॥
तद्भागिनेय एवाशु सोऽग्निभूतिर्द्विजात्मजः ।
स्वगुरुं तं मुदा वीक्ष्य सर्वसंगातिगं परं ॥ २२ ॥

परमानंदमासाद्य निधानमिव दुर्लभम् ।
तिष्ठ तिष्ठ त्रिधेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह धर्मधीः ॥ २३ ॥
ततस्तस्मै सुपात्राय दातृसप्तगुणान्वितः ।
नवप्रकारपुण्यार्जनविधीन्प्राप्य तत्क्षणम् ॥ २४ ॥
प्रासुकं मधुरं तस्मै त्रिधिना सरसं शुभं ।
आहारदानमात्मार्थं ददौ ज्ञानादिवृद्धिदम् ॥ २५ ॥
वीतरागाशयेनासौ चर्या कृत्वा ततो व्रजन् ।
स्वात्मध्यानाय नत्वेति भणितोऽत्राग्निभूतिना ॥ २६ ॥
भगवन्वायुभूतिश्च करोत्यहार्जनं सदा ।
क्रोधमायाद्यनाचारैस्त्वन्निन्दाकरणादिभिः ॥ २७ ॥
एहि संबोधनार्थं च गृह तस्य दुरात्मनः ।
यतस्त्वं त्रिजगज्जीवान्क्षमो बोधयितुं महान् ॥ २८ ॥
मुनिराहेति योग्यं न गन्तुं तन्निकटं क्वचित् ।
यतो निसर्गरौद्रात्मा सोऽस्मदर्शनमात्रतः ॥ २९ ॥
स्वीकरिस्यति निन्दाद्यं महापापं दुरावहम् ।
दुर्गतौ येन तज्जीवश्चिरं दुःखी भ्रमिष्यति ॥ ३० ॥
तदाकर्ण्येति सोऽवोचत्स्वामिन्मदाग्रहात्त्वया ।
आगन्तव्यं च यद्भावि तदस्तु तस्य बोधनात् ॥ ३१ ॥

इति तस्याग्रहेणैष योगी जगद्धितोद्यतः ।
सर्वत्र समतापन्नस्तेनामा तद्गृहं ययौ ॥ ३२ ॥

एक बार भूतल पर विहार करते करते श्री सूर्यमित्र मुनिराज आहार के लिए कौशाम्बी नगरी में आये। वहाँ उनके भानजे अग्निभूति और वायुभूति सोमशर्म ब्राह्मण के पुत्र रहते थे। उनमें से बड़े उस अग्निभूति ने शीघ्र ही परम निर्ग्रन्थ अपने गुरु श्री सूर्यमित्र मुनिराज को दुर्लभ निधि के समान देख कर परम हर्ष के साथ हे भगवन्! तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ ऐसा तीन बार बोल कर उनको पड़गाहा और दातार के सप्त गुणों से युक्त उसने नवधा-भक्ति करके सरस, मधुर एवं प्रासुक ज्ञान-ध्यानादि की वृद्धिकारक आहार अपने उपकार के लिए दिया। वे मुनिराज वीतराग परिणामों से विधिपूर्वक आहार ग्रहण करके आत्म-ध्यान के लिए (वन की ओर) चले, तब नमस्कार करके अग्निभूत ने कहाः—हे भगवन्! (मेरा छोटा भाई) वायुभूति क्रोध, माया आदि अनाचार एवं आप जैसे महान पुरुषों की निन्दा आदि करके सदा पापोपार्जन करता है। इस लिए उस दुराचारी के सम्बोधने के लिए आप उसके घर चलिए। क्योंकि आप ही तीन लोक के जीवों को सम्बोधने के लिए समर्थ हैं।

यह सुन कर मुनि बोले—उसके पास कहीं भी जाना उचित नहीं। क्योंकि वह स्वभाव से ही रौद्रपरिणामी है, हमारे देखने मात्र से निन्दा वगैरह करके दुःखदायक महान पाप का बन्ध करेगा और उससे उसका जीव चिरकाल तक दुर्गतियों में दुःख भोगता हुआ भ्रमण करेगा।

यह सुन कर फिर अग्निभूति बोला—हे स्वामिन्! आप मेरे आग्रह से ही चलिए। उसे सम्बोधने के बाद जैसा कुछ उसका होनहार है वैसा होवे।

इस तरह अग्निभूति के आग्रह से सारे संसार के हित के लिए उद्यत और सब पर समताभाव रखने वाले वे सूर्यमित्र मुनिराज उस अग्निभूति के साथ वायुभूति के घर गए।

और भी सुनिए। उक्त वायुभूति के जीव ने होनहार वश भवान्तर में चाण्डाली की पर्याय धारण की उस समय की कथा है—

तदाथ सूर्यमित्राग्निभूतौ धर्मपरायणौ ।
विहरन्तौ महीभागं तत्रायातौ मुनीश्वरौ ॥ ६७ ॥
तत्रैव सूर्यमित्रोऽस्थादुपवासी वनान्तरे ।
अग्निभूतिस्तनुस्थित्यै निर्ययौ तां पुरीं प्रति ॥ ६८ ॥
बहुवृक्षान्तराले जम्बूवृक्षाधस्तले स्थिताम् ।
दुःखाक्रान्तां कुमातंगीं वीक्ष्य मार्गे व्रजन्यतिः ॥ ६९ ॥

तद्दुःखेनाभवद्द दुःखी स्नेहशोकादिराशिभिः ।
अश्रुपातस्तदाश्वासीच्चक्षुषोः सद्यतेर्बलात् ॥ ७० ॥
ततो व्याघुट्य शीघ्रं स नत्वासाद्य निजं गुरुम् ।
पप्रच्छेति तदाज्ञानिन्मातंगीदर्शनान्मम ॥ ७१ ॥
चक्षुषोरश्रुपातं च शोकं, दुःखमभूत्तराम् ।
अत्र शोकादिदुःखानां कारणं किं ममादिश ॥ ७२ ॥
ततो गुरुरुवाचेति धीमंस्त्वद्बान्धवः कुधीः ।
अस्मन्निदाघपाकेन भुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ ७३ ॥
तिर्यग्गतित्रयं निन्द्यं भ्रान्त्वा सौख्यलवातिगः ।
अभूदियं जगन्निन्द्या चाण्डाली नेत्रवर्जिता ॥ ७४ ॥
प्रागजन्मस्नेहसंबन्धाच्छोकदुःखादि तेऽभवत् ।
यतो भवे भवे स्नेहो वैरं वा जायतेऽङ्गिनाम् ॥ ७५ ॥
अपरं शृणु तस्याश्चात्यासन्नभव्यता शुभा ।
आयातास्ति दिनेऽद्यैव मरणं च भविष्यति ॥ ७६ ॥
अतो गत्वाशु दक्ष ! त्वं संन्यासं व्रतपूर्वकम् ।
सम्बोध्य युक्तिमद्वाक्यैस्तां ग्राहय शुभाप्तये ॥ ७७ ॥
इति तद्वचसा शीघ्रं गत्वा मुनिः परार्थकृत् ।
तत्प्रदेशे शुभे स्थित्वा तामित्यबोधयद्द गिरा ॥ ७८ ॥

उस अवसर पर धर्म परायण सूर्य मित्र और अग्निभूति नाम के दो मुनिराज पृथ्वी मण्डल पर विहार करते करते वहाँ (जहाँ वायुभूति का जीव जात्यंधा चाण्डाली बना था उसी नगरी मे) आये। उस दिन सूर्यमित्र मुनिराज उपवासे थे इसलिए वे तो वहाँ वन मे ही रहे और अग्निभूति

आहार के लिए उस नगरी की ओर चले। जाते हुए वे मुनिराज रास्ते में बहुत वृक्षों के बीच जामून के पेड़ के नीचे उस चांडाली को दुःखित अवस्था में बैठी देख उसके दुःख से दुःखी हुए और उनके नेत्रों से स्नेह एवं शोक की अधिकता के कारण तत्काल अपने आप आँसू गिरने लगे। तब वे शीघ्र ही वहाँ से लौट कर अपने गुरु के पास पहुँचे और उन्हें नमस्कार कर पूछने लगे—हे महाज्ञानिन्। चांडाली को देखने से मेरी आँखों से आँसू गिरे और मुझे महान् शोक एवं दुःख हुआ सो इस संबंध में शोकादि एवं दुख होने का कारण क्या है ? आप मुझे बताइए।

तब श्री सूर्यमित्र गुरु बोले—हे धीमन्। तेरा कुबुद्धि भाई वायुभूति हमारी निन्दा के सम्बन्ध से बांधे हुए पापों के उदय से निरन्तर दुःख भोग कर लोक-निन्द्य तिर्यंच गति में तीन बार भ्रमण कर सुख का लेश भी न पाता हुआ इस जगत् निन्द्य जात्यन्धा चाण्डाली रूप मे उत्पन्न हुआ है। इसलिए पूर्व जन्म के स्नेह के सबंध से तेरे शोक व दुःखादि हुए हैं। क्योंकि प्राणियों के स्नेह और बैर भव भव में प्रकट होते रहते हैं। और भी तुम सुनो उस चाण्डली के शुभ रूप अत्यन्त आसन्न-भव्यता आ गई है अर्थात् उसका जीव थोड़े ही समय में सम्यग्दर्शन धारण करके निर्वाण को प्राप्त होगा और इस पर्याय से उसकी आज ही मृत्यु होने वाली है। इसलिए हे चतुर ! तुम शीघ्र ही जाकर युक्ति-पूर्ण वाक्यों से सम्बोधन करके पुण्य की प्राप्ति के अर्थ उसे श्रावक के व्रत पूर्वक सन्यास ग्रहण कराओ। इस प्रकार उन सूर्यमित्र मुनिराज के कहने से परोपकारी उन अग्निमित्र मुनिराज ने शीघ्र ही जहाँ चांडाली थी वहाँ जाकर और प्रासुक भूमि पर बैठ कर उसको वाणी से इस प्रकार सम्बोधा ......।

ऐसे ही कथन और भी अनेक स्थानों पर आये है। अधिक उद्धरण देने से बहुत विस्तार हो जायगा। सब का तात्पर्य यही है कि यदि कोई धर्मात्मा गृहस्थ बीमार हो या अन्य किसी अवसर पर किसी को संबोध कर सुमार्ग पर लगाने का प्रयोजन हो तो मुनि पत्र-व्यवहार ही नहीं, उसके घर भी जा सकते हैं। पर धार्मिक संबंध के अलावा उसका और कोई प्रयोजन हो तो वह क्रिया सर्वथा निन्द्य एवं अकर्तव्य है।

(१६) नाटक आदि देखना

आज-कल मुनि लोग नाटकादि भी देखने लग गये हैं, पर आत्मिक रङ्ग में रङ्गनेवाले मुनियों के लिए इसे कैसे उचित कहा जा सकता है ? सच्चे दिगम्बर, वैराग्य की मूर्ति साधु रागवर्धक नाटकों का देखना तो क्या, यदि मन भी उधर दौड़ पड़े तो उसे भी दोष जनक मानते हैं।

प्रश्न—अन्य शृंगार रस प्रधान नाटकों के विषय में तो मन की प्रवृत्ति दोष जनक हो सकती है, किन्तु कर्म के फल की विचित्रता दिखलाने वाले नाटक देखने से तो वैराग्य का पोषण होता है, इसलिये उनके देखने मे तो साधुओं के लिए कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ?

उत्तर—आपका कहना गृहस्थों के सम्बन्ध में तो ठीक है कि जो गृहस्थ रात दिन सांसारिक व्यवहार में फंसे रहते हैं, उनको शिक्षा देने के लिए धार्मिक व वैराग्य-वर्धक नाटकों का प्रदर्शन शायद लाभप्रद हो सकता है। परन्तु जहाँ तक अनुभव में आया है, नाटकों के प्रदर्शन में लोग शृङ्गार रस को प्रधान स्थान दे देते हैं। और उससे लाभ के बदले हानि ही होती दिखाई देती है। जैसे स्त्री का पार्ट करने वाले बच्चों को स्त्री का वेष धारण करवाना, उनकी सब क्रियाए हाव भाव स्त्री ऐसे करवाना, यह बातें उनके पौरुष और वीरता की घातक सिद्ध होती हैं। स्त्री का पार्ट

करने वाला बालक आदर्श वीर पुरुष नहीं बन सकता तथा प्राय: नाटक में भाग लेने वाले बालक सदाचार से पतित हो जाते हैं, इसलिये गृहस्थों को भी लाभ के स्थान में हानि ही प्राप्त होती है. तब मुनियों के लिए वे कैसे शिक्षा-प्रद व आत्मोन्नति के कारण हो सकते हैं ? आत्मध्यान में तत्पर रहने वाले तथा स्वाध्यायादि क्रियाओं से आत्मा की उन्नति करने वाले परम विरक्त साधु उन नाटकों को देख कर क्या लाभ उठा सकते हैं ? सिवा आत्म-विकार और अशुभोपयोग के उनसे कुछ लाभ नहीं होता। इस लिए नाटकों का देखना मुनियों के लिए चारित्र का घातक है तथा मुनि धर्म को कलंकित करने वाला है। इसी तरह रेडियो सुनना, रेकार्ड सुनना आदि को भी दूषित समझना चाहिए।

(१७) चलते समय बात-चीत करना।

एक समय में एक ही काम समुचित हो सकता है। एक साथ दो जगह उपयोग स्थिर नहीं हो सकता। मुनि यदि चलते समय बातें भी करेंगे तो ध्यान बातों में रहेगा और यत्नाचार पूर्वक नहीं चल सकने से हिंसा होगी। ईर्या-समिति मुनियों के मूलगुणों में है, चलते समय बात करने से इस मूलगुण में बाधा आवेगी। मुनियों का आध्यात्मिक जीवन अहिंसा है। अत: जिन जिन कार्यों से उसमें बाधा आवे उनको उन्हें कभी नहीं करना चाहिए। यदि बात करना अत्यन्त आवश्यक ही हो तो रास्ते में ठहर कर कर सकते हैं। शोभा की बात तो यही है कि मुनि अपने ठहरने के स्थान पर ही बात चीत करें। मुनि धनुष-प्रमाण जमीन निरखते हुए चलते हैं। उस समय चलने के अतिरिक्त और किसी भी विषय में उनका मन चला जावेगा तो जीव दया का अच्छी तरह पालन नहीं होगा। साधारण जन एवं मुनियों के चलने में बहुत अन्तर है। अत: मुनियों को ईर्या-समिति के अनिवार्य नियमों का पालन करते हुए ही चलना चाहिए और चलते समय बात-चीत कभी नहीं करना चाहिए।

(१८) रात्रि के समय मौन न रखना।

✓ रात्रि के समय मुनि का बोलना ठीक नहीं है। उत्सर्ग-मार्ग यही है। इस नियम का अपवाद भी है। परन्तु अपवाद को हर समय काम में नहीं लाया जा सकता। यदि कभी धर्म-रक्षा के निमित्त रात्रि को बोलना पड़े तो मुनि उसका भी प्रायश्चित्त ले, क्योंकि रात को मुनि यदि बोलेगा तो हिंसा जरूर होगी। जिससे बात करेगा वह भी बोलेगा। सभव है इसके लिए उसे मुनि के पास भी आना पड़े या मुनि को कहीं जाना पड़े। और तब आने जाने की हिंसा अवश्य होगी। बोलने में तो हिंसा होती ही है। अत: रात्रि के समय तो मुनि को मौन ही रखना चाहिए।

✓ प्रश्न—श्री विष्णु कुमार, सुकौशल और सुकुमाल मुनि की कथाओं के पढ़ने से ज्ञात होता है कि मुनिराज रात्रि को भी बोलते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि रात को मुनियों को नहीं बोलना चाहिए।

उत्तर—पहले कहा जा चुका है कि यह अपवाद मार्ग है। धर्म-रक्षा के निमित्त यदि रात को भी बोलने की आवश्यकता हो तो बोल सकते हैं। विष्णुकुमार की कथा में सात सौ मुनियों की रक्षा का प्रयोजन था। सुकुमाल की कथा में सुकुमाल को संसार से विरक्ति-उत्पन्न कराना ही मुख्य प्रयोजन था। सुकौशल की कथा में सुकौशल की पूर्व जन्म की माता को पूर्व जन्म का ज्ञान कराकर समझाना था। इसलिए उसके पूर्वजन्म के पति

सुकौशल के पिता कीर्तिधर मुनि ने उसको रात्रि होने पर भी उपदेश देकर शांत किया। इसी प्रकार पुराणों में जहाँ जहाँ मुनियों के रात के समय बोलने का वर्णन मिलता है वहाँ परोपकार, धर्मरक्षा आदि प्रसंग अवश्य हैं। धर्म-रक्षा का प्रयोजन न हो तो मुनि रात्रि को कभी नहीं बोलते।

मुनि अधिकतर मौन ही रखते हैं। वे दिन में भी बिना प्रयोजन नहीं बोलते, और जो भी बोलते हैं उसमें हित-मित-प्रिय का खयाल रखते हैं। अन्यथा उनके भाषा-समिति नहीं पल सकती। साधारण कार्यों के निमित्त बोलने के लिए जब दिनमें ही उनके पास पर्याप्त समय है तब उन्हें रात्रि को बोलने की क्या आवश्यकता रह जाती है? अतः रात्रि को मौन न रखने वाले दोषी अवश्य हैं।

(१६) सवारी में बैठना

साधु जब अहिंसा मूलगुण धारण करता है तब मोटर, रेल आदि सब सवारियों का त्याग कर पाद-विहार अङ्गीकार करता है; क्योंकि चेतन या अचेतन वाहन पर सवार होकर चलने से मार्ग में वाहन के द्वारा हिंसा होती है, और उसका भागी सवारी करने वाला व्यक्ति ही होता है। साधु षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करता है, अत वह घोड़ा, ऊँट, घोड़ा-गाड़ी, डोली आदि चेतन या चेतन सम्बन्धी सवारी तथा रेल, मोटर आदि अचेतन सवारी पर नहीं बैठ सकता। यदि बैठता है तो उसके मूलगुण का विनाश होने के कारण वह मूलछेद प्रायश्चित्त का भागी होता है, अर्थात् वह मुनि-पद से पतित हो जाता है, वह पुन दीक्षा लेकर मुनि बनने का अधिकारी होता है। ध्यान में रखने की बात है कि इस प्रकार स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित्त लेकर भी फिर मुनि नहीं बन सकता क्योंकि प्रायश्चित्त से शुद्धि तो असमर्थता आदि के कारण किसी विशेष अवसर पर लगे हुए दोष की ही होती है। उच्छृङ्खलतावश जान-बूझ कर किये हुए की नहीं।

प्रश्न—मुनि सतत विहारी होते हैं, उनके मार्ग में यदि नदी आ जावे तो वे उसे कैसे पार करेंगे?

उत्तर—मुनियोंके लिये आगम में आज्ञा है कि यदि विहार करते समय मार्गमे नदी आ जावे और उसकी गहराई घुटनों से अधिक दूसरा न हो तो वे स्वयं उसे पार कर सकते हैं तथा इससे अधिक गहरी नदी हो तो जहाँ तक हो सके उस मार्ग को छोड़ कर दो-चार कोस के चक्कर का भी मार्ग हो तो उस मार्ग से विहार करें। यदि ऐसा कोई मार्ग न हो और नदी को पार करना हो, तो ऐसी अवस्था मे वे उसी नाव पर सवार हो कर नदी पार कर सकते हैं; जो दूसरे यात्रियों को बिठा कर ले जा रही हो और जिसका नाविक नाव पर सवार होने के लिए स्वयं मुनीश्वरों से निवेदन करे, किसी भी अवस्था मे मुनि स्वयं नाव पर चढ़ने के लिए नहीं कहते। मनुष्यों के मस्तक पर काष्ठ के पट्टे रखवा कर उनके ऊपर बैठ कर या ऐसे ही किसी अन्य उपाय का अवलम्बन कर वे नदी को पार नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से पूर्व की भांति जीव-बाधा होती है। घुटने तक पानी में उतरने का शास्त्रों मे कार्योत्सर्ग प्रायश्चित्त माना है। घुटने उपरान्त चार-चार अंगुल अधिक-अधिक पानी में उतरने का एक-एक उपवास प्रायश्चित्त और वर्णन किया गया है इसलिए नाव द्वारा या अन्य मार्ग द्वारा चलना मुनि-धर्म से अविरुद्ध है।

यदि मुनियों को किसी प्रकार का रोग हो जावे, पैदल विहार करने की सामर्थ्य न हो तो उन्हें किसी एक स्थान पर ही ठहर जाना चाहिए, रेलगाड़ी या मोटर में सवार होकर या पालकी मे बैठ कर ग्राम-ग्राम विहार करना आगम-विरुद्ध है, इससे मुनि-धर्म पर लाञ्छन सा लगता है। फिर मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म में विशेषता ही क्या रह जाती है? संयमधारकों की महिमा का ऐसे कुकृत्यों ने नाश कर दिया है।

(२०) नगर-निवास

सामान्यतया मुनियों को जङ्गलों मे रहना चाहिए। नगर अथवा ग्रामों का वातावरण मुनि-वृत्ति के किसी भी तरह अनुकूल नहीं है। नगर अथवा ग्रामों में तो वे केवल आहार के लिए ही आवें। उनका अवशिष्ट समय तो वनों मे ही व्यतीत होना चाहिए। मुनियों के आचार ग्रन्थ इसी बात का समर्थन करते हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ग्यारहवीं प्रतिमा के वर्णन मे जो यह वाक्य लिखा है—'गृहतो मुनिवनमित्वा" अर्थात् घर से मुनियों के रहने के स्थान वन में जाकर गुरु के पास व्रतों को ग्रहण करे, इससे तो यह भी स्पष्ट होता है कि मुनियों की तो बात ही दूसरी है—ग्यारहवीं प्रतिमा वाले श्रावक को भी मुनियों के साथ जङ्गल मे ही रहना चाहिए। जो मुनि बहुत समय तक नगरों में ही रहते हैं वे सर्वथा अनुचित करते हैं।

प्रश्न—हीन संहनन के धारक मुनि यदि जङ्गलों में रहेंगे तो उनके लिए कई आपत्तियाँ हैं। नगर अथवा ग्रामों में—धर्मशाला चैत्यालय, मन्दिर आदि स्थानों मे—ठहरने से वे उन आपत्तियों से बच जाते हैं। मुनियों के वनों मे रहने की बात चौथे काल की है। पंचम काल मे इस नियम का पालन होना बहुत ही कठिन है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है। यदि मुनि आपत्तियों से डरते हैं तो उनको मुनि होने की क्या जरूरत है? यदि नगर या ग्राम मे रहने पर भी कोई आपत्ति या उपसर्ग आजावे तो क्या वहाँ से भाग कर, किसी अन्य जगह जावेंगे? यदि आपत्तियों से डर कर इधर इधर भागते फिरेंगे तो वे अपना कल्याण किस तरह कर सकेंगे? मुनियों का नगर आदि मे रहना मान लेने पर भी आपत्तियों की आशङ्का तो बनी ही रहेगी। वे जब एक नगर से दूसरे नगर में जावेंगे उस समय रास्ते में यदि कोई दुष्ट मनुष्य, पशु आदि आकर उन पर उपसर्ग करने लगे तो उस समय वे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे? मुनि होकर परीषह-उपसर्ग आदि आपत्तियों से डरना सचमुच ही आश्चर्य की बात है। इसलिए हीन सहनन और आपत्तियों के खयाल से मुनियों के नगर आदि मे रहने का समर्थन करना किसी भी तरह युक्तिसङ्गत नहीं है। धर्मशाला, चैत्यालयादि मे भी गृहस्थोंका आना जाना हमेशह बना रहता है। वहाँ यदि मुनि रहेंगे तो उनके ध्यान-अध्ययन मे अवश्य बाधा पहुँचेगी। उनको तो विविक्त (एकान्त) स्थान मे रहना चाहिए। ऐसा स्थान नगर, ग्रामादि के चैत्यालयादि में मिलना कठिन है।

दूसरी बात आपने चतुर्थ-पञ्चम-काल की कही है। सो आपका यह कहना भी ठीक नहीं है। काल की अपेक्षा मुनियों के आचार

में भेद मानेंगे तो मूल-गुणों में भी काल की अपेक्षा परिवर्तन कर डालने में कोई हानि नहीं होनी चाहिए और ऐसा करने से तो निर्ग्रन्थ-मार्ग में ही बाधा आ सकती है। अतः चाहे कोई भी काल हो मुनियों का वन में रहना ही उत्कृष्ट मार्ग है।

प्रश्न—शिवकोटि आचार्य ने अपने रत्नमाला ग्रन्थ में यह लिखा है कि—

काले कलौ वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः ।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥

अर्थात्—कलि-काल में मुनियों को वन में नहीं रहना चाहिए। खास कर ग्राम वगैरह में जिन-मन्दिर में रहना चाहिए। इस कथन से सिद्ध होता है कि इस काल में मुनियों को वन में नहीं रहना चाहिए।

उत्तर—यह कथन पूर्वाचार्यों की परम्परा से नहीं मिलता। आचार्य गुणभद्र स्वामी ने अपने आत्मानुशासन ग्रन्थ में ग्राम में नहीं; किन्तु रात्रि के समय ग्राम के पास आकर रहने वाले मुनियों के प्रति भी खेद प्रकट किया है और उन्हें मृगों की उपमा दी है। देखिए—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥

अर्थात्—बड़े कष्ट की बात है कि कलि-काल में मृगों की तरह तपस्वी लोग रात्रि के समय इधर-उधर डरते हुए वन से ग्राम के पास आकर रहने लगते हैं।

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि गुणभद्र स्वामी के समय में मुनियों में शिथिलता आगई थी और वे शास्त्र आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करने लग गये थे। इस से गुणभद्राचार्य को बड़ा खेद हुआ। उस समय मुनि लोग ग्रामों में तो नहीं रहने लगे थे, किन्तु दिन भर वन में रहकर रात्रि के समय ग्रामों के पास आजाते थे। इतने मात्र से ही आचार्य महोदय ने उनको मृगों की उपमा दे दी, बड़ा खेद प्रकट किया और इसको कलि-काल की महिमा बतलाई। यदि वे नगर या ग्रामों में आकर रहने लगते तब तो न मालूम गुणभद्र स्वामी क्या कह कर इस शिथिलता के प्रति खेद प्रकट करते। महापुराण के कर्त्ता जिनसेनाचार्य के प्रधान शिष्य आचार्य गुणभद्र के इस श्लोक के सामने 'रत्नमाला' का उक्त श्लोक अधिक महत्व नहीं रखता। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यह शिवकोटि कौन हैं? हमारे ख्याल से तो यह कोई अर्वाचीन विद्वान् मालूम होते हैं। यह बात इनकी कविता से ही ज्ञात हो जाती है। अथवा 'रत्नमाला' के श्लोक का अर्थ भी निषेध परक किया जा सकता है; जिससे गुणभद्राचार्य के श्लोक के साथ सङ्गति बैठ सके। मुनियों की स्तुतियों में, उनकी जयमाला में जगह जगह यही कहा गया है कि मुनि पर्वत-गुफा, कन्दरा आदि स्थानों में रहते हैं,

न कि नगरों में। 'जय गिरि-गुह नगर-विवर-थन्ति' इत्यादि प्राकृत गुरु-जयमाला का पद्य सर्व-प्रसिद्ध है। इसलिए शास्त्रानुसार मुनियों का नगरों व ग्रामों में रहना किसी भी तरह उचित नहीं है। वर्तमान मुनि जो नगर या ग्रामों में रहते हैं—यह उनका शिथिलाचार है। संहनन की हीनता बतला कर वन में रहने का खण्डन करना किसी भी तरह उचित नहीं है। यदि कोई हीन-शक्ति वाला है तो उसको मुनि होने की ही क्या जरूरत है? वह घर में रह कर ही शक्त्यनुसार धर्म-सेवन क्यों नहीं करता? मुनिव्रत तो सिंह वृत्ति है। कायरों का काम नहीं है। जो भी शास्त्रानुसार मुनिपद को नहीं निभा सकते उनको भूल कर भी यह असिधारा-व्रत ग्रहण नहीं करना चाहिए। नहीं तो अपनी और धर्म की हँसी होगी। लाभ कुछ नहीं होगा।

✓ प्रश्न—यदि यह बात है तो वर्तमान मुनि नगर व ग्रामों में क्यों रहते हैं? वे इस नियम का पालन क्यों नहीं करते?

उत्तर—यह वर्तमान मुनियों का शिथिलाचार है। गृहस्थ भी इधर ध्यान नहीं देते। यदि नगर और ग्रामों के बाहर वसतिकायें हों तो यह प्रथा दूर हो सकती है।

प्रश्न—अस्तु। यह बात हमारे समझ में आगई कि मुनियों को वन में रहना चाहिए, किन्तु हीन-शक्ति के कारण जो मुनि वर्तमान में नगर व ग्रामों में रहते हैं, क्या उनके शौच-निवृत्ति के लिए अलग शौचालय बनाए जा सकते हैं? क्योंकि बड़े बड़े शहरों में जङ्गल तो बहुत दूर रहता है। ऐसी अवस्था में यदि वे उन्हीं के लिए नव-निर्मित नगर के शौचालय में शौच-बाधा की निवृत्ति कर लें तो क्या हानि है?

✓ उत्तर—मुनि कहीं भी ठहरें उन्हें कम से कम शौच-बाधा से तो नगर के बाहर जङ्गल में जाकर ही निवृत्त होना चाहिए। बने हुए शौचालयों का उनको कभी उपयोग नहीं करना चाहिए। अन्यथा प्रतिष्ठापना-समिति में बाधा पहुँचेगी। मुनि-पद धारण कर इस से धारण नियम का भी पालन नहीं हो सके तो इससे अधिक दुःख और आश्चर्य की बात क्या हो सकती है? शौचालयों का उपयोग तो जहाँ तक हो गृहस्थों को भी नहीं करना चाहिए। यदि वे भी बाहर ही जावें तो स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह बहुत अच्छा है। किन्तु नगरों में रहने वाले गृहस्थ अधिक दूर होने के कारण समयाभाव से बाहर जाने में असुविधा का अनुभव करते हैं। पर जो पूर्ण अहिंसक के पद पर हैं उन्हें तो अहिंसा में कोई दोष न आजावे इसका खयाल कर नगरों में कभी शौच नहीं जाना चाहिए। उन्हीं के लिए निर्मित शौचालयों का उपयोग करने से उनके उद्दिष्ट का दोष भी आवेगा। गृहस्थों द्वारा उपयुक्त शौचालयों का उपयोग करना तो उनके लिए और भी जघन्य बात है।

(२१) आहार-लोलुपता

मुनि वही आहार ग्रहण करते हैं जो नवकोटि से शुद्ध हो। (जिसको मुनि ने मन से न किया, न करवाया और न करने वाले को अनुमति दी हो तथा वचन से न किया, न करवाया और न करने वाले को अनुमति दी हो और न काय से किया, न करवाया और न करने वाले को सम्मति दी हो—ऐसे आहार को नवकोटि से शुद्ध कहते हैं) जिसमें उद्गमादि छियालीस दोषों में से एक का भी सद्भाव न हो, जो बत्तीस अन्तराय रहित हो—ऐसा संयोजनादि दोषों से रहित प्रासुक निर्दोष आहार मुनि के लिए ग्राह्य माना गया है। श्रद्धा भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता (निर्लोभ) दया, क्षमा और शक्ति इन सात दातारके गुणों से युक्त श्रावक नवधा भक्ति से उक्त प्रकार का आहार दे। वह प्रासुक निर्दोष आहार चाहे रूखा-सूखा कैसा भी

हो, उसी को आहार की लम्पटता के बिना ग्रहण करना मुनि का कर्तव्य है। जो मुनि आहार में लम्पटता रखता है, वह पाँचों ही प्रकार के पापों का भागी होता है। भगवती आराधना में कहा भी है:—

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणक्कम्।
रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥१६४२॥

अर्थ—आहार का लम्पटी इच्छा के अनुकूल आहार की प्राप्ति के लिए षट् जीव-निकाय की हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है, आहार प्राप्त न होने पर रोष करता है, मनोनुकूल आहार मिलने पर लोभ करता है, उसकी प्राप्ति के लिए माया करता है तथा अनेक परिग्रहों का ग्रहण करता है।

भावार्थ—जिह्वा का लम्पटी साधु इच्छा के अनुकूल आहार का योग न मिलने पर संकेतादि द्वारा आहार बनवाने की प्रेरणा करता है। अथवा राग के वश होकर जिनागम के विपरीत आहार ग्रहण करने से भावहिंसा व उसी के उद्देश्य से आहार बनाये जाने के कारण षट् जीव-निकाय की द्रव्य-हिंसा का करने वाला भी होता है। उसके प्राप्त करने के लिए असत्यता का उपयोग करता है। न मिलने पर उसकी प्राप्ति करने के लिए धन की चोरी करने पर उतारू होता है। अथवा जिनशासन के विरुद्ध आहार का सेवन करने से आगम की चोरी करने वाला होता है। गरिष्ठ, इष्ट आहार के भक्षण से जिह्वा लम्पटी ब्रह्मचर्य का विघात करता है, अथवा ब्रह्मचर्य मे अतिचार लगाता है, क्योंकि पौष्टिक रस का सेवन करने से इन्द्रियों मे दर्प उत्पन्न होता है और दर्पवाली बलवान् इन्द्रियाँ अनर्थ किये बिना नहीं रहती * उन्माद के कारण उनसे अनेकानेक अनर्थ हो जाते हैं। जिह्वा इन्द्रिय की लालसा ऐसे आहार से धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और उसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह भी बढ़ाने पड़ते हैं। आहार मे ममत्व रखने के कारण परिग्रहासक्ति तो है ही। आशय यह है कि जिह्वा इन्द्रिय के वशवर्त्ती मनुष्य क्या नहीं करता? वह सब पाप कार्यों में प्रवृत्ति करने के लिए विवश हो जाता है। इसलिए आहार-लम्पटी मुनियों से कहना है कि हे मुनियो। तुम केवल ध्यान-अध्ययन की सिद्धि के लिए अपने पेट के गड्ढे को भरने मात्र का ध्यान रखो। भोजन के स्वाद व अस्वाद की ओर मन को मत जाने दो। तुमने अनन्त काल तक आहार ग्रहण किये हैं किन्तु

---

*ब्रह्मचर्य महाव्रत की स्थिरता के लिए मोक्षशास्त्र में पाँच भावनाएँ बताई गई हैं:—

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ (अ० ७ सू० ७)

ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले संयमियों को स्त्रियों मे राग-जनक कथा सुनने, स्त्रियों के मनोहर शरीर को देखने, पूर्व मे भोगे हुए भोगों के स्मरण करने, कामवर्धक व प्रियरस का सेवन करने तथा अपने शरीर के संस्कार करने का त्याग करना चाहिए। अर्थात् ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने के अन्यान्य कारणों की तरह पौष्टिक रस को सेवन करना भी एक कारण है।

इनसे क्या तुम्हारी तृप्ति हुई ? सन्तोषामृत को धारण कर इस क्षुधारोग के नाश का प्रयत्न करो। जिसके लिए तुमने यह मुनि वेष धारण किया है उस लक्ष्य को मत छोडो। जो लक्ष्य च्युत होता है, अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि नहीं रखता है उसका पतन अवश्यम्भावी है। लक्ष्य पर प्रवृत्ति करने वाला सिंह के समान और लक्ष्य-भ्रष्ट कुक्कुर (कुत्ते) के समान माना गया है। यद्यपि देखा जावे तो कुक्कुर स्वामी-भक्त और एक टुकडे में सन्तोष धारण करने वाला, अल्प निद्रालु आदि गुणों से युक्त है, तथापि वह लक्ष्य-भ्रष्ट होता है इसीलिए वह सबसे निकृष्ट माना जाता है। यदि कोई कुत्ते पर लकडी फेंकता है तो कुत्ता उस लकडी को काटने दौडता है, लकडी फेंकने वाले को अपने प्रहार का लक्ष्य नहीं बनाता है। उस लकड़ी को शत्रु समझ कर उसी पर अपना बल प्रयोग करता है। लेकिन सिंह पर गोली आदि चलाने वाला वृक्ष के ऊपर या पचास-साठ हाथ ऊँचे मचान पर भी बैठा हुआ क्यों न हो वह गोली भाला बाण आदि पर न झपट कर उसके चलाने वाले को अपना लक्ष्य बना कर उसी पर झपटता है। इसी प्रकार जो साधु अपने कर्मक्षय के उपाय रत्नत्रय ध्यान आदि साधन को भूलकर आहारादि की लम्पटता मे लगता है वह भी अपने लक्ष्य से भ्रष्ट माना गया है। वह यह नहीं विचारता कि मेरे कर्म का जैसा क्षयोपशम होगा उसी मुताबिक सयोग होगा, बढ़कर कहाँ से मिलेगा ? जो ऐसा विचार ले वह मुनि हरगिज भी छहकायके जीवों की हिंसा नहीं करेगा और मुनिधर्म से अपना कल्याण करेगा।

प्रश्न—जब वर्षा हो रही हो तब मुनि आहार के लिए जावें या नहीं ?

उत्तर—जब साधारण वर्षा (बूदा-बांदी) हो रही हो तब मुनि आहार के लिए चले जावें तो इसमें कोई हानि नहीं है। किन्तु जब वर्षा अधिक हो रही हो उस समय मुनि आदि का आहार के लिए जाना कैसे सम्भव है, यह विचारणीय है। शास्त्र मे इस बारे में कोई विधि व निषेध नही मिलता कि अधिक वर्षाके समय मुनि आहार के लिए जा सकता है या नहीं, फिर भी युक्तियोंसे इस विषय पर जरूर विचार करना चाहिए। जब घनघोर वर्षा हो रही हो तब यदि मुनि आहार के लिए निकले तब क्या ईर्या-समिति पूर्वक चलना हो सकता है ? घोर वर्षा के समय लोगों का यातायात बन्द रहता है ऐसी अवस्था में मार्ग प्रासुक कैसे मिल सकता है ? वर्षा के समय प्रतिग्रह करने वाले को भी काफी असुविधा रहती है, मुनि के हृदय मे भी व्याकुलता उत्पन्न हो सकती है, मार्ग भी कर्दमादि युक्त होने के कारण दुर्गम-सा हो जाता है। यह भी हो सकता है कि ज्यादा वर्षा मे मुनि को बडे-बड़े नालों के बीच में से होकर गुजरना पड़े। इन सब बातों पर विचार करने से तो यही फलितार्थ निकल सकता है कि मुनि आदि को वर्षा के समय आहार के लिए नहीं निकलना चाहिए। वर्षा की असुविधा के कारण ही तो मुनि को एक जगह वर्षा के चार महीने व्यतीत करने की आज्ञा दी गई है। आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि कपड़ा धारण करनेवालों को थोड़ी वर्षा में भी भोजन के लिए नहीं जाना चाहिए। क्योंकि पानी के सम्बन्ध से कपड़ों मे सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होवेगी और वे इसके लिए प्रायश्चित्त के भागी होंगे।

प्रश्न—मुनि प्रात काल गोचरी को निकले और आहार की योग्यता न मिली; न कोई अन्य आहार का त्याग करने योग्य कारण उपस्थित हुआ, ऐसी हालत में वे गोचरी के लिए दूसरी बार निकल सकते हैं, या नहीं ?

✓ उत्तर—आगम में दूसरी बार भोजन करने का निषेध मात्र है, भोजन की योग्यता न मिलने पर साधु दूसरे समय मे आहार के लिए

नहीं निकलें, ऐसा कहीं निषेध नहीं मिलता है। तथापि उत्कृष्ट मार्ग तो यही है कि प्रातः भोजन की योग्यता न मिलने पर दूसरी वेला में भोजन के लिए न निकले। किन्तु मुनिसंघ में अनेक प्रकार के साधु होते हैं—कोई बालक होता है, कोई वृद्ध होता है, कोई रोगी या क्षीणशक्ति होता है। मुनिराज जल या औषधि आदि का ग्रहण आहार के अतिरिक्त किसी समय में नहीं करते हैं। आचार्य की आज्ञा से ऐसे साधु यदि गोचरी के लिए निकलें तो उसका निषेध नहीं है।

प्रश्न—साधु जब एक वार गोचरी के लिए बस्ती में निकले, और उनको आहार की योग्यता न मिली, तो वे दूसरी वेला में गोचरी के लिए कैसे निकलेंगे ? क्योंकि एक वार आहार की भावना से निकले थे, वे ही अब दुर्वारा निकलेंगे तो दो वार आहार की भावना होगी। वह क्या साधु के लिए योग्य है ?

समाधान—साधु जब आहार के लिए निकलते हैं तब अपने लाभान्तराय-कर्म के क्षयोपशम की जाँच करने के लिए निकलते हैं। वे यदि यह विचार करके निकलें कि इस समय इस वृत्तिपरिसंख्यान के अनुसार आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा, अन्यथा त्याग है। तब तो इस प्रकार नियम करने वाले साधु दूसरी वेला में नहीं निकल सकते। परन्तु जिसने इस प्रकार का नियम नहीं किया है और वह रोगी या सामर्थ्यहीन है तो दूसरी वेला में उसके गोचरी के लिए निकलने का निषेध कैसे हो सकता है ? रही आहार की भावना की वात। आगम में मुनि का एक वार भोजन करना मूलगुण है। आहार की भानना को मूलगुण नहीं कहा है, वह उत्तरगुण है। सम्पूर्ण उत्तरगुणों का पालन करना साधारण मुनि के लिए असम्भव है। मूलगुणों का पालन करना समस्त साधुओं के लिए अनिवार्य है न कि उत्तरगुणों का पालन। मूलगुणों से हीन साधु में साधुपन नहीं रहता। अर्थात् मुनि के जो अठाईस मूलगुण बताये हैं, उनमें से यदि एक भी गुण कम हो तो वह साधु नहीं माना जाता है, ऐसी बात उत्तरगुणों के विषय में नहीं है।

शङ्का—क्या मुनि आहार करके जब अपनी वसतिका में लौटें उस समय उनके आगे ढोल नगारे आदि बाजे बजाते हुए एवं जय-जयकार करते हुए और गीत गाते हुए श्रावक श्राविकाजन उनको वसतिका में पहुँचाने आवें ? क्या इससे मुनिधर्म की प्रभावना हो सकती है ?

समाधान—यह प्रवृत्ति दिगम्बर मुनिधर्म के सर्वथा विरुद्ध है। आहार करने के पश्चात् गृहस्थ के घर से गाजे बाजे बजाते हुए एवं गीत-गान करते हुए श्रावक-श्राविकाओं के साथ अपनी वसतिका में आना वीतराग मुनि को शोभा नहीं देता। ऐसे कार्यों के अनौचित्य पर पहले काफी लिखा जा चुका है।

शङ्का—नवधा-भक्ति पूर्ण होजाने पर जब मुनि आहार ग्रहण करने के लिए भोजनशाला में पहुँचे और दातार भोजन परोसे उस समय मुनि हुंकार करके या पिच्छिका आदि से संकेत करके श्रावक को मना करे या न करे ? यदि मुनि हुंकार आदि से संकेत नहीं करता है तो श्रावक

मुनि के द्वारा त्यागे हुए भोजन का सम्बन्ध दूसरे भोजन में कर देगा तब सम्पूर्ण भोजन अग्राह्य हो जावेगा। ऐसे समय हुंकार आदि द्वारा संकेत करने में क्या हानि है ?

समाधान—मुनि का भोजन के समय मौन रहने का क्या तात्पर्य है ? इस पर विचार करने से उक्त शङ्का का समाधान अपने-आप हो जाता है। मुनि का चित्त शान्त रहे, उसके मन में सङ्कल्प-विकल्प न हों, धीरता और गम्भीरता बनी रहे, इसलिए वह मौन धारण करता है तथा शास्त्र की आज्ञानुसार उसके ऐसा संकल्प रहता है कि दाता जैसा भोजन देगा वह यदि मेरे द्वारा त्याज्य नहीं है तो मैं उसे ग्रहण करूंगा। अन्यथा उसका त्याग कर दूंगा। गृहस्थ में विवेक गुण होना चाहिए। उसे सब भोजन अलग अलग परोसना चाहिए। साधु को अलग २ ग्रास बता कर आहार देना चाहिए। साधु जिसको योग्य समझेगा, उसे ले लेगा और जो उसके द्वारा त्याज्य होगा अथवा जिसको वह न लेना चाहेगा उसे न लेगा। लेकिन साधु को हुंकार करना या पिच्छिका आदि से संकेत करना योग्य नहीं है। यदि वह संकेतादि से चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है तो उसके मौन का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता है। नकारा करने का कई ग्रन्थों में लेख मिलता है। परन्तु इशारा करने का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं, सो इशारा कदापि नहीं करना।

प्रश्न—मुनि अचित्त वस्तु का सेवन करते हैं। यदि कोई गृहस्थ अचित्त आलू आदि शाक का आहार मुनि को देवे तो मुनि ले सकते हैं क्या ?

उत्तर—मुनि अचित्त निर्दोष आहार को ले सकते हैं, अचित्त आलू आदि कन्दमूल के शाक में प्रासुकपना तो है; किन्तु इससे अनाचार की प्रवृत्ति होती है। जब व्रती गृहस्थ भी इनका सेवन नहीं करता है तब साधु आदि इनका सेवन करने लगें तो लोक-निन्दा होगी, और दूसरे भोले लोग भी यह समझ कर इनका भक्षण करने लग जावेंगे कि जब साधुलोग भी आलू आदि कन्द मूल का भक्षण करते हैं तो हमारे भक्षण करने में क्या हानि है। इसलिये ऐसे पदार्थ अचित्त हों तब भी साधुओं को उनका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है। नहीं तो उच्छृङ्खलता बढ़े बिना न रहेगी।

प्रश्न—सोंठ, हलदी और मूंगफली भी कन्द हैं तब इनका सेवन भी साधुओं को नहीं करना चाहिये।

उत्तर—सोंठ और सूखी हलदी के सेवन करने में और आलू आदि के शाक के सेवन करने में बड़ा अन्तर है। सूखी हल्दी और सोंठ काष्ठ के समान हैं। तथा इनको सिद्धान्तों में काष्ठादिक माना भी है। ये सर्व साधारण के उपयोग में आती हैं। किसी जाति विशेष के लिए ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मनुष्य समाज इनका उपयोग करता है और सर्वत्र बाजारों में मिलती है। इसलिये इनका सेवन करने वाला इनके सुखाने आदि से उत्पन्न होने वाले दोष का भागी नहीं होता है। आलू वगैरह में यह बात नहीं होती। उनके शाक बनाने में अनन्त जीवों की हिंसा का दोष होता है तथा उनके भक्षण करनेवाले में अत्यन्त गृद्धता होती है तभी तो वह अनन्तकाय का सेवन करता है; अतः प्राणी-हिंसा होने के कारण द्रव्य-हिंसा से और अधिक राग के योग से भाव-हिंसा होने से उसके सेवन करनेवाले के दोनों प्रकार के संयम का विनाश होता है।

अब रही मूंगफली, वह न तो कन्द है और न मूल है। क्योंकि कन्द व मूल का छिलका कन्द व-मूल से अलग नहीं होता। मूंगफली का छिलका मूंगफली के बीज से हर हालत में अलग रहता है। इसलिये वह तिल चना मटर आदि के समान प्रत्येक वनस्पति है, कन्दमूल के समान अनन्तकाय नहीं है। उसके सेवन करने वाले को कन्द व मूल के समान अनन्त जीव-हिंसा का पाप नहीं होता।

प्रश्न --अपनी प्रकृति या इच्छा के अनुकूल भोजन न मिलने पर यदि मुनि श्रावकों को अपने को देने योग्य आहारके विषय मे कह दें तो क्या हानि है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है। इससे मुनि की भोजन-लोलुपता सिद्ध होती है। अपने भोजन के सम्बन्ध में मुनि को कभी कोई बात नहीं कहनी चाहिए। नहीं तो उसका वह भोजन उद्दिष्ट बन जायगा। ऐसी बातें तो वे ही कह सकते हैं जो केवल भोजन के लिए ही जीते हैं। मुनि के लिये भोजन-क्रिया तो एक गौण चीज है। उसके लिये इतना चिंतित रहना और गृहस्थों को मौके बेमौके कहते रहना कदापि उचित नहीं। कैसा भी भोजन हो मुनियों को ग्रहण करना चाहिए यदि वह आचार-शास्त्रानुसार शुद्ध हो। मुनियों को भोजन संबंधी विकथा कभी नहीं करनी चाहिए। यह विकथा उनको अपने आचार से गिरा देती है। आज कल कई मुनियों में यह शिथिलता देखी जाती है। उनका अधिक समय भोजन-विकथा मे चला जाता है। व्याख्यान में भी भोजन कथा का सम्बन्ध, भिन्न समय में भी भोजन सम्बन्धी वार्तालाप, यह सर्वथा अनुचित है। आवश्यकता समझें तो मुनि आहार-दान की पद्धति का उपदेश दे सकते हैं और उसकी प्रक्रिया को समझा सकते हैं पर अपने आहार के विषय में कुछ नहीं कह सकते।

मुनियों का प्रत्येक क्षण अध्यात्म वार्ता से रंगा हुआ होना चाहिए। उनके मन में अध्यात्म-शास्त्र का मनन, वचन में आध्यात्मिक शास्त्रों के वाक्यों का उच्चारण और शरीर मे आत्मानुराग बढ़ानेवाली क्रियाओं का पालन होना चाहिए। विकथाओं का करना आत्मा की संसार-विरक्त भावनाओं का विरोधी है। आत्म-हितैषी गृहस्थ भी भोजनादि विकथा को त्याज्य समझकर उसकी तरफ प्रवृत्ति नहीं करता है तब आत्म-ध्यान व स्वाध्याय में निरन्तर मग्न रहने वाले मुनि को तो इस (विकथा) के लिए अवसर ही नहीं मिल सकता है। जब वह अपने समय का सदुपयोग करने में तत्पर नहीं रहता है, अपनी आवश्यक क्रियाओं में किसी प्रकार की त्रुटि करना है, तब ही उसे निरर्थक पाप-बन्ध करने वाली पाप-क्रियाओं के आचरण करने के लिए अवकाश मिलता है। इसलिए हे मुनियो! पुरातन महर्षियों ने जो साधु के कर्तव्य बताये हैं उनका प्रतिदिन पालन करो और अपने जीवन का एक क्षण भी आत्म-हित के विपरीत कृत्यों में मत खोवो। अपने समय को चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक श्रेष्ठ समझो। जो इस अमूल्य अवसर को दूसरों के साथ व्यर्थ की बात-चीत करने में बिताते हैं, श्रावक अथवा अन्यजनों, श्राविका के साथ अधिक संभाषण करने में लगाते हैं, उनके मुँह से प्रायः असत्य भाषा निकल जाती है, बुरे भले कटु-कठोर शब्द निकल जाते हैं जो अपने लिए व दूसरों के लिये मर्मवेधी होते हैं। हे मुनियों! तुम्हारे वचन तो रत्न की पिटारी मे से चुन चुन कर निकाले हुये रत्नों की तरह हितकर, मनोरंजक व दूसरे की आत्मा मे शान्ति सुधा बरसाने वाले होने चाहिए। पर वे तभी हो सकते है, जब तुम्हारी आत्मा में शान्ति हो और तुम अपने समय को आत्महित के कार्यों के अतिरिक्त अन्य कषाय-वर्धक व पाप-जनक कार्यों में न लगावो। भोजन के सम्बन्ध मे तुम्हें शुद्धाशुद्धि के अतिरिक्त कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—आज कल भोजन की शुद्धाशुद्धि के अतिरिक्त मुनि लोग श्रावक के जनेऊ, तिलक आदि होने का भी विचार करते हैं फिर आप केवल भोजन की शुद्धाशुद्धि देखने के लिये ही कैसे कहते हैं ?

उत्तर—श्रावकों के लिये जनेऊ लेना आवश्यक कर्तव्य नहीं है। जनेऊ के बारे में शास्त्रों में जो कथन मिलता है उससे इतना ही कहा जा सकता है कि जनेऊ व्रतियों का चिह्न है। पाक्षिक श्रावक के लिये वह जरूरी नहीं। मुनियों के आचार-शास्त्र में भी ऐसा कोई विधान नहीं है कि वे जिसके जनेऊ न हो उसके हाथ से आहार न लें। स्त्रियों के जनेऊ नहीं होती, फिर भी वे उनके हाथ से आहार लेते हैं। जनेऊ का विधान तो भरत चक्रवर्ती ने किया था और उसके पहले बिना जनेऊ पहने ही राजा श्रेयांस ने भगवान आदिनाथ को आहार दिया था। श्रावकाचार के सब से पुराने ग्रन्थ श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जनेऊ का विधान नहीं है। प्राय अन्य श्रावकाचारों में भी जनेऊ का विधान नहीं है। इसलिए आहार दाता के लिये जनेऊ का प्रतिबन्ध लगाना कदापि उचित नहीं है। यही बात तिलक आदि के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। आज-कल मनमानी प्रवृत्ति चल रही है।

(२२) अप्रामाणिक उपदेश

हे मुने। तुम्हारे इस जिन-सदृश मुनि-वेष को जनता आदर की दृष्टि से देखती है और तुम्हारे वचनों पर विश्वास करती है। तुम्हें तीसरा, चौथा या पाँचवाँ परमेष्ठी मानती है। तुम्हारा चरण पखाल कर अपने सिर पर चढ़ा कर अपने को पवित्र मानती है, इसलिए तुम्हारा उसके प्रति व धर्म के प्रति कितना उत्तरदायित्व है। तुम्हें वह अपने आत्म-हित का विधाता और संसार-समुद्र से पार करने वाला समझती है, इसलिए तुम्हारा उपदेश उसके चारित्र की उन्नति करने वाला, एवं आत्मा को धर्म पर सुदृढ़ करने वाला होना चाहिए। छद्मस्थ मनुष्यों के लिए इस समय जिनागम के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाणभूत आधार नहीं है। इस समय कोई केवल ज्ञानी तो है नहीं, जिसके वचन बिना आधार के सत्य व प्रमाणभूत मान लिये जावें। यदि कोई इस समय प्रमाण है तो वह ऋषि—प्रणीत आगम ही है, जिसके आधार पर मुनि का संयम व श्रावक का संयम आश्रित है। अतएव मुनियों का कर्तव्य है कि वे जो उपदेश दें, वह प्रमाणभूत जिनागम के अनुकूल दें, वह आधुनिक चारित्रहीन अदूरदर्शियों के द्वारा यथेच्छ प्ररूपण किये हुए शास्त्रों के अनुसार न हो। त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, सूर्य प्रकाश, सुधर्म श्रावकाचार, उमास्वामि श्रावकाचार सरीखे भ्रष्ट ग्रन्थोंने धर्म को बड़ा कलङ्क लगाने का काम किया है। त्रिवर्णाचार में मनुस्मृति आदि अजैन ग्रन्थों के सैकड़ों श्लोक ज्यों के त्यों उठा कर रख दिये गये हैं। कुछ श्लोक रत्नकरण्ड आदि जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों से भी ले लिए गये हैं, लेकिन उनको 'उक्तं च' इत्यादि कह कर नहीं लिखा है, उनको ग्रन्थकर्त्ता ने अपने ही निर्मित बना दिये हैं। अजैन ग्रन्थों के जिन श्लोकों को अपना बनाकर ग्रन्थकार ने त्रिवर्णाचार में स्थान दिया है, वे जैन धर्म के प्रायः विरुद्ध सिद्ध होते हैं। उनको देखकर अन्य सम्प्रदायों को जैन धर्म पर आक्षेप करने का अवसर मिल गया है और उनसे निर्मल जैन-धर्म पर कलङ्क का टीका लग रहा है। ऐसे ही चर्चासागर व सूर्यप्रकाशादि भ्रष्टाचार-पोषक ग्रन्थों के विषय में भी समझना चाहिए। इसलिए हे मुनियो। ऐसे ग्रन्थों का आशय तुम्हारे उपदेश में न आवे। उनका निराकरण करने की तुम में शक्ति न हो तो उनको हेय अवश्य समझो। इनमें जैन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध कथन भरे

पड़े हैं। जैसे नागौर की गद्दी के एक भट्टारक द्वारा रचित नन्दीश्वर माहात्म्य के प्रकरण में लिखा है कि अष्टाह्निका की चतुर्दशी के दिन जो ककड़ी के साथ चाँवल का भोजन करता है, उसको एक लाख उपवास का फल होता है। ऐसे ही अप्रामाणिक उपदेशों की इनमें अधिकता है।

अब इसी पर थोड़ा विचार करना चाहिए कि किसी आचार्य प्रणीत शास्त्रमें तो किसी जगह बाह्य पदार्थका भोग करने पर एक उपवास का फल भी नहीं बताया है। उपवास में तो चारों प्रकारके आहारका त्याग करने का ही सर्वत्र विधान मिलता है। जहाँ सब प्रकारके आहार का त्याग करके केवल जल-ग्रहण करने पर भी ईषत् उपवास माना गया है, वहाँ अष्टाह्निका की चतुर्दशी के दिन चाँवल और सचित्त ककड़ी का आहार करने पर लाख उपवास के फल का वर्णन कितना असत्य व असम्भव है। क्या ऐसा ग्रन्थ धर्म-परायण जनता के लिए प्रमाणभूत हो सकता है ? त्याग में धर्म होता है, न कि ग्रहण में—और वह भी सचित्त ककड़ी और चाँवल के भक्षण से उपवास का फल! वह भी लाखों की संख्या में!! कितने आश्चर्य की बात है? प्रत्यक्ष रात्रि के अन्धकार को सूर्य-प्रकाश कहने के समान, हलाहल विष को अमृत बताने के समान उक्त वर्णन हास्यास्पद व अमान्य है।

अतः हे मुनियो! तुम्हें सदा ऐसा व्याख्यान या उपदेश देना चाहिए, जिससे लोगों के सम्यग्दर्शन में दृढ़ता, व संयम की वृद्धि हो। किसी के त्याग का भंग करवाना मुनि का कर्तव्य नहीं है। मुनि का धर्म त्याग की उन्नति करना है। जो इसके विपरीत प्रवृति करता है वह पापी माना गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह संकेतमात्र है, इसी प्रकार जिन-धर्म के मूल तत्वों का विधान जिससे भी लुप्त होता हो वह उपदेश करना अपने सम्यक्त्व का गला घोंटना है। अतः तुम्हारे मुख से जो वचन निकलें वे स्व व पर के हित के कर्त्ता हों। हित, मित व आगम के अनुकूल हों। क्योंकि उनको सुनकर जनता अपने जीवन को उनके अनुसार बनाने में प्रवृत्त होती है। अनगिनत जन-समाज के जीवन का नाश व उद्धार मुनि के वचनों पर आश्रित है, इसलिए उसे कितना आगम का ज्ञाता, व्यवहार-कुशल व शुद्धचित्त और दूरदर्शी होना चाहिए, इसे तुम स्वय सोच सकते हो।

हे मुने! तुम छद्मस्थ हो, अज्ञान से या प्रमाद से या क्रोधादि के उदय से तुम से भूल हो जावे, तुम्हारे मुख से आगम के प्रतिकूल शब्द निकल जावे, तो तुम अभिमान वश उस असत्य का पोषण मत करो। 'हाथी के दाँत बाहर निकल जाने पर फिर अन्दर नहीं जाते' ऐसा समझकर स्व पर अकल्याण कारक उस असत्य को सत्य सिद्ध करने में असत्य मार्ग का अवलम्बन लेकर अपने मुनिपने को ही मत खो बैठो। अपनी भूल को जल्दी सभालो। अपनी भूल स्वीकार करना महत्ता का लक्षण है, उससे अपना लघुपन मत समझो। तुम्हारा उपदेश सर्वथा प्रामाणिक होना चाहिए।

(२३) प्रतिज्ञा का आग्रह

मुनियों को स्मरण रखने की बात है कि यदि किसी गृहस्थ को किसी प्रकार की प्रतिज्ञादि करवाना हो तो द्रव्य-क्षेत्र-कालादि की तथा उसकी योग्यता पर अवश्य दृष्टि रखें। जिसका कोई सम्यक् प्रकार निर्वाह कर सके और जिसके द्वारा किसीके, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व

सम्यक्चारित्र में उन्नति हो वही प्रतिज्ञा किसी को दिलानी चाहिए। प्रतिज्ञा का नहीं लेने वाला उतना दोषी नहीं होता जितना कि किसी प्रतिज्ञा को लेकर उसका भंग करने वाला दोषी होता है।

प्रतिज्ञा भी पद के योग्य और क्रमबद्ध होनी चाहिए। जैसे गृहस्थ को प्रथम कुदेवादि के सेवन का त्याग कराकर सच्चे देव-गुरु-धर्मपर श्रद्धा रूप सम्यग्-दर्शन के साथ मूलगुणों को धारण कराना आवश्यक है। तत्पश्चात् अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग व योग्य प्रतिज्ञाएँ दिलानी चाहिए। प्रतिज्ञा के लिए दबाव डालना या आदेश करना मुनि के योग्य नहीं है। मुनिका कर्तव्य वस्तुका स्वरूप दिखलाना मात्र है। वस्तुके गुण व दोष का विश्लेषण कर देना, हानि व लाभ दिखला देना चाहिए। मुमुक्षु लोग अपनी शक्ति व रुचि के अनुसार जो प्रतिज्ञा धारण कर लें उसे ही वे पाल सकते हैं। बलात्कार से अथवा बुरा-भला सुना कर दिलाई हुई प्रतिज्ञा स्थायी नहीं होती और उसका पालन कठिन हो जाता है। सार यह है कि जिन चीजों के त्याग से प्राणी-संयम व इन्द्रिय-संयम मुख्यरूप से पलता है, उनका त्याग प्रथम होना चाहिए हिंसादि पापों में कमी हुए बिना अन्य प्रतिज्ञाओं से कोई फल नहीं मिलता यही त्याग का क्रम है। क्योंकि गृहस्थ के भी एक देश संयम का होना जरूरी है।

अक्रम के त्याग से कोई भी व्रत पुष्ट नहीं होने पाता। जैसे ऊपर चढने की इच्छा वाला कोई व्यक्ति एक पैर तो पहली सीढी पर रखे रहे और दूसरा पैर पाँचवीं सातवीं सीढी पर रखना चाहे वैसा ही यह अक्रम का त्याग है। आगे बढ़ने के लिए तो यही आवश्यक है कि किसी भी पैर को बहुत नीचे की सीढी पर न रहने दिया जाय पर अक्रम से त्याग कराने वालों को इसका कोई ध्यान नहीं होता। पाक्षिक श्रावक की क्रियाएँ पूर्ण न होने पर भी वे नैष्ठिक के योग्य प्रतिज्ञाएँ करा देते हैं; जिससे गृहस्थों के व्रतों मे स्थिरता नहीं देखी जाती और प्रायः हँसी ही होती है।

उपसंहार

आज-कल मुनियों को अपने अकर्तव्य कर्मों का बिल्कुल ध्यान नहीं है। ऊपर जिन कार्यों का अकर्तव्य श्रेणी में उल्लेख किया है वे तो संकेत मात्र हैं। अकर्तव्यों की कोई संख्या नहीं हो सकती। मुनि के २८ मूल गुणों मे जिनसे भी बाधा आती है, या जगद्वन्द्य मुनि का पद जिन भी कार्यों से उपहास की वस्तु बनता है वे सभी मुनियों के अकर्तव्य हैं। प्रत्येक मुनि को अपने मुनित्व की रक्षा के लिए उनसे दूर से ही बचना चाहिये। पर आज तो किसी का अनुशासन न रहने से प्राय सभी मुनियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति दिखाई दे रही है, प्राय सभी मनमानी कर रहे हैं। अपने मुख्य धर्म अहिंसा-व्रत की पूर्ण रक्षा का भी उन्हें ध्यान नहीं दिखाई देता। अनेक आरंभ कार्यों में उनका सहयोग रहता है, अनेक ऐसे कार्यों से उनका साक्षात् संबंध भी देखा जाता है। आज मुनि-लोग बहुत नीची श्रेणी मे उतर आये हैं। पहले कहा जा चुका है कि कोई अपने लिये जल गर्म करवाता है, किसी के साथ चौके रहते हैं, कोई सांठे पेलने की मसीन रखता है, किसी के पास किसमिस के डब्बे पाये जाते हैं, मुनियों के साथ में गाडी-बैल, आदमी आदि भी रहते देखे गये हैं और मुनि स्वय उनके खाने-पीने के प्रबन्धके लिए गृहस्थों से याचना करते भी सुने गये हैं। यह सब मुनियों के पतन की चरम-सीमा है। ऐसे व्यक्तियों में मुनित्व रह ही क्या जाता है, केवल कलंकित वेष ही अवशेष रहता है। अब उस निष्परिग्रह बाह्य वेष में भी अनेक

(कपड़े का छोटा डेरा) रखता है। किसी को अपने लिए तैयार कराई हुई लकड़ी की पेटी में सोते हुए भी
दोष लगने लगें हैं। कोई अपने साथ भंगी, पर आश्चर्य तो यह है कि स्वय मुनि-मार्ग से इतने पतित होते हुए भी यह अभिमान के शिखर पर चढे हुए हैं। वेचारे
लज्जा का अनुभव नहीं होता, गृहस्थ ने जरा-सी इनकी मन-मानी नहीं की या मनमानी करना भूल गया या उससे कुछ गलती हुई तो ऐसा रोष प्रकट करते हैं मानो उसे भस्मावशेष
ही कर डालना चाहते हैं। प्रतिग्रह के समय प्रदक्षिणा देना भूल जाय, या जरा गलती कर जाय तो ऐसे फुदक कर चल देते हैं कि मानो अनर्थ हो गया।
जैन प्रम्परानुसार भक्तियाँ नौ ही होती हैं, न अधिक और न कम। पर आज के मुनि जब तक अपनी मनमानी दो चार भक्तियाँ और न करालें तब
तक उन्हें सन्तोष नहीं होता। उनकी ऐसी प्रवृत्तियों से आहार देनेवाले श्रावक बहुत परेशान हो जाते हैं। आहार देने के प्रत्येक क्षण मे उनके हृदय
में भय बना रहता है। जब तक विधवा स्त्री अपने पैरों से कड़े न उतारे तब तक वे आहार नहीं लें। अमुकवर्ग से रोटी-बेटी व्यवहार का
त्याग नहीं किया जाय तब तक उनका आहार नहीं हो। कोई सेतवाल जैन या दस्से हूमड़ आदि के हाथ का छुआ हुआ पानी भी पीता हो तो उन्हें
आहार नहीं दे सकता। शूद्र-स्पृष्ट जल त्याग और जनेऊ व तिलक लगाये बिना आहार न दे सकने की बात तो सर्व विदित ही है। किसी ने श्वेताम्बरों
के हाथ का जल पीने का त्याग कराने में ही धर्म समझ रक्खा है और सब से बड़ी बात तो यह है कि अष्टमी-चतुर्दशी को त्यागी हुई हरी वस्तुओं के
पुनः सेवन की प्रतिज्ञा करा करा के भी आज लोग मुनि बने हुए हैं। जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है। इसमे त्याग का महत्व तो सर्व विदित है पर
निवृत्ति से प्रवृत्ति में लाना, त्यागी हुई हरी वस्तु के पुनः सेवन के लिए आग्रह करना कहाँ का मुनि-धर्म है? पर आज तो त्याग और ग्रहण सभी अविवेक
की भित्ति पर स्थित हैं, फिर क्या कहा जाय? ऐसी उन्मार्ग प्रवृत्ति कराने वाले मुनियों से तो यही कहावत चरितार्थ होती है कि— "आप डूबे पांडिया
ले डूबे यजमान"। सो ऐसे मुनियों से किसी भी समाज का कल्याण नहीं हो सकता। अनिष्ट ही अनिष्ट है। जगह जगह जो कलह और विसवाद हो रहे हैं
वे ऐसी ही मनमानी कुप्रवृत्तियों के फल हैं। पर पूजा-प्रतिष्ठा के लोभ में फँसे हुए मुनि, और मुनि-भक्ति के पुण्य के भूखे गृहस्थ यदि बिना अपने
आदर्श को विचारे, अविवेक के साथ ऐसी ही क्रियाएं करते रहेंगे तो गृहस्थ तो निम्न श्रेणी गत होते ही हैं, साधु भी विशेष पतित बन जावेंगे और
साधु संस्था का भी हमेशा के लिए पतन हो जायगा। इसलिए हे मुनियो! तुम अपने पद का खयाल करो। भगवान आदिनाथ के समान पूज्य वेष को
तुमने धारण किया है। वीतरागता और ससार मे शान्ति स्थापन के कार्यों से ही तुम्हारी शोभा है। जगह जगह कलह और विसंवाद फैलाने से तुम
ससार के उद्धारक कैसे बन सकते हो? तुम चाहे जितने पढ़े-लिखे एवं शास्त्र ज्ञानी होओ यदि तुममे चारित्र की विशेषता नहीं होगी, तुम भी गृहस्थों
की तरह विषय-कषायासक्त ही होओगे तो तुम्हारे पद की कभी शोभा नहीं हो सकती। श्री मल्लिभूषण आचार्य ने कहा है—

रात्रिश्चन्द्रमसा विनाऽब्जनिवहैर्नो भाति पद्माकरो —
यद्वा पण्डितलोकवर्जितसभा दन्तीव दन्तं विना।
पुष्पं गन्धविवर्जितं मृतपतिः स्त्री चेह यद्वन्मुनि —
श्चारित्रेण विना न भाति सततं यद्यप्यसौ शास्त्रवान् ॥ २ ॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—जैसे चन्द्रमा के विना रात्रि, कमल समूहके विना सरोवर, पण्डितों के विना सभा, दांतों के विना मदोन्मत्त हाथी,सुगन्ध के विना पुष्प और पति के विना स्त्री शोभा नहीं पाती, वैसे ही सच्चारित्र के विना मुनि की शोभा नहीं होती चाहे वह कितना ही उद्भट विद्वान क्यों न हो।

यदि तुम्हारा चारित्र विशिष्ट नहीं हुआ तो केवल वस्त्र छोड देने से तुम्हारा महत्व कैसे बढ़ जायगा ? राग-द्वेष की प्रवृत्ति को मिटा कर अन्तःकरण को शुद्धात्मा की भावना से भावित करने पर ही तुम्हारा महत्व है। कहा भी है—

किं वस्त्र-त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते
क्ष्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ?
मूलं किं तपसः क्षमेन्द्रियजयः सत्यं सदाचारता
रागादींश्च बिभर्त्ति चेन्न स यतिर्लिङ्गी भवेत्केवलम् ॥ ३ ॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे मुनि। तुमने वस्त्र त्याग दिये, पर इतने मात्र से क्या हुआ ? क्या कँचुली उतार देने मात्र से सांप कभी दुनियाँ में निर्विष हुआ है ? तपस्विता की जड़ तो क्षमा, इन्द्रिय-जय, सत्य और सदाचारिता है। यदि यह न होकर तुममें राग-द्वेषादिका हलाहल भरा होगा तो तुम यति कदापि नहीं हो सकते, केवल यति-वेषी ही हो सकते हो।

भाव यह है कि यदि तुम वास्तव में मुनि बनना चाहते हो तो अपने हृदय को शुद्ध करो, आरम्भ और परिग्रह से विरत रहो। जैसे अपने सफेद वस्त्र को निर्मल बनाये रखने की इच्छावाला व्यक्ति कालिमा से भय खाता है, उसके नजदीक भी नहीं जाता, उसी तरह तुम भी अकर्तव्यों से डरते रहो। वे कभी न बन पड़ें इसके लिए सावधानी रखो। यदि कोई गृहस्थ अज्ञान या भक्तिवश ऐसे कार्यों का तुम्हारे से सम्पर्क मिलावे तो उससे दूर रहो। आवश्यकता हो तो उसके कार्य की अनुचितता का भी उसे ज्ञान करा दो। यह कहाँ की भक्ति आई-जो शीतकाल में शीतपरीषह सहने के समय में भक्त-गृहस्थने अंगीठी जलाकर तुम्हारे पास रख दी और तुम उससे अपनी सरदी मिटाने लगे, उसने परदे बांध दिये और तुम शीत की बाधा से घबरा कर उनमें जा छुपे। उसने लकड़ी की पेटी बना कर घास भर दिया और तुम उसमें आराम से जा सोये। तुम जरा सोचो तो। यह कितना पतन है ? मुनि की तो सिंह-वृत्ति है, उसमें कायरता का क्या काम ? तुम्हें गृहस्थों की भक्ति पर रीझने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ तो विषयकषायासक्त होते हैं, उनमें राग की प्रबलता होती है, वे तुम्हें कभी परीषह के सम्मुख नहीं करेंगे। पर तुम्हारा कल्याण तो परीषह सहने में है। उनसे भय खाने में नहीं। परीषहों से डर बना हुआ है तो गृहस्थ ही क्यों नहीं बने रहे, मुनि पद को लजाने से क्या लाभ ? इसलिए सर्वदा ध्यान रखो—शीत उष्ण आदि की बाधा सहना ही मुनि के लिए स्वाभाविक है। उसे दूर करने के लिए अंगीठी आदि का प्रबन्ध होना तो एक प्रकार का उपसर्ग है। जैसे मुनि पर कपड़ा डाल देना स्वाभाविक नग्न-परीषह के विरुद्ध होने से उपसर्ग है वैसे ही स्वाभाविक

शीत-परीषह के विरुद्ध अंगीठी आदि का प्रबन्ध है। इस तरह यदि प्रत्येक बाधा के उपशमन के लिए उपाय किया जाने लगेगा तो बाईस परीषहों के सहने का कभी अवसर ही नहीं आवेगा। इसलिए भक्त लोग यदि कोई ऐसा प्रबन्ध करें जो मुनि की स्थिति के विरुद्ध हो और वे उसका ज्ञातभाव से उपयोग करते रहें तो वह भी सर्वथा अनुचित है। ऐसे कार्यों से उनका उत्थान रुके बिना न रहेगा। मुनि तो कपड़ा या सूत लगी हुई चटाई का भी उपयोग नहीं कर सकते। घास के सांथरे का उपयोग ही उनके लिए उचित माना गया है। तब अधिक की क्या बात। अस्तु, अधिक विस्तार करने से कोई लाभ नहीं। अकर्तव्य मार्ग से हटने पर ही कोई मुनित्व का सच्चा लाभ उठा सकता है। अन्यथा इससे स्वय मुनियों का ही नहीं, गृहस्थों का भी अकल्याण है। हीनाचारी एवं पतित मुनियों के उपदेश से गृहस्थों का भला कैसे हो सकता है? गृहस्थ भले ही यह समझते रहें कि हम मुनि-भक्ति करके पुण्य सचय कर रहे हैं पर उनका ऐसा समझना भूल भरा होगा। जब सच्चा मुनि ही नहीं, तब किसकी भक्ति और कैसा मुनि-भक्ति का फल? गृहस्थ यदि अपना उद्धार चाहें तो उन्हें वेषियों की कभी पूजा नही करनी चाहिए, तभी वे सच्चे मुनियों को पा सकेंगे और उनकी भक्ति से यथार्थ लाभ उठा सकेंगे। काल-दोष से इस समय कोई जैन राजा नहीं है, जो मुनियों की निरकुश प्रवृत्ति पर अनुशासन करे। परस्पर मुनियों का तो वर्तमान में अनुशासन हो ही कैसे सकता है जब कि स्वेच्छाचार मय प्रवृत्ति को ही उनने अपना लक्ष्य बना रखा है और उसके आधार पर खड़ी की हुई पार्टियों से उन्हें पूजा भी मिल रही है। एक-मात्र गृहस्थ चाहें तो उन्हें मार्ग पर अवश्य ला सकते हैं, क्योंकि उनकी सारी पूजा-प्रतिष्ठा और निर्वाह उन्हीं पर निर्भर है। अब तक सदा से मुनि गृहस्थों को धर्म-मार्ग पर लगाते रहे हैं। यदि इस जमाने मे मुनि-धर्म की रक्षा के लिए गृहस्थ मुनियों पर अनुशासन करें तो इसमें भी क्या अनुचित है? ऐसा किये बिना मुनि और श्रावक दोनों के ही सयम की रक्षा नहीं हो सकती। हाँ, यह माना कि गृहस्थों से मुनि का पद ऊँचा है, पर आज के मुनियों में अधिक को देखा जाय तो उन्होंने तो मुनि-मार्ग को ही नहीं समझा, केवल मान-प्रतिष्ठा के लिए ही वेष धारण किया है। फिर ऐसों के सम्बन्ध में क्यों सकुचाना? दूसरी बात यह है कि गलती का तो बड़ों से भी होना संभव है। माघनन्दी जैसे मुनियों से भी गलतियाँ हुई हैं और ऐसी गलतियाँ हुई हैं जो किसी भी प्रकार उनके पद के योग्य नहीं थीं। यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि मुनि कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकते। यदि ऐसा ही हो तो फिर वे प्रायश्चित्त ही क्यों लें?

प्रश्न—यह ठीक है कि मुनियों से भी अपराध या अनुचित कार्य हो जाते हैं; पर उनका प्रायश्चित्त तो वे स्वयं ही ले सकते हैं या आचार्य के पास आकर अपने दोषों की शुद्धि कर सकते हैं। गृहस्थों को उन्हें कुछ भी कहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जो साधारण अपराध हों उनका प्रायश्चित्त वे स्वयं कर सकते हैं और गुरुओं से भी उनका प्रायश्चित ले सकते हैं। पर ये दोनों ही बातें तब हो सकती हैं जब अपराध को अपराध समझा जावे। किन्तु अज्ञान, प्रमाद अथवा अहकार वश उच्छृङ्खल होकर कोई मुनि या व्रती मार्ग-विरुद्ध प्रवृत्ति करने लगे और उससे जैन शासन का उपहास हो रहा हो तो उसे रोकने का तो गृहस्थों को भी पूर्ण अधिकार है। यह कैसे माना जा सकता है कि मुनि हो जाने के बाद कोई कुछ भी करता रहे और उसे कोई कुछ भी न कहे? इस बात का किसी भी शास्त्रसे समर्थन नहीं हो सकता। जैन पुराणों में इस सम्बन्ध में जैसे कथानक आये हैं उन से तो यही सिद्ध होता है कि गृहस्थ भी वेषी मुनियों के अनुचित कार्यों मे हस्तक्षेप कर

सकते हैं। श्री आदिदेव के साथ हजारों राजाओं ने उनकी देखादेखी तप धारण कर लिया। उन्हें आत्म-बोध तो था नहीं केवल अन्धानुकरण था। आदीश्वर जैसी उनमे शक्ति कहाँ थी ? वे उनकी तरह बहुत समय तक निराहार न रह सके। अन्त में क्षुधा से व्याकुल होकर वृक्षों के फलादि भक्षण करने लगे। इस प्रकार उनकी जैन शासन के विरुद्ध प्रवृत्ति देखकर यक्ष देव ने उनको फटकारा। मुनिवेष को धारण कर इस प्रकार शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्ति करना उसे सह्य नहीं हुआ। 'यदि ऐसी प्रवृत्ति करना ही इष्ट है तो फिर मुनि वेष क्यों धारण कर रखा है ? क्यों नहीं उसे छोड़ दिया जाता ?' यक्ष देव की इस प्रकार की बातें बिलकुल उचित थी। असंमियों द्वारा सयमियों का शासित किया जाना उस अवस्था में कभी अनुचित नहीं कहा जासकता, जब सयमी अपना कर्तव्य छोड देते हैं और निरर्गल हो जाते हैं। राजा श्रेणिक के जीवन में भी इसी प्रकार की एक घटना का वर्णन है। परम श्रद्धालु असयमी राजा श्रेणिक ने नदी के किनारे कमण्डलु में मछली भरते हुए मुनि को देखकर क्या कभी यह विचार किया था कि मैं गृहस्थ होकर मुनि को कैसे डांट फटकार लगाता हूँ ? ये सब उदाहरण इसीलिए हैं कि अगर कोई मुनि-लिग अथवा व्रती का वेश धारण कर शास्त्र-मार्ग से उलटे चलें तो उन्हें गृहस्थों को समझाना चाहिए। यदि फिर भी वे न मानें तो उनपर शास्त्रानुकूल शासन करने में कभी नहीं चूकना चाहिए। इसमें तनिक भी पाप नहीं है। आजकल के जो गृहस्थ इन बातों से डरते हैं वे अवश्य ही अपने कर्तव्य से च्युत हैं। यदि उनके भाव शुद्ध हों तो फिर उन्हें डरने की क्या जरूरत है ? गृहस्थ यदि यह सोचें कि कोई कुछ भी करें, जो जैसा करेंगे वे उसका वैसा फल पावेंगे। हम तो भेष की पूजा करते हैं। तो उनका यह समझना भी ठीक नहीं है। यह माना कि दूसरे के कृत्यों का फल वे नही पावेंगे, किन्तु दूसरों के प्रति उनका जो उत्तर दायित्व है उसको तो उन्हें निभाना चाहिए। कोई आदमी कुवे में गिर रहा हो उसे यदि रोका जा सके तो जरूर रोकना चाहिएं। यदि कोई उसे देखते हुए भी आख मींच ले तो वह जरूर अपने कर्तव्य से गिरेगा। इसलिए यदि कोई मुनि या व्रती जैनधर्म की अप्रभावना का कारण हो रहा हो तो गृहस्थों को अवश्य उसे ठीक राह पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल वेष की पूजा से किसी का कल्याण नहीं हो सकता। केवल वेप को पूजना तो मूर्खता का चिह्न है। भगवान महावीर का सच्चा अनुयायी ऐसी बात कभी नहीं कर सकता। मनुष्य को गुणों का पुजारी होना चाहिए न कि वेप का। जैनधर्म की यही तो विशेपता है कि वह व्यक्ति-पूजक नहीं गुण-पूजक है। श्री भट्टाकलंक देव ने लिखा है कि:—

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयं।
तं वंदे साधु-वंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

इसका अर्थ यह है कि चाहे बुद्ध हो चाहे महावीर हो, चाहे ब्रह्मा हो चाहे विष्णु हो और चाहे शिव हो वही हमारे लिए पूजनीय है जिसने सब जगत को जान लिया हो जो सस्कार-समुद्र के पार पहुँच गया हो, जिसके वचन पूर्वापर विरोध रहित अनुपम एवं निर्दोष हों, जो सब

गुणों का समुद्र हो, साधुओं द्वारा वंदनीय हो तथा जिसने सब दोषों को नष्ट कर दिया हो। यह पद्य हमें बतलाता है कि गुण ही पूजा के स्थान हैं लिंग अथवा वेष नहीं।

भगवान कुंदकुद ने कहा है कि द्रव्य की अपेक्षा नग्न होना कोई महत्व की बात नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा तो सभी नग्न हैं। वास्तव में तो वही नग्न है जो भाव की अपेक्षा भी नग्न है। शुभ अशुभ बंध का कारण अथवा कर्म-मोचन का कारण भाव ही है। जिसके भाव शुद्ध नहीं हैं वह चाहे कोई भी वेश धारण करे बिलकुल निष्फल है। अतः भूलकर भी किसी को वेष के कारण पूजना ठीक नहीं है। प्रत्येक जैनी को परीक्षा प्रधानी होना चाहिए। श्री समन्तभद्र स्वामी ने तो भगवान तक की परीक्षा की है। जो पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनके विषय में तो आज्ञा-प्रधानी होना ठीक है। परन्तु देव-शास्त्र-गुरु के मानने में आज्ञा-प्रधानी होना उचित नहीं। उनके सच्चे-झूठेपन की अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। तभी कल्याण होना सम्भव है। कविवर बनारसीदासजी चाहे जिस वेषी को कभी नमस्कार नहीं करते थे। वे परीक्षा करने के पश्चात् यदि किसी को पूज्य पाते तो नमस्कार करते। किसी ने कहा है:—

स्वकीयाः परकीया वा मर्यादालोपिनो नराः।
न माननीयाः किं तेषां तपो वा श्रुतमेव च॥

अर्थात्—चाहे अपने वर्ग के आदमी हों चाहे परवर्ग के, यदि वे मर्यादा का लोप करनेवाले हैं तो उनको कभी नहीं मानना चाहिए। मर्यादा-लोप करनेवालों का न तो तप ही प्रशसनीय है और न शास्त्र-ज्ञान ही।

इसलिए निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि जिनको अपने पद की मर्यादा का ध्यान नहीं है वे व्यक्ति कभी मान्य नहीं हैं। यथार्थ मार्गानुसार प्रवृत्ति करने वालो की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए—यही उन्मार्ग प्रवृत्ति को रोकने का सब से सफल उपाय है। यह सब कुछ लिखने का अभिप्राय यह है कि बिना किसी प्रकारके अंकुश के मनुष्य सुधर नहीं सकता। वह चाहे गृहस्थ हो चाहे साधु हो, उस पर नियन्त्रण की नितान्त आवश्यकता है। धार्मिक क्षेत्र में इसी नियन्त्रण के लिए आचार्य-पद की प्रतिष्ठा हुई थी। पर वर्तमान में उच्छृङ्खलता बढ़ जाने से उसके नियन्त्रण की कोई परवाह नहीं करता, तब गृहस्थों को सावधान होने की जरूरत है। अन्यथा स्थिति और भी बिगड़ जायगी। अभी तक दि० जैन मार्ग के उसी रूप में चले आने का यही कारण है कि अब तक चतुर्विध संघ पर पूरा नियन्त्रण रहा है। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सब ने आचार्यों की आज्ञाओं का ध्यान रखा है और तदनुसार प्रवृत्ति भी की है। यदि प्रमाद आदि के कारण कोई दोष बन गया है तो निष्कपट भाव से गुरुओं से निवेदन कर उनके बताये हुए प्रायश्चित्तादि द्वारा उसकी शुद्धि की है। उन्मार्ग प्रवृत्ति करने वालों को यदि यथोचित दण्ड न मिलता तो अब तक न मालूम क्या होता। थोड़े से अपराधों के दण्डों का यहाँ उल्लेख किया जाता है, जिस से विदित होगा कि अकर्तव्य करने वालो को उचित शिक्षा देने के लिए कैसी-कैसी व्यवस्था है। प्रायश्चितचूलिका में लिखा है:—

यश्च प्रोत्साह्य हस्तेन कलहयेत् परस्परम् ।
असम्भाष्योऽस्य षष्ठं स्यादाषण्मासं सुपापिनः ॥५०॥

अर्थ—जो हाथों के इशारे से प्रोत्साहन देकर आपस मे कलह करावे वह मुनि भाषण करने योग्य भी नहीं है। वह इतना पतित हो जाता है कि उससे किसी को बोलना भी नहीं चाहिए। ऐसे महापापी को छह महीने तक षष्ठ (वेला) प्रायश्चित्त होना चाहिए।

भाषासमितिमुन्मुच्य मौनं कलहकारिणः ।
क्षमणं च गुरूद्दिष्टमपि षट्कर्मदेशिनः ॥४५॥ (प्रा०चू०)

अर्थ—जो मुनि भाषा-समिति को छोड़ कर कलह करे अर्थात बोलने में भाषा-समिति का ध्यान न रखे और शाब्दिक कलह भी उत्पन्न करदे, उसे मौन प्रायश्चित्त देना चाहिए, उसका बोलना बन्द कर देना चाहिए, अर्थात् उसके लिए यही सजा है कि वह न बोला करे। इसी तरह जो छह काय के जीवों को बाधा पहुँचाने वाले असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मों का उपदेश करे उसके लिए उपवास प्रायश्चित्त है या जो कुछ गुरु कहें वह प्रायश्चित्त उसे लेना चाहिए। इसी तरह :—

असंयमिजनज्ञातं कलहं विदधाति यः ।
बहूपवाससंयुक्तं मौनं तस्य वितीर्यते ॥४६॥ (प्रा० चू०)

अर्थ—जो मुनि ऐसा कलह करे कि जिसे मिथ्या-दृष्टि लोग भी जान जावें उसे अनेक उपवास सहित मौन प्रायश्चित्त दिया जाता है।

जनज्ञातस्य लोचस्य बहुभिः क्षमणैः सह ।
आपण्मासं जघन्येन गुरूद्दिष्टं प्रकर्षतः ॥४८॥ (प्रा०चू०)

अर्थ—जिस कलह को सब जान जावें उसका प्रायश्चित्त अनेक उपवासों के साथ लोच करना है। ऐसा अपराधी कम से कम एकसे लेकर छह महीने तक के उपवास करे या इससे विशेष जितने के लिए गुरु आज्ञा दें।

हस्तेन हन्ति पादेन दण्डेनाथ प्रताडयेत् ।
एकाद्यनेकधा देयं क्षमणं तृविशेषतः ॥४९॥ (प्रा० चू०)

अर्थ—जो साधु हाथ से, पैर से या दण्डे से किसी को मारे-पीटे उसको एक उपवास से लेकर अनेक प्रकार—अर्थात् वेला, तेला आदि उस अपराधी साधु की शक्ति का विचार कर प्रायश्चित्त देने चाहिए।

कृताधिकरणो गच्छेऽनुपशान्तः प्रयाति यः।
तस्य छेदो भवेदेष स्वगणेऽन्यगणेऽपि च ॥२२९॥ (प्रायश्चित्त समुच्चय)

अर्थ—जो मुनि संघ में कलह करके क्षमा माँगे बिना अन्यत्र चला जावे या स्व-संघ में ही रहे उसे निम्नोक्त छेद प्रायश्चित्त देना चाहिये।

प्रत्यहं छेदनं भिक्षोः पंचहानिः स्वके गणे।
वृषभस्य दशोक्तानि गणिनो दश पंच च ॥२३०॥ (प्राय०समु०)

अर्थ—सामान्य साधु के लिये स्व-गण में प्रति दिन पाँच गुणा, प्रधान मुनि के लिये दश गुणा और आचार्य के लिए प्रतिदिन पन्द्रह गुणा दीक्षा-छेद होने का प्रायश्चित्त होता है।

भावार्थ—सामान्य मुनि, प्रधान मुनि या आचार्य कलह करके स्व-संघ में बने रहें और उस दिन क्षमा नहीं माँगें तो सामान्य मुनि की पाँच दिन की, प्रधान मुनि की दश दिन की और आचार्य की पन्द्रह दिन की दीक्षा छेद देनी चाहिए। इस हिसाब से वे जितने दिन क्षमा नहीं मांगें उससे पाँच गुणे, दश गुणे या पन्द्रह गुणे दिनों की दीक्षा छेद के भागी होते हैं।

यह थोड़ासा दिग्दर्शन मात्र है। इसी तरह प्रत्येक दोष के लिये प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। पर इस समय मुश्किल यही है कि मनमानी प्रवृत्ति करते हुए भी जब पूजा-प्रतिष्ठा हो रही है तब प्रायश्चित्त ले कौन और दे कौन ? जैसे ऊपर के कथन में ही यह है कि कलह करके भी क्षमा न माँगे और स्व-संघ में रहें तो उनकी यथोचित्त दीक्षा छेद देनी चाहिए। पर आज-कल तो कलह करके क्षमा माँगे बिना ही शिष्य संघ में से चले जाते हैं और गुरुओं का अपमान करते हैं, जैन-मार्ग को कलंकित करते हैं। फिर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता। यह बात तो अब है ही नहीं कि अकेले वे नहीं रह सकते या अकेले रहने की दशा में उन्हें पूजा नहीं मिल सकती और स्व-संघ में या पर-संघ में जहाँ भी कहीं वे रहेंगे उन्हें प्रायश्चित्त ग्रहण करना अनिवार्य होगा। इसी स्वतन्त्रता का फल उच्छृंखल प्रवृत्ति है, जो सब अनर्थों की जड़ है। यदि कठोर नियन्त्रण का भय रहे तो चाहे जो ही व्यक्ति कपड़े पटक कर मुनि नहीं बन सकता। जिसके हृदय में परिपूर्ण वैराग्य होगा वही मुनि के वेष को धारण करेगा। इस जमाने के धर्म-सधैया लोगों की अन्तःस्थिति एक कवि ने लिखी है:—

"जैसे काहू मूढ को न नग की जिगाद कछू
नफा नुकसान को न ज्ञान जाके हियरा ।
खोल बैठ्यो जौहरी की हाट कांटो बाट धरे
धरे बहु झूठ नग बोले बोल सियरा ।
जे हैं अविचक्षण ते जाने साँचो जौहरी ही
जानत विचक्षण न धन याके नियरा ।
ऐसे कलिकाल माहिं धर्म के सधैया मर
धर्मी से हैं दीसैं पै न धर्म याके हियरा ॥

इसलिए वास्तविकता को पहचाने बिना या सच्चे झूठे की परीक्षा किये बिना जो दिखावटी दुकानदारी—केवल बाह्य वेष—को देखकर लुभा जायगा वह अवश्य धोखा खावेगा। इसमें सन्देह नहीं। अब अपने कल्याण के लिए कैसे गुरुओं की शरण लेनी चाहिए, कैसे गुरुओं की सेवा से अपना भला हो सकता है यह बताया जाता है—

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते प्रवर्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः ।
स सेवितव्यो स्व-हितैषिणा गुरुस्वयं तरन्तारयितुं क्षमः परं ॥

अर्थ—जो स्वयं निर्दोष मार्ग में प्रवृत्ति करता है तथा निस्पृह होकर अर्थात् बिना किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना के अन्य लोगों को भी उनमें प्रवृत्त करता है उस स्वयं तरने और दूसरों को भी तारने में समर्थ गुरु की अपना भला चाहने वालों को सेवा करनी चाहिए।

जैसे नाव में बैठने से पहले यह देखने की आवश्यकता है कि यह नाव सच्छिद्र तो नहीं है, इसमें कहीं से पानी तो नहीं आता है, इसमें बैठकर नदी आदि को पार भी किया जा सकेगा या नहीं उसी प्रकार किसी साधु की शरण लेने से पहले यह भी विचारणीय है कि जिसकी हम उपासना करना चाहते हैं उससे हमें कोई लाभ भी होगा या नहीं। वह पत्थर की नाव के समान तो नहीं है जो आप भी डूबे और अपनी शरण लेने वाले दूसरों को भी डुबो दे। भाव यह कि जब बाजार में दो पैसे की हांडी लेते समय भी पूरा विचार किया जाता है, उसे खूब बजा-बजा कर पहले देख लिया जाता है तब खरीदा जाता है तब अपने आत्मिक उत्थान के एक मात्र कारण देव, शास्त्र, गुरु के सबंध में ही क्यों मूढ़ता धारण की जाय, उनकी भी पूरी परीक्षा करके ही उनको अपनाना चाहिए।

प्रश्न—आप मुनियों पर इतना कठोर नियन्त्रण चाहते हैं तब इस कलिकाल में कोई मुनि कैसे बनेगा ? इस समय मुनियों के सब व्रतों का निर्वाह होना बहुत ही कठिन है, इसलिए इस काल मे तो कोई जितना निभावे उतना ही अच्छा समझकर उसकी पूजा करनी चाहिए।

उत्तर—यह ठीक नहीं। मुनि-पद की जो मर्यादा पूर्वाचार्यों द्वारा निश्चित है वह बदली नही जा सकती। यदि किसी मे कठिन व्रतों को निभाने की सामर्थ्य नहीं है तो पहले ही वह उन्हें अंगीकार क्यों करे ? ऊपर चढ़कर फिसलने वाले की अपेक्षा भूमि पर अपने पैरों को स्थिरता से जमाये रखने वाला अधिक अच्छा है। अपने मे सामर्थ्य न होने से कोई मुनि नहीं बने तो इसमें बुराई नहीं है। उपहास की बात तो तब है जब कि उच्च पद में रहकर उसका निर्वाह न कर सके। भूमि पर चलने वाला तो हर हालत मे भूमि पर ही है। वह भूमि से नीचे नहीं जा सकता है। भूमि पर उसकी कई श्रेणियाँ हो सकती हैं—कोई गड्ढे में उतरा हुआ, कोई समतल भूमिपर या कोई उससे ऊपर आदि। पर पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ आदमी यदि दो कदम भी नीचे उतरता है तो उसका पतन ही कहा जायगा। वहाँ से उसके पैर फिसलेंगे और वह भूमि पर आ गिरेगा तो उसके हाथ-पैर टूटे विना न रहेंगे। इसी प्रकार गृहस्थ तो भूमि पर चलने वाला प्राणी है उसका तो और पतन क्या होगा, वह तो हर हालत में पतित है। यदि उसमें थोड़ी भी अच्छाई आई है तो कहना पड़ेगा कि वह कुछ उठा है। पर यदि मुनि अपने चोटी के स्थान से नीचे दिखाई देता है तो कहना पड़ेगा कि अभी उसने अपना स्थान प्राप्त नहीं किया या वह पतित हो गया है। भूमि वालों की अपेक्षा अपने को ऊँचा अनुभव कर वह अभिमान करे यह उचित नही। उसे अपने पतन पर ध्यान देना चाहिए। तभी वह अपने पद की प्रतिष्ठा को पा सकता है। इसलिए कहना यह है कि मुनि बनकर अकर्त्तव्य कभी नही करने चाहिए। पहले ही सोच-समझ कर और अपनी सामर्थ्य देख कर दीक्षा लेनी चाहिए, जिससे उपहास न हो।

दीक्षा से पहले विचारणीय

संघ के नायक आचार्य को दीक्षा देकर शिष्य बनाने का अधिकार है। किन्तु वह आचार्य शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, अनुभवी, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की स्थिति को समझने वाला एवं मनोविज्ञान का वेत्ता होना चाहिए। वह प्रथम दीक्षा के लिए लालायित व्यक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त करे-जो यह दीक्षा ग्रहण की अभिलाषा कर रहा है इसका क्या कारण है ? इसको वास्तविक वैराग्य जागृत हुआ है, या कुटुम्ब के लोगों से कलह हो जाने के कारण यह दीक्षा ग्रहण करना चाहता है ? इसके परिवार मे कौन कौन है ? जो इसके आश्रित हैं उनके भरण-पोषण का क्या प्रबन्ध है ? यह ऋण के भार से घबरा कर या अच्छी आजीविका न होने से केवल पेट भरने के लिए ही तो दीक्षा नहीं चाहता है ? इसका गृहस्थ अवस्था मे नैतिक और धार्मिक जीवन कैसा रहा है ? इसकी आजीविका अधिक पापमय थी, या निरवद्य थी ? इसका स्वभाव कैसा है ? इसके पूर्व जीवन के सहवासी व सहयोगी लोगों के साथ इसकी प्रकृति का सम्बन्ध कैसा रहा ? अर्थात् इसकी प्रकृति कलह-प्रिय है, कदाग्रहमय है, या मिलनसार -य

लोक प्रिय है ? इसके शरीर के चिह्न किस सयम-पद के योग्य हैं ? यह गृहस्थ-संयम के योग्य है, या मुनि-पद के भी योग्य है ? इत्यादि अनेक पहलुओं पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् दूरदर्शिता से वह शिष्य बनावे। जिनको ससार, शरीर और भोगों की निःसारता का यथार्थ में अनुभव नहीं हुआ है, जिनकी वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा अभी नष्ट नहीं हुई है, जो वर्तमान मुनियों की पूजा-प्रतिष्ठा और स्तुति-प्रशसा को देख कर ललचा रहे हैं और लोकैषणा के वशीभूत हो मुनि के वन्दनीय वेष को धारण करने को उद्यत हैं, जिनमें इस पदके योग्य न तो ज्ञान है और न वैराग्य ही—उनको भी सहसा मुनि-दीक्षा दे देने से अवश्य ही धर्म की हँसी होती है। क्योंकि पूजा-प्रतिष्ठा को ही लक्ष्य बना कर धारण किया हुआ कोई भी पद कदापि धर्म एव आत्मोत्थान में सहायक नहीं हो सकता। बल्कि उसकी असलियत शीघ्र ही प्रकट हो जाने से वह सब के उपहास की वस्तु बन जाता है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति में मुनि होने के योग्य ज्ञान, सहनशक्ति, वैराग्य आदि बातों की कमी हो तो दीक्षा देने वालों को उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि तुम्हें मुनि-दीक्षा नहीं दी जा सकती। तुम श्रावक-पद में रह कर ही धर्म-सेवन करो।

दीक्षा के योग्य प्रतीत होने पर भी कुछ समय तक मुमुक्षु की और विशेष परीक्षा करनी चाहिए और उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर क्रमशः दीक्षा की वृद्धि करनी चाहिए। इस समय साधु-सस्था की जो अन्त स्थिति दृष्टिगोचर होरही है, वह शिष्यों की जाँच किये बिना ही दीक्षा देने का दुष्परिणाम है। यदि आचार्य पहले से ही शिष्य के लोभ में न फँसते और अपात्रों को क्षुल्लक, ऐलक, मुनि आदि की दीक्षा न देते तो समाज इस तरह कलह-दावानल से दग्ध न होता। पर किया क्या जाय ? बड़े दुःख की बात है कि दीक्षक आचार्य भी अपना सघ बढ़ाने के लिए, योग्यायोग्य का विचार न कर हर किसी को मुनि-दीक्षा दे देने के लिए तैयार हो जाते हैं। दीक्षा देने वाले यदि अपने उत्तरदायित्व का खयाल करें तो कभी उनके द्वारा अयोग्य आदमी दीक्षित न हों अयोग्य को दीक्षा देने से समाज में एक प्रकार का दूषित वातावरण फैलता है। जो सक्रामक रोग की तरह धर्म और समाज के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है। आचार के पद में जब अयोग्य लोग भी सत्कार पा जाते हैं तो उसे देख कर पाखण्डियों का भी मन मचलने लगता है और वे भी इस प्रकार के सत्कार-पुरस्कार को चाहने लगते हैं। इसी के फल-स्वरूप ऐसे लोग भी मुनि-पद पर प्रतिष्ठित होते देखे गये हैं, जिनको णमोकार मन्त्र तक का उच्चारण करना नहीं आता, जिन्हें अट्ठाईस मूलगुणों के नाम भी मालूम नहीं है और कहाँ तक कहें वर्णमाला लिखने तक का भी जिन्हें ज्ञान नहीं है। श्री आचार्य-कल्प महा पण्डित टोडरमलजी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाश में कुगुरुओं के श्रद्धान का निषेध करते हुए मुनि होने का क्रम इस भाँति बताया है—

"मुनि पद लेने का तौ क्रम यह है—पहले तत्त्वज्ञान होय, पीछै उदासीन परिणाम होय, परिषहादि सहने की शक्ति होय, तब वह स्वयमेव मुनि भया चाहै। तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार करावै। यह कौन विपरीत, जे तत्त्वज्ञान रहित, विषय-कषायासक्त जीव तिनकौं माया करि वा लोभ दिखाय मुनिपद देना, पीछै अन्यथा प्रवृत्ति करावनी, सो यह बड़ा अन्याय है।" आज कल तो यहाँ तक भी देखा जाता है कि यदि कोई दीक्षा न दे तो स्वयं कपडे उतार कर फेंक देते है और अपने आप को दीक्षित घोषित कर देते है और यह पूछने पर कि आपका दीक्षक आचार्य कौन है ? यह जवाब दे देते हैं कि अमुक तीर्थंकर से मैने दीक्षा ली है। ऐसे असगत उपहासजनक उत्तरों को सुन कर बड़ा दुःख होता है। ऐसी

प्रवृत्तियाँ समाज में उच्छृङ्खलता फैलाने वाली हैं। लेकिन अफसोस की बात यही है कि ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने की चेष्टा नहीं की जाती। लोग सब कुछ जानते बूझते हुए ऐसे लोगों को मुनि मानते हैं और उनकी पूजा-भक्ति करते रहते हैं। इस समय में मुनि-संस्था मे जो उच्छृङ्खलता आई है वह किसी भी तरह सह्य नहीं है। ऐसे भी मुनि मौजूद हैं जो लगातार कई वर्षों तक एक ही स्थान पर रहते हैं और जिनमे त्रिस्थानगत शुद्धि का अभाव है। कुछ ऐसे भी मुनि हैं, जो किसी आन्दोलन को पकड़ कर बैठ गये हैं और उसी में अपना सारा जीवन खपा देना चाहते हैं। यह सब ऐसी बातें हैं जो जैनों के आदर्श गुरुत्व के सारे गौरव को नष्ट करने वाली हैं। जैनों को पहले इस बात का बड़ा गौरव था कि उन जैसी साधु-संस्था किसी दूसरे धर्म वा समाज में नहीं है। पर इस समय तो सारा ही ढंग बदल गया है। और इन सब का कारण गृहस्थों की उदासीनता एवं विमूढ़ता है।

क्योंकि काल दोष से इस समय जैन धर्म की मर्यादा का रक्षक कोई राजा नहीं है। सब लोग अपनी मनमानी क्रियाएँ करने लग गये हैं। जिसके जब मन में आई वही कपडे फेंककर नग्न हो साधु बन जाता है और सौ पचास धर्म से अनभिज्ञ श्रावकों को अपने पक्ष में करके अपना गिरोह बना लेता है। आगम के प्रतिकूल लोकनिन्द्य प्रवृत्ति करने लगता है और निर्मल जैन धर्म में कलङ्क देकर निर्द्वन्द्व विहार करता फिरता है। धर्मज्ञ श्रावकों का कर्तव्य है कि वे ऐसे धर्म के अपवादकों पर अवश्य नियन्त्रण करें। अन्यथा इसका भयंकर दुष्परिणाम होगा।

यह बात अवश्य है कि यदि सच्चे मुनि हों तो उनके द्वारा संसार का बहुत कल्याण हो सकता है। संसार-दुःख-तप्त प्राणियों के लिए यथार्थ मुनियों का मिलना उनके सारे दुःखों को दूर करने की अमोघ औषधि है, पर तब तक यथार्थ मुनियों की प्राप्ति नहीं हो सकती, जब तक उन पर कोई कठोर नियन्त्रण न हो। दीक्षा देने वाले आचार्यों का कर्तव्य है कि वे सच्चे मुनि उत्पन्न करने के लिए थोड़ी अपनी पुत्रैषणा का नियन्त्रण करें—चाहे जिस को मुनि न नायें। यद्यपि वैराग्य से मुनि की शोभा है पर वह वैराग्य दिखाने की वस्तु नहीं है, वह तो आत्मा के भीतर की चीज है। दीक्षा के पात्र को पहचानने के लिए उसके भीतर में प्रवेश करना चाहिए। वारिषेण ने जो प्रयत्न पुष्पडाल को सच्चा मुनि बनाने के लिए किया था वैसा ही प्रयत्न आज कल के दीक्षकों को अपने शिष्यों को ठीक मार्ग पर लाने के लिए करना चाहिए। इसी में उनकी शोभा है।

तात्पर्य यह है कि दीक्षा देने व लेने वाले को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-संहननादि और बाह्य लोक-परिस्थिति का पूर्ण खयाल करलेने के पश्चात् दीक्षा देना और लेना योग्य है। जो मुमुक्षु पहले गृहस्थ के सब पदों अर्थात् ग्यारह प्रतिमाओं के संयम का यथोचित आगम के अनुकूल पालन करने में अपनी आत्मा की सामर्थ्य की परीक्षा करले, पुनः पुनः सकटापन्न अवसरों पर अपनी आत्मा को परी २ जाँच ले तब भी वह मुनि-धर्म का कुछ समय तक और अभ्यास कर, अर्थात् ऐलक अवस्था में ही अपनी शक्ति की पूर्ण जाँच करले तब, मुनि दीक्षा ग्रहण करे। जो बिना विचारे, अपनी शक्ति की परीक्षा किये बिना उत्कृष्ट संयम को धारण कर लेता है, उसको सिवाय पश्चात्ताप के और कुछ नहीं मिलता है। इस जमाने में एकदम उच्च पद को धारण करलेना अपने को पतन की ओर लेजाना है। क्योंकि उसका पूर्ण निर्वाह होना अत्यन्त कष्ट-साध्य है। इसकी अपेक्षा नीची अवस्था में उच्च सयम पद का अभ्यास करना अधिक श्रेयस्कर है। उससे आत्मा में उत्साह और निराकुलता रहती है। इसी के साथ यह और विचार लेना

चाहिये कि यह काल मुनि-धर्म के अनुकूल नहीं है। अब पहले की तरह लोगों में धार्मिकता नहीं रही है। लोगों के हृदय में से आध्यात्मिकता नष्ट होकर भौतिकता का साम्राज्य छा गया है। धर्म पर से दिनों दिन लोगों की आस्था कम हो रही है। आज-कल के लोग खाने-पीने मौज उडाने के अतिरिक्त और किसी बात में तथ्य नही देखते। धर्म को इस युग में ढोंग के नाम से पुकारा जाने लगा है। संसार का वायु-मंडल ही इस समय कुछ ऐसा हो रहा है कि इसमे आध्यात्मिकता का पनपना दुःसाध्य है। खान-पान की शुद्धता का विचार रखना अब लोगों को भार सा मालूम हो रहा है। वे इसकी जरूरत ही नहीं समझते। गाँव धीरे-धीरे नष्ट हो रहे हैं, और उनके स्थान में बडे-बड़े नगरों का निर्माण हो रहा है। क्या इस समय कोई वल पूर्वक यह कह सकता है कि कहीं भी शुद्ध घी, दही, दूध, आटा आदि पदार्थों का मिलना सुलभ है ? नगरों में तो शुद्ध जल तक का मिलना मुश्किल हो रहा है। जब कूप नष्ट कर दिये गये और उनका स्थान जगह-जगह पानी के नलों ने ले लिया और हाथ की चक्की की जगह स्थान स्थान पर पवन-चक्कियाँ हो गई। तब इन पदार्थों का मिलना सुलभ कैसे कहा जा सकता है ? यह सब चीजें गाँवों में तो फिर भी सुलभ हो सकती थीं, किन्तु वे तो अब नष्ट हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में मुनि धर्म के निर्वाह की समस्या सचमुच ही जटिल होती जा रही है। अफसोस तो केवल इसी बातका है कि मुनि भी ग्रामों की अपेक्षा नगरों मे ही आना-जाना और ठहरना अधिक पसन्द करते हैं। उनके वर्षा-योग भी प्रायः नगरों में ही होते हैं। जहाँ पर कि उनकी कोई भी आवश्यक क्रियाएँ अच्छी तरह नहीं पल सकतीं। आजकल के कोलाहल पूर्ण नगरों मे ध्यान, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन कैसे हो सकते हैं, यह कोई भी अच्छी तरह समझ सकता है। बडे शहरों में और क्या कहें शौचादि की भी शास्त्रानुकूल सुविधाएँ नहीं मिलतीं। नगरों में ही कोई स्थान, जहाँ मुनि रहते हैं, शौच के लिये चुन लिया जाता है औरइस तरह उद्दिष्ट शौचालयोंका उनको उपयोग करना पडता है। उद्दिष्ट-आहार की तो बात ही छोड़िए। आज-कल के मुनि जो भी आहार लेते हैं वह प्रायः उद्दिष्ट ही होता है—उन्हीं के लिए वह आहार बनता है। इन सब बातों को देख कर हमे स्पष्ट लिखना पड़ता है कि जब तक दुनियाँ का वातावरण भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता-रूप न हो जाय तब तक किसी को सहसा मुनि न होना चाहिए।

उक्त सब बातों पर ध्यान देने के पश्चात् दीक्षा देने की आवश्यकता प्रतीत हो तो उसके लिए निषेध नहीं है, पर दीक्षा लेने के बाद अपने व्रतों में दृढ़ रहना चाहिए।

दीक्षा लेने के पश्चात् अपने व्रतों में दृढ़ न रहना।

जो लोग पहले तो आवेश में आकर मुनि-पद सरीखे आदर्श त्याग-मार्ग को अपना लेते हैं और फिर कठिनाई सामने आने पर उसके पालन में शिथिलता दिखाते हैं उनसे यह कहना है कि व्रत-धारण करने के समय की अपनी प्रतिज्ञाओं का विचार करके वे अपने पद पर दृढ़ बने रहें अन्यथा उनकी हँसी होगी और उनके कारण पवित्र जिन-मार्ग का भी अपवाद होगा। श्री मल्लिभूषणाचार्य ऐसे लोगों को शिक्षा देते हुए कहते हैं:—

अष्टाविंशतिभेदमात्मनि पुरा संरोप्य साधो ! व्रतं
साक्षीकृत्य जिनान् गुरूनपि कियत्कालं त्वया पालितम्।
भक्तुं वाञ्छसि शीतवातविहतो भूत्वाऽधुना तद्व्रतं—
दारिद्रोपहतः स्ववान्तिमशनं भुङ्क्ते क्षुधार्तोऽपि किम् ॥१३॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे साधो। तूने जिनेन्द्र देव की तथा गुरु की साक्षी से पहले साधु के अठाईस मूलगुण धारण किये और कितने ही काल तक उनका पालन भी किया। अब तू शीत-वात से पीड़ित हुआ, सन्निपात रोग से ग्रस्त हुए बावले मनुष्य की तरह, उन व्रतों का भंग करना चाहता है ? अरे ! थोड़ा विचार कर, क्या यह उचित है ? क्या कोई दरिद्र क्षुधा से पीड़ित होने पर भी अपने वमन किये अन्न को पुनः खाता है ? जिसे एक बार बुरा समझ कर छोड़ दिया उसे फिर क्या अपनाना ?

तात्पर्य यह है कि जिस साधु ने स्त्री धन पुत्रादि सब पदार्थों का पहले त्याग कर मुनि-वेष धारण किया है और उस मुनि-वेष की रक्षा के लिए जो सतत उद्योग भी करता रहा है, फिर यदि वह धारण किए हुए अपनें व्रतों के भंग करनेवाले प्रबल कारणों का संयोग करता है, उनसे प्रेम व मोह बढ़ाता है तो वह उन व्रतों का भङ्ग करने के लिये कदम बढ़ा रहा है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे साधो उच्चकुलोत्पन्न ! मनुष्य त्याग किये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण नहीं करते। वे तो उसे वमन किये हुए अन्न के भक्षण के समान घृणास्पद समझते हैं। अतएव त्यक्त पदार्थ को वमन के समान समझ कर उसको निरन्तर घृणा की दृष्टि से देखना चाहिये; क्योंकि उसका सेवन करने से सुख शान्ति नहीं मिल सकती। सुख शान्ति तो तपस्या एवं त्याग से ही मिलती है। पूर्व भव में कोई अपूर्व तप किया, उत्तम दान दिया, उसी का यह फल है कि मनुष्य भव मिला, उत्तमकुल और सत्संगति का लाभ हुआ, संयम का शरण मिला। इसका पालन करने वाला नीच गति में नहीं जाता है, उसे नियम से देव गति मिलती है; क्योंकि पञ्चम काल में मोक्ष की प्राप्ति तो असंभव है। इसका आचरण करने मे यदि तुझे कष्ट होता है, बाह्य पदार्थ-जन्य सुख में अन्तराय आ जाता है, तो तू ऐसा विचार कर कि मैंने पूर्व भव में सुख के साधनभूत तप दान आदि शुभ कर्म नहीं किये; इसलिये मेरे सुख में विघ्न उपस्थित होते हैं। मेरा कर्तव्य है कि कितनी ही विघ्न बाधाओं के उपस्थित होने पर भी मै इस तप त्यागादि को न छोड़ूँ ? ऐसा ही विचार कर तू उस पर दृढ़ रह। कहा भी है :—

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतं
नो चेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम्।

धान्यं किं लभते विनाऽपि वपनं लोके कुटुम्बीजनो
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशे मोहं वृथा मा कृथाः ॥१५॥ (सज्जनचित्तवल्लभ)

अर्थ—हे साधो। यदि तू सुख की वांछा करता है, तो क्या तूने पूर्व भव में आहारादि का दान किया था अथवा कोई तप किया था? यदि दान व तप नहीं किया है तो इस लोक मे तुझे सुख कैसे मिल सकता है? अरे सुबुद्धे। जैसा पूर्व भव मे किया था वैसा यहाँ उपलब्ध हुआ। इस लोक में किसान लोग क्या बिना बोये भी कहीं धान्य पाते हैं? कीड़े से भक्षण किये हुए ईख के समान इस शरीर में तू मोह मत कर।

भावार्थ— हे साधो। यह शरीर घुन लगे हुए काने सांठे (ईख) के समान निःसार है। इससे सुख की आशा करना नितान्त मूर्खता है। इस को परलोक सम्बन्धी सुख के बीज जो त्याग तप हैं उनमें लगा दे तो परभव में तुझे अनेक सुख रूप मीठे फल मिलेंगे। जैसे काना सांठा खाने के योग्य नहीं होता है, क्योंकि उसकी जड़ स्वादहीन होती है, और ऊपर का भाग रसहीन होता है, उसके मध्य भाग को कीड़ों ने खा लिया है इसलिए निकम्मा हो गया है। यदि कोई निर्बुद्धि उसको चूसना चाहे तो उसको स्वाद नहीं आवेगा और यों ही फेंकना पड़ेगा। किन्तु जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं, वे उसके जितने पर्व हैं उनको अलग बो देते हैं तो उससे अनेक मधुर, रस के सांठे प्राप्त कर लेते हैं। वैसे ही इस मनुष्य जन्म को समझ लेना चाहिए। इस का पूर्व भाग बाल्यावस्था है, वह अज्ञानमय है और अन्तिम भाग वृद्धावस्था है, वह सामर्थ्यहीन है, उसमें इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। उससे तपस्यादि धर्मकार्य व गृहस्थ के कार्य नहीं हो सकते हैं। एक युवावस्था है, उसमे अनेक रोग, शोक, व्याधि आदि लगे हुए हैं। यदि उसे विषय भोग में लगाया जावे तो उसका दुरुपयोग होता है, और यदि भावी सुख के साधन तप त्यागादि धर्मकृत्यों मे उसका उपयोग किया जावे तो निरन्तर देवेन्द्रादि के सुख का अनुभव करते हुए मोक्ष का अविनश्वर सुख मिलता है। यही आत्मानुशासन मे भी कहा है—

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोगोचितं
विश्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुन-
र्निःसारं परलोकबीजमचिरात्कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

अर्थ—मनुष्य भव घुन [कीटों] से खाये हुए सांठे के समान है। जिसप्रकार सांठे का आदि का व अन्त का भाग अनुपयोगी होता है। मध्य मे कठोर और नीरस पर्व (गांठे) होती है वे भी निरुपयोगी ही होती है। भूमि के भीतर का भाग मूल (जड) होता है वह किसी काम का नहीं होता। सबसे ऊपर के भाग में पत्ते होते हैं, उनमें रस नहीं होता, उनको पशुओं के लिए तोड़कर फेंक देते है। केवल गांठों के बीच का भाग

रसीला होता है, जो उपयोग में लाया जा सकता है अथवा रस निकालकर उसका गुड शक्कर बनाया जा सकता है। लेकिन उस रसीले उपयोगी भाग को यदि घुन ने खालिया हो तो वह भी भोगने योग्य नहीं रहता। उस काने सांठे को कोई अविवेकी मनुष्य चूसे तो उस को कुछ भी आनन्द नहीं आवेगा, उल्टे उसके चूसने से उसका जी मचलाने लगेगा, और ग्लानि होने लगेगी। वह सांठा भी व्यर्थ नष्ट हो जावेगा और चूसने वाले का मनोरथ भी सिद्ध न होगा। यदि कोई विवेकी पुरुष उसके अंकुर के स्थान को बचाकर टुकड़े २ करके बो देता है तो उसके अनेक मधुर सांठे उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि भोगने के योग्य होते हैं। ठीक उसी काने सांठे के समान मनुष्य जीवन है।

इस में गांठों के समान तो बीच २ में अनेक आपत्तियाँ आया करती हैं। इस की अन्तिम अवस्था बुढ़ापा तो ईख के बाँडिये (ऊपर के भाग) के समान नीरस सुख-हीन होती है, जिस में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सामर्थ्य-हीन हो जाने से अपने २ विषयों को ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः विषयजन्य सुख का अनुभव नहीं कर सकतीं। इस की आदिम बाल्यावस्था सांठे की जड़ के समान नीरस होती है, उसमें ज्ञान की हीनता होती है। उसमें इन्द्रियाँ विषयसेवन के योग्य नही होतीं। यौवनावस्था मे आपत्तिरूप गांठों से बचा हुआ कुछ मध्य का भाग भोग के योग्य रहता है, उसमें भी कीड़ों के समान क्षुधा, तृषा, फोड़ा-फुंसी, कोढ़, सड़े हुए व्रण आदि उग्र रोगों ने नीरसता उत्पन्न कर दी है। उसे दुःखमय बना दिया है। इसलिए हे साधो। इस निःसार मनुष्यजीवन को सफल बनाने का उपाय संयम का पालन, तपस्या का आचरण और शुभ ध्यान में तत्परता है। इन बाह्य घृणास्पद पदार्थों में दौड़ते हुए चित्त को अपने वश मे कर, आत्मा का पतन करने वाले बाह्य निमित्तों को कृष्णसर्प के समान समझ कर उनका संसर्ग मत कर। अपने आचरण में शिथिलता मत ला। ये संयम के घातक स्त्री-सम्पर्क आदि निमित्त तेरा चिरकाल का सञ्चित रत्नत्रयरूपी धन एक क्षण में नष्ट कर देंगे, इसलिए इन से परिचय मत बढ़ा, अकर्तव्यों से सर्वथा बचा रह, इसी में तेरा कल्याण है। अपने व्रत का दृढ़ता से पालन करने पर ही तू अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकेगा।

दीक्षा-विधि

मुनि-दीक्षा-विधि

दीक्षा के पहले दिन दीक्षा लेनेवाला व्यक्ति कर-पात्र में भोजन कर जहाँ गुरु विराजमान हों वहाँ आकर या चैत्यालय में जाकर गुरुओं के या श्री जिन प्रतिबिम्ब [प्रतिमा जी] के सम्मुख खड़ा होकर क्रमशः बृहद्-प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन, सिद्ध-भक्ति तथा प्रणाम करके उपवास की प्रतिज्ञा करे पश्चात् उस दिन और रात्रि को धर्म्य-ध्यान पूर्वक बितावे।

दीक्षा के दिन का कर्तव्य

सर्व भव्यजन [श्रावक लोग] एकत्रित होकर दीक्षा लेने वाले मुमुक्षु को शुद्ध जल से स्नान कराकर, वस्त्राभूषणादि पहनाकर उत्सव सहित चैत्यालय [श्री जिन-मन्दिर] में ले जावें और वहाँ देव-शास्त्र-गुरु व शान्ति-यन्त्र तथा गणधर-वलय-यन्त्र की पूजा करावें। तत्पश्चात्, आचार्य

के सामने लावें और सब लोग वैराग्य भावना भावें। इसके पीछे दीक्षा लेने वाला व्यक्ति अपने कुटुम्बियों से, अपने सहपाठियों या विशेष परिचितों से, तथा सकल जन-समुदाय से स्वय क्षमा करे और क्षमा करावे। तत्पश्चात् आचार्य से दीक्षा-दान की प्रार्थना करे। तब आचार्य मुमुक्षु की योग्यता का विचार कर उपस्थित सर्व जन समुदाय से उसे दीक्षा देने की अनुमति लेकर निम्नोक्त विधि को प्रारम्भ करे।

प्रथम किसी एक सौभाग्यवती स्त्री से शुद्ध भूमि पर धुले हुए चावलों से स्वस्तिक मंडवावे और उसको एक सफेद वस्त्र से ढकाकर उस पर एक पाटा या चौकी रखवावे और उस पर दीक्षा चाहने वाले मुमुक्षु को पूर्वाभिमुख खड़ा करे। तथा दीक्षा देने वाला आचार्य भी वहाँ ही दूसरे आसन पर उत्तरदिशाभिमुख विराजे और सिद्ध-भक्ति तथा योग-भक्ति पढ़े।

पश्चात् ॐ ह्रीं क्ष्रीं क्लीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ-सि-आ-उ-सा नमः स्वाहा इस मन्त्र का जाप ६ वार देवे। तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-प्रक्षालन के जल (गंधोदक) को शिष्य के मस्तक के ऊपर शान्तिनाथाय नमः ऐसे तीन वार पढ़कर धारा छोड़े और निम्न प्रकार मन्त्र पढ़ता जावे।

ॐ नमो अर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मपाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय, सर्व-रोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ-सि-आ-उ-सा अमुकस्य सर्व-शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

शिष्य द्वारा जपनीय मन्त्र

ॐ ह्रीं श्री अर्हते भगवते शान्तिकराय श्रीशान्तिनाथाय नमः। १०८ वार जपे। तब आचार्य शिष्य के मस्तक पर अक्षत क्षेपे और निम्न लिखित वड्ढमाण मन्त्र पढ़े।

ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं, पायालं, लोयाणं, भूयाणं, जये वादे वा विवादे वा थंभणे वा रणगणे वा रायगणे वा मोहणे वा सव्वजीवसत्ताणं अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा। (वड्ढमाण मन्त्र)

पश्चात् भस्म (राख) पात्र-उठाकर निम्न लिखित मन्त्र पढ़े।

ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकृतोत्तमाङ्गाय ज्योतिर्मयाय मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाय अ सि आ उ सा स्वाहा।

(उक्त मन्त्र पढ़कर कर्पूर-मिश्रित भस्म दीक्षा लेने वाले शिष्य के शिर पर क्षेपण करे। पश्चात केशलोच करे)

प्रथम केशोत्पाटन मन्त्र

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अ-सि-आ-उ-सा स्वाहा।

(उक्त मन्त्र पढ़कर प्रथम केश उपाड़े। तत्पश्चात्)

पंचस्थान से केश-उत्पाटन का मन्त्र।

ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो नमः, ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः, ॐ ह्रूं सूरिभ्यो नमः, ॐ ह्रौं पाठकेभ्यो नमः, ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः।

(उक्त मन्त्र बोलते हुए गुरु स्वयं अपने हाथ से पाँच वार केश उपाड़े)

इस प्रकार आचार्य द्वारा पञ्चस्थान से केश उपाड़ने के पश्चात् कोई भी अवशिष्ट केशों को उपाड देवे उसकी रोक नहीं। केशलोच के पश्चात् शिष्य **लोचावसाने बृहद्दीक्षायां लोचनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्येत्यादि** को पढ़कर सिद्ध-भक्ति करे। ❀ तदनन्तर शिर धोकर गुरु-भक्ति करे और वस्त्राभरणादि त्याग कर वहीं स्थित रहता हुआ दीक्षा की याचना करे।

गुरु-भक्ति का मन्त्र

ॐ श्री अर्हत्परमेष्ठ्यादिसर्वसाधुभ्यो नमः।

शिष्य उक्त मन्त्रको ९ वार पढ़कर कायोत्सर्ग करे।

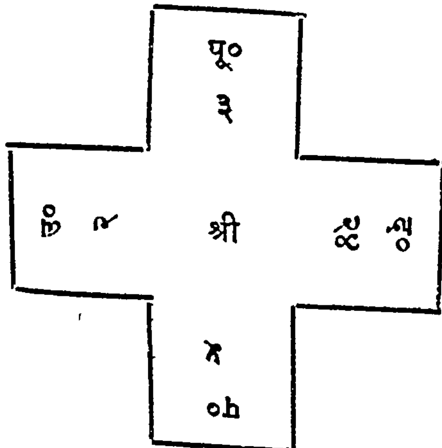
❀ साधारण लोच का, उपवास पूर्वक प्रतिक्रमण सहित लघु सिद्ध-भक्ति और लघु योगि-भक्ति पढ़कर प्रतिष्ठापन किया जाता है और लघु सिद्ध-भक्ति पढ़कर निष्ठापन, किन्तु दीक्षा के समय बृहत भक्तियां पढ़ी जाती है। इन भक्तियों के प्रतिष्ठापन और निष्ठापन के कायोत्सर्ग के समय अपनी दीक्षाके अनुसार बोलना चाहिए। जैसे बृहद्दीक्षा (मुनिदीक्षा में **बृहद्दीक्षायां लोचस्वीकारक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण··· भक्तिकायोत्सर्गं करोमि** इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना। इन भक्तियों का विशेष स्वरूप 'दश-भक्ति' या 'क्रिया-कलाप' आदि एतद्विषयक ग्रन्थों से जानना।

शिर धोने का मन्त्र

ॐ ह्रीं श्री अनादिमूलमन्त्रेभ्यो नमः । श्री अनन्तचतुष्टयेभ्यो नमः । शान्तिकराय श्री शान्तिनाथाय नमः ।

(यह मन्त्र पढ़ता हुआ दीक्षा लेने वाला शिष्य शिर धोवे और वाद मे वस्त्राभरणादि उतारे)

वस्त्राभरणादि उतारने के बाद आचार्य शिष्य के शिर पर श्रीकार (श्री) लिख कर ॐ ह्रीं अर्हं अ–सि–आ–उ–सा ह्रीं स्वाहा— इस मन्त्र से १०८ जाप्य देवे। तदनन्तर उस शिष्य की अञ्जुली में केशर–कर्पूर–चन्दन तीनों को मिलाकर उस से श्रीकार लिखे और उस 'श्री' की चारों दिशाओं मे (निम्न लिखित गाथा पढ़ते हुए) पूर्व की ओर ३, दक्षिण की ओर २४, पश्चिम की ओर ५, और उत्तर की ओर २ अङ्क लिखे।



रयणत्तयं च वंदे चउवीसजिणं तहा वन्दे ।
पंचगुरूणं वंदे चारणजुगलं तहा वंदे ॥

शिष्य की अंजुली भरते समय पढ़ने का मन्त्र

पश्चात् शिष्य की अञ्जुली को चॉवलों से भरे और उन पर नारियल एवं सुपारी रखे तथा निम्न भॉति पढ़ता जावे।

ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः । सम्यक्चारित्राय नमः ।

इस प्रकार शिष्य की अंजुलि भर कर उस पर (पुष्प पीले) चांवल–क्षेपण करे और सिद्ध–चारित्र–योगि–भक्ति पढ़कर व्रतादिक ग्रहण करावे और तव निम्न प्रकार पढ़ें:—

वद समिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं ।
खिदिशयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥१॥

यह पढ़कर समयानुसार सक्षेप या विस्तारसे उसकी व्याख्या करे। मुणीणां अट्ठवीसमूलगुणा होंति । उत्तम क्षमा–मार्दवार्जव–शौच–सत्य–संयम–तपस्त्यागाकिंचन्य–ब्रह्मचर्याणि धर्माः दशलाक्षणिकाः। अष्टादशशीलसहस्राणि ॥१८०००॥ चतुरशीतिलक्षोत्तरगुणाः

॥८४००००॥ त्रयोदशविधं चारित्रं । द्वादशविधं तपः ॥ सकलार्हदाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसाक्षिकं सम्यक्त्वपूर्वकं दृढं स्वव्रतं आरूढं ते हे मुने स्फुरतु।

सम्यक्त्वपूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते भवतु—इसे तीन वार बोल कर व्रत देवे और शान्ति-भक्ति पढ़े । तदनन्तर गुरु आगे बताई हुई विधि से षोड़श संस्कार आरोपण करे ।

(इस प्रकार मुनि दीक्षा तथा आर्यिका की दीक्षा में भी महाव्रतोंका व्याख्यान करना चाहिये । श्रावक-दीक्षा में अणुव्रतों का व्याख्यान किया जाता है । आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका के संस्कार में इससे थोड़ा-सा अन्तर है । बाकी सब विधि एक सी ही होती है ।

सोलह संस्कार-विधि

आचार्य निम्न भाँति पढ़ते हुए दीक्षित नूतन शिष्य के शिर पर प्रत्येक वार एक-एक लवग तथा पुष्प (पीले चॉवल) क्षेपण करके सोलह संस्कार करे ।

१ अयं सम्यग्दर्शनसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
२ अयं सम्यग्ज्ञानसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
३ अयं सम्यक्चारित्रसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
४ अयं बाह्याभ्यन्तरतपःसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
५ अयं चतुरङ्गवीर्यसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
६ अयं अष्टमातृमंडलसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
७ अय शुद्धयष्टकावष्टंभसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
८ अयं अशेषपरीषहजयसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
९ अयं त्रियोगासंगमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
१० अयं त्रिकरणासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।
११ अयं दशासंयमनिवृत्तिशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

१२ अयं चतुःसंज्ञानिग्रहशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

१३ अयं पंचेन्द्रियजयशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

१४ अयं दशधर्मधारणशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

१५ अयमष्टादशसहस्रशीलतासंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

१६ अयं चतुरशीतिलक्षणसंस्कार इह मुनौ स्फुरतु ।

इन संस्कारों के किये पीछे यह कार्य और करे ।

जिनस्थापन मन्त्र

ॐ पंचपरमेष्ठिभ्यो नमः । ॐ परमहंसाय परमेष्ठिने हं स हं स हं हां हं हौं हीं हें हः जिनाय नमः । जिनं स्थापयामि । संवौषट् । (ऋषि-मस्तके न्यसेत्)

पश्चात् शिष्य की जो अंजुली अक्षतादि से भरी हुई थी उसको वह आचार्य के चरण कमल में चढ़ा देवे ।

नाम करण

इसके बाद दीक्षा देनेवाला आचार्य गुरु-परम्परा का पाठ कर अमुक आचार्य के शिष्य तेरा अमुक नाम रहेगा यह प्रकट करे ।

यथा—

ॐ ह्रीं मूलसघे नन्द्याम्नाये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये हे शिष्य तव अमुक नाम भवसि स्वाहा ।

पिच्छिका- दान विधि

ॐ णमो अरहंताणं । भो अन्तेवासिन् ! षट्जीवनिकायरक्षणाय मार्दवादिगुणोपेतमिदं पिच्छिकोपकरणं गृहाण गृहाण ।
(उक्त रीति से बोलकर दाहिने हाथ में पिच्छिका ग्रहण करावे)

शास्त्र-दान विधि

ॐ णमो अरहंताणं । मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानाय द्वादशांगश्रुताय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण ।

(उक्त रीति से बोल कर बायें हाथ की बगल में शास्त्र ग्रहण करावे)

कमण्डलु-दान-विधि

ॐ णमो अरहंताणं । रत्नत्रय-पवित्रीकृतोत्तमांगाय बाह्याभ्यन्तर-मल-विशुद्धाय नमः । भो अन्तेवासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाण ।

(उक्त रीति से बोल कर बायें हाथ में कमण्डलु ग्रहण करावे)

प्रश्न—कितने ही मुनि कमण्डलु की टोंटी आगे की ओर रखते हैं और कितने ही पीछे की ओर,—इस सम्बन्ध में सिद्धान्त की क्या आज्ञा है ?

उत्तर—मुनियों के आचार-ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई विशेष विधान नहीं मिलता इसलिए कोई आगे रखे या पीछे रखे सिद्धान्त की अपेक्षा उसमें कोई दोष नहीं । व्यवहार मे यह देखा जाता है कि उत्तरप्रान्त के मुनि कमण्डलु की टोंटी आगे रखते हैं और दक्षिण प्रान्त के पीछे की ओर । पर सिद्धान्त से विरुद्ध न होने के कारण कोई कैसे भी रखे उसकी आलोचना की जरूरत नहीं है ।

इसके बाद आचार्य समाधि-भक्ति पढ़े और उसके पश्चात् नूतन मुनि सर्व जन-समुदाय सहित आचार्य-भक्ति करके आचार्य को प्रणाम करे । तदनन्तर आचार्य नूतन मुनि को आसन देवे तब नूतन मुनि संघ के सब मुनियों को नमस्कार करे, संघ के सब मुनि प्रति-वन्दना करें । तत्पश्चात् नूतन मुनि आसन ग्रहण करे । तब सर्व जन-समुदाय अष्ट द्रव्यों से मुनि-संघ की पूजा करे और अष्टांग नमस्कार करके अपनी शक्ति के अनुसार त्याग, व्रत आखड़ी ग्रहण करे ।

आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक की दीक्षा-विधि ।

इन तीनों की दीक्षा-विधि भी मुनियों के समान होती है, किन्तु इतनी विशेषता है कि इनकी दीक्षा में पूर्ण वस्त्र-त्याग नहीं होता। जिन-स्थापन-विधि और षोडश संस्कार भी इनकी दीक्षा-विधि मे नहीं होते । यह केवल मुनि-दीक्षा में ही होते हैं । परिस्थिति वश इस विधि में परिवर्तन भी हो सकता है ।

ऐलक एवं क्षुल्लक को मुनि-दीक्षा देने की विधि ।

ऐलक एवं क्षुल्लक को मुनि-दीक्षा देने के समय वस्त्र-त्याग करने के मन्त्रों को बोलकर वस्त्र-त्याग कराकर जितनी भी क्रियाएँ मुनि-दीक्षा विधि में लिखी हैं यथा सम्भव उन सब को करा देना चाहिए । इन सब में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विचार की आवश्यकता अवश्य है ।

आचार्य स्थापन-विधि ।

अपने सारे संघ में जो साधु आचार्य होने योग्य हो—जिसका शरीर नीरोग हो, जिसके मिरगी, खास, स्वास, कोढ़ आदि महारोग न

हो, जिसके गृहस्थ अवस्था में ऐसा कोई महान दोष न लगा हो जिससे कि उसका अपवाद हो गया हो, जिसके कुल में कभी कोई कलङ्क न लगा हो, जो सब के अन्य साधुओं से विशिष्ट तप करता हो, सर्व धर्म-धारकों मे जो मुख्य हो,जिसके क्रोधादि अतिशय मन्द हो गये हों. जो पाप से डरता हो. अन्य को नीचा दिखाने में जिसको भय हो, जो प्रफुल्लित मुख रहा करता हो, जिसकी प्रभा देख कर अन्य पुरुष प्रभा रहित हो जावें उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। ऐसा प्रभावशाली, लक्षणवान और गुणवान व्यक्ति ही आचार्य पदके योग्य माना गया है।

संघस्थ मुनि तथा पुरातन आचार्य इन गुणों की परीक्षा करके किसी को आचार्य पद प्रदान करें । ऐसे गुणशाली पुरुष की ही संघके ऊपर आज्ञा प्रवृत्त हो सकती है अत. परीक्षा करना आवश्यक है।

स्थापन-विधि

दाता शुभ मुहूर्त्त मे शान्ति यन्त्र और गणधरवलय यन्त्र की पूजा कराकर पहले मुनि-दीक्षा विधि में कही हुई रीति से किसी सौभाग्यवती स्त्री के द्वारा निर्जीव-शुद्ध भूमि पर अक्षतों का एक स्वस्तिक मडवावे और सफेद कपड़े से उसे ढ़का कर उसके ऊपर चौकी या पाटा आसन के लिये रखवा देवे। पश्चात् जो साधु आचार्य होने योग्य है उसको पुराने आचार्य एव सर्व संघस्थ साधु मिलकर विनम्र प्रार्थना करके उस आसन पर लाकर बिठावें और बिठाते समय 'जय जय जय' इस तरह तीन वार जय शब्द का उच्चारण करें और दाता 'आचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियायां' इत्यादि बोलकर सिद्ध-भक्ति तथा आचार्य-भक्ति पढ़े। तदनन्तर निर्मल प्रासुक जल से भरे हुए ५ कलशों से नवीन आचार्य वनाये जाने वाले के चरणकमलों का प्रक्षालन करे और प्रक्षालन करते समय निम्न लिखित मन्त्र पढ़ें।

ॐ ह्रूं परमसुरभिद्रव्यसंदर्भपरिमलगर्भतीर्थाम्बुसम्पूर्णसुवर्णकलशपंचकतोयेन परिषेचयामीति स्वाहा।

इसके बाद पडिताचार्य 'निर्वेदसौष्ठव' इत्यादि महर्षि-स्तवन पढ़ता हुआ पैरों का चारों ओर से परामर्श (पोंछना या छूना) करके गुणारोपण करे और निम्न लिखित मन्त्र पढ़े।

ॐ ह्रूँ णमो आइरियाणं आचार्यपरमेष्ठिन्! अत्र एहि एहि संवौषट् आव्हानं स्थापनं सन्निधीकरणं।

इसके पश्चात् पुरातन आचार्य सर्व संघ सहित अपने हाथों की पिच्छियों को नूतन आचार्य के चरण-कमलों मे अर्पण कर दें। और एक नवीन पिच्छिका नवीन आचार्य को अर्पण करें और निम्न मंत्र पढ़ें।

ॐ ह्रूँ णमो आइरियाणं धर्माचार्याधिपतये नमः।

उक्त प्रकार से पुराने आचार्य नवीन आचार्य को पिच्छिका ग्रहण करावें तब सर्व संघ इस प्रकार विनय सहित प्रार्थना करे कि हे स्वामिन्। आज से आप इस संघ के स्वामी हुए, हम सब आपके शिष्य हैं। आज से इस संघ के हम सब संयमी साधु मन-वचन-काय से आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करेंगे। उसके पालन मे त्रुटि नहीं करेंगे।

इस प्रार्थना के स्वीकार रूप में नवीन आचार्य शान्ति-भक्ति तथा समाधि-भक्ति पढ़कर गुरु-भक्ति के द्वारा गुरु को प्रणाम करके पुराने आचार्यों द्वारा अर्पण की जाती हुई पिच्छिका को ग्रहण करे और अपने चरणों में रखी हुई पिच्छिकाओं को पुरातन आचार्य सहित सर्व सघ को वितरण कर देवे।

तत्पश्चात् पुराने आचार्य एवं सर्व सघ के साधु नवीन आचार्य द्वारा दी जाती हुई पिच्छिकाओं को दोनों हाथों मे विनय पूर्वक ग्रहण करके गवासन से नवीन आचार्य की भक्ति सहित वन्दना करें। तब नवीन आचार्य अपनी पिच्छिका को दोनो हाथों से अंजुली बना कर मस्तक पर धर कर प्रतिवन्दना करे और सर्वसंघ को 'नमोऽस्तु' के बदले 'नमोऽस्तु' कहे।

उपाध्याय स्थापन विधि।

शुभ मुहूर्त में दाता गणधरवलय और द्वादशाङ्ग श्रुत की पूजा करावे और पूर्वोक्त रीति से किसी एक सौभाग्यवती स्त्री द्वारा शुद्ध भूमि मे चॉवलों से एक स्वस्तिक मंडवावे और उसे एक सफेद कपड़े से ढका कर उस पर एक पाटा या चौकी रखवा दे और उस आसन पर उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य मुनि को पूर्वाभिमुख बिठावे। तत्र दाता 'उपाध्यायपदस्थापनक्रियायां पूर्वाचार्य' इत्यादि उच्चारण करके सिद्ध और श्रुत-भक्ति का पाठ करे और निम्नलिखित मन्त्र पढे—

ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिन्! अत्र एहि एहि संवौषट् आवाहनं स्थापनं सन्निधीकरणम्।

उक्त मन्त्र बोलते समय उसके शिर पर लवङ्ग या अक्षत क्षेपण करे और फिर निम्नलिखित मन्त्र उच्चारण करे—

ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः।

(उक्त मन्त्र को कपूर मिले हुए चन्दन से शिर पर स्थापन करे)

इसके पश्चात् शान्ति-भक्ति और समाधि-भक्ति पढ़नी चाहिए।

इसके बाद उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित होने वाला मुनि गुरु-भक्ति पढ़ कर आचार्य को नमस्कार करे तब आचार्य प्रतिवन्दना करे।

दीक्षा में त्याज्य दिवस आदि

चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, इन्द्रधनुष, उलटा ग्रह, आकाश का मेघों से घिरा रहना, कुमास, अधिक मास, शकित दिवस, क्षयतिथि, अशुभ नक्षत्र आदि समान्यतया दीक्षा में त्याज्य हैं।

दीक्षा में ग्राह्य व अग्राह्य नक्षत्र

भरण्युत्तरफाल्गुन्यौ मघा-चित्रा-विशाखिकाः। पूर्वाभाद्रपदा भानि रेवती मुनिदीक्षणे ॥ १ ॥

रोहिणी चोत्तराषाढा उत्तराभाद्रपत्तथा । स्वातिः कृत्तिकया मार्धं वर्ज्यते मुनिदीक्षणे ॥ २ ॥
अश्विनी पूर्वफाल्गुन्यौ हस्तस्वात्यनुराधिकाः । मूलं तथोत्तराषाढा श्रवणः शतभिक्तथा ॥ ३ ॥
उत्तराभाद्रपच्चापि दशेति विशदाशयाः । आर्यिकाणां व्रते योग्यान्युशन्ति शुभहेतवः ॥ ४ ॥
भरण्यां कृत्तिकायाश्च पुष्येऽश्लेषार्द्रयोस्तथा । पुनर्वसौ च नो दद्युरार्यिकाव्रतमुत्तमाः ॥ ५ ॥
पूर्वभाद्रपदा मूलं धनिष्ठा च विशाखिका । श्रवणश्चैषु दीक्ष्यन्ते क्षुल्लकाः शल्यवर्जिताः ॥ ६ ॥

मुनि–दीक्षा में ग्राह्य नक्षत्र

भरणी, उत्तराफाल्गुनी, मघा, चित्रा, विशाखा पूर्वाभाद्रपद और रेवती ।

मुनि–दीक्षा में त्याज्य नक्षत्र

रोहिणी, उत्तराषाढ, उत्तराभाद्रपद, स्वाति और कृत्तिका ।

आर्यिका–दीक्षा में ग्राह्य नक्षत्र

अश्विनी, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढ़, श्रवण, शतभिषा, उत्तराभाद्रपद ।

आर्यिका–दीक्षा में त्याज्य नक्षत्र

भरणी, कृत्तिका, पुष्य, अश्लेषा, आर्द्रा, पुनर्वसु ।

क्षुल्लक–दीक्षा में ग्राह्य नक्षत्र

पूर्वाभाद्रपद, मूल, धनिष्ठा, विशाखा, श्रवण ।

प्रथम केशलोच में त्याज्य वार और नक्षत्र

तीन वार — सोमवार, बुधवार और शुक्रवार ।

चार नक्षत्र——कृत्तिका, विशाखा मघा, भरणी ।

(मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका—सभी के लिए प्रथम केशलोच में यह त्याज्य हैं)

मुनि-दीक्षा की बाह्य उपयोगिता

प्रश्न—मोक्ष की प्राप्ति में तो रत्नत्रय-भावना का प्रकर्ष ही कारण है और वह बाह्य दीक्षा के बिना भी हो सकता है ऐसी अवस्था में बाह्य-दीक्षा की क्या आवश्यकता है ?

स० प्र०

उत्तर—यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति में रत्नत्रय की परिपूर्णता ही कारण है, फिर भी बाह्य-दीक्षा अनावश्यक नहीं है। इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में भगवती-आराधना में लिखा है :—

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं ।
गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होन्ति ॥ ८२ ॥

भाव यह है कि रत्नत्रय की परिपूर्णता या मुक्ति की प्राप्ति बिना मनुष्य शरीर के नहीं हो सकती। कर्मक्षय के लिए मनुष्य शरीर का होना अनिवार्य है। इस लिए मुनि को भी शरीर-रक्षा के लिए आहार की आवश्यकता होती है। आहार की प्राप्ति के लिए औत्सर्गिक-लिङ्ग प्रभावक कारण हैं। यदि मुनि भी गृहस्थ-वेष में ही रहने लगें तो जनसाधारण पर उनका प्रभाव नहीं पड़ेगा और उनका यथोचित आदर नहीं हो सकेगा। औत्सर्गिक लिङ्ग बिना 'यह गुणी हैं' ऐसा कोई न समझेगा, गृहस्थ वेष में उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न हो सकेंगे। और विशिष्ट गुणों का परिचय पाये बिना गृहस्थ उनको दान क्यों देंगे, और दान न मिलने से—आहार के बिना—उनके शरीर की स्थिति कैसे रहेगी? और तब रत्नत्रय-भावना का प्रकर्ष भी कैसे होगा? और रत्नत्रय के प्रकर्ष के बिना मुक्ति की प्राप्ति तो बिलकुल असम्भव है ही। इस लिए बाह्य-दीक्षा की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

सबके लिए उत्सर्ग लिंग धारण करने का निषेध

जिन शासन में दो प्रकार के लिंग बताये है—(१) औत्सर्गिक और (२) अपवादिक। उत्सर्ग का अर्थ है—सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग। अतः सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करने से मुनि के जो नग्नता प्रकट होती है उसे औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। तथा यतिके लिए परिग्रह अपवाद का कारण है अतः परिग्रह सहित लिङ्ग (गृहस्थवेष) को अपवादिक लिङ्ग कहते हैं। अपवाद लिङ्गको धारण करनेवाला गृहस्थ यदि उसके पुरुष-लिङ्ग में दोष न हो तो औत्सर्गिक लिङ्ग (नग्नता) धारण कर सकता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि भगवती आराधना के उल्लेख से स्पष्ट है :—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगम् ॥ ७७ ॥

(विजयोदया टीका—उस्सग्गियलिङ्गकदस्स उत्कर्षेण सर्जनं त्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः। उत्सर्गे त्यागे सकलग्रन्थपरित्यागे भवं लिङ्गं औत्सर्गिकं। जइ पसत्थलिङ्गं। जइ यदि प्रशस्त शोभनं लिङ्गं मेहनं भवति। चर्मरहितत्वं अतिदीर्घत्वं स्थूलत्वं असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादि-दोषरहितत्वं यदि भवेत्। पुन्स्त्वलिङ्गता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिङ्गशब्देन ग्रहणं। अतिलम्बमानतादिदोषरहितता प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता)

भाव यह है कि गृहस्थ के पुरुष-लिङ्ग में चर्म न होना, अतिशय दीर्घ होना, वार वार चेतना होकर उठना आदि दोष हों तो वह औत्सर्गिक लिङ्ग धारण करने योग्य नहीं है। यहाँ पुरुष-लिङ्ग का ग्रहण है, अतः किसी के अण्डकोष भी यदि अतिशय लम्बे हों तो वह भी नग्नता के अयोग्य है।

यह साधारण कथन है। विशेषापेक्षया ऐसे दोष वाला भी गृहस्थ भक्त-प्रत्याख्यान के समय एकान्तादि स्थान में सर्व परिग्रह का त्याग-करके नग्न रह सकता है। और भी कहा है :—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि।
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सुग्गियं लिंगम् ॥ ७८ ॥ (भग०आरा०)

अर्थ—जिसके उपर्युक्त त्रिस्थानगत दोष औपधादिक से नष्ट होने योग्य नहीं हैं वह वसतिका में जब संस्तरारूढ होता है तब नग्न रह सकता है। अर्थात् संस्तरारोहण के समय ही वह नग्न बन सकता है, अन्य समय उसका नग्न होना निषिद्ध है।

आज-कल जो लोग इसका ध्यान नहीं रखते उनकी प्रवृत्ति सिद्धान्त-विरुद्ध है।

व्रत निभाना अशक्य हो तब क्या करे ?

प्रश्न—व्रत धारण कर लेने के बाद व्रती की शारीरिक स्थिति ऐसी हो जाय कि वह अपना व्रत निभाने में असमर्थ हो एवं उसका प्रतीकार भी संभव न हो तब व्रती का क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—धारण किये हुए व्रत को निभाना मुख्य कर्तव्य है। यदि किसी दशा में उसका निभाना अशक्य हो तो आहार त्याग करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि भगवती आराधना में लिखा है—

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य समण्णजोग्गहाणिकरी।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छिया जस्स ॥ ७१ ॥

जिसके कोई ऐसा दुःसाध्य रोग हो गया हो कि जिसका इलाज संयम के विनाश के बिना न हो सके या वृद्धावस्था अतिशय बढ़ जाने से जो कायक्लेश आदि तप व ध्यान करने में असमर्थ हो, अथवा किसी निष्प्रतीकार उपसर्ग से पीड़ित हो तो वह मुनि भक्त-प्रत्याख्यान (आहार-त्याग) करने योग्य है।

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७२॥

जिसके बन्धु वगैरह स्नेह के वश होकर, मिथ्यात्व-दोष से अथवा अपने पोषण के लोभ से जिसके चारित्र का विनाश करने के लिए उद्यत हो रहे हों वह मुनि समाधिमरण धारण करने योग्य है। यदि अकाल का समय हो—जिसमें अन्न न मिलने से जीना दुर्लभ हो तब भी चारित्र नाश न हो इस हेतु से सल्लेखना करना योग्य है। ऐसे ही क्रूर प्राणियों से भरे हुए जगल में यदि मुनि दिशा भूल जाय और वहाँ कोई मार्ग-दर्शक न हो अथवा कण्टकादि से बहुत भरे होने के कारण उसमें विचरना अशक्य मालूम हो तब भी उस को भक्त-प्रत्याख्यान करना चाहिये।

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७३॥

जिस मुनि की आँखें कमजोर हो गई हों—जिनसे सूक्ष्म वस्तु दिखाई न देती हो, जिसके कानों से शब्द सुनाई न देता हो, या जिसके पैरों की जाने-आने की ताकत नष्ट हो गई हो उसे भक्त-प्रत्याख्यान करना चाहिए। ऊपर कहे हुए कारणों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे ही कारण यदि तीव्र रूप में उपस्थित हुए हों तो ऐसे समय में मुनि अथवा श्रावक को भक्त-प्रत्याख्यान करना चाहिए। अपने व्रतों में शिथिलता कदापि न लाना चाहिए।

वर्षायोग-विधि।

प्रश्न— आपने साधुओं के अनेक कर्तव्याकर्तव्यों का वर्णन किया किन्तु चातुर्मास्य के नियमादि के संबंध में इस ग्रन्थ में कुछ भी नहीं बतलाया अतः इसकी विधि भी बतलाइए।

उत्तर—आपका प्रश्न उचित है। मुनि-जीवन में वर्षायोग का अवसर अनेक बार आता है अतः इस संबंध के आवश्यक कर्तव्यों को भी जान लेना चाहिये। हम यहाँ संक्षेप मे उनका वर्णन कर देते हैं —

वर्षा-योग का समय आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक होता है। वर्षा-काल में जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है इसलिए सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों की हिंसा होने की अधिक सम्भावना रहती है तथा स्थानान्तर-गमन में अधिक असुविधाएँ रहती हैं और इसके फल-स्वरूप ठीक-ठीक ध्यान-अध्ययन आदि नहीं हो सकते। अत. आचार्यों ने बताया है कि शेप आठ मास में लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करने एव वर्षाकाल में विकलत्रयादि जीवों की दया पालने के लिए व्रती लोग एक स्थान पर चार माह के लिए चातुर्मास्य स्थापन करें। यह प्रत्येक मुनि के लिए अनिवार्य है। अतः जिस किसी स्थान पर चातुर्मास्य स्थापन करना हो वहाँ आषाढ शुक्ला चतुर्दशी को पहुँच जाना चाहिए। कारण विशेप के उपस्थित होने पर अर्थात् रोगोत्पत्ति आदि के हो जाने से निश्चित स्थान पर न पहुँच सके और जहाँ तक पहुँचे हैं - वहाँ का वातावरण शुद्ध न हो—अर्थात्—वहाँ के निवासी धर्म-साधन में बाधा देने वाले हों, राजा या राज-मन्त्री अधार्मिक विचारों का हो अथवा श्रावकों की बस्ती न हो तो अधिक से अधिक श्रावण कृष्णा पञ्चमी तक किसी सुविधाजनक स्थान पर मुनि जा सकते हैं। ऐसा स्थान जहाँ पर किसी आचार्य ने चातुर्मास्य स्थापन किया है और वह स्थान केवल दो चार दिन में ही पहुँच जाने योग्य है तो एकल-विहारी मुनि उन आचार्यों के पास चतुर्दशी से एक दो रोज बाद तक भी जा सकता है। पर यह अपवाद मार्ग है और परिस्थिति-विशेष के समय ही ऐसा करने की आज्ञा है. सर्वदा नहीं।

वर्षा-योग धारण करने की विधि—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती । चतुर्दिक्षु परीत्याल्पां चैत्यभक्तिं गुरुस्तुतिम् ॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् । ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥

अर्थ—निश्चित स्थान पर पहुँच जाने पर आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के पहिले पहर में लघु सिद्ध-भक्ति, लघु योगि-भक्ति एवं लघु चैत्य-भक्ति का पाठ करके अपने सामयिक करने योग्य आसनों पर ही खड़े हो कर चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा का सङ्कल्प करे। अर्थात रात्रि को प्रदक्षिणा तो दे नहीं सकते। अतः सङ्कल्प मात्र करे। इसके पश्चात् पञ्च-गुरु-भक्ति एवं शान्ति-भक्ति का क्रमशः पाठ करके वर्षायोग ग्रहण करे।

प्रश्न—क्या रात्रि मे मुनि दीपक के प्रकाश में भक्तियों का पाठ करे ?

उत्तर—ये भक्तियाँ मुनियों को कण्ठस्थ ही होनी चाहिए। यदि किसी तरह यह सम्भव न हो तो फिर ये कार्य दिन मे ही करने चाहिए। दीपक का उपयोग करना तो किसी भी तरह उचित नहीं। चातुर्मास्य स्थापन तो चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर से ही होगा. पर अन्य आवश्यक जो कार्य हैं—वे दिन में कर लेने चाहिए, जिससे रात्रि मे दीपक आदि की आवश्यकता ही न पड़े। इसके अतिरिक्त गत आठ मास मे जो-दोष एवं प्रायश्चित्त किये हों वे सब सघ के आचार्य के समक्ष सरल भाव से निवेदन कर देने चाहिए। आचार्यों द्वारा भी आठ मास मे जो कुछ दोष बन पड़े हों—उन सब का आचार्य संघ के वृद्ध मुनियों के समक्ष प्रायश्चित कर लें।

उक्त कार्य से निवृत्त हो जाने पर ग्रामान्तर जाने को मर्यादा बांधकर प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि अमुक स्थान तक इस वर्षा-काल में जाऊँगा आगे नहीं। वर्षा-योग एक ही स्थान पर किया जाता है। एक ही ग्राम या वसतिका मे भी स्थान-परिवर्तन नहीं किया जाता। परन्तु प्लेग, राज-द्रोह, देश-द्रोह आदि के होजाने पर स्थान-परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रश्न—गमनागमन की मर्यादा की प्रतिज्ञा करते समय क्या मुनि एक ग्राम से दूसरे ग्राम या नगर में जाने तक की मर्यादा रख सकते हैं ?

उत्तर—नहीं ! इसका कहीं विधान नहीं है। हाँ ऋद्धि-प्राप्त मुनि ऋद्धि के निमित्त से अन्यत्र जाकर भी भोजन करते हैं—ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं। पद्मपुराण के ६२ वें पर्व मे सेठ अर्हद्दास की कथा मे इसका उदाहरण है। पर सर्व साधारण ऐसा नहीं कर सकते। वर्षा-काल मे रात्रि के समय मुनि को अपने वर्षा-योग के स्थान पर आना जरूरी हैं। यदि वे अधिक दूर जावेंगे तो वापस अपने स्थान पर कैसे आ सकते हैं ? वर्षा-ऋतु में मुनि को दो कोस तक जाने की आज्ञा है—इसके आगे नहीं। देखिए प्रायश्चित्त चूलिका में लिखा है—

घननीहारतापेषु क्रोशवृद्धि-स्वसग्रहैः।
क्षमणं प्रासुके मार्गे द्विचतुःषड्भिरन्यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—वर्षाकाल, शीतकाल और उष्णकाल मे प्रासुक मार्ग हो कर क्रमशः दो कोश, चार कोश और छह कोश जावे तो एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

तात्पर्य यह है कि वर्षा-काल (चातुर्मास्य) में संयमी दो कोश तक जा सकता है, अधिक नहीं।

द्वितीय किरण समाप्त।


मुद्रक—
दी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लि०,
जयपुर



ग्राहकों की सेवा में निवेदन

संयमप्रकाश की प्रस्तुत (द्वितीय) किरण के प्रकाशन में कुछ विलम्ब हो गया है। उससे इसके प्रेमी पाठक भी थोड़े अधीर हो उठे हैं। किन्तु पाठकों को यह जान कर सन्तोष करना चाहिए कि इस विलम्ब का कारण युद्ध-जनित वर्तमान परिस्थिति ही है। आज युद्ध के कारण पहले की अपेक्षा छह सात गुणा मूल्य देने पर भी यथेष्ट कागज सुलभ नहीं है। सरकारी नियन्त्रण भी इसमें बाधक है। इस समय कागज की मॉग इतनी बढ़ी हुई है कि हाथ से कागज बनाने वाले भी समय पर चीज तैयार करके नहीं देते और उसमें उत्तमता लानेका भी उतना ध्यान नहीं रखते। प्रेस वालों के सामने भी काफी अड़चने हैं। बढ़िया स्याही मौजूद न रहने से बीच मे कुछ दिनों के लिए इसका मुद्रण रोकना भी पड़ा। यही सब बातें विलम्ब का कारण हुई हैं। आशा है पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे। मुद्रण सम्बन्धी भी कुछ त्रुटियॉ रह गई हैं उनका संशोधन आगे शुद्धि-पत्र मे कर दिया जावेगा।

प्रकाशक



खंधप्पएसा परमाणुपोग्गला, ते समासतो पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—वण्णपरिणया गंध० रस० फास० संठाणपरिणया, एवं ते ५ जहा पण्णवणाए, सेत्तं रूविअजीवाभिगमे, सेत्तं अजीवाभिगमे (सू० ५)

अथ कोऽसौ अजीवाभिगमः?, सूरिराह—अजीवाभिगमो द्विविधः प्रज्ञप्त, तद्यथा—रूप्यजीवाभिगमोऽरूप्यजीवाभिगमश्च, रूपमेषामस्तीति रूपिणः, रूपग्रहणं गन्धादीनामुपलक्षणं, तद्व्यतिरेकेण तस्यासम्भवात्, तथाहि—प्रतिपरमाणु रूपरसगन्धस्पर्शाः, उक्तं च—"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" एतेन यदुच्यते कैश्चित् 'भिन्ना एव रूपपरमाणवो भिन्नाश्च पृथक् पृथग् रसादिपरमाणव' इति, तदपास्तमवसेयं, प्रत्यक्षबाधितत्वात्, तथाहि—य एव नैरन्तर्येण कुचकलशोपरिनिविष्टा रूपपरमाणव उपलब्धिगोचरास्तेष्वेवाव्यवच्छेदेन सकलेष्वपि स्पर्शोऽप्युपलभ्यते, य एव च घृतादिरसपरमाणवः कर्पूरादिगन्धपरमाणवो वा तेष्वेव नैरन्तर्येण रूपं स्पर्शश्चोपलब्धिविषयः, अन्यथा सान्तरा रूपादयः प्रतीतिपथमियियुः, न च सान्तराः प्रतीयन्ते, तस्मादव्यतिरेक. परस्परं रूपादीनामिति, रूपिणश्च तेऽजीवाश्च रूप्यजीवास्तेषामभिगमो रूप्यजीवाभिगमः पुद्गलरूपाजीवाभिगम इतियावत्, पुद्गलानामेव रूपादिमत्त्वात्, रूपव्यतिरिक्ता अरूपिणो—धर्मास्तिकायादयस्ते च तेऽजीवाश्चारूप्यजीवास्तेषामभिगमोऽरूप्यजीवाभिगमः॥३॥ तत्रारूपिणः प्रत्यक्षाद्यविषया. केवलमागमप्रमाणगम्यास्तत्त्वत इति प्रथमतस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—सुगमं, सूरिराह—'अरुवी'त्यादि ॥ अरूप्यजीवाभिगमः 'दशविधः' दशप्रकारः प्रज्ञप्तः, तदेव दशविधत्वमाह—तंजहेत्यादि, 'तद्यथे'ति वक्ष्यमाणभेदकथनोपन्यासार्थः, धर्मास्तिकायः, 'एवं जहा पण्णवणाए' इति 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण यथा **प्रज्ञापनायां** तथा

वक्तव्यं तावद् यावत् 'सेत्तं असंसारसमापन्नजीवाभिगमे' इति, तच्चैवम्—"धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसा अधम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकायस्स देसे अधम्मत्थिकायस्स पएसा आगासत्थिकाए आगासत्थिकायस्स देसे आगासत्थिकायस्स पएसा अद्धासमये" इति, तत्र जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गतिपरिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात्पोषणाद्धर्मः अस्तयः—प्रदेशास्तेषां कायः—सङ्घातः "गण काए य निकाए खंधे वग्गे तहेव रासी य" इति वचनात् अस्तिकायः—प्रदेशसङ्घात इत्यर्थः, धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः, अनेन सकलधर्मास्तिकायरूपमवयविद्रव्यमाह, अवयवी च नाम अवयवानां तथारूपः सङ्घातपरिणामविशेष एव, न पुनरवयवद्रव्येभ्यः पृथगर्थान्तरद्रव्यं, तस्यानुपलम्भात्, तन्तव एव हि आतानवितानरूपसङ्घातपरिणामविशेषमापन्ना लोके पटव्यपदेशभाज उपलभ्यन्ते, न तदतिरिक्तं पटाख्यं नाम द्रव्यम्, उक्तं चान्यैरपि—"तन्त्वादिव्यतिरेकेण, न पटाद्युपलम्भनम्। तन्त्वादयोऽविशिष्टा हि, पटादिव्यपदेशिनः ॥ १ ॥" कृतं प्रसङ्गेन, अन्यत्र **धर्मसङ्ग्रहणिटीकादावेतद्वादस्य** चर्चितत्वात्, तथा तस्यैव बुद्धिपरिकल्पितो द्व्यादिप्रदेशात्मको विभागो धर्मास्तिकायस्य देशः, धर्मास्तिकायस्य प्रदेशाः—प्रकृष्टा देशाः प्रदेशाः, प्रदेशा निर्विभागा भागा इति, ते चासङ्ख्येयाः, लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम्, अत एव बहुवचनं, धर्मास्तिकायप्रतिपक्षभूतोऽधर्मास्तिकायः, किमुक्तं भवति ?—जीवानां पुद्गलानां च स्थितिपरिणामपरिणतानां तत्परिणामोपष्टम्भकोऽमूर्तोऽसङ्ख्यातप्रदेशात्मकोऽधर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायस्य देश इत्यादि पूर्ववत्, तथा आ—समन्तात्सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते—दीप्यन्तेऽत्र व्यवस्थितानीत्याकाशम्, अस्तयः—प्रदेशास्तेषां कायोऽस्तिकायः, आकाशं च तदस्तिकायश्चाकाशास्तिकायः, आकाशास्तिकायस्य देश इत्यादि प्राग्वत्, नवरमस्य प्रदेशा अनन्ताः, अलोकस्यानन्तत्वात्, 'अद्धासमय' इति, अद्धेति कालस्याख्या, अद्धा चासौ समयश्चाद्धासमयः, अथवाऽद्धायाः समयो—

निर्विभागो भागोऽद्धासमयः, अयं चैक एव वर्त्तमानः परमार्थतः सन् नातीतानागताः, तेषां यथाक्रमं विनष्टानुत्पन्नत्वात्, ततः कायत्वाभावाद्देशप्रदेशकल्पनाविरहः, अथाकाशकालौ लोकेऽपि प्रतीतावििति तौ श्रद्धातुं शक्येते, धर्माधर्मास्तिकायौ तु कथं प्रत्येतव्यौ? येन तद्विषया श्रद्धा भवेत्, उच्यते, गतिस्थितिकार्यदर्शनात्, तथाहि—यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तद्धेतुकमिति व्यवहर्त्तव्यं, यथा चक्षुरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि चाक्षुषं विज्ञानं, तथा च जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिपरिणामपरिणतानामपि गतिस्थिती यथाक्रमं धर्माधर्मास्तिकायान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यौ, तस्मात्ते तद्धेतुके, न चायमसिद्धो हेतुः, तथाहि—जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिपरिणामपरिणतानामपि गतिस्थिती न तत्परिणमनमात्रहेतुके, तन्मात्रहेतुकतायामलोकेऽपि तत्प्रसक्तेः, अथ न तत्परिणमनमात्रं हेतुः किन्तु विशिष्टः परिणामः, स चेत्थंभूतो यथा लोकमात्रक्षेत्रस्यान्तरेऽत्र गतिस्थितिभ्यां भवितव्यं न वहिः प्रदेशमात्रमप्यधिकं, ननु स एवेत्थम्भूतो विशिष्टपरिणाम आकालं जीवानां पुद्गलानां चोत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाण एवाभूद् भवति भविष्यति वा न तु कदाचनाप्यधिकतर इत्यत्र किं नियामकं?, यथा हि किल परमाणोर्जघन्यतः परमाणुमात्रक्षेत्रातिक्रममादिं कृत्वोत्कर्षतश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकमपि क्षेत्रं यावद् गतिरुपजायते तथा परतोऽपि प्रदेशमात्रमप्यधिका किं न भवति?, तस्मादवश्यमत्र किञ्चिन्नियामकमपरं वक्तव्यं, तच्च धर्माधर्मास्तिकायावेव नाकाशमात्रम्, आकाशमात्रस्यालोकेऽपि सम्भवात्, नापि लोकपरिमितमाकाशम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—जीवाना पुद्गलानां चान्यत्र गतिस्थित्योरभावे सिद्धे सति विवक्षितस्य परिमितस्याकाशस्य लोकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ चान्यत्र जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यभावसिद्धिरित्येकाभावेऽन्यतरस्याप्यभावः, अथ किमिदमसंवद्धमुच्यते?, यत् लोकत्वेन सम्प्रति व्यवह्रियते क्षेत्रं, तावन्मात्रस्यैवाकाशखण्डस्य गतिस्थित्युपष्टम्भकस्वभावो न परस्य प्रदेशमात्रस्यापि ततो न कश्चिद्दोषः, ननु तावन्मात्रस्यैवाकाशस्य

स स्वभावो न परस्य प्रदेशमात्रस्यापीत्यत्रापि सुधियः कारणान्तरं मृगयन्ते, आकाशत्वमात्रस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, विशेषणमन्तरेण च वैशिष्ट्यायोगात्, कारणान्तरं धर्माधर्मास्तिकायभावाभाववेव नापरमिति स्थितम्, अन्यच्च—तावन्मात्रस्याकाशखण्डस्य स स्वभावो न परस्येत्यपि कुतः प्रमाणात्परिकल्प्यते ?, आगमप्रमाणादिति चेत् तथाहि—तावत्येवाकाशखण्डे जीवानां च पुद्गलानां च गतिस्थितिमतां गतिस्थिती तत्र तत्र व्यावर्ण्येते न परत इति, यद्येवं तर्ह्यागमप्रामाण्यबलादेव धर्माधर्मास्तिकायावपि गतिस्थितिनिबन्धनमिष्येयातां किमाकाशखण्डस्य निर्मूलस्वभावान्तरपरिकल्पनाऽऽयासेनेति कृतं प्रसङ्गेन । अथामीषामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ?, उच्यते, इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, आदौ धर्मशब्दान्वितत्वात्, पदार्थप्ररूपणा च सम्प्रत्युत्क्षिप्ता वर्त्तते, ततो मङ्गलार्थमादौ धर्मास्तिकायस्योपादानं, धर्मास्तिकायप्रतिपक्षभूतश्चाधर्मास्तिकाय इति तदनन्तरमधर्मास्तिकायस्य, द्वयोरपि चानयोराधारभूतमाकाशमिति तदनन्तरमाकाशास्तिकायस्य, ततः पुनरजीवसाधर्म्याद्द्धासमयस्य, अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायौ विभू न भवतः, तद्विभुत्वेन तत्सामर्थ्यतो जीवपुद्गलानामस्खलितप्रचारप्रवृत्तेर्लोकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः, अस्ति च लोकालोकव्यवस्था, तत एतावविभू सन्तौ यत्र क्षेत्रे समवगाढौ तावत्प्रमाणो लोकः, शेषस्त्वलोक इति सिद्धम्, उक्तं च—"धर्माधर्मविभुत्वात्सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात् । नालोकः कश्चित्स्यान्न च संमतमेतदार्याणाम् ॥ १ ॥ तस्माद्धर्माधर्मावगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम् । एवं हि परिच्छिन्नः सिद्ध्यति लोकस्तदविभुत्वात् ॥ २॥" तत एवं लोकालोकव्यवस्थाहेतू धर्माधर्मास्तिकायावित्यनयोरादावुपादानं, तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तत्प्रतिपक्षत्वात् ततोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकालोकव्यापित्वादाकाशास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोके समयासमयक्षेत्रव्यवस्थाकारित्वादद्धासमयस्य, एवमागमानुसारेणान्यदपि युक्त्यनुपाति वक्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, अत्रोपसंहारवाक्यं—'सेत्तं अरूविअजीवाभि-

गमे'। अत ऊर्द्धमिदं सूत्रम्—'से किं तं रूविअजीवाभिगमे ?, रूविअजीवाभिगमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं०—खंधा खंधदेसा खंधपएसा परमाणुपुग्गला' इह स्कन्धा इत्यत्र बहुवचनं पुद्गलस्कन्धानामनन्तत्वख्यापनार्थं, तथा चोक्तम्—"दव्वतो णं पुग्गलत्थिकाए णं अनन्ते" इत्यादि, 'स्कन्धदेशाः' स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहतां बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादिप्रदेशात्मका विभागाः, अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रदेशिकेषु स्कन्धेषु स्कन्धदेशानन्तत्वसंभावनार्थं, 'स्कन्धप्रदेशाः' स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणाममजहतां प्रकृष्टा देशाः—निर्विभागा भागाः परमाणव इत्यर्थः, 'परमाणुपुद्गलाः' स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणवः॥ अत ऊर्द्धं सूत्रमिदम्—'ते समासतो पंचविधा पन्नत्ता, तंजहा—वण्णपरिणया गंधपरिणता रसपरिणता फासपरिणता संठाणपरिणता, तत्थ णं जे वण्णपरिणया ते पंचविहा पन्नत्ता, तंजहा—कालवण्णपरिणता नीलवण्णपरिणता इत्यादि तावद् यावत् 'सेत्तं रूविअजीवाभिगमे, सेत्तं अजीवाभिगमे ॥

से किं तं जीवाभिगमे ?, जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—संसारसमावण्णगजीवाभिगमे य असंसारसमावण्णगजीवाभिगमे य (सू० ६) से किं तं असंसारसमावण्णगजीवाभिगमे ?, २ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—अणंतरसिद्धासंसारसमावण्णगजीवाभिगमे य परंपरसिद्धासंसारसमावण्णगजीवाभिगमे य। से किं तं अणंतरसिद्धासंसारसमावण्णगजीवाभिगमे ?, २ पण्णरसविहे पण्णत्ते, तंजहा—तित्थसिद्धा जाव अणेगसिद्धा, सेत्तं अणंतरसिद्धा। से किं तं परंपरसिद्धासंसारसमावण्णगजीवाभिगमे ?, २ अणेगविहे पण्णत्ते, तंजहा—पढमसमयसिद्धा दुसमय-

सिद्धा जाव अणंतसमयसिद्धा, से तं परंपरसिद्धासंसारसमावण्णगजीवाभिगमे, सेत्तं असंसारसमावण्णगजीवाभिगमे (सू० ७)

संसरणं संसारो—नारकतिर्यङ्नरामरभवभ्रमणलक्षणस्तं सम्यग्—एकीभावेनापन्नाः—प्राप्ताः संसारसमापन्नाः—संसारवर्त्तिनस्ते च ते जीवाश्च तेषामभिगमः संसारसमापन्नजीवाभिगमः, तथा न संसारोऽसंसारः—संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्ष इत्यर्थः तं समापन्ना असंसारसमापन्नास्ते च ते जीवाश्च तेषामभिगमोऽसंसारसमापन्नजीवाभिगमः, चशब्दौ उभयेषामपि जीवानां जीवत्वं प्रति तुल्यकक्षतासूचकौ, तेन ये विध्यातप्रदीपकल्पं निर्वाणमभ्युपगतवन्तः ये च नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदेन ते निरस्ता द्रष्टव्याः, तथाभूतमोक्षाभ्युपगमे तदर्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, न खलु सचेतनः स्ववधाय कण्ठे कुठारिकां व्यापारयति, दुःखितोऽपि हि जीवन् कदाचिद् भद्रमाप्नुयात् मृतेन तु निर्मूलमपि हस्तिताः सम्पद इति, इह केवलान् अजीवान् जीवांश्चानुच्चार्याभिगमशब्दसंवलितप्रश्नोऽभिगमव्यतिरेकेण प्रतिपत्तेरसम्भवतस्तेषामभिगमगम्यताधर्मख्यापनार्थः तेन 'सदेवेद'मित्यादि सदद्वैताद्यपोह उक्तो वेदितव्यः, सदद्वैताद्यभ्युपगमेऽभिगमगम्यतारूपधर्मायोगतः प्रतिपत्तेरेवासम्भवात् । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतोऽसंसारसमापन्नजीवाभिगमसूत्रम्—'से किं तं असंसारसमावन्नजीवाभिगमे ?, २ दुविहे पं०, तं०—अनंतरसिद्धअसंसारसमावन्नजीवाभिगमे परंपरसिद्धअसंसारसमावन्नजीवाभिगमे य' इत्यादि तावद्वाच्यं यावदुपसंहारवाक्यं 'सेत्तं असंसारसमापन्नजीवाभिगमे' अस्य व्याख्यानं प्रज्ञापनाटीकातो वेदितव्यं, तत्र सविस्तरमुक्तत्वात् ॥ सम्प्रति संसारसमापन्नजीवाभिगममभिधित्सुस्तत्प्रश्नसूत्रमाह—

से किं तं संसारसमावन्नजीवाभिगमे ?, संसारसमावण्णएसु णं जीवेसु इमाओ णव पडिवत्तीओ

एवमाहिज्जंति, तं०—एगे एवमाहंसु—दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पं०, एगे एवमाहंसु—तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पं०, एगे एवमाहंसु—चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पं०, एगे एवमाहंसु—पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पं०, एतेणं अभिलावेणं जाव दसविहा संसार-समावण्णगा जीवा पण्णत्ता (सू० ८)

सूरिराह—संसारसमापन्नेषु णमिति वाक्यालङ्कारे जीवेषु 'इमाः' वक्ष्यमाणलक्षणा **'नव प्रतिपत्तयो'** द्विप्रत्यवतारमादौ कृत्वा दशप्रत्यवतारं यावद् ये नव प्रत्यवतारास्तद्रूपाणि प्रतिपादनानि संवित्तय इतियावत् 'एवं' वक्ष्यमाणया रीत्याऽऽख्यायन्ते पूर्वसूरिभिः, इह प्रतिपत्त्याख्यानेन प्रणालिकयाऽर्थाख्यानं द्रष्टव्यं, प्रतिपत्तिभावेऽपि शब्दादर्थे प्रवृत्तिकरणात्, तेन यदुच्यते शब्दाद्वैतवादिभिः— 'शब्दमात्रं विश्व'मिति, तदपास्तं द्रष्टव्यं, तदपासने चेयमुपपत्तिः—एकान्तैकस्वरूपे वस्तुन्यभिधानद्वयासम्भवात् भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ता-भावात्, ततश्च शब्दमात्रमित्येव स्यात् न विश्वमिति, प्रणालिकयाऽर्थाभिधानमेवोपदर्शयति, तद्यथा—एके आचार्या एवमाख्यातवन्तः— द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ताः, एके आचार्या एवमाख्यातवन्तः—त्रिविधाः संसारसमापन्ना जीवाः, एवं यावद्दशविधा इति, इह एके इति न पृथग्मतावलम्बिनो दर्शनान्तरीया इव केचिदन्ये आचार्याः, किन्तु य एव पूर्वं द्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्त्तमाना एव-मुक्तवन्तः यथा द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवा इति त एव त्रिप्रत्यवतारविवक्षायां वर्त्तमानाः, द्विप्रत्यवतारविवक्षामपेक्ष्य त्रिप्रत्यवतार-विवक्षाया अन्यत्वात्, विवक्षावतां तु कथञ्चिद् भेदादन्य इति वेदितव्याः, अत एव प्रतिपत्तय इति परमार्थतोऽनुयोगद्वाराणीति प्रतिपत्तव्यम्, इह य एव द्विविधास्त एव त्रिविधास्त एव चतुर्विधा यावद्दशविधा इति तेषामनेकस्वभावतायां तत्तद्धर्मभेदेन तथा

तथाऽभिधानता युज्यते, नान्यथा, एकान्तैकस्वभावतायां तेषां वैचित्र्यायोगतस्तथा तथाऽभिधानप्रवृत्तेरसम्भवात्, एवं सति "अष्टविकल्पं दैवं तिर्यग्योनं च पञ्चधा भवति । मानुष्यं चैकविधं समासतो भौतिकः सर्गः ॥ १ ॥" इति वाङ्मात्रमेव, अधिष्ठातृजीवानामेकरूपत्वाभ्युपगमेन तथारूपवैचित्र्यासम्भवादिति, एवमन्येऽपि प्रवादास्तथा तथा वस्तुवैचित्र्यप्रतिपादनपरा निरस्ता द्रष्टव्याः, सर्वथैकस्वभावत्वाभ्युपगतौ वैचित्र्यायोगात् ॥ सम्प्रत्येता एव प्रतिपत्तीः क्रमेण व्याचिख्यासुः प्रथमत आद्यां प्रतिपत्तिं विभावयिषुरिदमाह—

तत्थ(णं) जे एवमाहंसु 'दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पं०' ते एवमाहंसु—तं०—तसा चेव थावरा चेव ॥ (सू० ९)

'तत्र' तेषु नवसु प्रतिपत्तिषु मध्ये ये द्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्त्तमाना एवं व्याख्यातवन्तः—द्विविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्ता इति ते 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'एवं' वक्ष्यमाणरीत्या द्विविधत्वभावनार्थमाख्यातवन्तः, 'तद्यथे' त्युपन्यस्तद्वैविध्योपदर्शनार्थः, त्रसाश्चैव स्थावराश्चैव, तत्र त्रसन्ति—उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ति गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्त्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः, अथ शेषैरपीह प्रयोजनं, तेषामप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, तत एवं व्युत्पत्तिः—त्रसन्ति—अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्द्ध्वमधस्तिर्यक् चलन्तीति त्रसाः—तेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च, उष्णाद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः सन्तस्तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः—पृथिव्यादयः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ, एवकारावधारणार्थौ, अत एव संसारसमापन्नका जीवाः, एतद्व्यतिरेकेण संसारिणामभावात् ॥ तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतः स्थावरानभिधित्सुस्तत्प्रश्नसूत्रमाह—

से किं तं थावरा?, २ तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—पुढविकाइया १ आउक्काइया २ वणस्सइकाइया ३ ॥ (सू० १०)

अथ के ते स्थावराः?, सूरिराह—स्थावरास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः, आर्षत्वात्स्वार्थे इकप्रत्ययः, आपो—द्रवास्ताश्च प्रतीताः ता एव कायः—शरीरं येषां ते अप्कायाः अप्काया एवाप्कायिकाः, वनस्पतिः—लतादिरूपः प्रतीतः स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः, सर्वत्र बहुवचनं बहुत्वख्यापनार्थं, तेन 'पृथिवी देवते'-त्यादिना यत्तदेकजीवत्वमात्रप्रतिपादनं तदपास्तमवसेयं, यदि पुनस्तदधिष्ठात्री काचनापि देवता परिकल्प्यते तदानीमेकत्वेऽप्यविरोधः। इह सर्वभूताधारः पृथिवीति प्रथमं पृथिवीकायिकानामुपादानं, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादप्कायिकानां, तदनन्तरं "जत्थ जलं तत्थ वणं" इति सैद्धान्तिकवस्तुप्रतिपादनार्थं वनस्पतिकायिकानामिति, इह त्रिविधत्वं स्थावराणां तेजोवायूनां लब्ध्या स्थावराणामपि सतां गतित्रसेष्वन्तर्भावविवक्षणात्, तथा च तत्त्वार्थसूत्रमप्येवं व्यवस्थितं "पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः" (तत्त्वा० अ० २ सू० १३–१४) इति, तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति प्रथमतः पृथिवीकायिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं पुढविकाइया?, २ दुविहा पं०, तं०—सुहुमपुढविक्काइया य बायरपुढविक्काइया य ॥ (सू० ११)

अथ के ते पृथिवीकायिकाः?, सूरिराह—पृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च बदरपृथिवीकायिकाश्च, तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मा बादरनामकर्मोदयात्तु बादराः, कर्मोदयजनिते खल्वेते सूक्ष्मबादरत्वे, नापेक्षिके बदरामलकयो-

रिव, सूक्ष्माश्च ते पृथिवीकायिकाश्च सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः, बादराश्च ते पृथिवीकायिकाश्च बादरपृथिवीकायिकाः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ, सूक्ष्माः सकललोकवर्त्तिनो बादराः प्रतिनियतैकदेशधारिणः ॥ तत्र सूक्ष्मपृथिवीकायिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं सुहुमपुढविकाइया ?, २ दुविहा पं०, तं०—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ॥ (सू० १२)

अथ के ते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः ?, सूरिराह—सूक्ष्मपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पर्याप्तकाश्चापर्याप्तकाश्च, तत्र पर्याप्तिर्नामाहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयादुपजायते, किमुक्तं भवति ?—उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथाऽन्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्संपर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेष आहारादिपुद्गलखलरसरूपतापादनहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः सा पर्याप्तिः, सा च षोढा, तद्यथा—आहारपर्याप्तिः १ शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ प्राणापानपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिश्च ६, तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साऽऽहारपर्याप्तिः १, यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः २, यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणापुद्गलानादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः ४, यया तु भाषाप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय भाषात्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः ५, यया पुनर्मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः ६, एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां सञ्ज्ञिवर्जानां द्वीन्द्रियादीनां संज्ञिनां च चतुष्पञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति, उत्पत्तिप्रथमसमये एव च एता यथायथं सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितुमारभ्यन्ते क्रमेण च निष्ठामुपयान्ति,

तद्यथा—प्रथममाहारपर्याप्तिस्ततः शरीरपर्याप्तिस्तत इन्द्रियपर्याप्तिरित्यादि, आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पत्तिमुपगच्छति, शेषास्तु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन, अथाहारपर्याप्तिः प्रथमसमय एव निष्पद्यत इति कथमवसीयते?, उच्यते, इह भगवताऽऽर्यश्यामेन प्रज्ञापनायामाहारपदे द्वितीयोद्देशके सूत्रमिदमपाठि—"आहारपज्जत्तीए अपज्जत्तए णं भंते! किं आहारए अणाहारए?, गोयमा! नो आहारए अणाहारए" इति, तत आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगतावेवोपपद्यते नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रसमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात्, तत एकसामायिकी आहारपर्याप्तिनिर्वृत्तिः, यदि पुनरुपपातक्षेत्रसमागतोऽप्याहारपर्याप्त्या अपर्याप्तः स्यात्त एवं व्याकरणसूत्रं पठेत्—"सिय आहारए सिय अणाहारए" यथा शरीरादिपर्याप्तिषु "सिय आहारए सिय अणाहारए" इति, सर्वासामपि च पर्याप्तीनां पर्याप्तिपरिसमाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः, पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः, 'अभ्रादिभ्य' इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः, पर्याप्ता एव पर्याप्तकाः, ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्ताः अपर्याप्ता एवापर्याप्तकाः, ते द्विधा—लब्ध्या करणैश्च, तत्र येऽपर्याप्तका एव म्रियन्ते ते लब्ध्याऽपर्याप्तकाः, ये पुनः करणानि—शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्त्तयन्ति अथचावश्यं निर्वर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः संप्राप्ताः ॥ सम्प्रति विनेयजनानुग्रहाय शेषवक्तव्यतासङ्ग्रहार्थमिदं सङ्ग्रहणिगाथाद्वयमाह—सरीरोगाहणसंघयण संठाणकसाय तह य हुंति सन्नाओ । लेसिंदियसमुग्घाए सन्नी वेए य पज्जत्ती ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणनाणे जोगुवओगे तहा किमाहारे । उववायठिई समुग्घाय चवणगइरागई चेव ॥ २ ॥ अस्य व्याख्या—प्रथमतः सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां शरीराणि वक्तव्यानि, तदनन्तरमवगाहना, ततः संहननं, तदनन्तरं संस्थानं, ततः कषायाः, ततः कति भवन्ति सञ्ज्ञाः? इति वक्तव्यं, ततो लेश्याः, तदनन्तरमिन्द्रियाणि, ततः समुद्घाताः, ततः किं सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनो वा? इति वक्तव्यं, तदनन्तरं वेदो वक्तव्यः, ततः पर्याप्तयो

यथा कति पर्याप्तयः सूक्ष्मपृथिवीकायिकानाम्? इत्यादि, पर्याप्तिग्रहणमुपलक्षणं तेन तत्प्रतिपक्षभूता अपर्याप्तयोऽपि वक्तव्या इति द्रष्टव्यं, तदनन्तरं दृष्टिर्वक्तव्या, ततो दर्शनं, तदनन्तरं ज्ञानं, ततो योगः, तत उपयोगः, तथा किमाहारमाहारयन्ति सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः? इत्यादि वक्तव्यं, तदनन्तरमुपपातः, ततः स्थितिः, ततः समुद्घातः समुद्घातमधिकृत्य मरणं वक्तव्यमित्यर्थः, तदनन्तरं च्यवनं, ततो गत्यागती इति, इति सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिर्द्वाराणि, तत्र प्रथमद्वारव्याख्यानार्थमाह—

तेसि णं भंते! जीवाणं कतिसरीरया पण्णत्ता, गोयमा! तओ सरीरगा पं०, तं०—ओरालिए तेयए कम्मए॥ तेसि णं भंते! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पं०, गो०! जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जतिभागं उक्कोसेणवि अंगुलासंखेज्जतिभागं॥ तेसि णं भंते! जीवाणं सरीरा किंसंघयणा पण्णत्ता?, गोयमा! छेवट्ठसंघयणा पण्णत्ता ॥ तेसि णं भंते! सरीरा किंसंठिया पं०?, गोयमा! मसूरचंदसंठिता पण्णत्ता॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति कसाया पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तंजहा—कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोहकसाए॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति सण्णा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि पण्णत्ता, तंजहा—आहारसण्णा जाव परिग्गहसन्ना॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिन्नि लेस्सा पन्नत्ता, तंजहा—किण्हलेस्सा नीललेसा काउलेसा॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति इंदियाइं पण्णत्ताइं?, गोयमा! एगे फासिंदिए पण्णत्ते॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति समुग्घाया पण्णत्ता?, गोयमा! तओ समुग्घाया पण्णत्ता, तंजहा—

वेयणासमुग्घाते कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए ॥ ते णं भंते! जीवा किं सन्नी असन्नी ?, गोयमा! नो सन्नी असन्नी ॥ ते णं भंते! जीवा किं इत्थिवेया पुरिसवेया णपुंसगवेया ?, गोयमा! णो इत्थिवेया णो पुरिसवेया णपुंसगवेया ॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा! चत्तारि पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तंजहा–आहारपज्जत्ती सरीरपज्जत्ती इंदियपज्जत्ती आणपाणुपज्जत्ती। तेसि णं भंते! जीवाणं कति अपज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा! चत्तारि अपज्जत्तीओ पण्णत्ताओ, तंजहा–आहारअपज्जत्ती जाव आणापाणुअपज्जत्ती ॥ ते णं भंते! जीवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी ?, गोयमा! णो सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी नो सम्ममिच्छादिट्ठी ॥ ते णं भंते! जीवा किं चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओहिदंसणी केवलदंसणी ?, गोयमा! नो चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी नो ओहिदंसणी नो केवलदंसणी ॥ ते णं भंते! जीवा किं नाणी अण्णाणी ?, गोयमा! नो नाणी अण्णाणी, नियमा दुअण्णाणी, तंजहा–मतिअन्नाणी सुयअण्णाणी य ॥ ते णं भंते! जीवा किं मणजोगी वयजोगी कायजोगी ?, गोयमा! नो मणजोगी नो वयजोगी कायजोगी ॥ ते णं भंते! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?, गोयमा! सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि ॥ ते णं भंते! जीवा किमाहारमाहारेंति ?, गोयमा! दव्वतो अणंतपदेसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढाइं कालओ अन्नयर-

समयट्ठितीयाइं भावतो वण्णवं(मं)ताइं गंधवं(मं)ताइं रसवं(मं)ताइं फासवं(मं)ताइं ॥ जाइं भावओ वण्णमंताइं आ०, ताइं किं एगवण्णाइं आ० दुवण्णाइं आ० तिवण्णाइं आ० चउवण्णाइं आ० पंचवण्णाइं आ० ?, गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइंपि दुवण्णाइंपि तिवण्णाइंपि चउवण्णाइंपि पंचवण्णाइंपि आ०, विहाणमग्गणं पडुच्च कालाइंपि आ० जाव सुक्किलाइंपि आ०, जाइं वण्णओ कालाइं आ० ताइं किं एगगुणकालाइं आ० जाव अणंतगुणकालाइं आ० ?, गोयमा! एगगुणकालाइंपि आ० जाव अणंतगुणकालाइंपि आ० एवं जाव सुक्किलाइं ॥ जाइं भावतो गंधमंताइं आ० ताइं किं एगगंधाइं आ० दुगंधाइं आ० ?, गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगगंधाइंपि आ० दुगंधाइंपि आ०, विहाणमग्गणं पडुच्च सुब्भिगंधाइंपि आ० दुब्भिगंधाइंपि आ०, जाइं गंधतो सुब्भिगंधाइं आ० ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं आ० जाव अणंतगुणसुरभिगंधाइं आ० ?, गोयमा! एगगुणसुब्भिगंधाइंपि आ० जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइंपि, आ० एवं दुब्भिगंधाइंपि ॥ रसा जहा वण्णा ॥ जाइं भावतो फासवं(मं)ताइं आ० ताइं किं एगफासाइं आ० जाव अट्ठफासाइं आ० ?, गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च नो एगफासाइं आ० नो दुफासाइं आ० नो तिफासाइं आ० चउफासाइं आ० पंचफासाइंपि जाव अट्ठफासाइंपि आ०, विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइंपि आ० जाव लुक्खाइंपि आ०, जाइं फासतो कक्खडाइं आ०

ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आ० जाव अणंतगुणकक्खडाइं आ०?, गोयमा! एगगुणकक्खडाइंपि आ० जाव अणंतगुणकक्खडाइंपि आ० एवं जाव लुक्खा णेयव्वा ॥ ताइं भंते! किं पुट्ठाइं आ० अपुट्ठाइं आ०?, गोयमा! पुट्ठाइं आ० नो अपुट्ठाइं आ०, ताइं भंते! ओगाढाइं आ० अणोगाढाइं आ०?, गोयमा! ओगाढाइं आ० नो अणोगाढाइं आ०, ताइं भंते! किमणंतरोगाढाइं आ० परंपरोगाढाइं आ०?, गोयमा! अणंतरोगाढाइं आ० नो परंपरोगाढाइं आ०, ताइं भंते! किं अणूइं आ० बायराइं आ०?, गोयमा! अणूइंपि आ० बायराइंपि आहारेंति, ताइं भंते! उड्ढं आ० अहे आ० तिरियं आहारेंति?, गोयमा! उड्ढंपि आ० अहेवि आ० तिरियंपि आ०, ताइं भंते! किं आइं आ० मज्झे आ० पज्जवसाणे आहारेंति?, गोयमा! आदिंपि आ० मज्झेवि आ० पज्जवसाणेवि आ०, ताइं भंते! किं सविसए आ० अविसए आ०?, गोयमा! सविसए आ० नो अविसए आ०, ताइं भंते! किं आणुपुव्विं आ० अणाणुपुव्विं आहारेंति?, गोयमा! आणुपुव्विं आहारेंति नो अणाणुपुव्विं आहारेंति, ताइं भंते! किं तिदिसिं आहारेंति चउदिसिं आहारेंति पंचदिसिं आहारेंति छदिसिं आहारेंति?, गोयमा! निव्वाघाएणं छदिसिं, वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं, उस्सन्नकारणं पडुच्च वण्णतो काला नीला जाव सुक्किलाइं, गंधतो सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं, रसतो जाव तित्तमहुराइं, फासतो

कक्खडमउयजाव निद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे विप्परिणामइत्ता परिपालइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अण्णे अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे जाव फासगुणे उप्पाइत्ता आतसरीरओगाढा पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति ॥ ते णं भंते! जीवा कतोहिंतो उववज्जंति? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, नो देवेहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणियपज्जत्तापज्जत्तेहिंतो असंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो अकम्मभूमिगअसंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति, वक्कंतीउववाओ भाणियव्वो ॥ तेसि णं भंते! जीवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं ॥ ते णं भंते! जीवा मारणंतियसमुग्घातेणं किं समोहया मरंति असमोहया मरंति?, गोयमा! समोहयावि मरंति असमोहयावि मरंति ॥ ते णं भंते! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति? कहिं उववज्जंति?–किं नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उ० मणुस्सेसु उ० देवेसु उवव०?, गोयमा! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उ० मणुस्सेसु उ० णो देवेसु उवव०। किं एगिंदिएसु उववज्जंति जाव पंचिंदिएसु उ०?, गोयमा! एगिंदिएसु उववज्जंति जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, असंखेज्जवासाउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तएसु उव०, मणुस्सेसु अ-

कम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तएसु उव० ॥ ते णं भंते! जीवा कतिगतिका कतिआगतिका पण्णत्ता?, गोयमा! दुगतिया दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो!, से त्तं सुहुमपुढविक्काइया ॥ (सू० १३)

'तेषां' सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां णमिति वाक्यालङ्कारे 'भदन्त!' परमकल्याणयोगिन्! कति शरीराणि प्रज्ञप्तानि?, अथ कः कमेवमाह?, उच्यते, भगवान् गौतमो भगवन्तं श्रीमन्महावीरं, कथमेतद् विनिश्चीयते इति चेद्, उच्यते, निर्वचनसूत्रात्, ननु गौतमोऽपि भगवान् उपचितकुशलमूलो गणधरस्तीर्थकरभापितमातृकापदत्रयश्रवणमात्रावाप्तप्रकृष्टश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमश्चतुर्दशपूर्वविद् विवक्षितार्थपरिज्ञानसमन्वित एव ततः किमर्थं पृच्छति?, तथाहि—न चतुर्दशपूर्वविदः प्रज्ञापनीयं किञ्चिदविदितमस्ति, विशेपतः सर्वाक्षरसंनिपातिनः संभिन्नश्रोतसो भगवतो गणभृतः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसमन्वितस्य गौतमस्य, उक्तं च—"संखातीते[1] वि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा। न य णं अणाइसेसी वियाणई एस छउमत्थो ॥ १ ॥" उच्यते, शिष्यसंप्रत्ययार्थं, तथाहि—जानन्नेव भगवान् अन्यत्र विनेयेभ्यः प्रतिपाद्य तत्संप्रत्ययनिमित्तं भूयोऽपि भगवन्तं पृच्छतीति, अथवा गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं किञ्चित्सूत्रमितीत्थमधिकृतसूत्रकारः सूत्रं रचितवान्, यदिवा संभवति भगवतोऽपि स्वल्पोऽनाभोगः छद्मस्थत्वादिति पृच्छति, उक्तं च—"न हि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति। ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥ १ ॥" इति कृतं प्रसङ्गेन, प्रस्तुतमुच्यते, भगवानाह—गोयमेत्यादि, अनेन लोकप्रथितमहागोत्रविशिष्टाभिधायकेनामन्त्रणध्वनिनाऽऽमन्त्रयन्निदं ज्ञापयति—प्रधानासाधारणगुणेनोत्साह्य

1 संख्यातीतानपि भवान् साधयति यद्वा पर पृच्छेत्। न चानतिशायी विजानात्येप छद्मस्थ (इति) ॥ १ ॥

विनेयस्य धर्मः कथनीयः, इत्थमेव सम्यक्प्रतिपत्तियोगादिति, त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, इह शरीराणि पञ्च भवन्ति, तद्यथा—औदारिकं वैक्रियमाहारकं तैजसं कार्मणं च, तत्रोदारं—प्रधानं, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीराण्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रधानं, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथोत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेव औदारिकं, विनयादिपाठादिकण् १, तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियं, तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति अनेकं भूत्वा एकं तथाऽणु भूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वाऽणु तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति भूमिचरं भूत्वा खचरं तथा दृश्यं भूत्वाऽदृश्यं भवति अदृश्यं भूत्वा दृश्यमिति, तच्च द्विविधम्—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च, तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तं, तच्च देवनारकाणां, लब्धिप्रत्ययं तिर्यग्मनुष्याणां २, तथा चतुर्दशपूर्वविदां तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते—निर्वर्त्त्यते इत्याहारकं, 'कृद्बहुलक'-मिति वचनात्कर्मणि वुञ्, यथा पादहारक इत्यत्र, उक्तं च—"[1]कज्जंमि समुप्पन्ने सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए। जं एत्थ आहरिज्जइ भणंति आहारगं तं तु ॥ १ ॥" कार्यं चेदम्—"[2]पाणिदयरिद्धिदंसण सुहुमपयत्थावगाहहेउं वा। संसयवोच्छेयत्थं गमणं जिणपायमूलंमि ॥ १ ॥" एतच्चाहारकं कदाचनापि लोके सर्वथाऽपि न भवति, तच्चाभवनं जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत्, उक्तं च—"[3]आहारगाइ लोगे छम्मासा जा न होंतिवि कयाइं। उक्कोसेणं नियमा एक्कं समयं जहन्नेणं ॥ १ ॥" आहारकं च शरीरं

---

१ कार्ये समुत्पन्ने श्रुतकेवलिना विशिष्टलब्ध्या। यदत्राह्रियते भणन्त्याहारकं तत्तु ॥ १ ॥ २ प्राणिदयाऋद्धिदर्शनसूक्ष्मपदार्थावगाहहेतवे वा। संशयव्युच्छेदार्थं गमन जिनपादमूले ॥ १ ॥ ३ आहारकादयो नियमाल्लोके षण्मासान् यावन्न भवन्त्यपि कदाचित्। उत्कृष्टतो नियमात् एकं समयं जघन्येन ॥ १ ॥

वैक्रियशरीरापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहात्मकं ३, तथा तेजसां—तेजःपुद्गलानां विकारस्तैजसं 'विकार' इत्यण्, तत् औष्मलिङ्गं भुक्ताहारपरिणमनकारणं, ततश्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, उक्तं च—"सव्वस्स उम्हसिद्धं रसाइआहारपाकजणगं च । तेयगलद्धिनिमित्तं च तेयगं होइ नायव्वं ॥ १ ॥" ४, तथा कर्मणो जातं कर्मजं, किमुक्तं भवति ?—कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगता. सन्तः शरीररूपतया परिणताः कर्मजं शरीरमिति, अत एवैतदन्यत्र कार्मणमित्युक्तं, कर्मणो विकारः कार्मणमिति, तथा चोक्तम्—"कम्मविकारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं । सव्वेसिं सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं ॥ १ ॥" अत्र 'सव्वेसि'मिति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं—बीजभूतं कार्मणं शरीरं, न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः, इदं च कर्मजं शरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं कारणं, तथाहि—कर्मजेनैव वपुषा तैजससहितेन परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति, ननु यदि तैजससहितकार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् कस्मान्न दृष्टिपथमवतरति ?, उच्यते, कर्मपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां चातिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात्, तथा च परतीर्थिकैरप्युक्तम्—"अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥ १ ॥" एतेषां पञ्चानां शरीराणां मध्ये यानि त्रीणि शरीराणि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाना तानि नामग्राहमुपदर्शयति—तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, वैक्रियाहारके तु तेषां न संभवतो, भवस्वभावत एव तल्लब्धिशून्यत्वात् ।

१ सर्वस्यौष्ण्यसिद्ध रसाद्याहारपाकजनकं च । तेजोलब्धिनिमित्त च तैजस भवति ज्ञातव्यम् ॥ १ ॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणा कारणभूतं मुणितव्य ॥ १ ॥

अधुनाऽवगाहनाद्वारमाह—'तेसिणं भंते!' इत्यादि सुगमं, नवरं जघन्यपदोत्कृष्टपदयोस्तुल्यश्रुतावपि जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमवसातव्यम् ॥ संहननद्वारमाह—तेसिणमित्यादि, तेषां भदन्त! जीवानां शरीरकाणि किंसंहननानि प्रज्ञप्तानि?, संहननं नामास्थिनिचयरूपं, तच्च षोढा, तद्यथा—वज्रऋषभनाराचं ऋषभनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका छेदवर्त्ति च, तत्र वज्रं—कीलिका ऋषभः—परिवेष्टनपट्टः नाराचस्तूभयतो मर्कटबन्धः ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिं गच्छता तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्यं वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रऋषभनाराचसञ्ज्ञं प्रथमं संहननं १, यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तत् ऋषभनाराचं द्वितीयं संहननं २, तथा यत्रास्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसञ्ज्ञं तृतीयं संहननं ३, यत्र पुनरेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीये च पार्श्वे कीलिका तदर्द्धनाराचं चतुर्थं संहननं ४, तथा यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि तत्कीलिकाख्यं पञ्चमं संहननं ५, तथा यत्रास्थीनि परस्परं छेदेन वर्त्तन्ते न कीलिकामात्रेणापि बन्धस्तत् षष्ठं छेदवर्त्ति, तच्च प्रायो मनुष्यादीनां नित्यं स्नेहाभ्यङ्गादिरूपां परिशीलनामपेक्षते ६, इत्थं षोढा संहननसम्भवे संशयः—तेषां शरीराणि किंसंहननानि प्रज्ञप्तानि? इति, भगवानाह —गौतम! छेदवर्त्तिसंहननानि प्रज्ञप्तानि, अयमत्राभिप्रायः—यद्यपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामस्थ्यभावस्तथाऽप्यौदारिकशरीरिणामस्थ्यात्मकेन संहननेन यः शक्तिविशेष उपजायते सोऽप्युपचारात्संहननमिति व्यवह्रियते, शक्तिविशेषश्चात्यन्तमल्पीयान् सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामप्यस्त्यौदारिकशरीरित्वात्, जघन्यश्च शक्तिविशेषश्छेदवर्त्तिसंहननविषय इति तेषामपि छेदवर्त्तिसंहननमुक्तम् ॥ गतं संहननद्वारं, सम्प्रति संस्थानद्वारमाह—'तेसिणं भंते!' इत्यादि सुगमं, नवरं 'मसूरगचंदसंठिया' इति, मसूरकाख्यस्य—धान्यविशेषस्य यच्चन्द्राकृति दलं स मसूरकचन्द्रस्तद्वदनुसंस्थितानि मसूरकचंद्रसंस्थितानि, अत्रायं भावार्थः—इह जीवानां षट् संस्थानानि, तानि च समचतुरस्रादीनि

वक्ष्यमाणलक्षणानि, तेषामाद्यानि पञ्च संस्थानानि मसूरचन्द्रकाकारे न संभवन्ति, तल्लक्षणायोगात्, तत इदं मसूरचन्द्रकाकारं संस्थानं हुण्डं प्रतिपत्तव्यं, सर्वत्रासंस्थितत्वरूपस्य तल्लक्षणस्य योगात्, जीवानां संस्थानान्तराभावाच्च, आह च मूलटीकाकारः—"संस्थानं मसूरचन्द्रकसंस्थितमपि हुण्डं, सर्वत्रासंस्थितत्वेन तल्लक्षणयोगात्, जीवानां संस्थानान्तराभावाच्चे"ति ॥ गतं संस्थानद्वारमधुना कषायद्वारमाह—'तेसिणं भंते !' इत्यादि, तेषां भदन्त ! सूक्ष्मपृथ्वीकायिकानां कति कषायाः प्रज्ञप्ताः ?, तत्र कषाया नाम कष्यन्ते—हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—संसारस्तमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः—क्रोधादयः परिणामविशेषाः, तथा चाह—'गोयमे'त्यादि सुगमं, नवरं क्रोधः—अप्रीतिपरिणामः मानो—गर्वपरिणामः माया—निकृतिरूपा लोभो—गार्द्ध्यलक्षणः, एते च क्रोधादयोऽमीषां मन्दपरिणामतयाऽनुपदर्शितबाह्यशरीरविकारा एवानाभोगतस्तथा तथा वैचित्र्येण भवन्तः प्रतिपत्तव्याः ॥ गतं कषायद्वारं, सञ्ज्ञाद्वारमाह—'तेसिण'मित्यादि सुगमं, नवरं सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा, सा च द्विधा—ज्ञानरूपाऽनुभवरूपा च, तत्र ज्ञानरूपा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात्पञ्चप्रकारा, तत्र केवलसञ्ज्ञा क्षायिकी शेषास्तु क्षायोपशमिक्यः, अनुभवसञ्ज्ञा—स्वकृतासातवेदनीयादिकर्मविपाकोदयसमुत्था, इह प्रयोजनमनुभवसञ्ज्ञया, ज्ञानसञ्ज्ञायास्तद्द्वारेण परिगृहीतत्वात्, तत्राहारसञ्ज्ञा नाम आहाराभिलापः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेषः, एषा चासातवेदनीयोदयादुपजायते, 'भयसञ्ज्ञा' भयवेदनीयोदयजनितत्रासपरिणामरूपा, 'परिग्रहसञ्ज्ञा' लोभविपाकोदयसमुत्थमूर्छापरिणामरूपा, 'मैथुनसञ्ज्ञा' वेदोदयजनिता मैथुनाभिलापः, एताश्चतस्रोऽपि मोहनीयोदयप्रभवाः, एता अपि सूक्ष्मपृथ्वीकायिकानामव्यक्तरूपाः प्रतिपत्तव्याः ॥ गतं सञ्ज्ञाद्वारमधुना लेश्याद्वारमाह—'तेसिण'मित्यादि सुगमं, नवरं लिश्यति—श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या—कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभपरिणामः, उक्तं च—"कृष्णादि-

द्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥" सा च षोढा, तद्यथा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च, आसां च स्वरूपं जम्बूफलखादकषट्पुरुषदृष्टान्तेनैवावसातव्यम्—"पंथाओ[1] परिभट्ठा छप्पुरिसा अडविमज्झयारंमि । जंबूतरुस्स हेट्ठा परोप्परं ते विचिंतेति ॥ १ ॥ निम्मूलखंधसाला गोच्छे पक्के य पडियसडियाइं । जह एएसिं भावा तह लेसाओवि नायव्वा ॥ २ ॥" अमीषां च सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामतिसंक्लिष्टपरिणामत्वाद्देवेभ्यः सूक्ष्मेष्वनुत्पादाच्चाद्या एव तिस्रः कृष्णनीलकापोतरूपा लेश्याः, न शेषा इति ॥ गतं लेश्याद्वारमिदानीमिन्द्रियद्वारमाह—'तेसिण'मित्यादि, इन्द्रियं नाम 'इदु परमैश्वर्ये' 'उदितः' इति नम्, इन्दनादिन्द्रः–आत्मा सर्वोपलब्धिरूपपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं–चिह्नमविनाभावि इन्द्रियम्, 'इन्द्रिय'मिति निपातनसूत्राद्रूपनिष्पत्तिः, तत्पञ्चधा, तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियं जिह्वेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियं च, एकैकमपि द्विधा–द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं च, द्रव्येन्द्रियं द्विधा–निर्वृत्तिरूपमुपकरणरूपं च, तत्र निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः, साऽपि द्विधा–बाह्याऽभ्यन्तरा च, तत्र बाह्या कर्णपर्पटिकादिरूपा, सा च विचित्रा न प्रतिनियतरूपतया निर्देष्टुं शक्यते, तथाहि–मनुष्यस्य श्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतोभाविनी भ्रुवावुपरितनश्रवणबन्धापेक्षया समे, वाजिनो नेत्रयोरुपरि तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि, अभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामप्येकरूपा, तामेवाधिकृत्य चामूनि सूत्राणि प्रावर्त्तिषत—"सोइंदिए णं भंते! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते?, गोयमा! कलंबुयासंठाणसंठिए पन्नत्ते, चक्खिदिए णं भंते! किंसंठाणसंठिए पन्नत्ते?, गोयमा! मसूरचंदसंठाणसंठिए पन्नत्ते,

---

१ पथः परिभ्रष्टाः षट् पुरुषा अटवीमध्यभागे । जम्बूतरोरधस्तात् परस्पर ते विचिन्तयन्ति ॥ १ ॥ निर्मूलं स्कन्धं शाखा प्रशाखा गुच्छान् (छित्त्वा) पक्वानि पतितशटितानि (भक्षयाम)। यथैतेषा भावास्तथा लेश्या अपि ज्ञातव्या ॥ २ ॥

घाणिंदिए णं भंते! किंसंठाणसंठिए पन्नत्ते?, गोयमा! अइमुत्तसंठाणसंठिए पन्नत्ते, जिब्भिंदिए णं भंते! किंसंठाणसंठिए पन्नत्ते?, गोयमा! खुरप्पसंठाणसंठिए पन्नत्ते, फासिंदिए णं भंते! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते?, गोयमा! नाणासंठाणसंठिए पन्नत्ते ॥" इति, इह स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तेः प्रायो न बाह्याभ्यन्तरभेदः, तत्त्वार्थमूलटीकायामनभ्युपगमात्, उपकरणं नाम खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारास्थानीया स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिकाऽभ्यन्तरा निर्वृत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः, इदं चोपकरणरूपं द्रव्येन्द्रियमान्तरनिर्वृत्तेः कथञ्चिदर्थान्तरं, शक्तिशक्तिमतोः कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि तस्यामान्तरनिर्वृत्तौ द्रव्यादिनोपकरणस्योपघातसम्भवात्, तथाहि—सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामान्तरायां निर्वृत्तौ महाकठोरतरघनगर्जितादिना शक्त्युपघाते सति न परिच्छेत्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति, भावेन्द्रियमपि द्विधा—लब्धिरुपयोगश्च, तत्र लब्धिः श्रोत्रेन्द्रियादिविषयस्तदावरणक्षयोपशमः, उपयोगः स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारः, तत्र यद्यपि द्रव्यरूपं भावरूपं चेत्थमिन्द्रियमनेकप्रकारं तथाऽपीह बाह्यनिर्वृत्तिरूपमिन्द्रियं पृष्टमवगन्तव्यं, तदेवाधिकृत्य व्यवहारप्रवृत्तेः, तथाहि—बकुलादयः पञ्चेन्द्रिया इव भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानसमन्विता अनुमानतः प्रतीयन्ते तथाऽपि न ते पञ्चेन्द्रिया इति व्यवह्रियन्ते, बाह्येन्द्रियपञ्चकासम्भवात्, उक्तं च—"पंचेंदिओ उ बउलो नरो व्व सव्वविसओवलंभाओ। तहवि न भण्णइ पंचिंदिउ त्ति बज्झिंदियाभावा ॥ १ ॥" ततो द्रव्येन्द्रियमधिकृत्य निर्वचनसूत्रमाह—'गोयमे'त्यादि सुगमम् ॥ गतमिन्द्रियद्वारमधुना समुद्घातद्वारं, तत्र समुद्घाताः सप्त, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः १ कषायसमुद्घातः २ मारणसमुद्घातः ३ वैक्रियसमुद्घातः ४ तैजससमुद्घातः ५ आहारकसमुद्घातः ६ केवलिसमुद्घातश्च ७, तत्र वेदनायाः समुद्घातो वेदनासमुद्घातः,

१ पञ्चेन्द्रिय एव बकुलो नर इव सर्वविषयोपलम्भात्। तथापि न भण्यते पञ्चेन्द्रिय इति बाह्येन्द्रियाभावात् ॥ १ ॥

स चासातवेदनीयकर्माश्रयः १, कषायेण—कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः, स च कषायचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः २, मरणे
भवो मारणः, स चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः ३, वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरी-
रनामकर्माश्रयः ४, (तैजसेन हेतुभूतेन समुद्घातस्तैजससमुद्घातः तैजसशरीरनामकर्माश्रयः) ५, आहारके प्रारभ्यमाणे
समुद्घात आहारकसमुद्घातः, स चाहारकशरीरनामकर्माश्रयः ६, केवलिनि अन्तर्मुहूर्त्तभाविपरमपदे समुद्घातः केवलिसमुद्घातः
७। अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः?, उच्यते—समिति—एकीभावे उत्—प्राबल्ये एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः, केन सह
एकीभावगमनम्? इति चेद्, उच्यते, अर्थाद्वेदनादिभिः, तथाहि—यदा आत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानप-
रिणत एव भवति नान्यज्ञानपरिणतः, प्राबल्येन घातः कथम्? इति चेद्, उच्यते, इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादि-
कर्मपुद्गलान् कालान्तरानुभवयोग्यानुदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूयानुभूय निर्जरयति, आत्मप्रदेशेभ्यः शातयतीति
भावः, तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, तथाहि—वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मपर-
माणुवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति, तैश्च प्रदेशैर्वेदनजघनादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामतो विस्तरतश्च शरीर-
मात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्त्तं यावदवतिष्ठते, तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्त्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, कषायसमुद्घातसमुद्धतः
कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, तथाहि—कषायोदयसमाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैर्वदनोदरादिर-
न्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि चापूर्यायामविस्तराभ्यां देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं क-
रोति, एवं मरणसमुद्घातगत आयुःकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्काश्य शरीरवि-

ष्कम्भबाहल्यमानमायामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान्
शातयति, तथा चोक्तम्—"वेउव्वियसमुग्घाए णं समोहणइ २ त्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, निसिरित्ता अहावायरे पुग्गले
परिसाडेइ" इति, तैजसाहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद्घातवदवसातव्यौ, केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं
करोति, आहारकसमुद्घातगत आहारकशरीरनामकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, केवलिसमुद्घातसमुद्धतस्तु केवली सदसद्वेदनीयशुभाशुभना-
मोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशातं (करोति), केवलिसमुद्घातवर्जाः शेषाः षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकाः, केवलिसमुद्घातः पुन-
रष्टसामयिकः, उक्तं च प्रज्ञापनायाम्—"वेयणासमुग्घाए णं कइसमइए पण्णत्ते?, गोयमा! असंखेज्जसमइए अंतमुहुत्ते, एवं जाव आहार-
गसमुग्घाए॥ केवलिसमुग्घाए णं भंते! कइसमइए पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठसमइए पण्णत्ते ॥" इति, तदेवमनेकसमुद्घातसम्भवे सूक्ष्म-
पृथिवीकायिकानां तान् पृच्छति—'तेसिणं भंते' इत्यादि सुगमं, नवरं वैक्रियाहारकतैजसकेवलिसमुद्घाताभावो वैक्रियादिलब्ध्यभावात् ॥
गतं समुद्घातद्वारं, सम्प्रति सञ्ज्ञिद्वारमाह—'ते णं भंते' इत्यादि, 'ते' सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! किं स-
ञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनो वा?, सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा—भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनं सा विद्यते येषां ते सञ्ज्ञिनः—विशिष्टस्मरणादिरूपमनो-
विज्ञानभाज इत्यर्थः, यथोक्तमनोविज्ञानविकला असञ्ज्ञिनः?, अत्र भगवान्निर्वचनमाह—गौतम! नो सञ्ज्ञिनः, किन्त्वसञ्ज्ञिनः, वि-
शिष्टमनोलब्ध्यभावात्, हेतुवादोपदेशेनापि न सञ्ज्ञिनः, अभिसंधारणपूर्विकायाः करणशक्तेरभावात्, इहासञ्ज्ञिन इत्येव सिद्धे नो
सञ्ज्ञिन इति प्रतिषेधः प्रतिषेधप्रधानो विधिरयमिति ज्ञापनार्थः, प्रतिपाद्यस्य प्रकृतिसावद्यत्वादिति । गतं सञ्ज्ञिद्वारं, वेदनाद्वारमाह
—'ते णं भंते!' इत्यादि॥ 'इत्थिवेयगा' इति स्त्रियाः वेदो येषां ते स्त्रीवेदकाः, एवं पुरुषवेदका नपुंसकवेदका इत्यपि भावनीयं, तत्र

स्त्रियाः पुंस्यभिलाषः स्त्रीवेदः, पुंसः स्त्रियामभिलाषः पुंवेदः, उभयोरप्यभिलाषो नपुंसकवेदः, भगवानाह—गौतम ! न स्त्रीवेदका न पुरुषवेदकाः, नपुंसकवेदकाः संमूर्च्छिमत्वात्, 'नारकसंमूर्च्छिमा नपुंसका' इति भगवद्वचनम् ॥ पर्याप्तिद्वारमाह—"तेसि णं भंते' इत्यादि, सुगमं, पर्याप्तिप्रतिपक्षा अपर्याप्तिस्तन्निरूपणार्थमाह—'तेसि णं भंते!' इत्यादि पाठसिद्धं, नवरं चतस्रोऽप्यपर्याप्तयः करणापेक्षया द्रष्टव्याः, लब्ध्यपेक्षया त्वेकैव प्राणापानापर्याप्तिः, यस्मादेवमागमः—इह लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यत आगामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्वे एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तानामेव बन्धमायातीति ॥ सम्प्रति दृष्टिद्वारमाह—'ते णं भंते !' इत्यादि सुगमं, नवरं सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः—जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषां ते सम्यग्दृष्टयः, मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिर्येषां भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् मिथ्यादृष्टयः, एकान्तसम्यग्रूपमिथ्यारूपप्रतिपत्तिविकलाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, निर्वचनसूत्रं—'गोयमे'त्यादि, सुगमं, नवरं सम्यग्दृष्टित्वप्रतिषेधः सासादनसम्यक्त्वस्यापि तेषामसम्भवात्, सासादनसम्यक्त्ववतां तन्मध्ये उत्पादाभावात्, ते ह्यतिसंक्लिष्टपरिणामाः, सास्वादनसम्यक्त्वपरिणामस्तु मनाक् शुभ इति तन्मध्ये सासादनसम्यक्त्ववतामुत्पादाभावः, अत एव सदा संक्लिष्टपरिणामत्वात्तेषां सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वपरिणामोऽपि न भवति, नापि सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सन् तन्मध्ये उत्पद्यते, "न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनात् ॥ गतं दृष्टिद्वारमधुना दर्शनद्वारमाह—दर्शनं नाम सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यावबोधः, तच्चतुर्धा, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं च, तत्र सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि चक्षुषा दर्शनं—रूपसामान्यपरिच्छेदश्चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुषा—चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, अवधिरेव दर्शनं—रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनं, केवलमेव दर्शनं—सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं, तत्र किमेषां दर्शनमिति

जिज्ञासुः पृच्छति—**'ते णं भंते'** इत्यादि पाठसिद्धं, नवरमचक्षुर्दर्शनित्वं स्पर्शनेन्द्रियापेक्षया, शेषदर्शनप्रतिषेधः सुज्ञानः ॥ गतं दर्शनद्वारं, ज्ञानद्वारमाह—**'ते णं भंते जीवा'**इत्यादि, अज्ञानत्वं मिथ्यादृष्टित्वात्, तदपि चाज्ञानत्वं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानापेक्षया, तथा चाह—'नियमा दुअण्णाणी'त्यादि पाठसिद्धं, नवरं तदपि मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं च शेषजीववादरादिराश्यपेक्षयाऽत्यन्तमल्पीयः प्रतिपत्तव्यं, यत उक्तम्—"सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण । सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥ तस्मात्प्रभृति ज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् । लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियवाग्मनोदृग्भिः ॥ २ ॥" योगद्वारमाह—**'ते णं भंते'** इत्यादि पाठसिद्धम् ॥ गतं योगद्वारमधुनोपयोगद्वारं, तत्रोपयोगो द्विविधः—साकारोऽनाकारश्च, तत्राकारः—प्रतिवस्तु प्रतिनियतो ग्रहणपरिणामः "आगारो उ विसेसो" इति वचनात्, सह आकारो यस्य येन वा स साकारो—ज्ञानपञ्चकमज्ञानत्रिकं, यथोक्ताकारविकलोऽनाकारः, स चक्षुर्दर्शनादिको दर्शनचतुष्टयात्मकः, उक्तं च—"ज्ञानाज्ञाने पञ्च त्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥ १ ॥" तत्र क एषामुपयोगः? इति जिज्ञासुः पृच्छति—**'ते णं भंते!'** इत्यादि निगदसिद्धं, नवरं साकारोपयोगोपयुक्ता मत्यज्ञानश्रुताज्ञानोपयोगापेक्षया, अनाकारोपयोगोपयुक्ता अचक्षुर्दर्शनोपयोगापेक्षयेति ॥ साम्प्रतमाहारद्वारमाह—**'ते णं भंते** इत्यादि, **'ते'** सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः **ण**मिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! जीवाः किमाहारमाहारयन्ति?, भगवानाह—गौतम! **'द्रव्यतो'** द्रव्यस्वरूपपर्यालोचनायामनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि, अन्यथा ग्रहणासम्भवात्, न हि सङ्ख्यातप्रदेशात्मका असङ्ख्यातप्रदेशात्मका वा स्कन्धा जीवस्य ग्रहणप्रायोग्या भवन्ति, क्षेत्रतोऽसङ्ख्यातप्रदेशावगाढानि, कालतोऽन्यतरस्थितिकानि—जघन्यस्थितिकानि मध्यमस्थितिकानि उत्कृष्टस्थितिकानि चेति भावार्थः, स्थितिरिति चाहारयोग्यस्कन्धपरिणामत्वेऽवस्थानं प्रत्येतव्यम्, आह च **मूलटीकाकारः**—"काल-

तोऽन्यतरस्थितीनि तद्भावावस्थानेन जघन्यादिरूपां स्थितिमधिकृत्ये"ति, भावतो वर्णवन्ति गन्धवन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति च, प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगन्धरसद्विस्पर्शभावात्, "एवं जहा पण्णवणाए" इत्यादि, ''एवम्' उक्तेन प्रकारेण यथा प्रज्ञापनायामष्टाविंशतितमे आहारपदे प्रथमोद्देशके तावद्वक्तव्यं यावत् "सिय तिंदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसि"मिति, तच्चैवम्—"जाइं भावतो वण्णमंताइं आहारेंति ताइं किं एगवण्णाइं आहारेंति जाव पंचवण्णाइं आहारेंति?, गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइंपि आहारेंति जाव पंचवण्णाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कालवण्णाइंपि आहारेति जाव सुक्किल्लवण्णाइंपि आहारेंति, जाइं कालवण्णाइंपि आहारेंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारेंति जाव दसगुणकालाइं आहारेंति संखिज्जगुणकालाइं आहारेति असंखेज्जगुणकालाइं आहारेंति अणंतगुणकालाइं आहारेंति?, गोयमा! एगगुणकालाइंपि आहारेति जाव अणंतगुणकालाइंपि आहारेंति एवं जाव सुक्किल्लाइंपि आहारेंति, एवं गंधतोवि रसतोवि ॥ जाइं भावतो फासमंताइं आहारेति ताइं किं एगफासाइं आहारेंति दुफासाइं आहारेंति जाव अट्ठफासाइं आहारेंति?, गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च नो एगफासाइं आहारेंति नो दुफासाइं आहारेंति नो तिफासाइंपि आहारेंति चउफासाइंपि आहारेंति जाव अट्ठफासाइंपि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइंपि आहारेंति जाव लुक्खाइंपि आहारेति ॥ जाइं फासतो कक्खडाइंपि आहारेति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आहारेति जाव अणंतगुणकक्खडाइंपि आहारेंति?, गोयमा! एगगुणकक्खडाइंपि आहारेंति जाव अणंतगुणकक्खडाइंपि आहारेंति, एवं अट्ठवि फासा भाणियव्वा जाव अणंतगुणलुक्खाइंपि आहारेंति ॥ जाइं भंते! अणंतगुणलुक्खाइं आहारेंति ताइं भंते! किं पुट्ठाइं आहारेंति अपुट्ठाइं आहारेंति?, गोयमा! पुट्ठाइं आहारेंति नो अपुट्ठाइं आहारेंति, जाइं पुट्ठाइं आहारेंति ताइं भंते! किं ओगाढाइं आहारेंति अणोगाढाइं आहारेति?, गोयमा! ओगाढाइं आहारेंति नो

अणोगाढाइं आहारेंति, जाइं भंते! ओगाढाइं आहारेंति ताइं किं अणंतरोगाढाइं आहारेंति परंपरोगाढाइं आहारेंति ?, गोयमा! अणंतरोगाढाइं आहारेंति नो परंपरोगाढाइं आहारेति, ताइं भंते! किं अणूइं आहारेंति वायराइं आहारेंति ?, गोयमा! अणूइंपि आहारेंति वायराइंपि आहारेंति, जाइं भंते! अणूइं आहारेंति ताइं भंते! किं उड्ढं आहारेंति अहे आहारेंति तिरियं आहारेंति ?, गोयमा! उड्ढंपि आहारेंति अहेवि आहारेंति तिरियंपि आहारेंति, जाइं भंते! उड्ढंपि आहारेंति अहेवि आहारेंति तिरियंपि आहारेति ताइं किं आइं आहारेंति मज्झे आहारेंति पज्जवसाणे आहारेंति ?, गोयमा! आइंपि आहारेंति मज्झेवि आहारेंति पज्जवसाणे(वि)आहारेंति, जाइं भंते! आइंपि आहारेति जाव पज्जवसाणेवि आहारेंति ताइं किं सविसए आहारेति अविसए आहारेंति ?, गोयमा! सविसए आहारेंति नो अविसए आहारेंति, जाइं भंते! सविसए आहारेंति ताइं किं आणुपुव्विं आहारेंति अणाणुपुव्विं आहारेंति ?, गोयमा! आणुपुव्विं आहारेंति नो अणाणुपुव्विं आहारेंति, जाइं भंते! आणुपुव्विं आहारेंति ताइं किं तिदिसिं आहारेति चउदिसिं आहारेंति पंचदिसिं आहारेंति छद्दिसिं आहारेंति ?, गोयमा! निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं(सिय)पंचदिसिमिति ॥" अस्य व्याख्या—"जाइं भावतो वण्णमंताइं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगम्, भगवानाह—गौतम! 'ठाणमग्गणं पडुच्चे'ति तिष्ठन्ति विशेषा अस्मिन्निति स्थानं—सामान्यमेकवर्णं द्विवर्णं त्रिवर्णमित्यादिरूपं तस्य मार्गणम्—अन्वेपणं तत्प्रतीत्य, सामान्यचिन्तामाश्रित्येति भावार्थः, एकवर्णान्यपि द्विवर्णान्यपीत्यादि सुगमं, नवरं तेषामनन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानामेकवर्णत्वं द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमतापेक्षया, निश्चयनयमतापेक्षया त्वनन्तप्रादेशिकस्कन्धोऽल्पीयानपि पञ्चवर्ण एव प्रतिपत्तव्यः, 'विहाणमग्गणं पडुच्चे'त्यादि यावद् [विधानं—विशेषः,] विविक्तम्—इतरव्यवच्छिन्नं धानं—पोषणं स्वरूपस्य यत्तत्प्रतीत्य सामान्यचिन्तामाश्रित्येति शेषः, कृष्णो नील इत्यादि प्रति-

नियतो वर्णविशेष इतियावत्, तस्य मार्गणं तत्प्रतीत्य कालवर्णान्यप्याहारयन्तीत्यादि सुगमं, नवरमेतदपि व्यवहारतः प्रतिपत्तव्यं, निश्चयतः पुनरवश्यं तानि पञ्चवर्णान्येव ॥ 'जाइं वण्णतो कालवण्णाइं' इत्यादि सुगमं यावदनन्तगुणसुक्किलाइंपि आहारयन्ति, एवं गन्धरसस्पर्शविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ॥ 'जाइं भंते! अणंतगुणलुक्खाइं' इत्यादि, यानि भदन्त! अनन्तगुणरूक्षाणि, उपलक्षणमेतत्—एकगुणकालादीन्यप्याहारयन्ति तानि, स्पृष्टानि—आत्मप्रदेशस्पर्शविषयाण्याहारयन्ति उतास्पृष्टानि?, भगवानाह—स्पृष्टानि नो अस्पृष्टानि, तत्रात्मप्रदेशैः संस्पर्शनमात्मप्रदेशावगाढक्षेत्राद्बहिरपि संभवति ततः प्रश्नयति—'जाइं भंते' इत्यादि, यानि भदन्त! स्पृष्टान्याहारयन्ति तानि किमवगाढानि—आत्मप्रदेशैः सहैकक्षेत्रावस्थायीनि उतानवगाढानि—आत्मप्रदेशावगाहक्षेत्राद्बहिरवस्थितानि?, भगवानाह—गौतम! अवगाढान्याहारयन्ति नानवगाढानि। यानि भदन्त! अवगाढान्याहारयन्ति तानि किमनन्तरावगाढानि?, किमुक्तं भवति?—येष्वात्मप्रदेशेषु यान्यव्यवधानेनावगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येवाहारयन्ति उत परम्परावगाढानि—एकद्वित्र्याद्यात्मप्रदेशैर्व्यवहितानि?, भगवानाह—गौतम! अनन्तरावगाढानि न परम्परावगाढानि। यानि भदन्त! अनन्तरावगाढान्याहारयन्ति तानि भदन्त! अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि किमणूनि—स्तोकान्याहारयन्ति उत बादराणि—प्रभूतप्रदेशोपचितानि?, भगवानाह—अणून्यप्याहारयन्ति बादराण्यप्याहारयन्ति, इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया **प्रज्ञापनामूलटीकाकारेणापि** व्याख्याते इत्यस्माभिरपि तथैवाभिहिते। यानि भदन्त! अणून्यपि आहारयन्ति तानि किमूर्ध्वप्रदेशस्थितान्याहारयन्ति अधस्तिर्यग्वा?, इहोर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं यावति क्षेत्रे सूक्ष्मपृथिवीकायिकोऽवगाढस्तावत्येव क्षेत्रे तदपेक्षया परिभावनीयं, भगवानाह—ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति—ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयन्ति, एवमधोऽपि तिर्यगपि। यानि भदन्त! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति अधोऽप्याहारयन्ति तिर्य-

गप्याहारयन्ति तानि किमादावाहारयन्ति मध्ये आहारयन्ति पर्यवसाने आहारयन्ति ?, अयमत्राभिप्रायः—सूक्ष्मपृथिवीकायिका अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदुपभोगोचितानि गृह्णन्ति, ततः संशय.—किमुपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यादौ—प्रथमसमये आहारयन्ति उत मध्ये—मध्यसमयेषु आहोश्वित् पर्यवसाने—पर्यवसानसमये ?, भगवानाह—गौतम! आदावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽप्याहारयन्ति, किमुक्तं भवति ?—उपभोगोचितकालस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्यादिमध्यावसानसमयेऽप्याहारयन्तीति । यानि भदन्त! आदावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽप्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किं स्वविषयानि—स्वोचिताहारयोग्यान्याहारयन्ति उताविषयानि—स्वोचिताहारायोग्यान्याहारयन्ति ?, भगवानाह—गौतम! स्वविषयाण्याहारयन्ति नो अविषयाणि । यानि भदन्त! स्वविषयाण्याहारयन्ति तानि भदन्त! किमानुपूर्व्याऽऽहारयन्ति अनानुपूर्व्या ?, आनुपूर्वी नाम यथाऽऽसन्नं, तद्विपरीताऽनानुपूर्वी, भगवानाह—गौतम ! आनुपूर्व्या, सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे वेदितव्या प्राकृतत्वात्, यथाऽऽचाराङ्गे "अगणिं पुट्ठा" इत्यत्र, आहारयन्ति, नो अनानुपूर्व्या ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वा, यथाऽऽसन्नं नातिक्रम्याहारयन्तीति भाव. । यानि भदन्त! आनुपूर्व्याऽऽहारयन्ति तानि भदन्त! किं 'तिदिसं'ति तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितान्याहारयन्ति चतुर्दिशि पञ्चदिशि षड्दिशि वा, इह लोकनिष्कुटपर्यन्ते जघन्यपदेऽपि [-जीवावगाहक्षेत्रं-] त्रिदिग्व्यवस्थितमेव प्राप्यते न द्विदिग्व्यवस्थितमेकदिग्व्यवस्थितं वा, अतस्त्रिदिश्यारभ्य प्रश्नः कृतः, भगवानाह—गौतम! 'निव्वाघाएणं छद्दिसिं'मित्यादि, व्याघातो नामालोकाकाशेन प्रतिस्खलनं व्याघातस्याभावो निर्व्याघातं 'शब्दप्रथादावव्ययं पूर्वपदार्थे नित्यमव्ययीभाव' इत्यव्ययीभावः 'तेन वा तृतीयाया' इति विकल्पेनाम्भावविधानात् पक्षेऽत्रामूभावः, नियमाद्—अवश्यंतया षड्दिशि व्यवस्थितानि, षड्भ्यो दिग्भ्य आगतानीति भावः, द्रव्याण्याहारयन्ति, व्याघातं पुनः प्रतीत्य लोकनिष्कुटादौ स्यात्कदाचित्त्रिदिशि—तिसृभ्यो दिग्भ्य

आगतानि, कदाचित् चतसृभ्यः कदाचित्पञ्चभ्यः, काऽत्र भावना ? इति चेदुच्यते—इह लोकनिष्कुटे पर्यन्तेऽधस्त्यप्रतराग्नेयकोणावस्थितो यदा सूक्ष्मपृथिवीकायिको वर्त्तते तदा तस्याधस्तादलोकेन व्याप्तत्वात् अधोदिक्पुद्गलाभावः आग्नेयकोणावस्थितत्वात् पूर्वदिक्पुद्गलाभावो दक्षिणदिक्पुद्गलाभावश्च, एवमधःपूर्वदक्षिणरूपाणां तिसृणां दिशामलोकेन व्यापनात् ता अपास्य या परिशिष्टा ऊर्ध्वाऽपरोत्तरा च दिगव्याहता वर्त्तते तत आगतान् पुद्गलानाहारयन्ति, यदा पुनः स एव पृथिवीकायिकः पश्चिमां दिशमनुसृत्य वर्त्तते तदा पूर्वा दिगभ्यधिका जाता, द्वे च दिशौ दक्षिणाधस्त्यरूपे अलोकेन व्याहते इति स चतुर्दिगागतान् पुद्गलानाहारयति, यदा पुनरूर्ध्वं द्वितीयादिप्रतरगतपश्चिमदिशमवलम्ब्य तिष्ठति तदाऽधस्त्यापि दिगभ्यधिका लभ्यते, केवला दक्षिणैवैका पर्यन्तवर्त्तिनी अलोकेन व्याहतेति पञ्चदिगागतान् पुद्गलानाहारयति । 'वण्णतो' इत्यादि वर्णतः कालनीललोहितहारिद्रशुक्लानि, गन्धतः सुरभिगन्धानि दुरभिगन्धानि वा, रसतस्तिक्तानि यावन्मधुराणि, स्पर्शतः कर्कशानि यावद्रूक्षाणि, तथा तेषामाहार्यमाणानां पुद्गलानां 'पुराणान्' अग्रेतनान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणान् 'विपरिणामइत्ता परिपालइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता' एतानि चत्वार्यपि पदान्येकार्थिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि, विनाशः किमित्याह—अन्यान् अपूर्वान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणान् उत्पाद्यात्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् 'सव्वप्पणयाए' सर्वात्मना—सर्वैरेवात्मप्रदेशैराहारमाहाररूपान् पुद्गलानाहारयन्ति ॥ गतमाहारद्वारं, साम्प्रतमुपपातद्वारमाह—'ते णं भंते' इत्यादि, ते भदन्त ! सूक्ष्मपृथिवीकायिका जीवाः 'कुतः' केभ्यो जीवेभ्य उद्वृत्योत्पद्यन्ते ?, किं नैरयिकेभ्यः ? इत्यादि प्रतीतं, भगवानाह—गौतम ! नो नैरयिकेभ्य इत्यादि पाठसिद्धं, नवरं देवनैरयिकेभ्य उत्पादप्रतिषेधो देवनैरयिकाणां तथाभवस्वभावतया तन्मध्ये उत्पादासम्भवात्, 'जहा वक्कंतीए' इति, यथा प्रज्ञापनायां व्युत्क्रान्तिपदे तथा

वक्तव्यं, तच्चैवम्—तिर्यग्योनेभ्योऽप्युत्पादः पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्तेभ्यो वा केवलमसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जितेभ्यः, मनुष्येभ्योऽप्यकर्मभूमिजान्तरद्वीपजासङ्ख्यातवर्षायुष्ककर्मभूमिजव्यतिरिक्तेभ्यः पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्तेभ्यो वेति ॥ गतमुपपातद्वारमधुना स्थितिद्वारमाह—'तेसि णं भंते!' इत्यादि सुगमं, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमवसेयम् ॥ गतं स्थितिद्वारमधुना समुद्घातमधिकृत्य मरणं विचिन्तयिपुरिदमाह—'ते णं भंते जीवा' इत्यादि सुगमम्, उभयथाऽपि मरणसम्भवात् ॥ च्यवनद्वारमाह—'ते णं भंते जीवा' इत्यादि, 'ते' सूक्ष्मपृथ्वीकायिका भदन्त! जीवा अनन्तरमुद्वृत्य सूक्ष्मपृथिवीकायिकभवादानन्तर्येणोद्वृत्येति भावः क्व गच्छन्ति?—कोत्पद्यन्ते?, एतेनात्मनो गमनधर्मकता पर्यायान्तरमधिकृत्योत्पत्तिधर्मकता च प्रतिपादिता, तेन ये सर्वगतमनुत्पत्तिधर्मकं चात्मानं प्रतिपन्नास्ते निरस्ता द्रष्टव्याः, तथारूपे सत्यात्मनि यथोक्तप्रश्नार्थासम्भवात्, 'किं नेरइएसु गच्छन्ति'? इत्यादि सुप्रतीतं, भगवानाह—'नो नेरइएसु गच्छन्ति' इत्यादि पाठसिद्धं 'जहा वक्कंतीए' इति, यथा प्रज्ञापनायां व्युत्क्रान्तिपदे च्यवनमुक्तं तथाऽत्रापि वक्तव्यं, तच्चोत्पादवद् भावनीयमिति ॥ गतं च्यवनद्वारमधुना गत्यागतिद्वारमाह—'ते णं भंते जीवा' इत्यादि, ते भदन्त! जीवाः 'कतिगतिकाः?' कति गतयो येषां ते कतिगतिकाः, 'कत्यागतिकाः?' कतिभ्यो गतिभ्य आगतिर्येषां ते कत्यागतिकाः, भगवानाह—गौतम! द्व्यागतिका नरकगतेर्देवगतेश्च सूक्ष्मेपूत्पादाभावात्, द्विगतिका नरकगतौ देवगतौ च तत उद्वृत्तानामुत्पादाभावात्, 'परीत्ता' प्रत्येकशरीरिणः, असङ्ख्येया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह, हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'से त्तं सुहुमपुढविक्काइया' त एते सूक्ष्मपृथिवीकायिका उक्ताः ॥ उक्ताः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः, अधुना बादरपृथिवीकायिकानभिधित्सुराह—

से किं तं बायरपुढविकाइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सण्हबायरपुढविक्काइया य खरबायरपुढविक्काइया य (सू० १४ ॥

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते बादरपृथिवीकायिकाः ?, सूरिराह—बादरपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाश्च खरबादरपृथिवीकायिकाश्च—श्लक्ष्णा नाम चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुपृथवी तदात्मका जीवा अप्युपचारतः श्लक्ष्णाः ते च ते बादरपृथिवीकायिकाश्च श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाः, अथवा श्लक्ष्णा चासौ बादरपृथिवी च सा कायः—शरीरं येषां ते श्लक्ष्णबादरपृथ्वीकायाः त एव स्वार्थिकेकप्रत्ययविधानात् श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाः, खरा नाम पृथिवी सङ्घातविशेषं काठिन्यविशेषं वाऽऽपन्ना तदात्मका जीवा अपि खराः ते च ते बादरपृथिवीकायिकाश्च खरबादरपृथिवीकायिकाः, अथवा पूर्ववत्प्रकारान्तरेण समासः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ ॥

से किं तं सण्हबायरपुढविक्काइया ?, २ सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा—कण्हमत्तिया, भेओ जहा पण्णवणाए जाव ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ सरीरगा पं०, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, तं चेव सव्वं नवरं चत्तारि लेसाओ, अवसेसं जहा सुहुमपुढविक्काइयाणं आहारो जाव णियमा छद्दिसिं, उववातो तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेहिंतो, देवेहिं जाव सोधम्मेसाणेहिंतो, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमु-

ग्घाएणं किं समोहया मरंति असमोहता मरंति ?, गोयमा ! समोहतावि मरंति असमोहतावि मरंति । ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ?-किं नेरइएसु उववज्जंति ?०, पुच्छा, नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति मणुस्सेसु उव० नो देवेसु उव०, तं चेव जाव असंखेज्जवासाउवज्जेहिं । ते णं भंते ! जीवा कतिगतिया कतिआगतिया पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा य समणाउसो !, से तं बायरपुढविक्काइया । सेत्तं पुढविकाइया ॥ (सू० १५).

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाः ?, सूरिराह—श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाः सप्तविधाः प्रज्ञप्ताः, तदेव सप्तविधत्वं दर्शयन्ति, तद्यथा—कृष्णमृत्तिका इत्यादि 'भेदो भाणियव्वो जहा पण्णवणाए जाव तत्थ नियमा असंखिज्जा' इति, भेदो बादरपृथिवीकायिकानां द्विविधानामपि तथा भणितव्यो यथा प्रज्ञापनायां, स च तावद् यावत् "तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति पदं, स चैवम्—किण्हमत्तिया नीलमत्तिया लोहियमत्तिया हालिद्दमत्तिया सुक्किलमत्तिया पंडुमत्तिया पणगमत्तिया, सेत्तं सण्हबायरपुढविकाइया । से किं तं खरबायरपुढविक्काइया ?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे । तंबा य तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ १ ॥ हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले । अब्भपडलब्भवालुय बायरकाये मणिविहाणा ॥ २ ॥ गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य । मरगयमसारगल्ले भुयमोयगइंदनीले य ॥ ३ ॥ चंदणगेरुयहंसे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे । चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥ जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासतो दुविहा

पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिणं वण्णादेसेणं गंधाएसेणं रसाएसेणं फासाएसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, अस्य व्याख्या—कृष्णमृत्तिका—कृष्णमृत्तिकारूपा, एवं नीललोहितहारिद्रशुक्लभेदा अपि वाच्याः, पाण्डुमृत्तिका नाम देशविशेषे या धूलीरूपा सती पाण्डू इति प्रसिद्धा तदात्मका जीवा अप्यभेदोपचारात्पाण्डुमृत्तिकेत्युक्ताः, 'पणगमत्तिया' इति नद्यादिपूरप्लाविते देशे नद्यादि पूरेऽपगते यो भूमौ श्लक्ष्णमृदुरूपो जलमलोऽपरपर्यायपङ्कः स पनकमृत्तिका तदात्मका जीवा अप्यभेदोपचारात्पनकमृत्तिकाः, सेत्तमित्यादिनिगमनं सुगमम् ॥ 'से किं त'मित्यादि ॥ अथ के ते खरबादरपृथिवीकायिकाः ?, सूरिराह—खरबादरपृथिवीकायिका अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, चत्वारिंशद्भेदा मुख्यतः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः, तानेव चत्वारिंशद्भेदानाह, तंजहा—'पुढवी'त्यादिगाथाचतुष्टयम् । पृथिवीति 'भामा सत्यभामावत्' शुद्धपृथिवी नदीतटभित्त्यादिरूपा १, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये, शर्करा—लघूपलशकलरूपा २, वालुका—सिकता ३, उपलः—टङ्काद्युपकरणपरिकर्मणायोग्यः पाषाणः ४, शिला—घटनयोग्या देवकुलपीठाद्युपयोगी महान् पाषाणविशेषः ५, लवणं—सामुद्रादि ६, ऊषो यद्वशादूषरं क्षेत्रम् ७, अयस्ताम्रत्रपुसीसकरूप्यसुवर्णानि—प्रतीतानि १३, वज्रो—हीरकः १४, हरितालहिङ्गुलमनःशिलाः प्रतीताः १७, सासगं—पारदः १८, अञ्जनं सौवीराञ्जनादि १९, प्रवालं—विद्रुमः २०, अभ्रपटलं—प्रसिद्धम् २१, अभ्रवालुका—अभ्रपटलमिश्रा वालुका २२, 'वायरकाए' इति वादरपृथिवीकायेऽमी भेदा इति शेषः, 'मणिविहाणा' इति चशब्दस्य गम्यमानत्वात् मणिविधानानि च—मणिभेदाश्च वादरपृथिवीकायमेदत्वेन ज्ञातव्याः, तान्येव मणिविधानानि दर्शयति—'गोमेज्जए य' इत्यादि, गोमेज्जकः २३, 'चः' समुच्चये, रुचकः २४ अङ्कः २५

स्फटिकः २६ 'चः' पूर्ववत्, लोहिताक्षः २७ मरकतः २८ मसारगल्लः २९ भुजमोचकः ३० इन्द्रनीलश्च ३१ चन्दन(:) ३२ गैरिकः ३३ हंसगर्भः ३४ पुलकः ३५ सौगन्धिकश्च ३६ चन्द्रप्रभः ३७ वैडूर्यः ३८ जलकान्तः ३९ सूर्यकान्तश्च ४०, तदेवमाद्यया गाथया पृथिव्यादयश्चतुर्दश भेदा उक्ताः द्वितीयगाथयाऽष्टौ हरितालादयः तृतीयगाथया गोमेज्जकादयो दश तुर्यगाथयाऽष्टाविति, सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत्, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति येऽपि चान्ये तथाप्रकारा मणिभेदाः—पद्मरागादयस्तेऽपि खरबादरपृथिवीकायिकत्वेन वेदितव्याः। 'ते समासतो' इत्यादि, ते बादरपृथिवीकायिकाः 'समासतः" सङ्क्षेपेण द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, तत्र येऽपर्याप्तकास्ते स्वयोग्याः पर्याप्तीः साकल्येनासंप्राप्ताः अथवाऽसंप्राप्ता इति विशिष्टान् वर्णादीननुपगताः, तथाहि—वर्णादिभेदविवक्षायामेते न शक्यन्ते कृष्णादिना भेदेन व्यपदेष्टुं, किं कारणमिति—चेद्, उच्यते, इह शरीरादिपर्याप्तिषु परिपूर्णासु सतीषु बादराणां वर्णादिभेदः संप्रकटो भवति नापरिपूर्णासु, ते चापर्याप्ता उच्छ्वासपर्याप्त्या अपर्याप्ता एव म्रियन्ते, ततो न स्पष्टो वर्णादिविभाग इत्यसंप्राप्ता इत्युक्तम्, अन्ये तु व्याचक्षते—सामान्यतो वर्णादीनसंप्राप्ता इति, तच्च न युक्तं, यतः शरीरमात्रभाविनो वर्णादयः, शरीरं च शरीरपर्याप्त्या संजातमिति। 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र ये ते पर्याप्तकाः—परिसमाप्तसमस्तस्वयोग्यपर्याप्तयस्ते वर्णादेशेन—वर्णभेदविवक्षया एवं गन्धादेशेन रसादेशेन स्पर्शादेशेन सहस्राग्रशः—सहस्रसङ्ख्यया विधानानि—भेदाः, तद्यथा—वर्णाः कृष्णादिभेदात्पञ्च गन्धौ सुरभीतरभेदाद्द्वौ रसास्तिक्तादयः पञ्च स्पर्शा मृदुकर्कशादयोऽष्टौ, एकैकस्मिंश्च वर्णादौ तारतम्यभेदेनानेकेऽवान्तरभेदाः, तथाहि—भ्रमरकोकिलकज्जलादिषु तरतमभावात् कृष्णः कृष्णतरः कृष्णतम इत्यादिरूपतयाऽनेके कृष्णभेदाः, एवं नीलादिष्वप्यायोज्यं, तथा गन्धरसस्पर्शेष्वपि, तथा परस्परं वर्णानां संयोगतो धूसरकर्बुरत्वादयोऽनेकसङ्ख्याभेदाः, एवं गन्धादीनामपि परस्परं गन्धादिभिः

समायोगात्, ततो भवन्ति वर्णाद्यादेशैः सहस्राग्रशो भेदाः, 'संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं'ति सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि—योनिद्वाराणि शतसहस्राणि, तथाहि—एकैकस्मिन् वर्णे गन्धे रसे स्पर्शे च संवृता योनिः पृथिवीकायिकानां, सा पुनस्त्रिधा—सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च, पुनरेकैका त्रिधा—शीता उष्णा शीतोष्णा, शीतादीनामपि प्रत्येकं तारतम्यभेदादनेकभेदत्वं, केवलमेकविशिष्टवर्णादियुक्ताः सङ्ख्यातीता अपि स्वस्थाने व्यक्तिभेदेन योनिजातिमधिकृत्यैकैव योनिर्गण्यते, ततः सङ्ख्येयानि पृथ्वीकायिकानां योनिशतसहस्राणि भवन्ति, तानि च सूक्ष्मबादरगतसर्वसङ्ख्यया सप्त, **'पज्जत्तगनिस्साए'** इत्यादि, पर्याप्तकनिश्रयाऽपर्याप्तका व्युत्क्रामन्ति—उत्पद्यन्ते, कियन्तः? इत्याह—यत्रैकः पर्याप्तकस्तत्र नियमात्तन्निश्रया असङ्ख्येयाः—सङ्ख्यातीता अपर्याप्तकाः। **'एएसि णं भंते! जीवाण'**मित्यादिना शरीरावगाहनादिद्वारकलापचिन्तां करोति, सा च पूर्ववत्, तथा चाह—**'एवं जो चेव सुहुमपुढविकाइयाणं गमो सो चेव भाणियव्वो** इति, **'नवर'** मित्यादि, नवरमिदं नानात्वं लेश्याद्वारे चतस्रो लेश्या वक्तव्याः, तेजोलेश्याया अपि सम्भवात्, तथाहि—व्यन्तराद्य ईशानान्ता देवा भवनविमानादावतिमूर्च्छयाऽऽत्मीयरत्नकुण्डलादावप्युत्पद्यन्ते, ते च तेजोलेश्यावन्तोऽपि भवन्ति, यल्लेश्यश्च म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपजायते "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात्, ततः कियत्कालमपर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्यावन्तोऽप्यवाप्यन्ते इति चतस्रो वक्तव्याः, आहारो नियमात् षड्दिशि, बादराणां लोकमध्य एवोपपातभावात्, उपपातो देवेभ्योऽपि, बादरेषु तदुत्पादविधानात्, स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, देवेभ्योऽप्युत्पादात् त्र्यागतयो, द्विगतयः पूर्ववत्, एतेऽपि च **'परीत्ता'** प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'सेत्त'मित्याद्युपसंहारवाक्यम् ॥ उक्ताः पृथ्वीकायिकाः, अधुनाऽप्कायिकानभिधित्सुरिदमाह—

से किं तं आउक्काइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमआउक्काइया य बायरआउक्काइया य, सुहुमआऊ० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरया पण्णत्ता ?, गोयमा! तओ सरीरया पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, जहेव सुहुमपुढविक्काइयाणं, णवरं थिवुगसंठिता पण्णत्ता, सेसं तं चेव जाव दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। से तं सुहुमंआउक्काइया ॥ (सू० १६)

अथ के तेऽप्कायिकाः ?, सूरिराह—अप्कायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्माप्कायिकाश्च बादराप्कायिकाश्च, तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकव्यापिनो बादरा घनोदध्यादिभाविनः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ। 'से किं तं सुहुमआउक्काइया ?' इत्यादि सूक्ष्मपृथिवीकायिकवन्निरवशेषं भावनीयं, नवरमिदं संस्थानद्वारे नानात्वं, तदेवोपदर्शयति—'ते सि णं भंते! जीवाणं सरीरया किं संठिया ?' इत्यादि पाठसिद्धम्॥

से किं तं बायरआउक्काइया ?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—ओसा हिमे जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तं चेव सव्वं णवरं थिवुगसंठिता, चत्तारि लेसाओ, आहारो नियमा छद्दिसिं, उववातो तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेहिं, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसं सत्तवाससहस्साइं, सेसं तं चेव जहा बायरपुढविकाइया जाव दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता समणाउसो !, सेत्तं बायरआऊ, सेत्तं आउक्काइया ॥ (सू० १७ ॥)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते बादराप्कायिका: ?, सूरिराह—बादराप्कायिका अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—"ओसा हिमे महिया जाव तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः—"करगे हरतणू सुद्धोदए सीओदए खट्टोदए खारोदए अंबिलोदए लवणोदए वरुणोदए खीरोदए खोओदए रसोदए जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा एएसिणं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसाएसेणं फासाएसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, अस्य व्याख्या—अवश्यायः—त्रेहः, हिमं—स्त्यानोदकं, महिका—गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षं, करको—घनोपलः, हरतनुः यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कुरतृणाग्रादिषु बद्धो विन्दुरुपजायते, शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षसमुद्भवं नद्यादिगतं वा, तच्च स्पर्शरसादिभेदादनेकभेदं, तदेवानेकभेदत्वं दर्शयति—शीतोदकं—नदीतडागावटवापीपुष्करिण्यादिषु शीतपरिणामम्, उष्णोदकं—स्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरिणामं, क्षीरोदकम्—ईषल्लवणपरिणामं यथा लाटदेशादौ केषुचिदवटेषु, खट्टोदकम्—ईषदम्लपरिणामम्, आम्लोदकम्—अतीव स्वभावत एवाम्लपरिणामं काञ्जिकवत्, लवणोदकं लवणसमुद्रे, वारुणोदकं वारुणसमुद्रे, क्षीरोदकं क्षीरसमुद्रे, क्षोदोदकमिक्षुरससमुद्रे, रसोदकं पुष्करवरसमुद्रादिषु, येऽपि चान्ये तथाप्रकारा रसस्पर्शादिभेदाद् घृतोदकादयो बादराप्कायिकास्ते सर्वे बादराप्कायिकतया प्रतिपत्तव्याः, 'ते समासओ' इत्यादि प्राग्वत् नवरं सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणीत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि । 'तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ सरीरगा' ? इत्यादिद्वारकलापचिन्तायामपि बादरपृथिवीकायिकगमोऽनुगन्तव्यो, नवरं संस्थानद्वारे शरीरकाणि स्तिबुकसंस्थानसंस्थितानि वक्तव्यानि,

स्थितिद्वारे जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सप्त वर्षसहस्राणि, शेषं तथैव, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि ॥ उक्ता अप्कायिकाः, सम्प्रति वनस्पतिकायिकानाह—

से किं तं वणस्सइकाइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य ॥ (सू० १७)। से किं तं सुहुमवणस्सइकाइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य तहेव णवरं अणित्थंत्थ (संठाण) संठिया, दुगतिया दुआगतिया अपरित्ता अणंता, अवसेसं जहा पुढविक्काइयाणं, से तं सुहुमवणस्सइकाइया ॥ (सू० १८)।

अथ के ते वनस्पतिकायिकाः ?, सूरिराह—वनस्पतिकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाश्च वादरवनस्पतिकायिकाश्च, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ ॥ 'से किं त'मित्यादि, अथ के ते सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः ?, सूरिराह—सूक्ष्मवनस्पतिकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः—पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च, 'तेसि णं भंते ! कति सरीरगा' इत्यादिद्वारकलापचिन्तनं सूक्ष्मपृथिवीकायिकवद्भावनीयं, नवरं संस्थानद्वारे 'सरीरगा अणित्थंत्थसंठाणसंठिया पण्णत्ता' इति, इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थंस्थम्, अनियताकारमित्यर्थः, तच्च तत्संस्थानं तेन संस्थितानि—अनियतसंस्थानसंस्थितानि, गत्यागतिद्वारसूत्रपर्यन्ते 'अपरित्ता अणंता पन्नत्ता' इति वक्तव्यम्, 'अपरीत्ता' अप्रत्येकशरीरिणः अनन्तकायिका इत्यर्थः, अत एवानन्ताः प्रज्ञप्ता. हेश्रमण ! हे आयुष्मन् ! 'सेत्त'मित्यादि उपसंहारवाक्यम् ॥

से किं तं बायरवणस्सइकाइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पत्तेयसरीरबायरवणस्सतिकाइया

य साधारणसरीरबायरवणस्सइकाइया य ॥ (सू० १९) । से किं तं पत्तेयसरीरबादरवणस्सतिकाइया?, २ दुवालसविहा पण्णत्ता, तंजहा—रुक्खा गुच्छा गुम्मा लता य वल्ली य पव्वगा चेव। तणवलयहरितओसहिजलरुहकुहणा य बोद्धव्वा ॥ १ ॥ से किं तं रुक्खा?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—एगट्ठिया य बहुबीया य। से किं तं एगट्ठिया?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—निंबंबजंबुजाव पुण्णागणागरुक्खे सीवण्णि तधा असोगे य, जे यावण्णे तहप्पगारा, एतेसि णं मूलावि असंखेज्जजीविया, एवं कंदा खंधा तया साला पवाला पत्ता पत्तेयजीवा पुप्फाइं अणेगजीवाइं फला एगट्ठिया, सेत्तं एगट्ठिया। से किं तं बहुबीया?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—अत्थियतेंदुयउंबरकविट्ठे आमलकफणसदाडिमणग्गोधकाउंबरीयतिलयलउयलोद्धे धवे, जे यावण्णे तहप्पगारा, एतेसि णं मूलावि असंखेज्जजीविया जाव फला बहुबीयगा, सेत्तं बहुबीयगा, सेत्तं रुक्खा, एवं जहा पण्णवणाए तहा भाणियव्वं, जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, सेत्तं कुहणा—नाणाविधसंठाणा रुक्खाणं एगजीविया पत्ता। खंधोवि एगजीवो तालसरलनालिएरीणं ॥ १ ॥ 'जह सगलसरिसवाणं पत्तेयसरीराणं' गाहा ॥ २ ॥ 'जह वा तिलसक्कुलिया' गाहा ॥ ३ ॥ सेत्तं पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया ॥ (सू० २०)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते बादरवनस्पतिकायिकाः?, सूरिराह—बादरवनस्पतिकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—प्रत्येक-

शरीरबादरवनस्पतिकायिकाश्च साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकाश्च, चशब्दौ पूर्ववत् ॥ 'से किं तं'मित्यादि, अथ के ते प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः ?, सूरिराह—प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका द्वादशविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'रुक्खा'इत्यादि, वृक्षाः-चूतादयः गुच्छा—वृन्ताकीप्रभृतयः गुल्मानि—नवमालिकाप्रभृतीनि लताः—चम्पकलतादयः, इह येषां स्कन्धप्रदेशे विवक्षितोर्ध्वशाखाव्यतिरेकेणान्यत् शाखान्तरं तथाविधं परिस्थूरं न निर्गच्छति ते लता इति व्यवह्रियन्ते, ते च चम्पकादय इति, वल्ह्यः—कूष्माण्डीत्रपुषीप्रभृतयः पर्वगा—इक्ष्वादयः तृणानि—कुशजुअकार्जुनादीनि वलयानि—केतकीकदल्यादीनि तेषां हि त्वग् वलयाकारेण व्यवस्थितेति हरितानि—तन्दुलीयकवस्तुलप्रभृतीनि औषधयः—फलपाकान्ताः ताश्च शाल्यादयः जले रुहन्तीति जलरुहाः—उदकावकपनकादयः कुहणा—भूमिस्फोटाभिधानास्ते चायकायप्रभृतयः, 'एवं भेदो भाणियव्वो जहा पन्नवणाए' इत्यादि, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण बादरप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिकानां भेदो वक्तव्यो यथा प्रज्ञापनायाम्, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, स च किं यावद् वक्तव्यः ? इत्याह—'जह वा तिलसक्कुलिया' इत्यादि, अस्याश्च गाथाया अयं सम्बन्धः—इह यदि वृक्षादीनां मूलादयः प्रत्येकमनेकप्रत्येकशरीरजीवाधिष्ठितास्ततः कथमेकखण्डशरीराकारा उपलभ्यन्ते ?, तत्रेयमुत्तरगाथा—"जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी । पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥ १ ॥" अस्या व्याख्या—यथा सकलसर्षपाणां श्लेषमिश्राणां—श्लेषद्रव्यविमिश्रितानां वलिता वर्त्तिरेकरूपा भवति, अथ च ते सकलसर्षपाः परिपूर्णशरीराः सन्तः पृथक् पृथक् स्वस्वावगाहनयाऽवतिष्ठन्ते, 'तथा' अनयैवोपमया प्रत्येकशरीरिणां जीवानां शरीरसङ्घाताः पृथक्पृथक्स्वस्वावगाहना भवन्ति, इह श्लेषद्रव्यस्थानीयं रागद्वेषोपचितं तथाविधं स्वकर्म सकलसर्षपस्थानीयाः प्रत्येकशरीराः, सकलसर्षपग्रहणं वैविक्त्यप्रतिपत्त्या पृथक्पृथक्स्वस्वावगाहप्रत्येकशरीरत्वे-

वित्तयप्रतिपत्त्यर्थम्, अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—"जह वा तिलसक्कुलिया" इत्यादिरधिकृतगाथा, वाशब्दो दृष्टान्तान्तरसूचने, यथा 'तिलसक्कुलिका' तिलप्रधाना पिष्टमयी अपूपिका बहुभिस्तिलैर्मिश्रिता सती यथा पृथक्पृथक्स्वस्वावगाहतिलासिका भवति कथञ्चिदेकरूपा च 'तथा' अनयैवोपमया प्रत्येकशरीरिणां जीवानां शरीरसङ्घाताः कथञ्चिदेकरूपाः पृथक्पृथक्स्वस्वावगाहनाश्च भवन्ति, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि सुगमम् ॥ सम्प्रति साधारणवनस्पतिकायिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—आलुए मूलए सिंगबेर हिरिलि सिरिलि सिस्सिरिलि किट्टिया छिरिया छिरियविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खल्लूडे किमिरासि भद्दे मोत्थापिंडे हलिद्दा लोहारी णीहु[ठिहु]थिभु अस्सकण्णी सीहकन्नी सीउंढी मूसंढी जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता?, गोयमा! तओ सरीरगा पन्नत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, तहेव जहा बायरपुढविकाइयाणं, णवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं सातिरेगजोयणसहस्सं, सरीरगा अणित्थंत्थसंठिता, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं, जाव दुगतिया तिआगतिया परित्ता अणंता पण्णत्ता, सेत्तं बायरवणस्सइकाइया, सेत्तं थावरा ॥ (सू० २१)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः ?, सूरिराह—साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिका अनेक-

विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'आलुए' इत्यादि, एते आलुकमूलकशृङ्गबेरहिरिलिसिरिलिसिस्सिरिलिकिट्टिकाक्षीरिकाक्षीरविडालिकाकृष्णकन्दवज्रकन्दसूरणकन्दखल्लूट(कृमिराशि)भद्रमुस्तापिण्डहरिद्रालोहीस्नुहिस्तिभुअश्वकर्णीसिंहकर्णीसिकुंढीमुषण्ढीनामानः साधारणवनस्पतिकायिकभेदाः केचिदतिप्रसिद्धत्वात्केचिद्देशविशेषात्स्वयमवगन्तव्याः, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः—एवंप्रकारा अवकपनकसेवालादयस्तेऽपि साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः प्रतिपत्तव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि, 'ते' बादरवनस्पतिकायिकाः समासतो द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, 'जाव सिय संखेज्जा' इति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः—"तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा तेसि णं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसाएसेणं फासाएसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ सिय संखिज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता" इति, एतत्प्राग्वत्, नवरं यत्रैको बादरपर्याप्तस्तत्र तन्निश्रयाऽपर्याप्ताः कदाचित्सङ्ख्येयाः कदाचिदसङ्ख्येयाः कदाचिदनन्ताः, प्रत्येकतरवः सङ्ख्येया असङ्ख्येया वा, साधारणास्तु नियमादनन्ता इति भावः। 'तेसि णं भंते! कइ सरीरगा?' इत्यादिद्वारकलापचिन्तनं बादरपृथिवीकायिकवत्, नवरं संस्थानद्वारे नानासंस्थानसंस्थितानीति वक्तव्यम्। अवगाहनाद्वारे 'उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्स'मिति, तच्च सातिरेकं योजनसहस्रमवगाहनामानमेकस्य जीवस्य बाह्यद्वीपेषु वल्ल्यादीनां समुद्रगोतीर्थेषु च पद्मनालादीनां, तदधिकोच्छ्रयमानानि पद्मानि पृथिवीकायपरिणाम इति वृद्धाः। स्थितिद्वारे उत्कर्षतो दश वर्षसहस्राणि वक्तव्यानि, गत्यागतिसूत्रानन्तरं 'अपरीत्ता अणंता' इति वक्तव्यं, तत्र 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः 'अपरीत्ताः' अप्रत्येकशरीरि-

णोऽनन्ताः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, उपसंहारमाह—'सेत्तं बादरवणस्सइकाइया, सेत्तं थावरा' इति सुगमम् ॥ उक्ताः स्थावराः, सम्प्रति त्रसप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं तसा ?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—तेउक्काइया वाउक्काइया ओराला तसा पाणा ॥ (सू० २२) ।

अथ के ते त्रसाः ?, सूरिराह—त्रसास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तेजस्कायिका वायुकायिका औदारिकत्रसाः, तत्र तेजः—अग्निः कायः—शरीरं येषां ते तेजस्कायास्त एव स्वार्थिकेकप्रत्ययविधानात्तेजस्कायिकाः, वायुः—पवनः स कायो येषां ते वायुकायास्त एव वायुकायिकाः, उदाराः—स्फारा उदारा एव औदारिकाः प्रत्यक्षत एव स्पष्टत्रसत्वनिबन्धनाभिसन्धिपूर्वकगतिलिङ्गतयोपलभ्यमानत्वात्, तत्र त्रसा द्वीन्द्रियादयः 'औदारिकत्रसाः' स्थूरत्रसा इत्यर्थः ॥ तत्र तेजस्कायिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं तेउक्काइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमतेउक्काइया य बादरतेउक्काइया य ॥ (सू० २३)

से किं तं सुहुमतेउक्काइया ?, २ जहा सुहुमपुढविक्काइया नवरं सरीरगा सूइकलावसंठिया, एगगइया दुआगइआ परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, सेसं तं चेव, सेत्तं सुहुमतेउक्काइया ॥ (सू० २४)

से किं तं बादरतेउक्काइया ?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—इंगाले जाले मुम्मुरे जाव सूरकंतमणिनिस्सिते, जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । तेसिणं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, सेसं तं चेव, सरीरगा सूइकलावसंठिता, तिन्नि लेस्सा, ठिती

जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं तिरियमणुस्सेहिंतो उववाओ, सेसं तं चेव एगगतिया दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, सेत्तं तेउक्काइया ॥ (सू० २५)

अथ के ते तेजस्कायिकाः ?, तेजस्कायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्मतेजस्कायिकाश्च बादरतेजस्कायिकाश्च, चशब्दो पूर्ववत् ॥ अथ के ते सूक्ष्मतेजस्कायिकाः ?, सूरिराह—सूक्ष्मतेजस्कायिका इत्यादि सूत्रं सर्वं सूक्ष्मपृथिवीकायिकवद् वक्तव्यं, नवरं संस्थानद्वारे शरीराणि सूचीकलापसंस्थितानि वक्तव्यानि, च्यवनद्वारेऽनन्तरमुद्धृत्य तिर्यग्गतावेवोत्पद्यन्ते, न मनुष्यगतौ, तेजोवायुभ्योऽनन्तरोद्धृतानां मनुष्यगतावुत्पादप्रतिषेधात्, तथा चोक्तम्—"सत्तमिमहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । नवि पावे माणुस्सं तहेवऽसंखाउया सव्वे ॥ १ ॥" गत्यागतिद्वारे द्व्यागतयः, तिर्यग्गतेर्मनुष्यगतेश्च तेपूत्पादात्, एकगतयोऽनन्तरमुद्धृत्तानां तिर्यग्गतावेव गमनात्, शेषं तथैव, उपसंहारवाक्यं 'सेत्तं सुहुमतेउक्काइया' ॥ बादरतेजस्कायिकानाह—अथ के ते बादरतेजस्कायिकाः ?, सूरिराह—बादरतेजस्कायिका अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—"इंगाले जाव तत्थ नियमे"त्यादि यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठः—"इंगाले जाला मुम्मुरे अच्ची अलाए सुद्धागणी उक्का विज्जू असणि निग्घाए संघरिससमुट्ठिए सूरकंतमणिनिस्सिए, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिणं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, अस्य व्याख्या—'अङ्गारः'

१ सप्तमीमहीनैरयिका. तेजो वायु अनन्तरोद्धृत्ता. । नैव प्राप्नुवन्ति मानुष्यं तथैवासंख्यायुष. सर्वे ॥ १ ॥

विगतधूमज्वालो जाज्वल्यमानः खदिरादिः, 'ज्वाला' अनलसंबद्धा दीपशिखेत्यन्ये, 'मुर्मुरः' फुम्फुकाग्नौ भस्मामिश्रितोऽग्निकणरूपः 'अर्चिः' अनलाप्रतिबद्धा ज्वाला, 'अलातम्' उल्मुकं, 'शुद्धाग्निः' अयःपिण्डादौ, 'उल्का' चुडुली 'विद्युत्' प्रतीता, 'अशनिः' आकाशे पतन्नग्निमयः कणः, 'निर्घातः' वैक्रियाशनिप्रपातः 'संघर्षसमुत्थितः' अरण्यादिकाष्ठनिर्मथनसमुत्थः, 'सूर्यकान्तमणिनिश्रितः' सूर्यखरकिरणसंपर्के सूर्यकान्तमणेर्यः समुपजायते, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति, येऽपि चान्ये 'तथाप्रकाराः' एवंप्रकारास्तेजस्कायिकास्तेऽपि बादरतेजस्कायिकतया वेदितव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि प्राग्वत्, शरीरादिद्वारकलापचिन्ताऽपि सूक्ष्मतेजस्कायिकवत्, नवरं स्थितिद्वारे जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि रात्रिन्दिवानि, आहारो यथा बादरपृथ्वीकायिकानां तथा वक्तव्यः, उपसंहारमाह—'सेत्तं तेउक्काइया' ॥ उक्तास्तेजस्कायिकाः, सम्प्रति वायुकायिकानाह—

से किं तं वाउक्काइया ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमवाउक्काइया य बादरवाउक्काइया य, सुहुमवाउक्काइया जहा तेउक्काइया णवरं सरीरा पडागसंठिता एगगतिया दुआगतिया परित्ता असंखिज्जा, सेत्तं सुहुमवाउक्काइया । से किं तं बादरवाउक्काइया ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—पाईणवाए पडीणवाए, एवं जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो. दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । ते सि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए, सरीरगा पडागसंठिता, चत्तारि समुग्घाता—वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए,

आहारो णिव्वाघातेणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं, उववातो देवमणुयनेरइएसु णत्थि, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं, सेसं तं चेव एगगतिया दुआगइया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो !, सेत्तं बायरवाऊ, सेत्तं वाउक्काइया ॥ (सू० २६)

अथ के ते वायुकायिकाः ?, सूरिराह—वायुकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्मवायुकायिकाश्च बादरवायुकायिकाश्च, चशब्दौ प्राग्वत्, तत्र सूक्ष्मवायुकायिकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकवद्वक्तव्याः, नवरं संस्थानद्वारे तेषां शरीराणि पताकासंस्थानसंस्थितानि वक्तव्यानि, शेषं तथैव, बादरवायुकायिका अपि एवं चैव—सूक्ष्मतेजस्कायिकवदेव, नवरं भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः, स चैवम्—"से किं तं बायरवाउक्काइया ?, बायरवाउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—पाईणवाए पडीणवाए दाहिणवाए उदीणवाए उड्ढवाए अहेवाए तिरियवाए विदिसिवाए वाउब्भामे वाउक्कलिया मंडलियावाए उक्कलियावाए गुंजावाए झंझावाए संवट्टगवाए घणवाए तणुवाए सुद्धवाए, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासाएसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं, पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति, अस्य व्याख्या—'पाईणवाए' इति, यः प्राच्या दिशः समागच्छति वातः स प्राचीनवातः, एवमपाचीनो दक्षिणवात उदीचीनवातश्च वक्तव्यः, ऊर्ध्वमुद्गच्छन् यो वाति वातः स ऊर्ध्ववातः, एवमधोवाततिर्यग्वातावपि परिभावनीयौ, विदिग्वातो यो विदिग्भ्यो वाति, वातो-

द्रुमः—अनवस्थितो वातः, वातोत्कलिका समुद्रस्येव वातस्योत्कलिका वातमण्डलीवात उत्कलिकाभिः प्रचुरतराभिः सम्मिश्रो यो वातः, मण्डलिकावातो मण्डलिकाभिर्मूलत आरभ्य प्रचुरतराभिः सम्मिश्रो यो वातः, गुञ्जावातो यो गुञ्जन्—शब्दं कुर्वन् वाति, झञ्झावातः सवृष्टिः, अशुभनिष्ठुर इत्यन्ये, संवर्त्तकवातस्तृणादिसंवर्त्तनस्वभावः, घनवातो घनपरिणामो वातो रत्नप्रभापृथिव्याद्यधोवर्त्ती, तनुवातो—विरलपरिणामो घनवातस्याधःस्थायी, शुद्धवातो मन्दस्तिमितो, बस्तिदृत्यादिगत इत्यन्ये, 'ते समासतो' इत्यादि प्राग्वत्, तथा शरीरादिद्वारकलापचिन्तायां शरीरद्वारे चत्वारि शरीराणि औदारिकवैक्रियतैजसकार्मणानि, चत्वारः समुद्घाताः—वैक्रियवेदनाकषायमारणान्तिकरूपाः, स्थितिद्वारे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं वक्तव्यमुत्कर्षतस्त्रीणि वर्षसहस्राणि, आहारो निर्व्याघातेन षड्दिशि, व्याघातं प्रतीत्य स्यात्त्रिदिशि स्याच्चतुर्दिशि स्यात्पञ्चदिशि, लोकनिष्कुटादावपि बादरवातकायस्य सम्भवात्, शेषं सूक्ष्मवातकायवत्, उपसंहारमाह—'सेत्तं वाउक्काइया' इति ॥ उक्ता वातकायिकाः, सम्प्रत्यौदारिकत्रसानाह—

से किं तं ओराला तसा पाणा ?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया ॥ (सू० २७)

अथ के ते औदारिकत्रसाः ?, सूरिराह—औदारिकत्रसाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः, तत्र द्वे स्पर्शनरसनरूपे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः, त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः ॥ तत्र द्वीन्द्रियप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं बेइंदिया ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—पुलाकिमिया जाव समुद्दलिक्खा, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। तेसिणं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा! तओ सरीरगा पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए। तेसि णं भंते! जीवाणं के महालिया सरीरओगाहणा पण्णत्ता ?, जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं छेवट्ठसंघयणा हुंडसंठिता, चत्तारि कसाया, चत्तारि सण्णाओ, तिण्णि लेसाओ, दो इंदिया, तओ समुग्घाता—वेयणा कसाया मारणंतिया, नोसन्नी असन्नी, णपुंसकवेदगा, पंच पज्जत्तीओ, पंच अपज्जत्तीओ, सम्मदिट्ठीवि मिच्छदिट्ठीवि नो सम्ममिच्छदिट्ठी, णो ओहिदंसणी णो चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी नो केवलदंसणी। ते णं भंते! जीवा किं णाणी अण्णाणी ?, गोयमा! णाणीवि अण्णाणीवि, जे णाणी ते नियमा दुण्णाणी, तंजहा—आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी य, जे अन्नाणी ते नियमा दुअण्णाणी—मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य, नो मणजोगी वइजोगी कायजोगी, सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि, आहारो नियमा छद्दिसिं, उववातो तिरियमणुस्सेसु नेरइयदेवअसंखेज्जवासाउयवज्जेसु, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारस संवच्छराणि, समोहतावि मरंति असमोहतावि मरंति, कहिं

गच्छंति?, नेरइयदेवअसंखेज्जवासाउअवज्जेसु गच्छंति, दुगतिया दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा, सेत्तं बेइंदिया ॥ (सू० २८)

'से किं त' मित्यादि, अथ के ते द्वीन्द्रियाः?, सूरिराह—द्वीन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'पुलाकिमिया जाव समुद्दलिक्खा' इति यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः—"पुलाकिमिया कुच्छिकिमिया गंडूयलगा गोलोमा नेउरा सोमंगलगा वंसीमुहा सूईमुहा गोजलोया जलोया जालायुसा संखा संखणगा घुल्ला खुल्ला वराडा सोत्तिया मोत्तिया कल्लुयावासा एगतोवत्ता दुहतोवत्ता नंदियावत्ता संबुक्का माइवाहा सिप्पिसंपुडा चंदणा समुद्दलिक्खा इति" अस्य व्याख्या—'पुलाकिमिया' नाम पायुप्रदेशोत्पन्नाः कृमयः 'कुक्षिकृमयः' कुक्षिप्रदेशोत्पन्नाः 'गण्डोयलकाः' प्रतीताः 'शङ्खाः' समुद्रोद्भवास्तेऽपि प्रतीताः 'शङ्खनकाः' त एव लघवः 'घुल्लाः' घुल्लिकाः 'खुल्लाः' लघवः शङ्खाः सामुद्रशङ्खाकाराः 'वराटाः' कपर्दाः 'मातृवाहाः' कोद्रवाकारतया ये कोद्रवा इति प्रतीताः 'सिप्पिसंपुडा' संपुटरूपाः शुक्तयः 'चन्दनकाः' अक्षाः, शेषास्तु यथासम्प्रदायं वाच्याः, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः—एवंप्रकाराः मृतककलेवरसम्भूतकृम्यादयस्ते सर्वे द्वीन्द्रिया ज्ञातव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि, ते द्वीन्द्रियाः 'समासतः' सङ्क्षेपेण द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च । शरीरद्वारेऽमीषां त्रीणि शरीराणि—औदारिकं तैजसं कार्मणं च, अवगाहना जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा उत्कृष्टा द्वादश योजनानि, संहननद्वारे छेदवर्त्तिसंहननिनः, अत्र संहननं मुख्यमेव द्रष्टव्यम्, अस्थिनिचयभावात्, संस्थानद्वारे हुण्डसंस्थानाः, कषायद्वारे चत्वारः कषायाः, सञ्ज्ञाद्वारे चतस्र आहारादिकाः सञ्ज्ञाः, लेश्याद्वारे आद्यास्तिस्रो लेश्याः, इन्द्रियद्वारे द्वे इन्द्रिये, तद्यथा—स्पर्शनं रसनं च, समुद्घातद्वारे त्रयः समुद्घाताः, त-

यथा—वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातश्च, सञ्ज्ञाद्वारे नो सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनः, वेदद्वारे नपुंसकवेदाः, संमूर्छिमत्वात्, पर्याप्तिद्वारे पञ्च पर्याप्तयः पञ्चापर्याप्तयः, दृष्टिद्वारे सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, कथम्? इति चेत् उच्यते, इह घण्टाया वादितायां महान् शब्द उपजायते, तत उत्तरकालं हीयमानोऽवसाने लालामात्रं भवति, एवममुना घण्टालालान्यायेन किञ्चित्सास्वादनसम्यक्त्वशेषाः केचिद् द्वीन्द्रियेषु मध्ये उत्पद्यन्ते, ततोऽपर्याप्तावस्थायां कियत्कालं सास्वादनसम्यक्त्वसम्भवात् सम्यग्दृष्टित्वं, शेषकालं मिथ्यादृष्टिता, यत्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं तन्न संभवति, तथाभवस्वभावतया तथारूपपरिणामायोगात्, नापि सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सन् तत्रोत्पद्यते 'न सम्ममिच्छो कुणइ कालं' इति वचनात्, दर्शनद्वारं प्राग्वत्, ज्ञानद्वारे ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि, तत्र ज्ञानित्वं सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षया, ते च ज्ञानिनो नियमाद् द्विज्ञानिनो, मतिश्रुतज्ञानमात्रभावात्, अज्ञानिनोऽपि नियमाद् द्व्यज्ञानिनो, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमात्रभावात्, योगद्वारे न मनोयोगिनो वाग्योगिनोऽपि काययोगिनोऽपि, उपयोगद्वारं पूर्ववत्, आहारो नियमात् षड्दिशि, त्रसनाड्या एवान्तर्द्वीन्द्रियादीनां भावात्, उपपातो देवनारकासङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जेभ्यः शेषतिर्यग्मनुष्येभ्यः, स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि, समवहतद्वारं प्रागिव, च्यवनद्वारे देवनारकासङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जितेषु शेषेषु तिर्यग्मनुष्येष्वनन्तरमुद्धृत्य गमनम्, अत एव गत्यागतिद्वारे द्व्यागतिका द्विगतिकाः तिर्यग्मनुष्यगत्यपेक्षया, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणः, असङ्ख्येया घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाध आयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसङ्ख्येययोजनकोटाकोटीप्रमाणाकाशसूचिगतप्रदेशराशिप्रमाणाः तावत्प्रमाणत्वात्, प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, उपसंहारमाह—'सेत्तं बेइंदिया'॥ उक्ता द्वीन्द्रियाः, अधुना त्रीन्द्रियानाह—

से किं तं तेइंदिया ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—ओवइया रोहिणीया हत्थिसोंडा, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तहेव जहा बेइंदियाणं, नवरं सरीरोगाहणा उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं, तिन्नि इंदिया, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदिया, सेसं तहेव, दुगतिया दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं तेइंदिया ॥ (सू० २९)

अथ के ते त्रीन्द्रियाः ?, सूरिराह—त्रीन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'भेदो जहा पण्णवणाए' भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः, स चैवम्—"उवयिया रोहिणिया कुंथूपिवीलिया उद्देसगा उद्देहिया उक्कलिया तणहारा कट्ठहारा पत्तहारा मालुया पत्तहारा तणबेंटका पत्तबेंटया फलबेंटया तेम्बुरुमिंजिया तउसमिंजिया कप्पासट्ठिमिंजिया झिल्लिया झिंगिरा झिगिरिडा वाहुया, [ग्रन्थाग्रम् १०००] मुरगा सोवत्थिया सुयबेंटा इंदकाइया इंदगोवया कोत्थलवाहगा हालाहला पिसुया तसवाइया गोम्ही हत्थिसोंडा ॥" इति, एते च केचिदतिप्रतीताः केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः, नवरं 'गोम्ही' कण्हसियाली, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति येऽपि चान्ये 'तथाप्रकाराः' एवंप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि समस्तमपि सूत्रं द्वीन्द्रियवत्परिभावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे उत्कर्षतोऽवगाहना त्रीणि गव्यूतानि । इन्द्रियद्वारे त्रीणि इन्द्रियाणि । स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि, शेषं तथैव, उपसंहारमाह—'सेत्तं तेइंदिया ॥' उक्तास्त्रीन्द्रियाः, सम्प्रति चतुरिन्द्रियप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं चउरिंदिया ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—अंधिया पुत्तिया जाव गोमयकीडा, जे

यावण्णे तहप्पगारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता?, गोयमा! तओ सरीरगा पण्णत्ता तं चेव, णवरं सरीरोगाहणा उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं, इंदिया चत्तारि, चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी, ठिती उक्कोसेणं छम्मासा, सेसं जहा तेइंदियाणं जाव असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं चउरिंदिया ॥ (सू० ३०)

अथ के ते चतुरिन्द्रियाः?, सूरिराह—चतुरिन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—"अंधिया पुत्तिया मच्छिया मगसिरा कीडा पयंगा टेंकणा कुक्कुहा कुक्कुडा नंदावत्ता झिंगिरिडा किण्हपत्ता नीलपत्ता लोहियपत्ता हालिद्दपत्ता सुक्किलपत्ता चित्तपक्खा विचित्तपक्खा ओहंजलिया जलचारिया गंभीरा नीणिया तंतवा अच्छिरोडा अच्छिवेहा सारंगा नेउरा डोला भमरा भरिलि जरला विच्छुया पत्तविच्छुया छाणविच्छुया जलविच्छुया सेइंगाला कणगा गोमयकीडगा" एते लोकतः प्रत्येतव्याः, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति, येऽपि चान्ये 'तथाप्रकाराः' एवंप्रकारास्ते सर्वे चतुरिन्द्रिया विज्ञेयाः, 'ते समासतो' इत्यादि सकलमपि सूत्रं द्वीन्द्रियवद्भावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे उत्कर्षतोऽवगाहना चत्वारि गव्यूतानि। इन्द्रियद्वारे स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि चत्वारीन्द्रियाणि। स्थितिद्वारे उत्कर्षतः स्थितिः षण्मासाः, शेषं तथैव, उपसंहारमाह—'सेत्तं चउरिंदिया'। सम्प्रति पञ्चेन्द्रियान् प्रतिपिपादयिषुराह—

से किं तं पंचेंदिया?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—णेरतिया तिरिक्खजोणिया मणुस्सा देवा ॥ (सू० ३१)

अथ के ते पञ्चेन्द्रियाः?, सूरिराह—पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—नैरयिकास्तिर्यग्योनिका मनुष्या देवाः, तत्र अयम्—

इष्टफलं कर्म निर्गतमयं येभ्यस्ते निरया—नरकावासास्तेषु भवा नैरयिकाः, अध्यात्मादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः । तिर्यगिति प्रायस्तिर्यग्लोके योनयस्तिर्यग्योनयस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः, यद्विा तिर्यग्योनिका इति शब्दसंस्कारः, तत्र तिर्यगिति प्रायस्तिर्यग्लोके योनयः—उत्पत्तिस्थानानि येषां ते तिर्यग्योनिकाः । मनुरिति मनुष्यस्य सञ्ज्ञा, मनोरपत्यानि मनुष्याः, जातिशब्दोऽयं राजन्यादिशब्दवत् । दीव्यन्तीति देवाः ॥ तत्र नैरयिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं नेरइया ?, २ सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा—रयणप्पभापुढविनेरइया जाव अहे सत्तमपुढविनेरइया, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं०—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तंजहा—वेउव्विए तेयए कम्मए । तेसि णं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जो भागो उक्कोसेणं पंचधणुसयाइं, तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं उक्कोसेणं धणुसहस्सं । तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंघयणी पण्णत्ता ?, गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, णेवट्ठी णेव छिरा णेव ण्हारु णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुभा अमणुण्णा अमणामा ते तेसिं संघातत्ताए परिणमंति । तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंठिता पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा

पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया तेवि हुंडसंठिता पण्णत्ता, चत्तारि कसाया चत्तारि सण्णाओ तिण्णि लेसाओ पंचेंदिया चत्तारि समुग्घाता आइल्ला, सन्नीवि असन्नीवि, नपुंसकवेदा, छप्पज्जत्तीओ छ अपज्जत्तीओ, तिविधा दिट्ठी, तिन्नि दंसणा, णाणीवि अण्णाणीवि, जे णाणी ते नियमा तिन्नाणी, तंजहा—आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी ओहिनाणी, जे अण्णाणी ते अत्थेगतिया दुअण्णाणी अत्थेगतिया तिअण्णाणी, जे य दुअण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी य, जे तिअण्णाणी ते नियमा मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य विभंगणाणी य, तिविधे जोगे, दुविहे उवओगे, छद्दिसिं आहारो, ओसण्णं कारणं पडुच्च वण्णतो कालाइं जाव आहारमाहारेंति, उववाओ तिरियमणुस्सेसु, ठिती जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं, दुविहा मरंति, उव्वट्टणा भाणियव्वा जतो आगता, णवरि संमुच्छिमेसु पडिसिद्धो, दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता समणाउसो!, से तं नेरइया ॥ (सू० ३२)

अथ के ते नैरयिकाः?, सूरिराह—नैरयिकाः सप्तविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका यावत्करणात् शर्कराप्रभापृथिवीनैरयिकाः वालुकाप्रभापृथिवीनैरयिकाः पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकाः धूमप्रभापृथिवीनैरयिकाः तमःप्रभापृथिवीनैरयिका इति परिग्रहः, अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकाः, 'ते समासतो' इत्यादिपर्याप्तापर्याप्तसूत्रं सुगमम् ॥ शरीरादिद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'तेसि णं भंते!' इत्यादि,

सुगमं नवरं भवप्रत्ययादेव तेषां शरीरं वैक्रियं नौदारिकमिति वैक्रियतैजसकार्मणानि त्रीणि शरीराण्युक्तानि । अवगाहना तेषां द्विधा—भवधारणीया उत्तरवैकुर्विकी च, तत्र यया भवो धार्यते सा भवधारणीया, बहुलवचनात्करणेऽनीयप्रत्ययः, अपरा भवान्तरवैरिनारकप्रतिघातनार्थमुत्तरकालं या विचित्ररूपा वैक्रयिकी अवगाहना सा उत्तरवैकुर्विकी, तत्र या सा भवधारणीया सा जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागः, स चोपपातकाले वेदितव्यः, तथाप्रयत्नभावात्, उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि, इदं चोत्कर्षतः प्रमाणं सप्तमपृथिवीमधिकृत्य वेदितव्यं, प्रतिपृथिवि तूत्कर्षतः प्रमाणं सङ्ग्रहणिटीकातो भावनीयं, तत्र सविस्तरमुक्तत्वात्, उत्तरवैकुर्विकी जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभागो नत्वसङ्ख्येयभागः, तथाप्रयत्नाभावात्, उत्कर्षतो धनुःसहस्रमिति, इदमप्युत्कर्षपरिमाणं सप्तमनरकपृथिवीमधिकृत्य वेदितव्यं, प्रतिपृथिवि तु सङ्ग्रहणिटीकातः परिभावनीयं, संहननद्वारे 'तेसि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! षण्णां संहननानामन्यतमेनापि संहननेन तेषां शरीराण्यसंहननानि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, कस्मादसंहननानि ? इति चेद् अत आह—'नेवट्ठी' इत्यादि, नैव तेषां शरीराणामस्थीनि, नैव शिरा—धमनिनाड्यो, नापि स्नायूनि—शेषशिराः, अस्थिनिचयात्मकं च संहननमतोऽस्थ्याद्यभावादसंहननानि शरीराणि, इयमत्र भावना—इह तत्त्ववृत्त्या संहननमस्थिनिचयात्मकं, यत्तु प्रागेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहननमभ्यधायि तदौदारिकशरीरसम्बन्धमात्रमपेक्ष्यौपचारिकं, देवा अपि यदन्यत्र प्रज्ञापनादौ वज्रसंहननिन उच्यन्ते तेऽपि गौणवृत्त्या, तथाहि—इह यादृशी मनुष्यलोके चक्रवर्त्यादेर्विशिष्टवज्रर्षभनाराचसंहननिनः सकलशेषमनुष्यजनासाधारणा शक्तिः "दोसोला बत्तीसा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं"मित्यादिका, ततोऽधिकतरा देवानां पर्वतोत्पाटनादिविषया शक्तिः श्रूयते न च शरीरपरिक्लेश इति तेऽपि वज्रसंहननिन इव वज्रसंहननिन उक्ता न पुनः परमार्थतस्ते संहननिनः, ततो नारकाणामस्थ्यभावात्संहननाभावः, एतेन योऽपरिणतभग-

वतिसिद्धान्तसारो वावदूकः सिद्धान्तबाहुल्यमात्मनः ख्यापयन्नेवं प्रललाप—"सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहऽट्ठिनिचयो"त्ति, इति सोऽपाकीर्णो द्रष्टव्यः, साक्षादत्रैव सूत्रे अस्थिनिचयात्मकस्य संहननस्याभिधानात्, अस्थ्यभावे संहननप्रतिषेधादिति । अपरस्त्वाह—नैरयिकाणामस्थ्यभावे कथं शरीरबन्धोपपत्तिः?, नैष दोषः, तथाविधपुद्गलस्कन्धवत् शरीरबन्धोपपत्तेः, अत एवाह—'जे पोग्गला अणिट्ठा' इत्यादि, ये पुद्गलाः 'अनिष्टाः' मनस इच्छामतिक्रान्ताः, तत्र किञ्चित्कमनीयमपि केषाञ्चिदनिष्टं भवति तत आह—न कान्ताः अकान्ता—अकमनीयाः, अत्यन्ताशुभवर्णोपेतत्वात्, अत एव न प्रियाः, दर्शनापातकालेऽपि न प्रियबुद्धिमात्मन्युत्पादयन्तीति भावः, 'अशुभाः' अशुभरसगन्धस्पर्शात्मकत्वात्, 'अमनोज्ञाः' न मनःप्रह्लादहेतवो, विपाकतो दुःखजनकत्वात्, अमनआपाः—न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तूनां मनांस्याप्नुवन्तीति भावः, ते तेषां 'सङ्घातत्वेन' तथारूपशरीरपरिणतिभावेन परिणमन्ति । संस्थानद्वारे तेषां शरीराणि भवधारणीयानि उत्तरवैकुर्विकाणि च हुण्डसंस्थानानि वक्तव्यानि, तथाहि—भवधारणीयानि तेषां शरीराणि भवस्वभावत एव निर्मूलविलुप्तपक्षोत्पाटितसकलग्रीवादिरोमपक्षिशरीरकवदतिबीभत्सहुण्डसंस्थानोपेतानि, यान्यप्युत्तरवैक्रियाणि तानि यद्यपि शुभानि वयं विकुर्विष्याम इत्यभिसन्धिना विकुर्वितुमारभन्ते तथाऽपि तानि तेषामत्यन्ताशुभतथाविधनामकर्मोदयतोऽतीवाशुभतराण्युपजायन्ते इति तान्यपि हुण्डसंस्थानानि । कषायद्वारं सञ्ज्ञाद्वारं च प्राग्वत्, लेश्याद्वारे आद्यास्तिस्रो लेश्याः, तत्राद्ययोर्द्वयोः पृथिव्योः कापोतलेश्या, तृतीयस्यां पृथिव्यां केषुचिन्नरकावासेषु कापोतलेश्या शेषेषु नीललेश्या, चतुर्थ्यां नीललेश्या, पञ्चम्यां केषुचिन्नरकावासेषु नीललेश्या, शेषेषु कृष्णलेश्या, षष्ठ्यां कृष्णलेश्या, सप्तम्यां परमकृष्णलेश्या, उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ—"काऊ य दोसु तइ-

१ कापोती च द्वयोस्तृतीयस्यां मिश्रा नीला चतुर्थ्यां । पञ्चम्यां मिश्रा कृष्णा ततः परमकृष्णा ॥ १ ॥

याएँ मीसिया नीलिया चउत्थीए पंचमियाए। मीसा कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥ १ ॥" इन्द्रियद्वारे पञ्च इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि । समुद्घातद्वारे चत्वारः समुद्घाताः—वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातश्च । सञ्ज्ञिद्वारे सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनश्च, तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तिकेभ्य उत्पन्नास्ते सञ्ज्ञिन इति व्यपदिश्यन्ते, ये तु संमूर्च्छनजेभ्यस्तेऽसञ्ज्ञिनः, ते च रत्नप्रभायामेवोत्पद्यन्ते न परतः, अनाशयाशुभक्रियाया दारुणाया अप्यनन्तरविपाकिन्या एतावन्मात्रफलत्वात्, अत एवाहुर्वृद्धाः—"[1]अस्सन्नी खलु पढमं दोच्चं व सिरीसवा तइय पक्खी । सीहा जंति चउत्थि उरगा पुण पंचमिं पुढविं ॥ १ ॥ छट्ठिं य इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं । एसो परमोवाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥ २ ॥" वेदद्वारे नपुंसकवेदाः । पर्याप्तिद्वारे पञ्च पर्याप्तयः पञ्चापर्याप्तयः । दृष्टिद्वारे त्रिविधदृष्टयोऽपि, तद्यथा—मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च, दर्शनद्वारे त्रीणि दर्शनानि, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं च । ज्ञानद्वारे ज्ञानिनोऽपि अज्ञानिनोऽपि, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्रिज्ञानिनः, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, येऽत्राज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च, एष चात्र भावार्थः—ये नारका असञ्ज्ञिनस्तेऽपर्याप्तावस्थायां द्व्यज्ञानिनः पर्याप्तावस्थायां तु त्र्यज्ञानिनः सञ्ज्ञिनस्तूभय्यामप्यवस्थायां त्र्यज्ञानिनः, असञ्ज्ञिभ्यो ह्युत्पद्यमानास्तथाबोधमान्द्यादपर्याप्तावस्थायां नाव्यक्तमप्यवधिमाप्नुवन्तीति । योगोपयोगाहारद्वाराणि प्रतीतानि । उपपातो यथा व्युत्क्रान्तिपदे **प्रज्ञापनायां** तथा वक्तव्यः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येभ्योऽसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जेभ्यो वक्तव्यो,

---

१ असञ्ज्ञिन· खलु प्रथमा द्वितीया च सरीसृपास्तृतीयां पक्षिणः । सिंहा यान्ति चतुर्थी उरगा· पुन· पञ्चमीं पृथ्वीम् ॥ १ ॥ षष्ठीं च स्त्रियः मत्स्या मनुष्याश्च सप्तमीं पृथ्वीम् । एष परम उत्पादो बोद्धव्यो नरकपृथ्वीषु ॥ २ ॥

न शेषेभ्य इति भावः। स्थितिर्जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। समुद्घातमधिकृत्य मरणचिन्ता प्राग्वत्। उद्वर्त्तनाचिन्ता यथा व्युत्क्रान्तिपदे प्रज्ञापनायां कृता तथा वक्तव्या, अनन्तरमुद्वृत्य सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येष्वसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जितेष्वागच्छन्तीति भावः, अत एव गत्यागतिद्वारे द्व्यागतिका द्विगतिकाः, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः, हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, उपसंहारमाह—'सेत्तं नेरइया' ॥ उक्ता नैरयिकाः, सम्प्रति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाह—

से किं तं पंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिया य ॥ (सू० ३३)

अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः?, सूरिराह—पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च, तत्र संमूर्च्छनं संमूर्च्छा—गर्भोपपातव्यतिरेकेणैव यः प्राणिनामुत्पादस्तेन निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः, 'भावादिम' इति इमप्रत्ययः, ते च ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, गर्भे व्युत्क्रान्तिः—उत्पत्तिर्येषां यदिवा गर्भाद्—गर्भवशाद् व्युत्क्रान्तिः—निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, ते च ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चेति विशेषणसमासः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ ॥

से किं तं संमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरा थलयरा खहयरा ॥ (सू० ३४)। से किं तं जलयरा?, २ पंचविधा पण्णत्ता, तंजहा—मच्छगा कच्छभा मगरा गाहा सुसुमारा। से किं तं मच्छा?, एवं जहा पण्णवणाए जाव जे यावण्णे तहप्पगारा,

ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं छेवट्ठसंघयणी हुंडसंठिता, चत्तारि कसाया, सण्णाओवि ४, लेसाओ ५, इंदिया पंच, समुग्घाता तिण्णि णो सण्णी असण्णी, णपुंसकवेदा, पज्जत्तीओ अपज्जत्तीओ य पंच, दो दिट्ठिओ, दो दंसणा, दो नाणा दो अन्नाणा, दुविधे जोगे, दुविधे उवओगे, आहारो छद्दिसिं, उववातो तिरियमणुस्सेहिंतो नो देवेहिंतो नो नेरइएहिंतो, तिरिएहिंतो असंखेज्जवासाउवज्जेसु, अकम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउअवज्जेसु मणुस्सेसु, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, मारणंतियसमुग्घातेणं दुविहावि मरंति, अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं ?, नेरइएसुवि तिरिक्खजोणिएसुवि मणुस्सेसुवि देवेसुवि, नेरइएसु रयणप्पहाए, सेसेसु पडिसेधो, तिरिएसु सव्वेसु उववज्जंति संखेज्जवासाउएसुवि असंखेज्जवासाउएसुवि चउप्पएसु पक्खीसुवि मणुस्सेसु सव्वेसु कम्मभूमीसु नो अकम्मभूमीएसु अंतरदीवएसुवि संखिज्जवासाउएसुवि असंखिज्जवासाउएसुवि देवेसु जाव वाणमंतरा, चउगइया दुआगतिया, परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता । से तं जलयरसंमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खा ॥ (सू० ३५)

अथ के ते संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह—संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—जलचराः

स्थलचराः खचराः, तत्र जले चरन्तीति जलचराः, एवं स्थलचरा खचरा अपि भावनीयाः ॥ अथ के ते जलचराः?, सूरिराह—जलचराः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—मत्स्याः कच्छपा मकरा ग्राहाः शिशुमाराः, 'एवं भेओ भाणियव्वो जहा पण्णवणाए जाव सुसुमारा एगागारा पन्नत्ता' इति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण मत्स्यादीनां भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः, स च तावद् यावत् 'सिसुमारा' एगागारा इतिपदं, स चैवम्—"से किं तं मच्छा?, मच्छा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—सण्हमच्छा खवल्लमच्छा जुगमच्छा भिब्भियमच्छा हेलियमच्छा मंजरियामच्छा रोहियमच्छा हलीसागारा मोगरावडा वडगरा तिमीतिमिंगिलामच्छा तंदुलमच्छा कणिक्कमच्छा सिलेच्छियामच्छा लंभणमच्छा पडागा पडागाइपडागा, जे यावण्णे तहप्पगारा, से तं मच्छा। से किं तं कच्छभा?, कच्छभा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—अट्ठिकच्छभा य मंसलकच्छभा य, से तं कच्छभा। से किं तं गाहा?, गाहा पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—दिली वेढगा मुदुगा पुलगा सीमागारा, सेत्तं गाहा। से किं तं मगरा?, मगरा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सोंडमगरा य मट्ठमगरा य, सेत्तं मगरा। से किं तं सुसुमारा?, २ एगागारा पण्णत्ता, सेत्तं सुसुमारा" इति, एते मत्स्यादिभेदा लोकतोऽवगन्तव्याः, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति, येऽपि चान्ये 'तथाप्रकाराः' उक्तप्रकारा मत्स्यादिरूपाः, ते सर्वे जलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका द्रष्टव्याः। 'ते समासतो' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं सुगमं, शरीरादिद्वारकदम्बकमपि चतुरिन्द्रियवद्भावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा, उत्कर्षतो योजनसहस्रम्। इन्द्रियद्वारे पञ्चेन्द्रियाणि। सञ्ज्ञिद्वारे नो सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनः, संमूर्च्छिमतया समनस्कत्वायोगात्। उपपातो यथा व्युत्क्रान्तिपदे तथा वक्तव्य., तिर्यग्मनुष्येभ्योऽसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्ज्येभ्यो वाच्य इति भावः। स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी। च्यवनद्वारेऽनन्तरमुद्वृत्त्य चतसृष्वपि गतिषूत्पद्यन्ते, तत्र नरकेषु रत्नप्रभायामेव, तिर्यक्षु सर्वेष्वेव, मनु-

ष्येषु कर्मभूमिजेषु, देवेषु व्यन्तरभवनवासिषु, तदन्येष्वसङ्ख्यायुष्काभावात्, अत एव गत्यागतिद्वारे चतुर्गतिका द्व्यागतिकाः, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, उपसंहारमाह—'सेत्तं संमुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया' ॥ उक्ताः संमूर्च्छिमजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, सम्प्रति संमूर्च्छिमस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं थलयरसंमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—चउप्पयथलयरसंमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया परिसप्पसंमु० ॥ से किं तं थलयरचउप्पयसंमुच्छिम०?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—एगखुरा दुखुरा गंडीपया सणप्फया जाव जे यावण्णे तहप्पकारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तओ सरीगा ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं गाउयपुहुत्तं ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं चउरासीतिवाससहस्साइं, सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, सेत्तं थलयरचउप्पदसंमु०। से किं तं थलयरपरिसप्पसंमुच्छिमा?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—उरगपरिसप्पसंमुच्छिमा भुयगपरिसप्पसंमुच्छिमा। से किं तं उरगपरिसप्पसंमुच्छिमा?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—अही अयगरा आसालिया महोरगा। से किं तं अही?, अही दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—दव्वीकरा मउलिणो य। से किं तं दव्वीकरा?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—आसीविसा जाव से तं दव्वीकरा। से किं तं मउ-

लिणो?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—दिव्वा गोणसा जाव से तं मउलिणो, सेत्तं अही । से किं तं अयगरा?, २ एगागारा पण्णत्ता, से तं अयगरा । से किं तं आसालिया?, २ जहा पण्णवणाए, से तं आसालिया । से किं तं महोरगा?, २ जहा पण्णवणाए, से तं महोरगा । जे यावण्णे तहप्पगारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य तं चेव, णवरि सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्सऽसंखेज्ज० उक्कोसेणं जोयणपुहुत्तं, ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेवण्णं वाससहस्साइं, सेसं जहा जलयराणं, जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा, से तं उरगपरिसप्पा ॥ से किं तं भुयगपरिसप्पसंमुच्छिमथलयरा?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—गोहा णउला जाव जे यावन्ने तहप्पकारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जं उक्कोसेणं धणुपुहत्तं, ठिती उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं भुयपरिसप्पसंमुच्छिमा, से तं थलयरा ॥ से किं तं खहयरा?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी विततपक्खी । से किं तं चम्मपक्खी?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, तंजहा—वग्गुली जाव जे यावन्ने तहप्पगारा, से तं चम्मपक्खी । से किं तं लोमपक्खी?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—ढंका कंका जे यावन्ने तहप्पकारा, से

तं लोमपक्खी । से किं तं समुग्गपक्खी ?, २ एगागारा पण्णत्ता जहा पण्णवणाए, एवं विततपक्खी जाव जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, णाणत्तं सरीरोगाहणा जह० अंगु० असं० उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं ठिती उक्कोसेणं बावत्तरिं वाससहस्साइं, सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं खयरसंमुच्छिमतिरिक्खजोणिया, सेतं संमुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया ॥ (सू० ३६)

अथ के ते संमूर्च्छिमस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह—स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—चतुष्पदस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च परिसर्पस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च, तत्र चत्वारि पदानि येषां ते चतुष्पदाः—अश्वादयः ते च ते स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुष्पदस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, उरसा भुजाभ्यां वा परिसर्पन्तीति परिसर्पाः—अहिनकुलादयस्ततः पूर्ववत्समासः, चशब्दौ स्वस्वगतानेकभेदसूचकौ, तदेवानेकविधत्वं क्रमेण प्रतिपिपादयिषुराह—अथ के ते चतुष्पदस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह—चतुष्पदस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'जहा पण्णवणाए' इति, यथा प्रज्ञापनायां प्रज्ञापनाख्ये प्रथमे पदे भेदास्तथा वक्तव्या यावत् 'ते समासतो दुविहा पण्णत्ता' इत्यादि, ते चैवम्—"एगखुरा दुखुरा गंडीपया सणप्फया । से किं तं एगखुरा ?, एगखुरा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—अस्सा अस्सतरा घोडा गद्दभा गोरखुरा कंदलगा सिरिकंदलगा आवत्ता जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं एगखुरा । से किं तं दुखुरा ?, दुखुरा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—उट्टा गोणा गवया महिसा संवरा वराहा अजा एलगा रुरू सरभा चमरी कुरंगा गोक-

णमाई, सेत्तं दुखुरा । से किं तं गंडीपया ?, गंडीपया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—हत्थी हत्थिपूयणा मंकुणहत्थी खग्गा गंडा, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं गंडीपया । से किं तं सणप्फया ?, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—सीहा वग्घा दीविया अच्छा तरच्छा परस्सरा सीयाला सुणगा कोकंतिया ससगा चित्तगा चित्तलगा, जे यावण्णे तहप्पकारा ॥" इति, तत्र प्रतिपदमेकः खुरो येषां ते एकखुराः—अश्वादयः, प्रतिपादं द्वौ खुरौ—शफौ येषां ते द्विखुरा—उष्ट्रादयः, तथा च तेषामेकैकस्मिन् पादे द्वौ द्वौ शफौ दृश्येते, गण्डीव पदं येषां ते गण्डीपदाः—हस्त्यादयः, सनखानि—दीर्घनखपरिकलितानि पदानि येषां ते सनखपदाः—श्वादयः, प्राकृतत्वाच 'सणप्फया' इति सूत्रे निर्देशः, अश्वादयस्त्वेतद्भेदाः केचिदतिप्रसिद्धत्वात्स्वयमन्ये च लोकतो वेदितव्याः, नवरं सनखपदाधिकारे द्वीपकाः—चित्रका अच्छाः—ऋक्षाः परासराः—सरभाः कोकन्तिका—लोमटिकाः चित्ता चित्तलगा आरण्यजीवविशेषाः, शेषास्तु सिंहव्याघ्रतरक्षशृगालशुनककोलशुनशशकाः प्रतीताः, 'ते समासतो' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं शरीरादिद्वारकलापसूत्रं च जलचरवद्भावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उत्कृष्टा गव्यूतपृथक्त्वं स्थितिद्वारे जघन्यत. स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतश्चतुरशीति वर्षसहस्राणि, शेषं तथैव, उपसंहारमाह—'सेत्तं चउप्पयथलयरसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया' ॥ अथ के ते परिसर्पस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, २ द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'एवं भेदो भाणियव्वो' इति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण यथा प्रज्ञापनायां तथा भेदो वक्तव्यो यावत् 'पज्जत्ता य अपज्जत्ता य' स चैवम्—'तंजहा—उरपरिसप्पथलयरसंमुच्छिमपंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया य भुयपरिसप्पथलयरसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया य ।" सुगमं, नवरम् उरसा परिसर्पन्तीत्युरःपरिसर्पाः—सर्पादयः, भुजाभ्यां परिसर्पन्तीति भुजपरिसर्पा—नकुलादयः, शेषपदसमासः प्राग्वत्, "से किं तं उरपरिसप्पथलयरसंमुच्छिमपंचिंदियतिरि-

क्खजोणिया ?, उरपरिसप्पथलयरसंमुच्छिमपञ्चिंदियतिरिक्खजोणिया चउव्विहा पन्नत्ता, तंजहा—अही अयगरा आसालिया महोरगा। से किं तं अही ?, अही दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—दव्वीकरा य मउलिणो य। से किं तं दव्वीकरा ?, दव्वीकरा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा—आसीविसा दिट्ठीविसा उग्गविसा भोगविसा तयाविसा लालाविसा निस्सासविसा कण्हसप्पा सेयसप्पा काकोदरा दुब्भपुप्फा कोलाहा सेलेसिंदा, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं अही । से किं तं अयगरा ?, अयगरा एगागारा पन्नत्ता, सेत्तं अयगरा। से किं तं आसालिया ?, कहि णं भंते ! आसालिगा संमुच्छइ ?, गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु निव्वाघाएणं पन्नरससु कम्मभूमीसु, वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु चक्कवट्टिखंधावारेसु बलदेवखंधावारेसु वासुदेवखंधावारेसु मंडलियखंधावारेसु महामण्डलियखंधावारेसु गामनिवेसेसु नगरनिवेसेसु खेडनिवेसेसु कव्वड० मडंबनिवेसेसु दोणमुहनिवेसेसु पट्टणनिवेसेसु आगरनिवेसेसु आसमनिवेसेसु रायहाणिनिवेसेसु, एएसि णं चेव विणासेसु, एत्थ णं आसालिया संमुच्छइ, जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागमित्ताए ओगाहणाए, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं, तदाणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं भूमिं दालित्ता संमुच्छइ, असण्णी मिच्छदिट्ठी अन्नाणी अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करेइ, सेत्तं आसालिया। से किं तं महोरगा ?, महोरगा अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—अत्थेगइया अंगुलंपि अंगुलपुहुत्तियावि विहत्थिंपि विहत्थिपुहत्तियावि रयणिंपि रयणिपुहुत्तियावि कुच्छिंपि कुच्छिपुहत्तियावि धणुहंपि धणुहपुहत्तियावि गाउयंपि गाउयपुहत्तियावि जोयणंपि जोयणपुहत्तियावि जोयणसयंपि जोयणसयपुहत्तियावि, ते णं थले जाया जलेऽवि चरंति थलेऽवि चरंति, ते णत्थि इहं बाहिरएसु दीवसमुद्देसु हवंति, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं महोरगा।" इति। अस्य विषमपदव्याख्या—"'दव्वीकरा य मउलिणो य' इति, दर्व्वीव दर्वी—फणा तत्करणशीला दर्वीकराः, मुकुलं—फणाविरहयोग्या

शरीरावयवविशेषाकृतिः सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः—स्फटाकरणशक्तिविकला इत्यर्थः, अत्रापि चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ, 'आसीविसा' इत्यादि, आस्यो—दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आसीविषाः, उक्तं च—"आसी दाढा तग्गयविसाऽऽसीविसा मुणेयव्वा" इति, दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, उग्रं विषं येषां ते उग्रविषाः, भोगः—शरीरं तत्र सर्वत्र विषं येषां ते भोगविषाः, त्वचि विषं येषां ते त्वग्विषाः, प्राकृतत्वाच्च 'तयाविसा' इतिपाठः, लाला—मुखात् श्रावस्तत्र विषं येषां ते लालाविषाः, निश्वासे विषं येषां ते निश्वासविषाः कृष्णसर्पादयो जातिभेदा लोकतः प्रत्येतव्याः। 'से किं तं आसालिगा' इत्यादि, अथ का सा आसालिगा ?, एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सति सूत्रकृद् यदेवासालिकाप्रतिपादकं गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपं सूत्रमस्ति तदेवागमबहुमानतः पठति—'कहि णं भंते !' इत्यादि, क्व णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! परमकल्याणयोगिन्! आसालिगा संमूर्छति, एषा हि गर्भजा न भवति किन्तु संमूर्च्छिमैव तत उक्तं संमूर्छति, भगवानाह—गौतम! अन्तः—मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य न बहिः, एतावता मनुष्यक्षेत्राद्बहिरस्या उत्पादो न भवतीति प्रतिपादितं, तत्रापि मनुष्यक्षेत्रे सर्वत्र न भवति किन्तु अर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु, अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयाः, अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः तेषु, एतावता लवणसमुद्रे कालसमुद्रे वा न भवतीत्यावेदितं, 'निव्वाघातेन' व्याघातस्याभावो निर्व्याघातं तेन, यदि पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरावतेषु सुषमसुषमादिरूपोऽतिदुष्षमादिरूपश्च कालो व्याघातहेतुत्वाद् व्याघातो न भवति तदा पञ्चदशसु कर्मभूमिषु संमूर्च्छति, व्याघातं प्रतीत्य, किमुक्तं भवति ?—यदि पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरावतेषु यथोक्तरूपो व्याघातो भवति ततः पञ्चसु महाविदेहेषु संमूर्च्छति, एतावता त्रिंशत्यप्यकर्मभूमिषु नोपजायत इति प्रतिपादितं, पञ्चदशसु कर्मभूमिषु पञ्चसु महाविदेहेषु सर्वत्र न संमूर्च्छति किन्तु चक्रवर्त्तिस्कन्धावारेषु बलदेवस्कन्धावारेषु वासुदेवस्कन्धावारेषु माण्डलिकः—सामान्यराजाऽल्पर्द्धिकः,

महामाण्डलिकः स एवानेकदेशाधिपतिस्तत्स्कन्धावारेषु, ग्रामनिवेशेषु इत्यादि, ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति यदिवा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां कराणामिति ग्रामः, निगमः—प्रभूततरवणिग्वर्गावासः, पांसुप्राकारनिबद्धं खेटं, क्षुल्लप्राकारवेष्टितं कर्वटम्, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितं मडम्बं 'पट्टण'त्ति पट्टनं पत्तनं वा, उभयत्रापि प्राकृतत्वेन निर्देशस्य समानत्वात्, तत्र यन्नौभिरेव गम्यं तत्पट्टनं यत्पुनः शकटैर्घोटकैर्नौभिर्वा गम्यं तत्पत्तनं यथा भरुकच्छम्, उक्तं च—"पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च। नौभिरेव तु यद्गम्यं, पट्टनं तत्प्रचक्षते ॥ १ ॥" द्रोणमुखं—प्रायेण जलनिर्गमप्रवेशम्, आकरो—हिरण्याकरादिः आश्रमः—तापसावसथोपलक्षित आश्रयः, संबाधो—यात्रासमागतप्रभूतजननिवेशः, राजधानी—राजाधिष्ठानं नगरम्, 'एएसि ण' मित्यादि, एतेषां चक्रवर्त्तिस्कन्धावारादीनामेव विनाशेषूपस्थितेषु 'एत्थ णं'ति एतेषु चक्रवर्त्तिस्कन्धावारादिषु स्थानेष्वासालिका संमूर्च्छेति, सा च जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया समुत्तिष्ठतीति योगः, एतच्चोत्पादप्रथमसमये वेदितव्यम्, उत्कर्षतो द्वादश योजनानि—द्वादशयोजनप्रमाणयाऽवगाहनया 'तदनुरूपं' द्वादशयोजनप्रमाणदैर्घ्यानुरूपं 'विक्खंभबाहल्लेणं'ति विष्कम्भश्च बाहल्यं च विष्कम्भबाहल्यं, समाहारो द्वन्द्वः, तेन, विष्कम्भो—विस्तारो बाहल्यं च—स्थूलता, भूमिं 'दालित्ता णं' विदार्य समुत्तिष्ठति, चक्रवर्त्तिस्कन्धावारादीनामधस्ताद् भूमेरन्तरुत्पद्यत इति भावः, सा चासञ्ज्ञिनी—अमनस्का संमूर्च्छिमत्वात्, मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यक्त्वस्यापि तस्या असम्भवात्, अत एवाज्ञानिनी, अन्तर्मुहूर्त्तोद्धायुरेव कालं करोति। 'अत्थेगइया अंगुलंपी'त्यादि, अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनाभिधायी, ततोऽयमर्थः—सन्त्येकका: केचन महोरगा येऽङ्गुलमपि शरीरावगाहनया भवन्ति, इहाङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलमवसातव्यं, शरीरप्रमाणस्य चिन्त्यमानत्वात्, सन्त्येकका येऽङ्गुलपृथक्त्विका अपि—पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्य इति परिभाषा अङ्गुलपृथक्त्वं शरीरावगाहनमानमे-

पामस्तीत्यङ्गुलपृथक्त्विकाः, 'अतोऽनेकस्वरादि' तीकप्रत्ययः, एवं शेषसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं द्वादशाङ्गुलप्रमाणा वितस्तिः, द्विवितस्तिप्रमाणा रत्निर्हस्तः, कुक्षिर्द्विहस्तमाना, धनुर्हस्तचतुष्टयप्रमाणं, गव्यूतं द्विधनुःसहस्रप्रमाणं, चत्वारि गव्यूतानि योजनम्, एतच्चापि वितस्त्यादिकमुच्छ्रयाङ्गुलापेक्षया प्रतिपत्तव्यं, 'ते ण'मित्यादि, 'ते' अनन्तरोदितस्वरूपा महोरगाः स्थलचरविशेषत्वात् स्थले जायन्ते स्थले च जाताः सन्तो जलेऽपि स्थल इव चरन्ति स्थलेऽपि चरन्ति, तथास्वाभाव्यात्, यद्येवं ते कस्मादिह न दृश्यन्ते? इत्याशङ्कायामाह—'ते नत्थि इहं' इत्यादि, 'ते' यथोदितस्वरूपा महोरगाः 'इह' मानुषक्षेत्रे 'नत्थि'त्ति न सन्ति, किन्तु बाह्येषु द्वीपसमुद्रेषु भवन्ति, समुद्रेष्वपि च पर्वतदेवनगर्यादिषु स्थलेषूत्पद्यन्ते न जलेषु, तत इह न दृश्यन्ते । 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति, येऽपि चान्ये तथाप्रकारा अङ्गुलदशकादिशरीरावगाहमानास्तेऽपि महोरगा ज्ञातव्याः, उपसंहारमाह—'सेत्तं महोरगा, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' इति, येऽपि चान्ये तथाप्रकाराः उक्तरूपाद्यादिरूपास्ते सर्वेऽपि उरःपरिसर्पस्थलचरसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका द्रष्टव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं शरीरादिद्वारकदम्बकं च जलचरवद्भावनीयं, नवरमवगाहना जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणा उत्कर्षतो योजनपृथक्त्वं, स्थितिद्वारे जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रिपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि, शेषं तथैव ॥ भुजपरिसर्पप्रतिपादनार्थमाह—'से किं त'मित्यादि, अथ के ते भुजपरिसर्पसंमूर्च्छिमस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः?, सूरिराह—भुजपरिसर्पसंमूर्च्छिमस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः, 'तह चेव भेओ भाणियव्वो' इति, यथा प्रज्ञापनायां तथैव भेदो वक्तव्यः, स चैवम्—"तंजहा—गोहा नउला सरडा सल्ला सरंठा सारा खारा घरोलिया विस्संभरा मंसा मंगुसा पयलाया छीरविरालिया जाहा चउप्पाइया" एते देशविशेषतो वेदितव्याः, 'जे यावण्णे तहप्पगारा' येऽपि चान्ये 'तथाप्रकाराः' उक्तप्रकारा गोधा-

दिस्वरूपास्ते सर्वे भुजपरिसर्पा अवसातव्याः, 'ते समासतो' इत्यादि सूत्रकदम्बकं प्राग्वद्भावनीयं, नवरमवगाहना जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उत्कर्षतो धनुःपृथक्त्वं, स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि, शेषं जलचरवद्द्रष्टव्यम्, उपसंहारमाह—'सेत्त'मित्यादि सुगमम् ॥ खचरप्रतिपादनार्थमाह—अथ के ते संमूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः?, सूरिराह—संमूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'भेदो जहा पण्णवणाए' इति, भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः, स चैवम्—"चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी विततपक्खी। से किं तं चम्मपक्खी!, २ अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—वग्गुली जलोया अडिला भारुंडपक्खी जीवंजीवा समुद्दवायसा कण्णत्तिया पक्खिविराली, जे यावण्णे तहप्पगारा, से त्तं चम्मपक्खी। से किं तं लोमपक्खी?, लोमपक्खी अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा—ढङ्का कंका कुरला वायसा चक्कवागा हंसा कलहंसा पोयहंसा रायहंसा अडा सेडीवडा वेलागया कोंचा सारसा मेसरा मयूरा सेयवगा गहरा पोंडरीया कामा कामेयगा वंजुलागा तित्तिरा वट्टगा लावगा कपोया कपिंजला पारेवया चिडगा वीसा कुक्कुडा सुगा वरहिगा मयणसलागा कोकिला सण्हावरण्णगमादी, से त्तं लोमपक्खी। से किं तं समुग्गपक्खी?, समुग्गपक्खी एगागारा पण्णत्ता, ते णं नत्थि इहं, बाहिरएसु दीवसमुद्देसु हवंति, से त्तं समुग्गपक्खी। से किं तं विततपक्खी?, विततपक्खी एगागारा पण्णत्ता, ते णं नत्थि इहं, बाहिरएसु दीवसमुद्देसु भवंति, से त्तं विततपक्खी" इति पाठसिद्धं नवरं 'चम्मपक्खी' इत्यादि, चर्मरूपौ पक्षौ चर्मपक्षौ तौ विद्येते येषां ते चर्मपक्षिणः, लोमात्मकौ पक्षौ लोमपक्षौ तौ विद्येते येषां ते लोमपक्षिणः, तथा गच्छतामपि समुद्गवत्स्थितौ पक्षौ समुद्गकपक्षौ तद्वन्तः समुद्गकपक्षिणः, विततौ—नित्यमनाकुञ्चितौ पक्षौ विततपक्षौ तद्वन्तो विततपक्षिणः 'ते समासतो' इत्यादि सूत्रकदम्बकं जलचरवद्भावनीयं, नवरमवगाहना उत्क-

र्षतो धनुःपृथक्त्वं, स्थितिरुत्कर्षतो द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि। तथा चात्र कचित्पुस्तकान्तरेऽवगाहनास्थित्योर्यथाक्रमं सङ्ग्रहणिगाथे—"जोयणसहस्सगाउयपुहुत्त तत्तो य जोयणपुहुत्तं। दोण्हंपि धणुपुहुत्तं संमुच्छिमवियगपक्खीणं ॥ १ ॥ संमुच्छ पुव्वकोडी चउरासीई भवे सहस्साइं। तेवण्णा बायाला बावत्तरिमेव पक्खीणं ॥ २ ॥" व्याख्या—संमूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कृष्टाऽवगाहना योजनसहस्रं, चतुष्पदानां गव्यूतपृथक्त्वम्, उरःपरिसर्पाणां योजनपृथक्त्वं। 'दोण्हं तु'इत्यादि, द्वयानां संमूर्च्छिमभुजगपक्षिणां—संमूर्च्छिमभुजगपरिसर्पपक्षिरूपाणां प्रत्येकं धनुःपृथक्त्वं, तथा संमूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटी चतुष्पदानां चतुरशीतिर्वर्षसहस्राणि, उरःपरिसर्पाणां त्रिपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि, भुजपरिसर्पाणां द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि, पक्षिणां द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि, उपसंहारमाह—'सेत्तं संमुच्छिमखहयरपञ्चिंदियतिरिक्खजोणिया' ॥ उक्ताः संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनयः, सम्प्रति गर्भव्युत्क्रान्तिकान् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाह—

से किं तं गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया ?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरा थलयरा खहयरा ॥ (सू० ३७)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह—गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—जलचराः स्थलचराः खचराश्च। तत्र जलचरप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं जलयरा ?, जलयरा पंचविधा पण्णत्ता, तंजहा—मच्छा कच्छभा मगरा गाहा सुंसुमारा,

सव्वेसिं भेदो भाणितव्वो तहेव जहा पण्णवणाए, जाव जे यावण्णे तहप्पकारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि सरीरगा पन्नत्ता, तंजहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए, सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्ज० उक्कोसेणं जोयणसहस्सं छव्विहसंघयणी पण्णत्ता, तंजहा—वइरोसभनारायसंघयणी उसभनारायसंघयणी नारायसंघयणी अद्धनारायसंघयणी कीलियासंघयणी सेवट्टसंघयणी, छव्विहा संठिता पण्णत्ता, तंजहा—समचउरंससंठिता णग्गोधपरिमंडल० साति० खुज्ज० वामण० हुंड०, कसाया सव्वे सण्णाओ ४ लेसाओ ६ पंच इंदिया पंच समुग्घाता आदिल्ला सण्णी नो असण्णी तिविधवेदा छप्पज्जत्तीओ छअपज्जत्तीओ दिट्ठी तिविधावि तिण्णि दंसणा णाणीवि अण्णाणीवि जे णाणी ते अत्थेगतिया दुणाणी अत्थेगतिया तिन्नाणी, जे दुन्नाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी य सुतणाणी य, जे तिन्नाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी सुत० ओहिणाणी, एवं अण्णाणीवि, जोगे तिविहे उवओगे दुविधे आहारो छद्दिसिं उववातो नेरइएहिं जाव अहे सत्तमा तिरिक्खजोणिएसु सव्वेसु असंखेज्जवासाउयवज्जेसु मणुस्सेसु अकम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउयवज्जेसु देवेसु जाव सहस्सारो, ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, दुविधावि मरंति, अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु जाव अहे

सत्तमा तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु सव्वेसु देवेसु जाव सहस्सारो, चउगतिया चउआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं जलयरा ॥ (सू० ३८)

'भेदो भाणियव्वो तहेव जहा पण्णवणाए' इति भेदस्तथैव मत्स्यादीनां वक्तव्यो यथा प्रज्ञापनायां, स च प्रागेवोपदर्शितः, 'ते समासतो' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं पाठसिद्धं, शरीरादिद्वारकदम्बकसूत्रं संमूर्च्छिमजलचरवद्भावनीयं, नवरमत्र शरीरद्वारे चत्वारि शरीराणि वक्तव्यानि, गर्भव्युत्क्रान्तिकानां तेषां वैक्रियस्यापि सम्भवात्, अवगाहनाद्वारे उत्कर्षतोऽवगाहना योजनसहस्रम् । संहननचिन्तायां षडपि संहननानि, तत्स्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथाद्वयम्—"वज्जरिसहनारायं पढमं वीयं च रिसहनारायं । नारायमद्धनाराय कीलिया तह य छेवट्ठं ॥ १ ॥ रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया मुणेयव्वा । उभयो मक्कडबंधो नारायं तं वियाणाहि ॥ २ ॥" संस्थानचिन्तायां षडपि संस्थानानि, तान्यमूनि—समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं हुण्डमिति, तत्र समाः—सामुद्रिकशास्त्रोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयः—चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवा यत्र तत्समचतुरस्रं, समासान्तोऽत्प्रत्ययः, अत एवैतदन्यत्र तुल्यमिति व्यवह्रियते, तथा न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य, यथा न्यग्रोध उपरि संपूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः तथा यत्संस्थानं नाभेरुपरि संपूर्णमधस्तु न तथा तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम्, उपरि विस्तारबहुलमिति भावः, तथाऽऽदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते, ततः सह आदिना—नाभेरधस्तनभागेन यथोक्तप्रमाणलक्षणेन वर्त्तत इति सादि, उत्सेधबहुलमिति भावः, इह यद्यपि

१ वज्रर्षभनाराचं प्रथमं द्वितीयं च ऋषभनाराचम् । नाराचमर्धनाराचं कीलिका तथा च सेवार्त्तम् ॥ १ ॥ ऋषभश्च भवति पट्ट वज्रं पुनः कीलिका ज्ञातव्या । उभयतो मर्कटबन्धो नाराचं तत् विजानीहि ॥ २ ॥

सर्वं शरीरमादिना सह वर्त्तते तथाऽपि सादित्वविशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या विशिष्ट एव प्रमाणलक्षणोपपन्न आदिरिह लभ्यते, तत उक्तम्—उत्सेधबहुलमिति, इदमुक्तं भवति—यत्संस्थानं नाभेरधः प्रमाणोपपन्नमुपरि च हीनं तत्सादीति, अपरे तु साचीति पठन्ति, तत्र साचीति प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते, ततः साचीव यत्संस्थानं, यथा शाल्मलीतरोः स्कन्धकाण्डमतिपुष्टमुपरि च न तदनुरूपा महाविशालता तद्वदस्यापि संस्थानस्याधोभागः परिपूर्णो भवति उपरितनभागस्तु नेति, तथा यत्र शिरोग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं उरउदरादि च मण्डलं तत्कुब्जं संस्थानं, यत्र पुनरुदरादि प्रमाणलक्षणोपेतं हस्तपादादिकं च हीनं तद्वामनं, यत्र सर्वेऽप्यवयवाः प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तत् हुण्डम्, उक्तञ्च—"समचउरंसे नग्गोहमंडले साइ खुज्ज वामणए । हुंडेवि य संठाणे जीवाणं छम्मुणेयव्वा ॥ १ ॥ तुलं वित्थडबहुलं उस्सेहबहुं च मडहकोट्ठं च । हेट्ठिल्लकायमडहं सव्वत्थासंठियं हुंडं ॥ २ ॥" लेश्याद्वारे षडपि लेश्याः, शुक्ललेश्याया अपि सम्भवात्, समुद्घाताः पञ्च, वैक्रियसमुद्घातस्यापि सम्भवात्, सञ्ज्ञिद्वारे सञ्ज्ञिनो नो असञ्ज्ञिनः, वेदद्वारे त्रिविधवेदा अपि, स्त्रीपुरुषयोर्वेदयोरप्यमीषां भावात्, पर्याप्तिद्वारे पञ्च पर्याप्तयो, भाषामनःपर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्षणात्, अपर्याप्तिचिन्तायां पञ्चापर्याप्तयः, दृष्टिद्वारे त्रिविधदृष्टयोऽपि, तद्यथा—मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च, दर्शनद्वारे त्रिविधदर्शना अपि, अवधिदर्शनस्यापि केषाञ्चिद्भावात्, ज्ञानद्वारे त्रिज्ञानिनोऽपि, अवधिज्ञानस्यापि केषाञ्चिद्भावात्, अज्ञानचिन्तायामज्ञानिनोऽपि, विभङ्गस्यापि केषाञ्चित्सम्भवात्, अवधिविभङ्गौ च सम्यग्मिथ्यादृष्टिभेदेन प्रतिपत्तव्यौ, उक्तञ्च—"स-

---

१ समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि कुब्जं वामनम् । हुण्डमपि च सस्थानं जीवाना षड् ज्ञातव्यानि ॥ १ ॥ तुल्यं वहुविस्तारं उत्सेधवहुलं च मडभकोष्ठं च । अधस्तनकायमडभं सर्वत्रासंस्थितं हुण्डम् ॥ २ ॥

म्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः" इति, उपपातद्वारे उपपातो नैरयिकेभ्यः सप्तपृथ्वीभाविभ्योऽपि, तिर्यग्योनिकेभ्योऽप्यसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जेभ्यः सर्वेभ्योऽपि, मनुष्येभ्योऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपजासङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जकर्मभूमिभ्यो, देवेभ्योऽपि यावत्सहस्रारात्, परतः प्रतिषेधः, स्थितिद्वारे जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, च्यवनद्वारेऽनन्तरमुद्धृत्य सहस्रारात्परे ये देवास्तान् वर्जयित्वा शेषेषु सर्वेष्वपि जीवस्थानेषु गच्छन्ति, अत एव गत्यागतिद्वारे चतुरागतिकाश्चतुर्गतिकाः, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः, हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, उपसंहारमाह—'सेत्तं जलयरा गब्भवक्कंतियपञ्चिंदियतिरिक्खजोणिया' ॥ सम्प्रति स्थलचरप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं थलयरा?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—चउप्पदा य परिसप्पा य। से किं तं चउप्पया?, २ चउव्विधा पण्णत्ता, तंजहा—एगक्खुरा सो चेव भेदो जाव जे यावन्ने तहप्पकारा ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, चत्तारि सरीरा ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्ज० उक्कोसेणं छ गाउयाइं, ठिती उक्कोसेणं तिन्नि पलिओमाइं नवरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु चउत्थपुढविं गच्छंति, सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया चउआगतिया परित्ता असंखिज्जा पण्णत्ता, से तं चउप्पया। से किं तं परिसप्पा?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—उरपरिसप्पा य भुयगपरिसप्पा य, से किं तं उरपरिसप्पा?, २ तहेव आसालियवज्जो भेदो भाणियव्वो, (तिण्णि) सरीरा, ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखे० उक्कोसेणं जोयणसहस्सं, ठिती जहन्नेणं

अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी उव्वट्टित्ता नेरइएसु जाव पंचमं पुढविं ताव गच्छंति, तिरिक्खमणुस्सेसु सव्वेसु, देवेसु जाव सहस्सारा, सेसं जहा जलयराणं जाव चउगतिया चउआगइया परित्ता असंखेज्जा से तं उरपरिसप्पा। से किं तं भुयगपरिसप्पा?, २ भेदो तहेव, चत्तारि सरीरगा ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलासंखे० उक्कोसेणं गाउयपुहुत्तं ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, सेसेसु ठाणेसु जहा उरपरिसप्पा, णवरं दोच्चं पुढविं गच्छंति, से तं भुयपरिसप्पा पण्णत्ता, से तं थलयरा ॥ (सू० ३९)। से किं तं खहयरा?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—चम्मपक्खी तहेव भेदो, ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखे० उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागो, सेसं जहा जलयराणं, नवरं जाव तच्चं पुढविं गच्छंति जाव से तं खहयरगब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया, से तं तिरिक्खजोणिया ॥ (सू० ४०)

स्थलचरगर्भव्युत्क्रान्तिकानां भेदोपदर्शकं सूत्रं यथा संमूर्च्छिमस्थलचराणां, नवरमत्रासालिका न वक्तव्या, सा हि संमूर्च्छिमैव न गर्भव्युत्क्रान्तिका, तथा महोरगसूत्रे "जोयणसयंपि जोयणसयपुहुत्तियावि जोयणसहस्संपि" इत्येतदधिकं वक्तव्यं, शरीरादिद्वारकदम्बकसूत्रं तु सर्वत्रापि गर्भव्युत्क्रान्तिकजलचराणामिव, नवरमवगाहनास्थित्युद्वर्त्तनासु नानात्वं, तत्र चतुष्पदानामुत्कृष्टाऽवगाहना षड् गव्यूतानि, स्थितिरुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, उद्वर्त्तना चतुर्थपृथिव्या आरभ्य यावत्सहस्रारः, एतेषु सर्वेष्वपि जीवस्थानेष्वनन्तरमुद्वृत्त्योत्पद्यन्ते, उरःपरिसर्पाणामुत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं, स्थितिरुत्कर्षतः पूर्वकोटी, उद्वर्त्तना पञ्चमपृथिव्या आरभ्य यावत्सह-

स्रारः, अत्रान्तरे सर्वेषु जीवस्थानेष्वनन्तरमुद्धृत्योत्पद्यन्ते । भुजपरिसर्पाणामुत्कृष्टाऽवगाहना गव्यूतपृथक्त्वं, स्थितिरुत्कर्षतः पूर्वकोटी, उद्वर्त्तनाचिन्तायां द्वितीयपृथिव्या आरभ्य यावत्सहस्रारः, अत्रान्तरे सर्वेषु जीवस्थानेषूत्पादः ॥ खचरगर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियभेदो यथा संमूर्च्छिमखचराणां, शरीरादिद्वारकलापचिन्तनं गर्भव्युत्क्रान्तिकजलचरवत्, नवरमवगाहनास्थित्युद्वर्त्तनासु नानात्वं, तत्रोत्कर्षतोऽवगाहना धनुष्पृथक्त्वं, जघन्यतः सर्वत्राप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणा, स्थितिरपि जघन्यतः सर्वत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽत्र पल्योपमासङ्ख्येयभागः, उद्वर्त्तना तृतीयपृथिव्या आरभ्य यावत्सहस्रारः, अत्रान्तरे सर्वेषु जीवस्थानेषूत्पादः, क्वचित्पुस्तकान्तरेऽवगाहनास्थित्योर्यथाक्रमं सङ्ग्रहणिगाथे—"जोयणसहस्स छग्गाउयाइं तत्तो य जोयणसहस्सं । गाउयपुहुत्त भुयगे धणुयपुहुत्तं च पक्खीसु ॥ १ ॥ गब्भंमि पुव्वकोडी तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं । उरभुयग पुव्वकोडी पलियअसंखेज्जभागो य ॥ २ ॥" अनयोर्व्याख्या—गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव जलचराणामुत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं, चतुष्पदानां षड् गव्यूतानि, उरःपरिसर्पाणां योजनसहस्रं, भुजपरिसर्पाणां गव्यूतपृथक्त्वं, पक्षिणां धनुष्पृथक्त्वं । तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकानामेव जलचराणामुत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटी, चतुष्पदानां त्रीणि पल्योपमानि, उरगाणां भुजगानां च पूर्वकोटी, पक्षिणां पल्योपमासङ्ख्येयभाग इति ॥ उत्पादविधिस्तु नरकेष्वस्माद्गाथाद्वयादवसेयः—"[1]अस्सण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसवा तइय पक्खी । सीहा जंति चउत्थि उरगा पुण पंचमिं पुढविं ॥ १ ॥ छट्ठिं च इत्थियाउ मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं । एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥ २ ॥" उक्ताः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, सम्प्रति मनुष्यप्रतिपादनार्थमाह—

---

१ असंज्ञिन. खलु प्रथमां द्वितीयां च सरीसृपास्तृतीया पक्षिण । सिंहा यान्ति चतुर्थीमुरगा. पुन. पञ्चमीं पृथ्वीम् ॥ १ ॥ षष्ठीं च स्त्रिय मत्स्या मनुष्याश्च सप्तमीं पृथ्वीं यावत् । एष परम उत्पातो वोद्धव्यो नारकपृथ्वीषु ॥ २ ॥

से किं तं मणुस्सा?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य॥ कहि णं भंते! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति?, गोयमा! अंतो मणुस्सखेत्ते जाव करेंति। तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरगा पण्णत्ता?, गोयमा! तिन्नि सरीरगा पन्नत्ता, तंजहा—ओरालिए तेयए कम्मए, सेतं संमुच्छिममणुस्सा। से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—कम्मभूमया अकम्मभूमगा अंतरदीवजा, एवं माणुस्सभेदो भाणियव्वो जहा पण्णवणाए तहा णिरवसेसं भाणियव्वं जाव छउमत्था य केवली य, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य। तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीरा प०?, गोयमा! पंच सरीरया, तंजहा—ओरालिए जाव कम्मए। सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलअसंखेज्ज० उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं छच्चेव संघयणा छस्संठाणा। ते णं भंते! जीवा किं कोहकसाई जाव लोभकसाई अकसाई?, गोयमा! सव्वेवि। ते णं भंते! जीवा किं आहारसन्नोवउत्ता० लोभसन्नोवउत्ता नोसन्नोवउत्ता?, गोयमा! सव्वेवि। ते णं भंते! जीवा किं कण्हलेसा य जाव अलेसा?, गोयमा! सव्वेवि। सोइंदियोवउत्ता जाव नोइंदियोवउत्तावि, सव्वे समुग्घाता, तंजहा—वेयणासमुग्घाते जाव केवलिसमुग्घाए, सन्नीवि नोसन्नी असन्नीवि, इत्थिवेयावि जाव अवेदावि, पंच पज्जत्ती, तिविहावि दिट्ठी, चत्तारि दंसणा, णाणीवि अण्णाणीवि, जे णाणी ते अत्थेगतिया दुणाणी

अत्थेगतिया तिणाणी अत्थेगइया चउणाणी अत्थेगतिया एगणाणी, जे दुण्णाणी ते नियमा आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी य, जे तिणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी ओहिणाणी य, अहवा आभिणिबोहियणाणी सुयनाणी मणपज्जवणाणी य, जे चउणाणी ते णियमा आभिणिबोहियणाणी सुत० ओहि० मणपज्जवणाणी य, जे एगणाणी ते नियमा केवलनाणी, एवं अन्नाणीवि दुअन्नाणी तिअण्णाणी, मणजोगीवि वइकायजोगीवि अजोगीवि, दुविहउवओगे, आहारो छद्दिसिं, उववातो नेरइएहिं अहे सत्तमवज्जेहिं तिरिक्खजोणिएहिंतो, उववाओ असंखेज्जवासाउयवज्जेहिं मणुएहिं अकम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउयवज्जेहिं, देवेहिं सव्वेहिं, ठिती जहन्नेणं अतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं, दुविधावि मरंति, उव्वट्टित्ता नेरइयादिसु जाव अणुत्तरोववाइएसु, अत्थेगतिया सिज्झंति जाव अंतं करेंति। ते णं भंते! जीवा कतिगतिया कइआगइया पण्णत्ता?, गोयमा! पंचगतिया चउआगतिया परित्ता संखिज्जा पण्णत्ता, सेत्तं मणुस्सा॥ (सू० ४१)

अथ के ते मनुष्याः?, सूरिराह—मनुष्या द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—संमूर्च्छिममनुष्याश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याश्च, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ। तत्र संमूर्च्छिममनुष्यप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! संमूर्च्छिममनुष्याः संमूर्च्छन्ति?, भगवानाह—गौतम! 'अंतो मणुस्सखेत्ते जाव करेंति' इति, अत्र यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठः—"अंतो मणुस्सखेत्ते पणयाली-

साए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा कगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु, एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छादिट्ठी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति" एतच्च निगदसिद्धम् ॥ सम्प्रति शरीरादिद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'तेसि णं भंते!' शरीराणि त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि, अवगाहना जघन्यत उत्कर्षतश्चाङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणा, संहननसंस्थानकषायलेश्याद्वाराणि यथा द्वीन्द्रियाणां, इन्द्रियद्वारे पञ्चेन्द्रियाणि, सञ्ज्ञिद्वारवेदद्वारे अपि द्वीन्द्रियवत्, पर्याप्तिद्वारेऽपर्याप्तयः पञ्च, दृष्टिदर्शनज्ञानयोगोपयोगद्वाराणि (यथा) पृथिवीकायिकानां, आहारो यथा द्वीन्द्रियाणां, उपपातो नैरयिकदेवतेजोवाय्वसङ्ख्यातवर्षायुष्कवर्जेभ्यः, स्थितिर्जघन्यत उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टमधिकं वेदितव्यं, मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता अपि म्रियन्ते असमवहताश्च, अनन्तरमुद्धृत्य नैरयिकदेवासङ्ख्येयवर्षायुष्कवर्जेषु शेषेपु स्थानेषूत्पद्यन्ते, अत एव गत्यागतिद्वारे द्व्यागतिका द्विगतिकास्तिर्यग्मनुष्यगत्यपेक्षया, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः, हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, उपसंहारमाह—'सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा'॥ उक्ताः संमूर्च्छिममनुष्याः, अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यानाह—अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याः?, सूरिराह—गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कर्मभूमका अकर्मभूमका अन्तरद्वीपजाः, तत्र कर्म—कृषिवाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा कर्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमाः आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः, कर्मभूमा एव कर्मभूमकाः, एवमकर्मा—यथोक्तकर्मविकला भूमिर्येषां तेऽ-

कर्मभूमास्त एवाकर्मभूमकाः, अन्तरशब्दो मध्यवाची, अन्तरे—लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपास्तद्गता अन्तरद्वीपगाः, **'एवं माणुस्सभेयो भाणियव्वो जहा पण्णवणाए'** इति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण मनुष्यभेदो भणितव्यो यथा प्रज्ञापनायां, स चातिबहुग्रन्थ इति तत एव परिभावनीयः, **'ते समासतो'** इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तसूत्रं पाठसिद्धं, शरीरादिद्वारकलापचिन्तायां शरीरद्वारे पञ्च शरीराणि, तद्यथा—औदारिकं वैक्रियमाहारकं तैजसं कार्मणं च, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्, अवगाहनाद्वारे जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा उत्कर्षतस्त्रीणि गव्यूतानि, संहननद्वारे षडपि संहननानि, संस्थानद्वारे षडपि संस्थानानि, कषायद्वारे क्रोधकषायिणोऽपि मानकषायिणोऽपि मायाकषायिणोऽपि लोभकषायिणोऽपि अकषायिणोऽपि, वीतरागमनुष्याणामकषायित्वात्, सञ्ज्ञाद्वारे आहारसञ्ज्ञोपयुक्ता भयसञ्ज्ञोपयुक्ता मैथुनसञ्ज्ञोपयुक्ता लोभसञ्ज्ञोपयुक्ताः, नोसंज्ञोपयुक्ताश्च निश्चयतो वीतरागमनुष्याः, व्यवहारतः सर्वे एव चारित्रिणो, लोकोत्तरचित्तलाभात्तस्य सञ्ज्ञादशकेनापि विप्रयुक्तत्वात्, उक्तञ्च—"निर्वाणसाधकं सर्वं, ज्ञेयं लोकोत्तराश्रयम्। सञ्ज्ञा लोकाश्रया सर्वाः, भवाङ्कुरजलं परम् ॥ १ ॥" लेश्याद्वारे कृष्णलेश्या नीललेश्याः कापोतलेश्यास्तेजोलेश्याः पद्मलेश्याः शुक्ललेश्या अलेश्याश्च, तत्रालेश्याः परमशुक्लध्यायिनोऽयोगिकेवलिनः । इन्द्रियद्वारे श्रोत्रेन्द्रियोपयुक्ता यावत्स्पर्शनेन्द्रियोपयुक्ता नोइन्द्रियोपयुक्ताश्च, तत्र नोइन्द्रियोपयुक्ताः केवलिनः, समुद्घातद्वारे सप्तापि समुद्घाताः, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात्, समुद्घातसङ्ग्राहिका चेमा गाथा—"वेयणकसायमरणंतिए य वेउव्विए य आहारे। केवलियसमुग्घाए सत्त समुग्घा इमे भणिया ॥ १ ॥" सञ्ज्ञिद्वारे सञ्ज्ञिनोऽपि नोसञ्ज्ञिनोअसञ्ज्ञिनोऽपि, तत्र नोसञ्ज्ञिनोअसञ्ज्ञिनः केवलिनः । वेदद्वारे स्त्रीवेदा अपि पुरुषवेदा अपि नपुंसकवेदा

१ वेदनः कषाय मारणान्तिकश्च वैक्रियिकश्चाहारक । कैवलिकः समुद्घात. सप्त समुद्घाता इमे भणिता ॥ १ ॥

अपि अवेदाः—सूक्ष्मसम्परायादयः, पर्याप्तिद्वारे पञ्च पर्याप्तयः पञ्चापर्याप्तयः, भाषामनःपर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्षणात्, दृष्टिद्वारे त्रिविधदृष्टयः, तद्यथा—केचिन्मिथ्यादृष्टयः केचित्सम्यग्दृष्टयः केचित्सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, दर्शनद्वारे चतुर्विधदर्शनाः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शना अचक्षुर्दर्शना अवधिदर्शनाः केवलदर्शनाः, ज्ञानद्वारे ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र मिथ्यादृष्टयोऽज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयो ज्ञानिनः, 'नाणाणि पंच तिण्णि अण्णाणाणि भयणाते' इति, ज्ञानानि पञ्च मतिज्ञानादीनि, अज्ञानानि त्रीणि मत्यज्ञानादीनि, तानि भजनया वक्तव्यानि, सा च भजना एवम्—केचिद्द्विज्ञानिनः केचित्त्रिज्ञानिनः केचिच्चतुर्ज्ञानिनः केचिदेकज्ञानिनः, तत्र ये द्विज्ञानिनस्ते नियमादाभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च, ये त्रिज्ञानिनस्ते मतिज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, अथवाऽऽभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्च, अवधिज्ञानमन्तरेणापि मनःपर्यवज्ञानस्य सम्भवात्, **सिद्धप्राभृतादौ** तथाऽनेकशोऽभिधानात्, ये चतुर्ज्ञानिनस्ते आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्च, ये एकज्ञानिनस्ते केवलज्ञानिनः, केवलज्ञानसद्भावे शेषज्ञानापगमात्, "नट्ठंमि उ छाउमत्थिए नाणे"[1] इति वचनात्, ननु केवलज्ञानप्रादुर्भावे कथं शेषज्ञानापगमः?, यावता यानि शेषाणि मत्यादीनि ज्ञानानि स्वस्वावरणक्षयोपशमेन जायन्ते ततो निर्मूलस्वस्वावरणविलये तानि सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, उक्तञ्च—"आवरणदेसविगमे जाइं विज्जंति मइसुयाईणि। आवरणसव्वविगमे कह ताइं न होंति जीवस्स? ॥ १ ॥"[2] उच्यते, इह यथा जात्यस्य मरकतादिमणेर्मलोपदिग्धस्य यावन्नाद्यापि समूलमलापगमस्तावद् यथा यथा देशतो मलविलयस्तथा तथा देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिद्भवतीत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालकलाकलापावलम्बिनिखिलपदार्थसार्थपरिच्छेदकरणैकपार-

---

१ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने. २ आवरणदेशविगमे यदि तानि भवन्ति मतिश्रुतादीनि। सर्वावरणविगमे कथं तानि न भवन्ति जीवस्य? ॥ १ ॥

माथिकस्वरूपस्याप्यावरणमलपटलतिरोहितस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्ममलापगमस्तावद् यथा यथा देशतः कर्ममलोच्छेदस्तथा तथा तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा च कचित्कदाचित्कथञ्चिदनेकप्रकारा, उक्तञ्च—“मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः । कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥ १ ॥” सा चानेकप्रकारता मतिश्रुतादिभेदेनावसेया, ततो यथा मरकतादिमणेरशेषमलापगमसम्भवे समस्तास्पष्टदेशव्यक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाभिव्यक्तिरुपजायते तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रप्रभावतो निःशेषावरणप्रहाणावशेषदेशज्ञानव्यवच्छेदेनैकरूपाऽतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायप्रपञ्चसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति, उक्तञ्च—“यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः । स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः ॥ १ ॥” इति, येऽज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनो वा, तत्र ये द्व्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनः, ये त्र्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च । योगद्वारे मनोयोगिनो वाग्योगिनः काययोगिनोऽयोगिनश्च, तत्रायोगिनः शैलेशीमवस्थां प्रतिपन्नाः, उपयोगद्वारमाहारद्वारं च द्वीन्द्रियवत्, उपपात एतेष्वधःसप्तमनरकादिवर्जेभ्यः, उक्तञ्च—“[1]सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । नवि पावे माणुस्सं तहेवऽसंखाउया सव्वे ॥ १ ॥” इति, स्थितिद्वारे जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, समुद्घातमधिकृत्य मरणचिन्तायां समवहता अपि म्रियन्ते असमवहता अपि, च्यवनद्वारेऽनन्तरमुद्वृत्य सर्वेषु नैरयिकेषु सर्वेषु च तिर्यग्योनिषु सर्वेषु मनुष्येषु सर्वेषु देवेष्वनुत्तरोपपातिकपर्यवसानेषु गच्छन्ति, 'अत्थेगइया सिज्झंति जाव अंतं करेंति' इति, अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनार्थः, सन्त्येकका ये निष्ठितार्थाः भवन्ति यावत्करणात् “बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंती”ति द्रष्टव्यं, तत्राणिमाद्यैश्वर्योत्या तथाविधमनुष्यकृत्यापेक्षया निष्ठितार्था इति, अ-

१ सप्तममहीनैरयिका तेजस्कायिका वायुकायिका अनन्तरोद्वृत्ता । नैव प्राप्नुवन्ति मानुष्यं तथैवासंख्येयवर्षायुष्का. सर्वे ॥ १ ॥

सर्वविदोऽपि कैश्चित्सिद्धा इष्यन्ते ततो मा भूत्तेषु संप्रत्यय इति तदपोहायाह—'बुध्यन्ते' निरावरणत्वात्केवलावबोधेन समस्तं वस्तुजातम्, एते चासिद्धा अपि भवस्थकेवलिन एवंभूता वर्त्तन्ते तत्र मा भूदेतेष्वेव प्रतीतिरित्याह—'मुच्यन्ते' पुण्यापुण्यरूपेण कृच्छ्रेण कर्मणा, एतेऽपि चापरिनिर्वृत्ता एव परैरिष्यन्ते—'मुक्तिपदे प्राप्ता अपि तीर्थनिकारदर्शनादिहागच्छन्ती'ति वचनात्, ततो मा भूत्तद्गोचरा मन्दमतीनां धीरित्याह—'परिनिर्वान्ति' विध्यातसमस्तकर्महुतवहपरमाणवो भवन्तीति, किमुक्तं भवति?—सर्वदुःखानां शारीरमानसभेदानामन्तं—विनाशं कुर्वन्ति, अत एव गत्यागतिद्वारे चतुरागतिकाः पञ्चगतिकाः, सिद्धगतावपि गमनात्, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणः 'सङ्ख्येयाः' सङ्ख्येयकोटीप्रमाणत्वात् प्रज्ञप्ताः, हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, उपसंहारमाह—'सेत्तं मणुस्सा' ॥ अधुना देवानाह—

से किं तं देवा?, देवा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—भवणवासी वाणमंतरा जोइसिया वेमाणिया। से किं तं भवणवासी?, २ दसविधा पण्णत्ता, तंजहा—असुरा जाव थणिया, से तं भवणवासी। से किं तं वाणमंतरा?, २ देवभेदो सव्वो भाणियव्वो जाव ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य, तओ सरीरगा—वेउव्विए तेयए कम्मए। ओगाहणा दुविधा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ, उत्तरवेउव्विया जहन्नेणं अंगुलसंखेज्जति० उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं, सरीरगा छण्हं संघयणाणं असंघयणी णेवट्ठी णेव छिरा णेव ण्हारू नेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति, किंसंठिता?, गोयमा! दुविहा प-

पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते णं समचउरंससंठिया पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते णं नाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता, चत्तारि कसाया चत्तारि सण्णा छ लेस्साओ पंच इंदिया पंच समुग्घाता सन्नीवि असन्नीवि इत्थियेदावि पुरिसवेदावि नो नपुंसगवेदा, पज्जत्ती अपज्जत्तीओ पंच, दिट्ठी तिन्नि तिण्णि दंसणा, णाणीवि अण्णाणीवि, जे नाणी ते नियमा तिण्णाणी अण्णाणी भयणाए, दुविहे उवओगे तिविहे जोगे आहारो णियमा छद्दिसिं, ओसन्नकारणं पडुच्च वण्णतो हालिद्दसुक्किल्लाइं जाव आहारमाहारेंति, उववातो तिरियमणुस्सेसु, ठिती जहन्नेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं, दुविधावि मरंति, उव्वट्टित्ता नो नेरइएसु गच्छंति तिरियमणुस्सेसु जहासंभवं, नो देवेसु गच्छंति, दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता, से तं देवा, से तं पंचेंदिया, सेत्तं ओराला तसा पाणा ॥ (सू० ४२)

अथ के ते देवाः ?, सूरिराह—देवाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्च, 'एवं भेदो भाणियव्वो जहा पन्नवणाए' इति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण भेदो भणितव्यो यथा प्रज्ञापनायां, स चैवम्—"से किं तं भवणवासी ?, भवणवासी दसविहा पन्नत्ता" इत्यादिरूपस्तत एव सव्याख्यानः परिभावनीयः, 'ते समासतो दुविहा पण्णत्ता—पज्जत्तगा य

अपज्जत्तगा य ' एषामपर्याप्तत्वमुत्पत्तिकाल एव द्रष्टव्यं न त्वपर्याप्तिनामकर्मोदयतः, उक्तञ्च—"नारयदेवा तिरियमणुयगब्भजा जे असंखवासाऊ। एए उ अपज्जत्ता उववाए चेव बोद्धव्वा ॥ १ ॥" इति, शरीरादिद्वारचिन्तायां शरीरद्वारे त्रीणि शरीराणि वैक्रियं तैजसं कार्मणं च, अवगाहना भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा उत्कर्षतः सप्तहस्तप्रमाणा, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभागप्रमाणा उत्कर्षतो योजनशतसहस्रं, संहननद्वारे षण्णां संहननानामन्यतमेनापि संहननेनासंहननिनः, कुतः ? इत्याह—'नेवट्ठी' इत्यादि, यतो नैव तेषां देवानां शरीरेष्वस्थीनि नैव शिरा नापि स्नायूनि संहननं चास्थिनिचयात्मकमतोऽस्थ्यादीनामभावात्संहननाभावः, किन्तु 'जे पोग्गला' इत्यादि, ये पुद्गला इष्टाः—मनस इच्छामापन्नाः, तत्र किञ्चिदकान्तमपि केषाञ्चिदिष्टं भवति तत आह—'कान्ताः' कमनीयाः शुभवर्णोपेतत्वात्, यावत्करणात् 'पिया मणुन्ना मणामा' इति द्रष्टव्यं, तत्र यत एव कान्ता अत एव प्रियाः—सदैवात्मनि प्रियबुद्धिमुत्पादयन्ति, तथा 'शुभाः' शुभरसगन्धस्पर्शात्मकत्वात् 'मनोज्ञाः' विपाकेऽपि सुखजनकतया मनःप्रह्लादहेतुत्वात् 'मनआपाः' सदैव भोज्यतया जन्तूनां मनांसि आप्नुवन्ति, इत्थम्भूताः पुद्गलास्तेषां शरीरसङ्घाताय परिणमन्ति । संस्थानद्वारे भवधारणीया तनुः सर्वेषामपि समचतुरस्रसंस्थाना उत्तरवैक्रिया नानासंस्थानसंस्थिता, तस्या इच्छावशतः प्रादुर्भावात्, कषायाश्चत्वारः, सञ्ज्ञाश्चतस्रो, लेश्याः षड्, इन्द्रियाणि पञ्च, समुद्घाताः पञ्च, वेदनाकषायमारणान्तिकवैक्रियतैजससमुद्घातसम्भवात् । सञ्ज्ञिद्वारे सञ्ज्ञिनोऽपि असञ्ज्ञिनोऽपि, ते च नैरयिकवद्भावनीयाः, वेदद्वारे स्त्रीवेदा अपि पुरुषवेदा अपि नो नपुंसकवेदाः, पर्याप्तिद्वारं दृष्टिद्वारं दर्शनद्वारं च नैरयिकवत् । ज्ञानद्वारे ज्ञानिनोऽपि अज्ञानिनोऽपि चेति विकल्पोऽसञ्ज्ञिमध्यः, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्रिज्ञा-

१ नारका देवाः तिर्यङ्मनुजा गर्भव्युत्क्रान्ता येऽसङ्ख्येयवर्षायुष्काः । एते तु अपर्याप्ता उपपात एव बोद्धव्याः ॥ १ ॥

निनः, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, तत्र येऽज्ञानिनस्ते सन्त्येकका ये द्व्यज्ञानिनः सन्त्येकका ये त्र्यज्ञानिनः, तत्र ये द्व्यज्ञानिनस्ते नियमान्मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनः, ये त्र्यज्ञानिनस्ते नियमान्मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च, अयं च द्व्यज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनो वेति विकल्पः असञ्ज्ञिमध्याद् ये उत्पद्यन्ते तान् प्रति द्रष्टव्यः, स च नैरयिकवद्भावनीयः । उपयोगाहारद्वाराणि नैरयिकवत्, उपपातः सञ्ज्यसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गर्भजमनुष्येभ्यो न शेषेभ्यः । स्थितिर्जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, समुद्घातमधिकृत्य मरणचिन्तायां समवहता अपि म्रियन्तेऽसमवहता अपि । च्यवनद्वारेऽनन्तरमुद्वृत्य पृथिव्यम्बुवनस्पतिकायिकगर्भव्युत्क्रान्तिकसङ्ख्यातवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु गच्छन्ति न शेषजीवस्थानेषु, अत एव गत्यागतिद्वारे द्व्यागतिका द्विगतिकाः, तिर्यग्मनुष्यगत्यपेक्षया, 'परीत्ताः' प्रत्येकशरीरिणोऽसङ्ख्येयाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, उपसंहारमाह—'सेत्तं देवा,' सर्वोपसंहारमाह—'सेत्तं पंचेंदिया, सेत्तं ओराला तसा पाणा' सुगमम् ॥ सम्प्रति स्थावरभावस्य त्रसभावस्य च भवस्थितिकालमानप्रतिपादनार्थमाह—

थावरस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता ॥ तसस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता । थावरे णं भंते ! थावरत्ति कालतो केवचिरं होति ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओ (अवसप्पिणीओ) कालतो खेत्ततो अणंता लोया असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असं-

खेज्जतिभागो ॥ तसे णं भंते ! तसत्ति कालतो केवचिरं होति ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ (अवसप्पिणीओ) कालतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा ॥ थावरस्स णं भंते ! केवतिकालं अंतरं होति ?, जहा तससंचिट्ठणाए ॥ तसस्स णं भंते ! केवतिकालं अंतरं होति ?, अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकाले ॥ एएसि णं भंते ! तसाणं थावराण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा तसा थावरा अणंतगुणा, सेतं दुविधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ॥ दुविहपडिवत्ती समत्ता (सू०४३)

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, एतच्च पृथिवीकायमधिकृत्यावसातव्यम्, अन्यस्य स्थावरकायस्योत्कर्षत एतावत्या भवस्थितेरभावात् ॥ त्रसकायस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एतच्च देवनारकापेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यस्य त्रसकायस्योत्कर्षत एतावत्प्रमाणाया भवस्थितेरसम्भवात् ॥ सम्प्रत्येतयोरेव कायस्थितिकालमानमाह—स्थावरे 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'स्थावर इति' स्थावर इत्यनेन रूपेण स्थावरत्वेनेति भावः, कालतः कियच्चिरं भवति ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेवानन्तं कालं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः, किमुक्तं भवति ?—अनन्तलोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकापहारेण यावत्योऽनन्ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यो भवन्ति तावत्य इति, एतासामेव पुद्गलपरावर्त्ततो मानमाह—असङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, असङ्ख्येयेषु पुद्गलपरावर्त्तेषु क्षेत्रत इति पदसांनिध्यात्क्षेत्रपुद्गलपरा-

वर्त्तेपु यावत्यः संभवन्ति अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यस्तावत्य इति भावः, इहासङ्ख्येयमसङ्ख्येयभेदात्मकमतः पुद्गलपरावर्त्तगतमसङ्ख्येयत्वं निर्द्धारयति—'ते ण'मित्यादि, ते णमिति वाक्यालङ्कारे पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भागः, आवलिकाया असङ्ख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा इत्यर्थः, एतच्च वनस्पतिकायस्थितिमङ्गीकृत्य वेदितव्यं, न पृथिव्यम्बुकायस्थितिव्यपेक्षया, तयोः कायस्थितेरुत्कर्षतोऽप्यसङ्ख्येयोत्सर्पिणीप्रमाणत्वात्, तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—"पुढविक्काइए णं भंते! पुढविक्काइयत्ति कालओ केवच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तमुक्कोसेणं असंखिज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखिज्जा लोगा, एवं आउक्काएवि" इति, या तु वनस्पतिकायस्थितिः सा यथोक्तप्रमाणा तत्रोक्ता "वणस्सइकाइए णं भंते! वणस्सइकायत्ति कालओ कियच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खित्तओ अणंता लोगा असंखिज्जा पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखिज्जइभागो" इति । एषोऽपि च वनस्पतिकायस्थितिकालः सांव्यवहारिकजीवानधिकृत्य प्रोच्यते, असांव्यवहारिकजीवानां तु कायस्थितिरनादिरवसेया, तथा चोक्तं **विशेषणवत्याम्**—"अत्थि अणंता जीवा जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो । तेवि अणंताणंता निगोयवासं अणुवसंति ॥ १ ॥" साऽपि तेषामसांव्यवहारिकजीवानामनादिः कायस्थितिः केषाञ्चिदनादिरपर्यवसाना, ये न जातुचिदसांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशौ निपतिष्यन्ति, केषाञ्चिदनादिः सपर्यवसाना, ये असांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशौ निपतिष्यन्ति । अथ किमसांव्यवहारिकराशेर्विनिर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति? येनैवं प्ररूपणा क्रियते, उच्यते, आगच्छन्ति, कथमवसीयते? इति चेदुच्यते—पूर्वाचार्योपदेशात्,

१ सन्त्यनन्ता जीवा यैर्न प्राप्तस्त्रसादिपरिणामः । तेऽप्यनन्तानन्ता निगोदवासमनुवसन्ति ॥ १ ॥

तथा चाह दुःषमान्धकारनिमग्नजनप्रवचनप्रदीपो भगवान् **जिनभद्रगणिः** क्षमाश्रमणो **विशेषणवत्याम्**—"सिंज्झंति जत्तिया किर इह संववहारजीवरासिमज्झाओ । इंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिया तंमि ॥ १ ॥" इति कृतं प्रसङ्गेन । सम्प्रति त्रसकायस्य कायस्थितिमानमाह—'**तसे णं भंते**'इत्यादि, तसे'ण'मिति पूर्ववत् 'त्रस इति' त्रस इत्यनेन पर्यायेण कालतः 'कियच्चिरं' कियन्तं कालं यावद्भवति ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालम्, एनमेवासङ्ख्येयं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति—'**असंखिज्जाओ**'इत्यादि, असङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोका असङ्ख्येयेषु लोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकापहारे यावत्योऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्य इति भावः, इयं चैतावती कायस्थितिर्गतित्रसं तेजस्कायिकं वायुकायिकं चाधिकृत्यावसेया न तु लब्धित्रसं, लब्धित्रसस्य कायस्थितेरुत्कर्षतोऽपि कतिपयवर्षाधिकसागरोपमसहस्रद्वयप्रमाणत्वात्, तथा चोक्तं **प्रज्ञापनायाम्**—"तसकाए णं भंते ! तसकायत्ति कालतो कियच्चिरं होइ ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं" तथा "तेउक्काइए णं भंते ! तेउक्काइएत्ति कालतो केवच्चिरं होति ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा, एवं वाउक्काइयावि" इति ॥ सम्प्रति स्थावरत्वस्यान्तरं विचिन्तयिषुराह—'**थावरस्स णं भंते ! अंतर**'मित्यादि सुगमं नवरमसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, इत्येतावत्प्रमाणमन्तरं तेजस्कायिकवायुकायिकमध्यगमनेनावसातव्यम्, अन्यत्र गतावेतावत्प्रमाणस्यान्तरस्यासम्भवात् ॥ '**तसस्स णं भंते ! अंतर**'मित्यादि सुगमं नवरम् 'उक्कोसेणं वणस्सइकालो' इति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वक्तव्यः, स चै-

१ सिध्यन्ति यावन्तः किलेह सव्यवहारराशिमध्यात् । आयान्ति अनादिवनस्पतिराशेः तावन्तस्तस्मिन् ॥ १ ॥

वम्—"उक्कोसेणं अणंतमणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो" इति, एतावत्प्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यम्, अन्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्यालभ्यमानत्वात् ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वमाह—एतेषां भदन्त! जीवानां त्रसानां स्थावराणां च मध्ये कतरे कतमेभ्योऽल्पा वा बहवो वा कतरे कतरैस्तुल्या वा?, अत्र सूत्रे विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया, तथा कतरे कतरेभ्यो (ऽल्पा बहुकास्तुल्या) विशेषाधिका वा?, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोकास्त्रसाः, असङ्ख्यातत्वमात्रप्रमाणत्वात्, स्थावरा अनन्तगुणाः, अजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तसङ्ख्यापरिमाणत्वात्, उपसंहारमाह—'सेत्तं दुविहा संसारसमावन्ना जीवा' इति ॥ इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाजीवाभिगमटीकायां द्विविधा प्रतिपत्तिः समाप्ता ॥

अथ त्रिविधाख्या द्वितीया प्रतिपत्तिः

तदेवमुक्ता द्विविधा प्रतिपत्तिः, सम्प्रति त्रिविधा प्रतिपत्तिरारभ्यते, तत्र चेदमादिसूत्रम्—

तत्थ जे ते एवमाहंसु तिविधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—इत्थि पुरिसा णपुंसका ॥ (सू० ४४) । से किं तं इत्थीओ ?, २ तिविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—तिरिक्खजोणियाओ मणुस्सित्थीओ देवित्थीओ । से किं तं तिरिक्खजोणिणित्थीओ ?, २ तिविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—जलयरीओ थलयरीओ, खहयरीओ । से किं तं जलयरीओ ?, २ पंचविधाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—मच्छीओ जाव सुंसुमारीओ । से किं तं थलयरीओ ?, २ दुविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—चउप्पदीओ य परिसप्पीओ य । से किं तं चउप्पदीओ ?, २ चउव्विधाओ पण्णत्ता, तंजहा—एगखुरीओ जाव सणप्फईओ । से किं तं परिसप्पीओ ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—उरपरिसप्पीओ य भुजपरिसप्पीओ य । से किं तं उरगपरिसप्पीओ ?, २ तिविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—अहीओ अहिगरीओ महोरगाओ, सेत्तं उरपरिसप्पीओ । से किं तं भुयपरिसप्पीओ ?, २ अणेगविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—सेरडीओ सेरंधीओ गोहीओ णउलीओ सेधाओ

सण्णाओ सरडीओ सेरंधीओ भावाओ खाराओ पवण्णाइयाओ चउप्पइयाओ मूसियाओ मुगुसिओ घरोलियाओ गोल्हियाओ, जोल्हियाओ थिरचिरालियाओ, सेत्तं भुयगपरिसप्पीओ। से किं तं खहयरीओ?, २ चउव्विधाओ पण्णत्ता, तंजहा—चम्मपक्खीओ, जाव सेत्तं खहयरी-ओ, सेत्तं तिरिक्खजोणिओ॥ से किं तं मणुस्सिओ?, २ तिविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—कम्मभू-मियाओ अकम्मभूमियाओ अंतरदीवियाओ। से किं तं अंतरदीवियाओ ?, २ अट्ठावीसतिवि-धाओ पण्णत्ता, तंजहा—एगूरूइयाओ आभासियाओ जाव सुद्धदंतीओ, सेत्तं अंतरदी०॥ से किं तं अकम्मभूमियाओ?, २ तीसविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—पंचसु हेमवएसु पंचसु एरण्णवएसु पंचसु हरिवंसेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरासु पंचसु उत्तरकुरासु, सेत्तं अकम्मा०। से किं तं कम्मभूमिया?, २ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पंचसु भरहेसु पंचसु एरवएसु पंचसु महाविदेहेसु, सेत्तं कम्मभूमगमणुस्सीओ, सेत्तं मणुस्सित्थीओ॥ से किं तं देवित्थियाओ?, २ चउव्विधा पण्णत्ता, तंजहा—भवणवासिदेवित्थियाओ वाणमंतरदेवित्थि-याओ जोतिसियदेवित्थियाओ वेमाणियदेवित्थियाओ। से किं तं भवणवासिदेवित्थियाओ?, २ दसविहा पण्णत्ता, तंजहा—असुरकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ जाव थणितकुमारभवणवा-सिदेवित्थियाओ, से तं भवणवासिदेवित्थियाओ। से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ?, २ अट्ठ-

विधाओ पण्णत्ता, तंजहा—पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ जाव से तं वाणमंतरदेवित्थियाओ । से किं तं जोतिसियदेवित्थियाओ ?, २ पंचविधाओ पण्णत्ता, तंजहा—चंदविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सूर०गह०नक्खत्त०ताराविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ, से त्तं जोतिसियाओ । से किं तं वेमाणियदेवित्थियाओ ?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ ईसाणकप्पवेमाणियदेवित्थिगाओ, सेत्तं वेमाणित्थीओ ॥ (सू० ४५)

'तत्र' तेषु नवसु प्रतिपत्तिषु मध्ये ये आचार्या एवमाख्यातवन्तः—त्रिविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्त एवमाख्यातवन्तः, तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकानि, इह स्त्र्यादिवेदोदयाद् योन्यादिसङ्गताः स्त्र्यादयो गृह्यन्ते, तथा चोक्तम्—"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धताऽऽबलता स्तनौ । पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥ मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥ स्तनादिश्मश्रुकेशादिभावाभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ॥ ३ ॥" तत्र 'यथोद्देशं निर्देश' इति स्त्रीवक्तव्यतामाह—'से किं त'मित्यादि, अथ कास्ताः स्त्रियः ?, सूरिराह—स्त्रियस्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तिर्यग्योनिस्त्रियो मनुष्यस्त्रियो देवस्त्रियश्च । 'से किं त'मित्यादि, तिर्यग्योनिस्त्रियस्त्रिविधाः, तद्यथा—जलचर्यः स्थलचर्यः खचर्यश्च । 'से किं त'मित्यादि । मनुष्यस्त्रियोऽपि त्रिविधास्तद्यथा—कर्मभूमिका अकर्मभूमिका अन्तरद्वीपिकाश्च । 'से किं त'मित्यादि, देवस्त्रियश्चतुर्विधास्तद्यथा—भवनवासिन्यो व्यन्तर्यो ज्योतिष्क्यो वैमानिक्यश्च ॥ सम्प्रति स्त्रिया भवस्थितिमानप्रतिपादनार्थमाह—

इत्थी णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा ! एगेणं आएसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं

उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं एक्केणं आदेसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं णव पलिओवमाइं एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं ॥ (सू० ४६)

'इत्थी णं भंते' इत्यादि, स्त्रिया भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! 'एकेनादेशेन' आदेशशब्द इह प्रकारवाची "आदेसो त्ति पगारो" इति वचनात्, एकेन प्रकारेण, एकं प्रकारमधिकृत्येति भावार्थः, जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, एतत्तिर्यग्मनुष्यस्त्र्यपेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यत्रैतावतो जघन्यस्यासम्भवात्, उत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, एतदीशानकल्पापरिगृहीतदेव्यपेक्षम्। तथैकेनादेशेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् एतत्तथैवोत्कर्षतो नव पल्योपमानि, एतदीशानकल्प एव परिगृहीतदेव्यपेक्षम् । तथा एकेनादेशेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, एतत्प्राग्वत्, उत्कर्षतः सप्त पल्योपमानि, एतत्सौधर्मकल्पे परिगृहीतदेवीरधिकृत्य । तथा एकेनादेशेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पञ्चाशत्पल्योपमानि, एतत्सौधर्मकल्प एवापरिगृहीतदेव्यपेक्षम्, उक्तञ्च सङ्ग्रहण्याम्—"[1]सपरिग्गहेयराणं सोहम्मीसाण पलियसाहीयं । उक्कोस सत्त पन्ना नव पणपन्ना य देवीणं ॥ १ ॥" तदेवं सामान्यतः स्त्रीणां जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिमानमुक्तं, सम्प्रति तिर्यक्स्त्र्यादिभेदानधिकृत्याह—

तिरिक्खजोणित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गो० जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। जलयरतिरिक्खजोणित्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं

१ परिगृहीतेतराणां सौधर्मेशानानां पल्योपमं साधिकम् । उत्कृष्टत सप्त पञ्चाशत् नव पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि देवीनाम् ॥ १ ॥

अंतो० उक्को० पुव्वकोडी। चउप्पद्थलयरतिरिक्खजोणित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गो० जहा तिरिक्खजोणित्थीओ। उरगपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसं पुव्वकोडी। एवं भुयपरिसप्प०। एवं खहयरतिरिक्खित्थीणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागो॥ मणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं, धम्मचरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। कम्मभूमयमणुस्सित्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! खित्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं, धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमु० उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहन्नेणं अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी, धम्मचरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। अकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागऊणगं उक्को-

सेणं तिन्नि पलिओवमाइं, संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। हेमवएरण्णवए जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणगं पलिओवमं संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हरिवासरम्मयवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणयाइं उक्को० दो पलिओवमाइं, संहरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी । देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं तिण्णि पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणयाइं उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं, संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहु० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी । अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतिकालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणयं उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं संहरणं पडुच्च जहन्नेणं अंतोमु० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी ॥ देवित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं । भवणवासिदेवित्थीणं भंते!, जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं। एवं असुरकु-

मारभवणवासिदेवित्थियाए, नागकुमारभवणवासिदेवित्थियाएवि जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं देसूणाइं पलिओवमाइं, एवं सेसाणवि जाव थणियकुमाराणं। वाणमंतरीणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसं अद्धपलिओवमं । जोइसियदेवित्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहण्णेणं पलिओवमं अट्ठभागं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं, चंदविमाणजोतिसियदेवित्थियाए जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं तं चेव, सूरविमाणजोतिसियदेवित्थियाए जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिमब्भहियं, गहविमाणजोतिसियदेवित्थीणं जहण्णेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं, णक्खत्तविमाणजोतिसियदेवित्थीणं जहण्णेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं चउभागपलिओवमं साइरेगं, ताराविमाणजोतिसियदेवित्थियाए जहन्नेणं अट्ठभागं पलिओवमं उक्को० सातिरेगं अट्ठभागपलिओवमं। वेमाणियदेवित्थियाए जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं, सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती प०?, जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं, ईसाणदेवित्थीणं जहण्णेणं सातिरेगं पलिओवमं उक्कोसेणं णव पलिओवमाइं ॥ (सू ४७)

'तिरिक्खजोणिइत्थियाणं भंते!' इत्यादि, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, देवकुर्वादिषु चतुष्पदस्त्रीरधिकृत्य, जलचरस्त्री-

णामुत्कर्षतः पूर्वकोटी, स्थलचरस्त्रीणां यथा औघिकी, त्रीणि पल्योपमानीत्यर्थः । खचरीणामुत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, मनुष्यस्त्रीषु क्षेत्रं प्रतीत्य—क्षेत्राश्रयणेनेतिभावः, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देवकुर्वादिषु भरतादिष्वपि एकान्तसुषमादिकाले त्रीणि पल्योपमानि, 'धर्मचरणं' चरणधर्मसेवनं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, एतच्च तद्भवस्थिताया एव परिणामवशतः प्रतिपातापेक्षया द्रष्टव्यं, चरणधर्मस्य मरणमन्तरेण सर्वस्तोकतयाऽप्येतावन्मात्रकालावस्थानभावात्, तथाहि—काचित्स्त्री तथाविधक्षयोपशमभावतः सर्वविरतिं प्रतिपद्य तादृक्क्षयोपशमभावादन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं भूयोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टित्वं मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्यते इति, अथवा धर्मचरणमिह देशचरणं प्रतिपत्तव्यं न सर्वचरणं, देशचरणप्रतिपत्तिस्तु जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकी, तस्या भङ्गबहुलत्वात्, अथोभयचरणसम्भवे किमर्थमिह देशचरणं परिगृह्यते?, उच्यते, देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति ख्यापनार्थम्, अत एवोक्तं वृद्धैः—"सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होइ। चरणोवसमखयाणं सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥" एवं "अप्परिवडिए"इत्यादि, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अष्टसांवत्सरिक्याश्चरणधर्मप्राप्तेरूर्ध्वं चरमान्तर्मुहूर्त्तं यावदप्रतिपतितपरिणामभावात्, पूर्वपरिमाणं चेदम्—"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ । छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥ १ ॥ (७०५६००००००००००) सम्प्रति कर्मभूमिकादिविशेषस्त्रीणां वक्तव्यतामाह—अक्षरगमनिका सुगमा, भावार्थस्त्वयम्—कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां क्षेत्रं कर्मभूमिकासामान्यतः क्षेत्रमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च भरतैरावतेषु सुषमसुषमालक्षणेऽरके वेदितव्यानि, धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भावना चात्र प्रागिव द्रष्टव्या, एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि ॥ अत्रैव विशे-

१ सम्यक्त्वे तु लब्धे पल्योपमपृथक्त्वेन श्रावको भवति । चारित्रमोहोपशमक्षयाणां सागराः संख्याता अन्तरं भवति ॥ १ ॥

षचिन्तां चिकीर्षुराह–सुगमं, नवरं भरतैरावतेषु त्रीणि पल्योपमानि सुषमसुषमायां, पूर्वविदेहेषु क्षेत्रतः पूर्वकोटी, तत ऊर्ध्वं तत्र तथा-
क्षेत्रस्वाभाव्यादायुषोऽसम्भवात्, अकम्मभूमिगेत्यादि, जन्म प्रतीत्येति–अकर्मभूमिषूत्पत्तिमाश्रित्य जघन्यतो देशोनं पल्योपमं, तच्चा-
ष्टभागाद्यूनमपि देशोनं भवति ततो विशेषस्थापनायाह–पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागेनोनं, एतच्च हैमवतहैरण्यवतक्षेत्रापेक्षया द्रष्टव्यं, तत्र
जघन्यतः स्थितेरेतावत्प्रमाणायाः सम्भवात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च देवकुरूत्तरकुर्वपेक्षया, 'संहरणं पडुच्चे'त्यादि, संह-
रणं नाम कर्मभूमिजायाः स्त्रियोऽकर्मभूमिषु नयनं 'तत्प्रतीत्य' तदाश्रित्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, इयमत्र भावना
–इह कर्मभूमिकाऽप्यकर्मभूमिषु संहृता अकर्मभूमिकेति व्यवह्रियते, तत्क्षेत्रसम्बन्धभावात्, यथा लोके कश्चिन्मगधादिदेशात्सुरा-
ष्ट्रान् प्रति प्रस्थितो गिरिनगरेषु निवासं कल्पयितुकामः सुराष्ट्रपर्यन्तग्रामप्राप्तः सन् समुत्पद्यमानेषु तथाविधेषु प्रयोजनेषु सौराष्ट्र इति
व्यवह्रियते, तद्वदधिकृताऽपि, तत्र च संहृता सती काचिदन्तर्मुहूर्त्तं जीवति ततोऽपि वा भूयोऽपि संह्रियते काचित्पूर्वकोट्यायुष्का
यावज्जीवमपि तत्रावतिष्ठते ततो जघन्यतोऽन्तर्मूहूर्त्तमुक्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति, आह–भरतैरावतान्यपि कर्मभूमौ वर्त्तन्ते तत्र
चैकान्तसुषमादौ त्रीण्यपि पल्योपमानि स्थितिरस्या भवति संहरणं च संभवति तत्कथं देशोना पूर्वकोटी भण्यते? इति, अत्रोच्यते,
कर्मकालविवक्षयाऽभिधानात्, तस्य चैतावन्मात्रत्वादिति। हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां जन्मतो जघन्येन देशोनं पल्योपमं
पल्योपमासङ्ख्येयभागेन न्यूनमुत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भावना
प्रागिव॥ एवं 'हरिवासरम्मए' इत्याद्यपि सूत्रत्रयं भावनीयं, नवरं हरिवर्षरम्यकयोर्जन्मतो जघन्येन द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येय-
भागन्यूने उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे। देवकुरूत्तरकुरुषु जन्मतो जघन्येन त्रीणि पल्योपमानि पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनानि उ-

त्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि, अन्तरद्वीपेषु जन्मतो जघन्येन देशोनः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, कियता देशेनोनः पल्योपमासङ्ख्येयभाग? इति चेदत आह—पल्योपमासङ्ख्येयभागेनोनः, किमुक्तं भवति?—उत्कृष्टपल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणादायुषो जघन्यमायुः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं, नवरमूनताहेतुः पल्योपमासङ्ख्येयो भागोऽतीव स्तोको द्रष्टव्यः, संहरणमधिकृत्य सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतश्च तावदेव प्रमाणम् ॥ सम्प्रति देवस्त्रीवक्तव्यतामाह—अक्षरगमनिका सुगमा तात्पर्यमात्रमुच्यते—देवस्त्रीणां सामान्यतो जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि, तानि च भवनपतिव्यन्तरीरधिकृत्य वेदितव्यानि, उत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, एतानि चेशानदेवीरधिकृत्य प्रतिपत्तव्यानि। विशेषचिन्तायां भवनवासिदेव्यः सामान्यतो दश वर्षसहस्राणि, उत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चमानि—सार्द्धानि चत्वारि पल्योपमानि, एतानि च भवनवासिविशेषासुरकुमारदेवीरधिकृत्य, अत्रापि विशेषचिन्तायामसुरकुमारदेवीनां सामान्यतो जघन्येन दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चमानि पल्योपमानि, नागकुमारभवनवासिदेवस्त्रीणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतो देशोनं पल्योपमम्, एवं शेषाणां यावत्स्तनितकुमारीणां, व्यन्तरीणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतोऽर्द्धं पल्योपमं, ज्योतिषस्त्रीणां जघन्येनाष्टभागपल्योपममुत्कर्षतोऽर्द्धं पल्योपमं पञ्चाशता वर्षसहस्रैरभ्यधिकम्, अत्रापि विशेषचिन्तायां चन्द्रविमानवासिज्योतिषस्त्रीणां जघन्यतश्चतुर्भागमात्रं पल्योपममुत्कर्षतोऽर्द्धपल्योपमं पञ्चाशता वर्षसहस्रैरधिकं, सूर्यविमानवासिज्योतिष्कदेवीनां जघन्यतश्चतुर्भागमात्रं पल्योपममुत्कर्षतोऽर्द्धपल्योपमं वर्षशतपञ्चकाभ्यधिकं, ग्रहविमानवासिज्योतिष्कदेवीनां जघन्यतश्चतुर्भागमात्रं पल्योपमं उत्कर्षतोऽर्द्धपल्योपमं, नक्षत्रविमानज्योतिष्कदेवीनां जघन्यतश्चतुर्थभागमात्रं पल्योपममुत्कर्षतः सातिरेकं चतुर्थभागमात्रं पल्योपमं, ताराविमानज्योतिष्कदेवीनां जघन्यतोऽष्टभागमात्रं पल्योपममुत्कर्षतस्तदेवाष्टभागमात्रं पल्योपमं सातिरेकं। सामान्यतो वैमानिकदेवस्त्रीणां जघन्यतः

पल्योपममुत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, विशेषचिन्तायां सौधर्मकल्पवैमानिकदेवीनां जघन्यतः पल्योपममुत्कर्षतः सप्त पल्योपमानि, अत्रापीदं स्थितिपरिमाणं परिगृहीतदेवीनामवगन्तव्यं, अपरिगृहीतदेवीनां जघन्यतः पल्योपममुत्कर्षतः पञ्चाशत्पल्योपमानि, ईशानकल्पवैमानिकदेवीनां जघन्यतः सातिरेकं पल्योपममुत्कर्षतो नव पल्योपमानि, अत्रापीदं स्थितिपरिमाणं परिगृहीतदेवीनामवगन्तव्यं, अपरिगृहीतदेवीनां जघन्यतः सातिरेकं पल्योपममुत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, एतच्च सूत्रं समस्तमपि क्वापि साक्षाद् दृश्यते क्वचिच्चैवमतिदेशः—"एवं देवीणं ठिई भाणियव्वा जहा पण्णवणाए जाव ईसाणदेवीण"मिति ॥ सम्प्रति स्त्री नैरन्तर्येण स्त्रीत्वममुञ्चन्ती कियन्तं कालमवतिष्ठते? इति जिज्ञासायां सूत्रकृत्तत्कालापेक्षया ये पञ्चादेशाः प्रवर्त्तन्ते तानुपदर्शयितुमाह—

इत्थी णं भंते! इत्थित्ति कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसं दसुत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं। एक्केणादेसेणं जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं। एक्केणादेसेणं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं चउद्दस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं। एक्केणादेसेणं जह० एक्कं समयं उक्को० पलिओवमसयं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियं। एक्केणादेसेणं जहण्णं एक्कं समयं उक्को० पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियं॥ तिरिक्खजोणित्थी णं भंते! तिरिक्खजोणित्थित्ति कालओ केवच्चिरं होति?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियाइं, जलयरीए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं। चउप्पदथलयरतिरिक्खजो० जहा ओहिता ति-

रिक्ख०, उरगपरिसप्पीभुयगपरिसप्पित्थी णं जधा जलयरीणं, खहयरि० जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं
उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ॥ मणुस्सित्थी णं भंते! कालओ
केवचिरं होति?, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वको-
डिपुहुत्तमब्भहियाइं, धम्मचरणं पडुच्च जह० एक्कं समयं उक्को० देसूणा पुव्वकोडी, एवं कम्म-
भूमियावि भरहेरवयावि, णवरं खेत्तं पडुच्च जह० अंतो उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं देसूणपुव्व-
कोडीअब्भहियाइं, धम्मचरणं पडुच्च जह० एक्कं समयं उक्को० देसूणा पुव्वकोडी। पुव्वविदेहअवर-
विदेहित्थी णं खेत्तं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडीपुहुत्तं, धम्मचरणं पडुच्च जह० एक्कं समयं
उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ॥ अकम्मभूमिकमणुस्सित्थी णं भंते! अकम्मभूम० कालओ केव-
चिरं होइ? गोयमा! जम्मणं पडुच्च जह० देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणं
उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं देसूणाए
पुव्वकोडिए अब्भहियाइं। हिमवतेरण्णवते अकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! हेम० कालतो
केवचिरं होइ?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जह० देसूणं पलिओवमं पलिओवमस्स असंखेज्जति-
भागेणं ऊणगं, उक्को० पलिओवमं। साहरणं पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० पलिओवमं देसूणाए
पुव्वकोडीए अब्भहियं। हरिवासरम्मयअकम्मभूमगमणुस्सित्थी णं भंते!, जम्मणं पडुच्च जह०

देसूणाइं दो पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणगाइं, उक्को० दो पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० दो पलिओवमाइं देसूणपुव्वकोडिमब्भहियाइं। उत्तरकुरुदेवकुरूणं०, जम्मणं पडुच्च जहन्नेणं देसूणाइं तिन्नि पलिओवमाइं पलितोवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगाइं उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं देसूणाए पुव्वकोडिए अब्भहियाइं। अंतरदीवाकम्मभूमकमणुस्सित्थी?, २ जम्मणं पडुच्च जह० देसूणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणं उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं। साहरणं पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियं ॥ देवित्थी णं भंते! देवित्थित्ति काल०, जच्चेव संचिट्ठणा ॥ (सू० ४८)

एकेनादेशेन जघन्यत एकं समयं यावदवस्थानमुत्कर्षतो दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकम्, एकसमयं कथम्? इति चेदुच्यते—काचिद् युवतिरुपशमश्रेण्यां वेदत्रयोपशमनादवेदकत्वमनुभूय ततः श्रेणेः प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदोदयमेकं समयमनुभवति, ततो द्वितीये समये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते तत्र च तस्याः पुंस्त्वमेव न स्त्रीत्वं, तत एवं जघन्यतः स्त्रीत्वं समयमात्रं, सम्प्रति पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकदशोत्तरपल्योपमशतभावना क्रियते—कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवाननुभूय ईशाने कल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पद्यते ततः स्वायुः-

क्षये तस्मात्स्थानाद् भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा मध्ये पूर्वकोट्यायुष्षुरुत्पन्नस्ततो भूयो द्वितीयं वारमीशानदेवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्यो-
पमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजातस्ततः परमवश्यं वेदान्तरमवगच्छति, एवं दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वको-
टिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते, अत्र पर आह—ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुत्पद्यते ततोऽधि-
काऽपि स्त्रीवेदस्यावस्थितिर्लभ्यते, ततः किमित्येतावदेवोपदिष्टा ?, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तथाहि—न तावद्देवीभ्यश्च्युताऽसङ्ख्ये-
यवर्षायुष्कासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पद्यते, देवयोनेश्च्युतानामसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये उत्पादप्रतिषेधात्, नाप्यसङ्ख्येयवर्षायुष्का सती
उत्कृष्टायुष्कासु देवीषु जायते, यत उक्तं **प्रज्ञापनामूलटीकायाम्**—"जतो असंखेज्जवासाउया उक्कोसियं ठिइं न पावेइ" इति, ततो
यथोक्तप्रमाणैव स्त्रीवेदस्योत्कृष्टाऽवस्थितिरवाप्यते । द्वितीयेनादेशेन जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतोऽष्टादश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वा-
भ्यधिकानि, तत्र समयभावना सर्वत्रापि प्राग्वत्, अष्टादश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि एवं—नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्व-
कोटीप्रमाणायुष्कासु मध्ये कश्चिज्जन्तुः पञ्चषान् भवाननुभूय पूर्वप्रकारेणेशानदेवलोके वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये समुत्प-
द्यमानो नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पद्यते नापरिगृहीतासु, तत एवं द्वितीयादेशवादिमतेन स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानमष्टादश पल्योपमानि
पूर्वकोटिपृथक्त्वं च । तृतीयेनादेशेन जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतश्चतुर्दश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि चैवं—पूर्व-
प्रकारेण सौधर्मदेवलोके परिगृहीतदेवीषु सप्तपल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कासु मध्ये वारद्वयं समुत्पद्यते तत्र(त) एवं तृतीयादेशवादिमतेन
स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चतुर्दश पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च । चतुर्थेनादेशेन जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतः पल्योपमशतं पूर्वको-
टिपृथक्त्वाभ्यधिकं, कथम् ? इति चेदुच्यते, नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु पञ्चषान् भवाननुभूय पूर्वप्रकारेण सौधर्मदेवलोके

पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पद्यते, तत एवं चतुर्थादेशवादिमतेन पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं भवति । पञ्चमेनादेशेन जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतः पल्योपमपृथक्त्वं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं, तथैवं—नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्त भवाननुभूयाष्टमभवे देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्यते, ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छति, ततः पञ्चमादेशवादिमतेन स्त्रीवेदस्यावस्थानं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं पल्योपमपृथक्त्वं, ते ह्येवमाहुर्नानाभवप्रमाणद्वारे—यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते तत इत्थमेतावदेव लभ्यते, नाधिकमन्यथा चेति । अमीषां च पञ्चानामादेशानामन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसंपन्नैर्वा कर्तुं शक्यते, ते च सूत्रकृत्प्रतिपत्तिकाले नासीरन्निति सूत्रकृन्न निर्णयं कृतवानिति । तदेवं सामान्यतः स्त्री स्त्रीत्वं नैरन्तर्येणामुञ्चन्ती यावन्तं कालमवतिष्ठते तावत्कालप्रमाणमुक्तम् ॥ इदानीं तिर्यक्स्त्रियास्तिर्यक्स्त्रीत्वमजहत्याः कालमानं विचिन्तयिषुरिदमाह—'तिरिक्खजोणिइत्थिए णं भंते !, इत्यादि, तिर्यक्स्त्री णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! तिर्यक्स्त्रीति कालतः कियच्चिरं भवति ?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तत्रान्तर्मुहूर्त्तं कस्याश्चित्तावत्प्रमाणायुष्कतया तदनन्तरं मृत्वा वेदान्तराधिगमाद्विलक्षणमनुष्यभवान्तराधिगमाद्वा, कथमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकाटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि ? इति चेदुच्यते—इह नराणां तिरश्चां चोत्कर्षतोऽष्टौ भवाः प्राप्यन्ते नाधिकाः, "नरतिरियाणं सत्तट्ठभवा" इति वचनात्, तत्र सप्त भवाः सङ्ख्येयवर्षायुषोऽष्टमस्त्वसङ्ख्येयवर्षायुरेव, तथाहि—पर्याप्तमनुष्याः पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा निरन्तरं यथासङ्ख्यं सप्त पर्याप्तमनुष्यभवान् सप्त पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवान् वाऽनुभूय यद्यष्टमे भवे भूयः पर्याप्तमनुष्याः पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियति-

येभ्यो वा समुत्पद्यन्ते ततो नियमादसङ्ख्येयवर्षायुष एव न सङ्ख्येयवर्षायुषः, असङ्ख्येयवर्षायुषश्च मृत्वा नियमतो देवलोकेषूत्पद्यन्ते, ततो नवमोऽपि मनुष्यभवः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवो वा निरन्तरं न लभ्यते, अत एव च पाश्चात्याः सप्त भवा निरन्तरं भवन्तः सङ्ख्येयवर्षायुष एवोपपद्यन्ते नैकोऽप्यसङ्ख्येयवर्षायुः, असङ्ख्येयवर्षायुर्भवानन्तरं भूयो मनुष्यभवस्य तिर्यग्भवस्य वाऽसम्भवात्, तत्र यदा उत्कर्षतस्तिर्यक्स्त्रीवेदसहिताः पाश्चात्याः सप्तापि भवा पूर्वकोट्यायुषो लभ्यन्ते अष्टमस्तु भवो देवकुर्वादिषु तदा भवन्त्युत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि तिर्यक्स्त्रीत्वस्यावस्थानम् । अत्रैव विशेषचिन्तां चिकीर्षुराह—'जलयरीए' इत्यादि, जलचर्याः स्त्रिया जलचरस्त्रीत्वेन निरन्तरं भवन्त्या जघन्यतोऽवस्थानमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, सप्तपूर्वकोट्यायुर्भवानन्तरं जलचरस्त्रीणामवश्यं जलचरस्त्रीत्वच्युतिभावात्, 'चउप्पयथलयरीए जहा ओहियाए' इति, चतुष्पदस्थलचरस्त्रिया यथा औधिक्यास्तिर्यक्स्त्रिया उक्तं तथा द्रष्टव्यं, तच्चैवम्—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तत ऊर्ध्वं तद्भावपरित्यागसम्भवात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि च प्रागिव भावनीयानि । उरःपरिसर्पस्थलचरस्त्रिया भुजपरिसर्पस्थलचरस्त्रियाश्च यथा जलचरस्त्रियास्तथा वक्तव्यं, तच्चैवं—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं तच्च पूर्ववद्भावनीयम् । खचरस्त्रिया जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिक उत्कर्षतोऽवस्थानमिति ॥ तदेवमुक्तं तिर्यक्स्त्रियाः सामान्यतो विशेषतश्च अवस्थानमानं, सम्प्रति मनुष्यस्त्रिया आह—'मणुस्सित्थियाए' इत्यादि, मनुष्यस्त्रियाः सामान्यतो यथा औधिक्यास्तिर्यक्स्त्रियाः, तच्चैवं—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि च सामान्यतस्तिर्यक्स्त्रीवद्भावनीयानि । कर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः क्षेत्रं प्रतीत्य सामान्यतः कर्मक्षेत्रमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्ध्वं तद्भावपरित्यागसम्भवात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वा-

भ्यधिकानि, तत्र सप्त भवा महाविदेहेषु अष्टमो भवो भरतैरावतेष्वेकान्तसुषमादौ त्रिपल्योपमप्रमाण इति, 'धर्मचरणं प्रतीत्य' चा-
रित्रासेवनमाश्रित्य जघन्येनैकं समयं, सर्वविरतिपरिणामस्य तदावरणकर्मक्षयोपशमवैचित्र्यतः समयमेकं सम्भवात्, तत ऊर्ध्वं मर-
णतः प्रतिपातभावात्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, समग्रचरणकालस्योत्कर्षतोऽप्येतावन्मात्रप्रमाणत्वात् । भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्य-
स्त्रियाः स्त्रीत्वं 'क्षेत्रं प्रतीत्य' भरताद्येवाश्रित्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च प्राग्वद्भावनीयम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनया पूर्वको-
ट्याऽभ्यधिकानि, तानि चैवं—पूर्वविदेहमनुष्यस्त्री अपरविदेहमनुष्यस्त्री वा पूर्वकोट्यायुष्का केनापि भरतादावेकान्तसुषमादौ संहृता,
सा च यद्यपि महाविदेहक्षेत्रोत्पन्ना तथाऽपि प्रागुक्तमागधपुरुषदृष्टान्तवलेन भारतैरावतीया वेति व्यपदिश्यते, ततः सा भारत्यादि-
व्यपदेशं प्राप्ता पूर्वकोटिं जीवित्वा स्वायुःक्षयतस्तत्रैव भरतादावेकान्तसुषमाप्रारम्भे समुत्पन्ना, तत एवं देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकं पल्यो-
पमत्रयमिति । धर्मचरणं प्रतीत्य कर्मभूमिजस्त्रिया इव भावनीयं, जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटीं यावत्, पूर्वविदेहापर-
विदेहकर्मभूमिजमनुष्यस्त्रियास्तु क्षेत्रमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च सुप्रतीतं, प्राग्भावितत्वात्, उत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, तत्रैव
भूय उत्पत्त्या, धर्मचरणं प्रतीत्य समागतकर्मभूमिजस्त्रिया इव वक्तव्यं, जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटिं यावदिति
भावार्थः ॥ उक्ता सामान्यतो विशेषतश्च कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीवक्तव्यता, साम्प्रतमकर्मभूमकमनुष्यस्त्रीवक्तव्यतां चिकीर्षुः प्रथमतः सामा-
न्येनाह—**'अकम्मभूमिगमणुस्सित्थी णं भंते !'** इत्यादि, अकर्मभूमकमनुष्यस्त्री, णमिति वाक्यालङ्कारे, अकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीति
कालतः कियच्चिरं भवति ?, भगवानाह—गौतम ! 'जन्म' तत्रैव सम्भूतिलक्षणं 'प्रतीत्य' आश्रित्य जघन्येन पल्योपमं देशोनं, अष्टभागा-
धूनमपि देशोनं भवति ततो विशेषस्थापनायाह—पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागोनं जघन्यतः उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, संहरणं प्रतीत्य

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तायुःशेषायाः संहृतिभावात्, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकानि, कथम्? इति चेदुच्यते—काचित्पूर्वविदेहमनुष्यस्त्री अपरविदेहमनुष्यस्त्री वा देशोनपूर्वकोट्यायुःसमन्विता देवकुर्वादौ संहृता, सा च पूर्वदृष्टान्तवलेन देवकुर्वादिका जाता, ततः सा देशोनां पूर्वकोटिं जीवित्वा मृत्वा च तत्रैव त्रिपल्योपमायुष्का समजनि, तत एवं देशोनपूर्वकोट्यधिकं पल्योपमत्रयमिति, अनेन संहरणतो जघन्योत्कृष्टावस्थानकालमानप्रदर्शनेन न्यूनान्तर्मुहूर्त्तायुःशेषाया गर्भस्त्रिया वा न संहरणमिति प्रतिपादितम्, अन्यथा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षचिन्तायां पूर्वकोट्या देशोनता न स्यादिति । अकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीविषयामेव विशेषचिन्तां करोति—'हेमवये'त्यादि, हैमवतैरण्यवतहरिवर्षरम्यकवर्षदेवकुरूत्तरकुर्वन्तरद्वीपिकाणां जन्म प्रतीत्य या यस्याः स्थितिस्ततस्तस्या अवस्थानं वाच्यं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो या यस्या उत्कृष्टा स्थितिः सा तस्या देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिका वक्तव्या, सा चैवं—हैमवतैरण्यवतयोर्मनुष्यस्त्री जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनम्, उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, अन्तर्मुहूर्त्तायुःशेषाया एव संहरणभावात्, उत्कर्षतः पल्योपमं देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकं, तच्च देशोनपूर्वकोट्यायुःसमन्वितायास्तत्र संहरणे तत्रैव च मृत्वोत्पन्नाया भावनीयम् । हरिवर्षरम्यकयोर्जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने द्वे पल्योपमे, उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । संहरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिके द्वे पल्योपमे, भावना प्राग्वि । देवकुरूत्तरकुरुषु जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासंख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकानि । अन्तरद्वीपेषु जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं पल्योपमासङ्ख्येयभागं यावत् उत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागम्,

एतावत्प्रमाणस्य तत्र जघन्यत उत्कर्षतश्च मनुष्याणामायुषः सम्भवात्, मरणानन्तरं च देवयोनावुत्पादात् । संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकं पल्योपमासङ्ख्येयभागं यावत्, भावनाऽत्र प्रागिव ॥ उक्ता सामस्त्येन मनुष्यस्त्रीवक्तव्यता, सम्प्रति देवस्त्रीवक्तव्यतामाह—'देवित्थीण'मित्यादि, देवीनां तथाभवस्वभावतया कायस्थितेरसम्भवात् यैव प्राक् सामान्यतो विशेषतश्च भवस्थितिरुक्ता 'सेव संचिट्ठणा भाणियव्वा' तदेवावस्थानं वक्तव्यम्, अभिलापश्च 'देवित्थी णं भंते! देवित्थीति कालतो केवच्चिरं होइ?' इत्यादिरूपः सुधिया परिभावनीयः ॥ तदेवमुक्तं सामान्यतो विशेषतश्च स्त्रीत्वस्यावस्थानकालमानम्, इदानीमन्तरद्वारमाह—

इत्थीणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति?, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० अणंतं कालं, वणस्सतिकालो, एवं सव्वासिं तिरिक्खित्थीणं । मणुस्सित्थीए खेत्तं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, धम्मचरणं पडुच्च जह० एक्कं समयं उक्को० अणंतं कालं जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं जाव पुव्वविदेहअवरविदेहियाओ, अकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जहन्नं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्को० वणस्सतिकालो, संहरणं पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० वणस्सतिकालो, एवं जाव अंतरदीवियाओ । देवित्थियाणं सव्वासिं जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो ॥ (सू० ४९)

स्त्रिया भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, स्त्री भूत्वा स्त्रीत्वाद् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः, एवं

गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह–गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कथमिति चेदुच्यते–इह काचित्स्त्री स्त्रीत्वान्मरणेन च्युत्वा भवान्तरे पुरुषवेदं नपुंसकवेदं वाऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय ततो मृत्वा भूयः स्त्रीत्वेनोत्पद्यते तत एव जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं भवति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः–असङ्ख्येयपुद्गलपरावर्त्ताख्यो वक्तव्यः, तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियोगतः स्त्रीत्वयोगात्, स च वनस्पतिकाल एवं वक्तव्यः —"अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो" इति, एवमौघिकतिर्यक्स्त्रीणां जलचरस्थलचरखचरस्त्रीणामौघिकमनुष्यस्त्रीणां च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम्, अभिलापोऽपि सुगमत्वात्स्वयं परिभावनीयः । कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियाः क्षेत्रं–कर्मभूमिक्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं वनस्पतिकालप्रमाणं यावत्, धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं, सर्वजघन्यस्य समयत्वात्, उत्कर्षेणानन्तं कालं, देशोनमपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं यावत्, नातो ह्यधिकतरश्चरणलब्धिपातकालः, संपूर्णस्याप्यपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तस्य दर्शनलब्धिपातकालस्य तत्र तत्र प्रदेशे प्रतिषेधात् । एवं भरतैरावतमनुष्यस्त्रियाः पूर्वविदेहापरविदेहस्त्रियाश्च क्षेत्रतो धर्मचरणं चाश्रित्य वक्तव्यम् । अकर्मभूमकमनुष्यस्त्रिया जन्म प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दश वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि, कथमिति चेदुच्यते–इह काचिदकर्मभूमिका स्त्री मृत्वा जघन्यस्थितिषु देवेषूत्पन्ना, तत्र दश वर्षसहस्राण्यायुः परिपाल्य तत्क्षये च्युत्वा कर्मभूमिषु मनुष्यपुरुषत्वेन मनुष्यस्त्रीत्वेन वोत्पद्यते, देवेभ्योऽनन्तरमकर्मभूमिषूत्पादाभावात्, अन्तर्मुहूर्त्तेन मृत्वा भूयोऽप्यकर्मभूमिजस्त्रीत्वेन जायत इति भवन्ति जघन्यतो दश वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि, उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, अकर्मभूमिजस्त्रियाः कर्मभूमिषु संहृत्य तावता कालेन तथाविधबुद्धिपरावृत्त्या भूयस्तत्रैव नयनात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं, तावता कालेन कर्मभूम्यु-

त्पत्तिवत् संहरणस्यापि नियोगतो भावात्, तथाहि—काचिदकर्मभूमिका कर्मभूमौ संहृता, सा च स्वायुःक्षयानन्तरमनन्तकालं वनस्पत्यादिपु संसृत्य भूयोऽप्यकर्मभूमौ समुत्पन्ना ततः केनापि संहृतेति यथोक्तं संहरणस्योत्कृष्टकालमानम् । एवं हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकवर्षदेवकुरूत्तरकुर्वन्तरभूमिकानामपि जन्मतः संहरणतश्च प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यम्, सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात्स्वयं परिभावनीयः ॥ सम्प्रति देवस्त्रीणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह—'देवित्थियाणं भंते!' इत्यादि, देवस्त्रिया भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, कस्याश्चिद्देवस्त्रिया देवीभवाच्च्युताया गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येपूत्पद्य पर्याप्तिपरिसमाप्तिसमनन्तरं तथाऽध्यवसायमरणेन पुनर्देवीत्वेनोत्पत्तिसम्भवात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स च सुप्रतीत एव । एवमसुरकुमारदेव्या आरभ्य यावदीशानदेवस्त्रियामुत्कृष्टमन्तरं वक्तव्यं, पाठोऽपि सुगमत्वात्स्वयं परिभावनीयः ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वं वक्तव्यं, तानि च पञ्च, तद्यथा—प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वं विशेषचिन्तायां द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्स्त्रीणां तृतीयं त्रिविधमनुष्यस्त्रीणां चतुर्थं चतुर्विधदेवस्त्रीणां पञ्चमं मिश्रस्त्रीणां, तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

एतासि णं भंते! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्सित्थियाणं देवित्थियाणं कतरा २ हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सित्थियाओ तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ देवित्थियाओ असंखिज्जगुणाओ ॥ एतासि णं भंते! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीण य कतरा २ हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ थलयरतिरिक्ख-

जोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ जलयरतिरिक्ख० संखेज्जगुणाओ ॥ एतासि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाण य कतरा २ हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ देवकुरूत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दोवि तुल्लाओ संखेज्जगु०, हरिवासरम्मयवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दोवि- तुल्लाओ संखेज्जगु०, हेमवतेरण्णवासअकम्मभूमिगमणुस्सित्थियाओ दोवि तुल्लाओ संखिज्जगु०, भरतेरवतवासकम्मभूमगमणुस्सि० दोवि तुल्लाओ संखिज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दोवि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ ॥ एतासि णं भंते! देवित्थियाणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीण य कयरा २ हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ वाणमंतरदेवीयाओ असंखेज्जगुणाओ जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥ एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं मणुस्सित्थीयाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं देवित्थीणं भवणवासियाणं वाणमंतरीणं जोतिसियाणं वेमाणिणीण य कयराओ २ हिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसे० ?, गोयमा! सव्वत्थोवा अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सितित्थियाओ देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सितित्थियाओ दोवि संखे-

ज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दोऽवि संखेज्जगु०, हेमवतेरण्णवयवासअकम्मभूमग० दोऽवि संखेज्जगु०, भरहेरवतवासकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दोऽवि तुल्लाओ संखेज्जगु०, पुव्वविदेहअवरविदेहवासकम्मभूमगमणुस्सित्थि० दोऽवि संखेज्जगु०, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगु०, भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगु०, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगु०, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाउ संखिज्जगु०, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥ (सू० ५०)

सर्वस्तोका मनुष्यस्त्रियः, सङ्ख्यातकोटाकोटीप्रमाणत्वात्, ताभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं तिर्यक्स्त्रीणामतिबहुतया सम्भवात्, द्वीपसमुद्राणां चासङ्ख्येयत्वात्, ताभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवीनां प्रत्येकमसङ्ख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः, ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, खचरेभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात्, ताभ्यो जलचरस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, लवणे कालोदे स्वयम्भूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण भावात्, स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रभूतत्वात् ॥ उक्तं द्वितीयमल्पबहुत्वम्, अधुना तृतीयमाह—सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याल्पत्वात्, ताभ्यो देवकुरूत्तरकुरुस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य सङ्ख्येयगुणत्वात्, स्वस्थाने तु द्वय्योऽपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाणक्षेत्रत्वात्, ताभ्यो

हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया हरिवर्षरम्यकक्षेत्रस्यातिप्रचुरत्वात्, स्वस्थानेऽपि द्वय्योऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात्, ताभ्योऽपि हैमवतैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया बहूनां तत्र तासां सम्भवात्, स्वस्थाने तु द्वय्योऽपि परस्परं तुल्याः, ताभ्योऽपि भरतैरावतकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणा., कर्मभूमितया स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण सम्भवात्, स्वस्थाने तु द्वय्योऽपि परस्परं तुल्याः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामिकाल इव च स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण भावात्, स्वस्थाने तु द्वय्योऽपि परस्परं तुल्याः ॥ उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम्, अधुना चतुर्थमाह—सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद् द्वितीयं वर्गमूलं तस्मिन् तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावत्प्र(वान् प्र)देशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमभागहीनास्तावत्प्रमाणत्वात्प्रत्येकं सौधर्मेशानदेवस्त्रीणां, ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत्प्रथमं वर्गमूलं तस्मिन् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमभागहीनस्तावत्प्रमाणत्वात्, ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, सङ्ख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेभ्योऽपि द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपनीते यच्छेषमवतिष्ठते तावत्प्रमाणत्वात्तासां, ताभ्यः सङ्ख्येयगुणा ज्योतिष्कदेवस्त्रियः, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपसारिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वात् ॥ उक्तं चतुर्थमल्पबहुत्वम्, इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चममल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः ताभ्योऽपि हरिवर्ष-

म्यकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवतस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः ताभ्योऽपि भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, अत्र भावना प्राग्वत्, ताभ्यो वैमानिकदेवस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, असङ्ख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासां ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियोऽसङ्ख्यातगुणाः, अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता, ताभ्यः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियोऽसङ्ख्येयगुणाः, प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासां ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः, सङ्ख्येयगुणबृहत्तरप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, ताभ्यो जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, सङ्ख्येययोजनकोटाकोटीप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपहृते यावान् राशिरवतिष्ठते तावत्प्रमाणत्वात्, ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, एतच्च प्रागेव भावितम् ॥ इह स्त्रीत्वानुभावः स्त्रीवेदकर्मोदय इति स्त्रीवेदकर्मणो जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिमानमाह—

इत्थिवेदस्स णं भंते! कम्मस्स केवइयं कालं बंधठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढो सत्तभागो[उ] पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणो उक्को० पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ, पण्णरस वाससयाइं अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेओ ॥ इत्थिवेदे णं भंते! किंपगारे पण्णत्ते?, गोयमा! फुंफुअग्गिसमाणे पण्णत्ते, सेत्तं इत्थियाओ ॥ (सू० ५१)

'स्त्रीवेदस्य' स्त्रीवेदनाम्नो णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! कर्मणः कियन्तं कालं बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन

सागरोपमस्य सार्द्धः सप्तभागः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनः, कथमिति चेदुच्यते—इह स्त्रीवेदादीनां कर्मणां स्वस्मात् २ उत्कृष्टस्थितिबन्धात् मिथ्यात्वसत्कया उत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं जघन्यस्थितिः "सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तुक्कोसएण जं लद्ध"मित्यादिवचनप्रामाण्यात्, तत्र स्त्रीवेदस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः, तासां मिथ्यात्वस्थित्या भागो ह्रियते, शून्यं शून्येन पातयेत् जाता उपरि पञ्चदश अधस्तात्सप्ततिः, अनयोश्च छेद्यच्छेदकराश्योर्दशभिरपवर्त्तना जात उपर्येकः सार्द्धः अधस्तात्सप्त आगतमेकसागरोपमस्य सार्द्धः सप्तभागः, पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनः क्रियते, इयं च व्याख्या **मूलटीका**ऽनुसारेण कृता, **पञ्चसङ्ग्रह**मतेनापीदमेव जघन्यस्थितिपरिमाणं केवलं पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनं (न) वक्तव्यं, तन्मतेन "सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईएँ जं लद्धं" इत्येतावन्मात्रस्यैव जघन्यस्थित्यानयनस्य करणस्य विद्यमानत्वात्, **कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहणी**कारस्त्वित्थं जघन्यस्थित्यानयनाय करणसूत्रमाह—"वग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं । सेसाणं तु जहण्णं पलियासंखेज्जगेणूणं ॥ १ ॥" अस्याक्षरगमनिका—इह ज्ञानावरणीयप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्ग इत्युच्यते, दर्शनावरणीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणीयवर्गः, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः, दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्गः, चारित्रमोहनीयप्रकृतिसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्गः, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्गः, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्गः, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्गः, अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः, एतेषां (च) वर्गाणां या आत्मीया आत्मीया उत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिका तस्या मिथ्यात्वसत्कया उत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति यल्लभ्यते तत्पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं सत् उक्तशेषाणां निद्रादीनां प्रकृतीनां जघन्यस्थितेः परिमाणमिति, ततस्तन्मतेन स्त्रीवेदस्य ज-

वन्या स्थितिर्द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनौ, तथाहि—नोकषायमोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयेत्, लब्धौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ तौ पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनौ क्रियेते इति । उत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्यः, इह स्थितिर्द्विधा—कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा अनुभवयोग्या च, तत्रेयं कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा द्रष्टव्या, अनुभवयोग्या पुनरबाधाहीना, (गा) च शेषां कर्मणां यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतान्यबाधा, स्त्रीवेदस्य चाधिकृतस्योत्कृष्टा स्थितिः पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्यस्ततः पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, तथा चाह—"पणरस वाससयाइं अबाहा" इति, किमुक्तं भवति ?—स्त्रीवेदकर्म उत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत्स्वरूपेण पञ्चदश वर्षशतानि यावन्न जीवस्य स्वविपाकोदयमादर्शयति तावत्कालमध्ये दलिकनिषेकस्याभावात्, तथा चाह—"अबाहूणिया" इत्यादि, 'अबाधोना' अबाधाकालपरिहीना कर्मस्थितिरनुभवयोग्येति गम्यते, यतः 'अबाधोनः' अबाधाकालपरिहीनः कर्मनिषेकः—कर्मदलिकरचनेति ॥ साम्प्रतं स्त्रीवेदकर्मोदयजनितो यः स्त्रीवेदः स किंस्वरूपः ? इत्यावेदयन्नाह—'इत्थिवेए णं भंते !' इत्यादि, स्त्रीवेदो णमिति पूर्ववत् भगवन् ! 'किंप्रकारः' किंस्वरूपः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! फुम्फुकाग्निसमानः, फुम्फुकशब्दो देशीत्वात्कारीषवचनस्ततः कारीषाग्निसमानः परिमलनमदनदाहरूप इत्यर्थः, प्रज्ञप्तः, उपसंहारमाह—'सेत्तं इत्थियाओ' ॥ तदेवमुक्ताः स्त्रियः, सम्प्रति पुरुषप्रतिपादनार्थमाह—

से किं तं पुरिसा ?, पुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—तिरिक्खजोणियपुरिसा मणुस्सपुरिसा देवपुरिसा ॥ से किं तं तिरिक्खजोणियपुरिसा ?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरा थलयरा खहयरा,

इत्थिभेदो भाणितव्वो, जाव खहयरा, सेत्तं खहयरा सेत्तं खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा ॥ से किं तं मणुस्सपुरिसा ?, २ तिविधा पण्णत्ता, तंजहा–कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवगा, सेत्तं मणुस्सपुरिसा ॥ से किं तं देवपुरिसा ?, देवपुरिसा चउव्विहा पण्णत्ता, इत्थीभेदो भाणितव्वो जाव सव्वट्ठसिद्धा (सू० ५२)

'से किं तं पुरिसा' इत्यादि, अथ के ते पुरुषाः ?, पुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–तिर्यग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्च ॥ से किं तमित्यादि, अथ के ते तिर्यग्योनिकपुरुषाः ?, तिर्यग्योनिकपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा–जलचरपुरुषाः स्थलचरपुरुषाः खचरपुरुषाश्च । मनुष्यपुरुषा अपि त्रिविधास्तद्यथा–कर्मभूमका अकर्मभूमका अन्तरद्वीपकाश्च ॥ देवसूत्रमाह–'से किं त'मित्यादि, अथ के ते देवपुरुषाः ?, देवपुरुषाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–भवनवासिनो वानमन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्च, भवनपतयोऽसुरादिभेदेन दशविधा वक्तव्याः, वानमन्तराः पिशाचादिभेदेनाष्टविधाः, ज्योतिष्काश्चन्द्रादिभेदेन पञ्चविधाः, वैमानिकाः कल्पोपपन्नकल्पातीतभेदेन द्विविधाः, कल्पोपपन्नाः सौधर्मादिभेदेन द्वादशविधाः, कल्पातीता ग्रैवेयकानुत्तरोपपातिकभेदेन द्विविधाः, तथा चाह–"जाव अणुत्तरोववाइया" इति ॥ उक्तो भेदः, सम्प्रति स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

पुरिसस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं । तिरिक्खजोणियपुरिसाणं मणुस्साणं जा चेव इत्थीणं ठिती सा चेव भणियव्वा ॥ देवपुरिसाणवि जाव सव्वट्ठसिद्धाणं ति। ताव ठिती जहा पण्णवणाए तहा भाणियव्वा ॥ (सू० ५३)

'पुरिसस्स णं भंते' इत्यादि, पुरुषस्य स्वस्वभवमजहतो भदन्त! कियन्तं कालं यावत्स्थितिः प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्ध्वं मरणभावात्, उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तान्यनुत्तरसुरापेक्षया द्रष्टव्यानि, अन्यस्यैतावत्याः स्थितेरभावात्। तिर्यग्योनिकानामौधिकानां जलचराणां स्थलचराणां खचराणां स्त्रिया या स्थितिरुक्ता तथा वक्तव्या, मनुष्यपुरुषस्याप्यौधिकस्य कर्मभूमिकस्य सामान्यतो विशेषतो भरतैरावतकस्य पूर्वविदेहापरविदेहकस्य अकर्मभूमस्य सामान्यतो विशेषतो हैमवतैरण्यवतकस्य हरिवर्षरम्यकस्य देवकुरूत्तरकुरुकस्यान्तरद्वीपकस्य यैवाखीये आत्मीये स्थाने स्त्रियाः स्थितिः सैव पुरुषस्यापि वक्तव्या, तद्यथा—सामानिकतिर्यग्योनिकपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, जलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, चतुष्पदस्थलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, उरःपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, एवं भुजपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणां खचरपुरुषाणामपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, सामान्यतो मनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतच्च बाह्यलिङ्गप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य वेदितव्यं, अन्यथा चरणपरिणामस्यैकसामायिकस्यापि सम्भवादेकं समयमिति ब्रूयात्, अथवा देशचरणमधिकृत्येदं वक्तव्यं, देशचरणप्रतिपत्तेर्बहुलभङ्गतया जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तसम्भवात्, तत्र सर्वचरणसम्भवेऽपि यदिदं देशचरणमधिकृत्योक्तं तद्देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति प्रतिपत्त्यर्थं, तथा चोक्तम्—"[1]सम्मत्तंमि उ लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होइ। चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा होंति ॥ १ ॥" इति, अत्र यदाद्यं व्याख्यानं तत्स्त्रीवेदचिन्तायामपि द्रष्टव्यं, यच्च स्त्रीवेदचिन्तायां व्याख्यातं तदत्रापीति, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी

१ सम्यक्त्वे तु लब्धे पल्योपमपृथक्त्वेनैव श्रावको भवति। चरणोपशमक्षयाणा सागरोपमाणि संख्यातानि अन्तरं भवन्ति ॥ १ ॥

वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव चरणप्रतिपत्तिसम्भवात्, कर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, चरणप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च सुषमसुषमारके वेदितव्यानि, धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, सामान्यतोऽकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमेकं पल्योपममुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी, पूर्वविदेहकस्यापरविदेहकस्य वाऽकर्म्मभूमौ संहृतस्य जघन्येनोत्कर्षत एतावदायुःप्रमाणसम्भवात्, हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमुत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भावना प्रागिव, हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन देशोनपल्योपमासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः परिपूर्णपल्योपमासङ्ख्येयभागः, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ॥ **देवपुरिसाण**मित्यादि, देवपुरुषाणां सामान्यतो जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, विशेषचिन्तायाम-

सुरकुमारपुरुषाणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः सातिरेकमेकं सागरोपमं, नागकुमारादिपुरुषाणां सर्वेषामपि जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतो देशोने द्वे पल्योपमे, व्यन्तरपुरुषाणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः पल्योपमं, ज्योतिष्कदेवपुरुषाणां जघन्यतः पल्योपमस्याष्टमो भाग उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं वर्षशतसहस्राभ्यधिकं, सौधर्मकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः पल्योपममुत्कर्षतः द्वे सागरोपमे ईशान—[ग्रन्थाग्रम् २०००] कल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः साधिकं पल्योपममुत्कर्षतो द्वे सागरोपमे सातिरेके सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषाणां च जघन्यतो द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सप्त सागरोपमाणि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः सातिरेके द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि ब्रह्मलोकदेवानां जघन्यतः सप्त सागरोपमाणि उत्कर्षतो दश लान्तककल्पदेवानां जघन्यतो दश सागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्दश महाशुक्रकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतश्चतुर्दश सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तदश सहस्रारकल्पदेवानां जघन्येन सप्तदश सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टादश आनतकल्पदेवानां जघन्यतोऽष्टादश सागरोपमाणि उत्कर्षत एकोनविंशतिः प्राणतकल्पदेवानां जघन्यत एकोनविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो विंशतिः आरणकल्पदेवानां जघन्यतो विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षत एकविंशतिः अच्युतकल्पदेवानां जघन्यत एकविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो द्वाविंशतिः अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघन्यतो द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयोविंशतिः अधस्तनमध्यमग्रैवेयकदेवानां जघन्यतस्त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिः अधस्तनोपरितनग्रैवेयकदेवानां जघन्यतश्चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः पञ्चविंशतिः मध्यमाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघन्येन पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः षड्विंशतिः मध्यममध्यमग्रैवेयकदेवानां जघन्यतः षड्विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तविंशतिः मध्यमोपरितनग्रैवेयकदेवानां जघन्येन सप्तविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टाविंशतिः उपरितनाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघ-

वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव चरणप्रतिपत्तिसम्भवात्, कर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, चरणप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च सुषमसुषमारके वेदितव्यानि, धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, सामान्यतोऽकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमेकं पल्योपममुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी, पूर्वविदेहकस्यापरविदेहकस्य वाऽकर्मभूमौ संहृतस्य जघन्येनोत्कर्षत एतावदायुःप्रमाणसम्भवात्, हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमुत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भावना प्रागिव, हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन देशोनपल्योपमासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः परिपूर्णपल्योपमासङ्ख्येयभागः, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ॥

देवपुरिसाणमित्यादि, देवपुरुषाणां सामान्यतो जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, विशेषचिन्तायाम-

सुरकुमारपुरुषाणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः सातिरेकमेकं सागरोपमं, नागकुमारादिपुरुषाणां सर्वेषामपि जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतो देशोने द्वे पल्योपमे, व्यन्तरपुरुषाणां जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः पल्योपमं, ज्योतिष्कदेवपुरुषाणां जघन्यतः पल्योपमस्याष्टमो भाग उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमं वर्षशतसहस्राभ्यधिकं, सौधर्मकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः पल्योपममुत्कर्षतः द्वे सागरोपमे ईशान–[ग्रन्थाग्रम् २०००] कल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः साधिकं पल्योपममुत्कर्षतो द्वे सागरोपमे सातिरेके सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषाणां च जघन्यतो द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सप्त सागरोपमाणि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतः सातिरेके द्वे सागरोपमे उत्कर्षतः सातिरेकाणि सप्त सागरोपमाणि ब्रह्मलोकदेवानां जघन्यतः सप्त सागरोपमाणि उत्कर्षतो दश लान्तककल्पदेवानां जघन्यतो दश सागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्दश महाशुक्रकल्पदेवपुरुषाणां जघन्यतश्चतुर्दश सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तदश सहस्रारकल्पदेवानां जघन्येन सप्तदश सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टादश आनतकल्पदेवानां जघन्यतोऽष्टादश सागरोपमाणि उत्कर्षत एकोनविंशतिः प्राणतकल्पदेवानां जघन्यत एकोनविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो विंशतिः आरणकल्पदेवानां जघन्यतो विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षत एकविंशतिः अच्युतकल्पदेवानां जघन्यत एकविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतो द्वाविंशतिः अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघन्यतो द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयोविंशतिः अधस्तनमध्यमग्रैवेयकदेवानां जघन्यतस्त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिः अधस्तनोपरितनग्रैवेयकदेवानां जघन्यतश्चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः पञ्चविंशतिः मध्यमाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघन्येन पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः षड्विंशतिः मध्यममध्यमग्रैवेयकदेवानां जघन्यतः षड्विंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तविंशतिः मध्यमोपरितनग्रैवेयकदेवानां जघन्येन सप्तविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतोऽष्टाविंशतिः उपरितनाधस्तनग्रैवेयकदेवानां जघ-

न्येनाष्टाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षत एकोनत्रिंशत् उपरितनमध्यमग्रैवेयकदेवानां जघन्येनैकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रिंशत् उपरितनोपरितनग्रैवेयकदेवानां जघन्यतस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षत एकत्रिंशत् सागरोपमाणि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानदेवानां जघन्येनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवानामजघन्योत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । कचिदेवं सूत्रपाठः—"देवपुरिसाण ठिई जहा पण्णवणाए ठिइपए तहा भाणियव्वा" इति, तत्र स्थितिपदेऽप्येवमेवोक्ता स्थितिरिति ॥ उक्तं पुरुषस्य भवस्थितिमानमधुना पुरुषः पुरुषत्वममुञ्चन् कियन्तं कालं निरन्तरमवतिष्ठते इति निरूपणार्थमाह—

पुरिसे णं भंते! पुरिसे त्ति कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतो० उक्को० सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं। तिरिक्खजोणियपुरिसे णं भंते! कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतो० उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं, एवं तं चेव, संचिट्ठणा जहा इत्थीणं जाव खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसस्स संचिट्ठणा। मणुस्सपुरिसाणं भंते! कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहन्ने० अंतो० उक्को० तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं, धम्मचरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी एवं सव्वत्थ जाव पुव्वविदेहअवरविदेह, अकम्मभूमगमणुस्सपुरिसाण जहा अकम्मभूमकमणुस्सित्थीणं जाव अंतरदीवगाणं जच्चेव ठिती सच्चेव संचिट्ठणा जाव सव्वट्ठसिद्धगाणं ॥ (सू० ५४)

पुरुषो णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! पुरुष इति पुरुषभावापरित्यागेन 'कियच्चिरं' कियन्तं कालं यावद्भवति?, भगवानाह—गौतम!

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तावतः कालादूर्ध्वं मृत्वा स्त्र्यादिभावगमनाद्, उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वं, सामान्येन तिर्यङ्नरामरभवेष्वेतावन्तं कालं पुरुषेष्वेव भावसम्भवात्, सातिरेकता कतिपयमनुष्यभवैर्वेदितव्या, अत ऊर्ध्वं पुरुषनामकर्मोदयाभावतो नियमत एव स्त्र्यादिभावगमनात्। तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां तथा वक्तव्यं, तच्चैवम्—तिर्यग्योनिकपुरुषस्तिर्यग्योनिकपुरुषत्वमजहत् जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं मृत्वा गत्यन्तरे वेदान्तरे वा संक्रमात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तत्र पूर्वकोटिपृथक्त्वं सप्त भवाः पूर्वकोट्यायुषः पूर्वविदेहादौ (यतः) त्रीणि पल्योपमान्यष्टमे भवे देवकुरूत्तरकुरुषु, (यतः) विशेषचिन्तायां जलचरपुरुषो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्ध्वं मरणभावेन तिर्यग्योन्यन्तरे गत्यन्तरे वेदान्तरे वा संक्रमात्, उत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, पूर्वकोट्यायुःसमन्वितस्य भूयो भूयस्तत्रैव द्व्यादिवारोत्पत्तिसम्भवात्। चतुष्पदस्थलचरपुरुषो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तानि सामान्यतिर्यक्पुरुषस्येव भावनीयानि। उरःपरिसर्पस्थलचरपुरुषो भुजपरिसर्पस्थलचरपुरुषश्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, तच्च जलचरपुरुषस्येव भावनीयं। खचरपुरुषो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, अन्तर्मुहूर्त्तभावना सर्वत्रापि प्रागिव, उत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, स च सप्त वारान् पूर्वकोटिस्थितिपूत्पद्याष्टमवारमन्तरद्वीपादिखचरपुरुषेषु पल्योपमासङ्ख्येयभागस्थितिषूत्पद्यमानस्य वेदितव्यः। 'मणुस्सपुरिसाणं जहा मणुस्सित्थीण'मिति, मनुष्यपुरुषाणां यथा मनुष्यस्त्रीणां तथा वक्तव्यं, तच्चैवं—सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्द्ध्वं मृत्वा गत्यन्तरे वेदान्तरे वा संक्रमात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तत्र सप्त भवाः पूर्वकोट्यायुषो महाविदेहेषु अष्टमस्तु देवकुर्वादिषु, धर्मचरणं प्रतीत्य समयमेकं, द्वितीयसमये मरणभावात्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, उत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष

एव वर्षाष्टकादूर्द्ध्वं चरणप्रतिपत्तिभावात्, विशेषचिन्तायां सामान्यतः कर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषः कर्मभूमिरूपं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि, तत्रान्तर्मुहूर्त्तभावना प्रागिव, त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि सप्त वारान् पूर्वकोट्यायुःसमन्वितेषूत्पद्याष्टमं वारमेकान्तसुषमायां भरतैरावतयोस्त्रिपल्योपमस्थितिपूत्पद्यमानस्य वेदितव्यानि, धर्म्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयं, सर्वविरतिपरिणामस्यैकसामयिकस्यापि सम्भवात्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, समग्रचरणकालस्याप्येतावत एव भावात् । भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषोऽपि भरतैरावतक्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि, तानि च पूर्वकोट्यायुःसमन्वितस्य विदेहपुरुषस्य भरतादौ संहृत्यानीतस्य भरतादिवासयोगाद् भरतादिप्रवृत्तव्यपदेशस्य भवायुःक्षये एकान्तसुषमाप्रारम्भे समुत्पन्नस्य वेदितव्यानि, धर्म्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, एतच्च द्वयमपि प्रागिव भावनीयं, पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषः क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, तच्च भूयो भूयस्तत्रैव सप्तवारानुत्पत्त्या भावनीयं, अत ऊर्द्ध्वं त्ववश्यं गत्यन्तरे योन्यन्तरे वा संक्रमभावात्, धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । तथा सामान्यतोऽकर्मभूमकमनुष्यपुरुषस्तद्भावमपरित्यजन् जन्म प्रतीत्य जघन्यत एकं पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, संहरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तच्चान्तर्मुहूर्त्तायुःशेषस्याकर्म्मभूमिषु संहृतस्य वेदितव्यं, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकानि, तानि च देशोनपूर्वकोट्यायुःसमन्वितस्योत्तरकुर्वादौ संहृतस्य तत्रैव मृत्वोत्पन्नस्य वेदितव्यानि, देशोनता च पूर्वकोट्या गर्भकालेन न्यूनत्वाद्, गर्भस्थितस्य संहरणप्रतिषेधात् । हैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषो जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं पल्योपममुत्कर्षतः परिपूर्णं

पल्योपमं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिकमेकं पल्योपमं, अत्र भावना प्रागुक्तानुसारेण स्वयं कर्त्तव्या। हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषो जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने, उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे, जघन्यत उत्कर्षतश्च तत्रैतावत आयुषः सम्भवात्, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं न्यूनान्तर्मुहूर्त्तायुषः संहरणाऽसम्भवात्, उत्कर्षतो देशोनया पूर्वकोट्याऽभ्यधिके द्वे पल्योपमे, भावनाऽत्र प्राग्वत्। देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यपुरुषः क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि, संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि देशोनपूर्वकोट्यधिकानि। अन्तरद्वीपकमनुष्यपुरुषो जन्म प्रतीत्य देशोनं पल्योपमासङ्ख्येयभागमुत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमासङ्ख्येयभागं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिसमभ्यधिकः पल्योपमासङ्ख्येयभागः। 'देवाणं जा चेव ठिई सा चेव संचिट्ठणा भाणियव्वा' देवानां यैव स्थितिः प्रागभिहिता सैव 'संचिट्ठणा' इति कायस्थितिर्भणितव्या, नन्वनेकभवभावाश्रया कायस्थितिः सा कथमेकस्मिन् भवे भवति?, नैष दोषः, देवपुरुषो देवपुरुषत्वापरित्यागेन कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं भवति? इत्येतावदेवात्र विवक्षितं, तत्र देवो मृत्वाऽऽनन्तर्येण भूयो देवो न भवति ततः 'देवाणं जा ठिई सा चेव संचिट्ठणा भाणियव्वा' इत्यतिदेशः कृतः॥ तदेवमुक्तं सातत्येनावस्थानमिदानीमन्तरमाह—

पुरिसस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, गोयमा! जह० एक्कं समयं उक्को० वणस्सतिकालो तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जह० अंतोमु० उक्को० वणस्सतिकालो एवं जाव खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसाणं॥ मणुस्सपुरिसाणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, गोयमा! खेत्तं

पडुच्च जह० अंतोमु० उक्को० वणस्सतिकालो, धम्मचरणं पडुच्च जह० एक्कं समयं उक्को० अणंतं कालं अणंताओ उस्स० जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, कम्मभूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणे एक्को समओ सेसं जहित्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥ देवपुरिसाणं जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारो, जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो । आणतदेवपुरिसाणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, गोयमा! जह० वासपुहुत्तं उक्को० वणस्सतिकालो, एवं जाव गेवेज्जदेवपुरिसस्सवि । अणुत्तरोववातियदेवपुरिसस्स जह० वासपुहुत्तं उक्को० संखेज्जाइं सागरोवमाइं साइरेगाइं ॥ (सू० ५५)

'पुरिसस्सणं' इत्यादि, पुरुषस्य णमिति वाक्यालङ्कारे पूर्ववत् भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?, पुरुषः पुरुषत्वात्परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता कालेन तदवाप्नोतीत्यर्थः, तत्र भगवानाह—गौतम! जघन्येनैकं समयं—समयादनन्तरं भूयोऽपि पुरुषत्वमवाप्नोतीति भावः, इयमत्र भावना—यदा कश्चित्पुरुष उपशमश्रेणिगत उपशान्ते पुरुषवेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं म्रियते तदाऽसौ नियमाद्देवपुरुषेपूत्पद्यते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य, ननु स्त्रीनपुंसकयोरपि श्रेणिलाभो भवति तत्कस्मादनयोरप्येवमेकः समयोऽन्तरं न भवति?, उच्यते, स्त्रिया नपुंसकस्य च श्रेण्यारूढाववेदकभावानन्तरं मरणेन तथाविधशुभाध्यवसायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स चैवमभिलपनीयः—"अणंताओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ कालतो खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइ भागो" इति ॥ तदेवं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमभिधाय सम्प्रति तिर्यक्पुरुषविष-

यमतिदेशमाह—'जं तिरिक्खजोणित्थीणमंतर'मित्यादि, यत्तिर्यग्योनिकस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिर्यग्योनिकपुरुषाणामप्यविशेषितं वक्तव्यं; तच्चैवम्—सामान्यतस्तिर्यक्पुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावत्कालस्थितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधानात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्त्ताख्यः, तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियोगतः पुरुषत्वयोगात्, एवं विशेषचिन्तायां जलचरपुरुषस्य स्थलचरपुरुषस्य खचरपुरुषस्यापि प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं ॥ सम्प्रति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमतिदेशमाह—'जं मणुस्सइत्थीणमंतरं तं मणुस्सपुरिसाण'मिति, यन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि वक्तव्यं, तच्चैवम्—सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः क्षेत्रमधिकृत्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च प्रागिव भावनीयं, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं, चरणपरिणामात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं भूयोऽपि कस्यचिच्चरणप्रतिपत्तिसम्भवात्, उत्कर्षतो देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः, एवं भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं । सामान्यतोऽकर्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि, अकर्मभूमकमनुष्यपुरुषत्वेन मृतस्य जघन्यस्थितिषु देवेषूत्पद्य[ते], ततोऽपि च्युत्वा कर्मभूमिषु स्त्रीत्वेन पुरुषत्वेन वोत्पद्य कस्याप्यकर्मभूमित्वेन भूयोऽप्युत्पादात्, देवभवाच्च्युत्वाऽनन्तरमकर्म्मभूमिषु मनुष्यत्वेन तिर्यक्सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वेन वा उत्पादाभावादपान्तराले कर्म्मभूमिकेषु मृत्वोत्पादाभिधानं, उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, अकर्म्मभूमेः कर्म्मभूमिषु संहृत्यान्तर्मुहूर्त्तानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तादिभावतो भूयस्तत्रैव नयनसम्भवात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, एतावतः कालादूर्द्ध्वमकर्मभूमिषूत्पत्तिवत् संहरणस्यापि नियोगतो भावात् । एवं हैमवतैरण्यवतादिष्वप्यकर्म्मभूमिषु जन्मतः संहरणतश्च जघन्यत

उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यावदन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषवक्तव्यता ॥ सम्प्रति देवपुरुषाणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह—'देवपुरिसस्स णं भंते!' इत्यादि, देवपुरुषस्य भदन्त! कालतः कियच्चिरमन्तरं भवति ?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, देवभवाच्च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूत्पद्य पर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरं तथाविधाध्यवसायमरणेन भूयोऽपि कस्यापि देवत्वेनोत्पादसम्भवात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, एवमसुरकुमारादारभ्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवपुरुषस्यान्तरं, आनतकल्पदेवस्यान्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वं, कस्मादेतावदिहान्तरमिति चेदुच्यते इह यो गर्भस्थः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः स शुभाध्यवसायोपेतो मृतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूत्पद्यते नानतादिषु, तावन्मात्रकालस्य तद्योग्याध्यवसायविशुद्ध्यभावात्, ततो य आनतादिभ्यश्च्युतः सन् भूयोऽप्यानतादिषूत्पत्स्यते स नियमाच्चारित्रमवाप्य, चारित्रं चाष्टमे वर्षे, तत उक्तं जघन्यतो वर्षपृथक्त्वम्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, एवं प्राणतारणाच्युतकल्पग्रैवेयकदेवपुरुषाणामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यत उत्कर्षतश्च वक्तव्यम्, अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरं वर्षपृथक्त्वमुत्कर्षतः सङ्ख्येयानि सागरोपमाणि सातिरेकाणि, तत्र सङ्ख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यवैमानिकेषु सङ्ख्येयवारोत्पत्त्या, सातिरेकाणि मनुष्यभवैः, तत्र सामान्याभिधानेऽप्येतदपराजितान्तमवगन्तव्यं, सर्वार्थसिद्धे सकृद्देवोत्पादतस्तत्रान्तरासम्भवात्, अन्ये त्वभिदधति—भवनवासिन आरभ्य आईशानादमरस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, सनत्कुमारादारभ्यासहस्रारान्नव दिनानि, आनतकल्पादारभ्याच्युतकल्पं यावन्नव मासाः, नवसु ग्रैवेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्वनुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि, ग्रैवेयकान् यावत् सर्वत्राप्युत्कर्षतो वनस्पतिकालः, विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे सागरोपमे, उक्तञ्च—"[1]आईसाणादमरस्स

१ आईशानादन्तरममराणां हीनं मुहूर्त्तान्तः । आ सहस्रारात् अच्युतात् अनुत्तरात् दिनमासवर्षनवकम् ॥ १ ॥ स्थावरकाल उत्कृष्टः सर्वार्थे द्वितीयो नोत्पादः । द्वे सागरोपमे विजयादिषु.

अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो। आसहसारे अच्चुयणुत्तरदिणमासवासनव ॥ १ ॥ थावरकालुक्कोसो सव्वट्ठे बीयओ न उववाओ। दो अ-यरा विजयादिसु" इति ॥ तदेवमुक्तमन्तरं, साम्प्रतमल्पबहुत्वं वक्तव्यं, तानि च पञ्च, तद्यथा—प्रथमं सामान्याल्पबहुत्वं, द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्पुरुषविषयं, तृतीयं त्रिविधमनुष्यपुरुषविषयं, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविषयं, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयं, तत्र प्रथमं तावदभिधित्सुराह—

अप्पाबहुयाणि जहेवित्थीणं जाव एतेसि णं भंते! देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाण य कतरे२हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा वेमाणियदेवपुरिसा भवणवइदेवपुरिसा असंखे० वाणमंतरदेवपुरिसा असंखे० जोतिसिया देवपुरिसा संखेज्जगुणा ॥ एतेसि णं भंते! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमकाणं अकम्मभूमकाणं अंतरदिव० देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमन्तराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं जाव सव्वट्ठसिद्धगाण य कतरे२हिंतो अप्पा वा बहुगा वा जाव विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा देवकुरूत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दोवि संखेज्ज० हरिवासरम्मगवासअक० दोवि संखेज्जगुणा हेमवतहेरण्णवतवासअकम्म० दोवि संखि० भरहेरवतवासकम्मभूमगमणु० दोवि संखे० पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभू० दोवि संखे० अणुत्तरोववा-

तियदेवपुरिसा असंखि० उवरिमगेविज्जदेवपुरिसा संखेज्ज० मज्झिमगेविज्जदेवपुरिसा संखेज्ज० हेट्ठिमगेविज्जदेवपुरिसा संखे० अच्चुयकप्पे देवपुरिसा संखे०, जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्ज० सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखे० महासुक्के कप्पे देवपुरिसा असंखे० जाव माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखे० सणंकुमारकप्पे देवपुरिसा असं० ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखे० सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखे० भवणवासिदेवपुरिसा असंखे० खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा असंखे० थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे० जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा असंखे० वाणमंतरदेवपुरिसा संखे०, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा ॥ (सू० ५६)

'पुरिसाणं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यो देवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्वं (तथा) वक्तव्यं। सम्प्रति देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्य उपरितनग्रैवेयकदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिमानत्वात्, कथमेतदवसेयमिति चेदुच्यते—विमानबाहुल्यात्, तथाहि—अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं चासङ्ख्येया देवाः, यथा चाधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते, ततोऽवसी-

यते—अनुत्तरविमानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः (संख्येयगुणा) एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया, तेभ्यो मध्यमग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यच्युतकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यारणकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणीकौ समविमानसङ्ख्याकौ च तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात्प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ के ते कृष्णपाक्षिकाः ?, उच्यते; इह द्वये जीवाः, तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाः शुक्लपाक्षिकाश्च, तत्र येषां किञ्चिदूनोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः, उक्तञ्च—"जेसिंमवड्डो पुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु अहिए पुण कण्हपक्खीया ॥ १ ॥" अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, अल्पसंसाराणां स्तोकानामेव सम्भवात्, बहवः कृष्णपाक्षिकाः, दीर्घसंसाराणामनन्तानन्तानां भावात्, अथ कथमेतदवसातव्यं यथा कृष्णपाक्षिकाः प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, उच्यते, तथास्वाभाव्यात्, तच्च तथास्वाभाव्यमेवं पूर्वाचार्यैर्युक्तिभिरुपबृंहितं—कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयात्, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्याद् तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते; यत उक्तम्—"पायमिह कूरकम्मा भवसिद्धीयावि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुयासुराइठाणेसु गच्छंति ॥ १ ॥" ततो दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां सम्भवादुपपद्यते—अच्युतकल्पदेवपुरुषापेक्षयाऽऽर-

१ येषामपार्धः पुद्गलपरावर्त्तः शेष एव संसारः । ते शुक्लपाक्षिकाः खलु अधिके पुनः कृष्णपाक्षिकाः ॥ १ ॥ २ प्राय इह क्रूरकर्माणो भवसिद्धिका अपि दाक्षिणात्येषु । नैरयिकतिर्यङ्मनुजासुरादिस्थानेषु गच्छन्ति ॥ १ ॥

णकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यानतकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया सङ्ख्येयगुणत्वं कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण भावात्, एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पवासिपर्यन्तदेवपुरुषाः प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, "[1]आणयपाणयमाई पल्लस्सासंखभागो उ" इति वचनात्, केवलमसङ्ख्येयो भागो विचित्र इति परस्परं यथोक्तं सङ्ख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, आनतकल्पदेवपुरुषेभ्यः सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसङ्ख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्योऽपि महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तरश्रेण्यसङ्ख्येयभागाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, कथमेतत्प्रत्येयमिति चेदुच्यते—विमानबाहुल्यात्, तथाहि—षट् सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यच्चाधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः स्तोकस्तोकतरा उपरितनोपरितनविमानवासिनस्तत उपपद्यन्ते सहस्रारकल्पदेवपुरुषेभ्यो महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि लान्तककल्पदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, भूयोबृहत्तमश्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, भूयस्तरबृहत्तमनभःश्रेण्यसङ्ख्येयभागगताकाशप्रदेशमानत्वात्, तेभ्यः सनत्कुमारकल्पदेवा असङ्ख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात्, तथाहि—द्वादश शतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे विमानानामष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे अन्यच्च दक्षिणदिग्भागवर्त्ती सनत्कुमारकल्पो माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्वर्त्ती दक्षिणस्यां च दिशि बहवः

१ आनतप्राणतादयः पल्योपमस्यासङ्ख्यो भागस्तु

समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, तत उपपद्यन्ते माहेन्द्रकल्पात्सनत्कुमारकल्पे देवा असङ्ख्येयगुणाः, एते च सर्वेऽपि सहस्रारकल्पवासिदे-
वादयः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतलोकैकश्रेण्यसङ्ख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा द्र-
ष्टव्याः, केवलं श्रेण्यसङ्ख्येयभागोऽसङ्ख्येयभेदभिन्नस्तत इत्थमसङ्ख्येयगुणतयाऽल्पबहुत्वमभिधीयमानं न विरोधभाक्, सनत्कुमार-
कल्पदेवपुरुषेभ्य ईशानकल्पदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन
गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सङ्ख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो
भागस्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात्, तथाहि—अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि
विमानानामीशानकल्पे द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि सौधर्म्मकल्पे, अपि च दक्षिणदिग्वर्त्ती सौधर्म्मकल्प ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्वर्त्ती, दक्षि-
णस्यां च दिशि वहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते, तत ईशानकल्पवासिदेवपुरुषेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, नन्वियं
युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पे देवा असङ्ख्येयगुणा उक्ता इह तु सौधर्मे कल्पे
सङ्ख्येयगुणास्तदेतत्कथम्?, उच्यते, तथावस्तुस्वाभाव्यात्, एतच्चावसीयते प्रज्ञापनादौ सर्वत्र तथाभणनात्, तेभ्योऽपि भवनवासि-
देवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमे वर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिरुप-
जायते तावत्सङ्ख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाण-
त्वात्, तेभ्यो व्यन्तरदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, सङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन्
प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यः सङ्ख्येयगुणा ज्योतिष्कदेवपुरुषाः, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वया-

ङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् ॥ सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यपुरुषाः, क्षेत्रस्य स्तोकत्वात्, तेभ्योऽपि देवकुरूत्तरकुरुमनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बहुत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यातिबहुत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात्, तेभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया प्राचुर्येण लभ्यमानत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, अजितस्वामिकाले उत्कृष्टपदे (इव) स्वभावत एव भरतैरावतेषु [च] मनुष्यपुरुषाणामतिप्राचुर्येण सम्भवात्, स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य तुल्यत्वात्, तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामिकाले इव स्वभावत एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण सम्भवात्, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तदनन्तरमुपरितनग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषा मध्यमग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषा अधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्राणतकल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, भावना प्रागिव, तदनन्तरं सहस्रारकल्पदेवपुरुषा लान्तककल्पदेवपुरुषा ब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषा माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाः सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषा ईशानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, सौधर्म्मकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, सौधर्म्मकल्पदेवपुरुषेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, भावना सर्वत्रापि प्रागिव, तेभ्यः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्,

तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, युक्तिरत्रापि प्रागिव, तेभ्योऽपि वानमन्तरदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, सङ्ख्येययोजनकोटीप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागेवोक्ता ॥

पुरिसवेदस्स णं भंते! कम्मस्स केवतियं कालं बंधट्ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० अट्ठ संवच्छराणि, उक्को० दस सागरोवमकोडाकोडीओ, दसवाससयाइं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेओ ॥ पुरिसवेदे णं भंते! किंपकारे पण्णत्ते?, गोयमा! वणदवग्गिजालसमाणे पण्णत्ते, सेत्तं पुरिसा ॥ (सू० ५७)

पुरुषवेदस्थितिर्जघन्यतोऽष्टौ संवत्सराणि, एतन्न्यूनस्य तन्निबन्धनविशिष्टाध्यवसायाभावतो जघन्यत्वेनासम्भवात्, उत्कर्षतो दश सागरोपमकोटीकोटयः, दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधोना कर्म्मस्थितिः कर्मनिषेकः, अस्य व्याख्या प्राग्वत् ॥ तथा पुरुषवेदो भदन्त! किंप्रकारः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! दवाग्निज्वालासमानः, प्रारम्भे तीव्रमदनदाह इति भावः, प्रज्ञप्तः ॥ व्याख्यातः पुरुषाधिकारः, सम्प्रति नपुंसकाधिकारप्रस्तावः, तत्रेदमादिसूत्रम्—

से किं तं णपुंसका?, णपुंसका तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—नेरइयनपुंसका तिरिक्खजोणियनपुंसका मणुस्सजोणियणपुंसका ॥ से किं तं नेरइयनपुंसका?, नेरइयनपुंसका सत्तविधा पण्णत्ता, तंजहा—रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसका सक्करप्पभापुढविनेरइयनपुंसका जाव अधेसत्तमपुढविनेरइयणपुं-

सका, से तं नेरइयनपुंसका ॥ से किं तं तिरिक्खजोणियणपुंसका ?, २ पंचविधा पण्णत्ता, तंजहा–एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका, बेइंदि० तेइंदि० चउ० पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका ॥ से किं तं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका ?, २ पञ्चविधा पण्णत्ता, तं० पु० आ० ते० वा० व० से तं एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका ॥ से किं तं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका ?, २ अणेगविधा पण्णत्ता०, से तं बेइंदियतिरिक्खजोणिया, एवं तेइंदियावि, चउरिंदियावि ॥ से किं तं पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका ?, २ तिविधा पण्णत्ता, तंजहा–जलयरा थलयरा खहयरा । से किं तं जलयरा ?, २ सो चेव पुव्वुत्तभेदो आसालियवज्जितो भाणियव्वो, से तं पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका॥ सो किं तं मणुस्सनपुंसका ?, २ तिविधा पण्णत्ता, तंजहा–कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवका, भेदो जाव भा० ॥ (सू० ५८)

२प्रतिपत्तौ पुरुषवेद स्थिति-प्रकारौ सू० ५७ नपुंसक-भेदाः सू० ५८

'से किं तं नपुंसगा' इत्यादि, अथ के ते नपुंसका ?, नपुंसकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–नैरयिकनपुंसकास्तिर्यग्योनिकनपुंसका मनुष्यनपुंसकाश्च ॥ नैरयिकनपुंसकप्रतिपादनार्थमाह—'से किं त'मित्यादि, अथ के ते नैरयिकनपुंसकाः ?, पृथ्वीभेदेन सप्तविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिकनपुंसकाः शर्कराप्रभापृथ्वीनैरयिकनपुंसकाः यावदधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, उपसंहारमाह—'से तं नेरइयनपुंसका' ॥ सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुंसकप्रतिपादनार्थमाह—'से किं त'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह–तिर्यग्योनिकनपुंसकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यावत्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः ॥

एकेन्द्रियनपुंसकप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह–एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अप्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकास्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका वायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः, उपसंहारमाह—'सेत्तं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका' ॥ द्वीन्द्रियनपुंसकप्रतिपादनार्थमाह—'बेइंदिए'त्यादि, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका भदन्त! कतिविधाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह–गौतम! अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—"पुलाकिमिया" इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावच्चतुरिन्द्रियभेदपरिसमाप्तिः ॥ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका भदन्त! कतिविधाः प्रज्ञप्ताः?, गौतम! त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–जलचराः स्थलचराः खचराश्च, एते च प्राग्वत्सप्रभेदा वक्तव्याः, उपसंहारमाह—'से तं पंचिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसगा'। 'से किं तं'मित्यादि, अथ के ते मनुष्यनपुंसकाः?, मनुष्यनपुंसकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–कर्मभूमका अकर्मभूमका अन्तरद्वीपकाश्च, एतेऽपि प्राग्वत्सप्रभेदा वक्तव्याः ॥ उक्तो भेदः, सम्प्रति स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

णपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० अंतो० उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥ नेरइयनपुंसगस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० दसवाससहस्साइं उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं, सव्वेसिं ठिती भाणियव्वा जाव अवेसत्तमापुढविनेरइया। तिरिक्खजोणियणपुंसकस्स णं भंते! केवइयं कालं ठिती प०, गोयमा!, जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी। एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसक० जह० अंतो० उक्को० बावीसं वाससह-

स्साइं, पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता?, जह० अंतो० उक्को० बावीसं वाससहस्साइं, सव्वेसिं एगिंदियणपुंसकाणं ठिती भाणियव्वा, बेइंदियतेइंदियचउरिंदियणपुंसकाणं ठिती भाणितव्वा। पंचिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी, एवं जलयरतिरिक्खचउप्पदथलयरउरगपरिसप्पभुयगपरिसप्पखहयरतिरिक्ख० सव्वेसिं जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी। मणुस्सणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! खेत्तं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी, धम्मचरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी। कम्मभूमगभरहेरवयपुव्वविदेहअवरविदेहमणुस्सणपुंसकस्सवि तहेव, अकम्मभूमगमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जम्मणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० अंतोमु० साहरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी, एवं जाव अंतरदीवकाणं॥ णपुंसए णं भंते! णपुंसए त्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्को० तरुकालो। णेरइयणपुंसए णं भंते!, २ गोयमा! जह० दस वाससहस्साइं उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं, एवं पुढवीए ठिती भाणियव्वा। तिरिक्खजोणियणपुंसए णं भंते! ति०?, २ गोयमा! जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, एवं एगिंदियणपुंसकस्स णं, वणस्सतिकाइयस्सवि एवमेव,

२ प्रतिपत्तौ नपुंसकस्थित्यन्तरं सू० ५९

सेसाणं जह० अंतो० उक्को० असंखिज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्तओ असंखेज्जा लोया । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियनपुंसकाण य जह० अंतो० उक्को० संखेज्जं कालं । पंचिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसए णं भंते!?, गोयमा! जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडिपुहुत्तं । एवं जलयरतिरिक्खचउप्पदथलचरउरगपरिसप्पभुयगपरिसप्पमहोरगाणवि । मणुस्सणपुंसकस्स णं भंते! खेत्तं पडुच जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडिपुहुत्तं, धम्मचरणं पडुच जह० एकं समयं उक्को० देसूणा पुव्वकोडी । एवं कम्मभूमगभरहेरवयपुव्वविदेहअवरविदेहेसुवि भाणियव्वं। अकम्मभूमकमणुस्सणपुंसए णं भंते! जम्मणं (पडुच) जह० अंतो० उक्को० मुहुत्तपुहुत्तं, साहरणं पडुच जह० अंतो० उक्को० देसूणा पुव्वकोडी। एवं सव्वेसिं जाव अंतरदीवगाणं ॥ णपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, गोयमा! जह० अंतो० उक्को० सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं। णेरइयणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?, जह० अंतो० उक्को० तरुकालो, रयणप्पभापुढवीनेरइयणपुंसकस्स जह० अंतो० उक्को० तरुकालो, एवं सव्वेसिं जाव अधेसत्तमा । तिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जह० अंतो० उक्को० सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं। एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जह० अंतो० उक्को० दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, पुढविआउतेउवाऊणं जह० अंतो० उक्को० वणस्सइकालो ।

वणस्सतिकाइयाणं जह० अंतो० उक्को० असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोया, सेसाणं बेइंदियादीणं जाव खहयराणं जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो। मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, धम्मचरणं पडुच्च जह० एगं समयं उक्को० अणंतं कालं जावअवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं कम्मभूमकस्सवि भरतेरवतस्स पुव्वविदेहअवरविदेहकस्सवि। अकम्मभूमकमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते! केवतियं कालं०?, जम्मणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो, संहरणं पडुच्च जह० अंतो० उक्को० वणस्सतिकालो एवं जाव अंतरदीवगत्ति ॥ (सू० ५९)

'नपुंसगस्स णं भंते!' इत्यादि सुगमं, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यं, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्तमपृथिवीनारकापेक्षया ॥ तदेवं सामान्यतः स्थितिरुक्ता, सम्प्रति विशेपतस्तां विचिचिन्तयिपुः प्रथमतः सामान्यतो विशेषतश्च नैरयिकनपुंसकविषयामाह—'नेरइयनपुंसगस्स ण'मित्यादि, सामान्यतो नैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, विशेषचिन्तायां रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतः स्थितिर्दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षत एकं सागरोपमं शर्करापृथिवीनैरयिकनपुंकसस्य जघन्यत एकं सागरोपममुत्कर्षतस्त्रीणि सागरोपमाणि वालुकाप्रभापृथिवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतस्त्रीणि सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्त पङ्कप्रभापृथवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतः सप्त सागरोपमाणि उत्कर्षतो दश धूमप्रभापृथिवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतो दश सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तदश तमःप्रभापृथिवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतः सप्तदश सागरोपमाणि उत्कर्षतो द्वाविं-

शतिः अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकस्य जघन्यतो द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्, क्वचिदतिदेशसूत्रं 'जहा पण्णवणाए ठिइपदे तहे' त्यादि, तत्राप्येवमेवातिदेशव्याख्याऽपि कर्त्तव्या। सामान्यतस्तिर्यग्योनिकनपुंसकस्य स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि, विशेषचिन्तायां पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि अप्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सप्त वर्षसहस्राणि तेजःकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि रात्रिन्दिवानि वातकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि वर्षसहस्राणि वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो दश वर्षसहस्राणि। द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि। त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि। चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः षण्मासाः। सामान्यतः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, विशेषचिन्तायां जलचरस्य स्थलचरस्य खचरस्यापि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी॥ सामान्यतो मनुष्यनपुंसकस्यापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, कर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी, 'धर्मचरणं' बाह्यवेषपरिकरितप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तत ऊर्द्धं मरणादिभावात्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संवत्सराष्टकादूर्द्ध्वं प्रतिपद्याजन्मपालनात्, भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य च क्षेत्रं धर्म्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैवमेव वक्तव्यम्। अकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य

जन्म प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तम्, अकर्म्मभूमौ हि मनुष्या नपुंसकाः संमूर्च्छिमा एव भवन्ति, न गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, युगलधर्मिणां नपुंसकत्वाभावात्, संमूर्च्छिमाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तायुषः, केवलं जघन्यादुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तं बृहत्तरमवसेयं, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संहरणादूर्ध्वमामरणान्तमवस्थानसम्भवात्, उत्कर्षतो देशोनता च पूर्वकोट्या गर्भान्निर्गतस्य संहरणसम्भवात्, एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य अन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्यैवमेव वक्तव्यम् ॥ सम्प्रति कायस्थितिमाह—'णपुंसगे णं भंते!' इत्यादि, नपुंसको भदन्त! नपुंसक इत्यादि, सामान्यतस्तद्भेदापरित्यागेन कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो वनस्पतिकालं, तत्रैकसमयता उपशमश्रेणिसमाप्तौ सत्यामवेदकत्वे सति उपशमश्रेणीतः प्रतिपततो नपुंसकवेदोदयसमयानन्तरं कस्यचिन्मरणात्, तथा मृतस्य चावश्यं देवोत्पादे पुंवेदोदयभावात्, वनस्पतिकालः—आवलिकासङ्ख्येयभागगतसमयराशिप्रमाणासङ्ख्येयपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणः । नैरयिकनपुंसककायस्थितिचिन्तायां यदेव सामान्यतो विशेषतश्च स्थितिमानं जघन्यत उत्कर्षतश्चोक्तं तदेवावसातव्यं, भवस्थितिव्यतिरेकेण तत्रान्यस्याः कायस्थितेरसम्भवात् । सामान्यतस्तिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थितिचिन्तायां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं मृत्वा गत्यन्तरे वेदान्तरे वा संक्रमात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, विशेषचिन्तायामेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थितावपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं भावना प्राग्वत्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो यथोदितरूपः, तत्रापि विशेषचिन्तायां पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थितौ जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणः, तथा चाह—"उक्कोसेणमसंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पि-

णीओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो असंखिज्जा लोगा" एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिककायस्थितिष्वपि वक्तव्यं, वनस्पतिकायि-
ककायस्थितौ तथा वक्तव्यं यथा सामान्यत एकेन्द्रियकायस्थितौ । द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थितौ जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्क-
र्षतः सङ्ख्येयः कालः, स च सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि प्रतिपत्तव्यः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थित्योरपि वक्त-
व्यम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसककायस्थितौ जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं, तच्च निरन्तरं सप्तभवान् पूर्वकोट्यायुषो
नपुंसकत्वेनानुभवतो वेदितव्यं, तत उर्ध्वं त्ववश्यं वेदान्तरे विलक्षणभवान्तरे वा संक्रमात्, एवं जलचरस्थलचरखचरसामान्यतो मनु-
ष्यनपुंसककायस्थितिष्वपि वेदितव्यं, कर्मभूमकमनुष्यनपुंसककायस्थितौ क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं उत्कर्षतः पूर्वकोटीपृथक्त्वं
भावना प्रागिव, धर्म्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अत्रापि भावना पूर्ववत् । एवं भरतैरावतकर्म्मभूम-
कमनुष्यनपुंसककायस्थितौ पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसककायस्थितौ च वाच्यं, सामान्यतोऽकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसककाय-
स्थितिचिन्तायां जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतावत्यपि कालेऽसकृदुत्पादात्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तपृथक्त्वं, तत ऊर्द्ध्वं तत्र तथोत्पादा-
भावात्, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तत ऊर्द्ध्वं मरणादिभावात् उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । एवं हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्य-
कवर्षदेवकुरूत्तरकुर्वन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसककायस्थितिष्वपि वक्तव्यम् ॥ तदेवमुक्ता कायस्थितिः, साम्प्रतमन्तरमभिधित्सुरिदमाह—
'**नपुंसगस्स ण**'मित्यादि, नपुंसकस्य णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति ?, नपुंसको भूत्वा नपुंसकत्वात्प-
रिभ्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंसको भवतीत्यर्थः, भगवानाह—गौतम! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतावता पुरुषादिकालेन व्यवधानात्,
उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं, पुरुषादिकालस्यैतावत एव सम्भवात्, तथा चात्र **सङ्ग्रहणिगाथा**—"इत्थिनपुंसा संचि-

ट्ठणेसु·पुरिसंतरे य समओ उ। पुरिसनपुंसा संचिट्ठणंतरे सागर पुहुत्तं ॥ १ ॥" अस्या अक्षरगमनिका—संचिट्ठणा नाम सातत्येनावस्थानं, तत्र स्त्रिया नपुंसकस्य च सातत्येनावस्थाने पुरुपान्तरे च जघन्यत एकः समय. तथा यथा प्रागभिहितम्—"इत्थीए णं भंते! इत्थीत्ति कालतो कियच्चिरं होइ?, गोयमा! एगेणं आदेसेणं जह० एगं समयं" इत्यादि, तथा—नपुंसगे णं भंते! नपुंसगत्ति कालतो कियच्चिरं होइ?, गोयमा! जह० एकं समयं" इत्यादि, तथा—"पुरिसस्स णं भंते! अंतरं कालतो कियच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं एकं समयं" इत्यादि। तथा पुरुपस्य नपुंसकस्य यथाक्रमं संचिट्ठणा—सातत्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्पतः 'सागरपृथक्त्वं' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपृथक्त्वं, तथा च प्रागभिहितम्—"पुरिसे णं भंते! पुरिसेत्ति कालतो कियच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं" नपुंसकान्तरोत्कर्षप्रतिपादकं चेदमेवाधिकृतं तत्सूत्रमिति। तथा सामान्यतो नैरयिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, सप्तमनरकपृथिव्या उद्धृत्य तन्दुलमत्स्यादिभवेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः सप्तमनरकपृथिवीगमनस्य श्रवणात्, उत्कर्पतो वनस्पतिकालः, नरकभवादुद्धृत्य पारम्पर्येण निगोदेषु मध्ये गत्वाऽनन्तं कालमवस्थानात्, एवं विशेषचिन्तायां प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यं। तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं, सातिरेकत्वभावना प्रागिव, विशेपचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्, उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे, सङ्ख्येयवर्षाणि त्रसकायस्थितिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत एव सम्भवात्। पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः। एवमप्कायिकतेजःकायिकवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं। वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्य-

तोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालं यावत्, स चासङ्ख्येयः कालोऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः, क्षेत्रतोऽसङ्ख्येया लोकाः, किमुक्तं भवति?—असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारे यावत्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावन्त इत्यर्थः, वनस्पति-भवात्प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं कालमवस्थानसम्भवात्, तदनन्तरं संसारिणो नियमेन भूयो वनस्पतिकायिकत्वेनोत्पादसम्भवात्। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानां जलचरस्थलचरखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानां सामान्यतो मनु-ष्यनपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं, स चानन्तः कालो वनस्पतिकालो यथोक्तस्वरूपः प्रतिपत्तव्यः, कर्म-भूमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः, धर्म्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयं यावत्, लब्धिपातस्य सर्वजघन्यस्यैकसामयिकत्वात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेवानन्तं कालं निर्धारयति—"अणंताओ उस्सप्पिणीओस-प्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा अवड्ढं पुग्गलपरियट्टं देसूणं" मिति, एवं भरतैरावतपूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्य-नपुंसकानामपि क्षेत्रं धर्म्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम्। अकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतावता गत्यन्तरादिकालेन व्यवधानभावात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तथैवं—कोऽपि कर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकः केनाप्यकर्मभूमौ संहृतः, स च मागधपुरुषादिस्थानीयत्वादकर्मभूमक इति व्यपदिश्यते, ततः कियत्कालानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तनभावतो भूयोऽपि कर्म्मभूमौ संहृतः, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्वा पुनरप्यकर्मभूमावानीतः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः। एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम्॥ तदेवमुक्तमन्तरमधुनाऽल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते! णेरइयणपुंसकाणं तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं मणुस्सणपुंसकाण य कयरे कयरेहिन्तो जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा! सव्वथोवा मणुस्सणपुंसका नेरइयनपुंसगा असंखेज्जगुणा तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥ एतेसि णं भंते! रयणप्पहापुढविणेरइयणपुंसकाणं जाव अहेसत्तमपुढविणेरइयणपुंसकाण य कयरे २ हिंतो जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयणपुंसका छट्ठपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा जाव दोचपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा ॥ एतेसि णं भंते! तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पुढविकाइय जाव वणस्सतिकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराण य कतरे२हिन्तो जाव विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वथोवा खहयरतिरिक्खजोणियणपुंसका, थलयरतिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्ज० जलयरतिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्ज० चतुरिंदियतिरि० विसेसाहिया तेइंदियति० विसेसाहिया बेइंदियति० विसेसा० तेउक्काइयएगिंदियतिरिक्खा असंखेज्जगुणा पुढविक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, एवं आउवाउवणस्सतिकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥ एतेसि णं भंते! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिणपुंसकाणं अकम्मभूमिणपुंसकाणं अंत-

२प्रतिपत्तौ नपुंसकानामल्पबहुत्वं सू० ६०

रदीवकाण य कतरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?, गोयमा! सव्वत्थोवा अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगा दोवि संखेज्जगुणा एवं जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म० दोवि संखेज्जगुणा ॥ एतेसि णं भंते! णेरइयणपुंसकाणं रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसकाणं जाव अधेसत्तमापुढविणेरइयणपुंसकाणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जाव वणस्सतिकाइय० वेइंदियतेइंदियचतुरिंदियपंचिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीवकाण य कतरे २ हिंतो अप्पा ४, गोयमा! सव्वत्थोवा अधेसत्तमपुढविणेरइयणपुंसका छट्ठपुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्ज० जाव दोच्चपुढविणेरइयणपुं० असंखे० अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमिक० दोवि संखेज्जगुणा जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दोवि संखेज्जगुणा, रयणप्पभापुढविणेरइयणपुंसका असंखे० खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका असं० थलयर० संखिज्ज० जलयर० संखिज्जगुणा चतुरिंदियतिरिक्खजोणिय० विसेसाहिया तेइंदिय० विसे० बेइंदिय० विसे० तेउक्काइयएगिंदिय० असं० पुढविकाइयएगिंदिय० विसेसाहिया

आउक्काइय० विसे० वाउकाइय० विसेसा० वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥ (सू० ६०)

'एएसि णं'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका मनुष्यनपुंसकाः, श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ तद्गतप्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषां, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ॥ सम्प्रति नैरयिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं'मित्यादि, सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, अभ्यन्तरश्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि षष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पञ्चमपृथ्वीनैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणहेतुश्रेण्यसङ्ख्येयभागापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणासङ्ख्येयगुणश्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ तद्गतप्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्, प्रतिपृथिवि च पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो नैरयिकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो दक्षिणदिग्भाविनोऽसङ्ख्येयगुणाः, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भाविभ्योऽप्युत्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसङ्ख्येयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः, तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्—"दिसाणुवाएणं सव्व-

थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणेहिंतो अहेसत्तमपुढविनेरइएहिंतो छट्ठाए तमाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो तमापुढविनेरइएहिंतो पंचमाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो धूमप्पभापुढविनेरइएहिंतो चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो पंकप्पभापुढविनेरइएहिंतो तइयाए वालुयप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो दुइयाए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो सक्करप्पभापुढवीनेरइएहिंतो इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरत्थिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा"। सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—**'एएसि णं'**मित्यादि, सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः, प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात्, तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, असङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणाकाशप्रदेशराशिप्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यस्त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात्, तेभ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अस-

ङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानां तेषामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्, तेभ्यः पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽप्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात्, तेभ्योऽपि वायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ॥ अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण'मित्यादि, सर्वस्तोका अन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च संमूर्च्छनजा द्रष्टव्याः, गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यनपुंसकानां तत्रासम्भवात्, संहृतास्तु कर्म्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि, तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, तद्गतगर्भजमनुष्याणामन्तरद्वीपजगर्भजमनुष्येभ्यः सङ्ख्येयगुणत्वात्, गर्भजमनुष्योच्चाराद्याश्रयेण च संमूर्च्छिममनुष्याणामुत्पादात्, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, एवं तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः तेभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवतवर्षाकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्यो भरतैरावतवर्षकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्त्तव्या ॥ सम्प्रति नैरयिकतिर्यग्मनुष्यविषयमल्पबहुत्वमाह—'एएसि णं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, तेभ्यः षष्ठपञ्चमचतुर्थतृतीयद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, एतदसङ्ख्येयगुणत्वं संमूर्च्छनजमनुष्यापेक्षं, तेषां नपुंसकत्वादेतावतां च तत्र संमूर्च्छनसम्भवात्,

तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका हैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसकेभ्योऽस्यां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका जलचर-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः पृथिव्यम्बुवायुतिर्यग्यो-निकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया ॥ सम्प्रति नपुंसकवेदकर्म्मणो बन्धस्थितिं नपुंसकवेदस्य प्रकारं चाह—

णपुंसकवेदस्स णं भंते! कम्मस्स केवइयं कालं बंधठिई पन्नत्ता?, गोयमा! जह० सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणगा उक्को० वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, दोण्णि य वाससहस्साइं अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो। णपुंसकवेदे णं भंते! किंपगारे पण्णत्ते?, गोयमा! महाणगरदाहसमाणे पण्णत्ते समणाउसो!, से तं णपुंसका ॥ (सू० ६१)

'नपुंसकवेयस्स णं भंते! कम्मस्स' इत्यादि, प्राग्वद्भावनीयं, नवरं महानगरदाहसमानमिति सर्वावस्थासु सर्वप्रकारं, मदनदाह(:समान)

इत्यर्थः ॥ सम्प्रत्यष्टावल्पबहुत्वानि वक्तव्यानि, तद्यथा—प्रथमं सामान्येन तिर्यक्स्त्रीपुरुषनपुंसकप्रतिबद्धम्, एवमेव मनुष्यप्रतिबद्धं द्वितीयं, देवस्त्रीपुरुषनारकनपुंसकप्रतिबद्धं तृतीयं, सकलसम्मिश्रं चतुर्थं, जलचर्यादिविभागतः पञ्चमं, कर्म्मभूमिजादिमनुष्यस्त्र्यादिविभागतः षष्ठं, भवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातीयव्यक्तिव्यापकमष्टमं, तत्र प्रथममभिधित्सुराह—

एतेसि णं भंते! इत्थीणं पुरिसाणं नपुंसकाण य कतरे२हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्वत्थोवा पुरिसा इत्थीओ संखि० णपुंसका अणंत०। एतेसि णं भंते! तिरिक्खजोणिइत्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाण य कयरे २ हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणियपुरिसा तिरिक्खजोणिइत्थीओ असंखे० तिरिक्खजो० णपुंसगा अणंतगुणा॥ एतेसि णं भंते! मणुस्सित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणुस्सणपुंसकाण य कयरे २हिन्तो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्व० मणुस्सपुरिसा मणुस्सित्थीओ संखे० मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा॥ एतेसिणं भंते! देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरइयणपुंसकाण य कयरे २ हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्वत्थोवा णेरइयणपुंसका देवपुरिसा असं० देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ॥ एतेसि णं भंते! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं तिरिक्खजो० णपुंसकाणं मणुस्सित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणुस्सनपुंसकाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरइयणपुंसकाण य कतरे २ हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा मणुस्सित्थीओ संखे० मणुस्सणपुंसका असं० णेरइयणपुंसका असं० तिरि-

२ प्रतिपत्तौ नपुंसके बन्धस्थितिः प्रकारश्च सू० ६१ वेदानामल्पबहुत्वं सू० ६२

क्खजोणियपुरिसा असं० तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्ज० देवपुरिसा असं० देवित्थियाओ संखि० तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥ एतेसि णं भंते! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजो० णपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजो० णपुंसकाणं जाव वणस्सतिकाइय० बेइंदियतिरिक्खजोणिणपुंसकाणं तेइंदिय० चउरिंदिय० पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं कतरे २ हिंतो जाव विसेसाहिया वा?, गोयमा! सव्वत्थोवा खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्ज० थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे० थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे० जलयरतिरिक्खजो० पुरिसा संखि० जलयरतिरिक्खजोणित्थीयाओ संखेज्जगु० खहयरपंचिंदियतिरिक्खजो० णपुंसका असंखे० थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणि० नपुंसगा संखि० जलयरपंचेंदियत्तिरिक्खजोणियनपुंसका संखे० चउरिंदियतिरि० विसेसाहिया तेइंदियणपुंसका विसेसाहिया बेइंदियनपुंसका विसेसा० तेउक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असं० पुढवि० णपुंसका० विसेसाहिया आउ० विसेसाहिया वाउ० विसेसा० वणप्फति० एगिन्दियणपुंसका अणंतगुणा ॥ एतेसि णं भंते! मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमकाणं

अकम्मभूमकाणं अंतरदीवकाणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमाणं अकम्म० अंतरदीविकाण य कयरे २ हिन्तो अप्पा वा ४?, गोयमा! अंतरदीवगा मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा[ण] य एते णं दुन्नि य तुल्लावि सव्वत्थोवा देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा एते णं दोन्निवि तुल्ला संखे० हरिवासरम्मवासअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाउ मणुस्सपुरिसा य एते[सि] णं दोन्निवि तुल्ला संखे० हेमवतहेरण्णवतअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा[ण] य दोवि तुल्ला संखे० भरहेरवतकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दोवि संखे० भरहेरवतकम्ममणुस्सित्थियाओ दोवि संखे० । पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दोवि संखे० पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दोवि संखे० । अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका असंखे० देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमकमणुस्सणपुंसका दोवि संखेज्जगुणा [ए] तहेव जाव पुव्वविदेहकम्मभूमकमणुस्सणपुंसका दोवि संखेज्जगुणा ॥ एतासि णं भंते! देवित्थीणं भवणवासीणीणं वाणमन्तरीणीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासिणं जाव वेमाणियाणं सोधम्मकाणं जाव गेवेज्जकाणं अणुत्तरोववातियाणं णेरइयणपुंसकाणं रयणप्पभापुढविणेरइयणपुंसगाणं जाव अहेसत्तमपुढविनेरइय० कतरे २ हिंतो अप्पा वा ४?, गोयमा! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववातियदेवपुरिसा उवरिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा तं चेव जाव आणते कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,

अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, छट्ठीए पुढवीए नेरइय० असंखेज्जगुणा सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा पंचमाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा चउत्थीए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा तच्चाए पुढवीए नेरइय० असंखेज्जगुणा माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा सणंकुमारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, इसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे(कप्पे) देवपुरिसा संखेज्ज० सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखे० भवणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा भवणवासिदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ इमीसे रयणप्पभापुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणा ॥ एतासि णं भंते! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पुढविक्काइयएगिंदियति० जो० णपुंसकाणं आउक्काइयएगिंदिय० जो० णपुंसकाणं जाव वणस्सतिकाइयएगिंदियति० जो० णपुंसकाणं बेइंदियति० जो० णपुंसकाणं तेइंदियति० जो० णपुंसकाणं चउरिंदियति० जो० नपुंसकाणं पंचेंदियति०

जो॰ णपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमियाणं अकम्म॰ अंतरदीवयाणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीवकाणं देवित्थीणं भवणवासिणीणं वाणमंतरीणीणं जोतिसिणीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासिणीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्मकाणं जाव गेवेज्जकाणं अणुत्तरोववातियाणं नेरइयणपुंसकाणं रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसकाणं जाव अहेसत्तमपुढविणेरइयणपुंसकाण य कयरे २ हिन्तो अप्पा वा ४?, गोयमा! अंतरदीवअकम्मभूमकमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य, एते णं दोवि तुल्ला सव्वत्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सइत्थीओ पुरिसा य एते णं दोवि तुल्ला संखे॰ एवं हरिवासरम्मगवास॰ एवं हेमवतहेरण्णवयभरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दोवि संखे॰ भरहेरवतकम्म॰ मणुस्सित्थीओ दोवि संखे॰ पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमकमणुस्सपुरिसा दोवि संखे॰, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म॰ मणुस्सित्थियाओ दोवि संखे॰ अणुत्तरोववातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखे॰ जाव आणते कप्पे देवपुरिसा संखे॰ अधेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखे॰ छट्ठीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असं॰ सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखे॰ महासुक्के कप्पे देव॰ असं॰ पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असं॰ लंतए कप्पे देवपु॰ असं॰ चउत्थीए पुढवीए नेरइ-

२ प्रतिपत्तौ नपुंसके बन्धस्थितिः प्रकारश्च सू॰ ६१ वेदानामल्पबहुत्वं सू॰ ६२

यनपुंसका असं० बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असं० तच्चाए पुढवीए नेरइयण० असं० माहिंदे कप्पे देवपु० असंखे० सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असं० दोच्चाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असं० अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका असंखे० देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दोवि संखे० एवं जाव विदेहत्ति, ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असं० ईसाणकप्पे देवित्थियाओ संखे० सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखे० सोहम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्ज० भवणवासिदेवपुरिसा असंखे० भवणवासिदेवित्थियाओ संखिज्जगुणाओ इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असं० खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे० थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे० थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे० जलयरतिरिक्खपुरिसा संखे० जलयरतिरिक्खजोणित्थियाउ संखे०, वाणमंतरदेवपुरिसा संखे० वाणमंतरदेवित्थियाओ संखे० जोतिसियदेवपुरिसा संखे० जोतिसियदेवित्थियाओ संखे० खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसा संखे० थलयरणपुंसका संखे० जलयरणपुंसका संखे० चतुरिंदियणपुंसका विसेसाहिया तेइंदिय० विसेसा० बेइंदिय० विसेसा० तेउक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असं० पुढवी० विसेसा० आऊ० विसेसा० वाऊ० विसेसा० वणप्फतिकाइयएगिंदियतिरिक्खजो० णपुंसका अणंतगुणा ॥ (सू० ६२)

'एयासि णं भंते! तिरिक्खजोणियइत्थीणं' इत्यादि, सर्वस्तोकास्तिर्यक्पुरुषाः, तेभ्यस्तिर्यक्स्त्रियः सङ्ख्येयगुणास्त्रिगुणत्वात्, ताभ्यस्तिर्यग्नपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तानन्तत्वात् ॥ सम्प्रति द्वितीयमल्पबहुत्वमाह— **'एयासि णं भंते!'** इत्यादि, सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः सङ्ख्येयकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः सप्तविंशतिगुणत्वात्, ताभ्यो मनुष्यनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः श्रेण्यसङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ॥ सम्प्रति तृतीयमल्पबहुत्वमाह— **'एयासि णं भंते! देवित्थीण'**मित्यादि, सर्वस्तोका नैरयिकनपुंसका अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ स्वप्रथमवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यो देवपुरुषा असङ्ख्येयगुणा असङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणायां सूचौ यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्, तेभ्यो देवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणा द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ॥ सम्प्रति सकलसन्मिश्रं चतुर्थमल्पबहुत्वमाह— **'एयासि ण'**मित्यादि, सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषास्तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, ताभ्यो मनुष्यनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, अत्र युक्तिः प्रागुक्ता, तेभ्यो नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणा असङ्ख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणास्त्रिगुणत्वात्, ताभ्यो देवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः प्रभूततरप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्त्यसङ्ख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यो देवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणा द्वात्रिंशद्गुणत्वात्, ताभ्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणा निगोदजीवानामनन्तानन्तत्वात् ॥ सम्प्रति जलचर्यादिविभागतः पञ्चममल्पबहुत्वमाह— **'एयासि णं भंते!'** इत्यादि, सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपुरुषाः, तेभ्यः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणास्त्रिगुणत्वात्, ताभ्यः स्थल-

चरतिर्यग्योनिकपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यस्तत्स्त्रियः सङ्ख्येयगुणास्त्रिगुणत्वात्, ताभ्यो जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सङ्ख्येयगुणास्त्रिगुणत्वात्, ताभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः स्थलचरजलचरतिर्यग्योनिकनपुंसका यथाक्रमं सङ्ख्येयगुणाः, ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रिया यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततस्तेजःकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यम्बुवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः ॥ सम्प्रति कर्म्मभूमिजादिमनुष्यस्त्र्यादिविभागतः षष्ठमल्पबहुत्वमाह—'एयासि णं भंते !' इत्यादि, सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियोऽन्तरद्वीपकमनुष्यपुरुषाश्च, एते च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तत्रत्यस्त्रीपुंसानां युगलधर्मोपेतत्वात्, तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च सङ्ख्येयगुणाः, युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, एवं हरिवर्षरम्यकपुरुषस्त्रियो हैमवतहैरण्यवतमनुष्यपुरुषस्त्रियश्च यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, ततो भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्या द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्यो भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि सङ्ख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने परस्परं तुल्याः, तेभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि सङ्ख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, श्रेण्यसङ्ख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्, तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, ततो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्यो हैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका

द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्यो भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ॥ सम्प्रति भवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममल्पबहुत्वमाह—'एयासि णं भंते! देवित्थीणं भवणवासिणीण'मित्यादि, सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिका देवपुरुषाः, तत उपरितनग्रैवेयकमध्यमग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, ततोऽधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकसहस्रारमहाशुक्रकल्पदेवपुरुषपञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसकलान्तककल्पदेवपुरुषचतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्य ईशानकल्पदेवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात्, ततः सौधर्म्मकल्पदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सौधर्म्मकल्पदेवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात्, तेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेव्यः सङ्ख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात्, ताभ्यो रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो वानमन्तरदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो वानमन्तरदेव्यः सङ्ख्येयगुणाः, ताभ्यो ज्योतिष्काः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ॥ सम्प्रति विजातीयव्यक्तिव्यापकमष्टममल्पबहुत्वमाह—'एयासि णं भंते!' इत्यादि, सर्वस्तोका अन्तरद्वीपका मनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि तुल्याः, युगलधर्मोपेतत्वात्, एवं देवकुरूत्तरकुरुकर्म्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रीपुरुषा यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्यो भरतैरावतकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि

सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, तेभ्यो पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि सङ्ख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः, ताभ्योऽनुत्तरोपपातिकोपरितनग्रैवेयकमध्यमग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, ततोऽधः-सप्तमषष्ठपृथिवीनैरयिक(न०) सहस्रारकल्पदेवपुरुषमहाशुक्रकल्पदेवपुरुषपञ्चमपृथिवीनैरयिक(न०) लान्तककल्पदेवपुरुषचतुर्थपृथवीनैरयिकनपुंसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रकल्पसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकान्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणाः, ततो देवकुरूत्तरकुर्वकर्म्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकभरतैरावतकर्म्मभूमकपूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, स्वस्वस्थानेषु तु द्वये परस्परं तुल्याः, तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पदेवस्त्रियः सौधर्मकल्पदेवपुरुषाः सौधर्म्मकल्पदेवस्त्रियो यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, ततो भवनवासिदेवपुरुषा असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, ततः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियो जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषा जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियो वानमन्तरा देवपुरुषा वानमन्तरदेवस्त्रियो ज्योतिष्कदेवपुरुषा ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तरं सङ्ख्येयगुणाः, ततः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः क्रमेण सङ्ख्येयगुणाः, ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततस्तेजःकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असङ्ख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यव्वायुकायिकतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, ततो वनस्पति-

कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ॥ सम्प्रति स्त्रीपुरुषनपुंसकानां भवस्थितिमानं कायस्थितिमानं च क्रमेणाभिधातुकाम आह—

इत्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! एगेणं आएसेणं जहा पुव्विं भणियं, एवं पुरिसस्सवि नपुंसकस्सवि, संचिट्ठणा पुनरवि तिण्हंपि जहापुव्विं भणिया, अंतरंपि तिण्हंपि जहापुव्विं भणियं तहा नेयव्वं ॥ (सू० ६३)

'इत्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?, इत्यादि, एतत्सर्वं प्रागुक्तवद्भावनीयम्, अपुनरुक्तता च प्राक् स्त्र्यादीनां पृथक् स्वस्वाधिकारे स्थित्यादि प्रतिपादितमिदानीं तु समुदायेनेति ॥ सम्प्रति स्त्रीपुरुषनपुंसकानामल्पबहुत्वमाह—(एयासि णं भंते! इत्थीणं पुरिसाणं नपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?, सव्वथोवा पुरिसा इत्थीओ संखेज्जगुणा नपुंसका अणंतगुणा) 'एयासि णं भंते! इत्थीण'मित्यादि, सर्वस्तोकाः पुरुषाः स्त्र्यादिभ्यो हीनसङ्ख्याकत्वात्, तेभ्यः स्त्रियः सङ्ख्येयगुणाः, ताभ्यो नपुंसका अनन्तगुणाः, एकेन्द्रियाणामनन्तानन्तसङ्ख्योपेतत्वात् । इह पुरुषेभ्यः स्त्रियः सङ्ख्येयगुणा इत्युक्तं, तत्र काः स्त्रियः स्वजातिपुरुषापेक्षया कतिगुणा इति प्रश्नावकाशमाशङ्क्य तन्निरूपणार्थमाह—

तिरिक्खजोणित्थियाओ तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिगुणाउ तिरूवाधियाओ मणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसेहिंतो सत्तावीसतिगुणाओ सत्तावीसयरूवाहियाओ देवित्थियाओ देवपुरिसेहिंतो बत्तीसइगुणाओ बत्तीसइरूवाहियाओ सेत्तं तिविधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता

॥ तिविहेसु होइ भेयो ठिई य संचिट्ठणंतरऽप्पबहुं । वेदाण य बंधठिई वेओ तह किंपगारो उ ॥ १ ॥ से तं तिविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता ॥ (सू० ६४)

'तिरिक्खजोणित्थीओ तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो' इत्यादि, तिर्यग्योनिकस्त्रियस्तिर्यग्योनिकपुरुषेभ्यस्त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकाः, मनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषेभ्यः सप्तविंशतिगुणाः सप्तविंशतिरूपाधिकाः, देवपुरुषेभ्यो देवस्त्रियो द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकाः, उक्तं च वृद्धाचार्यैरपि—"तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा । सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तदहिया चेव ॥ १ ॥ बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ होंति देवाणं । देवीओ पण्णत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥ २ ॥" प्रतिपत्त्युपसंहारमाह—**'सेत्तं तिविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता'** इति ॥ सम्प्रत्यधिकृतप्रतिपत्त्यर्थाधिकारसंग्रहगाथामाह—**'तिविहेसु होइ भेओ'** इत्यादि, त्रिविधेषु वेदेषु वक्तव्येषु भवति प्रथमोऽधिकारो भेदः ततः स्थितिः तदनन्तरं **'संचिट्ठणं'**ति सातत्येनावस्थानं तदनन्तरमन्तरं ततोऽल्पबहुत्वं ततो वेदानां बन्धस्थितिः तदनन्तरं किंप्रकारो वेद इति ॥

इति श्रीमलयगिरिविरचितायां जीवाजीवाभिगमटीकायां द्वितीया प्रतिपत्तिः समाप्ता ॥ २ ॥

इति वेदत्रैविध्यनिरूपिका द्वितीया प्रतिपत्तिः ॥

तदेवमुक्ता द्वितीया प्रतिपत्तिः, सम्प्रति तृतीयप्रतिपत्त्यवसरः, तत्रेदमादिसूत्रम्—

तत्थ जे ते एवमाहंसु चउव्विधा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु, तंजहा—नेरइया तिरिक्खजोणिया मणुस्सा देवा ॥ (सू० ६५)। से किं तं नेरइया ?, २ सत्तविधा पण्णत्ता, तंजहा–पढमापुढविनेरइया दोच्चापुढविनेरइया तच्चापुढविनेर० चउत्थापुढवीनेर० पंचमापु० नेरइ० छट्ठापु० नेर० सत्तमापु० नेरइया ॥ (सू० ६६)। पढमा णं भंते! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता ?, गोयमा! णामेणं घम्मा गोत्तेणं रयणप्पभा। दोच्चा णं भंते! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता ?, गोयमा! णामेणं वंसा गोत्तेणं सक्करप्पभा, एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा, णामाणि इमाणि से लातव्वा(णि), (सेला तईया) अंजणा चउत्थी रिट्ठा पंचमी मघा छट्ठी माघवती सत्तमा, (जाव) तमतमागोत्तेणं पण्णत्ता। (सू० ६७)। इमा णं भंते! रयणप्पभापुढवी केवतिया बाहल्लेणं पण्णत्ता ?, गोयमा! इमा णं रयणप्पभापुढवी असिउत्तरं जोयणसयसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ता, एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाहा अणुगंतव्वा—आसीतं बत्तीसं अट्ठावीसं तहेव वीसं च। अट्ठारस सोलसगं अट्ठुत्तरमेव हिट्ठिमिया ॥ १ ॥ (सू० ६८)

'तत्थ जे ते एवमाहंसु चउव्विहा' इत्यादि, 'तत्र' तेषु दशसु प्रतिपत्तिमत्सु मध्ये ये ते आचार्या एवमाख्यातवन्तश्चतुर्विधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्तास्ते एवमाख्यातवन्तस्तद्यथा—नैरयिकास्तिर्यग्योनिका मनुष्या देवाः ॥ 'से किं त'मित्यादि, अथ के ते

३ प्रतिपत्तौ चतुर्धा जीवाः सप्तधा नारकाः पृथ्वीनां नामगोत्रे बाहल्यं च सू० ६५-६६-६७ ६८

नैरयिकाः ?, सूरिराह—नैरयिकाः सप्तविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—प्रथमायां पृथिव्यां नैरयिकाः प्रथमपृथिवीनैरयिका इत्यर्थः, एवं सर्वत्र भावनीयम् ॥ सम्प्रति प्रतिपृथिवि नामगोत्रं वक्तव्यं, तत्र नामगोत्रयोरयं विशेषः—अनादिकालसिद्धमन्वर्थरहितं नाम सान्वर्थं तु नाम गोत्रमिति, तत्र नामगोत्रप्रतिपादनार्थमाह—'**इमा णं (पढमा णं) भंते!**' इत्यादि, इयं भदन्त! रत्नप्रभापृथिवी 'किंनामा' किमनादिकालप्रसिद्धान्वर्थरहितनामा? 'किंगोत्रा?' किमन्वर्थयुक्तनामा?, भगवानाह—गौतम! नाम्ना घर्म्मेति प्रज्ञप्ता गोत्रेण रत्नप्रभा, तथा चान्वर्थमुपदर्शयन्ति पूर्वसूरयः—रत्नानां प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा रत्नप्रभा रत्नबहुलेति भावः, एवं शेषसूत्राण्यपि प्रतिपृथिवि प्रश्ननिर्वचनरूपाणि भावनीयानि, नवरं शर्कराप्रभादीनामियमन्वर्थभावना—शर्कराणां प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा शर्कराप्रभा, एवं वालुका प्रभा पङ्कप्रभा इत्यपि भावनीयं, तथा धूमस्येव प्रभा यस्याः सा धूमप्रभा, तथा तमसः प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा, तमस्तमस्य—प्रकृष्टतमसः प्रभा—बाहुल्यं यत्र सा तमस्तमप्रभा, अत्र केषुचित्पुस्तकेषु सङ्ग्रहणिगाथे—"घम्मा वंसा सेला अंजण रिट्ठा मघा य माघवती। सत्तण्हं पुढवीणं एए नामा उ नायव्वा ॥ १ ॥ रयणा सक्कर वालुय पंका धूमा तमा [य] तमतमा य । सत्तण्हं *पुढवीणं एए गोत्ता मुणेयव्वा ॥ २ ॥" अधुना प्रतिपृथिवि बाहुल्यमभिधित्सुराह*—'**इमा णं भंते!**' *इत्यादि, इयं भदन्त!* रत्नप्रभा पृथिवी कियद्बाहुल्येन प्रज्ञप्ता?, अत्र गोत्रेण प्रश्नो नाम्नो गोत्रं प्रधानतरं प्रधानेन च प्रश्नाद्युपपन्नमिति न्यायप्रदर्शनार्थः, उक्तञ्च —"न हीना वाक् सदा सता"मिति, भगवानाह—'अशीत्युत्तरम्' अशीतियोजनसहस्राभ्यधिकं योजनशतसहस्रं बाहुल्येन प्रज्ञप्ता। एवं सर्वाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि, अत्र सङ्ग्रहणिगाथा—"आसीयं बत्तीसं अट्ठावीसं च होइ वीसं च। अट्ठारस सोलसगं अट्ठोत्तरमेव हिट्ठिमिया ॥ १ ॥"

इमा णं भंते! रयणप्पभापुढवी कतिविधा पण्णत्ता?, गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—खरकंडे पंकबहुले कंडे आवबहुले कंडे ॥ इमीसे णं भंते! रय० पुढ० खरकंडे कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! सोलसविधे पण्णत्ते, तंजहा—रयणकंडे १ वइरे २ वेरुलिए ३ लोहितक्खे ४ मसारगल्ले ५ हंसगब्भे ६ पुलए ७ सोयंधिए ८ जोतिरसे ९ अंजणे १० अंजणपुलए ११ रयते १२ जातरूवे १३ अंके १४ फलिहे १५ रिट्ठे १६ कंडे ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभापुढवीए रयणकंडे कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! एगागारे पण्णत्ते, एवं जाव रिट्ठे। इमीसे णं भंते! रयणप्पभापुढवीए पंकबहुले कंडे कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! एकागारे पण्णत्ते। एवं आवबहुले कंडे कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! एकागारे पण्णत्ते। सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवी कतिविधा पण्णत्ता?, गोयमा! एकागारा पण्णत्ता, एवं जाव अहेसत्तमा ॥ (सू० ६९)

'इमा णं भंते' इत्यादि इयं भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी 'कतिविधा' कतिप्रकारा कतिविभागा प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! 'त्रिविधा' त्रिविभागा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—'खरकाण्ड'मित्यादि, काण्डं नाम विशिष्टो भूभागः, खरं—कठिनं, पङ्कबहुलं ततोऽब्बहुलं चान्वर्थतः प्रतिपत्तव्यं, क्रमश्चैतेपामेवमेव, तद्यथा—प्रथमं खरकाण्डं तदनन्तरं पङ्कबहुलं ततोऽब्बहुलमिति ॥ 'इमीसे णं भंते' इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! 'पोडशविधं' पोडशविभागं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—'रयणे' इति, पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् रत्नकाण्डं तच्च प्रथमं, द्वितीयं वज्रकाण्डं, तृतीयं वैडूर्यकाण्डं, चतुर्थं लोहितकाण्डं,

पञ्चमं मसारगल्लकाण्डं, षष्ठं हंसगर्भकाण्डं, सप्तमं पुलककाण्डम्, अष्टमं सौगन्धिककाण्डं, नवमं ज्योतीरसकाण्डं, दशममञ्जनकाण्डम्, एकादशमञ्जनपुलककाण्डं, द्वादशं रजतकाण्डं, त्रयोदशं जातरूपकाण्डं, चतुर्दशमङ्ककाण्डं, पञ्चदशं स्फटिककाण्डं षोडशं रिष्टरत्नकाण्डं, तत्र रत्नानि—कर्केतनादीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डं, वज्ररत्नप्रधानं काण्डं वज्रकाण्डम्, एवं शेषाण्यपि, एकैकं च काण्डं योजनसहस्रबाहल्यम् ॥ 'इमीसे णं भंते' इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां रत्नकाण्डं 'कतिविधं' कतिप्रकारं कतिविभागमिति भावः प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—एकाकारं प्रज्ञप्तं । एवं शेषकाण्डविषयाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि क्रमेण भावनीयानि । एवं पङ्कबहुलाब्बहुलविषयाण्यपि । 'दोच्चा णं भंते' इत्यादि, द्वितीयादिपृथिवीविषयाणि सूत्राणि पाठसिद्धानि ॥ सम्प्रति प्रतिपृथिवि नरकावाससङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा, इमा गाहा अणुगंतव्वा—तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति । पंचूणसयसहस्सं पंचेव अणुत्तरा णरगा ॥ १ ॥ जाव अहेसत्तमाए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तंजहा—काले महाकाले रोरुए महारोरुए अपतिट्ठाणे ॥ (सू० ७०) । अत्थि णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदधीति वा घणवातेति वा तणुवातेति वा ओवासंतरेति वा?, हंता अत्थि, एवं जाव अहे सत्तमाए ॥ (सू० ७१)

'इमीसे णं भंते' इत्यादि, सुगमं, नवरमियमत्र सङ्ग्रहणिगाथा—"तीसा य पण्णवीसा पणरस दस चेव सयसहस्साइं। तिण्णेगं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ॥ १ ॥" अधःसप्तम्यां च पृथिव्यां कालादयो महानरका अप्रतिष्ठानाभिधस्य नरकस्य पूर्वादिक्रमेण, उक्तञ्च—"पुव्वेण होइ कालो अवरेणं अप्पइट्ठ महकालो। रोरू दाहिणपासे उत्तरपासे महारोरू ॥ १ ॥" रत्नप्रभादिषु च तमःप्रभापर्यन्तासु षट्सु पृथिवीषु प्रत्येकं नरकावासा द्विविधाः, तद्यथा—आवलिकाप्रविष्टाः प्रकीर्णकरूपाश्च, तत्र रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रयोदश प्रस्तटाः, प्रस्तटा नाम वेश्मभूमिकाकल्पा., तत्र प्रथमप्रस्तटे पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु प्रत्येकमेकोनपञ्चाशत् नरकावासाः, चतसृषु विदिक्षु प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत्, मध्ये च सीमन्तकाख्यो नरकेन्द्रक, सर्वसङ्ख्यया प्रथमप्रस्तटे नरकावासानामावलिकाप्रविष्टानामेकोननवत्यधिकानि त्रीणि शतानि ३८९, शेषेषु च द्वादशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं यथोत्तरं दिक्षु विदिक्षु चैकैकनरकावासहानिभावाद् अष्टकाष्टकहीना नरकावासा द्रष्टव्याः, ततः सर्वसङ्ख्यया रत्नप्रभायां पृथिव्यामावलिकाप्रविष्टा नरकावासाश्चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ४४३३, शेषास्त्वेकोनत्रिंशल्लक्षाणि पञ्चनवतिसहस्राणि पञ्च शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि २९९५५६७ प्रकीर्णकाः, तथा चोक्तम्—"सत्तट्ठी पंचसया पणनउइसहस्स लक्खगुणतीसं। रयणाए सेढिगया चोयालसया उ तित्तीसं ॥ १ ॥" उभयमीलने त्रिंशल्लक्षा नरकावासानां भवन्ति ३०००००० । शर्कराप्रभायामेकादश प्रस्तटाः, "नरकपटलान्यधोऽधो द्वन्द्वहीनानी"ति वचनात्, तत्र प्रथमे प्रस्तटे चतसृषु दिक्षु षट्त्रिंशद् आवलिकाप्रविष्टा नरकावासाः, विदिक्षु पञ्चत्रिंशत्, मध्ये चैको नरकेन्द्रकः, सर्वसङ्ख्यया द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके २८५, शेषेषु तु दशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, प्रतिदिक्प्रतिविदिक्षु(क् च) एकैकनरकावासहानेः, ततस्तत्र सर्वसङ्ख्ययाऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकावासाः षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्यधिकानि २६९५, शेषाश्चतुर्विंश-

तिलक्षाः सप्तनवतिः सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि २४९७३०५ पुष्पावकीर्णकाः, उक्तञ्च—"सत्ताणउइ सहस्सा चउवीसं लक्ख तिसय पंचऽहिया । बीयाए सेढिगया छव्वीससया उ पणनउया ॥ १ ॥" उभयमीलने पञ्चविंशतिर्लक्षा नरकावासानाम् २५००००० । वालुकाप्रभायां नव प्रस्तटाः, प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि आवलिकाप्रविष्टा नरकावासाः पञ्चविंशतिः विदिशि चतुर्विंशतिः मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति सर्वसङ्ख्यया सप्तनवतं शतं १९७, शेषेषु चाष्टसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकहानिः, तत्र च कारणं प्रागेवोक्तं, ततः सर्वसङ्ख्यया तत्रावलिकाप्रविष्टा नरकावासाश्चतुर्दश शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि १४८५, शेपास्तु पुष्पावकीर्णकाश्चतुर्दश लक्षा अष्टनवतिः सहस्राणि पञ्च शतानि पञ्चदशाधिकानि १४९८५१५, उक्तञ्च—"पंचसया पन्नारा अडनवइसहस्स लक्ख चोद्दस य । तइयाए सेढिगया पणसीया चोद्दससया उ ॥ १ ॥" उभयमीलने पञ्चदश लक्षा नरकावासानाम् १५००००० । पङ्कप्रभायां सप्त प्रस्तटाः, प्रथमे च प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि षोडश षोडश आवलिकाप्रविष्टा नरकावासाः विदिशि पञ्चदश पञ्चदश मध्ये चैको नरकेन्द्रकः सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिशतं १२५, शेषेषु षट्सु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसङ्ख्यया तत्रावलिकाप्रविष्टा नरकावासाः सप्त शतानि सप्तोत्तराणि ७०७, शेषास्तु पुष्पावकीर्णका नव लक्षा नवनवतिः सहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ९९९२९३, उक्तञ्च—"तेणउया दोण्णि सया नवनउइसहस्स नव य लक्खा य । पंकाए सेढिगया सत्त सया हुंति सत्तहिया ॥ १ ॥" उभयमीलने नरकावासानां दश लक्षाः १०००००० । धूमप्रभायां पञ्च प्रस्तटाः, प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि नव नव आवलिकाप्रविष्टा नरकावासाः, विदिशि अष्टौ अष्टौ मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति सर्वसङ्ख्यया एकोनसप्ततिः ६९, शेषेषु चतुर्षु प्रस्तटेषु पूर्ववत्प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसङ्ख्यया तत्रावलिकाप्रविष्टा नरकावासा द्वे शते पञ्चषष्ट्य-

धिके २६५, शेषाः पुष्पावकीर्णका द्वे लक्षे नवनवतिः सहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि २९९७३५, उक्तञ्च—"सत्तसया पणतीसा नवनवइ [य] सहस्स दो य लक्खा य। धूमाए सेढिगया पणसट्ठा दो सया होंति ॥ १ ॥" सर्वसङ्ख्यया तिस्रो लक्षाः ३००००० नरकावासानाम् । तमःप्रभायां त्रयः प्रस्तटाः, तत्र प्रथमे प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि चत्वारश्चत्वार आवलिकाप्रविष्टा नरकावासा विदिशि त्रयस्त्रयो मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशत् २९, शेषयोस्तु प्रस्तटयोः प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसङ्ख्ययाऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकावासास्त्रिषष्टिः ६३, शेषास्तु नवनवतिः सहस्राणि नव शतानि द्वात्रिंशदधिकानि पुष्पावकीर्णकाः ९९९३२, उक्तञ्च—"नवनउई य सहस्सा नव चेव सया हवंति वत्तीसा । पुढवीए छट्ठीए पइण्णगाणेस संखेवो ॥ १ ॥" उभयमीलने पञ्चोनं नरकावासानां लक्षम् ९९९९५ ॥ सम्प्रति प्रतिपृथिवि घनोदध्याद्यस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह—'अत्थि णं भंते !' इत्यादि, अस्ति भदन्त ! अस्याः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधो घनः—स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिरिति वा घनः—पिण्डीभूतो वातः घनवात इति वा तनुवात इति वा अवकाशान्तरमिति वा ?, अवकाशान्तरं नाम शुद्धमाकाशं, भगवानाह—हन्त ! अस्ति, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वाच्यं यावदधःसप्तम्याः ॥

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते?, गोयमा! सोलस जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पन्नत्ते ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते?, गोयमा! एक्कं जोयणसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं जाव रिट्ठे । इमीसे णं भंते! रय० पु० पंकबहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते?, गोयमा! चतुरसीतिजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं प-

पण्णत्ते। इमीसे णं भंते! रय० पु० आवबहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते?, गोयमा! असीतिजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पन्नत्ते। इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पु० घणोदही केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते?, गोयमा! वीसं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। इमीसे णं भंते! रय० पु० घणवाए केवतियं बाहल्लेणं पन्नत्ते?, गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं तणुवातेऽवि ओवासंतरेऽवि। सक्करप्प० भंते! पु० घणोदही केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते?, गोयमा! वीसं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। सक्करप्प० पु० घणवाते केवइए बाहल्लेणं पण्णत्ते?, गोयमा! असंखे० जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं तणुवातेवि, ओवासंतरेवि जहा सक्करप्प० पु० एवं जाव अधेसत्तमा॥ (सू० ७२)

'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सम्बन्धि यत्प्रथमं खरं—खराभिधानं काण्डं तत् कियद्बाहल्येन प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! षोडश योजनसहस्राणि॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं—रत्नाभिधानं काण्डं तत् कियद्बाहल्येन प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकं योजनसहस्रं। एवं शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि यावद् रिष्टं—रिष्टाभिधानं काण्डम्। एवं पङ्कबहुलाऽब्बहुलकाण्डसूत्रे अपि व्याख्येये, पङ्कबहुलं काण्डं चतुरशीतिर्योजनसहस्राणि बाहल्येन, अब्बहुलं काण्डमशीतिर्योजनसहस्राणि, सर्वसङ्ख्यया रत्नप्रभाया बाहल्यमशीतिसहस्राधिकं लक्षं, तस्या अधो घनोदधिः विंशतिर्योजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्याप्यधो घनवातोऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्याप्यधोऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि

तनुवातो बाहल्येन, तस्याप्यधोऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येनावकाशान्तरम् । एवं शेषाणामपि पृथिवीनां घनोदध्यादयः प्रत्येकं तावद्वक्तव्या यावदधःसप्तम्याः ॥

इमीसेणं भंते! रयणप्प० पु० असीउत्तरजोयण(सय)सहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणीए अत्थि दव्वाइं वण्णतो कालनीललोहितहालिद्दसुक्किल्लाइं गंधतो सुरभिगंधाइं दुब्भिगंधाइं रसतो तित्तकडुयकसायअंबिलमहुराइं फासतो कक्खडमउयगरुयलहुसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं संठाणतो परिमंडलवट्टतंसचउरंसआययसंठाणपरिणयाइं अन्नमन्नबद्धाइं ॥ अण्णमण्णपुट्ठाइं अण्णमण्णओगाढाइं अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धाइं अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति?, हंता अत्थि। इमीसेणं भंते! रयणप्प भाए पु० खरकंडस्स सोलसजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल जाव परिणयाइं?, हंता अत्थि । इमीसे णं रयणप्प० पु० रयणनामंगस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्ज० तं चेव जाव हंता अत्थि, एवं जाव रिट्ठस्स, इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० पंकबहुलस्स कंडस्स चउरासीतिजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्ते तं चेव, एवं आवबहुलस्सवि असीतिजोयणसहस्सबाहल्लस्स । इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० घणोदधिस्स वीसं जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेण तहेव । एवं घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स तहेव, ओवासंतरस्सवि तं चेव ॥ सक्करप्पभाए णं भंते! पु० बत्तीसुत्तरजोयणसतस-

हस्सबाहल्लस्स खेत्तच्छेएण छिज्जमाणीए अत्थि दव्वाइं वण्णतो जाव घडत्ताए चिट्ठंति?, हंता अत्थि, एवं घणोदहिस्स वीसजोयणसहस्सबाहल्लस्स घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स, एवं जाव ओवासंतरस्स, जहा सक्करप्पभाए एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ (सू० ७३)

'इमीसे णं भंते' इत्यादि, अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यामशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायां क्षेत्रच्छेदेन—बुद्ध्या प्रतरकाण्डविभागेन छिद्यमानायाम्, अस्तीति निपातोऽत्र बहुलवचनार्थगर्भः, सन्ति द्रव्याणि वर्णतः कालानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि शुक्लानि, गन्धतः सुरभिगन्धीनि दुरभिगन्धीनि च, रसतस्तिक्तरसानि कटुकानि कषायाणि अम्लानि मधुराणि, स्पर्शतः कर्कशानि मृदूनि गुरुकाणि लघूनि शीतानि उष्णानि स्निग्धानि रूक्षाणि, संस्थानतः परिमण्डलानि वृत्तानि त्र्यस्राणि चतुरस्राणि आयतानि, कथम्भूतान्येतानि सर्वाण्यपि ? इत्यत आह—'अन्नमन्नपुट्ठाइं' इत्यादि, अन्योऽन्यं—परस्परं स्पृष्टानि—स्पर्शमात्रोपेतानि, तथाऽन्योऽन्यं—परस्परमवगाढानि यत्रैकं द्रव्यमवगाढं तत्रान्यदपि देशतः क्वचित्सर्वतोऽवगाढमित्यर्थः, तथाऽन्योऽन्यं—परस्परं स्नेहेन प्रतिबद्धानि येनैकस्मिन् चाल्यमाने गृह्यमाणे वाऽपरमपि चलनादिधर्मोपेतं भवति, एवम् '**अन्नोन्नघडत्ताए चिट्ठंति**' इति, अन्योऽन्यं—परस्परं घटन्ते—संबध्नन्तीति अन्योऽन्यघटास्तद्भावोऽन्योऽन्यघटता तया—परस्परसंबद्धतया तिष्ठन्ति, भगवानाह—'**हंता अत्थि**' 'हन्त !' इति प्रत्यवधारणे सन्त्येवेत्यर्थः । एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डस्य षोडशयोजनसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, तदनन्तरं रत्नकाण्डस्य योजनसहस्रबाहल्यस्य, ततो वज्रकाण्डस्य यावद्रिष्टकाण्डस्य, तदनन्तरमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां पङ्कबहुलकाण्डस्य चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य, तदनन्तरमब्बहुलकाण्डस्याशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य, तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभाया घ-

नोदधेर्योजनविंशतिसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, ततोऽसङ्ख्यातयोजनसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य घनवातस्य, तत एतावत्प्रमाणबाहल्यस्य तनुवातस्य, ततोऽवकाशान्तरस्य तावत्प्रमाणस्य। ततः शर्कराप्रभायाः पृथिव्या द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यपरिमाणायाः, तस्या एवाधस्ताद्यथोक्तप्रमाणबाहल्यानां घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणाम्, एवं यावदधःसप्तम्याः पृथिव्या अष्टसहस्राधिकयोजनशतसहस्रपरिमाणबाहल्यायाः, ततस्तस्या एवाधःसप्तमपृथिव्या अधस्तात्क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणां प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि यथोक्तद्रव्यविषयाणि भावनीयानि ॥ सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

इमा णं भंते! रयणप्प० पु० किंसंठिता पण्णत्ता?, गोयमा! झल्लरिसंठिता पण्णत्ता। इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० खरकंडे किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते। इमीसे णं भंते! रयणप० पु० रयणकंडे किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते। एवं जाव-रिट्ठे। एवं पंकबहुलेवि, एवं आवबहुलेवि घणोदधीवि घणवाएवि तणुवाएवि ओवासंतरेवि, सव्वे झल्लरिसंठिते पण्णत्ते। सक्करप्पभा णं भंते! पुढवी किंसंठिता पण्णत्ता?, गोयमा! झल्लरिसंठिता पण्णत्ता, सक्करप्पभापुढवीए घणोदधी किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते, एवं जाव ओवासंतरे, जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया एवं जाव अहेसत्तमाएवि ॥ (सू० ७४)

'इमा णं भंते' इत्यादि, 'इयं' प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना णमिति वाक्यालङ्कृतौ रत्नप्रभापृथिवी किमिव संस्थिता किंसंस्थिता प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! झल्लरीव संस्थिता झल्लरीसंस्थिता प्रज्ञप्ता, विस्तीर्णवलयाकारत्वात्। एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं, तत्रापि

रत्नकाण्डं, ततो वज्रकाण्डं, ततो यावद् रिष्टकाण्डं, तदनन्तरं पङ्कबहुलकाण्डं, ततो जलकाण्डं, तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधस्तात्क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि यावदधःसप्तमीपृथिवी, तस्याश्चाधस्तात्क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि झल्लरीसंस्थानानि वक्तव्यानि ॥ ननु चैताः सप्तापि पृथिव्यः सर्वासु दिक्षु किमलोकस्पर्शिन्य उत न? इति, उच्यते, नेति ब्रूमः, यद्येवं ततः—

इमीसे णं भंते! रयणप्प० पुढवीएं पुरत्थिमिल्लातो उवरिमंताओ केवतियं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते?, गोयमा! दुवालसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं दाहिणिल्लातो पच्चत्थिमिल्लातो उत्तरिल्लातो। सक्करप्प० पु० पुरत्थिमिल्लातो चरिमंतातो केवतियं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते?, गोयमा! तिभागूणेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं चउद्दिसिंपि। वालुयप्प० पु० पुरत्थिमिल्लातो पुच्छा, गोयमा! सतिभागेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं चउद्दिसिंपि, एवं सव्वासिं चउसुवि दिसासु पुच्छितव्वं। पंकप्प० चोद्दसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते। पंचमाए तिभागूणेहिं पन्नरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते। छट्ठीए सतिभागेहिं पन्नरसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते। सत्तमीए सोलसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं जाव उत्तरिल्लातो ॥ इमीसे णं भंते! रयण० पु० पुरत्थिमिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—घणोदधिवलए

घणवायवलए तणुवायवलए। इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० दाहिणिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते?, गोयमा! तिविधे पण्णत्ते, तंजहा,—एवं जाव उत्तरिल्ले, एवं सव्वासिं जाव अधेसत्तमाए उत्तरिल्ले॥ (सू० ७८)

'**इमी से णं भंते**' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः '**पुरत्थिमिल्लाओ**' इति पूर्वदिग्भाविनश्चरमान्तात् '**केवइयाए**' इति कियत्याऽबाधया—अपान्तरालरूपया लोकान्तोऽलोकावधिपरिच्छिन्नः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—द्वादश योजनानि, द्वादशयोजनप्रमाणयेत्यर्थः, अबाधया लोकान्तः प्रज्ञप्तः, किमुक्तं भवति?—रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि चरमपर्यन्तात्परतोऽलोकादर्वाग् अपान्तरालं द्वादश योजनानि, एवं दक्षिणस्यामपरस्यामुत्तरस्यां चापान्तरालं वक्तव्यं, दिग्ग्रहणं चोपलक्षणं तेन सर्वासु विदिक्ष्वपि यथोक्तमपान्तरालमवसातव्यं, शेषाणां तु पृथिवीनां सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकः क्रमेणाधोऽधस्त्रिभागोनेन योजनेनाधिकैर्द्वादशभिर्योजनैरवगन्तव्यः, तद्यथा—शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकादर्वागपान्तरालं त्रिभागोनानि त्रयोदश योजनानि, वालुकाप्रभायाः सत्रिभागानि त्रयोदश योजनानि, पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि चतुर्दश योजनानि, धूमप्रभायास्त्रिभागोनानि पञ्चदश योजनानि, तमःप्रभायाः सत्रिभागानि पञ्चदश योजनानि, अधःसप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि षोडश योजनानि, सूत्राक्षराणि पूर्ववद्योजनीयानि॥ अथामूनि रत्नप्रभादीनां द्वादशयोजनप्रमाणादीनि अपान्तरालानि किमाकाशरूपाणि उत घनोदध्यादिव्याप्तानि?, उच्यते, घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान् घनोदध्यादिः? इति प्रतिपादनार्थमाह—'**इमी से णं भंते**' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वदिग्भावी '**चरमान्तः**' अपान्तराललक्षणः '**कतिविधः**' कतिप्रकारः

कतिविभाग इत्यर्थः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'घनोदधिवलयः' वलयाकारघनोदधिरूप इत्यर्थः, एवं घनवातवलयस्तनुवातवलयश्च, इयमत्र भावना—सर्वासां पृथिवीनामधो यत्प्राग् बाहल्येन घनोदध्यादीनां परिमाणमुक्तं तन्मध्यभागे द्रष्टव्यं, ते हि मध्यभागे यथोक्तप्रमाणबाहल्यास्ततः प्रदेशहान्या प्रदेशहान्या हीयमानाः स्वस्वपृथिवीपर्यन्तेषु तनुतरा भूत्वा स्वां स्वां पृथिवीं वलयाकारेण वेष्टयित्वा स्थिताः, अत एवामूनि वलयान्युच्यन्ते, तेषां च वलयानामुच्चैस्त्वं सर्वत्र स्वस्वपृथिव्यनुसारेण परिभावनीयं, तिर्यग्बाहल्यं पुनरग्रे वक्ष्यते, इदानीं तु विभागमात्रमेवापान्तरालस्य प्रतिपादयितुमिष्टमिति तदेवोक्तं, एवमस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः शेषासु दिक्षु, एवं शेषाणामपि पृथिवीनां चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकं २ विभागसूत्रं भणितव्यम् ॥ सम्प्रति घनोदधिवलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानमाह—

इमीसे णं भंते ! रयणप्प० पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! छ जोयणाणि बाहल्लेणं पण्णत्ते । सक्करप्प० पु० घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! सतिभागाइं छजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । वालुयप्पभाए पुच्छा गोयमा ! तिभागूणाइं सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं प० । एवं एतेणं अभिलावेणं पंकप्पभाए सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । धूमप्पभाए सतिभागाइं सत्त जोयणाइं पण्णत्ते । तमप्पभाए तिभागूणाइं अट्ठ जोयणाइं । तमतमप्पभाए अट्ठ जोयणाइं ॥ इमीसे णं रयणप्प० पु० घणवायवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?, गोयमा ! अद्धपंचमाइं जोयणाइं बाहल्लेणं । सक्करप्पभाए पुच्छा, गोयमा ! कोसूणाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं,

एवं एतेणं अभिलावेणं वालुयप्पभाए पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं, पंकप्पभाए सक्कोसाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं। धूमप्पभाए अद्धछट्ठाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पन्नत्ताइं, तमप्पभाए कोसूणाइं छजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, अहेसत्तमाए छजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० तणुवायवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते?, गोयमा! छक्कोसेणं बाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं एतेणं अभिलावेणं सक्करप्पभाए सतिभागे छक्कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते। वालुयप्पभाए तिभागूणे सत्तकोसं बाहल्लेणं पण्णत्ते। पंकप्पभाए पुढवीए सत्तकोसं बाहल्लेणं पण्णत्ते। धूमप्पभाए सतिभागे सत्तकोसे। तमप्पभाए तिभागूणे अट्ठकोसे बाहल्लेणं पन्नत्ते। अधेसत्तमाए पुढवीए अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० घणोदधिवलयस्स छज्जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि द्व्वाइं वण्णतो काल जाव हंता अत्थि। सक्करप्पभाए णं भंते! पु० घणोदधिवलयस्स सतिभागछजोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेणं छिज्जमाणस्स जाव हंता अत्थि, एवं जाव अधेसत्तमाए जं जस्स बाहल्लं। इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० घणवातवलयस्स अद्धपंचमजोयणबाहल्लस्स खेत्तछेदेणं छि० जाव हंता अत्थि, एवं जाव अहेसत्तमाए जं जस्स बाहल्लं। एवं तणुवायवलयस्सवि जाव अधेसत्तमा जं जस्स बाहल्लं ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते

पण्णत्ते ॥ जे णं इमं रयणप्पभं पुढविं सव्वतो संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति, एवं जाव अधेसत्तमाए पु० घणोदधिवलए, णवरं अप्पणप्पणं पुढविं संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति। इमीसे णं रयणप्प० पु० घणवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! वट्टे वलयागारे तहेव जाव जे णं इमीसे णं रयणप्प० पु० घणोदधिवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ताणं चिट्ठइ एवं जाव अहेसत्तमाए घणवातवलए। इमीसे णं रयणप्प० पु० तणुवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते?, गोयमा! वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए जाव जेणं इमीसे रयणप्प० पु० घणवातवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ, एवं जाव अधेसत्तमाए तणुवातवलए ॥ इमा णं भंते! रयणप्प० पु० केवतिआयामविक्खंभेणं? पं० गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, एवं जाव अधेसत्तमा ॥ इमा णं भंते! रयणप्प० पु० अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं पण्णत्ता?, हंता गोयमा! इमा णं रयण० पु० अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं, एवं जाव अधेसत्तमा ॥ (सू० ७६)

'इमीसे ण' मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमान्ते घनोदधिवलयः कियद्बाहल्येन—तिर्यग्बाहल्येन प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! षड् योजनानि बाहल्येन—तिर्यग्बाहल्येन प्रज्ञप्तः, तत ऊर्ध्वं प्रतिपृथिवि योजनस्य त्रिभागो वक्तव्यः, तद्यथा—शर्कराप्रभायाः सत्रिभागानि षड् योजनानि वालुकाप्रभायास्त्रिभागोनानि सप्त योजनानि पङ्कप्रभायाः परि-

पूर्णानि सप्त योजनानि धूमप्रभायाः सत्रिभागानि सप्त योजनानि तमःप्रभायास्त्रिभागोनान्यष्टौ योजनानि अधःसप्तमपृथिव्याः परिपूर्णान्यष्टौ योजनानि, सूत्राक्षराणि तु सर्वत्र पूर्ववद्योजनीयानि ॥ सम्प्रति घनवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या घनवातवलयस्तिर्यग्बाहल्येनार्द्धपञ्चमानि—सार्द्धानि चत्वारि योजनानि प्रज्ञप्तः, अत ऊर्ध्वं तु प्रतिपृथिवि गव्यूतं वर्द्धनीयं, तथा चाह—द्वितीयस्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि पञ्च योजनानि, तृतीयस्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि पञ्च योजनानि, चतुर्थ्याः पृथिव्याः सक्रोशानि पञ्च योजनानि, पञ्चम्याः पृथिव्या अर्द्धषष्ठानि—सार्द्धानि पञ्च योजनानि, षष्ठ्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि षड् योजनानि, सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि षड् योजनानि ॥ सम्प्रति तनुवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्तनुवातवलयः 'कियत्' किंप्रमाणं 'बाहल्येन' तिर्यग्बाहल्येन प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—षट्क्रोशबाहल्येन प्रज्ञप्तः, अत ऊर्ध्वं तु प्रतिपृथिवि क्रोशस्य त्रिभागो वर्द्धनीयः, तथा चाह—द्वितीयस्याः पृथिव्याः सत्रिभागान् षट् क्रोशान् बाहल्येन प्रज्ञप्तः, तृतीयस्याः पृथिव्यास्त्रिभागोनान् सप्त क्रोशान् चतुर्थ्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् सप्त क्रोशान् पञ्चम्याः पृथिव्याः सत्रिभागान् सप्त क्रोशान् षष्ठ्याः पृथिव्यास्त्रिभागोनान् अष्टौ क्रोशान्, अधःसप्तम्याः परिपूर्णान् अष्टौ क्रोशान्, उक्तञ्च—"छच्चेव अद्धपंचमजोयणसड्ढं च होइ रयणाए । उदही घणतणुवाया (उ)जहासंखेण निद्दिट्ठा ॥ १ ॥ सतिभागगाउगाउयं च तिभागो गाउयस्स बोद्धव्वो । आइधुवे पक्खेवो अहो अहो जाव सत्तमिया ॥ २ ॥" एतेषां च त्रयाणामपि घनोदध्यादिविभागानामेकत्र मीलने प्रतिपृथिवि यथोक्तमपान्तरालमानं भवति ॥ सम्प्रत्येतेष्वेव घनोदध्यादिवलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्णवर्णाद्युपेतद्रव्यास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, पूर्ववद्भावनीयं,

वाहल्यपरिमाणमपि घनोदध्यादीनां प्रतिपृथिवि प्रागुक्तमुपयुज्य वक्तव्यम् ॥ सम्प्रति घनोदध्यादिसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या घनोदधिवलयः किमिव संस्थितः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! 'वृत्तः' चक्रवालतया परिवर्त्तुलो वलयस्य—मध्यशुषिरस्य वृत्तविशेषस्याकारः—आकृतिर्वलयाकारः स इव संस्थानं वलयाकारसंस्थानं तेन संस्थितो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः ॥ कथमेवमवगम्यते वलयाकारसंस्थानसंस्थित इति?, तत आह—'जेण' मित्यादि, येन कारणेनेमां रत्नप्रभां पृथिवीं 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च 'संपरिक्षिप्य' सामस्त्येन वेष्टयित्वा 'तिष्ठति' वर्त्तते तेन कारणेन वलयाकारसंस्थानसंस्थितः प्रज्ञप्तः । एवं घनवातवलयसूत्रं तनुवातवलयसूत्रं च परिभावनीयं, नवरं घनवातवलयो घनोदधिवलयं संपरिक्षिप्येति वक्तव्यः, तनुवातवलयो घनवातवलयं संपरिक्षिप्येति । एवं शेपास्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि ॥ 'इमा णं भंते!' इत्यादि, इयं भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी कियद् 'आयामविष्कम्भेन' समाहारो द्वन्द्वः, आयामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन, किमुक्तं भवति?—असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि आयामेन, असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेन च, आयामविष्कम्भयोस्तु परस्परमल्पबहुत्वचिन्तने तुल्यत्वं, तथाऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि 'परिक्षेपेण' परिधिना प्रज्ञप्ता, एवमेकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावदधःसप्तमी पृथिवी ॥ 'इमा णं भंते!' इत्यादि, इयं भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी अन्ते मध्ये च सर्वत्र समा 'बाहल्येन' पिण्डभावेन प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतमेत्यादि सुगमम् । एवं क्रमेणैकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावत्सप्तमी ॥

इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० सव्वजीवा उववण्णपुव्वा? सव्वजीवा उववण्णा?, गोयमा!

इमीसे णं रय० पु० सव्वजीवा उववण्णपुव्वा नो चेव णं सव्वजीवा उववण्णा, एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए ॥ इमा णं भंते! रयण० पु० सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा? सव्वजीवेहिं विजढा?, गोयमा! इमा णं रयण० पु० सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा नो चेव णं सव्वजीवविजढा, एवं जाव अधेसत्तमा॥इमीसे णं भंते! रयण० पु० सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा? सव्वपोग्गला पविट्ठा? गोयमा! इमीसे णं रयण० पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा नो चेव णं सव्वपोग्गला पविट्ठा, एवं जाव अधेसत्तमाए पुढवीए ॥ इमा णं भंते! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा? सव्वपोग्गला विजढा?, गोयमा! इमा णं रयणप्पभा पु० सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा नो चेव णं सव्वपोग्गलेहिं विजढा, एवं जाव अधेसत्तमा॥ (सू० ७७)

'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सामान्येन उपपन्नपूर्वा इति—उत्पन्नपूर्वाः कालक्रमेण, तथा सर्वजीवाः 'उपपन्नाः' उत्पन्ना युगपद्?, भगवानाह—गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सांव्यवहारिकजीवराश्यन्तर्गताः प्रायोवृत्तिमाश्रित्य सामान्येन 'उपपन्नपूर्वाः' उत्पन्नपूर्वाः कालक्रमेण, संसारस्यानादित्वात्, न पुनः सर्वजीवाः 'उपपन्ना' उत्पन्ना युगपत्, सकलजीवानामेककालं रत्नप्रभापृथिवीत्वेनोत्पादे सकलदेवनारकादिभेदाभावप्रसक्तेः, न चैतदस्ति, तथाजगत्स्वाभाव्यात्, एवमेकैकस्याः पृथिव्यास्तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याः ॥ 'इमा णं भंते!' इत्यादि, इयं च भदन्त! रत्नप्रभापृथिवी 'सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा' इति सर्वजीवैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वजीवैर्युगपद् 'विजढा' परित्यक्ता?, भगवानाह—गौतम!

इयं रत्नप्रभा पृथिवी प्रायोवृत्तिमाश्रित्य सर्वजीवैः सांव्यवहारिकैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, न तु युगपत्परित्यक्ता, सर्वजीवैः एककालपरित्यागस्यासम्भवात् तथानिमित्ताभावात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी पृथ्वी ॥ 'इमीसे णं' मित्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकोदरविवरवर्त्तिनः कालक्रमेण **'प्रविष्टपूर्वाः'** तद्भावेन परिणतपूर्वाः, तथा सर्वे पुद्गलाः **'प्रविष्टाः'** एककालं तद्भावेन परिणताः ?, भगवानाह—गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गलाः लोकवर्त्तिनः 'प्रविष्टपूर्वाः' तद्भावेन परिणतपूर्वाः, संसारस्यानादित्वात्, न पुनरेककालं सर्वपुद्गलाः 'प्रविष्टाः' तद्भावेन परिणताः, सर्वपुद्गलानां तद्भावेन परिणतौ रत्नप्रभाव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्रापि पुद्गलाभावप्रसक्तेः, न चैतदस्ति, तथाजगत्स्वाभाव्यात् । एवं सर्वासु पृथिवीषु क्रमेण वक्तव्यं यावदधःसप्तम्यां पृथिव्यामिति ॥ 'इमा णं भंते!' इत्यादि, इयं भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण 'विजढपुव्वा' इति परित्यक्तपूर्वा तथैव सर्वैः पुद्गलैरेककालं परित्यक्ता ?, भगवानाह—गौतम! इयं रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, संसारस्यानादित्वात्, न पुनः सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता, सर्वपुद्गलैरेककालपरित्यागे तस्याः सर्वथा स्वरूपाभावप्रसक्तेः, न चैतदस्ति, तथाजगत्स्वाभाव्यतः शाश्वतत्वात्, एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यति । एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वाच्या यावदधःसप्तमी पृथिवी ॥

इमा णं भंते! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया?, गोयमा! सिय सासता सिय असासया ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—सिय सासया सिय असासया?, गोयमा! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुचति—तं चेव जाव सिय असासता, एवं जाव अधेसत्तमा ॥ इमा णं भंते! रयणप्पभापु० कालतो

केवचिरं होइ?, गोयमा! न कयाइ ण आसि ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति ॥ भुविं च भवइ य भविस्सति य धुवा णियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिता णिचा एवं जाव अधेसत्तमा ॥ (सू० ७८)

'इमा णं भंते!' इत्यादि, इयं भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती अशाश्वती ?, भगवानाह—गौतम! स्यात्—कथञ्चित्कस्यापि नयस्याभिप्रायेणेत्यर्थः शाश्वती, स्यात्—कथञ्चिदशाश्वती ॥ एतदेव सविशेषं जिज्ञासुः पृच्छति—'से केणट्ठेण'मित्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थः स च प्रश्ने, केन 'अर्थेन' कारणेन भदन्त! एवमुच्यते यथा स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वतीति ?, भगवानाह—गौतम! 'दव्वट्ठयाए' इत्यादि, द्रव्यार्थतया शाश्वतीति, तत्र द्रव्यं सर्वत्रापि सामान्यमुच्यते, द्रवति—गच्छति तान् तान् पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमितिव्युत्पत्तेर्द्रव्यमेवार्थः—तात्त्विकः पदार्थो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थः—द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादको नयविशेषस्तद्भावो द्रव्यार्थता तया द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकनयाभिप्रायेणेतियावत् शाश्वती, द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवंविधस्य रत्नप्रभायाः पृथिव्या आकारस्य सदा भावात्, 'वर्णपर्यायैः' कृष्णादिभिः 'गन्धपर्यायैः' सुरभ्यादिभिः 'रसपर्यायैः' तिक्तादिभिः 'स्पर्शपर्यायैः' कठिनत्वादिभिः 'अशाश्वती' अनित्या, तेषां वर्णादीनां प्रतिक्षणं कियत्कालानन्तरं वाऽन्यथाभवनात्, अतादवस्थ्यस्य चानित्यत्वात्, न चैवमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात्, अन्यथोभयोरप्यसत्त्वापत्तेः, तथाहि—शक्यते वक्तुं परपरिकल्पितं द्रव्यमसत्, पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, बालत्वादिपर्यायशून्यवन्ध्यासुतवत्, तथा परपरिकल्पिताः पर्याया असन्तः, द्रव्यव्यतिरिक्तत्वात्, वन्ध्यासुतगतबालत्वादिपर्यायवत्, उक्तञ्च—"द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः। क कदा केन किंरूपा?,

३ प्रतिपत्तौ उद्देशः १ रत्नप्रभायाः शाश्वतेतरत्वे सू० ७८

दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥" इति कृतं प्रसङ्गेन, विस्तरार्थिना च **धर्मसङ्ग्रहणिटी**का निरूपणीया । **'से तेणट्ठेण'**मित्याद्युपसंहारमाह, सेशब्दोऽथशब्दार्थः स चात्र वाक्योपन्यासे अथ **'एतेन'** अनन्तरोदितेन कारणेन गौतम! एवमुच्यते—स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी पृथिवी, इह यद् यावत्सम्भवास्पदं तत्तावन्तं कालं शश्वद्भवति तदा तदपि शाश्वतमुच्यते यथा तत्रान्तरेषु 'आकप्पट्ठाई पुढवी सासया' इत्यादि, ततः संशयः—किमेषा रत्नप्रभा पृथवी सकलकालावस्थायितया शाश्वती उतान्यथा यथा तत्रान्तरीयैरुच्यत इति ?, ततस्तदपनोदार्थं पृच्छति—**'इमा णं भंते'** इत्यादि, इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कालतः **'कियच्चिरं'** कियन्तं कालं यावद्भवति ?, भगवानाह—गौतम! न कदाचिन्नासीत्, सदैवासीदिति भावः, अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः, अत्रापि स एव हेतुः, सदा भावादिति, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति भावः, अपर्यवसितत्वात् । तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति—**'भुविं चे'**त्यादि, अभूत् भवति भविष्यति च, एवं त्रिकालभावित्वेन **'ध्रुवा'** ध्रुवत्वादेव **'नियता'** नियतावस्थाना, धर्मास्तिकायादिवत्, नियतत्वादेव च शाश्वती, शश्वद्भावः प्रलयाभावात्, शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पद्मपौण्डरीकह्रद इवान्यतरपुद्गलविचटनेऽप्यन्यतरपुद्गलोपचयभावात्, अक्षया अक्षयत्वादेव च अव्यया, मानुषोत्तराद्बहिः समुद्रवत्, अव्ययत्वादेव **'अवस्थिता'** स्वप्रमाणावस्थिता, सूर्यमण्डलादिवत्, एवं सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत्, यदि-वा ध्रुवादयः शब्दा इन्द्रशक्रादिवत्पर्यायशब्दा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपन्यस्ता इत्यदोषः, एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या यावदधःसप्तमी ॥ सम्प्रति प्रतिपृथिवीषु(वि)विभागतोऽन्तरं विचिन्तयिषुरिदमाह—

[इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?, गोयमा ! असिउत्तरं जोयणसतसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयण० पु० उवरिल्लातो चरिमंताओ खरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?, गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरमंताओ रयणस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ?, गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥ इमीसे णं भंते ! रयण० पु० उवरिल्लातो चरिमंतातो वइरस्स कण्डस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते, ?, गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे प० ॥ इमीसे णं रयण० पु० उवरिल्लाओ चरिमंताओ वइरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवतियं अबाधाए अंतरे प० ?, गोयमा ! दो जोयणसहस्साइं इमीसे णं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते, एवं जाव रिट्ठस्स उवरिल्ले पन्नरस जोयणसहस्साइं, हेट्ठिल्ले चरिमंते सोलस जोयणसहस्साइं ॥ इमीसे णं भंते ! रयणप्प० पु० उवरिल्लाओ चरिमंताओ पंकबहुलस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं अबाधाए केवतियं अंतरे पण्णत्ते ?, गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । हेट्ठिल्ले चरिमंते एक्कं जोयणसयसहस्सं आवबहुलस्स उवरिं एक्कं जोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले

चरिमंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं। घणोदहि उवरिल्ले असिउत्तरजोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं । इमीसे णं भंते! रयण० पुढ० घणवातस्स उवरिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं । हेट्ठिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं । इमीसे णं भंते! रयण० पु० तणुवातस्स उवरिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाधाए अंतरे हेट्ठिल्लेवि असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं, एवं ओवासंतरेवि ॥ दोच्चाए णं भंते! पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंताओ हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! बत्तीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । सक्करप्प० पु० उवरि घणोदधिस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते बावण्णुत्तरं जोयणसयसहस्सं अबाधाए । घणवातस्स असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं पण्णत्ताइं। एवं जाव उवासंतरस्सवि जावऽधेसत्तमाए, णवरं जीसे जं बाहल्लं तेण घणोदधी संबंधेतव्वो बुद्धीए । सक्करप्पभाए अणुसारेणं घणोदहिसहिताणं इमं पमाणं॥ तच्चाए णं भंते! अडयालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं। पंकप्पभाए पुढवीए चत्तालीसुत्तरं जोयणसयसहस्सं। धूमप्पभाए पु० अट्ठतीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं । तमाए पु० छत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं। अधेसत्तमाए पु० अट्ठावीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं जाव अधेसत्तमाए। एस णं भंते!

पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो उवासंतरस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अवाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥ (सू० ७९)

'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथमस्य खरकाण्डस्य विभागस्य 'उवरिल्लात्' इति उपरितनाच्चरमान्तात्परतो योऽधस्तनः 'चरमान्तः' चरमपर्यन्तः 'एस ण'मिति एतत्, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, अन्तरं 'कियत्' कियद्योजनप्रमाणम् 'अवाधया' अन्तरत्वव्याघातरूपया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! 'एकं योजनसहस्रम्' एकं योजनसहस्रप्रमाणमन्तरं प्रज्ञप्तम् ॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योपरितनश्चरमान्त एतदन्तरं 'कियत्' किंप्रमाणमवाधया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकं योजनसहस्रमवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, रत्नकाण्डाधस्तनचरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनचरमान्तस्य च परस्परसंलग्नतया उभयत्रापि तुल्यप्रमाणत्वभावात् ॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्ताद् वज्रकाण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्तः एतदन्तरं कियद् अवाधया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! द्वे योजनसहस्रे अवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, एवं काण्डे काण्डे द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ, काण्डस्य चाधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने योजनसहस्रपरिवृद्धिः कर्त्तव्या यावद् रिष्टस्य काण्डस्याधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् ॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात्परतो यः पङ्कबहुलस्य काण्डस्योपरितनश्चरमान्तः एतत् 'कियत्' किंप्रमाणमवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! षोडश योजनसहस्राणि अवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम्। 'इमीसे ण'मित्यादि, तस्यैव पङ्कबहुलस्य काण्डस्याधस्तनश्चरमान्त एकं यो-

जनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं । 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्य भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात्परतोऽब्बहुलस्य काण्डस्य य उपरितनश्चरमान्त एतदन्तरं कियद् अबाधया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं । 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात्परतोऽब्बहुलस्य काण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतदन्तरं कियद् अबाधया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! अशीत्युत्तरं योजनशतसहस्रम् । घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्टे एतदेव निर्वचनमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम्, अधस्तने पृष्टे इदं निर्वचनं—द्वे योजनशतसहस्रे अबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् । घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्टे इदमेव निर्वचनं, घनोदध्यधस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं संलग्नत्वात् । घनवातस्याधस्तने चरमान्ते पृष्टे एतन्निर्वचनम्—असङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अधस्तने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितनेऽधस्तने च चरमान्ते इत्थमेव निर्वचनं वक्तव्यम्, असङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तमिति, सूत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रापि पूर्वानुसारेण स्वयं परिभावनीयः सुगमत्वात् ॥ 'दोच्चाए णं' इत्यादि, द्वितीयस्या भदन्त! पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात्परतो योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् 'कियत्' किंप्रमाणमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! 'द्वात्रिंशदुत्तरं' द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् । घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्टे एतदेव निर्वचनं द्वात्रिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम्, अधस्तने चरमान्ते पृष्टे इदं निर्वचनं—द्विपञ्चाशदुत्तरं योजनशतसहस्रम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि, घनवातस्याधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्तव्यम्, असङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यमिति भावः ॥ 'तच्चाए णं'

भंते !' इत्यादि, तृतीयस्या भदन्त ! पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्ताद् अधस्तनश्चरमान्त एतदन्तरं कियद् अबाधया प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! अष्टाविंशत्युत्तरं शत(सहस्र)म्—अष्टाविंशतिसहस्राधिकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् । एतदेव घनोदधेरुपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् । अधस्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाचत्वारिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि । अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्तव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमपृथिवीविषयाणि सूत्राण्यपि भावनीयानि ॥

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोचं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा ? वित्थरेणं किं तुल्ला विसेसहीणा संखेज्जगुणहीणा ?, गोयमा ! इमा णं रयण० पु० दोचं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं नो तुल्ला विसेसाहिया नो संखेज्जगुणा, वित्थारेणं नो तुल्ला विसेसहीणा णो संखेज्जगुणहीणा । दोचा णं भंते ! पुढवी तचं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला ? एवं चेव भाणितव्वं । एवं तचा चउत्थी पंचमी छट्ठी । छट्ठी णं भंते ! पुढवी सत्तमं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा ?, एवं चेव भाणियव्वं । सेवं भंते ! २ । नेरइयउद्देसओ पढमो ॥ (सू० ८०)

'इमा णं भंते !' इत्यादि, इयं भदन्त ! रत्नप्रभापृथिवी द्वितीयां पृथिवीं शर्कराप्रभां 'प्रणिधाय' आश्रित्य 'बाहल्येन' पिण्डभावेन किं तुल्या विशेषाधिका सङ्ख्येयगुणा ?, बाहल्यमधिकृत्येदं प्रश्नत्रयम्, ननु एका अशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना अपरा द्वात्रिंशदु-

त्तरयोजनलक्षमानेत्युक्तं ततस्तदर्थावगमे सत्युक्तलक्षणं प्रश्नत्रयमयुक्तं, विशेषाधिकेति स्वयमेवार्थपरिज्ञानात्, सत्यमेतत्, केवलं श्रम-
श्रोऽयं तदन्यमोहापोहार्थः, एतदपि कथमवसीयते ? इति चेत्स्वाववोधाय प्रश्नान्तरोपन्यासात्, तथा चाह—विस्तरेण—विष्कम्भेन
किं ? तुल्या विशेषहीना सङ्ख्येयगुणहीना ? इति, भगवानाह—गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां शर्कराप्रभापृथिवीं प्रणिधाय बाहल्येन
न [च] तुल्या किन्तु विशेषाधिका नापि सङ्ख्येयगुणा, कथमेतदेवम् ? इति चेदुच्यते—इह रत्नप्रभा पृथिवी अशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना,
शर्कराप्रभा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना, तदत्रान्तरमष्टाचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि ततो विशेषाधिका घटते न तुल्या नापि सङ्ख्ये-
यगुणा, विस्तरेण न तुल्या किन्तु विशेषहीना नापि सङ्ख्येयगुणहीना, प्रदेशादिवृद्ध्या प्रवर्द्धमाने तावति क्षेत्रे शर्कराप्रभाया एवं [च]
वृद्धिसम्भवात्, एवं सर्वत्र भावनीयम् ॥ [तृतीयप्रतिपत्तौ समाप्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः प्रारभ्यते, तस्य चेदमादिसूत्रम्—]
सम्प्रति कस्यां पृथिव्यां कस्मिन् प्रदेशे नरकावासाः ? इत्येतत्प्रतिपादनार्थं प्रथमं तावदिदमाह—

कइ णं भंते! पुढवीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा ॥ इमीसे णं रयणप्प० पु० असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवतियं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता मज्झे केवतिए केवतिया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! इमीसे णं रयण० पु० असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठावि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अडसत्तरी जोयणसयसहस्सा, एत्थ णं रयणप्पभाए पु० नेरइयाणं तीसं निरयावाससयसहस्साइं भवंतित्तिमक्खाया ॥

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा जाव असुभा णरएसु वेयणा, एवं एएणं अभिलावेणं उवजुंजिऊण भाणियव्वं ठाणप्पयाणुसारेणं, जत्थ जं बाहल्लं जत्थ जत्तिया वा नरयावाससयसहस्सा जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, अहेसत्तमाए मज्झिमं केवतिए कति अणुत्तरा महइ महालता महाणिरया पण्णत्ता एवं पुच्छितव्वं वागरेयव्वंपि तहेव ॥ (सू० ८१)

'कइ णं भंते!' इत्यादि, कति भदन्त! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः? इति, विशेषाभिधानार्थमेतदभिहितम्, उक्तञ्च—"पुव्वभणियंपि जं पुण भन्नई तत्थ कारणं अत्थि। पडिसेहो य अणुण्णा कारण(हेउ)विसेसोवलंभो वा ॥ १ ॥" भगवानाह—गौतम! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—रत्नप्रभा यावत्तमस्तमप्रभा ॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्या भदन्त! रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरि 'कियत्' किंप्रमाणमवगाह्य—उपरितनभागात् कियद् अतिक्रम्येत्यर्थः अधस्तात् 'कियत्' किंप्रमाणं वर्जयित्वा मध्ये 'कियति' किंप्रमाणे कियन्ति नरकावासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्याया उपर्येकं योजनसहस्रमवगाह्याधस्तादेकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा 'मध्ये' मध्यभागे 'अट्ठसत्तरे' अष्टसप्ततिसहस्राधिके योजनशतसहस्रे 'अत्र' एतस्मिन् रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां योग्यानि त्रिंशन्नरकावासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनता प्रवेदिता ॥ 'ते णं नरगा' इत्यादि, ते नरका 'अन्तः' मध्यभागे 'वृत्ताः' वृत्ताकाराः 'बहिः' बहिर्भागे 'चतुरस्राः' चतुरस्राकाराः, इदं च पीठोपरिवर्त्तिनं मध्यभागमधिकृत्य प्रोच्यते, सकलपीठाद्यपेक्षया तु आवलिकाप्रविष्टा वृत्तत्र्यस्रच-

१ पूर्वभणितमपि यत् पुनर्भण्यते तत्र कारणमस्ति। प्रतिषेधोऽनुज्ञा कारणविशेषोपलम्भश्च ॥ १ ॥

तुरस्रसंस्थाना: पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थाना: प्रतिपत्तव्या:, एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति, "अहे खुरप्पसंठाणसंठिया" इति, 'अध:' भूमितले क्षुरप्रस्येव—प्रहरणविशेषस्य(इव) यत् संस्थानम्—आकारविशेषस्तीक्ष्णतालक्षणस्तेन संस्थिता: क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिता:, तथाहि—तेषु नरकावासेषु भूमितले मसृणत्वाभावत: शर्करिले पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेणेव पादा: कृत्यन्ते, तथा "**निच्चंधयारतमसा**" नित्यान्धकारा: उद्द्योताभावतो यत्तमस्तेन—तमसा नित्यं—सर्वकालमन्धकारो येषु ते नित्यान्धकारा:, तत्रापवरकादिष्वपि तमोऽन्धकारोऽस्ति केवलं स बहि: सूर्यप्रकाशे मन्दतमो भवति नरकेषु तु तीर्थकरजन्मदीक्षादिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमप्युद्द्योतलेशस्याप्यभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालार्द्धरात्र इवातीव बहलतरो भवति, तत उक्तं तमसानित्यान्धकारा:, तमश्च तत्र सदाऽवस्थितमुद्द्योतकारिणामभावात्, तथा चाह—"**ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा**" व्यपगत:—परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणाम् उपलक्षणमेतत्तारारूपाणां च ज्योतिष्काणां पन्था—मार्गो यत्र ते व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथा:, तथा "**मेयवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला**" इति स्वभावत: संपन्नैर्मेदोवसापूतिरुधिरमांसैर्यश्चिक्खिल्ल:—कर्दमस्तेन लिप्तम्—उपदिग्धम् अनुलेपनेन—सकृल्लिप्तस्य पुन: पुनरुपलेपनेन तलं—भूमिका येषां ते मेदोवशापूतिरुधिरमांसचिक्खिल्ललिप्तानुलेपनतला अत एवाशुचय:—अपवित्रा, बीभत्सा दर्शनेऽप्यतिजुगुप्सोत्पत्ते: परमदुरभिगन्धा:—मृतगवादिकडेवरेभ्योऽप्यतीवानिष्टदुरभिगन्धा:, "**काऊअगणिवन्नाभा**" इति लोहे धम्यमाने यादृक् कपोतो—बहुकृष्णरूपोऽग्नेर्वर्ण:, किमुक्तं भवति?—यादृशी बहुकृष्णवर्णरूपाऽग्निज्वाला विनिर्गच्छतीति, तादृशी आभा—वर्णस्वरूपं येषां ते कपोताग्निवर्णाभा:, तथा कर्कश:—अतिदुस्सहोऽसिपत्रस्येव स्पर्शो येषां ते कर्कशस्पर्शा:, अत एव '**दुरहियासा**' इति दु:खेनाध्यास्यन्ते—सह्यन्ते इति दुरध्यासा अशुभा दर्शनतो नरका:, तथा गन्ध-

रसस्पर्शशब्दैरशुभा—अतीवासातरूपा नरकेषु वेदना । एवं सर्वास्वपि पृथिवीष्वालापको वक्तव्यः, स चैवम्—"सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जेत्ता मज्झे चेव केवइए केवइया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! सक्करप्पभाए णं पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहित्ता हेट्ठा एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे तीसुत्तरजोयणसयसहस्से एत्थ णं सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं पणवीसा नरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं णरगा अंतो वट्टा जाव असुभा नरएसु वेयणा । वालुयप्पभाए णं भंते! पुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता मज्झे केवइए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! वालुयप्पभाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठं एगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे छव्वीसुत्तरे जोयणसयसहस्से एत्थ णं वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं पण्णरस निरयावाससयसहस्सा भवन्तीति मक्खायं, ते णं नरगा जाव असुभा नरगेसु वेयणा । पंकप्पभाए णं भंते! पुढवीए वीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता मज्झे केवइए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! पंकप्पभाए णं पुढवीए वीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हिट्ठावि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठारसुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं पंकप्पभा पुढविणेरइयाणं दस निरयावाससयसहस्सा निरयावासा भवंतीति मक्खायं, ते णं णरगा जाव असुभा नरगेसु वेयणा। धूमप्पभाए णं भंते! पुढवीए अट्ठारसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि केवइयं ओगाहेत्ता, हेट्ठा केवइयं वज्जित्ता मज्झे केवइए केवइया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! धूमप्पभाए णं पुढवीए अट्ठारसुत्तरजोयणसयसह-

स्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हेट्ठा एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे सोलसुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं धूमप्पभापुढविनेरइयाणं तिन्नि नेरइयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं णरगा अंतो वट्टा जाव असुभा नरगेसु वेयणा इति, [ग्रन्थाग्रम् ३०००]। तमप्पभाए णं भंते! पुढवीए सोलसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि केवतियं ओगाहेत्ता हेट्ठा केवतियं वज्जेत्ता मज्झे केवतिए केवतिया नरगावाससयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! तमप्पभाए णं पुढवीए सोलसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हेट्ठा एगं जोयणसयसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे चोद्दसुत्तरे जोयणसयसहस्से एत्थ णं तमापुढविनेरइयाणं एगे पंचूणे नरगावाससयसहस्से भवन्तीति मक्खायं, ते णं णरगा अंतो वट्टा जाव असुभा नरगेसु वेयणा। अहेसत्तमाए णं भंते! पुढवीए अट्ठोत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहेत्ता हेट्ठा केवइयं वज्जेत्ता मज्झे केवइए केवइया अणुत्तरा महइमहालया महानरगावासा पण्णत्ता?, गोयमा! अहेसत्तमाए पुढवीए अठ्ठुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं अद्धतेवण्णं जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता हेट्ठावि अद्धतेवण्णं जोयणसहस्साइं वज्जित्ता मज्झे तिसु जोयणसहस्सेसु एत्थ णं अहेसत्तमपुढविनेरइयाणं पंच अणुत्तरा महइमहालया महानिरया पण्णत्ता, तंजहा—काले महाकाले रोरुए महारोरुए मज्झे अप्पइट्ठाणे, ते णं महानरगा अंतो वट्टा जाव असुभा महानरगेसु वेयणा" इति। इदं च सकलमपि सूत्रं सुगमं, तत्र बाहल्यपरिमाणनरकावासयोग्यमध्यभागपरिमाणनरकावाससङ्ख्यानामिमाः सङ्ग्रहणिगाथाः—"आसीयं बत्तीसं अट्ठावीसं तहेव वीसं च। अट्ठारस सोलसगं अठ्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया॥ १॥ अठ्ठुत्तरं च तीसं छव्वीसं चेव सयसहस्सं तु। अट्ठारस सोलसगं चोद्दसमहियं तु छट्ठीए॥ २॥ अद्धतिवण्णसहस्सा उवरिमहे वज्जिऊण तो भणिया।

मज्झे तिसु सहस्सेसु होंति निरया तमतमाए ॥ ३ ॥ तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दस चेव सयसहस्साइं । तिन्नि य पंचूणेगं पंचेव अणुत्तरा निरया ॥ ४ ॥" पाठसिद्धाः ॥ सम्प्रति नरकावाससंस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरका किंसंठिया पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—आवलियपविट्ठा य आवलियबाहिरा य, तत्थ णं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टा तंसा चउरंसा, तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता, तंजहा—अयकोट्ठसंठिता पिट्ठपयणगसंठिता कंडूसंठिता लोहीसंठिता कडाहसंठिता थालीसंठिता पिहडगसंठिता किमियडसंठिता किन्नपुडगसंठिआ उडवसंठिया मुरवसंठिता मुयंगसंठिया नंदिमुयंगसंठिया आलिंगकसंठिता सुघोससंठिया दद्दरयसंठिता पणवसंठिया पडहसंठिया भेरिसंठिआ झल्लरीसंठिया कुतुंबकसंठिया नालिसंठिया, एवं जाव तमाए ॥ अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए णरका किंसंठिता पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—वट्टे य तंसा य ॥ इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरका केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! तिण्णि जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ता, तंजहा—हेट्ठा घणा सहस्सं मज्झे झुसिरा सहस्सं उप्पिं संकुइया सहस्सं, एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ इमीसेणं भंते ! रयणप्प० पु० नरगा केवतियं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता,

तंजहा—संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य, तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडा ते णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता, एवं जाव तमाए, अहेसत्तमाए णं भंते! पुच्छा, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडा य, तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडे से णं एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि कोसे य अट्ठावीसं च धणुसतं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचिविसेसाधिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता (सू० ८२)

'इमीसे णं भंते'! इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किमिव संस्थिताः किंसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! नरका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—आवलिकाप्रविष्टाश्च आवलिकाबाह्याश्च, चशब्दावुभयेषामप्यशुभतातुल्यतासूचकौ, आवलिकाप्रविष्टा नामाष्टासु दिक्षु समश्रेण्यवस्थिताः, आवलिकासु—श्रेणिषु प्रविष्टा—व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः, ते संस्थानमधिकृत्य त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—वृत्तास्त्र्यस्राश्चतुरस्राः, तत्र ये ते आवलिकाबाह्यास्ते नानासंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अयःकोष्ठो—लोहमयः कोष्ठस्तद्वत्संस्थिता अयःकोष्ठसंस्थिताः, 'पिट्ठपयणगसंठिया' इति यत्र सुरासंधानाय पिष्टं पच्यते तत्पिष्टपचनकं तद्व-

त्संस्थिताः 'पिट्ठपयणगसंठिया' अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—"अयकोट्ठपिट्ठपयणगकंडूलोहीकडाहसंठाणा । थाली पिहडग किण्ह(ग) उडए मुरवे मुयंगे य ॥ १ ॥ नंदिमुइंगे आलिंग सुघोसे दद्दरे य पणवे य । पडहगझल्लरिभेरीकुत्तुंबगनाडिसंठाणा ॥ २ ॥" कण्डुः—पाकस्थानं लोहीकटाहौ प्रतीतौ तद्वत्संस्थानाः स्थाली—उषा पिहडं—यत्र प्रभूतजनयोग्यं धान्यं पच्यते उटजः—तापसाश्रमो मुरजो—मर्दलविशेषः नन्दीमृदङ्गो—द्वादशविधतूर्यान्तर्गतो मृदङ्गः, स च द्विधा, तद्यथा—मुकुन्दो मर्दलश्च, तत्रोपरि सङ्कुचितोऽधो विस्तीर्णो मुकुन्दः उपर्यधश्च समो मर्दलः आलिङ्गो—मृन्मयो मुरजः सुघोषो—देवलोकप्रसिद्धो घण्टाविशेष आतोद्यविशेषो वा दर्दरो—वाद्यविशेषः पणवो—भाण्डानां पटहः पटहः—प्रतीतः, भेरी—ढक्का, झल्लरी—चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाकारा, कुस्तुम्बकः—संप्रदायगम्यः, नाडी—घटिका, एवं शेषास्वपि पृथिवीषु तावद्वक्तव्यं यावत्षष्ठ्यां, सूत्रपाठोऽप्येवम्—"सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवीए नरका किंसंठिया पन्नत्ता ?, गोयमा! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—आवलिकापविट्ठा य आवलियाबाहिरा य" इत्यादि ॥ अधःसप्तमीविषयं सूत्रं साक्षादुपदर्शयति—'अहेसत्तमाए णं भंते!' इत्यादि, अधःसप्तम्यां भदन्त! पृथिव्यां नरकाः 'किंसंस्थिताः' किमिव संस्थिताः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—'वट्टे य तंसा य' इति, अधःसप्तम्यां हि पृथिव्यां नरका आवलिकाप्रविष्टा एव न आवलिकाबाह्याः, आवलिकाप्रविष्टा अपि पञ्च, नाधिकाः, तत्र मध्येऽप्रतिष्ठानाभिधानो नरकेन्द्रो वृत्तः, सर्वेषामपि नरकेन्द्राणां वृत्तत्वात्, शेषास्तु चत्वारः पूर्वादिषु दिक्षु, ते च त्र्यस्राः, तत उक्तं वृत्ताश्च त्र्यस्राश्च ॥ सम्प्रति नरकावासानां बाहल्यप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं'मित्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कियद्बाहल्येन—बहलस्य भावो बाहल्यं—पिण्डभाव उत्सेध इत्यर्थः तेन प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम! त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तने पादपीठे घना—निचिताः

सहस्रं—योजनसहस्रं, मध्ये—पीठस्योपरि मध्यभागे सुषिराः सहस्रं—योजनसहस्रं, तत 'उप्पिं'ति उपरि सङ्कुचिताः शिखराकृत्या सङ्कोचमुपगता योजनसहस्रं, तत एवं सर्वसङ्ख्यया नरकावासानां त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्यतो भवन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्यां, तथा चोक्तमन्यत्रापि—हेट्ठा घणा सहस्सं उप्पिं संकोचतो सहस्सं तु । मज्झे सहस्स सुसिरा तिन्नि सहस्सूसिया नरया ॥ १ ॥" सम्प्रति नरकावासानामायामविष्कम्भप्रतिपादनार्थमाह—'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किंप्रमाणमायामविष्कम्भेन, समाहारो द्वन्द्वस्तेनायामविष्कम्भाभ्यामित्यर्थः, कियत् 'परिक्षेपेण' परिरयेण प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सङ्ख्येयविस्तृताश्च असङ्ख्येयविस्तृताश्च, सङ्ख्येययोजनप्रमाणं विस्तृतं—विस्तरो येषां ते सङ्ख्येयविस्तृताः, एवमसङ्ख्येयं विस्तृतं येषां ते असङ्ख्येयविस्तृताः, चशब्दौ स्वगतानेकसङ्ख्याभेदप्रकाशनपरौ, तत्र ये ते सङ्ख्येयविस्तृतास्ते सङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन सङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण, तत्र ये तेऽसङ्ख्येयविस्तृतास्तेऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेन असङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावत्षष्ठी पृथिवी, सूत्रपाठस्त्वेवम्—सक्करप्पभाए णं भन्ते! पुढवीए नरगा केवइयं आयामविक्खंभेणं केवइयं परिरयेणं पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्जवित्थडा य" इत्यादि ॥ 'अहेसत्तमाए णं भंते!' इत्यादि, अधःसप्तम्यां भदन्त! पृथिव्यां नरकाः कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सङ्ख्येयविस्तृत एकः, स चाप्रतिष्ठानाभिधानो नरकेन्द्रकोऽवसातव्यः, असङ्ख्येयविस्तृताः शेषाश्चत्वारः, तत्र योऽसौ सङ्ख्येयविस्तृतोऽप्रतिष्ठानाभिधानो नरकेन्द्रकः स एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेन त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके त्रयः

क्रोशा अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेपाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्, इदं च परिक्षेपपरिमाणं गणितभावनया जम्बूद्वीपपरिक्षेपपरिमाणवद्भावनीयं, तत्र ये ते शेषाश्चत्वारोऽसङ्ख्येयविस्तृतास्तेऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भेनासङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि ॥ सम्प्रति नरकावासानां वर्णप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरया केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! काला कालावभासा गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं जाव अधेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरका केरिसका गंधेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! से जहाणामए अहिमडेति वा गोमडेति वा सुणगमडेति वा मज्जारमडेति वा मणुस्समडेति वा महिसमडेति वा मूसगमडेति वा आसमडेति वा हत्थिमडेति वा सीहमडेति वा वग्घमडेति वा विगमडेति वा दीवियमडेति वा मयकुहियचिरविणट्ठकुणिमवावण्णदुब्भिगंधे असुइविलीणविगयबीभत्थदरिसणिज्जे किमिजालाउलसंसत्ते, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरका चेव अकंततरका चेव जाव अमणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता, एवं जाव अधेसत्तमाए पुढवीए ॥ इमीसे णं भंते ! रयणप्प० पु० णरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए असिपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरियापत्तेइ वा सत्तग्गेइ वा कुंतग्गेइ वा तोमरग्गेति वा नारायग्गेति वा सूलग्गेति वा लउ-

लग्गेति वा भिंडिमालग्गेति वा सूचिकलावेति वा कवियच्छूति वा विंचुयकंटएति वा इंगालेति वा जालेति वा मुम्मुरेति वा, अच्चिति वा अलाएति वा सुद्धागणीइ वा, भवे एतारूवे सिया ?, णो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरा चेव जाव अमणामतरका चेव फासे णं पण्णत्ता, एवं जाव अधेसत्तमाए पुढवीए ॥ (सू० ८३)

'इमीसे णं भंते !' इत्यादि, अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कीदृशा वर्णेन प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम ! कालाः, तत्र कोऽपि निष्प्रतिभतया मन्दकालोऽप्याशङ्क्येत ततस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह—'**कालावभासाः**' कालः—कृष्णोऽवभासः—प्रतिभाविनिर्गमो येभ्यस्ते कालावभासाः, कृष्णप्रभापटलोपचिता इति भावः, अत एव '**गम्भीररोमहर्षाः**' गम्भीरः—अतीवोत्कटो रोमहर्षो—रोमोद्धर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम ते कृष्णावभासा यद्दर्शनमात्रेणापि नारकजन्तूनां भयसम्पादनेन अनर्गलं रोमहर्षमुत्पादयन्तीति, अत एव भीमा—भयानका भीमत्वादेव उत्रासनकाः, उत्रास्यन्ते नारका जन्तव एभिरिति उत्रासना उत्रासना एव उत्रासनकाः, किं वहुना ?—'**वर्णेन**' वर्णमधिकृत्य परमकृष्णाः प्रज्ञप्ताः, यत ऊर्ध्वं न किमपि भयानकं कृष्णमस्तीति भावः, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ गन्धमधिकृत्याह—'**इमीसे णं भंते !**' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! तद्यथा नाम—'**अहिमृत इति वा**' अहिमृतो नाम मृताहिदेहः, एवं सर्वत्र भावनीयं, गोमृत इति वा अश्वमृत इति वा मार्जारमृत इति वा हस्तिमृत इति वा सिंहमृत इति वा व्याघ्रमृत इति वा द्वीपः—चित्रकः, सर्वत्र अहिश्चासौ मृतश्च अहिमृत इत्येवं विशेषणसमासः, इह मृतकं सद्यःसंपन्नं न विगन्धि भवति तत आह—'**मयकुहियविणट्ठ-**

कुणिमवावण्णे'त्यादि, मृतः सन् कुथितः—पूतिभावमुपगतो मृतकुथितः, स चोच्छूनावस्थामात्रगतोऽपि भवति, न च स तथा विगन्धस्तत आह—विनष्टः—उच्छूनावस्थां प्राप्य स्फुटित इति भावः, सोऽपि तथा दुरभिगन्धो न भवति तत आह—'कुणिमवावण्ण'त्ति व्यापन्नं—विशरारुभूतं कुणिमं—मांसं यस्य स तथा, ततो विशेषणसमासः, 'दुरभिगन्धः' इति दुरभिः—सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्यासौ दुरभिगन्धः, अशुचिश्च विलीनो—मनसः कलिमलपरिणामहेतुः 'विगय' इति विगतं प्रनष्टं यदभिमुखतया प्राणिनां गतं—गमनं यस्मिन्, तथा बीभत्सया—निन्दया दर्शनीयो बीभत्सादर्शनीयः ततो विशेषणसमासः अशुचिविगतबीभत्सादर्शनीयः 'किमिजालाउलसंसत्ते' इति संसक्तः सन् कृमिजालाकुलो जातः कृमिजालाकुलसंसक्तः, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः संसक्तशब्दस्य च परनिपातः, एतावत्युक्ते गौतम आह—'भवे एयारूवे सिया?' इति, स्याद् भवेद्—भवेयुरेतद्रूपाः—यथोक्तविशेषणविशिष्टा अहिमृतादिरूपा गन्धेनाधिकृता नरकाः, सूत्रे च बहुवचनेऽप्येकवचनं प्राकृतत्वात्, भगवानाह—गौतम! 'नायमर्थः समर्थो' नायमर्थ उपपन्नो, यतोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरका इतो—यथोक्तविशेषणविशिष्टाहिमृतादेरनिष्टतरा एव, तत्र किञ्चिद्रम्यमपि कस्याप्यनिष्टतरं भवति तत आह—अकान्ततरा एव—स्वरूपतोऽप्यकमनीयतरा एव, अभव्या एवेति भावः, तत्राकान्तमपि कस्यापि प्रियं भवति यथा गर्त्ताशूकरस्याशुचिः, तत आह—अप्रियतरा एव न कस्यापि प्रिया इति भावः, अत एवामनोज्ञतरा एव, अमनआपतरा एव गन्धमधिकृत्य प्रज्ञप्ताः, तत्र मनोज्ञं—मनोऽनुकूलमात्रं यत्पुनः स्वविषये मनोऽत्यन्तमासक्तं करोति तन्मनआपम्, एकार्थिका वा एते सर्वे शब्दाः शक्रेन्द्रपुरन्दरादिवत् नानादेशजविनेयजनानुग्रहार्थमुपात्ताः, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ स्पर्शमधिकृत्याह—'इमीसे ण'मित्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! तद्यथा नाम—'असिपत्रमिति वा' असिः—खड्गं तस्य पत्रमसिपत्रं क्षुरप्रमिति वा

कदम्बचीरिकापत्रमिति वा, कदम्बचीरिका—तृणविशेषः, स च दर्भादप्यतीव छेदकः, शक्तिः—प्रहरणविशेषस्तदग्रमिति वा, कुन्ताग्रमिति वा, तोमराग्रमिति वा, भिण्डिमालः—प्रहरणविशेषस्तदग्रमिति वा, सूचीकलाप इति वा, वृश्चिकदंश इति वा, कपिकच्छूरिति वा, कपिकच्छूः—कण्डूविजनको वल्लीविशेषः, अङ्गार इति वा, अङ्गारो—निर्धूमाग्निः, ज्वालेति वा, ज्वाला—अनलसंबद्धा, मुर्मुर इति वा, मुर्मुरः—फुम्फुकादौ मसृणोऽग्निः, अर्चिरिति वा, अर्चिः—अनलविच्छिन्ना ज्वाला, अलातम्—उल्मुकं, शुद्धाग्निः—अयस्पिण्डाद्यनुगतोऽग्निर्विद्युदादिर्वा, इतिशब्दः सर्वत्रापि उपमाभूतवस्तुस्वरूपपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दः परस्परसमुच्चये, इह कस्यापि नरकस्य स्पर्शः शरीरावयवच्छेदकोऽपरस्य भेदकोऽन्यस्य व्यथाजनकोऽपरस्य दाहक इत्यादि ततः साम्यप्रतिपत्त्यर्थमसिपत्रादीनां नानाविधानामुपमानानामुपादानं, 'भवे एयारूवे सिया?' इत्यादि प्राग्वत् ॥ सम्प्रति नरकावासानां महत्त्वमभिधित्सुराह—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नरका केमहालिया पण्णत्ता?, गोयमा! अयण्णं जंबुद्दीवे २ सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूवसंठाणसंठिते वट्टे रथचक्कवालसंठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिते एक्कं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खंभेणं जाव किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं, देवे णं महिड्ढीए जाव महाणुभागे जाव इणामेव इणामेवत्तिकट्टु इमं केवलकप्पं जंबूद्दीवं २ तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरिताए चवलाए चंडाए सिग्घाए उद्धुयाए जयणाए [छेगाए] दिव्वाए दिव्वगतीए वीतिवयमाणे २ जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा

तिआहं वा उक्कोसेणं छम्मासेणं वीतिवएज्जा, अत्थेगतिए वीइवएज्जा अत्थेगतिए नो वीतिवएज्जा, एमहालता णं गोयमा! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा पण्णत्ता, एवं जाव अधेसत्तमाए; णवरं अधेसत्तमाए अत्थेगतियं नरगं वीइवइज्जा, अत्थेगइए नरगे नो वीतिवएज्जा ॥ (सू० ८४)

'इमीसे ण'मित्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः **'किंमहान्तः'** किंप्रमाणा महान्तः प्रज्ञप्ताः ?, पूर्वं ह्यसङ्ख्येयविस्तृता इति कथितं, तच्चासङ्ख्येयत्वं नावगम्यत इति भूयः प्रश्नः, अत एवात्र निर्वचनं भगवानुपमयाऽभिधत्ते, गौतम! अयमिति यत्र संस्थिता वयं णमिति वाक्यालङ्कारे अष्टयोजनोच्छ्रितया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां—धातकीखण्डलवणादीनां सर्वाभ्यन्तरः—आदिभूतः **'सर्वक्षुल्लकः'** सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको—ह्रस्वः सर्वक्षुल्लकः, तथाहि—सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे धातकीखण्डादयो द्वीपा अस्माज्जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तेन क्रमेण द्विगुणद्विगुणायामविष्कम्भपरिधयः ततोऽयं शेषसर्वद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति, तथा वृत्तो यतः **'तैलापूपसंस्थानसंस्थितः'** तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतेन पक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव संस्थानं तैलापूपसंस्थानं तेन संस्थितस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो यतः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो यतः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, अनेकधोपमानोपमेयभावो नानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थः, एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेन त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे त्रयः क्रोशा अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, परिक्षेपपरिमाणगणितभावना क्षेत्रसमासटीकातो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकातो वा वेदितव्या। 'देवे ण'मित्यादि, देवश्च णमिति वाक्याल-

ङ्कारे, 'महर्द्धिकः' महती ऋद्धिर्विमानपरिवारादिका यस्य स महर्द्धिकः, महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य स महाद्युतिकः, महद् बलं-शारीरः प्राणो यस्य स महाबलः, महद् यशः-ख्यातिर्यस्य स महायशाः, तथा 'महेसक्खे' इति महेश इति महान् ईश्वर इत्याख्या यस्य स महेशाख्यः, अथवा ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्यय ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईशं ऐश्वर्ये' इति वचनात्, तत ईशम्-ऐश्वर्यमात्मनः ख्याति-अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति-प्रथयति ईशाख्यः, महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः, कचित् 'महासोक्खे' इति पाठः, तत्र महत् सौख्यं यस्य प्रभूतसद्वेद्योदयवशात्स महासौख्यः, अन्ये पठन्ति—'महासक्खे' इति तत्रायं शब्दसंस्कारो-महाश्वाक्षः, इयं चात्र पूर्वाचार्यप्रदर्शिता व्युत्पत्तिः-आशुगमनादश्वो-मनः अक्षाणि-इन्द्रियाणि स्वविषयव्यापकत्वात् अश्वश्चाक्षाणि च अश्वाक्षाणि महान्ति अश्वाक्षाणि यस्यासौ महाश्वाक्षः, तथा 'महाणुभागे' इति अनुभागो-विशिष्टवैक्रियादिकरणविषयाऽचिन्त्या शक्तिः 'भागोऽचिंता सत्ती' इति वचनात्, महान् अनुभागो यस्य स महानुभागः, अमूनि महर्द्धिक इत्यादीनि विशेषणानि तत्सामर्थ्यातिशयप्रतिपादकानि यावदिति चप्पुटिकात्रयकरणकालावधिप्रदर्शनपरम् 'इणामेव इणामेवेतिकट्टु' एवमेव मुधिकया एवमेव 'मोरकुला मुहा य मुहियत्ति नायव्वा' इति वचनाद् अवज्ञयेति भावः, उक्तञ्च मूलटीकायाम् "इणामेव इणामेवेति कट्टु एवमेव मुधिकयाऽवज्ञयेति" 'इतिकृत्वे'ति हस्तदर्शितचप्पुटिकात्रयकरणसूचकं केवलकल्पं-परिपूर्णं जम्बूद्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातैः, अप्सरोनिपातो नाम चप्पुटिका, तत्र तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यं, चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणं, ततो यावता कालेन तिस्रश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते तावत्कालमध्य इत्यर्थः, त्रिसप्तकृत्वः-एकविंशतिवारान् अनुपरिवर्त्त्य-सामस्त्येन परिभ्रम्य 'हव्वं' शीघ्रमागच्छेत्, स इत्थम्भूतगमनशक्तियोग्यो देवः तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिनामोदयात्प्रशस्तया शीघ्रसंचरणात्त्वरितया त्वरा संजाताऽस्यामिति

त्वरिता तया त्वरितया शीघ्रतरमेव तया प्रदेशान्तराक्रमणमिति, चपलेव चपला तया, क्रोधाविष्टस्येव श्रमासंवेदनात् चण्डेव चण्डा तया, निरन्तरं शीघ्रत्वगुणयोगात् शीघ्रा तया शीघ्रया, परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना तया, अन्ये तु जितया विपक्षजेतृत्वेनेति व्याचक्षते, 'छेकया' निपुणया, वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा उद्धूता तया, अन्ये त्वाहुः—उद्धतया दर्पातिशयेनेति, 'दिव्यया' दिवि—देवलोके भवा दिव्या तया देवगत्या व्यतिव्रजन् जघन्यतः 'एकाहं वा' एकमहर्यावत्, एवं द्व्यहं त्र्यहमुत्कर्षतः षण्मासान् यावद् व्यतिव्रजेत्, तत्रास्त्येतद् यदुत एककान् कांश्चन नरकान् 'व्यतिव्रजेत्' उल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, तथाऽस्त्येतद् यदुत इत्थंभूतयापि गत्या षण्मासानपि यावन्निरन्तरं गच्छन् एककान् कांश्चन नरकान् 'न व्यतिव्रजेत्' नोल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, अतिप्रभूताऽऽयामतया तेषामन्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्, एतावन्तो महान्तो गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः प्रज्ञप्ताः, एवमेकैकस्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्यां, नवरमधःसप्तम्यामेवं वक्तव्यम्—"अत्थेगइयं नरगं वीइवएज्जा अत्थेगइए नरगे नो वीइवएज्जा" अप्रतिष्ठानाभिधस्यैकस्य नरकस्य लक्षयोजनायामविष्कम्भतयाऽन्तस्य प्राप्तुं शक्यत्वात् शेषाणां च चतुर्णामतिप्रभूतासङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वेनान्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात् ॥ सम्प्रति किंमया नरका इति निरूपणार्थमाह—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किंमया पण्णत्ता?, गोयमा! सव्ववइरामया पण्णत्ता, तत्थ णं नरएसु बहवे जीवा य पोग्गला य अवक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, सासता णं ते णरगा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया, एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ (सू० ८५)

'इमीसे णं भंते!' इत्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः 'किंमयाः' किंविकाराः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! 'सव्ववइरामया' इति सर्वात्मना वज्रमयाः प्रज्ञप्ताः, वज्रशब्दस्य सूत्रे दीर्घान्तता प्राकृतत्वात्, 'तत्र च' तेषु नरकेषु णमिति वाक्यालङ्कारे बहवो जीवाश्च खरबादरपृथिवीकायिकरूपाः पुद्गलाश्च 'अपक्रामन्ति' च्यवन्ते 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते, एतदेव शब्दद्वयं यथाक्रमं पर्यायद्वयेन व्याचष्टे—'चयंति उववज्जंति' च्यवन्ते उत्पद्यन्ते, किमुक्तं भवति?—एके जीवाः पुद्गलाश्च यथायोगं गच्छन्ति अपरे त्वागच्छन्ति, यस्तु प्रतिनियतसंस्थानादिरूप आकारः स तदवस्थ एवेति, अत एवाह—शाश्वता णमिति पूर्ववत् ते नरका द्रव्यार्थतया तथाविधप्रतिनियतसंस्थानादिरूपतया वर्णपर्यायैर्गन्धपर्यायै रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वताः, वर्णादीनामन्यथाऽन्यथाभवनात्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी पृथिवी ॥ साम्प्रतमुपपातं विचिचिन्तयिषुराह—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया कतोहिंतो उववज्जंति किं असण्णीहिंतो उववज्जंति सरीसिवेहिंतो उववज्जंति पक्खीहिंतो उववज्जंति चउप्पएहिंतो उववज्जंति उरगेहिंतो उववज्जंति इत्थियाहिंतो उववज्जंति मच्छमणुएहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुएहिंतोवि उववज्जंति[1],—असण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसिवा ततिय पक्खी। सीहा जंति चउत्थीं उरगा पुण पंचमीं जंति ॥ १ ॥ छट्ठिं च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमिं जंति। जाव अधेसत्तमाए पुढवीए नेरइया णो असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव णो इत्थियाहिंतो उवव-

---

१ (सेसासु इमाए गाहाए अणुगंतव्वा, एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाथा घोसेयव्वा).

ज्जंति मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० णेरतिया एकसमएणं केव-
तिया उववज्जंति?, गोयमा! जहण्णेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखिज्जा
वा उववज्जंति, एवं जाव अधेसत्तमाए॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पुढवीए णेरतिया समए समए
अवहीरमाणा अवहीरमाणा केवतिकालेणं अवहिता सिता?, गोयमा! ते णं असंखेज्जा समए स-
मए अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव
णं अवहिता सिता जाव अधेसत्तमा॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० णेरतियाणं केमहालिया
सरीरोगाहणा पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य
उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्को-
सेणं सत्त धणूइं तिण्णि य रयणीओ छच्च अंगुलाइं, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से जह० अंगु-
लस्स संखेज्जतिभागं उक्को० पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ, दोचाए भवधारणिज्जे जह-
ण्णओ अंगुलासंखेज्जभागं उक्को० पण्णरस धणू अड्ढाइज्जातो रयणीओ उत्तरवेउव्विया जह०
अंगुलस्स संखेज्जभागं उक्को० एकतीसं धणूइं एका रयणी, तचाए भवधारणिज्जे एकतीसं धणू
एका रयणी, उत्तरवेउव्विया बासट्ठिं धणूइं दोण्णि रयणीओ, चउत्थीए भवधारणिज्जे बासट्ठ ध-
णूइं दोण्णि य रयणीओ, उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसयं, पंचमीए भवधारणिज्जे पणवीसं ध-

णुसयं, उत्तरवे० अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं, छट्ठीए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं, उत्तरवेउव्विया पंचधणुसयाइं, सत्तमाए भवधारणिज्जा पंचधणुसयाइं उत्तरवेउव्विए धणुसहस्सं ॥

(सू० ८६)

'इमीसे ण'मित्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः कुत उत्पद्यन्ते?, किमसञ्ज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते सरीसृपेभ्य उत्पद्यन्ते पक्षिभ्य उत्पद्यन्ते चतुष्पदेभ्य उत्पद्यन्ते उरगेभ्य उत्पद्यन्ते स्त्रीभ्य उत्पद्यन्ते मत्स्यमनुष्येभ्य उत्पद्यन्ते?, भगवानाह—गौतम! असञ्ज्ञिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते यावन्मत्स्यमनुष्येभ्योऽप्युत्पद्यन्ते, **'सेसासु इमाए गाहाए अणुगंतव्वा'** इति, **'शेषासु'** शर्कराप्रभादिषु पृथिवीष्वनया गाथया, जातावेकवचनं गाथाद्विकेनेत्यर्थः, उत्पद्यमाना अनुगन्तव्याः, तदेव गाथाद्विकमाह—**'अस्सण्णी खलु पढम'**मित्यादि, असञ्ज्ञिनः—संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाः खलु प्रथमां नरकपृथिवीं गच्छन्ति, खलुशब्दोऽवधारणे, तथा अवधारणमेवम्—असञ्ज्ञिनः प्रथमामेव यावद् गच्छन्ति न परत इति, नतु त एव प्रथमामिति गर्भजसरीसृपादीनामपि उत्तरपृथिवीषट्कगामिनां तत्र गमनात्, एवमुत्तरत्राप्यवधारणं भावनीयम्। **'दोच्चं च सरीसिवा'** इति द्वितीयामेव शर्कराप्रभाख्यां पृथिवीं यावद्गच्छन्ति सरीसृपाः—गोधानकुलादयो गर्भव्युत्क्रान्ता न परतः, तृतीयामेव गर्भजाः पक्षिणो गृध्रादयः, चतुर्थीमेव सिंहाः, पञ्चमीमेव गर्भजा उरगाः, षष्ठीमेव स्त्रियः स्त्रीरत्नाद्या महाक्रूराध्यवसायिन्यः, सप्तमीं यावद् गर्भजा मत्स्या मनुजा अतिक्रूराध्यवसायिनो महापापकारिणः, आलापकश्च प्रतिपृथिवि एवम्—"सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुएहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! नो असन्नीहिंतो उववज्जंति सरीसिवेहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति। वालुयप्पभाए णं भंते!

पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुएहिंतो उववज्जंति ?, गोयमा! नो असण्णीहिंतो उववज्जंति नो सरीसिवे-
हिंतो उववज्जंति पक्खीहिंतो उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति" एवमुत्तरोत्तरपृथिव्यां पूर्वपूर्वप्रतिषेधसहितोत्तरप्रतिषेध-
स्तावद्वक्तव्यो यावदधःसप्तम्यां स्त्रीभ्योऽपि प्रतिषेधः, तत्सूत्रं चैवम्—"अहेसत्तमाए णं भंते! पुढवीए नेरइया किं असण्णीहिंतो
उववज्जंति जाव मच्छमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ?, गोयमा! नो असण्णीहिंतो उववज्जंति जाव नो इत्थीहिंतो उववज्जंति, मच्छमणुस्सेहिंतो
उववज्जंति" ॥ सम्प्रत्येकस्मिन् समये कियन्तोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नारका उत्पद्यन्ते? इति निरूपणार्थमाह । (इमीसे णं) 'रयण-
प्पभापुढविए नेरइया णं भंते!' इत्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! एकसमयेन कियन्त उत्पद्यन्ते ?, भगवानाह—गौतम! ज-
घन्यत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतः सङ्ख्येया असङ्ख्येया वा, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ सम्प्रति
प्रतिसमयमेकैकनारकापहारे सकलनारकापहारकालमानं विचिचिन्तयिपुरिदमाह—'रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते!' इत्यादि, रत्न-
प्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! समये समये एकैकसङ्ख्यया अपह्रियमाणाः २ कियता कालेन सर्वात्मनाऽपह्रियन्ते ?, भगवानाह—गौतम!
'ते णं असंखेज्जा समए २ अवहीरमाणा' इत्यादि, ते रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका असङ्ख्येयास्ततः समये समये एकैकसङ्ख्यया अप-
ह्रियमाणा असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, इदं च नारकपरिमाणप्रतिपत्त्यर्थं कल्पनामात्रं, 'नो चेव णं अवहिया
सिया' इति न पुनरपहृताः स्युः, किमुक्तं भवति ?—न पुनरेवं कदाचनाप्यपहृता अभवन् नाप्यपह्रियन्ते नाप्यपहरिष्यन्त इति, एवं
पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ सम्प्रति शरीरपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'रयणप्पभापुढवी' इत्यादि, रत्नप्र-
भापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! 'किंमहती' किंप्रमाणा महती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता ?, 'जहा पण्णवणाए ओगाहणसंठाणपदे'

इति, यथा प्रज्ञापनायामवगाहनासंस्थानाख्यपदे तथा वक्तव्या, सा चैवं—द्विविधा रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां शरीरावगाहना—भवधारणीया उत्तरवैक्रिया च, तत्र या सा भवधारणीया सा जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् परिपूर्णान्यङ्गुलानि, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तावेका वितस्तिः, शर्कराप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तावेका वितस्तिः, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षत एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, वालुकाप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षत एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः सार्द्धानि द्वाषष्टिधनूंषि, पङ्कप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः सार्द्धानि द्वाषष्टिधनूंषि, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्चविंशं धनुःशतं, धूमप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्चविंशं धनुःशतं, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतोऽर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, तमःप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा उत्कर्षतोऽर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि, तमस्तमःप्रभायां भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि, उत्तरवैक्रिया जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभाग, उत्कर्षतो धनुःसहस्रमिति । यदि पुनः प्रतिप्रस्तटे चिन्ता क्रियते तदैवमवगन्तव्या—तत्र जघन्या भवधारणीया सर्वत्राप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागः, उत्तरवैक्रिया तु अङ्गुलसङ्ख्येयभागः, उक्तं च मूलटीकाकारेणान्यत्र—"उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नाभावादाद्यसमयेऽप्यङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रैवे"ति, उत्कृष्टा तु भवधारणीयाया रत्नप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे त्रयो हस्ता अत ऊर्ध्वं क्रमेण प्रतिप्रस्तटं सार्द्धानि षट्पञ्चाशदङ्गुलानि प्रक्षिप्यन्ते, तत एवं परिमाणं भवति, द्वितीये प्रस्तटे धनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टावङ्गुलानि, तृतीये धनुरेकं

त्रयो हस्ताः सप्तदशाङ्गुलानि, चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्द्धमेकमङ्गुलं, पञ्चमे त्रीणि धनूंषि दशाङ्गुलानि, षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्द्धान्यष्टादशाङ्गुलानि, सप्तमे चत्वारि धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि चाङ्गुलानि, अष्टमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ताः सार्द्धान्येकादशाङ्गुलानि, नवमे पञ्च धनूंषि एको हस्तो विंशतिरङ्गुलानि, दशमे षड् धनूंषि सार्द्धानि चत्वार्यङ्गुलानि, एकादशे षड् धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाङ्गुलानि, द्वादशे सप्त धनूंषि सार्द्धान्येकविंशतिरङ्गुलानि, त्रयोदशे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् च परिपूर्णान्यङ्गुलानि, उक्तञ्च—"रयणाए पढमपयरे हत्थतियं देह उस्सए भणियं । छप्पन्नंगुलसड्ढा पयरे पयरे हवइ वुड्ढी ॥ १ ॥"

प्र.	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
ध.	०	१	१	२	३	३	४	४	५	६	६	७	७
ह.	३	१	३	२	०	२	१	३	१	०	२	०	३
अं.	०	८।।	१७	१।।	१०	१८।।	३	११।।	२०	४।।	१३	२१।।	६

शर्कराप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि, अत ऊर्ध्वं तु प्रतिप्रस्तटं त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि, तत एवं परिमाणं भवति—द्वितीये प्रस्तटेऽष्ट धनूंषि द्वौ हस्तौ नव चाङ्गुलानि, तृतीये नव धनूंषि एको हस्तो द्वादश चाङ्गुलानि, चतुर्थे दश धनूंषि पञ्चदशाङ्गुलानि, पञ्चमे दश धनूंषि त्रयो हस्ता अष्टादशाङ्गुलानि, षष्ठे एकादश धनूंषि द्वौ हस्तावेकविंशतिरङ्गुलानि, सप्तमे द्वादश धनूंषि द्वौ हस्तौ, अष्टमे त्रयोदश धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि चाङ्गुलानि, नवमे चतुर्दश धनूंषि षट् चाङ्गुलानि, दशमे चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ता नव चाङ्गुलानि, एकादशे पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ एका वितस्तिः, उक्तञ्च—"सो चेव य बीयाए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो । हत्थ तिय तिन्नि अङ्गुल पयरे पयरे य वुड्ढी य ॥ १ ॥ एक्कारसमे पयरे पन्नरस धणूणि दोण्णि रयणीओ । बारस य अंगुलाइं देहपमाणं तु विन्नेयं ॥ २ ॥" अत्र **'सो चेव य बीयाए'** इति य एव प्रथमपृथिव्यां त्रयोदशे प्रस्तटे उत्सेधो भणितो

यथा सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः पट् चाङ्गुलानीति स एव द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति, शेषं सुगमम् ।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	प्र.
७	८	९	१०	१०	११	१२	१३	१४	१४	१५	ध.
३	२	१	०	३	२	२	१	०	३	२	ह.
६	९	१	१५	१८	२१	०	३	६	९	१२	अं.

वालुकाप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि, अत ऊर्ध्वं तु प्रतिप्रस्तटं सप्त हस्ताः सार्द्धानि चैकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि, तत एवं परिमाणं भवति—द्वितीये प्रस्तटे सप्तदश धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्द्धानि सप्ताङ्गुलानि, तृतीये एकोनविंशतिर्धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि, चतुर्थे एकविंशतिर्धनूंषि एको हस्तः सार्द्धानि च द्वाविंशतिरङ्गुलानि, पञ्चमे त्रयोविंशतिर्धनूंषि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि, षष्ठे पञ्चविंशतिर्धनूंषि एको हस्तः सार्द्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि, सप्तमे सप्तविंशतिर्धनूंषि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि, अष्टमे एकोनत्रिंशद् धनूंषि एको हस्तः सार्द्धानि चत्वार्यङ्गुलानि, नवमे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, उक्तञ्च—"सो चेव य तइयाए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो । सत्त य रयणी अंगुल गुणवीसं सड्ढ वुड्ढी य ॥ १ ॥ पयरे पयरे य तहा नवमे पयरंमि होइ उस्सेहो । धणुयाणि एगतीसं एक्का रयणी य नायव्वा ॥ २ ॥" अत्रापि 'सो चेव य तइयाए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो' इति य एव द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायामेकादशे प्रस्तटे उत्सेधः स एव तृतीयस्यां वालुकाप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे भवति, शेषं सुगमं । पङ्कप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः, तत ऊर्ध्वं तु प्रतिप्रस्तटं पञ्च धनूंषि विंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि, तत एवं परिमाणं भवति—द्वितीये प्रस्तटे षट्त्रिंशद्धनूंषि एको हस्तो विंशतिरङ्गुलानि, तृतीये एकचत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुलानि, चतुर्थे षट्चत्वारिंशद्धनूंषि त्रयो हस्ता द्वादशाङ्गुलानि, पञ्चमे द्विपञ्चाशद्धनूंषि अष्टावङ्गुलानि, षष्ठे सप्तपञ्चाशद्धनूंषि

एको हस्तश्चत्वार्यङ्गुलानि, सप्तमे द्वाषष्टिः धनूंषि द्वौ हस्तौ, उक्तञ्च—"सो चेव चउत्थीए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो । पञ्च धणु वीस अंगुल पयरे पयरे य वुड्ढी य ॥ १ ॥ जा सत्तमए पयरे नेरइयाणं तु होइ उस्सेहो । वासट्ठी धणुयाइं दोण्णि य रयणी य बोद्धव्वा ॥ २ ॥" अत्रापि 'सो चेवे'त्यस्यार्थः पूर्वानुसारेण भावनीयः । धूमप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे द्वाषष्टिर्धनूंषि द्वौ हस्तौ, तत ऊर्ध्वं तु प्रतिप्रस्तटं पञ्चदश धनूंषि सार्द्धहस्तद्वयाधिकानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि, तेनेदं परिमाणं भवति—द्वितीये प्रस्तटेऽष्टसप्ततिर्धनूंषि एका वितस्तिः, तृतीये त्रिनवतिर्धनूंषि त्रयो हस्ताः, चतुर्थे नवोत्तरं धनुःशतमेको हस्त एका वितस्तिः, पञ्चमे पञ्चविंशं धनुःशतं, उक्तञ्च—"सो चेव पंचमीए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो । पनरस धणूणि दो हत्थ सड्ढ पयरेसु वुड्ढी य ॥ १ ॥ तह पंचमए पयरे उस्सेहो धणुसयं तु पणवीसं ।" 'सो चेव य' इत्यस्यार्थोऽत्रापि पूर्ववत् । तमःप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे पञ्चविंशं धनुःशतं ततः परतरे तु प्रस्तटद्वये क्रमेण प्रत्येकं सार्द्धानि द्वाषष्टिर्धनूंषि प्रक्षेप्तव्यानि, तत एवं परिमाणं भवति—द्वितीये सार्द्धसप्ताशीत्यधिकं धनुःशतं, तृतीयेऽर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, उक्तञ्च—"सो चेव य छट्ठीए पढमे पयरंमि होइ उस्सेहो । वासट्ठि धणु य सड्ढा पयरे पयरे य वुड्ढी य ॥१॥ (सड्ढा य सत्तसीइ बीए पयरंमि होइ धणुयसयं) छट्ठीएँ तइयपयरे दो सय पण्णासया होंति ॥ २ ॥" सप्तमपृथिव्यां पञ्च धनुःशतानि, उत्तरवैक्रिया तु सर्वत्रापि भवधारणीयापेक्षया द्विगुणप्रमाणाऽवसातव्या ॥ सम्प्रति संहननप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० णेरइयाणं सरीरया किंसंघयणी पण्णत्ता?, गोयमा! छण्हं संघयणाणं असंघयणा, णेवट्ठी णेव छिरा णवि पहारू णेव संघयणमत्थि, जे पोग्गला अणिट्ठा जाव अमणामा ते तेसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति, एवं जाव अधेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते! रयण०

पु० नेरतियाणं सरीरा किंसंठिता पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा पण्णत्ता तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया तेवि हुंडसंठिता पण्णत्ता, एवं जाव अहेसत्तमाए॥ इमीसे णं भंते! रयण० पुं० णेरतियाणं सरीरगा केरिसता वण्णेणं पण्णत्ता?, गोयमा! काला कालोभासा जाव परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं जाव अहेसत्तमाए॥ इमीसे णं भंते रयण० पु० नेरइयाणं सरीरया केरिसया गंधेणं पण्णत्ता?, गोयमा! से जहानामए अहिमडे इ वा तं चेव जाव अहेसत्तमा॥ इमीसे णं रयण० पु० नेरइयाणं सरीरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता?, गोयमा! फुडितच्छविविच्छविया खरफरुसझामझुसिरा फासेणं पण्णत्ता, एवं जाव अधेसत्तमा॥ (सू० ८७)

'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! 'किंसंहननिनः' केन संहननेन संहननवन्तः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! 'छण्हं संघयणाण' मित्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी॥ सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह—'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! शरीरकाणि 'किंसंस्थितानि' केन संस्थानेन संस्थानवन्ति प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां शरीराणि द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भवधारणीयानि उत्तरवैक्रियाणि च, तत्र यानि भवधारणीयानि तानि तथाभवस्वाभाव्यादवश्यं हुण्डनामकर्मोदयतो हुण्डसंस्थानानि, यान्यपि चोत्तरवैक्रियरूपाणि तान्यपि यद्यपि शुभमहं वैक्रियं करिष्यामीति चिन्तयति तथाऽपि तथाभवस्वाभाव्यतो हुण्डसंस्थाननामकर्मोदयत उत्पाटितसकलरोमपिच्छकपोतपक्षिण इव हु-

ण्डसंस्थानानि भवन्ति, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ सम्प्रति नारकाणां शरीरेषु वर्णप्रतिपादनार्थमाह—'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! शरीरकाणि कीदृशानि वर्णेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! 'काला कालोभासा' इत्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमपृथिव्याम् ॥ अधुना गन्धप्रतिपादनार्थमाह—रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! शरीरकाणि कीदृशानि गन्धेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! 'से जहानामए अहिमडे इ वा' इत्यादि प्राग्वत्, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ सम्प्रति स्पर्शप्रतिपादनार्थमाह—'रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते!' इत्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! शरीरकाणि कीदृशानि स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! स्फटितच्छविविच्छवयः, इहैकत्र छविशब्दस्त्वग्वाची अपरत्र छायावाची, ततोऽयमर्थः—स्फटितया—राजिशतसङ्कुलया त्वचा विच्छवयो—विगतच्छायाः स्फटितच्छविविच्छवयः, तथा खरम्(राणि)—अतिशयेन परुषाणि खरपरुषाणि ध्यामानि—दग्धच्छायानि शुषिराणि—शुषिरशतकलितानि, ततः पदत्रयस्यापि पदद्वयपदद्वयमीलनेन विशेषणसमासः, सुपक्वेष्टकाध्यामतुल्यानीतिभावः, स्पर्शेन प्रज्ञप्तानि, एवं प्रतिपृथिवि तावद् यावदधःसप्तम्याम् ॥ सम्प्रत्युच्छ्वासप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णेरतियाणं केरिसया पोग्गला ऊसासत्ताए परिणमंति?, गोयमा! जे पोग्गला अणिट्ठा जाव अमणामा ते तेसिं ऊसासत्ताए परिणमंति, एवं जाव अहेसत्तमाए, एवं आहारस्सवि सत्तसुवि ॥ इमीसे णं भंते! रयण० पु० नेरतियाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! एक्का काउलेसा पण्णत्ता, एवं सक्करप्पभाएऽवि, वालुयप्पभाए पुच्छा, दो

लेसाओ पण्णत्ताओ तं०—नीललेसा कापोतलेसा य, तत्थ जे काउलेसा ते बहुतरा जे णीललेस्सा पण्णत्ता ते थोवा, पंकप्पभाए पुच्छा, एक्का नीललेसा पण्णत्ता, धूमप्पभाए पुच्छा, गोयमा! दो लेस्साओ पण्णत्ताओ, तंजहा—किण्हलेस्सा य नीललेस्सा य, ते बहुतरका जे नीललेस्सा, ते थोवतरका जे किण्हलेसा, तमाए पुच्छा, गोयमा! एक्का किण्हलेस्सा, अधेसत्तमाए एक्का परमकिण्हलेस्सा ॥ इमीसे णं भंते! रयण० पु० नेरइया किं सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी?, गोयमा! सम्मदिट्ठीवि मिच्छदिट्ठीवि सम्मामिच्छदिट्ठीवि, एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते! रयण० पु० णेरतिया किं नाणी अण्णाणी?, गोयमा! णाणीवि अण्णाणीवि, जे णाणी ते णियमा तिणाणी, तंजहा—आभिणिबोधितणाणी सुयणाणी अवधिणाणी, जे अण्णाणी ते अत्थेगतिया दुअण्णाणी अत्थेगइया तिअन्नाणी, जे दुअन्नाणी ते णियमा मतिअन्नाणी य सुयअण्णाणी य, जे तिअन्नाणी ते नियमा मतिअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगणाणीवि, सेसा णं णाणीवि अण्णाणीवि तिण्णि जाव अधेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते! रयण० किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी?, तिण्णिवि, एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभापु० नेरइया किं सागारोवउत्ता अणा-

---

१ टीकाकृद्भिः अत्र 'सक्करपभापुढवीनेरइया कि नाणी अन्नाणी?, गोयमा! नाणीवि अन्नाणीवि, जे नाणी ते नियमा तिन्नाणी आभि० सुय० ओहि०, जे अन्नाणी ते नियमा तिअन्नाणी मतिअन्नाणी सुअअ० विभंगनाणी, एवं' इति पाठ इतः प्राक् वाचनान्तरगतोऽनुसृत·

गारोवउत्ता?, गोयमा! सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि, एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए ॥ [इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० नेरइया ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति?, गोयमा! जहण्णेणं अद्धुट्ठगाउताइं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं । सक्करप्पभापु० जह० तिन्नि गाउयाइं उक्को० अद्धुट्ठाइं, एवं अद्धद्धगाउयं परिहायति जाव अधेसत्तमाए जह० अद्धगाउयं उक्कोसेणं गाउयं] ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरतियाणं कति समुग्घाता पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि समुग्घाता पण्णत्ता, तंजहा—वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्विय-समुग्घाए, एवं जाव अहेसत्तमाए ॥ (सू० ८८)

'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! कीदृशाः पुद्गला उच्छ्वासतया परिणमन्ति?, भगवानाह—गौतम! ये पुद्गला अनिष्टा अकान्ता अप्रिया अशुभा अमनोज्ञा अमनआपाः, अमीषां पदानां व्याख्यानं प्राग्वत्, ते तेषां रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणामुच्छ्वासतया परिणमन्ति, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् ॥ साम्प्रतमाहारप्रतिपादनार्थमाह—'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! कीदृशाः पुद्गला आहारतया परिणमन्ति?, भगवानाह—गौतम! ये पुद्गला अनिष्टा अकान्ता अप्रिया अशुभा अमनोज्ञा अमनआपास्ते तेषामाहारतया परिणमन्ति, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम् । इह पुस्तकेषु बहुधाऽन्यथापाठो दृश्यते, अत एव वाचनाभेदोऽपि समग्रो दर्शयितुं न शक्यते, केवलं बहुषु पुस्तकेषु योऽविसंवादी पाठस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं सुगमान्यप्यक्षराणि संस्कारमात्रेण विव्रियन्तेऽन्यथा सर्वमेतदुत्तानार्थं सूत्रमिति ॥ सम्प्रति लेश्याप्रतिपादनार्थमाह—'रयणे'त्यादि,

रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! कापोतलेश्या प्रज्ञप्ता, एवं शर्कराप्रभानैरयिकाणामपि, नवरं तेषां कापोतलेश्या सङ्क्लिष्टतरा वेदितव्या, वालुकाप्रभानैरयिकाणां द्वे लेश्ये, तद्यथा—नीललेश्या च कापोतलेश्या च, तत्र ते बहुतरा ये कापोतलेश्याः, उपरितनप्रस्तटवर्त्तिनां नारकाणां कापोतलेश्याकत्वात् तेषां चातिभूयस्कत्वात्, ते स्तोकतरा ये नीललेश्याकाः, पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकाणामेका नीललेश्या, सा च तृतीयपृथिवीगतनीललेश्याऽपेक्षयाऽविशुद्धतरा, धूमप्रभापृथिवीनैरयिकाणां द्वे लेश्ये, तद्यथा—कृष्णलेश्या च नीललेश्या च, तत्र ते बहुतरा ये नीललेश्याकाः, ते स्तोकतरा ये कृष्णलेश्याकाः, भावनाऽत्रापि प्राग्वत्, तमःप्रभापृथिवीनैरयिकाणां कृष्णलेश्या, सा च पञ्चमपृथिवीगतकृष्णलेश्याऽपेक्षयाऽविशुद्धतरा, अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकाणामेका परमकृष्णलेश्या, उक्तं च **व्याख्याप्रज्ञप्तौ**—"काऊ दोसु तइयाएँ मीसिया नीलिया चउत्थीए । पंचमियाए मीसा कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥ १ ॥" सम्प्रति सम्यग्दृष्टित्वादिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—**'रयणे'**त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयो वा?, भगवानाह—गौतम! सम्यग्दृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टयोऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽपि, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वाच्यं यावत्तमस्तमायाम् ॥ सम्प्रति ज्ञान्यज्ञानिचिन्तां कुर्वन्नाह—**'रयणे'**त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः?, भगवानाह—गौतम! ज्ञानिनोऽपि अज्ञानिनोऽपि, सम्यग्दृशां ज्ञानित्वान्मिथ्यादृशामज्ञानित्वात्, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्त्रिज्ञानिनः, अपर्याप्तावस्थायामपि तेषामवधिज्ञानसम्भवात्, सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तेषामुत्पादात्, त्रिज्ञानित्वमेव भावयति, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः, येऽज्ञानिनस्ते **'अत्थेगइया'** इति अस्तीतिनिपातोऽत्र बहुवचनगर्भः सन्त्येकका द्व्यज्ञानिनः सन्त्येककास्त्र्यज्ञानिनः, तत्र येऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य उत्पद्यन्ते तेषामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गा-

सम्भवाद् द्व्यज्ञानिनः, शेषकालं तु तेपामपि त्र्यज्ञानिता, सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य उत्पन्नानां तु सर्वकालमपि त्र्यज्ञानितैव, अपर्याप्तावस्थायामपि तेषां विभङ्गभावात्, तत्र ये द्व्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनः, ये त्र्यज्ञानिनस्ते मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च। 'सक्करप्पभापुढवी'त्यादि, शर्कराप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः?, भगवानाह—गौतम! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि, तत्रापि सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां च भावात्, तत्र ये ज्ञानिनस्ते नियमात्त्रिज्ञानिनः, तद्यथा—आभिनिवोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च, येऽज्ञानिनस्ते नियमात्त्र्यज्ञानिनः, सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य एव तत्रोत्पादात्, त्र्यज्ञानित्वमेव दर्शय[ती]ति, तद्यथा—मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिनश्च, एवं शेषास्वपि पृथिवीषु वक्तव्यं, तत्रापि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य एवोत्पादात्॥ सम्प्रति योगप्रतिपादनार्थमाह—'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं मनोयोगिनो वाग्योगिनः काययोगिनः?, भगवानाह—गौतम! त्रिविधा अपि, एवं प्रतिपृथिवि तावद् यावदधःसप्तम्याम्॥ अधुना साकारानाकारोपयोगचिन्तां कुर्वन्नाह—'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं साकारोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ताः?, भगवानाह—साकारोपयुक्ता अपि अनाकारोपयुक्ता अपि, एवं तावद् यावदधःसप्तम्याम्॥ अधुना समुद्घातचिन्तां करोति—'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त! कति समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! चत्वारः समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः कषायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातश्च, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तम्याम्॥ सम्प्रति क्षुत्पिपासे चिन्तयति—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभा० पु० नेरतिया केरिसयं खुहप्पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! एगमेगस्स णं रयणप्पभापुढविनेरतियस्स असब्भावपट्ठवणाए सव्वोदधी वा सव्वपोग्गले वा

३ प्रतिपत्तौ उद्देशः २ नारकाणां श्वासाहारलेश्यादृष्टिज्ञानाज्ञानयोगोपयोगसमुद्घाताः सू० ८९

आसगंसि पक्खिवेज्ञा णो चेव णं से रयणप्प० पु० णेरतिए तित्ते वा सिता वितण्हे वा सिता, एरिसया णं गोयमा! रयणप्पभाए णेरतिया खुधप्पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, एवं जाव अधेसत्तमाए ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पु० नेरतिया किं एकत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तंपि पभू विउव्वित्तए ?, गोयमा! एगत्तंपि पभू पुहुत्तंपि पभू विउव्वित्तए, एगत्तं विउव्वेमाणा एगं महं मोग्गररूवं वा एवं मुसुंढिकरवत्तअसिसत्तीहलगतामुसलचक्कणारायकुंततोमरसूललउड-भिंडमाला य जाव भिंडमालरूवं वा पुहुत्तं विउव्वेमाणा मोग्गररूवाणि वा जाव भिंडमालरूवाणि वा ताइं संखेज्ञाइं णो असंखेज्ञाइं संबद्धाइं नो असंबद्धाइं सरिसाइं नो असरिसाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं अभिहणमाणा अभिहणमाणा वेयणं उदीरेंति उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं, एवं जाव धूमप्पभाए पुढवीए । छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया बहू महंताइं लोहियकुंथूरूवाइं वइरामइतुंडाइं गोमयकीडसमाणाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा खायमाणा खायमाणा सयपोरागकिमिया विव चालेमाणा २ अंतो अंतो अणुप्पविसमाणा २ वेदणं उदीरंति उज्जलं जाव दुरहियासं ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० नेरइया किं सीतवेदणं वेइंति उसिणवेदणं वेइंति सीउसिणवेदणं वेदेंति ?, गोयमा! णो सीयं वेदणं वेदेंति उसिणं वेदणं

वेदेंति नो सीतोसिणं, [ते अप्पयरा उण्हजोणिया वेदेंति,] एवं जाव वालुयप्पभाए, पंकप्पभाए पुच्छा, गोयमा! सीयंपि वेदणं वेदेंति, उसिणंपि वेयणं वेयंति, नो सीओसिणवेयणं वेयंति, ते बहुतरगा जे उसिणं वेदणं वेदेंति, ते थोवयरगा जे सीतं वेदणं वेइंति। धूमप्पभाए पुच्छा, गोयमा! सीतंपि वेदणं वेदेंति उसिणंपि वेदणं वेदेंति णो सीतो०, ते बहुतरगा जे सीयवेदणं वेदेंति ते थोवयरका जे उसिणवेदणं वेदेंति। तमाए पुच्छा, गोयमा! सीयं वेदणं वेदेंति नो उसिणं (वेदणं) वेदेंति नो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति, एवं अहेसत्तमाए णवरं परमसीयं ॥ इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० णेरइया केरिसयं णिरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति?, गोयमा! ते णं तत्थ णिच्चं भीता णिच्चं तसिता णिच्चं छुहिया णिच्चं उव्विग्गा निच्चं उपप्पुआ णिच्चं वहिया निच्चं परममसुभमउलमणुबद्धं निरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति, एवं जाव अधेसत्तमाए णं पुढवीए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता, तंजहा—काले महाकाले रोरुए महारोरुए अप्पतिट्ठाणे, तत्थ इमे पंच महापुरिसा अणुत्तरेहिं दंडसमादाणेहिं कालमासे कालं किच्चा अप्पतिट्ठाणे णरए णेरति(य)त्ताए उववण्णा, तंजहा—रामे १, जमदग्गिपुत्ते, दढाउ २, लच्छतिपुत्ते, वसु ३, उवरिचरे, सुभूमे कोरव्वे ४, बंभ ५, दत्ते चुलणिसुते ६, ते णं तत्थ नेरतिया जाया काला कालो० जाव परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, तंजहा–ते णं तत्थ वेदणं वेदेंति उज्जलं विउलं जाव दुरहि-

३ प्रतिपत्तौ उद्देशः २ नारकाणां क्षुत्तृड्वि क्रिया-वेदनाः सू० ८९

यासं ॥ उसिण वेदणिज्जेसु णं भंते! णेरतिएसु णेरतिया केरिसयं उसिणवेदणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति? गोयमा! से जहाणामए कम्मारदारए सिता तरुणे बलवं जुगवं अप्पायंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपादपासपिट्ठंतरोरु [संघाय] परिणए लंघणपवणजवणवग्गणपमद्दणसमत्थे तलजमलजुयलबहुफलिहणिभबाहू घणणिचितवलियवट्टखंधे चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहयणिचितगत्तगत्ते उरस्सबलसमण्णागए छेए दक्खे पट्ठे कुसले णिउणे मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं अयपिंडं उदगवारसमाणं गहाय तं ताविय ताविय कोट्टित कोट्टित उब्भिदिय उब्भिदिय चुण्णिय चुण्णिय जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं अद्धमासं संहणेज्जा, से णं तं सीतं सीतीभूतं अओमएणं संदंसएणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेदणिज्जेसु णरएसु पक्खिवेज्जा, से णं तं उम्मिसियणिमिसियंतरेणं पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामित्तिकट्टु पविरायमेव पासेज्जा पविलीणमेव पासेज्जा पविद्धत्थमेव पासेज्जा णो चेव णं संचाएति अविरायं वा अविलीणं वा अविद्धत्थं वा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए ॥ से जहा वा मत्तमातंगे [पाए] कुंजरे सट्ठिहायणे पढमसरयकालसमतंसि वा चरमनिदाघकालसमयंसि वा उण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए आउरे सुसिए पिवासिए दुब्बले किलंते एक्कं महं पुक्खरिणिं पासेज्जा चाउक्कोणं समतीरं अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीतलजलं संछण्णपमत्ताभिसमुणालं बहुउप्पलकुमुद-

णलिणसुभगसोगंधियपुंडरीय (महापुंडरीय) सयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियं छप्पयपरिभुज्ज-माणकमलं अच्छविमलसलिलपुण्णं परिहत्थभमंतमच्छकच्छभं अणेगसउणगणमिहुणयविरइयसद्दुन्नइयमहुरसरनाइयं तं पासइ, तं पासित्ता तं ओगाहइ, ओगाहित्ता से णं तत्थ उण्हंपि पविणेज्जा तिण्हंपि पविणेज्जा खुहंपि पविणिज्जा जरंपि पवि० दाहंपि पवि० णिद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा सतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभेज्जा, सीए सीयभूए संकसमाणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले यावि विहरिज्जा, एवामेव गोयमा! असब्भावपट्ठवणाए उसिणवेयणिज्जेहिंतो णरएहिंतो कुंभारागणी इ वा णेरइए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं मणुस्सलोयंसि भवंति (गोलियालिंगाणि वा सोंडियालिंगाणि वा भिंडियालिंगाणि वा) अयागराणि वा तंवागराणि वा तउयागरा० सीसाग० रुप्पागरा० सुवन्नागराणि वा हिरण्णागरा० कुंभारागणी इ वा मुसागणी वा इट्टयागणी वा कवेल्लुयागणी वा लोहारंबरिसे इ वा जंतवाडचुल्ली वा हंडियलित्थाणि वा सोंडियलि० णलागणी ति वा, तिलागणी वा तुसागणी ति वा, तत्ताइं समज्जोतीभूयाइं फुल्लकिंसुयसमाणाइं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणाइं जालासहस्साइं पमुचमाणाइं इंगालसहस्साइं पविक्खरमाणाइं अंतो २ हुहुयमाणाइं चिट्ठंति ताइं पासइ, ताइं पासित्ता ताइं ओगाहइ ताइं ओगाहित्ता से णं तत्थ उण्हंपि पविणेज्जा तण्हंपि पविणेज्जा खुहंपि पविणेज्जा

जरंपि पविणेज्जा दाहंपि पविणेज्जा णिद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा सतिं वा रतिं वा धिइं वा मतिं वा उवलभेज्जा, सीए सीयभूयए संकसमाणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले यावि विहरेज्जा, भवेयारूवे सिया ?, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! उसिणवेदणिज्जेसु णरएसु नेरतिया एत्तो अणिट्ठतरियं चेव उसिणवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति॥ सीयवेदणिज्जेसु णं भंते णिरएसु णेरतिया केरिसयं सीयवेदणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?, गोयमा ! से जहाणामए कम्मारदारए सिया तरुणे जुगवं बलवं जाव सिप्पोवगते एगं महं अयपिंडं दगवारसमाणं गहाय ताविय ताविय कोट्टिय कोट्टिय जह० एक्काहं वा दुआहं वा तियाहं वा उक्कोसे णं मासं हणेज्जा, से णं तं उसिणं उसिणभूतं अयोमएणं संदंसएणं गहाय असब्भावपट्ठवणाए सीयवेदणिज्जेसु णरएसु पक्खिवेज्जा, से तं [उमिसियनिमिसियंतरेण पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामीतिकट्टु पविरायमेव पासेज्जा, तं चेव णं जाव णो चेव णं संचाएज्जा पुणरवि पच्चुद्धरित्तए, से णं से जहाणामए मत्तमायंगे तहेव जाव सोक्खबहुले यावि विहरेज्जा] एवामेव गोयमा ! असब्भावपट्ठवणाए सीतवेदणेहिंतो णरएहिंतो नेरतिए उव्वट्टिए समाणे जाइं इमाइं इहं माणुस्सलोए हवंति, तंजहा—हिमाणि वा हिमपुंजाणि वा हिमपडलाणि वा हिमपडलपुंजाणि वा तुसाराणि वा तुसारपुंजाणि वा हिमकुंडाणि वा हिमकुंडपुंजाणि वा सीताणि वा ताइं पासति पासित्ता ताइं ओगाहति ओगाहित्ता से णं तत्थ

सीतंपि पविणेज्जा तण्हंपि प० खुहंपि प० जरंपि प० दाहंपि प० निद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा जाव उसिणे उसिणभूए संकसमाणे संकसमाणे सायासोक्खबहुले यावि विहरेज्जा, गोयमा! सीयवेय- णिज्जेसु नरएसु नेरतिया एत्तो अणिट्ठयरियं चेव सीतवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ (सू० ८९)

'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशीं क्षुधं पिपासां (च) प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमानाः 'विहरन्ति' अवतिष्ठन्ति?, भगवानाह—गौतम! 'एगमेगस्स ण'मित्यादि, एकैकस्य रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्य 'असब्भाव(प्र)स्थापनया' असद्भावकल्पनया ये केचन पुद्गला उदधयश्चेति शेषः तान् 'आस्यके' मुखे सर्वपुद्गलान् सर्वोदधीन् प्रक्षिपेत्, तथाऽपि 'नो चेव ण'मित्यादि, नैव रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकः तृप्तो वा वितृष्णो वा स्यात् लेशतः अत्र प्रबलभस्मकव्याध्युपेतः पुरुषो दृष्टान्तः। 'एरिसिया ण'मित्यादि, ईदृशीं णमिति वाक्यालङ्कृतौ गौतम! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाः क्षुधं पिपासां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी॥ सम्प्रति वैक्रियशक्तिं विचिचिन्तयिषुरिदमाह—'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! प्रत्येकं किम् 'एकत्वम्' एकं रूपं विकुर्वितुं प्रभवः उत 'पृथक्त्वं' पृथक्त्वशब्दो बहुवाची, आह च कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहणिचूर्णिकारोऽपि—"पुहुत्तशब्दो बहुत्तवाई" इति, प्रभूतानि रूपाणि विकुर्वितुं प्रभवः?, 'विकुर्व विक्रियायाम्' इत्यागमप्रसिद्धो धातुरस्ति यस्य विकुर्वाण इति प्रयोगस्ततो विकुर्वितुमित्युक्तं, भगवानाह—एकत्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं पृथक्त्वमपि प्रभवो विकुर्वितुं, तत्रैकं रूपं विकुर्वतो मुद्गररूपं वा मुद्गरः—प्रतीतः मुषण्ढिरूपं वा मुषण्ढिः—प्रहरणविशेषः, करपत्ररूपं वा असिरूपं वा शक्तिरूपं वा हलरूपं वा गदारूपं वा मुशलरूपं वा चक्ररूपं वा नाराचरूपं वा कुन्तरूपं वा तोमररूपं वा शूलरूपं वा लकुटरूपं वा भिण्डमालरूपं वा विकुर्वन्ति, करपत्रादयः

प्रतीताः, भिण्डमालः—शस्त्रजातिविशेषः, अत्र सङ्ग्रहणिगाथा क्वचित्पुस्तकेषु—"मुग्गरमुसुंढिकरकयअसिसत्ति हलं गयामुसलचक्का। नारायकुंततोमरसूललउडभिडिमाला य ॥१॥" गतार्था, नवरं '**करकय**'त्ति क्रकचं करपत्रमित्यर्थः, पृथक्त्वं विकुर्वन्तो मुद्गररूपाणि वा यावत् भिण्डमालरूपाणि वा, तान्यपि **सदृशानि**, (समानरूपाणि) 'नोऽसदृशानि'(अ) समानरूपाणि, तथा '**सङ्ख्येयानि**' परिमितानि न '**असङ्ख्येयानि**' सङ्ख्यातीतानि, विसदृशकरणेऽसङ्ख्येयकरणे वा शक्त्यभावात्, तथा '**संबद्धानि**' स्वात्मनः शरीरसंलग्नानि '**नासंबद्धानि**' न स्वशरीरात्पृथग्भूतानि, स्वशरीरात्पृथग्भूतकरणे शक्त्यभावात्, विकुर्वन्ति, विकुर्वित्वाऽन्योऽन्यस्य कायमभिघ्नन्तो वेदनामुदीरयन्ति, किंविशिष्टामित्याह—'**उज्ज्वलां**' दुःखरूपतया जाज्वल्यमानां सुखलेशेनाप्यकलङ्कितामिति भावः, '**विपुलां**' सकलशरीरव्यापितया विस्तीर्णां '**प्रगाढां**' प्रकर्षेण मर्मप्रदेशव्यापितयाऽतीवसमवगाढां कर्कशामिव कर्कशां, किमुक्तं भवति?—यथा कर्कशः पाषाणसंघर्षः शरीरस्य खण्डानि त्रोटयति एवमात्मप्रदेशान् त्रोटयन्तीव या वेदनोपजायते सा कर्कशा तां, कटुकामिव कटुकां पित्तप्रकोपपरिकलितवपुषो रोहिणी—कटुद्रव्यमिवोपभुज्यमानमतिशयेनाप्रीतिजनिकामिति भावः, तथा '**परुषां**' मनसोऽतीव रौक्ष्यजनिकां '**निष्ठुराम्**' अशक्यप्रतीकारतया दुर्भेदां '**चण्डां**' रुद्रां रौद्राध्यवसायहेतुत्वात् '**तीव्राम्**' अतिशायिनीं '**दुःखां**' दुःखरूपां '**दुर्गां**' दुर्लङ्घ्यामत एव दुरधिसह्याम्, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावत्पञ्चम्याम्। '**छट्ठसत्तमीसु ण**'मित्यादि, षष्ठसप्तम्योः पुनः पृथिव्योर्नैरयिकाः बहूनि महान्ति गोमयकीटप्रमाणत्वात्, '**लोहितकुन्थुरूपाणि**' आरक्तकुन्थुरूपाणि वज्रमयतुण्डानि, गोमयकीटसमानानि विकुर्वन्ति, विकुर्वित्वा '**अन्योऽन्यस्य**' परस्परस्य '**कायं**' शरीरं समतुरङ्गा इवाचरन्तः समतुरङ्गायमाणाः, अश्वा इवान्योऽन्यमारुहन्त इत्यर्थः, '**खायमाणा खायमाणा**' भक्षयन्तो भक्षयन्तोऽन्तरन्तः '**अनुप्रवेशयन्तः**' अनुप्रविशन्तः '**सयपोरागकिमिया इव**' शतपर्वक्रमय

इव इक्षुपर्वक्रमय इव 'चालेमाणा चालेमाणा' शरीरस्य मध्यभागेन संचरन्तः संचरन्तो वेदनामुदीरयन्त्युज्ज्वलामित्यादि प्राग्वत् ॥ सम्प्रति क्षेत्रस्वभावजां वेदनां प्रतिपादयति—'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! किं शीतां वेदनां वेदयन्ते उष्णां वेदनां वेदयन्ते शीतोष्णां वा?, भगवानाह—गौतम! न शीतां वेदनां वेदयन्ते किन्तु उष्णां वेदनां वेदयन्ते, ते हि शीतयोनिका योनिस्थानानां केवलहिमानीप्रख्यशीतप्रदेशात्मकत्वात्, योनिस्थानव्यतिरेकेण चान्यत् सर्वमपि भूम्यादि खादिराङ्गारादपि महाप्रतप्तमतस्ते उष्णवेदनामनुभवन्ति, नापि शीतोष्णां वेदनां वेदयन्ते, शीतोष्णस्वभावतया वेदनाया नरकेषु मूलतोऽप्यसम्भवात्, एवं शर्कराप्रभावालुकाप्रभानैरयिका अपि वक्तव्याः, पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकपृच्छायाम् भगवानाह—गौतम! शीतामपि वेदनां वेदयन्ते नरकावासभेदेनोष्णामपि वेदनां वेदयन्ते नरकावासभेदेनैव, न तु शीतोष्णां, तत्र ते बहुतरा ये उष्णां वेदनां वेदयन्ते, प्रभूततराणां शीतयोनित्वात्, ते स्तोकतरा ये शीतां वेदनां वेदयन्ते, अल्पतराणामुष्णयोनित्वात्, एवं धूमप्रभायामपि वक्तव्यं, नवरं ते बहुतरा ये शीतवेदनां वेदयन्ते, बहूनामुष्णयोनित्वात्, ते स्तोकतरा ये उष्णवेदनां वेदयन्ते, अल्पतराणां शीतयोनित्वात्, तमःप्रभापृथिवीनैरयिकपृच्छायां भगवानाह—गौतम! शीतां वेदनां वेदयन्ते नोष्णां नापि शीतोष्णां, तत्रत्यानां सर्वेषामुष्णयोनित्वात्, योनिस्थानव्यतिरेकेण चान्यस्य सर्वस्यापि नरकभूम्यादेर्महाहिमानीप्रख्यत्वात्, एवं तमस्तमाप्रभापृथिवीनैरयिका अपि वक्तव्या, नवरं परमां शीतवेदनां वेदयन्ते इति वक्तव्यं, तमःप्रभापृथिवीतः तमस्तमप्रभापृथिव्यां शीतवेदनाया अतिप्रबलत्वात् ॥ सम्प्रति भवानुभवप्रतिपादनार्थमाह—'रयणे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं नरकभवं प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमानाः 'विहरन्ति' अवतिष्ठन्ते?, भगवानाह—गौतम! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका 'नित्यं' सर्वकालं क्षेत्रस्वभावजमहानिबिडान्धकारदर्शनतो भीताः, सर्वत उपजातशङ्कत्वात्,

तथा 'नित्यं' सर्वकालं स्वत एवाग्रेऽपि 'त्रस्ताः' परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातभयात्त्रासमुपपन्नाः, तथा 'नित्यं' सर्वकालं परमाधार्मिकैः परस्परं वा 'त्रासिताः' त्रासं प्राहिताः, तथा 'नित्यमुद्विग्नाः' यथोक्तरूपदुःखानुभवतस्तद्गतावासपराङ्मुखचित्ताः, तथा 'नित्यं' सर्वकालम् 'उपप्लुताः' उपप्लवेनोपेता न तु मनागपि रतिमासादयन्ति, एवं 'नित्यं' सर्वकालं परममशुभम् 'अतुलम्' अशुभत्वेनानन्यसदृशम् 'अनुबद्धम्' अशुभत्वेन निरन्तरमुपचितं निरयभवं 'प्रत्यनुभवन्तः' प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी, अस्यां चाधःसप्तम्यां क्रूरकर्माणः पुरुषा उत्पद्यन्ते नान्ये, तथा चास्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थं पञ्च पुरुषान् उपन्यस्यति—'अहेसत्तमाए ण'मित्यादि, अधःसप्तम्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके 'इमे' अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च महापुरुषाः 'अनुत्तरैः' सर्वोत्तमप्रकर्षप्राप्तैः 'दण्डसमादानैः' समादीयते कर्म्म एभिरिति समादानानि—कर्म्मोपादानहेतवः दण्डा एव—मनोदण्डादयः प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपाः समादानानि दण्डसमादानानि तैः कालमासे कालं कृत्वोत्पन्नाः, तद्यथा—रामो जामदग्निसुतः परशुराम इत्यर्थः, दाढादालः छातीसुतः, वसू राजा उपरिचरः, स हि देवताऽधिष्ठिताकाशस्फटिकसिंहासनोपविष्टः सन्नाकाशस्फटिकमयस्य सिंहासनस्यादर्शनतो लोकेष्वेवं प्रसिद्धिमगमत्—सत्यवादी किलैष वसुराजा न प्राणात्ययेऽप्यलीकं भाषते ततः सत्त्वावर्जितदेवताकृतप्रातिहार्य एवमुपर्याकाशे चरतीति, स चान्यदा हिंस्रवेदार्थप्ररूपकस्य पर्वतस्य पक्षमभिगृह्य सम्यग्दृष्टेर्नारदस्य पक्षमनभिगृह्णन्नलीकवादित्वात्प्रकुपितदेवताचपेटाहतः सिंहासनात्परिभ्रष्टो रौद्रध्यानमभिरूढः सप्तमपृथिव्यामप्रतिष्ठाननरकमयासीत्, सुभूमोऽष्टमश्चक्रवर्त्ती कौरव्यः कौरव्यगोत्रो ब्रह्मदत्तश्चुलनीसुतः 'ते णं तत्थ वेयणं वेयंती' त्यादि, 'ते' परशुरामादयस्तत्र—अप्रतिष्ठाने नरके वेदनां वेदयन्ते उज्ज्वलां यावद् दुरध्यासामिति प्राग्वत् ॥ सम्प्रति नरकेपूष्णवेदनायाः स्वरूपमभिधित्सुराह—'उसिणवेदणिज्जेसु णं

भंते !' इत्यादि, उष्णवेदनेषु णमिति पूर्ववत् भदन्त ! नरकेषु नैरयिकाः कीदृशीमुष्णवेदनां प्रत्यनुभवन्तः—प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति ?, भगवानाह—गौतम ! स 'यथानामकः' अनिर्दिष्टनामकः कश्चित् 'कर्म्मारदारकः' लोहकारदारकः स्यात्, किंविशिष्टः ? इत्याह—'तरुणः' प्रवर्द्धमानवयाः, आह—दारकः प्रवर्द्धमानवया एव भवति तत् किमनेन विशेषणेन ?, न, आसन्नमृत्योः प्रवर्द्धमानवयस्त्वाभावात्, न ह्यासन्नमृत्युः प्रवर्द्धमानवया भवति, न च तस्य विशिष्टसामर्थ्यसम्भवः, आसन्नमृत्युत्वादेव, विशिष्टसामर्थ्यप्रतिपादनार्थश्चैष आरम्भस्ततोऽर्थवद्विशेषणम्, अन्ये तु व्याचक्षते—इह यद्द्रव्यं विशिष्टवर्णादिगुणोपेतमभिनवं च तत्तरुणमिति लोके प्रसिद्धं, यथा तरुणमिदमश्वत्थपत्रमिति, ततः स कर्मारदारकस्तरुण इति किमुक्तं भवति ?—अभिनवो विशिष्टवर्णादिगुणोपेतश्चेति, बलं—सामर्थ्यं तदस्यास्तीति बलवान्, तथा युगं—सुषमदुष्षमादिकालः स स्वेन रूपेण यस्यास्ति न दोषदुष्टः स युगवान्, किमुक्तं भवति ?—कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः स चास्य नास्तीति प्रतिपत्त्यर्थमेतद्विशेषणं, युवा—यौवनस्थः, युवावस्थायां हि बलातिशय इत्येतदुपादानम्, 'अप्पायंके' इति अल्पशब्दोऽभाववाची अल्पः—सर्वथाऽविद्यमान आतङ्को—ज्वरादिर्यस्यासावल्पातङ्कः, 'थिरग्गहत्थे' स्थिरौ अग्रहस्तौ यस्य स स्थिराग्रहस्तः, 'दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणए' इति दृढानि—अतिनिबिडचयापन्नानि पाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरूणि परिणतानि यस्य स दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणतः, सुखादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः, तथा घनम्—अतिशयेन निचितौ—निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स घननिचितवलितवृत्तस्कन्धः, 'चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठियसमाहयनिचियगायगत्ते' चर्मेष्टकेन द्रुघणेन मुष्टिकया च—मुष्ट्या च समाहत्य ये निचितीकृतगात्रास्ते चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रास्तेषामिव गात्रं यस्य स चर्मेष्टकद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रगात्रः, 'उरस्सबलसमन्नागए' इति उरसि

भवमुरस्यं तच तद्बलं च उरस्यबलं तच समन्वागतः—समनुप्राप्त उरस्यबलसमन्वागतः, आन्तरोत्साहवीर्ययुक्त इति भावः, 'तलजमलजुयलबाहू' इति, तलौ—तालवृक्षौ तयोर्यमलयुगलं—समश्रेणीकं युगलं तलयमलयुगलं, तद्वदतिसरलौ पीवरौ च बाहू यस्य स तलयमलयुगलबाहुः, 'लंघणपवणजवणपमद्दणसमत्थे' इति, लङ्घने—अतिक्रमणे प्लवने—मनाक् पृथुतरविक्रमगतिगमने जवने—अतिशीघ्रगतौ प्रमर्दने—कठिनस्यापि वस्तुनश्चूर्णनकरणे समर्थः लङ्घनप्लवनजवनप्रमर्दनसमर्थः, कचित् 'लंघणपवणजवणवायामणसमत्थे' इति पाठस्तत्र व्यायामने—व्यायामकरणे इति व्याख्येयं, 'छेकः' द्वासप्ततिकलापण्डितः 'दक्षः' कार्याणामविलम्बितकारी, 'प्रष्ठः' वाग्मी 'कुशलः' सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान् 'मेधावी' परस्पराव्याहतपूर्वापरानुसन्धानदक्षः, अत एव 'निपुणसिप्पोवगए' इति निपुणं यथा भवति एवं शिल्पं—क्रियासु कौशलमुपगतः—प्राप्तो निपुणशिल्पोपगतः, एकं महान्तमयस्पिण्डम् 'उदकवारकसमानं' लघुपानीयघटसमानं गृहीत्वा 'तम्' अयस्पिण्डं तापयित्वा तापयित्वा ततो घनेन कुट्टयित्वा कुट्टयित्वा यावदेकाहं वा द्व्यहं वा यावदुत्कर्षतोऽर्द्धमासं संहन्यात्, ततो णमिति वाक्यालङ्कारे 'तम्' अयस्पिण्डं शीतं, स च शीतो वह्निर्मनाग्मात्रेणापि स्यादत आह—'शीतीभूतं' सर्वात्मना शीतत्वेन परिणतं अयोमयेन संदंशकेन गृहीत्वा 'असब्भावस्थापनया' असद्भावकल्पनया नैतद्भूत् न भवति भविष्यति वा केवलमसद्भूतमिदं कल्प्यत इति, उष्णवेदनेषु नरकेषु प्रक्षिपेत्, प्रक्षिप्य च स पुरुषो णमिति वाक्यालङ्कारे 'उम्मिसियनिमिसियंतरेण' उन्मिषितनिमिषितान्तरेण यावताऽन्तरेण—यावता व्यवधानेन उन्मेषनिमेषौ क्रियेते तावदन्तरप्रमाणेन कालेनातिक्रान्तेन पुनरपि प्रत्युद्धरिष्यामीतिकृत्वा यावद् द्रष्टुं प्रवर्त्तते तावत् 'प्रवितरमेव' प्रस्फुटितमेव, यदिवा 'प्रविलीनमेव' नवनीतमिव सर्वथा गलितमेव, यदिवा 'प्रविध्वस्तमेव' सर्वथा भस्मसाद्भूतमेव पश्येत्, न पुनः शक्नुयाद् अचिरात्तं अप्रस्फुटितं अविलीनं

वा अविध्वस्तं वा पुनरपि प्रत्युद्धर्त्तुम्, एवंरूपा नाम तत्रोष्णवेदना ॥ अस्यैवार्थस्य स्पष्टतरभावनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह—'से जहानामए' इत्यादि, 'से' सकलजनप्रसिद्धो यथेति दृष्टान्तत्वोपदर्शने वाशब्दो विकल्पने, अयं वा दृष्टान्तो विवक्षितार्थप्रतिपत्तये बोद्धव्य इति विकल्पनभावना, 'मत्तः' मदकलितः 'मातङ्गः' हस्ती, इह मातङ्गोऽन्त्यजोऽपि संभवति ततस्तदाशङ्काव्युदासार्थं नानादेशजविनेयजनानुग्रहाय (वा) पर्यायद्वयमाह—'द्विपः' द्वाभ्यां मुखेन करेण चेत्यर्थः पिबतीति द्विपः, 'मूलविभुजादय' इति कप्रत्ययः, कौ जीर्यतीति कुञ्जरः, यदिवा कुञ्जे—वनगहने रमति—रतिमाबध्नातीति कुञ्जरः 'कचिदि'ति डप्रत्ययः, षष्टिहायना:—संवत्सरा यस्य स षष्टिहायनः 'प्रथमशरत्कालसमये' कार्त्तिकमाससमये, इह प्राय ऋतवः सूर्यर्त्तवो गृह्यन्ते ते चाषाढादयो द्विद्विमासप्रमाणाः, प्रवचने च क्रमेणैवंनामानः, तद्यथा—प्रथमः प्रावृट् द्वितीयो वर्षारात्रः तृतीयः शरत् चतुर्थो हेमन्तः पञ्चमो वसन्तः षष्ठो ग्रीष्मः, तथा चाह पादलिप्तसूरिः—"पाउस वासारत्तो, सरओ हेमंत वसन्त गिम्हो य। एए खलु छप्पि रिऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥१॥" ततः प्रथमशरत्कालसमयः कार्त्तिकसमय इति विवृत्तम्, आह च मूलटीकाकृत्—"प्रथमशरत्—कार्त्तिकमासः" तस्मिन् वाशब्दो विकल्पने 'चरमनिदाघकालसमये वा' चरमनिदाघकालसमयो—ज्येष्ठमासपर्यन्तस्तस्मिन्, वाशब्दो विकल्पने, 'उष्णाभिहतः' सूर्यखरकिरणप्रतापाभिभूतः, अत एवोष्णैः सूर्यकिरणैः सर्वतः प्रतप्ताङ्गतया शोषभावतस्तृषाभिहतः, तत्रापि पानीयगवेषणार्थमितस्ततः स्वेच्छया परिभ्रमतः कथञ्चिद्दवाग्निप्रत्यासत्तौ गमनतो दवाग्निज्वालाभिहतः अत एव 'आतुरः' कचिदपि स्वास्थ्यमलभमानः सन् आकुलः, सर्वाङ्गपरितापसम्भवेन गलतालुशोषभावात् शुषितः, कचित् 'झिज्जिए' इति पाठस्तत्र 'क्षितः' क्षीणशरीर इति व्याख्येयम्, असाधारणतृड्वेदनासमुच्छलनात्पिपासितः, अत एव दुर्बलः शारीरमानसावष्टम्भरहितत्वात्, 'क्लान्तः' ग्लानिमुपगतः

'क्लमू ग्लानौ' इति वचनात्, एकां महतीं **'पुष्करिणीं'** पुष्कराण्यस्यां विद्यन्ते इति पुष्करिणी तां, किंविशिष्टामित्याह—**'चतुष्कोणां'** चत्वारः कोणा—अश्रयो यस्याः सा तथा तां, समं—विषमोन्नतिवर्जितं सुखावतारं तीरं—तटं यस्याः सा समतीरा ताम्, आनुपूर्व्येण—नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण न त्वेकहेलयैव क्वचिद्गर्त्तारूपा क्वचिदुन्नतिरूपा इति भावः, सुष्ठु—अतिशयेन यो जातो वप्रः—केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरम्—अलब्धस्ताघं शीतलं जलं यस्यां सा आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजला ताम्, **'संछण्णपत्तभिसमुणाल'**मिति संछन्नानि—जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यस्यां सा संछन्नपत्रबिसमृणाला ताम्, इह बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि—पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि—कन्दाः मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः केसरैः—केसरप्रधानैः फुल्लैः—विकसितैरुपचिता बहूत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिता तां, तथा षट्पदैः—भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि यस्याः सा षट्पदपरिभुज्यमानकमला तां, तथाऽच्छेन—स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेन—आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा अच्छविमलसलिलपूर्णा तां, तथा **पडिहत्था**—अतिरेकता (तः) अतिप्रभूता इत्यर्थः भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यस्यां सा पडिहत्थभ्रमन्मत्स्यकच्छपा, तथा अनेकैः शकुनिगणमिथुनकैः गणशब्दस्य प्राकृतत्वादस्थानेऽप्युपनिपातः, शकुनिमिथुनकैर्विचरितैः—इतस्ततः स्वेच्छया प्रवृत्तैः शब्दोन्नतिकम्—उन्नतशब्दं मधुरस्वरं नादितं यस्यां सा अनेकशकुनिगणमिथुनकविचरितशब्दोन्नतिकमधुरस्वरनादिता, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तां दृष्ट्वाऽवगाहेत, अवगाह्य च **'उष्णमपि'** परिदाहमपि शरीरस्य तत्र **'प्रविनयेत्'** प्रकर्षेण सर्वात्मना स्फोटयेत्, तथा क्षुधामपि प्रविनयेत् प्रत्यासन्नतटवर्त्तिशल्लक्यादिकिसलयभक्षणात्, तृषमपि प्रविनयेत् जलपानात्, ज्वरमपि परिसंतापसमुत्थं प्रवि-

नयेत् परिदाघक्षुत्पिपासाऽपगमात्, एवं सकलक्षुदादिदोषापगमतः सुखासिकाभावेन निद्रायेत प्रचलायेत, तत्र अनिद्रावान् निद्रा-
वान् भवतीति च्व्यर्थविवक्षायां निद्रादिभ्यो धर्मिणि क्यचिति कर्म्मणि क्यप्प्रत्ययः, एवं प्रचलाशब्दादपि निद्रादेराकृतिगणत्वात्, नि-
द्राप्रचलयोस्त्वयं विशेषः—सुखप्रबोधा स्वापावस्था निद्रा, ऊर्द्धस्थितस्यापि या पुनश्चैतन्यमस्फुटीकुर्वती समुपजायते निद्रा सा प्रचला,
एवं च क्षणमात्रनिद्रालाभतोऽतिस्वस्थीभूतः 'स्मृतिं वा' पूर्वानुभूतस्मरणं 'रतिं वा' तदवस्थाऽऽसक्तिरूपां 'धृतिं वा' चित्तस्वास्थ्यं
'मतिं वा' सम्यगीहापोहरूपाम् 'उपलभेत' प्राप्नुयात्, ततः 'शीतः' बाह्यशरीरप्रदेशशीतीभावात्, 'शीतीभूतः' शरीरान्तरपि
निर्वृतीभूतः सन् 'संकसमाणे' इति सम्—एकीभावेन कसन्—गच्छन् 'सातसौख्यबहुलश्चापि' सातम्—आह्लादस्तत्प्रधानं सौख्यं
सातसौख्यं न त्वभिमानमात्रजनितमाह्लादविरहितं सातसौख्येन बहुलो—व्याप्तः सातसौख्यबहुलश्चापि 'विहरेत्' स्वेच्छया परिभ्र-
मेत्, 'एवमेव' अनेनैवानन्तरोदितदृष्टान्तप्रकारेण हे गौतम! 'असद्भावप्रस्थापनया' असद्भावकल्पनया नेदं वक्ष्यमाणमभूत् केवलं
नरकगतोष्णवेदनायाथात्म्यप्रतिपत्तयेऽसत्कल्प्यत इति भावः, उष्णवेदनेभ्यो नरकेभ्यो नैरयिकोऽनन्तरमुद्वर्त्तितो विनिर्गतः सन्
'यानि' इमानि प्रत्यक्षत उपलभ्यमानानि 'इह' मनुष्यलोके स्थानानि भवन्ति, तद्यथा—"गोलियालिंगाणि वा, सोंडियालिंगाणि
वा, भिंडियालिंगाणि वा, एते अग्न्याश्रयविशेषाः, अन्ये तु देशभेदनीत्या पिष्टपाचनकाग्न्यादिभेदैरेतेषां स्वरूपं कथयन्ति, तदप्यविरुद्ध-
मेवेति, तैलाग्निरिति वा तुषाग्निरिति वा बुसाग्निरिति वा नडाग्निरिति वा, नडः—तृणविशेषः, 'अयागराणीति वा' आर्षत्वान्नपुंस-
कनिर्देशः अयआकरा इति वा, येषु निरन्तरं महामूषास्वयोदलं प्रक्षिप्याऽय उत्पाट्यते ते अयआकराः, एवं ताम्राकरा इति वा त्र-
प्वाकरा इति वा सीसकाकरा इति वा रूप्याकरा इति वा सुवर्णाकरा इति वा हिरण्याकरा इति वा, सुवर्णहिरण्ययोरत्र विशेषो वर्णा-

दिकृतो वेदितव्यः, इष्टकापाक इति वा कुम्भकारापाक इति वा कवेल्लुकापाक इति वा लोहकाराम्बरीष इति वा, अम्बरीषः—कोष्ठकः, यन्त्रवाडचुल्ली इवेति, यन्त्रम्—इक्षुपीडनयन्त्रं तत्प्रधानः पाटको यन्त्रपाटकः तत्र चुल्ली यत्रेक्षुरसः पच्यते, इत्थम्भूतानि यानि मनुष्यलोके स्थानानि 'तप्तानि' वह्निसंपर्कतस्तप्तीभूतानि, तानि च कानिचिद् अयआकरप्रभृतीनि कदाचिदुष्णस्पर्शमात्राण्यपि संभवन्ति ततो विशेषप्रतिपादनार्थमाह—'समजोईभूयाइ' प्राकृतत्वात्समशब्दस्य पूर्वनिपातः, 'ज्योतिःसमभूतानि' साक्षादग्निवर्णानि जातानीति भावः, एतदेवोपमया स्पष्टयति—'फुल्लकिंशुकसमानानि' प्रफुल्लपलाशकुसुमकल्पानि 'उक्कासहस्साइं' इति ये मूलाग्नितो विश्रुट्य विश्रुट्याग्निकणाः प्रसर्पन्ति ते उल्का इत्युच्यन्ते तासां सहस्राणि उल्कासहस्राणि मुञ्चन्ति ज्वालासहस्राणि विनिर्मुञ्चन्ति अङ्गारसहस्राणि प्रविक्षरन्ति 'अन्तरन्तर्हूहूयमानानि' अतिशयेन जाज्वल्यमानानि, क्वचित् 'अंतो अंतो सुहुयहुयासणा' इति पाठः, 'अन्तरन्तः सुहुतहुताशनानि' सुष्ठु हुतो हुताशनो येषु तानि तथा तिष्ठन्ति तानि पश्येत् दृष्ट्वा चावगाहेत, अवगाह्य च 'उष्णमपि' नरकोष्णवेदनाजनितं बहिःशरीरस्य परितापमपि प्रविनयेत्, नरकगताद्रुष्णस्पर्शादयआकरादिपूष्णस्पर्शस्यातीव मन्दत्वात्, एवं च सुखासिकाभावतस्तृषामपि क्षुधमपि दाहमपि अन्तःशरीरसमुत्थं प्रविनयेत्, तथा च सति तृडादिदोषापगमतो निद्रायेत वा प्रचलायेत वा स्मृतिं वा रतिं वा धृतिं वा उपलभेत, ततः शीतः शीतीभूतः सन् 'संकसन् संकसन्' संक्रामन् संक्रामन् सातसौख्यबहुलो विहरेत्, अमीषां पदानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः । एतावत्युक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति—'भवे एयारूवे सिया ?' 'स्यात्' संभाव्यते एतद् यथा भवेद् उष्णवेदनीयेषु नरकेषु एतद्रूपा उष्णवेदना ?, भगवानाह—गौतम ! नायमर्थः समर्थो यदुष्णवेदनीयेषु नरकेषु नैरयिका इति, अनन्तरं प्रतिपादितस्वरूपाया उष्णवेदनायाः अनिष्टतरिकामेव अप्रियतरिकामेव अमनोज्ञत-

रिकामेव अमनआपतरिकामेव वेदनां 'प्रत्यनुभवन्तः' प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति ॥ सम्प्रति शीतवेदनीयेषु नरकेषु शीतवेदनास्वरूपं प्रतिपादयति—'सीयवेयणिज्जेसु ण'मित्यादि, शीतवेदनीयेषु भदन्त! निरयेषु नैरयिकाः कीदृशीं शीतवेदनां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ?, स यथानामकः कर्म्मकरदारकः स्यात् तरुण इत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत्तावद् यावत्संहन्यात् नवरमुत्कर्षतो मासमित्यत्र ब्रूयात्, ततः 'सः' कर्म्मकरदारकः 'तम्' अयस्पिण्डमुष्णं स चोष्णो बाह्यप्रदेशमात्रापेक्षयाऽपि स्यादत आह—'उष्णीभूतं' सर्वात्मनाऽग्निवर्णीभूतमिति भावः, अयोमयेन संदंशकेन गृहीत्वाऽसद्भावप्रस्थापनया शीतवेदनीयेषु नरकेषु प्रक्षिपेत्, ततः 'स' पुरुषः 'तम्' अयस्पिण्डमित्यादि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावद्विहरति, तच्चैवम्—'से णं तं उम्मिसियनिमिसियंतरेण पुणरवि पच्चुद्धरिस्सामित्तिकट्टु पविरायमेव पासेज्जा पविलीणमेव पासेज्जा पविद्धत्थमेव पासेज्जा नो चेव णं संचाएइ अविरायं अविलीणं अविद्धत्थं पुणरवि पच्चुद्धरित्तए से जहानामए मत्तमायंगे जाव सायासोक्खबहुलेयावि विहरइत्ति' 'एवामेवे'त्यादि, अनेनैवाधिकृतदृष्टान्तोक्तेन प्रकारेण गौतम! असद्भावप्रस्थापनया शीतवेदनीयेभ्यो नरकेभ्योऽनन्तरमुद्वृत्तः सन् यानीमानि मनुष्यलोके स्थानानि भवन्ति, तद्यथा—हिमानि वा हिमपुञ्जानि वा, सूत्रे नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्, हिमपटलानि वा हिमकूटानि वा, एतान्येव पदानि नानादेशजविनेयानुग्रहाय पर्यायैर्व्याचष्टे—'सीयाणि वा सीयपुंजाणि वा' इत्यादि, तानि पश्येत्, दृष्ट्वा तान्यवगाहेत, अवगाह्य 'शीतमपि' नरकजनितं शीतलमपि प्रविनयेत्, ततः सुखासिकाभावतस्तृषमपि क्षुधमपि ज्वरमपि नरकवेदनीयनरकसंपर्कसमुत्थं जाड्यमपि प्रविनयेत्, ततः शीतत्वादिदोषापगमतोऽनुत्तरं स्वास्थ्यं लभमानो निद्रायेत वा प्रचलायेत वा स्मृतिं वा रतिं वा धृतिं वा लभेत, ततो नरकगतजाड्यापगमाद् उष्णः, स च बहिःप्रदेशमात्रतोऽपि स्यात्तत आह—'उष्णीभूतः' अन्तरपि नरकगतजा-

ड्यापगमात् जातोत्साह इत्यर्थः, स एवंभूतः सन् यथासुखं (संकसन्) संक्रामन् सातसौख्यबहुलो विहरेत्, एवमुक्ते गौतम आह—'भवेयारूवे सिया ?' इत्यादि प्राग्वत् ॥ सम्प्रति नैरयिकाणां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

इमीसे णं भंते ! रयणप्प० पु० णेरतियाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा ! जहण्णेणवि उक्कोसेणवि ठिती भाणितव्वा जाव अधेसत्तमाए ॥ (सू० ९०) ॥ इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए णेरतिया अणंतरं उव्वट्टिय कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नेरतिएसु उववज्जंति ? किं तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति ?, एवं उव्वट्टणा भाणितव्वा जहा वक्कंतीए तहा इहवि जाव अहेसत्तमाए ॥ (सू० ९१)

'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्येन दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षतः सागरोपमं, एवं शर्कराप्रभापृथिवीनैरयिकाणां जघन्यत एकं सागरोपममुत्कर्षतस्त्रीणि सागरोपमाणि, वालुकाप्रभापृथिवीनैरयिकाणां जघन्यतस्त्रीणि सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्त, पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकाणां जघन्यतः सप्त सागरोपमाणि उत्कर्षतो दश, धूमप्रभापृथिवीनैरयिकाणां जघन्यतो दश सागरोपमाणि उत्कर्षतः सप्तदश, तमःप्रभापृथिवीनैरयिकाणां जघन्यतः सप्तदश सागरोपमाणि उत्कर्षतो द्वाविंशतिः, तमस्तमःप्रभायां जघन्यतो द्वाविंशतिसागरोपमाणि उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्, कचित् 'जहा पण्णवणाए ठिइपदे' इत्यतिदेशः सोऽप्येवमेवार्थतो भावनीयः, तदेवं प्रतिपृथिवि स्थितिपरिमाणमुक्तं, यदा तु प्रतिप्रस्तटं स्थितिपरिमाणं चिन्त्यते तदैवमवगन्तव्यम्—रत्नप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि १०००० उत्कृष्टा नवतिः ९००००,

द्वितीये प्रस्तटे एषैव शतगुणिता जघन्या उत्कृष्टा च वेदितव्या, तद्यथा—जघन्या दशवर्षलक्षा १०००००० उत्कृष्टा नवतिवर्षलक्षाः ९००००००, तृतीये प्रस्तटे जघन्यतो नवतिवर्षलक्षा उत्कृष्टा पूर्वकोटी, चतुर्थे जघन्या पूर्वकोटी उत्कृष्टा सागरोपमस्य दशमो भागः, पञ्चमे जघन्या सागरोपमस्यैको दशभाग उत्कृष्टा द्वौ दशभागौ, षष्ठे जघन्या सागरोपमस्य द्वौ दशभागावुत्कृष्टा त्रयः, सप्तमे जघन्या त्रयः सागरोपमस्य दशभागा उत्कृष्टाश्चत्वारः, अष्टमे जघन्या चत्वारः सागरोपमस्य दशभागा उत्कृष्टा पञ्च, नवमे जघन्या पञ्च सागरोपमस्य दशभागा उत्कृष्टा षट्, दशमे जघन्या षट् सागरोपमस्य दशभागा उत्कृष्टा सप्त, एकादशे जघन्या सप्त उत्कृष्टाऽष्टौ, द्वादशे जघन्याऽष्टौ उत्कृष्टा नव, त्रयोदशे जघन्या नव सागरोपमस्य दशभागा उत्कृष्टा दश, परिपूर्णमेकं सागरोपममिति भावः । शर्कराप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे जघन्या एकं सागरोपमं उत्कृष्टा एकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्यैकादशभागौ, द्वितीये प्रस्तटे जघन्या एकं सागरोपमं द्वौ सागरोपमस्यैकादशभागौ उत्कृष्टा एकं सागरोपमं चत्वारः सागरोपमस्यैकादशभागाः, तृतीये जघन्या एकं सागरोपमं चत्वारः सागरोपमस्यैकादशभागा उत्कृष्टा एकं सागरोपमं षट् सागरोपमस्यैकादशभागाः, चतुर्थे जघन्या एकं सागरोपमं षट् सागरोपमस्यैकादशभागा उत्कृष्टा एकं सागरोपमम् अष्टौ सागरोपमस्यैकादशभागाः, पञ्चमे जघन्या एकं सागरोपमं अष्टौ सागरोपमस्यैकादशभागाः उत्कृष्टा एकं सागरोपमं दश सागरोपमस्यैकादश भागाः, षष्ठे जघन्या एकं सागरोपमं दश सागरोपमस्यैकादशभागा उत्कृष्टा द्वे सागरोपमे एकः सागरोपमस्यैकादशभागः, सप्तमे जघन्या द्वे सागरोपमे एकः सागरोपमस्यैकादशभाग उत्कृष्टा द्वे सागरोपमे त्रयः सागरोपमस्यैकादशभागाः, अष्टमे जघन्या द्वे सागरोपमे त्रयः सागरोपमस्यैकादशभागाः उत्कृष्टा द्वे सागरोपमे पञ्च सागरोपमस्यैकादशभागाः, नवमे जघन्या द्वे सागरोपमे पञ्च सागरोपमस्यैकादशभागाः उत्कृष्टा द्वे साग-

रोपमे सप्त सागरोपमस्यैकादशभागाः, दशमे जघन्या द्वे सागरोपमे सप्त सागरोपमस्यैकादशभागाः उत्कृष्टा द्वे सागरोपमे नव सागरोपमस्यैकादशभागाः, एकादशे जघन्या द्वे सागरोपमे नव सागरोपमस्यैकादशभागाः उत्कृष्टानि परिपूर्णानि त्रीणि सागरोपमाणि । वालुकाप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे जघन्या स्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि उत्कृष्टा त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य नवभागाः, द्वितीये जघन्या त्रीणि सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा त्रीणि सागरोपमाणि अष्टौ सागरोपमस्य नवभागाः, तृतीये जघन्या त्रीणि सागरोपमाणि अष्टौ सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा चत्वारः सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य नवभागाः, चतुर्थे जघन्या चत्वारि सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा चत्वारि सागरोपमाणि सप्त सागरोपमस्य नवभागाः, पञ्चमे जघन्या चत्वारि सागरोपमाणि सप्त सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा पञ्च सागरोपमाणि द्वौ सागरोपमस्य नवभागौ, षष्ठे जघन्येन पञ्च सागरोपमाणि द्वौ सागरोपमस्य नवभागौ उत्कृष्टा पञ्च सागरोपमाणि षट् सागरोपमस्य नवभागाः, सप्तमे जघन्या पञ्च सागरोपमाणि षट् सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा षट् सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य नवभागः, अष्टमे जघन्या षट् सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य नवभागः उत्कृष्टा षट् सागरोपमाणि पञ्च सागरोपमस्य नवभागाः, नवमे जघन्या षट् सागरोपमाणि पञ्च सागरोपमस्य नवभागाः उत्कृष्टा परिपूर्णानि सप्त सागरोपमाणि, एषोऽत्र तात्पर्यार्थः—सागरोपमत्रयस्योपरि प्रतिप्रस्तटं क्रमेण चत्वारः सागरोपमस्य नवभागा वर्द्धयितव्यास्ततो यथोक्तपरिमाणं भवति । पङ्कप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे जघन्या स्थितिः सप्त सागरोपमाणि उत्कृष्टा सप्त सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः, द्वितीये जघन्या सप्त सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः उत्कृष्टा सप्त सागरोपमाणि षट् सागरोपमस्य सप्तभागाः, तृतीये जघन्या सप्त सागरोपमाणि षट् सागरोपमस्य सप्तभागाः उत्कृष्टाऽष्टौ सागरोप-

माणि द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ, चतुर्थे जघन्याऽष्टौ सागरोपमाणि द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ उत्कृष्टाऽष्टौ सागरोपमाणि पञ्च सागरोपमस्य सप्तभागाः, पञ्चमे जघन्याऽष्टौ सागरोपमाणि पञ्च सागरोपमस्य सप्तभागाः उत्कृष्टा नव सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य सप्तभागः, षष्ठे जघन्या नव सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य सप्तभागः उत्कृष्टा नव सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य सप्तभागाः सप्तमे जघन्या नव सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य सप्तभागाः उत्कृष्टा परिपूर्णानि दश सागरोपमाणि, अत्रापीयं भावना—सागरोपमसप्तकस्योपरि त्रयस्त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः प्रतिप्रस्तटं क्रमेण वर्द्धयितव्यास्ततो भवति यथोक्तं परिमाणमिति। धूमप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे जघन्या स्थितिर्दश सागरोपमाणि उत्कृष्टा एकादश सागरोपमाणि द्वौ सागरोपमस्य पञ्चभागौ, द्वितीये जघन्या एकादश सागरोपमाणि द्वौ सागरोपमस्य पञ्चभागौ उत्कृष्टा द्वादश सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य पञ्चभागाः, तृतीये जघन्या द्वादश सागरोपमाणि चत्वारः सागरोपमस्य पञ्चभागाः उत्कृष्टा चतुर्दश सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य पञ्चभागः, चतुर्थे जघन्या चतुर्दश सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य पञ्चभागः उत्कृष्टा पञ्चदश सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य पञ्चभागाः, पञ्चमे जघन्या पञ्चदश सागरोपमाणि त्रयः सागरोपमस्य पञ्चभागाः उत्कृष्टा परिपूर्णानि सप्तदश सागरोपमाणि, एष चात्र भावार्थः—सागरोपमदशकस्योपरि प्रतिप्रस्तटं क्रमेणैकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्य पञ्चभागाविति वर्द्धयितव्यं ततो यथोक्तं परिमाणं भवति। तमःप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे जघन्या स्थितिः सप्तदश सागरोपमाणि उत्कृष्टाऽष्टादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य त्रिभागौ, द्वितीये जघन्याऽष्टादश सागरोपमाणि द्वौ च सागरोपमस्य त्रिभागौ उत्कृष्टा विंशतिः सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य त्रिभागः, तृतीये जघन्या विंशतिः सागरोपमाणि एकः सागरोपमस्य त्रिभागः उत्कृष्टा द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, अत्राप्येष तात्पर्यार्थः—सप्तदश साग-

राणामुपरि प्रतिप्रस्तटं क्रमेणैकं सागरोपमं द्वौ च सागरोपमस्य त्रिभागाविति वर्द्धयितव्यं, ततो यथोक्तं परिमाणं भवति। सप्तम्यां तु पृथिव्यामेक एव प्रस्तट इति तत्र पूर्वोक्तमेव परिमाणं द्रष्टव्यम् ॥ सम्प्रति नैरयिकाणामुद्वर्त्तनामाह—'रयणप्पभापुढवि'इत्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! अनन्तरमुद्धृत्त्य क्व गच्छन्ति?, एतदेव व्याचष्टे—क्वोत्पद्यन्ते इत्यादि, यथा प्रज्ञापनायां [यथा] व्युत्क्रान्तिपदे तथा वक्तव्यं यावत्तमस्तमायां, तच्चातिप्रभूतमिति तत एवावधार्यम्, एष च सङ्क्षेपार्थः रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका यावत्तमः-प्रभापृथिवीनैरयिका अनन्तरमुद्वृत्ता नैरयिकदेवैकेन्द्रियविकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियासङ्ख्येयवर्षायुष्कवर्जेषु शेषेषु तिर्यङ्मनुष्येषूत्पद्यन्ते, सप्तमपृथिवीनैरयिकास्तु गर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वेव न शेषेषु ॥ सम्प्रति नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपमाह—

इमीसे णं भंते! रयण० पु० नेरतिया केरिसयं पुढविफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! अणिट्ठं जाव अमणामं, एवं जाव अहेसत्तमाए, इमीसे णं भंते! रयण० पु० नेरइया केरिसयं आउफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति?, गोयमा! अणिट्ठं जाव अमणामं, एवं जाव अहेसत्तमाए, एवं जाव वणप्फतिफासं अधेसत्तमाए पुढवीए। इमा णं भंते! रयणप्पभापुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु?, हंता! गोयमा! इमा णं रयणप्पभापुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय जाव सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु, दोच्चा णं भंते! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं पुच्छा, हंता गोयमा! दोच्चा णं पुढवी जाव सव्वक्खुड्डिया सव्वंतेसु, एवं एएणं अभिलावेणं जाव छट्ठिता पुढवी अहेसत्तमं पुढविं पणिहाय सव्वक्खुड्डिया

सव्वंतेसु (सू० ९२) इमीसे णं भंते! रयणप्प० पु० तीसाए नरयावाससयसहस्सेसु इक्कमिक्कंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता पुढवीकाइयत्ताए जाव वणस्सइकाइयत्ताए नेरइयत्ताए उववन्नपुव्वा?, हंता गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो, एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए णवरं जत्थ जत्तिया णरका। [इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पु० निरयपरिसामंतेसु जे पुढविक्काइया जाव वणप्फतिकाइया ते णं भंते! जीवा महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महाआसवतरा चेव महावेयणतरा चेव?, हंता गोयमा! इमीसे णं [भंते!] रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु तं चेव जाव महावेदणतरका चेव, एवं जाव अधेसत्तमा] (सू० ९३)। पुढवीं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्लं। विक्खंभपरिक्खेवे वण्णो गंधो य फासो य ॥ १ ॥ तेसिं महालयाए उवमा देवेण होइ कायव्वा। जीवा य पोग्गला वक्कमंति तह सासया निरया ॥ २ ॥ उववायपरीमाणं अवहारुच्चत्तमेव संघयणं। संठाणवण्णगंधा फासा ऊसासमाहारे ॥ ३ ॥ लेसा दिट्ठी नाणे जोगुवओगे तहा समुग्घाया। तत्तो खुहापिवासा विउव्वणा वेयणा य भए ॥ ४ ॥ उववाओ पुरिसाणं ओवम्मं वेयणाएँ दुविहाए। उव्वट्टणपुढवी उ, उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ५ ॥ एयाओ संगहणिगाहाओ ॥ (सू० ९४) ॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

'रयणप्पभे'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं पृथिवीस्पर्शं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति?, भगवानाह—गौतम! 'अणिट्ठं

अकंतं अप्पियं अमणुन्नं अमणामं' अस्यार्थः प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावत्तमस्तमायाम्, एवमप्तेजोवायुवनस्पति-स्पर्शसूत्राण्यपि भावनीयानि, नवरं तेजःस्पर्शः-उष्णरूपतापरिणतनरककुड्यादिस्पर्शः परोदीरितवैक्रियरूपो वा वेदितव्यो न तु साक्षाद् बादराग्निकायस्पर्शः, तत्रासम्भवात् ॥ 'इमीसे ण'मित्यादि, अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशति नरकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् नरकावासे 'सर्वे प्राणाः' द्वीन्द्रिया 'सर्वे भूताः' वनस्पतिकायिकाः 'सर्वे सत्त्वाः' पृथिव्यादयः 'सर्वे जीवाः' पञ्चेन्द्रियाः, उक्तञ्च—"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूताश्च तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥" पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया नैरयिकतया उत्पन्नाः उत्पन्नपूर्वाः ?, भगवानाह—'हंते'त्यादि, हन्तेति प्रत्यवधारणे गौतम! 'असकृत्' अनेकवारम्, अथवा 'अनन्तकृत्वः' अनन्तान् वारान्, संसारस्यानादित्वात्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी, नवरं यत्र यावन्तो नरकास्तत्र तावन्त उपयुज्य वक्तव्याः। क्वचिदिदमपि सूत्रं दृश्यते—"इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु णं जे बायरपुढविक्काइया जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते! जीवा! महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महासवतरा चेव महावेयणतरा चेव, हंता गौयमा! जाव महावेयणतरा चेव, एवं जाव अहेसत्तमा ॥" अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकपरिसमन्तेषु—नरकावासपर्यन्तवर्त्तिषु प्रदेशेषु बादरपृथिवीकायिकाः 'जाव वणप्फइकाइय'त्ति बादराप्कायिका बादरवायुकायिका बादरवनस्पतिकायिकास्ते भदन्त! जीवाः 'महाकम्मतरा चेव' महत्—प्रभूतमसातवेदनीयं कर्म्म येषां ते महाकर्म्माणः, अतिशयेन महाकर्म्माणो महाकर्म्मतराः, 'चेवे' त्यवधारणे, महाकर्म्मतरा एव कुतः ? इत्याह—'महाकिरियतरा चेव' महती क्रिया—प्राणातिपातादिकाऽऽसीत् प्राग् जन्मनि तद्भवेषु तदध्यवसायानिवृत्त्या येषां ते महाक्रियाः, अतिशयेन महाक्रिया

महाक्रियतराः, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति न्यायाद्धेतावत्र प्रथमा, ततोऽयमर्थः—यतो महाक्रियतरा एव ततो महाकर्म्मतरा एव, महाक्रियतरत्वमपि कुतः ? इत्याह—'महाश्रवतरा एव' महान्त आश्रवाः—पापोपादानहेतव आरम्भा-दयो येषामासीरन् ते महाश्रवाः, अतिशयेन महाश्रवा महाश्रवतराः, 'चेवे'ति पूर्ववत्, तदेवं यतो महाकर्म्मतरा एव ततो महावेदन-तरा एव, नरकेषु क्षेत्रस्वभावजाया अपि वेदनाया अतिदुःसहत्वात्, भगवानाह—हंता गौतम ! 'ते णं जीवा महाकम्मतरा चेवे'त्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी ॥ सम्प्रत्युद्देशकार्थसङ्ग्रहणिगाथाः प्राह—आसामक्षरमात्रगमनिका—प्रथमं 'पुढ-वीओ' इति पृथिव्योऽभिधेयास्तद्यथा—"कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?" इत्यादि । तदनन्तरम् 'ओगाहित्ता नरगा' इति, यस्यां पृथिव्यां यदवगाह्य यादृशाश्च नरकास्तदभिधेयं, यथा—"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्स-बाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता" इत्यादि । ततो नरकाणां संस्थानं ततो बाहल्यं तदनन्तरं विष्कम्भपरिक्षेपौ ततो वर्णस्ततो गन्ध-स्तदनन्तरं स्पर्शस्ततस्तेषां नरकाणां महत्तायामुपमा देवेन भवति कर्त्तव्या, ततो जीवाः पुद्गलाश्च तेषु नरकेषु व्युत्क्रामन्तीति, तथा शा-श्वताशाश्वता नरका इति वक्तव्यं, तत उपपातो वक्तव्यः, तद्यथा—"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कतो उववज्जंति ?" इ-त्यादि, तत एकसमयेनोत्पद्यमानानां परिमाणं ततोऽपहारस्तत उच्चत्वं तदनन्तरं संहननं ततः संस्थानं ततो वर्णस्तदनन्तरं गन्धस्ततः स्पर्शस्तत उच्छ्वासवक्तव्यता तदनन्तरमाहारस्ततो लेश्या ततो दृष्टिस्तदनन्तरं ज्ञानं ततो योगस्ततोऽप्युपयोगस्तदनन्तरं समुद्घातस्ततः क्षुत्पिपासे ततो विकुर्वणा, तद्यथा—"रयणप्पभापुढविनेरइया णं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पुहुत्तं पहू विउव्वित्तए" इत्यादि, ततो वेदना ततो भयं तदनन्तरं पञ्चानां पुरुषाणामधःसप्तम्यामुपपातस्तत औपम्यं वेदनाया द्विविधायाः, उष्णवेदनायाः शीतवेदना-

३ प्रतिपत्तौ नरकाधि० उद्देशः २ सू० ९५

याश्चेत्यर्थः, ततः स्थितिर्वक्तव्या तदनन्तरमुद्वर्त्तना ततः स्पर्शः पृथिव्यादिस्पर्शो वक्तव्यः, ततः सर्वजीवानामुपपातः, तद्यथा—"इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया" इत्यादि ॥ तृतीयप्रतिपत्तौ समाप्तो द्वितीयो नरकोद्देशकः ॥ सम्प्रति तृतीय आरभ्यते, तत्र चेदमादिसूत्रम्—

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरतिया केरिसयं पोग्गलपरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति?, गोयमा! अणिट्ठं जाव अमणामं, एवं जाव अहेसत्तमाए [एवं नेयव्वं] ॥ एत्थ किर अतिवयंती नरवसभा केसवा जलचरा य। मंडलिया रायाणो जे य महारंभकोडुंबी ॥ १ ॥ भिन्नमुहुत्तो नरएसु होति तिरियमणुएसु चत्तारि । देवेसु अद्धमासो उक्कोस विउव्वणा भणिया ॥ २ ॥ जे पोग्गला अणिट्ठा नियमा सो तेसि होइ आहारो। संठाणं तु जहण्णं नियमा हुंडं तु नायव्वं ॥ ३ ॥ असुभा विउव्वणा खलु नेरइयाणं तु होइ सव्वेसिं। वेउव्वियं सरीरं असंघयण हुंडसंठाणं ॥ ४ ॥ अस्साओ उववण्णो अस्साओ चेव चयइ निरयभवं । सव्वपुढवीसु जीवो सव्वेसु ठिइविसेसेसुं ॥ ५ ॥ उववाएण व सायं नेरइओ देवकम्मुणा वावि । अज्झवसाणनिमित्तं अहवा कम्माणुभावेणं ॥ ६ ॥ नेरइयाणुप्पाओ उक्कोसं पंचजोयणसयाइं। दुक्खेणभिद्दुयाणं वेयणसयसंपगाढाणं ॥ ७ ॥ अच्छिनिमीलियमेत्तं नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । नरए नेरइयाणं अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ८ ॥ तेयाकम्मसरीरा सुहुमसरीरा य जे अपज्जत्ता । जीवेण मुक्कमेत्ता

वयंति सहस्ससो भेयं ॥ ९ ॥ अतिसीतं अतिउण्हं अतितण्हा अतिखुहा अतिभयं वा । निरए नेरइयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥ १० ॥ एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पोग्गल असुहा य होइ अस्साओ । उववाओ उप्पाओ अच्छि सरीरा उ बोद्धव्वा ॥ ११ ॥ नारयउद्देसओ तइओ ॥ से तं नेरतिया ॥ (सू० ९५)

'**रयणप्पभे**'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं '**पुद्गलपरिणामं**' आहारादिपुद्गलविपाकं '**प्रत्यनुभवन्तः**' प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति?, भगवानाह—गौतम! अनिष्टमित्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी, एवं वेदनालेश्यानामगोत्रारतिभयशोकक्षुत्पिपासाव्याधिउच्छ्वासानुतापक्रोधमानमायालोभाहारभयमैथुनपरिग्रहसञ्ज्ञासूत्राणि वक्तव्यानि, अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—"पोग्गलपरिणामे वेयणा य लेसा य नाम गोए य । अरई भए य सोगे खुहा पिवासा य वाही य ॥ १ ॥ उस्सासे अणुतावे कोहे माणे य मायलोभे य । चत्तारि य सण्णाओ नेरइयाणं तु परिणामे ॥ २ ॥" सम्प्रति सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति तान् प्रतिपादयति—इह परिग्रहसञ्ज्ञापरिणामवक्तव्यतायां चरमसूत्रं सप्तमनरकपृथ्वीविषयं तदनन्तरं चेयं गाथा ततः '**एत्थे**' त्यनन्तरमुक्ताऽधःसप्तमी पृथिवी परामृश्यते, '**अत्र**' अधःसप्तमनरकपृथिव्यां '**किल**' इत्याप्तवादसूचने आप्तवचनमेतदिति भावः, '**अतिव्रजन्ति**' अतिशयेन—बाहुल्येन गच्छन्ति नरवृषभाः '**केशवाः**' वासुदेवाः '**जलचराश्च**' तन्दुलमत्स्यप्रभृतयः '**माण्डलिकाः**' वसुप्रभृतय इव '**राजानः**' चक्रवर्त्तिनः सुभूमादय इव ये च महारम्भाः कुटुम्बिनः—कालसौकरिकादय इव ॥ सम्प्रति नरकेषु प्रस्ताव-

तिर्यगादिषु चोत्तरवैक्रियावस्थानकालमानमाह—भिन्नः—खण्डो मुहूर्त्तो भिन्नमुहूर्त्तः अन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः, नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणास्थितिकालः, तिर्यग्मनुष्येषु चत्वार्यन्तर्मुहूर्त्तानि, देवेष्वर्द्धमास उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालः भणितः एष उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालो भणितस्तीर्थकरगणधरैः ॥ सम्प्रति नरकेष्वाहारादिस्वरूपमाह—ये पुद्गला अनिष्टा नियमात्स तेषां भवत्याहारः, **'संस्थानं तु'** संस्थानं पुनस्तेषां हुण्डं हुण्डमपि जघन्यमतिनिकृष्टमनिष्टं वेदितव्यं, एतच्च भवधारणीयशरीरमधिकृत्य वेदितव्यम्, उत्तरवैक्रियसंस्थानस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, इयं च प्रागुक्तार्थसङ्ग्रहगाथा ततो न पुनरुक्तदोषः ॥ सम्प्रति विकुर्वणास्वरूपमाह—सर्वेषां नैरयिकाणां विकुर्वणा **'खलु'** निश्चितमशुभा भवति, यद्यपि शुभं विकुर्विष्याम इति ते चिन्तयन्ति तथाऽपि तथाविधप्रतिकूलकर्मोदयतस्तेषामशुभैव विकुर्वणा भवति, तदपि च वैक्रियं—उत्तरवैक्रियशरीरमसंहननम्, अस्थ्यभावात्, उपलक्षणमेतत् भवधारणीयं च वैक्रियशरीरमसंहननं, तथा हुण्डसंस्थानं तत् उत्तरवैक्रियशरीरं, हुण्डसंस्थाननाम्न एव भवप्रत्ययत उदयभावात् ॥ कश्चित् जीवः **'सर्वास्वपि पृथिवीषु'** रत्नप्रभादिषु तमस्तमापर्यन्तासु सर्वेष्वपि च **'स्थितिविशेषेषु'** जघन्यादिरूपेषु **'असातः'** असातोदयकलित उपपन्नः, उत्पत्तिकालेऽपि प्राग्भवमरणकालानुभूतमहादुःखानुवृत्तिभावात्, उत्पत्त्यनन्तरमपि **'असात एव'** असातोदयकलित एव सकलमपि निरयभवं **'त्यजति'** क्षपयति, न तु जातुचिदपि सुखलेशमप्यास्वादयति ॥ आह—किं तत्र कदाचित्सातोदयोऽपि भवति येनेदमुच्यते ?, उच्यते, भवति, तथा चाह—**'उववाएण'** इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, उपपातकाले **'सातं'** सातवेदनीयकर्मोदयं कश्चिद्वेदयते, यः प्राग्भवे दाघच्छेदादिव्यतिरेकेण मरणमुपगतोऽनतिसङ्क्लिष्टाध्यवसायी समुत्पद्यते, तदानीं हि न तस्य प्राग्भवानुबद्धमाधिरूपं दुःखं नापि क्षेत्रस्वभावजं नापि परमाधार्म्मिककृतं नापि परस्परोदीरितं तत एवंविधदुःखाभावादसौ सातं कश्चित् वेदयते इत्युच्यते, **'देवकम्मुणा वावि'** इति देवकर्म्मणा

वयंति सहस्ससो भेयं ॥ ९ ॥ अतिसीतं अतिउण्हं अतितण्हा अतिखुहा अतिभयं वा । निरए नेरइयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥ १० ॥ एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पोग्गल असुहा य होइ अस्साओ । उववाओ उप्पाओ अच्छि सरीरा उ बोद्धव्वा ॥ ११ ॥ नारयउद्देसओ तइओ ॥ से तं नेरतिया ॥ (सू० ९५)

'**रयणप्पभे**'त्यादि, रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं '**पुद्गलपरिणामं**' आहारादिपुद्गलविपाकं '**प्रत्यनुभवन्तः**' प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति?, भगवानाह—गौतम! अनिष्टमित्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधःसप्तमी, एवं वेदनालेश्यानामगोत्रारतिभयशोकक्षुत्पिपासाव्याधिउच्छ्वासानुतापक्रोधमानमायालोभाहारभयमैथुनपरिग्रहसञ्ज्ञासूत्राणि वक्तव्यानि, अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—"पोग्गलपरिणामे वेयणा य लेसा य नाम गोए य । अरई भए य सोगे खुहा पिवासा य वाही य ॥ १ ॥ उस्सासे अणुतावे कोहे माणे य मायलोभे य । चत्तारि य सण्णाओ नेरइयाणं तु परिणामे ॥ २ ॥" सम्प्रति सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति तान् प्रतिपादयति—इह परिग्रहसञ्ज्ञापरिणामवक्तव्यतायां चरमसूत्रं सप्तमनरकपृथ्वीविषयं तदनन्तरं चेयं गाथा ततः '**एत्थे**' त्यनन्तरमुक्ताऽधःसप्तमी पृथिवी परामृश्यते, '**अत्र**' अधःसप्तमनरकपृथिव्यां '**किल**' इत्याप्तवादसूचने आप्तवचनमेतदिति भावः, '**अतिव्रजन्ति**' अतिशयेन—बाहुल्येन गच्छन्ति नरवृषभाः '**केशवाः**' वासुदेवाः '**जलचराश्च**' तन्दुलमत्स्यप्रभृतयः '**माण्डलिकाः**' वसुप्रभृतय इव '**राजानः**' चक्रवर्त्तिनः सुभूमादय इव ये च महारम्भाः कुटुम्बिनः—कालसौकरिकादय इव ॥ सम्प्रति नरकेषु प्रस्तावा-

त्तिर्यगादिषु चोत्तरवैक्रियावस्थानकालमानमाह्—भिन्नः—खण्डो मुहूर्त्तो भिन्नमुहूर्त्तः अन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः, नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणास्थितिकालः,
तिर्यग्मनुष्येषु चत्वार्यन्तर्मुहूर्त्तानि, देवेष्वर्द्धमास उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालः भणितः एष उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालो भणि-
तस्तीर्थकरगणधरैः ॥ सम्प्रति नरकेष्वाहारादिस्वरूपमाह्—ये पुद्गला अनिष्टा नियमात्स तेषां भवत्याहारः, **'संस्थानं तु'** संस्थानं पुन-
स्तेषां हुण्डं हुण्डमपि जघन्यमतिनिकृष्टमनिष्टं वेदितव्यं, एतच्च भवधारणीयशरीरमधिकृत्य वेदितव्यम्, उत्तरवैक्रियसंस्थानस्याग्रे वक्ष्य-
माणत्वात्, इयं च प्रागुक्तार्थसङ्ग्रहगाथा ततो न पुनरुक्तदोषः ॥ सम्प्रति विकुर्वणास्वरूपमाह्—सर्वेषां नैरयिकाणां विकुर्वणा **'खलु'**
निश्चितमशुभा भवति, यद्यपि शुभं विकुर्विष्याम इति ते चिन्तयन्ति तथाऽपि तथाविधप्रतिकूलकर्मोदयतस्तेषामशुभैव विकुर्वणा भवति,
तदपि च वैक्रियं—उत्तरवैक्रियशरीरमसंहननम्, अस्थ्यभावात्, उपलक्षणमेतत् भवधारणीयं च वैक्रियशरीरमसंहननं, तथा हुण्डसं-
स्थानं तत् उत्तरवैक्रियशरीरं, हुण्डसंस्थाननाम्न एव भवप्रत्ययत उदयभावात् ॥ कश्चित् जीवः **'सर्वास्वपि पृथिवीषु'** रत्नप्रभादिषु तम-
स्तमापर्यन्तासु सर्वेष्वपि च **'स्थितिविशेषेषु'** जघन्यादिरूपेषु **'असातः'** असातोदयकलित उपपन्नः, उत्पत्तिकालेऽपि प्राग्भवमरण-
कालानुभूतमहादुःखानुवृत्तिभावात्, उत्पत्त्यनन्तरमपि **'असात एव'** असातोदयकलित एव सकलमपि निरयभवं **'त्यजति'** क्षप-
यति, न तु जातुचिदपि सुखलेशमप्यास्वादयति ॥ आह्—किं तत्र कदाचित्सातोदयोऽपि भवति येनेदमुच्यते ?, उच्यते, भवति, तथा
चाह्—**'उववाएण'** इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, उपपातकाले **'सातं'** सातवेदनीयकर्मोदयं कश्चिद्वेदयते, यः प्राग्भवे दाघच्छेदादिव्यतिरेकेण
मरणमुपगतोऽनतिसङ्क्लिष्टाध्यवसायी समुत्पद्यते, तदानीं हि न तस्य प्राग्भवानुबद्धमाधिरूपं दुःखं नापि क्षेत्रस्वभावजं नापि परमा-
धार्म्मिककृतं नापि परस्परोदीरितं तत एवंविधदुःखाभावादसौ सातं कश्चित् वेदयते इत्युच्यते, **'देवकम्मुणा वावि'** इति देवकर्म्मणा

पूर्वसाङ्गतिकदेवप्रयुक्तया क्रियया, तथाहि—गच्छति पूर्वसाङ्गतिको देवः पूर्वपरिचितस्य नैरयिकस्य वेदनोपशमनार्थं यथा **बलदेवः** कृष्णवासुदेवस्य, स च वेदनोपशमो देवकृतो मनाक्कालमात्र एव भवति, तत ऊर्ध्वं नियमात्क्षेत्रस्वभावजाऽन्योऽन्या वा वेदना प्रवर्त्तते, तथास्वाभाव्यात्, **'अज्झवसाणनिमित्त'** मिति अध्यवसाननिमित्तं सम्यक्त्वोत्पादकाले तत ऊर्ध्वं कदाचित्तथाविधविशिष्टशुभाध्यवसायप्रत्ययं कश्चिद् नैरयिको बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽपि सातोदयमेवानुभवति, सम्यक्त्वोत्पादकाले हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव महान् प्रमोद उपजायते, तदुत्तरकालमपि कदाचित्तीर्थकरगुणानुमोदनाद्यनुगतां विशिष्टां भावनां भावयतः, ततो बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽप्यन्तः सातोदयो विजृम्भमाणो न विरुध्यते, **'अहवा कम्माणुभावेण'**मिति अथवा **'कर्म्मानुभावेन'** बाह्यतीर्थकरजन्मदीक्षाज्ञानापवर्गकल्याणसंभूतिलक्षणबाह्यनिमित्तमधिकृत्य तथाविधस्य च सातवेदनीयस्य कर्म्मणोऽनुभावेन—विपाकोदयेन कश्चित्सातं वेदयते, न चैतद्व्याख्यानमनार्षं यत उक्तं **वसुदेवचरिते,** इह नैरयिकाः कुम्भ्यादिषु पच्यमानाः कुन्तादिभिर्भिद्यमाना वा भयोत्रस्तास्तथाविधप्रयत्नवशादूर्ध्वमुत्प्लवन्ते, ततस्तदुत्पातपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—नैरयिकाणां दुःखेनाभिद्रुतानां—सर्वात्मना व्याप्तानां **'वेदनाशतसंप्रगाढानां'** वेदनाशतानि—अपरिमिता वेदनाः संप्रगाढानि—अवगाढानि येषां ते वेदनाशतसंप्रगाढाः सुखादिदर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः, तेषां हेतुहेतुमद्भावश्चात्र, यतो वेदनाशतसंप्रगाढास्ततो दुःखेनाभिद्रुताः, तेषां जघन्यत उत्पातो गव्यूतमात्रम्, एतच्च संप्रदायादवसीयते, तथा च दृश्यते क्वचिदेवमपि पाठः—"नेरइयाणुप्पाओ गाउय उक्कोस॰ पंचजोयणसयाइं" इति, उत्कर्षतः पञ्च योजनशतानि इति। दुःखेनाभिहतानामित्युक्तं ततो दुःखमेव निरूपयति—नरके नैरयिकाणामुष्णवेदनया शीतवेदनया वाऽहर्निशं पच्यमानानां न **'अक्षिनिमीलनमात्रमपि'** अक्षिनिकोचकालमात्रमपि अस्ति सुखं, किन्तु दुःखमेव केवलं **'प्रतिबद्धम्'**

अनुबद्धं सदाऽनुगतमिति भावः ॥ अथ यत्तेषां वैक्रियशरीरं तत्तेषां मरणकाले कथं भवति? इति तन्निरूपणार्थमाह—तैजसकार्म्मणशरीराणि यानि 'सूक्ष्मशरीराणि' (च) सूक्ष्मनामकर्म्मोदयवतां पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीराणि वैक्रियाहारकशरीराणि च तेषामपि प्रायो मांसचक्षुरग्राह्यतया सूक्ष्मत्वात् तथा यानि 'अपर्याप्तानि' अपर्याप्तशरीराणि तानि जीवेन मुक्तमात्राणि सन्ति सहस्रशो भेदं व्रजन्ति विसकलितास्तत्परमाणुसङ्घाता भवन्तीत्यर्थः ॥ एतासामेव गाथानां संग्राहिकां गाथामाह—'एत्थ' इति पदोपलक्षिता प्रथमा द्वितीया 'भिन्नमुहुत्तो' इति तृतीया 'पोग्गला' इति 'जे पोग्गला अणिट्ठा' इत्यादि चतुर्थी 'अशुभा' इति (जे) 'असुभा विउव्वणा खलु' इत्यादि, एवं शेषपदान्यपि भावनीयानि ॥ तृतीयप्रतिपत्तौ तृतीयो नरकोद्देशकः समाप्तः ॥ तदेवमुक्तो नारकाधिकारः, सम्प्रति तिर्यगधिकारो वक्तव्यः, तत्र चेदमादिसूत्रम्—

से किं तं तिरिक्खजोणिया?, तिरिक्खजोणिया पंचविधा पण्णत्ता, तंजहा—एगिंदियतिरिक्खजोणिया बेइंदियतिरिक्खजोणिया तेइंदियतिरिक्खजोणिया चउरिंदियतिरिक्खजोणिया पंचिंदियतिरिक्खजोणियाय। से किं तं एगिंदियतिरिक्खजोणिया?, २ पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया। से किं तं पुढविक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमपुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया बादरपुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया य। से किं तं सुहुमपुढविकाइयएगिंदियतिरि०?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तसुहुम० अपज्जत्तसुहुम० से तं सुहुमा।

से किं तं बादरपुढविकाइय०?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तबादरपु० अपज्जत्तबादरपु०, से तं बायरपुढविकाइयएगिंदिय०। से तं पुढवीकाइयएगिंदिया। से किं तं आउकाइयएगिंदिय०?, २ दुविहा पण्णत्ता, एवं जहेव पुढविकाइयाणं तहेव, वाउकायभेदो एवं जाव वणस्सतिकाइया से तं वणस्सइकाएगिंदियतिरिक्ख०। से किं तं बेइंदियतिरिक्ख०?, २ दुविधा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तकबेइंदियति० अपज्जत्तबेइंदियति०, से तं बेइंदियतिरि० एवं जाव चउरिंदिया। से किं तं पंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया थलयरपंचेंदियतिरिक्खजो० खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया। से किं तं जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य। से किं तं संमुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिता?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगसंमुच्छिम० अपज्जत्तगसंमुच्छिम० जलयरा, से तं संमुच्छिम० पंचिंदियतिरिक्ख०। से किं तं गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, २ दुविधा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगगब्भवक्कंतिय० अपज्जत्तगब्भ० से तं गब्भवक्कंतियजलयर०, से तं जलयरपंचेंदियतिरि०। से किं तं थलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता?, २ दुविधा पण्णत्ता, तंजहा—चउप्पयथलयरपंचेंदिय० परिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता।

से किं तं चउप्पदथलयरपंचिंदिय०? चउप्पय० दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिमचउप्पयथ-
लयरपंचेंदिय० गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता य, जहेव जलयराणं तहेव
चउक्कतो भेदो, सेत्तं चउप्पदथलयरपंचेंदिय०। से किं तं परिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्ख०?,
२ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—उरगपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता भुयगपरिसप्पथलय-
रपंचेंदियतिरिक्खजोणिता। से किं तं उरगपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता?, उरगपरि०
दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—जहेव जलयराणं तहेव चउक्कतो भेदो, एवं भुयगपरिसप्पाणवि भाणि-
तव्वं, से तं भुयगपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता, से तं थलयरपंचेंदियतिरिक्खजो-
णिता। से किं तं खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया?, खह० २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छि-
मखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता गब्भवक्कंतियखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता य। से किं तं
संमुच्छिमखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिता?, संमु० २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगसंमु-
च्छिमखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया अपज्जत्तगसंमुच्छिमखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य,
एवं गब्भवक्कंतियावि जाव पज्जत्तगगब्भवक्कंतियावि जाव अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियावि खहयरपंचें-
दियतिरिक्खजोणियाणं भंते! कतिविधे जोणिसंगहे पण्णत्ते?, गोयमा! तिविहे जोणिसंगहे

पण्णत्ते, तंजहा—अंडया पोयया संमुच्छिमा, अंडया तिविधा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी पुरिसा णपुंसगा, पोतया तिविधा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी पुरिसा णपुंसया, तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसका ॥ (सू० ९६)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते तिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह—तिर्यग्योनिकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—एकेन्द्रिया इत्यादि सूत्रं प्रायः सुगमं केवलं भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेद इति यथाऽवस्थितवाचनाक्रमप्रदर्शनार्थमक्षरसंस्कारमात्रं क्रियते—एकेन्द्रिया यावत्पञ्चेन्द्रियाः । अथ के ते एकेन्द्रियाः ?, एकेन्द्रियाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पृथिवीकायिका यावद्वनस्पतिकायिकाः । अथ के ते पृथिवीकायिकाः ?, पृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च वादरपृथिवीकायिकाश्च । अथ के ते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः ?, सूक्ष्मपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च । अथ के ते वादरपृथिवीकायिकाः ?, वादरपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, एवं तावद्वक्तव्यं यावद्वनस्पतिकायिकाः । अथ के ते द्वीन्द्रियाः ?, द्वीन्द्रिया द्विविधाः प्रज्ञप्ताः—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया अपि वक्तव्याः । अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जलचराः स्थलचराः खचराश्च । अथ के ते जलचराः ?, जलचरा द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संमूर्च्छिमा गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च । अथ के ते संमूर्च्छिमाः ?, संमूर्च्छिमा द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च । अथ

१ अण्डजव्यतिरिक्ता सर्वेऽपि जरायुजा अजरायुजा वा गर्भव्युत्क्रान्तिका पञ्चेन्द्रिया अत्रैवान्तर्भावनीया इति न चतुर्विधा, समाधास्यति चैवमग्रे, केवलमत्र जरायुजतया पक्षिणामप्रसिद्धे न समाधेराद्दति .

के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः ?, गर्भव्युत्क्रान्तिका द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, एवं चतुष्पदा उरःपरिसर्प्पा भुजपरिसर्पाः पक्षिणश्च प्रत्येकं चतुष्प्रकारा वक्तव्याः ॥ सम्प्रति पक्षिणां प्रकारान्तरेण भेदप्रतिपादनार्थमाह—'पक्खि णं (खहयरपंचिंदियतिरि०) भंते !' इत्यादि, पक्षिणां भदन्त ! 'कतिविधः' कतिप्रकारः 'योनिसङ्ग्रहः' योन्या सङ्ग्रहणं योनिसङ्ग्रहो योन्युपलक्षितं ग्रहणमित्यर्थः (प्रज्ञप्तः ?), भगवानाह—गौतम ! त्रिविधो योनिसङ्ग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अण्डजा—मयूरादयः पोतजा—वागुल्यादयः संमूर्च्छिमाः खञ्जरीटादयः, अण्डजास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च, पोतजास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च, तत्र ये ते संमूर्च्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः, संमूर्च्छिमानामवश्यं नपुंसकवेदोदयभावात् ॥

एतेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ॥ ते णं भंते ! जीवा किं सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी ?, गोयमा ! सम्मदिट्ठीवि मिच्छदिट्ठीवि सम्मामिच्छदिट्ठीवि ॥ ते णं भंते ! जीवा किं णाणी अण्णाणी ?, गोयमा ! णाणीवि अण्णाणीवि तिण्णि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ॥ ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी ?, गोयमा ! तिविधावि ॥ ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?, गोयमा ! सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि ॥ ते णं भंते ! जीवा कओ उववज्जंति किं नेरतिएहिंतो उव० तिरिक्खजोणिएहिंतो उव० ?, पुच्छा, गोयमा ! असंखेज्जवासाउयअकम्मभूमगअंतरदीवगवज्जेहिंतो उववज्जंति ॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं

केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं ॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति समुग्घाता पण्णत्ता?, गोयमा! पंच समुग्घाता पण्णत्ता, तंजहा—वेदणासमुग्घाए जाव तेयासमुग्घाए ॥ ते णं भंते! जीवा मारणांतियसमुग्घाएणं किं समोहता मरंति असमोहता मरंति?, गोयमा! समोहतावि म० असमोहयावि मरंति ॥ ते णं भंते! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति? कहिं उववज्जंति?—किं नेरतिएसु उववज्जंति? तिरिक्ख० पुच्छा, गोयमा! एवं उव्वट्टणा भाणियव्वा जहा वक्कंतीए तहेव ॥ तेसि णं भंते! जीवाणं कति जातीकुलकोडिजोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! बारस जातीकुलकोडीजोणीपमुहसयसहस्सा ॥ भुयगपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! कतिविधे जोणीसंगहे पण्णत्ते?, गोयमा! तिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते, तंजहा—अंडगा पोयगा संमुच्छिमा, एवं जहा खहयराणं तहेव, णाणत्तं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, उव्वट्टित्ता दोच्चं पुढविं गच्छंति, णव जातीकुलकोडीजोणीपमुहसतसहस्सा भवंतीति मक्खायं, सेसं तहेव ॥ उरगपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! पुच्छा, जहेव भुयगपरिसप्पाणं तहेव, णवरं ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी, उव्वट्टित्ता जाव पंचमिं पुढविं गच्छंति, दस जातीकुलकोडी ॥ चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्ख० पुच्छा, गोयमा! दुविधे पण्णत्ते, तंजहा—

जराउया (पोयया) य संमुच्छिमा य, (से किं तं) जराउया (पोयया)?, २ तिविधा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी पुरिसा णपुंसका, तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसया । तेसि णं भंते! जीवाणं कति लेस्साओ पण्णत्ताओ?, सेसं जहा पक्खीणं, णाणत्तं ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं, उव्वट्टित्ता चउत्थिं पुढविं गच्छंति, दस जातीकुलकोडी ॥ जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, जहा भुयगपरिसप्पाणं णवरं उव्वट्टित्ता जाव अधेसत्तमं पुढविं अद्धतेरस जातीकुलकोडीजोणीपमुह० जाव प० ॥ चउरिंदियाणं भंते! कति जातीकुलकोडीजोणीपमुहसंतसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! नव जाईकुलकोडीजोणीपमुहसयसहस्सा [जाव] समक्खाया। तेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा! अट्ठजाईकुल जावमक्खाया। बेइंदियाणं भंते! कइ जाई०?, पुच्छा, गोयमा! सत्त जाईकुलकोडीजोणीपमुह० ॥ (सू० ९७)

"एएसि ण'मित्यादि, 'एतेषां' पक्षिणां भदन्त! जीवानां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! षड् लेश्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या, तेषां द्रव्यतो भावतो वा सर्वा लेश्याः, परिणामसम्भवात् ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते भदन्त! पक्षिणो जीवाः किं सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्च?, भगवानाह—गौतम! त्रिविधा अपि ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते भदन्त! जीवाः किं ज्ञानिनोऽज्ञानिनः?, भगवानाह—गौतम! द्वयेऽपि, ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽपीत्यर्थः, तत्र ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानिनस्त्रिज्ञानिनो वा येऽप्यज्ञानिनस्तेऽपि द्व्यज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनो वा ॥ 'ते ण'मित्यादि, ते भदन्त! जीवाः किं मनोयोगिनो वाग्योगिनः काययो-

गिनः ?, भगवानाह—गौतम ! त्रयोऽपि ॥ 'ते णं भंते !' इत्यादि, ते भदन्त ! जीवाः किं साकारोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ताः ?, भगवानाह—द्वयेऽपि, साकारोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ताश्चेत्यर्थः ॥ 'ते णं भंते !' इत्यादि, ते भदन्त ! पक्षिणो जीवाः कुत उत्पद्यन्ते ? नैरयिकेभ्य इत्यादि यथा **प्रज्ञापनायां** व्युत्क्रान्तिपदे तथा द्रष्टव्यम् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां भदन्त ! पक्षिणां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां भदन्त ! जीवानां कति समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम ! पञ्च समुद्घाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—वेदनासमुद्घातः कपायसमुद्घातो मारणान्तिकसमुद्घातो वैक्रियसमुद्घातस्तैजससमुद्घातश्च ॥ 'ते णं भंते !' इत्यादि, ते भदन्त ! जीवा मारणान्तिकसमुद्घातेन किं समवहता म्रियन्ते असमवहता म्रियन्ते ?, भगवानाह—गौतम ! समवहता अपि म्रियन्ते असमवहता अपि म्रियन्ते ॥ 'ते णं भंते !' इत्यादि, ते भदन्त ! जीवा अनन्तरमुद्वृत्त्य क्व गच्छन्ति ?, एतदेव व्याचष्टे—'एवं उव्वट्टणा' इत्यादि, यथा **द्विविधप्रतिपत्तौ** तथा द्रष्टव्यम् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां भदन्त ! जीवानां 'कति' किंप्रमाणानि जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि—योनिप्रवाहानि शतसहस्राणि योनिप्रमुखशतसहस्राणि जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि भवन्ति ?, भगवानाह—द्वादश जातिकुलकोटीयोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तत्र जातिकुलयोनीनामिदं परिस्थूरमुदाहरणं पूर्वाचार्यैरुपादर्शि—जातिरिति किल तिर्यग्जातिस्तस्याः कुलानि—कृमिकीटवृश्चिकादीनि, इमानि च कुलानि योनिप्रमुखाणि, तथाहि—एकस्यामेव योनौ अनेकानि कुलानि भवन्ति, तथाहि—छगणयोनौ कृमिकुलं कीटकुलं वृश्चिककुलमित्यादि, अथवा जातिकुलमित्येकं पदं, जातिकुलयोन्योश्च परस्परं विशेषः एकस्यामेव योनावनेकजातिकुलसम्भवात्, तद्यथा—एकस्यामेव छग-

१ व्युत्क्रान्तिपदवत्तत्र भणितत्वात् वृत्तौ यथार्थं, मूले तु प्रज्ञापनाया व्युत्क्रान्तिपद एव यथायथ सूत्रमिति वक्तीएत्ति सूत्रं.

णयोनौ कृमिजातिकुलं कीटजातिकुलं वृश्चिकजातिकुलमित्यादिं, एवं चैकस्यामेव योनाववान्तरजातिभेदभावादनेकानि योनिप्रवाहाणि
जातिकुलानि संभवन्तीत्युपपद्यते, खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजानां द्वादश जातिकुलकोटिशतसहस्राणि, अत्र सङ्ग्रहणिगाथा—“जोणी-
संगहलेस्सादिट्ठी नाणे य जोग उवओगे । उववायठिईसमुग्घाय चयणं जाई कुलविही उ ॥ १ ॥” अस्या अक्षरगमनिका—प्रथमं योनि-
सङ्ग्रहद्वारं ततो लेश्याद्वारं ततो दृष्टिद्वारमित्यादि ॥ **‘भुयगाणं भंते!’** इत्यादि, भुजगानां भदन्त! कतिविधो योनिसङ्ग्रहः प्रज्ञप्तः?,
इत्यादि पक्षिवत् सर्वं—निरवशेषं वक्तव्यं, नवरं स्थितिच्यवनकुलकोटिषु नानात्वं, तद्यथा—स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पूर्वकोटी,
च्यवनम्—उद्वर्त्तना, तत्र नरकगतिचिन्तायामधो यावद्द्वितीया पृथिवी उपरि यावत्सहस्रारः कल्पस्तावदुत्पद्यते, नव तेषां जातिकुलको-
टियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवमुरःपरिसर्पाणामपि वक्तव्यं, नवरं तत्र च्यवनद्वारेऽधश्चिन्तायां यावत्पञ्चमी पृथिवीति
वक्तव्यं, कुलकोटिचिन्तायां दश जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ **‘चउप्पयाण’**मित्यादि, चतुष्पदानां भदन्त!
कतिविधो योनिसङ्ग्रहः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! द्विविधो योनिसङ्ग्रहः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—पोतजाः संमूर्च्छिमाश्च, इह येऽण्डजव्यति-
रिक्ता गर्भव्युत्क्रान्तास्ते सर्वे जरायुजा अजरायुजा वा पोतजा इति [पूर्वमपि विवक्षिताः परमत्र तु सर्वेऽपि गर्भव्युत्क्रान्तिकाः पोत-
जतया] विवक्षितमतोऽत्र द्विविधो यथोक्तस्वरूपो योनिसङ्ग्रह उक्तः, अन्यथा गवादीनां जरायुजत्वात् (सर्पादीनामण्डजत्वात्) तृती-
योऽपि जरायु(अण्डज)लक्षणो योनिसङ्ग्रहो वक्तव्यः स्यादिति, तत्र ये ते पोतजास्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च,
तत्र ये ते संमूर्च्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः, शेषद्वारकलापः पूर्ववत्, नवरं स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, च्यवनद्वारे-
ऽधश्चिन्तायां यावच्चतुर्थी पृथिवी ऊर्ध्वं यावत्सहस्रारः, जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राण्यत्रापि दश ॥ **‘जलचराणा’**मित्यादि, जल-

चराणां भदन्त! कतिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! त्रिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः संमूर्छिमाश्च, अण्डजास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च, पोतजास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च, ये ते संमूर्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः, शेषद्वारकलापचिन्ता प्राग्वत्, नवरं स्थितिच्यवनजातिकुलकोटिषु नानात्वं, स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त-मुत्कर्षतः पूर्वकोटी, च्यवनद्वारेऽधश्चिन्तायां यावत्सप्तमी ऊर्ध्वं यावत्सहस्रारः, कुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि अर्धत्रयोदश सार्धानि द्वादशेत्यर्थः ॥ 'चउरिंदियाण'मित्यादि, चतुरिन्द्रियाणां भदन्त! कति जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—नव जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, एवं त्रीन्द्रियाणामष्टौ जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि, द्वीन्द्रियाणां सप्त जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। इह जातिकुलकोट्यो योनिजातीयाभिधानप्रसङ्गतो गन्धाङ्गानि भिन्नजातीयत्वात् प्ररूपयति—

कइ णं भंते! गंधा पण्णत्ता? कइ णं भंते! गंधसया पण्णत्ता?, गोयमा! सत्त गंधा सत्त गंधसया पण्णत्ता ॥ कइ णं भंते! पुप्फजाई कुलकोडीजोणिपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता?, गोयमा! सोलसपुप्फजातीकुलकोडीजोणीपमुहसयसहस्सा पण्णत्ता, तंजहा—चत्तारि जलयराणं चत्तारि थलयराणं चत्तारि महारुक्खियाणं चत्तारि महागुम्मियाणं ॥ कति णं भंते! वल्लीओ कति वल्लिसता पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि वल्लीओ चत्तारि वल्लीसता पण्णत्ता ॥ कति णं भंते! लताओ कति लतासता पण्णत्ता?, गोयमा! अट्ठ लयाओ अट्ठ लतासता पण्णत्ता ॥ कति णं भंते! हरितकाया हरितकाय...

भंते! हरियकाया हरियकायसया पण्णत्ता ?, गोयमा ! तओ हरियकाया तओ हरियकायसया पण्णत्ता, फलसहस्सं च बिंटबद्धाणं फलसहस्सं च णालबद्धाणं, ते सव्वे हरितकायमेव समोयरंति, ते एवं समणुगम्ममाणा २ एवं समणुगाहिज्जमाणा २ एवं समणुपेहिज्जमाणा २ एवं समणुचिंतिज्जमाणा २ एएसु चेव दोसु काएसु समोयरंति, तंजहा—तसकाए चेव थावरकाए चेव, एवमेव सपुव्वावरेणं आजीवियदिट्ठंतेणं चउरासीति जातिकुलकोडीजोणीपमुहसतसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ (सू० ९८)

'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! गन्धाङ्गानि, क्वचिद् गन्धा इति पाठस्तत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् गन्धा इति गन्धाङ्गानीति द्रष्टव्यं प्रज्ञप्तानि ?, तथा कति गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम! सप्त गन्धाङ्गानि सप्त गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञप्तानि, इह सप्त गन्धाङ्गानि परिस्थूरजातिभेदादमूनि, तद्यथा—मूलं त्वक् काष्ठं निर्यासः पत्रं पुष्पं फलं च, तत्र मूलं मुस्तावालुकोशीरादि, त्वक् सुवर्णछल्लीत्वचाप्रभृति, काष्ठं चन्दनागुरुप्रभृति, निर्यासः कर्पूरादिः, पत्रं जातिपत्रतमालपत्रादि, पुष्पं प्रियङ्गुनागरपुष्पादि, फलं जातिफलकर्कोलकैलालवङ्गप्रभृति, एते च वर्णमधिकृत्य प्रत्येकं कृष्णादिभेदात्पञ्चपञ्चभेदा इति वर्णपञ्चकेन गुण्यन्ते जाताः पञ्चत्रिंशत्, गन्धचिन्तायामेते सुरभिगन्धय एवेत्येकेन गुणिताः पञ्चत्रिंशत् जाताः पञ्चत्रिंशदेव **'एकेन गुणितं तदेव भवती'**ति न्यायात्, तत्राप्येकैकस्मिन् वर्णभेदे रसपञ्चकं द्रव्यभेदेन विविक्तं प्राप्यते इति सा पञ्चत्रिंशत् रसपञ्चकेन गुण्यते जाताः पञ्चसप्ततिशतं, स्पर्शाश्च यद्यप्यष्टौ भवन्ति तथाऽपि गन्धाङ्गेषु यथोक्तरूपेषु प्रशस्या व्यवहारतश्चत्वार एव मृदुलघुशीतोष्णरूपास्ततः पञ्चसप्ततं शतं स्पर्शचतु-

ष्टयेन गुण्यते जातानि सप्त शतानि, उक्तञ्च—"मूलतयकट्ठनिज्जासपत्तपुप्फफलमेय गंधंगा। वण्णादुत्तरभेया गंधंगसया मुणेयव्वा ॥ १ ॥" अस्य व्याख्यानरूपं गाथाद्वयम्—"मुत्थासुवण्णछल्ली अगुरू वाला तमालपत्तं च । तह य पियंगू जाईफलं च जाईएँ गंधगा ॥ १ ॥ गुणणाए सत्त सया पंचहिं वण्णेहि सुरभिगंधेणं । रसपणएणं तह फासेहि य चउहिं मित्ते(पसत्थे)हि ॥ २ ॥" अत्र 'जाईए गंधंगा' इति जात्या जातिभेदेनामूनि गन्धाङ्गानि, शेषं भावितम् ॥ 'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! पुष्पजातिकुलकोटिशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! षोडश पुष्पजातिकुलकोटिशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—चत्वारि 'जलजानां' पद्मानां जातिभेदेन, तथा चत्वारि 'स्थलजानां' कोरण्टकादीनां जातिभेदेन, चत्वारि महागुल्मिकादीनां जात्यादीनां, चत्वारि 'महावृक्षाणां' मधुकादीनामिति ॥ 'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! वल्ल्यः? कति वल्लिशतानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चतस्रो वल्ल्यस्त्र-पुष्यादिमूलभेदेन, ताश्च मूलटीकाकृता वैविक्त्येन न व्याख्याता इति संप्रदायादवसेयाः, चत्वारि वल्लिशतान्येवावान्तरजातिभेदेन ॥ 'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! लताः कति लताशतानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! अष्टौ लता या मूलभेदेन ता अपि संप्रदायादवसातव्याः, मूलटीकाकारेणाव्याख्यानात्, अष्टौ लताशतानि प्रज्ञप्तानि, अवान्तरजातिभेदेन ॥ 'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! हरितकायाः कति हरितकायशतानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! त्रयो हरितकायाः प्रज्ञप्ताः—जलजाः स्थलजा उभयजाः, एकैकस्मिन् शतमवान्तरभेदानामिति, त्रीणि हरितकायशतानि । 'फलसहस्सं चे'त्यादि, फलसहस्रं च 'वृन्तबन्धानां' वृन्ताकप्रभृतीनां फलसहस्रं च नालबद्धानां, 'तेऽवि सव्वे' इत्यादि, तेऽपि सर्वे भेदा अपिशब्दादन्येऽपि तथाविधाः 'हरितकायमेव समवतरन्ति' हरितकायेऽन्तर्भवन्ति हरितकायोऽपि वनस्पतौ वनस्पतिरपि स्थावरेषु स्थावरा अपि जीवेषु, तत एवं समनुगम्यमाना २ स्तथा जात्यन्तर्भा-

समनुप्रेक्ष्यमाणाः समनुमाह्यमाणाः परेण सूत्रत एव, तथा समनुप्रेक्ष्यमाणाः समनुप्रेक्ष्यमाणा अनु-
वेन स्वत एव सूत्रतः, तथा समनुचिन्त्यमानाः समनुचिन्त्यमानास्तथा तथा तन्त्रयुक्तिभिः, एतयोरेव द्वयोः काययोः समवतरन्ति,
प्रेक्षया अर्थालोचनरूपया, तथा समनुचिन्त्यमानाः समनुचिन्त्यमानास्तथा तथा तन्त्रयुक्तिभिः, 'एवमेव' उक्तेनैव प्रकारेण 'सपुव्वावरेणं' पूर्वं चापरं च पूर्वापरं सह पू-
तद्यथा—त्रसकाये च स्थावरकाये च, 'एवामेव' इत्यादि, 'एवमेव' उक्तेनैव प्रकारेण 'सपुव्वावरेणं' पूर्वं चापरं च पूर्वापरं सह पू-
र्वापरं येन स सपूर्वापरः उक्तप्रकारस्तेन, उक्तविषयपौर्वापर्यालोचनयेति भावार्थः, 'आजीवगदिट्ठंतेणं'ति आ—सकलजगदभिव्याप्त्या
जीवानां यो दृष्टान्तः—परिच्छेदः स आजीवदृष्टान्तस्तेन सकलजीवदर्शनेनेत्यर्थः, आह च मूलटीकाकारः—"आजीवदृष्टान्तेन सक-
लजीवनिदर्शनेने"ति, चतुरशीतिजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च ऋषभादिभिरिति, अत्र चतुरशी-
तिसङ्ख्योपादानमुपलक्षणं, तेनान्यान्यपि जातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि वेदितव्यानि, तथाहि—पक्षिणां द्वादश जातिकुलकोटि-
योनिप्रमुखशतसहस्राणि भुजगपरिसर्पाणां नव उरगपरिसर्पाणां दश चतुष्पदानां दश जलचराणामर्द्धत्रयोदशानि चतुरिन्द्रियाणां नव
त्रीन्द्रियाणामष्टौ द्वीन्द्रियाणां सप्त पुष्पजातीनां षोडश, एतेषां चैकत्र मीलने त्रिनवतिजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि सार्द्धानि
भवन्ति, ततश्चतुरशीतिसङ्ख्योपादानमुपलक्षणमवसेयं, न चैतद् व्याख्यानं स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत उक्तं चूर्णौ—'आजीवगदिट्ठं-
तेणं'ति अशेषजीवनिदर्शनेन चउरासीजातिकुलकोडि योनिप्रमुखशतसहस्रा एतत्प्रमुखा अन्येऽपि विद्यन्ते इति ॥ कुलकोटिविचारणे
विशेषाधिकाराद्विमानान्यप्यधिकृत्य विशेषप्रश्नमाह—

अत्थि णं भंते! विमाणाइं सोत्थीयाणि सोत्थियावत्ताइं सोत्थियपभाइं सोत्थियकन्ताइं सो-

१ टीकाकृदभिप्रायेण अच्चियाइं अच्चियावत्ताइं इत्यादि पाठसंभव

त्थियवन्नाइं सोत्थियलेसाइं सोत्थियज्झयाइं सोत्थिसिंगाराइं सोत्थिकूडाइं सोत्थिसिट्ठाइं सोत्थुत्तरवडिंसगाइं?, हंता अत्थि। ते णं भंते! विमाणा केमहालता प०? गोयमा! जावतिए णं सूरिए उदेति जावइएणं च सूरिए अत्थमति एवतिया तिण्णोवासंतराइं अत्थेगतियस्स देवस्स एगे विक्कमे सिता, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए जाव दिव्वाए देवगतीए वीतीवयमांणे २ जाव एकाहं वा दुयाहं वा उक्कोसेणं छम्मासा वितीवएज्जा, अत्थेगतिया विमाणं वितीवइज्जा अत्थेगतिया विमाणं नो वीतीवएज्जा, एमहालता णं गोयमा! ते विमाणा पण्णत्ता, अत्थि णं भंते! विमाणाइं अंचीणि अच्चिरावत्ताइं तहेव जाव अच्चुत्तरवडिंसगातिं?, हंता अत्थि, ते विमाणा केमहालता पण्णत्ता?, गोयमा! एवं जहा सोत्थी(याई)णि णवरं एवतियाइं पंच उवासंतराइं अत्थेगतियस्स देवस्स एगे विक्कमे सिता सेसं तं चेव॥ अत्थि णं भंते! विमाणाइं कामाइं कामावत्ताइं जाव कामुत्तरवडिंसयाइं?, हंता अत्थि, ते णं भंते! विमाणा केमहालया पण्णत्ता?, गोयमा! जहा सोत्थीणि णवरं सत्त उवासंतराइं विक्कमे सेसं तहेव॥ अत्थि णं भंते! विमाणाइं विजयाइं वेजयंताइं जयंताइं अपराजिताइं?, हंता अत्थि, ते णं भंते! विमाणा के०?, गोयमा! जाव-

१ सोत्थियाइ इत्यादि टीकाकृदभिप्रायेण पाठोऽत्र.

तिए सूरिए उदेइ एवइयाइं नव ओवासंतराइं, सेसं तं चेव, नो चेव णं ते विमाणे वीईवएज्जा एमहालया णं विमाणा पण्णत्ता, समणाउसो! ॥ (सू० ९९) तिरिक्खजोणियउद्देसओ पढमो ॥

'**अत्थि णं भंते**' इत्यादि, अस्तीति निपातो बह्वर्थे '**सन्ति**' विद्यन्ते णमिति वाक्यालङ्कारे '**विमानानि**' विशेषतः पुण्यप्राणिभिर्मन्यन्ते—तद्गतसौख्यानुभवनेनानुभूयन्ते इति विमानानि, तान्येव नामग्राहमाह—अर्चींषि—अर्चिर्नामानि, एवमर्चिरावर्त्तानि अर्चिःप्रभाणि अर्चिःकान्तानि अर्चिर्वर्णानि अर्चिर्लेश्यानि अर्चिर्ध्वजानि अर्चिःशृङ्गा(राणि) अर्चिःसृ(शि)ष्टानि अर्चिःकूटानि अर्चिरुत्तरावतंसकानि सर्वसङ्ख्यया एकादश नामानि, भगवानाह—'**हंता अत्थि**' हंतेति प्रत्यवधारणे अस्तीति निपातो बह्वर्थे सन्त्येवैतानि विमानानीति भावः। '**केमहालया ण**'मित्यादि, किंमहान्ति कियत्प्रमाणमहत्त्वानि णमिति पूर्ववत् भदन्त! तानि विमानानि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! '**जाव य उएइ सूरो**' इत्यादि, जम्बूद्वीपे सर्वोत्कृष्टे दिवसे सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानः सूर्यो यावति क्षेत्रे उदेति यावति च क्षेत्रे सूर्योऽस्तमुपयाति, एतावन्ति त्रीणि अवकाशान्तराणि, उदयास्तमितप्रमितमधिकृतं क्षेत्रं त्रिगुणमित्यर्थः, अस्त्येतद्—बुद्ध्या परिभावनीयमेतद् यथैकस्य विवक्षितस्य देवस्यैको विक्रमः स्यात्, तत्र जम्बूद्वीपे सर्वोत्कृष्टे दिवसे सूर्य उदेति सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके योजनानामेकस्य च योजनस्यैकविंशतिः षष्टिभागा एतावति क्षेत्रे, उक्तञ्च—"सीयालीससहस्सा, दोण्णि सया जोयणाण तेवट्ठी। इगवीस सट्ठिभागा कक्कडमाइंमि पेच्छ नरा ॥ १ ॥" ४७२६३$\frac{२१}{६०}$, एतावत्येव क्षेत्रे तस्मिन् सर्वोत्कृष्टे दिवसेऽस्तमुपयाति, तत एतत्क्षेत्रं द्विगुणीकृतमुदयास्तापान्तरालप्रमाणं भवति, तच्चैतावत्—चतुर्नवतिः सहस्राणि पञ्च शतानि षड्विंशत्यधिकानि योजनानामेकस्य च योजनस्य [च] द्वाचत्वारिंशत्षष्टिभागाः ९४५२६$\frac{४२}{६०}$ एतावत्त्रिगुणीकृतं यथोक्तविमानपरिमाणक-

रणाय देवस्यैको विक्रमः परिकल्प्यते, स चैवंप्रमाणः—द्वे लक्षे त्र्यशीतिः सहस्राणि पञ्च शतानि अशीत्यधिकानि योजनानाम् एकस्य च योजनस्य षष्टिभागाः षट् २८३५८० $\frac{6}{60}$ इति ॥ **'से णं देवे'** इत्यादि, 'सः'विवक्षितो देवः **'तया'** सकलदेवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया त्वरितया चपलया चण्डया शीघ्रया उद्धतया जवनया छेकया दिव्यया देवगत्या, अमीषां पदानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः, व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् जघन्यत एकाहं वा द्व्यहं वा यावदुत्कर्षतः षण्मासान् यावद् **'व्यतिव्रजेत्'** गच्छेत्, तत्रैवं गमने अ [ग्रन्थाग्रम् ४०००] स्त्येतद् यथैकं किञ्चन विमानं पूर्वोक्तानां विमानानां मध्ये **'व्यतिव्रजेत्'** अतिक्रामेत्, तस्य पारं लभेतेति भावः, तथाऽस्त्येतद् यथैककं विमानं न व्यतिव्रजेत्, न तस्य पारं लभेत, उभयत्रापि जातावेकवचनं, ततोऽयं भावार्थः—उक्तप्रमाणेनापि क्रमेण यथोक्तरूपयाऽपि च गत्या षण्मासानपि यावदधिकृतो देवो गच्छति तथापि केषाञ्चिद्विमानानां पारं लभते केषाञ्चित्पारं न लभते इति, एतावन्महान्ति तानि विमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ **'अत्थि णं भंते!'** इत्यादि, सन्ति भदन्त! विमानानि स्वस्तिकानि स्वस्तिकावर्त्तानि स्वस्तिकप्रभाणि स्वस्तिककान्तानि स्वस्तिकवर्णानि स्वस्तिकलेश्यानि स्वस्तिकध्वजानि स्वस्तिकशृङ्गाराणि स्वस्तिकशिष्टानि स्वस्तिककूटानि स्वस्तिकोत्तरावतंसकानि?, **'हंता अत्थि'** इत्यादि, समस्तं प्राग्वत्, नवरमत्र **'एवइयाइं पंच ओवासंतराइं'** इति कण्ठ्यं, उदयास्तापान्तरालक्षेत्रं पञ्चगुणं क्रियत इति भावः ॥ **'अत्थि णं भंते!'** इत्यादि, सन्ति भदन्त! विमानानि कामानि कामावर्तानि कामप्रभाणि कामकान्तानि कामवर्णानि कामलेश्यानि कामध्वजानि कामशृङ्गाराणि कामशिष्टानि कामकूटानि कामोत्तरावतंसकानि?, **'हंता अत्थि'** इत्यादि सर्वं पूर्ववत् नवरमत्रोदयास्तापान्तरालक्षेत्रं सप्तगुणं कर्त्तव्यं, शेषं तथैव ॥ **'अत्थि णं भंते!'** इत्यादि, सन्ति भदन्त! विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानि विमानानि?, **'हंता अत्थी'**त्यादि प्राग्वत्, नवरमत्र **'एवइयाइं**

नव ओवासंतराइं' इति वक्तव्यं शेषं तथैव, उक्तञ्च—"जावइ उदेइ सूरो जावइ सो अत्थमेइ अवरेणं । तियपणसत्तनवगुणं काउं पत्तेय पत्तेयं ॥ १ ॥ सीयालीस सहस्सा दो य सया जोयणाण तेवट्ठा । इगवीस सट्ठिभागा कक्खडमाइंमि पेच्छ नरा ॥ २ ॥ एयं दुगुणं काउं गुणिज्जए तिपणसत्तमाईहिं । आगयफलं च जं तं कमपरिमाणं वियाणाहि ॥ ३ ॥ चत्तारिवि सकमेहिं चंडादिगईहिं जंति छम्मासं । तहवि य न जंति पारं केसिंचि सुरा विमाणाणं ॥ ४ ॥" अस्यां तृतीयप्रतिपत्तौ तिर्यग्योन्यधिकारे प्रथमोद्देशकः ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, इदानी द्वितीयस्यावसरः, तत्रेदमादिसूत्रम्—

कतिविहा णं भंते! संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता?, गोयमा! छव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया। से किं तं पुढविकाइया?, पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमपुढविकाइया बादरपुढविकाइया य। से किं तं सुहुमपुढविकाइया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, सेत्तं सुहुमपुढविकाइया। से किं तं बादरपुढविकाइया?, २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, एवं जहा पण्णवणापदे, सण्हा सत्तविधा पण्णत्ता, खरा अणेगविहा पन्नत्ता, जाव असंखेज्जा, से त्तं बादर पुढविकाइया। सेत्तं पुढविकाइया। एवं चेव जहा पण्णवणापदे तहेव निरवसेसं भाणितव्वं जाव वणप्फतिकाइया, एवं जाव जत्थेको तत्थ सिता संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिता अणंता, सेत्तं बादरवणप्फतिकाइया, से तं वणस्सइकाइया। से किं तं तसकाइया?, २ चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—बेइंदिया तेइंदिया च-

उरिंदिया पंचेंदिया । से किं तं बेइंदिया?, २ अणेगविधा पण्णत्ता, एवं जं चेव पण्णवणापदे तं चेव निरयसेसं भाणितव्वं जाव सव्वट्ठसिद्धगदेवा, सेतं अणुत्तरोववाइगा, से तं देवा, से तं पंचेंदिया, से तं तसकाइया ॥ (सू० १००)

'कइविहा ण'मित्यादि, कतिविधा भदन्त! संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! षड्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका अप्कायिका यावत्त्रसकायिकाः। अथ के ते पृथिवीकायिकाः?, इत्यादि प्रज्ञापनागतं प्रथमं प्रज्ञापनापदं निरवशेषं वक्तव्यं यावदन्तिमं 'से तं देवा' इति पदम् ॥ सम्प्रति विशेषाभिधानाय भूयोऽपि पृथिवीकायविषयं सूत्रमाह—

कतिविधा णं भंते! पुढवी पण्णत्ता?, गोयमा! छव्विहा पुढवी पण्णत्ता, तंजहा—सण्हापुढवी सुद्धपुढवी वालुयापुढवी मणोसिलापु० सक्करापु० खरपुढवी ॥ सण्हापुढवीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्कोसेणं एगं वाससहस्सं । सुद्धपुढवीए पुच्छा, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० बारस वाससहस्साइं । वालुयापुढवीपुच्छा, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० चोद्दस वाससहस्साइं । मणोसिलापुढवीणं पुच्छा, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० सोलस वाससहस्साइं । सक्करापुढवीए पुच्छा, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० अट्ठारस वाससहस्साइं । खरपुढविपुच्छा, गोयमा! जह० अंतोमु० उक्को० बावीस वाससहस्साइं ॥ नेरइयाणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! जह० दस वाससहस्साइं

उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती, एयं सव्वं भाणियव्वं जाव सव्वट्ठसिद्धदेवत्ति ॥ जीवे णं भंते! जीवेत्ति कालतो केवचिरं होइ?, गोयमा! सव्वद्धं, पुढविकाइए णं भंते! पुढविकाइएत्ति कालतो केवचिरं होति?, गोयमा! सव्वद्धं, एवं जाव तसकाइए ॥ (सू० १०१)। पडुप्पन्नपुढविकाइया णं भंते! केवतिकालस्स णिल्लेवा सिता?, गोयमा! जहण्णपदे असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं उक्कोसपए असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं, जहन्नपदातो उक्कोसपए असंखेज्जगुणा, एवं जाव पडुप्पन्नवाउक्काइया ॥ पडुप्पन्नवणप्फइकाइयाणं भंते! केवतिकालस्स निल्लेवा सिता?, गोयमा! पडुप्पन्नवण० जहण्णपदे अपदा उक्कोसपदे अपदा, पडुप्पन्नवणप्फतिकाइयाणं णत्थि निल्लेवणा ॥ पडुप्पन्नतसकाइयाणं पुच्छा, जहण्णपदे सागरोवमसतपुहुत्तस्स उक्कोसपदे सागरोवमसतपुहुत्तस्स, जहण्णपदा उक्कोसपदे विसेसाहिया ॥ (सू० १०२)

'कइविहा ण'मित्यादि, कतिविधा णमिति पूर्ववत्, भदन्त! पृथिवी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—'श्लक्ष्णपृथिवी' मृद्वी चूर्णितलोष्टकल्पा, 'शुद्धपृथिवी' पर्वतादिमध्ये, मनःशिला—लोकप्रतीता, वालुका—सिकतारूपा, शर्करा—मुरुण्डपृथिवी, 'खरापृथिवी' पाषाणादिरूपा ॥ अधुना एतासामेव स्थितिनिरूपणार्थमाह—'सण्हपुढवीकाइयाण'मित्यादि, श्लक्ष्णपृथिवीकायिकानां भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत एकं वर्षसहस्रं । एवमनेनाभिलापेन शेषाणामपि पृथिवीनामनया गाथया उत्कृष्टमनुगन्तव्यं, तामेव गाथामाह—'सण्हा य'इत्यादि, (सण्हा य सुद्धवालुअ मणोसिला

सक्करा य खरपुढवी । इगबारचोद्दससोलढारबावीससमसहस्सा ॥ १ ॥) श्लक्ष्णपृथिव्या एकं वर्षसहस्रमुत्कर्षतः स्थितिः, शुद्धपृथिव्या द्वादश वर्षसहस्राणि, वालुकापृथिव्याश्चतुर्दश सहस्राणि, मनःशिलापृथिव्याः षोडश वर्षसहस्राणि, शर्करापृथिव्या अष्टादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिव्या द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, सर्वासामपि चामीषां पृथिवीनां जघन्येन स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं वक्तव्या ॥ सम्प्रति स्थितिनिरूपणाप्रस्तावान्नैरयिकादीनां चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण स्थितिं निरूपयितुकाम आह—'नेरइयाणं भंते!' इत्यादि, नैरयिकाणां भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, इत्येवं प्रज्ञापनागतस्थितिपदानुसारेण चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत्सर्वार्थसिद्धविमानदेवानां स्थितिनिरूपणा, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते ॥ तदेवं भवस्थितिनिरूपणा कृता, सम्प्रति कायस्थितिनिरूपणार्थमाह—'जीवे णं भंते!' इत्यादि, अथ कायस्थितिरिति कः शब्दार्थः?, उच्यते, कायो नाम जीवस्य विवक्षितः सामान्यरूपो विशेषरूपो वा पर्यायविशेषस्तस्मिन् स्थितिः कायस्थितिः, किमुक्तं भवति?—यस्य वस्तुनो येन पर्यायेण—जीवत्वलक्षणेन पृथिवीकायादित्वलक्षणेन वाऽऽदिश्यते व्यवच्छेदेन यद्भवनं सा कायस्थितिः, तत्र जीव इति "जीव प्राणधारणे" जीवति—प्राणान् धारयतीति जीवः, प्राणाश्च द्विधा—द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च, तत्र द्रव्यप्राणा आयुःप्रभृतयः, उक्तञ्च—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" भावप्राणा ज्ञानादयः यैर्मुक्तोऽपि जीवतीति व्यपदिश्यते, उक्तञ्च—"ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि"ति, इह च विशेषानुपादानादुभयेषामपि ग्रहणं णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! जीव इति—जीवनपर्यायविशिष्टः कालतः—कालमधिकृत्य कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—सर्वाद्धां, संसार्यवस्थायां द्रव्यभावप्राणानधिकृत्य मुक्त्यवस्थायां भावप्राणानधिकृत्य सर्वत्रापि जीवनस्य विद्यमानत्वात्, अथवा जीव इति न एकः

प्रतिनियतो जीवो विवक्ष्यते किन्तु जीवसामान्यं, ततः प्राणधारणलक्षणजीवनाभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोषः, तथाहि—'**जीवे णं भंते!**' इत्यादि, जीवो णमिति पूर्ववद् भदन्त! जीव इति—जीवन्निति प्राणान् धारयन्नित्यर्थः कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! सर्वाद्धां, जीवसामान्यस्यानाद्यनन्तत्वात्, न चैतद् व्याख्यानं स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत उक्तं **मूलटीकायां**—"**जीवे णं भंते** इत्यादि, एषा ओघकायस्थितिः सामान्यजीवापेक्षिणीति सर्वाद्धया निर्वचनम्"। एवं च पृथिवीकायादिष्वप्यदोषः, एतत्सामान्यस्य सर्वदैव भावादिति। एवं गतीन्द्रियकायादिद्वारैर्यथा **प्रज्ञापनायाम**ष्टादशे कायस्थितिनामके पदे कायस्थितिरुक्ता तथाऽत्र सर्वं निरवशेषं वक्तव्यं यथा उपरि तत्पदगतं न किमपि तिष्ठति, गतीन्द्रियकायादिद्वारसङ्ग्राहके चेमे गाथे—"गइ इंदिए य काए जोगे वेए कसाय लेसा य। सम्मत्तनाणदंसणसंजयउवओगआहारे ॥ १ ॥ भासगपरित्तपज्जत्तसुहुम सण्णी भवऽत्थि चरिमे य। एएसिं तु पयाणं कायठिई होइ नायव्वा ॥ २ ॥" सूत्रपाठस्तु लेशतो दर्श्यते—"नेरइया णं भंते! णेरइयत्ति कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। तिरिक्खजोणिए णं भंते! तिरिक्खजोणियत्ति कालतो केवच्चिरं होइ?, गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तमुक्कोसेणमणंतं कालं अणंता उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो" इत्यादि ॥ सम्प्रति सामान्यपृथिवीकायादिगतकायस्थितिनिरूपणार्थमाह—'**पुढविक्काइए णं भंते!**' इत्यादि, पृथिवीकायिको भदन्त!, सामान्यरूपोऽत एव जातावेकवचनं न व्यक्त्येकत्वे, पृथिवीकाय इति कालतः कियच्चिरं भवति?, भगवानाह—गौतम! सर्वाद्धां, पृथिवीकायसामान्यस्य सर्वदैव भावात्। एवमप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायसूत्राण्यपि भावनीयानि ॥ सम्प्रति विवक्षिते काले जघन्यपदे उत्कृष्टपदे वा कियन्तोऽभिनवा उत्पद्यमानाः पृथिवीकायिकादयः? इत्येतन्निरूपणार्थमाह

—'पडुप्पन्नपुढविक्काइया णं भंते! केवइकालस्स निल्लेवा सिया' इत्यादि, प्रत्युत्पन्नपृथिवीकायिकाः—तत्कालमुत्पद्यमानाः पृथिवीकायिका भदन्त! 'केवइकालस्स' त्ति तृतीयार्थे षष्ठी कियता कालेन निर्लेपाः स्युः ?, प्रतिसमयमेकैकापहारेणापह्रियमाणाः कियता कालेन सर्वे एव निष्ठामुपयान्तीति भावः, भगवानाह—गौतम! जघन्यपदे यदा सर्वस्तोका भवन्ति तदेत्यर्थः, असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरुत्कृष्टपदेऽपि यदा सर्ववहवो भवन्ति तदाऽपीति भावः असङ्ख्येयाभिरुत्सार्पिण्यवसार्पिणीभिर्नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदिनोऽसङ्ख्येयगुणाः । एवमप्तेजोवायुसूत्राण्यपि भावनीयानि ॥ वनस्पतिसूत्रमाह—'पडुप्पण्णे'त्यादि, प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिका भदन्त! कियता कालेन निर्लेपाः स्युः?, भगवानाह—गौतम! प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिका जघन्यपदेऽपदा—इयता कालेनापह्रियन्ते इत्येततूपदविरहिता अनन्तानन्तत्वात्, उत्कृष्टपदेऽप्यपदा, अनन्तानन्ततया निर्लेपनाऽसम्भवात्, तथा चाह—'पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा' इति सुगमं, नवरमनन्तानन्तत्वादिति हेतुपदं स्वयमभ्यूह्यम् ॥ 'पडुप्पण्णतसकाइया ण'मित्यादि, प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका भदन्त! कियता कालेन निर्लेपाः स्युः?, भगवानाह—गौतम! जघन्यपदे सागरोपमशतपृथक्त्वस्य—तृतीयार्थे षष्ठी प्राकृतत्वात् सागरोपमशतपृथक्त्वेन, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमशतपृथक्त्वेन नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसेयं । इदं च सर्वमुच्यमानं विशुद्धलेश्यसत्त्वमभि प्राप्तं यथाऽवस्थिततया सम्यगवभासते नान्यथेत्यविशुद्धविशुद्धलेश्यविषयं किञ्चिद्विवक्षुराह—

अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहतेणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहएणं अप्पाणएणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणइ पासइ?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। अविसुद्धलेस्से अण-

गारे समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। अविसुद्धलेस्से अणगारे समोहतेणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, नो तिणट्ठे समट्ठे। अविसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे समोहयासमोहतेणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, नो तिणट्ठे समट्ठे। अविसुद्धलेस्से अणगारे समोहतासमोहतेणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, नो तिणट्ठे समट्ठे। विसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे असमोहतेणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, हंता जाणति पासति जहा अविसुद्धलेस्सेणं आलावगा एवं विसुद्धलेस्सेणवि छ आलावगा भाणितव्वा, जाव विसुद्धलेस्से णं भंते! अणगारे समोहतासमोहतेणं अप्पाणेणं विसुद्धलेस्सं देवं देविं अणगारं जाणति पासति?, हंता जाणति पासति ॥ (सू०१०३)

'अविसुद्धलेस्से ण'मित्यादि, 'अविसुद्धलेश्यः' कृष्णादिलेश्यो भदन्त! 'अनगारः' न विद्यते अगारं—गृहं यस्यासौ अनगारः—साधुः 'असमवहतः' वेदनादिसमुद्घातरहितः 'समवहतः' वेदनादिसमुद्घाते गतः। एवमिमे द्वे सूत्रे असमवहतसमवहताभ्यामात्मभ्यामविशुद्धलेश्यपरविषये प्रतिपादिते एवं समवहतासमवहताभ्यामात्मभ्यां विशुद्धलेश्यपरविषये द्वे सूत्रे भावयितव्ये। तथाऽन्ये अविसुद्धलेश्यविशुद्धलेश्यपरविषये द्वे सूत्रे समवहतासमवहतेनात्मनेति पदेन, समवहतासमवहतो नाम वेदनादिसमुद्घातक्रियाविष्टो न तु परिपूर्ण समवहतो नाप्यसमवहतः सर्वथा। तदेवमविशुद्धलेश्ये ज्ञातरि साधौ षट् सूत्राणि प्रवृत्तानि, एवमेव विशुद्धलेश्येऽपि

साधौ ज्ञातरि पट् सूत्राणि भावनीयानि, नवरं सर्वत्र जानाति पश्यतीति वक्तव्यं, विशुद्धलेश्याकतया यथाऽवस्थितज्ञानदर्शनभावान्, आह च मूलटीकाकार:—"शोभनमशोभनं वा वस्तु यथावद्विशुद्धलेश्यो जानाती"ति, समुद्घातोऽपि च तस्याप्रतिबन्धक एव, न च तस्य समुद्घातोऽत्यन्ताशोभनो भवति, उक्तं च मूलटीकायाम्—"समुद्घातोऽपि तस्याप्रतिबन्धक एवे"त्यादीति ॥ तदेवं यतोऽविशुद्धलेश्यो न जानाति विशुद्धलेश्यो जानाति ततः सम्यग्मिथ्याक्रिययोरेकदा निषेधमभिधित्सुराह—

अण्णउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति एवं भासेन्ति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तंजहा—सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च, जं समयं संमत्तकिरियं पकरेति तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ तं समयं संमत्तकिरियं पकरेइ, समत्तकिरियापकरणताए मिच्छत्तकिरियं पकरेति मिच्छत्तकिरियापकरणताए संमत्तकिरियं पकरेति, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरितातो पकरेति, तंजहा—संमत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च, से कहमेतं भंते! एवं?, गोयमा! जन्नं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेंति, तहेव जाव सम्मत्तकिरियं च मिच्छत्तकिरियं च, जे ते एवमाहंसु तं णं मिच्छा, अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेति, तंजहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा, जं समयं संमत्तकिरियं

पकरेति णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति, तं चेव जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेति नो तं समयं संमत्तकिरियं पकरेति, संमत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेति मिच्छत्तकिरियापकरणयाए णो संमत्तकिरियं पकरेति, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेति, तंजहा—सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा ॥ (सू० १०४)। से तं तिरिक्खजोणिय-उद्देसओ बीओ समत्तो ॥

'**अन्नउत्थिया णं भंते!**' इत्यादि, '**अन्ययूथिकाः**' अन्यतीर्थिका भदन्त! चरकादय एवमाचक्षते सामान्येन '**एवं भाषन्ते**' स्वशिष्यान् श्रवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरेण व्यक्तं कथयन्ति, एवं '**प्रज्ञापयन्ति**' प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परेष्वप्यापादयन्तीति, एवं '**प्ररूपयन्ति**' तत्त्वचिन्तायामसंदिग्धमेतदिति निरूपयन्ति, इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद्वे क्रिये प्रकरोति, तद्यथा—'**सम्यक्त्वक्रियां च**' सुन्दराध्यवसायात्मिकां '**मिथ्यात्वक्रिया च**' असुन्दराध्यवसायात्मिका, '**जं समय**'-मिति प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे द्वितीया यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति '**तं समय**'मिति तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, अन्योऽन्यसंवलितोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह—सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, तदुभयकरणस्वभावस्य तत्तत्क्रियाकरणात्सर्वात्मना प्रवृत्तेः, अन्यथा क्रियाऽयोगादिति, '**एवं खल्वि**'त्यादि निगमनं प्रतीतार्थं, '**से कहमेयं भंते!**' इत्यादि, तत् कथमेतद् भदन्त! एवम्?, तदेवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह—गौतम! यत् णमिति वाक्यालङ्कारे '**अन्ययूथिकाः**' अन्यतीर्थिका एवमाचक्षते

इत्यादि प्राग्वत् यावत्तत् मिथ्या ते एवमाख्यातवन्तः, अहं पुनर्गौतम! एवमाचक्षे एवं भाषे एवं प्रज्ञापयामि एवं प्ररूपयामि, इह खलु एको जीव एकेन समयेनैकां क्रियां प्रकरोति, तद्यथा—सम्यक्त्वक्रियां वा मिथ्यात्वक्रियां वा, अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, परस्परवैविक्त्यनियमप्रदर्शनार्थमाह—सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन न मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन न सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, सम्यक्त्वक्रियामिथ्यात्वक्रिययोः परस्परपरिहारावस्थानात्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्वायोगात्, अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तेः, कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्त्तनात् ॥ अस्यां तृतीयप्रतिपत्तौ तिर्यग्योन्यधिकारे द्वितीयोदेशकः समाप्तः ॥

व्याख्यातस्तिर्यग्योनिजाधिकारः, सम्प्रति मनुष्याधिकारव्याख्यावसरः, तत्रेदमादिसूत्रम्—

से किं तं मणुस्सा?, मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—संमुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य ॥ (सू० १०५) । से किं तं संमुच्छिममणुस्सा?, २ एगागारा पण्णत्ता ॥ कहि णं भंते! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति?, गोयमा! अंतोमणुस्सखेत्ते जहा पण्णवणाए जाव सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा ॥ (सू० १०६)

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते मनुष्याः?, सूरिराह—मनुष्या द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संमूर्च्छिममनुष्याश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याश्च, चशब्दौ द्वयानामपि मनुष्यत्वजातितुल्यतासूचकौ ॥ 'से किं त'मित्यादि, अथ के ते संमूर्च्छिममनुष्याः?, सूरिराह—संमूर्च्छिममनुष्याः 'एकाकाराः' एकस्वरूपाः प्रज्ञप्ताः । अथ क्व तेषां सम्भवः? इति जिज्ञासिपुर्गौतमः पृच्छति—'**कहि णं भंते!**'

इत्यादि, क्क भदन्त! संमूर्च्छिममनुष्याः संमूर्च्छन्ति?, भगवानाह—अन्तर्मनुष्यक्षेत्रे इत्यादि सूत्रं प्राग्वद्भावनीयं यावत् अंतोमुहुत्तद्धा-
उया चेव कालं पकरेंति, उपसंहारमाह—'सेत्तं संमुच्छिममणुस्सा' ॥ सम्प्रति गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यप्रतिपादनार्थमाह—

**से किं तं गब्भवक्कंतियमणुस्सा?, २ तिविधा पण्णत्ता, तंजहा—कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अं-
तरदीवगा ॥ (सू० १०७) से किं तं अंतरदीवगा?, २ अट्ठावीसतिविधा पण्णत्ता, तंजहा—ए-
गुरूया आभासिता वेसाणिया णांगोली हयकण्णगा० आयंसमुहा० आसमुहा० आसकण्णा०
उक्कामुहा० घणदंता जाव सुद्धदंता ॥ (सू० १०८)**

'से किं त'मित्यादि, अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याः?, सूरिराह—गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्मभूमका
अकर्म्मभूमका आन्तरद्वीपकाः, तत्र 'अस्त्यनानुपूर्व्यपी'ति न्यायप्रदर्शनार्थमान्तरद्वीपकप्रतिपादनार्थमाह—'से किं त'मित्यादि,
अथ के ते आन्तरद्वीपकाः?, लवणसमुद्रमध्ये अन्तरे अन्तरे द्वीपा अन्तरद्वीपा अन्तरद्वीपेषु भवा आन्तरद्वीपकाः, 'राष्ट्रेभ्यः' इति
वुञ्, सूरिराह—आन्तरद्वीपका अष्टाविंशतिविधाः प्रज्ञप्ताः, तानेव तद्यथेत्यादिना नामग्राहमुपदर्शयति—एकोरुकाः १ आभाषिकाः २
वैपाणिकाः ३ नाङ्गोलिकाः ४ हयकर्णाः ५ गजकर्णाः ६ गोकर्णाः ७ शष्कुलीकर्णाः ८ आदर्शमुखाः ९ मेण्ढमुखाः १० अयोमुखाः ११
गोमुखाः १२ अश्वमुखाः १३ हस्तिमुखाः १४ सिंहमुखाः १५ व्याघ्रमुखाः १६ अश्वकर्णाः १७ सिंहकर्णाः १८ अकर्णाः १९
कर्णप्रावरणाः २० उल्कामुखाः २१ मेघमुखाः २२ विद्युद्दन्ताः २३ विद्युज्जिह्वाः २४ घनदन्ताः २५ लष्टदन्ताः २६ गूढदन्ताः २७

शुद्धदन्ताः २८, इह एकोरुकादिनामानो द्वीपाः परं 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ता यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति ॥ तथा चैकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपृच्छिषुराह—

कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं एगोरूमणुस्साणं एगोरूदीवे णामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासधरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगुरुयदीवे णामं दीवे पण्णत्ते तिन्नि जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं णव एकूणपण्णजोयणसए किंचि विसेसेण परिक्खेवेणं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं च वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। सा णं पउमवरवेदिया अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं एगूरुयदीवं समंता परिक्खेवेणं पण्णत्ता। तीसे णं पउमवरवेदियाए अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया निम्मा एवं वेतियावण्णओ जहा रायपसेणईए तहा भाणियव्वो ॥(सू०१०९)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! दाक्षिणात्यानां इह एकोरुकादयो मनुष्याः शिखरिण्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुत्तरदिग्वर्त्तिन इति तद्व्यवच्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तं, एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्यत्रासम्भवात् अस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं, 'मन्दरपर्वतस्य' मेरोर्दक्षिणेन—दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य, क्षुल्लग्रहणं महाहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य व्यवच्छेदार्थं, पूर्वस्मात् पूर्वरूपाच्चरमान्ताद् उत्तरपूर्वेण—उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवण-

समुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामेकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, स च त्रीणि योजनशतान्यायामविष्कम्भेण समाहारो द्वन्द्वः आयामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः, नव 'एकोनपञ्चाशानि' एकोनपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि ९४९ परिक्षेपेण, परिमाणगणितभावना—"विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ" इति करणवशात्स्वयं कर्त्तव्या सुगमत्वात् ॥

सा णं पउमवरवेतिया एगेणं वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं वेतियासमेणं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे, एवं जहा रायपसेणइयवणसंडवण्णओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, तणाण य वण्णगंधफासो सद्दो तणाणं वावीओ उप्पायपव्वया पुढविसिलापट्टगा य भाणितव्वा जाव तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति ॥ (सू० ११०)

'से ण'मित्यादि, स एकोरुकनामा द्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन परिक्षिप्तः, तत्र पद्मवरवेदिकावर्णको वनषण्डवर्णकश्च वक्ष्यमाणजम्बूद्वीपजगत्युपरिपद्मवरवेदिकावनपण्डवर्णकवद् भावनीयः, स च तावद् यावच्चरमं 'आसयंती'ति पदम् ॥

एगोरूयदीवस्स णं दीवस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेति वा, एवं सयणिज्जे भाणितव्वे जाव पुढविसिलापट्टगंसि तत्थ णं बहवे एगुरूयदीवया

मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति जाव विहरंति, एगुरूयदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं २ बहवे उद्दालका कोद्दालका कतमाला णयमाला णट्टमाला सिंगमाला संखमाला दंतमाला सेलमालगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव बीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्छणपडिच्छण्णा सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणा उवसोहेमाणा चिट्ठंति, एकोरूयदीवे णं दीवे रुक्खा बहवे हेरुयालवणा भेरुयालवणा मेरुयालवणा सेरुयालवणा सालवणा सरलवणा सत्तवण्णवणा पूतफलिवणा खज्जूरिवणा णालिएरिवणा कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति, एगुरूदीवे णं तत्थ २ बहवे तिलया लवया नग्गोधा जाव रायरुक्खा णंदिरुक्खा कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति, एगुरूयदीवे णं तत्थ बहूओ पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमिताओ एवं लयावण्णओ जहा उववाइए जाव पडिरूवाओ, एकोरूयदीवे णं तत्थ २ बहवे सेरियागुम्मा जाव महाजातिगुम्मा ते णं गुम्मा दसद्धवण्णं कुसुमं कुसुमंति विधूयग्गसाहा जेण वायविधूयग्गसाला एगुरूयदीवस्स बहूसमरमणिज्जभूमिभागं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेंति, एकोरूयदीवे णं तत्थ २ बहूओ वणरातीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणरातीतो किण्हातो किण्होभासाओ जाव रम्माओ महामेहणिगुरुंबभूताओ जाव महतीं गंधद्धणिं मुयंतीओ पासादीताओ ४। एगुरूयदीवे तत्थ २ बहवे मत्तंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणा-

उसो! जहा से चंदप्पभमणिसिलागवरसीधुपवरवारुणिसुजातफलपत्तपुप्फचोयणिज्जा संसारबहुदव्वजुत्तसंभारकालसंधयासवा महुमेरगरिट्ठाभद्दुद्धजातीपसन्नमेल्लगसताउ खज्जूरमुद्दियासारकाविसायणसुपक्कखोयरसवरसुरावण्णरसगंधफरिसजुत्तबलवीरियपरिणामा मज्जविहित्थबहुप्पगारा तदेवं ते मत्तंगयावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणयाए मज्जविहीए उववेदा फलेहिं पुण्णा वीसंदंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति १। एकोरुए दीवे तत्थ २ बहवो भिंगंगया णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से वारगघडकरगकलसककरिपायंकंचणिउदंकवद्धणिसुपविट्ठरपारीचसकभिंगारकरोडिसरगथरगपत्तीथालणत्थगववलियअवपद्गवारकविचित्तवट्टकमणिवट्टकसुत्तिचारुपिणयाकंचणमणिरयणभत्तिविचित्ता भायणविधीए बहुप्पगारा तहेव ते भिंगंगयावि दुमगणा अणेगबहुगविविहवीससाए परिणताए भाजणविधीए उववेया फलेहिं पुन्नाविव विसट्टंति कुसविकुस० जाव चिट्ठंति २। एगोरुगदीवे णं दीवे तत्थ २ बहवे तुडियंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से आलिंगमुयंगपणवपडहदद्दरगकरडिडिंडिमभंभाहोरंभकण्णियारखरमुहिमुगुंदसंखियपरिलीवव्वगपरिवाइणिवंसावेणुवीणासुघोसविवंचिमहतिकच्छभिरगसगातलतालकंसतालसुसंपउत्ता आतोज्जविधीणिउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिया तिट्ठाणसुद्धा तहेव ते तुडियंगयावि दुमगणा अणेगबहुविविधवीससापरि-

णामाए ततविततघणसुसिराए चउव्विहाए आतोज्जविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विसट्टन्ति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव चिट्ठंति ३। एगोरुयदी० तत्थ २ बहवे दीवसिहा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से संझाविरागसमए नवणिहिपतिणो दीविया चक्कवालविंदे पभूयवट्टिपलित्ताणेहिं धणिउज्जालियतिमिरमद्दए कणगणिगरकुसुमितपालियातयवणप्पगासो कंचणमणिरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं दीवियाहिं सहसा पज्जालिऊसवियणिद्धतेयदिप्पंतविमलगहगणसमप्पहाहिं वितिमिरकरसूरपसरिउल्लोयचिल्लियाहिं जावुज्जलपहसियाभिरामाहिं सोभेमाणा तहेव ते दीवसिहावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणामाए उज्जोयविधीए उववेदा फलेहिं पुण्णा विसट्टंति कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति ४। एगुरूयदीवे तत्थ २ बहवे जोतिसिहा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से अचिरुग्गयसरयसूरमंडलपडंतउक्कासहस्सदिप्पंतविज्जुज्जालहुयवहनिद्धूमजलियनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जकिंसुयासोयजावासुयणकुसुमविमउलियपुंजमणिरयणकिरणजच्चहिंगुलुयणिगररूवाइरेगरूवा तहेव ते जोतिसिहावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणयाए उज्जोयविहीए उववेदा सुहलेस्सा मंदलेस्सा मंदायवलेस्सा कूडाय इव ठाणठिया अन्नमन्नसमोगाढाहिं लेस्साहिं साए पभाए सपदेसे सव्वओ समंता ओभासंति उज्जोवेंति पभासेंति कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति

५ । एगुरुयदीवे तत्थ २ बहवे चित्तंगा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से पेच्छाघरे विचित्ते रम्मे वरकुसुमदाममालुज्जले भासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लि-विचित्तमल्लसिरिदाममल्लसिरिसमुदयप्पगब्भे गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेण मल्लेण छेयसिप्पियं विभारतिएण सव्वतो चेव समणुबद्धे पविरललवंतविप्पइट्ठेहिं पंचवण्णेहिं कुसुमदामेहिं सोभ-माणेहिं सोभमाणे वणमालतग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगयावि दुमगणा अणेगबहुवि-विहवीससापरिणयाए मल्लविहीए उववेया कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति ६ । एगुरूयदीवे तत्थ २ बहवे चित्तरसा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से सुगंधवरकलमसालिवि-सिट्ठणिरुवहतदुद्धरद्धे सारयघयगुडखंडमहुमेलिए अतिरसे परमण्णे होज्ज उत्तमवण्णगंधमंते रण्णो जहा वा चक्कवट्टिस्स होज्ज णिउणेहिं सूतपुरिसेहिं सज्जिएहिं वाउकप्पसेअसित्ते इव ओ-दणे कलमसालिणिज्जत्तिएवि एक्के सव्वप्फमिउवसयसगसित्थे अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पडिपुण्णदव्वुवक्खडेसु सक्कए वण्णगंधरसफरिसजुत्तबलविरियपरिणामे इंदियबलपुट्ठिवद्धणे खु-प्पिवासमहणे पहाणे गुलकटियखंडमच्छंडियउवणीए पमोयगे सण्हसमियगब्भे हवेज्ज परमइट्ठंग-संजुत्ते तहेव ते चित्तरसावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणयाए भोजणविहीए उववेदा कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति ७। एगुरूए दीवे णं तत्थ २ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा प-

पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से हारद्धहारवट्टणगमउडकुंडलवासुत्तगहेमजालमणिजालकणगजालगसुत्तगउचिइयकडगाखुडियएकावलिकंठसुत्तमंगरिमउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगचूलामणिकणगतिलगफुल्लसिद्धत्थयकण्णवालिससिसूरउसभचक्कगतलभंगतुडियहत्थिमालगवलक्खदीणारमालिता चंदसूरमालिता हरिसयकेयूरवलयपालंबअंगुलेज्जगकंचीमेहलाकलावपयरगपायजालघंटियखिंखिणिरयणोरुजालत्थिगियवरणेउरचलणमालिया कणगणिगरमालिया कंचणमणिरयणभत्तिचित्ता भूसणविधी बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणताए भूसणविहीए उववेया कुसवि० जाव चिट्ठंति ८। एगुरूयए दीवे तत्थ २ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!, जहा से पागारट्टालगचरियदारगोपुरपासायाकासतलमंडवएगसालविसालगतिसालगचउरंसचउसालगब्भघरमोहणघरवलभिघरचित्तसालमालयभत्तिघरवट्टतंसचतुरंसणंदियावत्तसंठियायतपंडुरतलमुंडमालहम्मियं अहव णं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेलसंठियकूडागारट्ठसुविहिकोट्ठगअणेगघरसरणलेणआवणविडंगजालचंदणिज्जूहअपवरकदोवालिचंदसालियरूवविभत्तिकलिता भवणविही बहुविकप्पा तहेव ते गेहागारावि दुमगणा अणेगबहुविविधवीससापरिणयाए सुहारुहणे सुहोत्ताराए सुहनिक्खमणप्पवेसाए दद्दरसोपाणपंतिकलिताए पइरिक्काए सुहविहाराए मणोऽणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसवि० जाव

चिट्ठंति ९। एगोरुयदीवे तत्थ २ बहवे अणिगणा णामं दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो! जहा से अणेगसो मंतणुतं कंबलदुगुल्लकोसेज्जकालमिगपट्टचीणंसुयबरणातवारवणिगयतुआभरणचित्तसहिणगकल्लाणगभिंगिणीलकज्जलबहुवण्णरत्तपीतसुक्किलमक्खयमिगलोमहेमप्फरुण्णगअवसरत्तगसिंधुओसभदामिलवंगकलिंगनेलिणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही बहुप्पकारा हवेज्ज वरपट्टणुग्गता वण्णरागकलिता तहेव ते अणियणावि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससापरिणताए वत्थविधीए उववेया कुसविकुसवि० जाव चिट्ठंति १०। एगोरुयदीवे णं भंते! दीवे मणुयाणं केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते?, गोयमा! ते णं मणुया अणुवमतरसोमचारुरूवा भोगुत्तमगयलक्खणा भोगसस्सिरीया सुजायसव्वंगसुंदरंगा सुपतिट्ठियकुम्मचारुचलणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतला नगनगरसागरमगरचक्ककवरंकलक्खणंकियचलणा अणुपुव्वसुसाहतंगुलीया उण्णयतणुतंबणिद्धणखा संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फा एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गणिमग्गगूढजाणू गतससणसुजातसण्णिभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासितगती सुजातवरतुरगगुज्झदेसा आइण्णहतोव णिरुवलेवा पमुइयवरतुरियसीहअतिरेगवट्टियकडी साहयसोणिंदमुसलदप्पणणिगरितवरकणगच्छरु(रु)सरिसवरवइरपलितमज्झा उज्जुयसमसहितसुजातजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयरमणीज्जरोमराती गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुरर-

विकिरणतरुणबोधितअकोसायंतपउमगंभीरवियडणाभी झसविहगसुजातपीणकुच्छी झसो-
दरा सुइकरणा पम्हवियडणाभा सण्णयपासा संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइय-
पीणरतियपासा अकरुंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थवत्तीसलक्खणधरा
कणगसिलातलुज्जलपसत्थसमयलोवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छी सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफ-
लिहवट्टियभुया भुयगीसरविपुलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू जूयसन्निभपीणरतियपीवर-
पउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिरसुबद्धसुनिगूढपव्वसंधी रत्ततलोवइतमउयमंसलपसत्थलक्ख-
णसुजायअच्छिद्दजालपाणी पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलीया तंबतलिणसुचिरुइरणिद्धणक्खा
चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोअत्थियपाणिलेहा चंदसूरसं-
खचक्कदिसासोअत्थियपाणिलेहा अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुचिरतियपाणिलेहा वरमहिसवरा-
हसीहसद्दूलउसभणागवरपडिपुन्नविउलउन्नतमइंदखंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अव-
ट्ठितसुविभत्तसुजातचित्तमंसूमंसलसंठियपसत्थसद्दूलविपुलहणुयाओ तवितसिलप्पवालबिंबफ-
लसन्निभाहरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मलसंखगोखीरफेणदगरयमुणालिया धवलदंतसेढी
अखंडदंता अफुडियदंता अविरलदंता सुजातदंता एगदंतसेढिव्व अणेगदंता हुतवहनिद्धंतधो-
ततत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा गरुलाययउज्जुतुंगणासा अवदालियपोंडरीयणयणा कोकासितध-

वलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हपूराइयसंठियसंगतआयतसुजाततणुकसिणनिद्धभुमया अल्लीणप्पमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचंदसंठियपसत्थविच्छिन्नसमणिडाला उडुवतिपडिपुण्णसोमवदणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घणणिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिंडियसिस्से दाडिमपुप्फपगासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुजायकेसंतकेसभूमी सामलिबोंडघणणिचियछोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुंदरभुयमोयगभिंगिणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिकुरुंबनिचियकुंचियचियपदाहिणावत्तमुद्धसिरया लक्खणवंजणगुणोववेया सुजायसुविभत्तसुरूवगा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, ते णं मणुया हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसा छायाउज्जोतियंगमंगा वज्जरिसभनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिया सिणिद्धछवी णिरायंका उत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरा निरुवमलेवा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोतपरिणामा सउणिव्व पोसपिट्ठंतरोरुपरिणता विग्गहियउन्नयकुच्छी पउमुप्पलसरिसगंधणिस्साससुरभिवदणा अट्ठधणुसयं ऊसिया, तेसिं मणुयाणं चउसट्ठि पिट्ठिकरंडगा पण्णत्ता समणाउसो!, ते णं मणुया पगतिभद्दगा पगतिविणीतगा पगतिउवसंता पगतिपयणुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपण्णा अल्लीणा भद्दगा विणीता अप्पिच्छा असंनिहिसं-

घया अचंडा विडिमंतरपरिवसणा जहिच्छियकामगामिणो य ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। तेसि णं भंते! मणुयाणं केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति?, गोयमा! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति, एगोरुयमणुईणं भंते! केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते?, गोयमा! ताओ णं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अच्चंतविसप्पमाणपउमसूमालकुम्मसंठितविसिट्ठचलणाओ उज्जुमिओ पीवरनिरंतरपुट्ठसाहितंगुलीता उण्णयरतियनलिणंव सुइणिद्धणखा रोमरहियवट्टलट्ठसंठियअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुगूढजाणुमंडलसुबद्धसंधी कयलिक्खंभातिरेगसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअविरलसमसहितसुजातवट्टपीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीचीपट्टसंठियपसत्थविच्छिन्नपिहुलसोणी वदणायामप्पमाणदुगुणितविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारणीतो वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरा तिवलिवलीयतणुणमियमज्झियातो उज्जुयसमसहितजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुविभत्तसुजातकंतसोभंतरुइलरमणिज्जरोमराई गंगावत्तपदाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोधितअकोसायंतपउमवणगंभीरवियडणाभी अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छी सण्णयपासा संगयपासा सुजायपासा मितमातियपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायणिरुवहयगातलट्ठी कंचणकलससमपमाणसमसहितसुजातलट्ठचूचुयआमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयरतियसंठियपयोधराओ भुयंगणु-

पुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहियणमियआएज्जललियवाहाओ तंबणहा मंसलग्गहत्था पीवरकोमलवरंगुलीओ णिद्धपाणिलेहा रविससिसंखचक्कसोत्थियसुविभत्तसुविरतियपाणिलेहा पीणुण्णयकक्खवत्थिदेसा पडिपुण्णगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंवुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दाडिमपुप्फप्पगासपीवरकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयचंदकुंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजीहा कणय(व)रमुउलअकुडिलअब्भुग्गतउज्जुतुंगणासा सारदणवकमलकुमुदकुवलयविमुक्कदलणिगरसरिसलक्खणअंकियकंतणयणा पत्तलचवलायंततंबलोयणाओ आणामितचावरुइलकिण्हब्भराइसंठियसंगतआययसुजातकसिणणिद्धभमुया अल्लीणपमाणजुत्तसवणा पीणमट्ठरमणिज्जगंडलेहा चउरंसपसत्थसमणिडाला कोमुतिरयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवयणा छत्तुन्नयउत्तिमंगा कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरया छत्तज्झयजुगथूभदामिणिकमंडलुकलसवाविसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरमगरसुकथालअंकुसअट्ठावयवीइसुपइट्ठकमयूरसिरिदामाभिसेयतोरणमेइणिउदधिवरभवणगिरिवरआयंसललियगतउसभसीहचमरउत्तमपसत्थबत्तीसलक्खणधरातो हंससरिसगतीतो कोतिलमधुरगिरसुस्सराओ कंता सव्वस्स अणुनतातो ववगतवलिपलिया चंगदुव्वण्णवाहीदोभग्गसोगमुक्काओ उच्चत्तेण य नराण थोवूणमूसियाओ सभावसिंगाराचारचारुवेसा संगतगतहसितभणियचेट्ठियविला-

सर्सलावणिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणजहणवदणकरचलणणयणमाला वण्णलावण्णजोव-णविलासकलिया नंदणवणविवरचारिणीउव्व अच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जा पासाईतातो दरिस-णिज्जातो अभिरूवाओ पडिरूवाओ। तासि णं भंते! मणुईणं केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्प-ज्जति?, गोयमा! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति। ते णं भंते! मणुया किमाहारमाहारेंति?, गोयमा! पुढविपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। तीसे णं भंते! पुढवीए केरि-सए आसाए पण्णत्ते?, गोयमा! से जहाणामए गुलेति वा खंडेति वा सक्कराति वा मच्छंडियाति वा भिसकंदेति वा पप्पडमोयएति वा पुप्फउत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अकोसितांति वा विज-ताति वा महाविजयाइ वा आयंसोवसाति वा अणोवसाति वा चाउरक्के गोखीरे चउठाणपरि-णए गुडखंडमच्छंडिउवणीए मंदग्गिकडीए वण्णेणं उववेए जाव फासेणं, भवेतारूवे सिता?, नो इणट्ठे समट्ठे, तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्ठयराए चेव जाव मणामतराए चेव आसाए णं पण्णत्ते, तेसि णं भंते! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पण्णत्ते?, गोयमा! से जहानामए चाउरंतचक्कव-ट्टिस्स कल्लाणे पवरभोयणे सतसहस्सनिप्फन्ने वण्णेणं उववेते गंधेणं उववेते रसेणं उववेते फासेणं उववेते आसाइणिज्जे वीसाइणिज्जे दीवणिज्जे बिंहणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे सव्विंदियगातपल्हाय-णिज्जे, भवेतारूवे सिता?, णो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं पुप्फफलाणं एत्तो इट्ठतराए चेव जाव आस्साए णं

पण्णत्ते। ते णं भंते! मणुया तमाहारमाहारित्ता कहिं वसहिं उवेंति?, गोयमा! रुक्खगेहालता णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। ते णं भंते! रुक्खा किंसंठिया पण्णत्ता?, गोयमा! कूडागारसंठिता पेच्छाघरसंठिता सत्तागारसंठिया झयसंठिया थूभसंठिया तोरणसंठिया गोपुरचेतियपा(या)लगसंठिया अट्टालगसंठिया पासादसंठिया हम्मतलसंठिया गवक्खसंठिया वालग्गपोत्तियसंठिता वलभीसंठिता अण्णे तत्थ बहवे वरभवणसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिता सुहसीयलच्छाया णं ते दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगोरूयदीवे दीवे गेहाणि वा गेहावणाणि वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, रुक्खगेहालया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगूरूयदीवे २ गामाति वा णगराति वा जाव सन्निवेसाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, जहिच्छितकामगामिणो ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगूरुयदीवे असीति वा मसीइ वा कसीइ वा पणीति वा वणिज्जाति वा?, नो तिणट्ठे समट्ठे, ववगयअसिमसिकिसिपणियवाणिज्जा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगूरुयदीवे हिरण्णेति वा सुवन्नेति वा कंसेति वा दूसेति वा मणीति वा मुत्तिएति वा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालसंतसारसावएज्जेति वा?, हंता अत्थि, णो चेव णं तेसिं मणुयाणं तिव्वे ममत्तभावे समुप्पज्जति। अत्थि णं भंते! एगोरुयदीवे रायाति वा जुवरायाति वा ईसरेति

वा तलवरेइ वा माडंबियाति वा कोडुंबियाति वा इब्भाति वा सेट्ठीति वा सेणावतीति वा सत्थवाहाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगयइड्ढीसक्कारा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगूरूयदीवे २ दासाति वा पेसाइ वा सिस्साति वा भयगाति वा भाइल्लगाइ वा कम्मगरपुरिसाति वा?, नो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतआभिओगिता णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगोरुयदीवे दीवे मातांति वा पियाति वा भायाति वा भइणीति वा भज्जाति वा पुत्ताति वा धूयाइ वा सुण्हाति वा?, हंता अत्थि, नो चेव णं तेसिं णं मणुयाणं तिव्वे पेमबंधणे समुप्पज्जति, पयणुपेज्जबंधणा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगुरूयदीवे अरीति वा वेरिएति वा घातकाति वा वहकाति वा पडिणीताति वा पच्चामित्ताति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगोरूए दीवे मित्ताति वा वतंसाति वा घडिताति वा सहीति वा सुहियाति वा महाभागाति वा संगतियाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतपेम्मा ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगोरूयदीवे आवाहाति वा वीवाहाति वा जण्णाति वा सद्धाति वा थालिपाकाति वा चेलोवणतणाति वा सीमंतुण्णयणाइ वा पिति(मत)पिंडनिवेदणाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतआवाहविवाहजण्णभद्दथालिपागचोलोवणतणसीमंतुण्णयणमतपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता सम-

णाउसो!। अत्थि णं भंते! एगोरुयदीवे २ इंदमहाति वा खंदमहाति वा रुद्दमहाति वा सिवमहाति वा वेसमणमहाइ वा मुगुंदमहाति वा णागमहाति वा जक्खमहाति वा भूतमहाति वा कूवमहाति वा तलायणदिमहाति वा दहमहाति वा पव्वयमहाति वा रुक्खरोवणमहाति वा चेइयमहाइ वा थूभमहाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतमहमहिमा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगोरुयदीवे दीवे णडपेच्छाति वा णट्टपेच्छाति वा मल्लपेच्छाति वा मुट्ठियपेच्छाइ वा विडंबगपेच्छाइ वा कहगपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खायगपेच्छाति वा लासगपेच्छाति वा लंखपे० मंखपे० तूणइल्लपे० तुंबवीणपे० कावणपे० मागहपे० जल्लपे०?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतकोउहल्ला णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगुरूयदीवे सगडाति वा रहाति वा जाणाति वा जुग्गाति वा गिल्लीति वा थिल्लीति वा पिपिल्लीइ वा पवहणाणि वा सिवियाति वा संदमाणियाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, पादचारविहारिणो णं ते मणुस्सगणा पण्णत्ता समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगूरुयदीवे आसाति वा हत्थीति वा उट्टाति वा गोणाति वा महिसाति वा खराति वा घोडाति वा अजाति वा एलाति वा?, हंता अत्थि, नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते! एगूरुयगदीवे दीवे सीहाति वा वग्घाति वा विगाति वा दीवियाइ वा अच्छाति वा परच्छाति वा परस्सराति वा

तरच्छाति वा बिडालाइ वा सुणगाति वा कोलसुणगाति वा कोकंतियाति वा ससगाति वा चित्तलाति वा चिल्ललगाति वा?, हंता अत्थि, नो चेव णं ते अण्णमण्णस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पबाहं वा उप्पायंति वा छविच्छेदं वा करेंति, पगतिभद्दका णं ते सावयगणा पण्णत्ता समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगुरूयदीवे दीवे सालीति वा वीहीति गोधूमाति वा जवाति वा तिलाति वा इक्खूति वा?, हंता अत्थि, नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। अत्थि णं भंते! एगूरुयदीवे दीवे गत्ताइ वा दरीति वा घंसाति वा भिगूति वा उवाएति वा विसमेति वा विज्जलेति वा धूलीति वा रेणूति वा पंकेइ वा चलणीति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, एगूरुयदीवे णं दीवे बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगूरुयदीवे दीवे खाणूति वा कंटएति वा हीरएति वा सक्कराति वा तणकयवराति वा पत्तकयवराइ वा असुतीति वा पूतियाति वा दुब्भिगंधाइ वा अचोक्खाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगयखाणुकंटकहीरसक्करतणकयवरपत्तकयवरअसुतिपूतियदुब्भिगंधमचोक्खपरिवज्जिए णं एगुरुयदीवे पण्णत्ते समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगुरुयदीवे दीवे दंसाति वा मसगाति वा पिसुयाति वा जूताति वा लिक्खाति वा ढंकुणाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतदंसमसगापिसुतजूतालिक्खढंकुणपरिवज्जिए णं एगुरुयदीवे पण्णत्ते समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगुरुयदीवे अहीइ वा

अयगराति वा महोरगाति वा?, हंता अत्थि, नो चेव णं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पबाहं वा छविच्छेयं वा करेंति, पगइभद्दगा णं ते वालगगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगुरुयदीवे गहदंडाति वा गहमुसलाति वा गहगज्जिताति वा गहजुद्धाति वा गहसंघाडगाति वा गहअवसव्वाति वा अब्भाति वा अब्भरुक्खाति वा संझाति वा गंधव्वनगराति वा गज्जिताति वा विज्जुताति वा उक्कापाताति वा दिसादाहाति वा णिग्घाताति वा पंसुविट्ठीति वा जुवगाति वा जक्खालित्ताति वा धूमिताति वा महिताति वा रउग्घाताति वा चंदोवरागाति वा सूरोवरागाति वा चंदपरिवेसाइ वा सूरपरिवेसाति वा पडिचंदाति वा पडिसूराति वा इंदधणूति वा उदगमच्छाति वा अमोहाइ वा कविहसियाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धवाताति वा गामदाहाति वा नगरदाहाति वा जाव सण्णिवेसदाहाति वा पाणक्खतजणक्खयकुलक्खयधणक्खयवसणभूतमणारिताति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते! एगुरुयदीवे दीवे डिंबाति वा डमराति वा कलहाति वा बोलाति वा खाराति वा वेराति वा विरुद्धरज्जाति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतडिंबडमरकलहबोलखारवेरविरुद्धरज्जविवज्जिता णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगुरुयदीवे दीवे महाजुद्धाति वा महासंगामाति वा महासत्थनिवयणाति वा महापुरिसवाणाति वा महारुधिरवाणाति वा नागवाणाति वा खेण-

घाणाइ वा तामसवाणाइ वा कुम्भूतियाइ वा कुलरोगाति वा गामरोगाति वा णगररोगाति वा मंडलरोगाति वा सिरोवेदणाति वा अच्छिवेदणाति वा कण्णवेदणाति वा णक्कवेदणाइ वा दंतवेदणाइ वा नखवेदणाइ वा कासाति वा सासाति वा जराति वा दाहाति वा कच्छूति वा खसराति- वा कुद्धाति वा कुडाति वा दगराति वा अरिसाति वा अजीरगाति वा भगंदराइ वा इंदग्गहाति वा खंदग्गहाति वा कुमारग्गहाति वा णागग्गहाति वा जक्खग्गहाति वा भूतग्गहाति वा उव्वेयग्गहाति वा धणुग्गहाति वा एगाहियग्गहाति वा बेयाहियगहिताति वा तेयाहियगहियाइ वा चाउत्थगाहियाति वा हिययसूलाति वा मत्थगसूलाति वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा गाममारीति वा जाव सन्निवेसमारीति वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारिताति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतरोगायंका णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!। अत्थि णं भंते! एगुरूयदीवे दीवे अतियासाति वा मंदवासाति वा सुवुट्ठीइ वा मंदवुट्ठीति वा उद्दवाहाति वा पवाहाति वा दगुब्भेयाइ वा दगुप्पीलाइ वा गामवाहाति वा जाव सन्निवेसवाहाति वा पाणक्खय० जाव वसणभूतमणारिताति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे, ववगतदगोवद्दवा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो! । अत्थि णं भंते! एगुरूयदीवे दीवे अयागराति वा तम्बागराइ वा सीसागराति वा सुवण्णागराति वा रतणागराति वा वइरागराइ वा वसुहाराति वा हिरण्णवासाति वा सुवण्ण-

वासाति वा रयणवासाति वा वइरवासाति वा आभरणवासाति वा पत्तवासाति वा पुप्फवासाति वा फलवासाति वा बीयवासा० मल्लवासा० गंधवासा० वण्णवासा० चुण्णवासा० खीरवुट्ठीति वा रयणवुट्ठीति वा हिरण्णवुट्ठीति वा सुवण्ण० तहेव जाव चुण्णवुट्ठीति वा सुकालाति वा दुकालाति वा सुभिक्खाति वा दुभिक्खाति वा अप्पग्घाति वा महग्घाति वा कयाइ वा महाविक्कयाइ वा सण्णिहीइ वा सचयाइ वा निधीइ वा निहाणाति वा चिरपोराणाति वा पहीणसामियाति वा पहीणसेउयाइ वा पहीणगोत्तागाराइं वा जाइं इमाइं गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसन्निवेसेसु सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउमुहमहापहपहेसु णगरणिद्धमणसुसाणगिरिकंदरसन्तिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु सन्निक्खित्ताइं चिट्ठंति, नो तिणट्ठे समट्ठे । एगुरुयदीवे णं भंते! दीवे मणुयाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, गोयमा! जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं असंखेज्जतिभागेण ऊणगं उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं । ते णं भंते! मणुया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ?, गोयमा! ते णं मणुया छम्मासावसेसाउया मिहुणताइं पसवंति अउणासीइं राइंदियाइं मिहुणाइं सारक्खंति संगोविंति य, सारक्खित्ता २ उस्ससित्ता निस्ससित्ता कासित्ता छीतित्ता अक्किट्ठा अव्वहिता अपरियाविया [पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं परियाविय] सुहंसुहेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु

देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति, देवलोयपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुस्साणं आभासियदीवे णामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे दीवे चुल्लहिमवंतस्स वासधरपव्वतस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं तिन्नि जोयण० सेसं जहा एगुरुयाणं णिरवसेसं सव्वं ॥ कहि णं भंते!! दाहिणिल्लाणं णंगोलिमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासधरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसताइं सेसं जहा एगुरुयमणुस्साणं ॥ कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासधरपव्वयस्स दाहिणपच्चत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयण० सेसं जहा एगुरुयाणं ॥ (सू० १११)

'एगोरुयदीवस्स णं भंते!' इत्यादि, एकोरुकद्वीपस्य णमिति पूर्ववत् भदन्त! 'कीदृशः' क इव दृश्यः 'आकारभावप्रत्यवतारः' भूम्यादिस्वरूपसम्भवः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! एकोरुकद्वीपे 'वहुसमरमणीयः' प्रभूतसमः सन् रम्यो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादिरुत्तरकुरुगमस्तावदनुसर्त्तव्यो यावदनुसञ्जनासूत्रं, नवरमत्र नानात्वमिदं—मनुष्या अष्टौ धनुःशतान्युच्छ्रिता वक्तव्याश्चतुःषष्टिः पृष्ठकरण्डकाः—पृष्ठवंशाः, वृहत्प्रमाणानां हि ते वहवो भवन्ति, एकोनाशीतिं च रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्यनुपालयन्ति, स्थितिस्तेषां जघन्येन देशोनः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, एतदेव व्याचष्टे—पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनः, उत्कर्षतः

परिपूर्णः पल्योपमासङ्ख्येयभागः ॥ **'कहि णं भंते!'** इत्यादि, क भदन्त! दाक्षिणात्यानामाभाषिकमनुष्याणामाभाषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन—दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् **'दक्षिणपूर्वेण'** दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामाभाषिकमनुष्याणामाभाषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, शेषवक्तव्यता एकोरुकवद्वक्तव्या यावत्स्थितिसूत्रम् ॥ **'कहि णं भंते!'** इत्यादि, क भदन्त! दाक्षिणात्यानां नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य **'दक्षिणेन'** दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याच्चरमान्ताद् **'दक्षिणपश्चिमेन'** दक्षिणपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानां नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, शेषं यथैकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत्स्थितिसूत्रम् ॥ **'कहि णं भंते!'** इत्यादि, क भदन्त! वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य **'दक्षिणेन'** दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याच्चरमान्ताद् **'उत्तरपश्चिमेन'** उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, शेषमेकोरुकवद् वक्तव्यं यावत्स्थितिसूत्रम् ॥

कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं हयकण्णमणुस्साणं हयकण्णदीवे णामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! एगुरूयदीवस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं हयकण्णमणुस्साणं हयकण्णदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, चत्तारि जोयणसयाइं

आयामविक्खंभेणं बारस जोयणसया पन्नट्ठी किंचिविसेसूणा परिक्खेवेणं, से णं एगाए पउमवरवेतियाए अवसेसं जहा एगुरूयाणं। कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं गजकण्णमणुस्साणं पुच्छा, गोयमा! आभासियदीवस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसताइं सेसं जहा हयकण्णाणं। एवं गोकण्णमणुस्साणं पुच्छा। वेसाणितदीवस्स दाहिणपचत्थिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसताइं सेसं जहा हयकण्णाणं। सक्कुलिकण्णाणं पुच्छा, गोयमा! णंगोलियदीवस्स उत्तरपचत्थिमिल्लातो चरिमंतातो लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसताइं सेसं जहा हयकण्णाणं॥ आतंसमुहाणं पुच्छा, हतकण्णयदीवस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लातो चरिमंतातो पंच जोयणसताइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं आयंसमुहमणुस्साणं आयंसमुहदीवे णामं दीवे पण्णत्ते, पंच जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं, आसमुहाईणं छ सया, आसकन्नाईणं सत्त, उक्कामुहाईणं अट्ठ, घणदंताइणं जाव नव जोयणसयाइं,—एगूरुयपरिक्खेवो नव चेव सयाइं अउणपन्नाइं। बारसपन्नट्ठाइं हयकण्णाईणं परिक्खेवो ॥१॥ आयंसमुहाईणं पन्नरसेकासीए जोयणसते किंचिविसेसाधिए परिक्खेवेणं, एवं एतेणं कमेणं उवउज्झिऊण णेतव्वा चत्तारि चत्तारि एगपमाणा, णाणत्तं ओगाहे, विक्खंभे परिक्खेवे पढमबीततितियचउक्काणं उग्गहो विक्खंभो परिक्खेवो भणितो, चउत्थचउक्के छजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठारसत्ताणउते जोयणसते विक्खंभेणं। पंचम-

चउक्के सत्त जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं बावीसं तेरसोत्तरे जोयणसए परिक्खेवेणं। छट्ठचउक्के अट्ठजोयणसताइं आयामविक्खंभेणं पणुवीसं गुणतीसजोयणसए परिक्खेवेणं। सत्तमचउक्के नव-जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणसहस्साइं अट्ठ पणयाले जोयणसए परिक्खेवेणं। जस्स य जो विक्खंभो उग्गहो तस्स तत्तिओ चेव । पढमाइयाण परिरतो जाण सेसाण अ-हिओ उ ॥ १ ॥ सेसा जहा एगुरूयदीवस्स जाव सुद्धदंतदीवे देवलोकपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं एगुरूयमणुस्साणं एगुरुयदीवे णामं दीवे प-ण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिहरिस्स वासधरपव्वयस्स उत्तर-पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसताइं ओगाहित्ता एवं जहा दाहिणि-ल्लाण तहा उत्तरिल्लाण भाणितव्वं, णवरं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु, एवं जाव सुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवका ॥ (सू० ११२)। से किं तं अकम्मभूमगमणुस्सा?, २ तीसविधा पण्णत्ता, तंजहा—पंचहिं हेमवएहिं, एवं जहा पण्णवणापदे जाव पंचहिं उत्तरकुरूहिं, सेत्तं अकम्मभूमगा। से किं तं कम्मभूमगा?, २ पण्णरसविधा पण्णत्ता, तंजहा—पंचहिं भर-हेहिं पंचहिं एरवएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—आयरिया मिलेच्छा, एवं जहा पण्णवणापदे जाव सेत्तं आयरिया, सेत्तं गब्भवक्कंतिया, सेत्तं मणुस्सा॥ (सू० ११३)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! एकोरुकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्ताद् उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्योजनशतान्तरे दाक्षिणात्यानां हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, स च चत्वारि योजनशतान्यायामविष्कम्भेन द्वादश पञ्चषष्ठानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेपाधिकानि परिक्षेपेण, शेषं यथैकोरुकमनुष्याणां। एवमाभापिकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्ताद्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे गजकर्णमनुष्याणां गजकर्णो द्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत्। नाङ्गोलिकद्वीपस्य पश्चिमाच्चरमान्ताद्दक्षिणपश्चिमेन चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे गोकर्णमनुष्याणां गोकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत्। वैशालिकद्वीपस्य पश्चिमाच्चरमान्ताद् उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रमवगाह्य चत्वारि योजनशतानि अत्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे दाक्षिणात्यानां शष्कुलीकर्णमनुष्याणां शष्कुलीकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत्, पद्मवरवेदिकावनपण्डमनुष्यादिस्वरूपं च समस्तमेकोरुकद्वीपवत्। एवमेतेनाभिलापेनामीषां हयकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु पञ्च योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनषण्डमण्डितबाह्यप्रदेशा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुखमेण्ढमुखायोमुखगोमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा वक्तव्याः, तद्यथा—हयकर्णस्य परत आदर्शमुखो गजकर्णस्य परतो मेण्ढमुखो गोकर्णस्य परतोऽयोमुखः शष्कुलीकर्णस्य परतो गोमुखः।

एतेषामप्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो भूयोऽपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं लवणसमुद्रं षट् षड् योजनशतान्यवगाह्य षड्योजनशतायामविष्कम्भाः सप्तनवत्यधिकाष्टादशयोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनषण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् षड्योजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा वक्तव्याः, तद्यथा—आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः, मेण्ढमुखस्य परतो हस्तिमुखः, अयोमुखस्य परतः सिंहमुखः, गोमुखस्य परतो व्याघ्रमुखः। एतेषामश्वमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भास्त्रयोदशाधिकद्वाविंशतियोजनशतपरिरयाः पद्मवरवेदिकावनषण्डसमवगूढाः जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्णहरिकर्णाकर्णकर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपा बोध्याः, तद्यथा—अश्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हरिकर्णः सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याघ्रमुखस्य परतः कर्णप्रावरणः, तत एतेषामप्यश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तादष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपा वक्तव्याः, तद्यथा—अश्वकर्णस्य परत उल्कामुखः हरिकर्णस्य परतो मेघमुखः अकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कर्णप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः, एतेषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव नव योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य नवनवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनखण्डसमवगूढा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपाः, तद्यथा—उल्कामुखस्य परतो घनदन्तः मेघमुखस्य परतो लष्टदन्तः विद्युन्मु-

स्तस्य परतो गूढदन्तः विशुद्धदन्तस्य परतः शुद्धदन्तः । एतेषामेव द्वीपानामवगाहायामविष्कम्भपरिरयपरिमाणसङ्ग्रहगाथाषट्कमाह—"प-
ढमंमि तिन्नि उ सया सेसाण सउत्तरा नव उ जाव । ओगाहं विक्खंभं दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥ १ ॥ पढमचउक्कपरिरया बीयच-
उक्कस्स परिरओ अहिओ । सोलेहिं तिहि उ जोयणसएहिं एमेव सेसाणं ॥ २ ॥ एगोरुयपरिक्खेवो नव चेव सयाइं अउणपण्णाइं ।
बारस पण्णट्ठाइं हयकण्णाणं परिक्खेवो ॥ ३ ॥ पणरस एकासीया आयंसमुहाण परिरओ होइ । अट्ठार सत्तनउया आसमुहाणं
परिक्खेवो ॥ ४ ॥ बावीसं तेराइं परिक्खेवो होइ आसकन्नाणं । पणुवीस अउणतीसा उक्कामुहपरिरओ होइ ॥ ५ ॥ दो चेव सहस्साइं अट्ठेव
सया हवंति पणयाला । घणदंतदीवाणं विसेसमहिओ परिक्खेवो ॥ ६ ॥" व्याख्या—प्रथमे द्वीपचतुष्के चिन्त्यमाने त्रीणि योजनशतान्यव-
गाहना—लवणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च, विष्कम्भग्रहणादायामोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात्, जानीहि इति क्रियाशेषः, शेषाणां
द्वीपचतुष्कानां शतोत्तराणि त्रीणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भं तावज्जानीयाद् यावन्नव शतानि, तद्यथा—द्वितीयचतुष्के चत्वारि
शतानि, तृतीये पञ्च शतानि, चतुर्थे षट् शतानि, पञ्चमे सप्त शतानि, षष्ठेऽष्टौ शतानि, सप्तमे नव शतानि, अत ऊर्द्ध्वं द्वीपानामेकोरुक-
प्रभृतीनां 'परिरयं' परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—'पढमचउक्के'त्यादि, 'प्रथमचतुष्के परिरयात्' प्रथमद्वीपच-
तुष्के परिरयपरिमाणात् द्वितीयचतुष्कस्य—द्वितीयद्वीपचतुष्टयस्य परिरयः—परिरयपरिमाणमधिकः षोडशैः षोडशोत्तरैस्त्रिभिर्योजनशतैः,
'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण शेषाणां 'द्वीपानां' द्वीपचतुष्कानां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमाणादवसातव्यम्, एतदेव
चैतेन दर्शयति—'एकोरुये'त्यादि 'एकोरुकपरिक्षेपे' एकोरुकोपलक्षितप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्षेपे नव शतानि एकोनपञ्चाशानि—एको-
नपञ्चाशदधिकानि । ततस्त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'हयकण्णाण'मिति वचनात् हयकर्णप्रमुखाणां द्वितीयानां चतुर्णां

द्वीपानां परिक्षेपो भवति, स च द्वादश योजनशतानि पञ्चषष्टानि—पञ्चषष्ट्यधिकानि । तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'आयंसमुहाणं'ति आदर्शमुखप्रमुखाणां तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति, तच्च पञ्चदश योजनशतान्येकाशीत्यधिकानि । ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'आसमुहाणं'ति अश्वमुखप्रभृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपः; तद्यथा—अष्टादश योजनशतानि सप्तनवतानि—सप्तनवत्यधिकानि । तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'आसकण्णाणं'ति अश्वकर्णप्रमुखाणां पञ्चानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपो भवति, तद्यथा—द्वाविंशतियोजनशतानि त्रयोदशानि—त्रयोदशाधिकानि । ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'उल्कामुखपरिरयः' उल्कामुखषष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं भवति, तद्यथा—पञ्चविंशतियोजनशतानि एकोनत्रिंशानि—एकोनत्रिंशदधिकानि । ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु 'घनदन्तद्वीपस्य' (पानां) घनदन्तप्रमुखसप्तमद्वीपचतुष्कस्य परिक्षेपः, तद्यथा—द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंशानि—पञ्चचत्वारिंशदधिकानि 'विसेसमहिओ' इति किञ्चिद्विशेषाधिकः अधिकृतः परिक्षेपः, पञ्चचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषाधिकानीति भावार्थः, इदं च पदमन्तेऽभिहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसम्बन्धनीयं, तेन सर्वत्रापि किञ्चिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यं । तदेवमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतिः, एवं हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणपद्मह्रदप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकह्रदोपशोभिते शिखरिण्यपि पर्वते लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु एकोरुकादिनामानोऽक्षूणापान्तरालायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसङ्ख्या द्वीपा वेदितव्याः, तथा चाह—"कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ?, गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिहरिपव्वयस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ

लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता तत्थ णं उत्तरिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे नामं दीवे पण्णत्ते" इत्यादि सर्वं तदेव, नवरमुत्तरेण विभाषा कर्त्तव्या, सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः, उपसंहारमाह—'सेत्तमंतरदीवगा'ते एतेऽन्तरद्वीपकाः। अकर्म्मभूमकाः कर्म्मभूमकाश्च यथा प्रज्ञापनायां प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे तथैव वक्तव्या यावत् 'सेत्तं चरित्तारिया सेत्तं मणुस्सा' इति पदम्, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यत इति, उपसंहारमाह—'सेत्तं मणुस्सा' त एते मनुष्याः॥ तदेवमुक्ता मनुष्याः, सम्प्रति देवानभिधित्सुराह—

से किं तं देवा?, देवा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—भवणवासी वाणमंतरा जोइसिया वेमाणिया (सू० ११४) से किं तं भवणवासी?, २ दसविहा पण्णत्ता, तंजहा—असुरकुमारा जहा पण्णवणापदे देवाणं भेओ तहा भाणितव्वो जाव अणुत्तरोववाइया पंचविधा पण्णत्ता, तंजहा—विजयवेजयंत जाव सव्वट्ठसिद्धगा, सेत्तं अणुत्तरोववातिया॥ (सू० ११५) कहि णं भंते! भवणवासिदेवाणं भवणा पन्नत्ता?, कहि णं भंते! भवणवासी देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, एवं जहा पण्णवणाए जाव भवणवासाइता, त(ए)त्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरि भवणावाससयसहस्सा भवंतित्तिमक्खाता, तत्थ णं बहवे भवणवासी देवा परिवसंति—असुरा नाग सुवन्ना य जहा पण्णवणाए जाव विहरंति॥ (सू० ११६) कहि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं भवणा प०?, पुच्छा, एवं जहा पण्णवणाठाणपदे

जाव विहरंति ॥ कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं भवणा पुच्छा, एवं जहा ठाण-पदे जाव चमरे, तत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसति जाव विहरति ॥ (सू० ११७)

'से किं त' मित्यादि, अथ के ते देवाः ?, सूरिराह—देवाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—भवनवासिनो वानमन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाः, अमीषां च शब्दानां व्युत्पत्तिर्यथा प्रज्ञापनाटीकायां तथा वेदितव्या ॥ **'से किं त'**मित्यादि, अथ के ते भवनवासिनः ?, सूरिराह—भवनवासिनो दशविधाः प्रज्ञप्ताः, एवं देवानां प्रज्ञापनागतप्रथमप्रज्ञापनाख्यपद इव तावद्भेदो वक्तव्यो यावत्सर्वार्थदेवा इति ॥ सम्प्रति भवनवासिनां देवानां भवनवसनप्रतिपादनार्थमाह—**'कहि णं भंते !'** इत्यादि, क्व भदन्त ! भवनवासिनां देवानां भवनानि प्रज्ञप्तानि ?, क्व भदन्त ! भवनवासिनो देवाः परिवसन्ति ?, भगवानाह—गौतम ! **'इमीसे ण'**मित्यादि, **'अस्याः'** प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया यत्र वयमास्महे रत्नप्रभायाः पृथिव्याः **'अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायाः'** अशीत्युत्तरम्—अशीतिसहस्राधिकं योजनशतसहस्रं बाहल्यं—पिण्डभावो यस्याः सा तथा, तस्या उपर्येकं योजनसहस्रमवगाह्याधस्तादेकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा मध्ये **'अट्ठसत्तरे'** अष्टसप्ततिसहस्राधिके योजनशतसहस्रे, **'अत्र'** एतस्मिन् स्थाने भवनवासिनां देवानां सप्त भवनकोटयो द्विसप्ततिर्भवनावासशतसहस्राणि भवन्तीति आख्यातानि मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, तत्र सप्तकोट्यादिभावनैवं—चतुःषष्टिः शतसहस्राणि भवनानामसुरकुमाराणां चतुरशीतिः शतसहस्राणि नागकुमाराणां द्विसप्ततिः शतसहस्राणि सुवर्णकुमाराणां षण्णवतिः शतसहस्राणि वायुकुमाराणां, द्वीपकुमारादीनां षण्णां प्रत्येकं षट्सप्ततिः शतसहस्राणि भवनानां, ततः सर्वसङ्ख्यया यथोक्तं भवनसङ्ख्यानं भवति । **'ते णं भवणा'** इत्यादि, तानि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, णमिति वाक्यालङ्कारे भवनानि बहिः **'वृत्तानि'** वृत्ताकाराणि अन्तः

समचतुरस्राणि अधस्तलभागेषु पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितानि, **'भवणवण्णओ भाणियव्वो जहा ठाणपदे जाव पडिरूवा'** इति, उक्तप्रकारेण भवनवर्णको भणितव्यो यथा प्रज्ञापनायां द्वितीये स्थानाख्ये पदे, स च तावद् यावत् **'पडिरूवा'** इति पदं, स चैवम्—"उक्किण्णंतरविउलगंभीरखायपरिखा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अजोज्झा सयाजया सयागुत्ता अडयालकोट्टरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरअमरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरसमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगन्धवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणदिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा" इति, अस्य व्याख्या—उत्कीर्णमिव उत्कीर्णं अतीव व्यक्तमिति भावः, उत्कीर्णमन्तरं यासां खातपरिखानां ता उत्कीर्णान्तराः किमुक्तं भवति ?—खातानां परिखाणां च स्पष्टवैविक्त्योन्मीलनार्थमपान्तराले महती पाली समस्तीति, खातानि च परिखाश्च खातपरिखाः उत्कीर्णान्तरा विपुला—विस्तीर्णा गम्भीरा—अलब्धमध्यभागाः खातपरिखा येषां भवनानां परितस्तानि उत्कीर्णान्तरविपुलगम्भीरखातपरिखानि, खातपरिखाणां चायं प्रतिविशेषः—परिखा उपरि विशालाऽधः सङ्कुचिता, खातं तूभयत्रापि सममिति, **'पागारट्टालककवाडपडिदुवारदेसभागा'** इति प्रतिभवनं प्राकारेषु अट्टालककपाटतोरणप्रतिद्वाराणि—अट्टालककपाटतोरणप्रतिद्वाररूपा देशभागा—देशविशेषा येषु तानि प्राकाराट्टालककपाटतोरणप्रतिद्वारदेशभागानि, तत्राट्टालकाः—प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः कपाटानि—प्रतोलीद्वारसत्कानि, एतेन प्रतोल्यः

३ प्रतिपत्तौ देवाधिकारः उद्देशः १ सू० ११७

सर्वत्र सूचिता अन्यथा कपाटानामसम्भवात्, तोरणानि—प्रतीतानि, तानि च प्रतोलीद्वारेषु, प्रतिद्वाराणि—मूलद्वारापान्तरालवर्तीनि लघुद्वाराणि। तथा 'जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया' इति यन्त्राणि—नानाप्रकाराणि शतघ्न्यो—महायष्टयो महाशिला वा याः पातिताः सत्यः पुरुषाणां शतानि

सर्वत्र सूचिता अन्यथा कपाटानामसम्भवात्, तोरणानि—प्रतीतानि, तानि च प्रतोलीद्वारेषु, प्रतिद्वाराणि—मूलद्वारापान्तरालवर्त्तीनि
लघुद्वाराणि। तथा 'जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया' इति यन्त्राणि—नानाप्रकाराणि शतघ्न्यो—महायष्ट्यो महाशिला वा याः
पातिताः सत्यः पुरुषाणां शतानि घ्नन्ति मुशलानि—प्रतीतानि मुषण्ढयः—शस्त्रविशेषास्तैः परिवारितानि—समन्ततो वेष्टितानि अत
एवायोध्यानि—परैर्योद्धुमशक्यानि अयोध्यत्वादेव 'सदाजयानि' सदा—सर्वकालं जयो येषु तानि सदाजयानि सर्वकालं जयवन्तीति
भावः, तथा सदा—सर्वकालं गुप्तानि प्रहरणैः पुरुषैश्च योद्धृभिः सर्वतः—समन्ततो निरन्तरं परिवारिततया परेषामसहमानानां मना-
गपि प्रवेशासम्भवात् 'अडयालकोट्ठरइया' इति अष्टाचत्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छित्तिकलिताः कोष्ठका—अपवरका रचिताः स्वयमेव
रचनां प्राप्ता येषु तान्यष्टाचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि, सुखादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः, तथाऽष्टाचत्वारिंशद्भेदभिन्नवि-
च्छित्तयः कृता वनमाला येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि, अन्ये त्वभिदधति—अडयालशब्दो देशीवचनात् प्रशंसावाची,
ततोऽयमर्थः—'प्रशस्तकोष्ठकरचितानि प्रशस्तकृतवनमालानी'ति तथा 'क्षेमाणि' परकृतोपद्रवरहितानि, 'शिवानि' सदा
मङ्गलोपेतानि, तथा किङ्कराः—किङ्करभूता येऽमरास्तैर्दण्डैः कृत्वा उपरक्षितानि—सर्वतः समन्ततो रक्षितानि किङ्करामरदण्डोपरक्षि-
तानि, 'लाउल्लोइयमहिया' इति लाइयं नाम यद्भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम् 'उल्लोइयं' कुड्यानां मालस्य सेटिकादिभिः संमृष्टी-
करणं लाइयोल्लोइयाभ्यां महितानि—पूजितानि लाइयोल्लोइयमहितानि, तथा गोशीर्षेण—गोशीर्षनामकेन चन्दनेन सरसरक्तचन्दनेन च
दर्दरेण—बहलेन चपेटाप्रकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला—हस्तका येषु तानि गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितलानि, तथा
उपचिता—निवेशिताः चन्दनकलशा—मङ्गल्यकलशा येषु तानि उपचितचन्दनकलशानि, 'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा'

इति चन्दनघटैः—चन्दनकलशैः सुकृतानि शोभितानीति तात्पर्यार्थः यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागं—द्वारदेशभागे येषु तानि चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागानि, तथा **'आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा'** इति आ—अवाङ् अधोभूमौ सक्त—आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्द्ध सक्त उत्सक्तः उल्लोचतले उपरि संवद्ध इत्यर्थः विपुलो—विस्तीर्णो वृत्तो—वर्त्तुलः **'वग्घारिय'** इति प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो येषु तानि आसक्तोत्सक्तविपुलवृत्तप्रलम्बितमाल्यदामकलापानि, तथा पञ्चवर्णेन सुरभिणा—सुरभिगन्धेन मुक्तेन—क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण—पूजया कलितानि पञ्चवर्णसुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितानि, तथा कालागुरुः—प्रसिद्धः प्रवरः—प्रधानः कुन्दुरुष्कः—चीडा तुरुष्कं—सिल्हकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्के च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्काणि तेषां धूपस्य यो मघमघायमानो गन्ध उद्धूत—इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामाणि—रमणीयानि कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपमघमघायमानगन्धोद्धुताभिरामाणि, तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धाः ते च ते वरगन्धाश्च—वासाः सुगन्धवरगन्धास्तेषां गन्धः स एष्वस्तीति सुगन्धवरगन्धगन्धिकानि **'अतोऽनेकस्वरा'**दितीकप्रत्ययः, अत एव गन्धवर्त्तिभूतानि, सौरभ्यातिशयाद् गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पानीति भावः, तथाऽप्सरोगणानां सङ्घः—समुदायस्तेन सम्यग्—रमणीयतया विकीर्णानि—व्याप्तानि अप्सरोगणसङ्घविकीर्णानि, तथा दिव्यानामातोद्यानां—वेणुवीणामृदङ्गानां ये शब्दास्तैः संप्रणदितानि—सम्यक्श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण सर्वकालं नदितानि—शब्दवन्ति दिव्यत्रुटितशब्दसंप्रणदितानि सर्वरत्नमयानि—सर्वात्मना सामस्त्येन रत्नमयानि न त्वेकदेशेन सर्वरत्नमयानि—समस्तरत्नमयानि अच्छानि—आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छानि श्लक्ष्णानि—श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्नानि श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् लण्हानि—मसृणानि घुण्टितपटवत् **'घट्ठा'** इति घृष्टानीव घृष्टानि खरशानया पाषाणप्रतिमावत्, **'मट्ठा'**

इति मृष्टानीव मृष्टानि सुकुमारशानया पाषाणप्रतिमावदेव, अत एव नीरजांसि स्वाभाविकरजोरहितत्वात् **'निर्मलानि'** आगन्तुकमलासम्भवात् **'निष्पङ्कानि'** कलङ्कविकलानि कर्दमरहितानि वा **'निक्कंकडच्छाया'** इति निष्कङ्कटा—निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावार्थः छाया—दीप्तिर्येषां तानि निष्कङ्कटच्छायानि **'सप्रभाणि'** स्वरूपतः प्रभावन्ति **'समरीचीनि'** वहिर्विनिर्गतकिरणजालानि **'सोद्द्योतानि'** वहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकराणि **'प्रासादीयानि'** प्रसादाय—मनःप्रसत्तये हितानि मनःप्रसत्तिकारीणीति भावः, तथा **'दर्शनीयानि'** दर्शनयोग्यानि यानि पश्यतश्चक्षुषी न श्रमं गच्छत इति भावः, **'अभिरूवा'** इति अभि—सर्वेषां द्रष्टृणां मनःप्रसादानुकूलतयाऽभिमुखं रूपं येषां तानि अभिरूपाणि—अत्यन्तकमनीयानीत्यर्थः अत एव **'पडिरूवा'** इति प्रतिविशिष्टं रूपं येषां तानि प्रतिरूपाणि, अथवा प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं येषां तानि प्रतिरूपाणि ॥ तदेवं भवनस्वरूपमुक्तमिदानीं यत्पृष्टं 'क भदन्त! भवनवासिनो देवाः परिवसन्ती'ति तत्रोत्तरमाह—**'तत्थ णं वहवे भवणवासी देवा परिवसंति असुरा नागा भेदो भाणियव्वो जाव विहरंति एवं जा ठाणपदे वत्तव्वया सा भाणियव्वा जाव चमरेणं असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसइ'** इति, 'तत्र' तेष्वनन्तरोदितस्वरूपेषु भवनेषु वहवो भवनवासिनो देवाः परिवसन्ति, तानेव जातिभेदत आह—**'असुरा नागा'** इत्यादि यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठः—"असुरा नाग सुवण्णा विज्जू अग्गी य दीव उदही य दिसिपवणथणियनामा दसहा एए भवणवासी ॥ १ ॥ चूडामणिमउडरयणा १ भूसणनागफण २ गरुल ३ वइर ४ पुण्णकलसअंकउप्फेस ५ सीह ६ हयवर ७ गय ८ मगरंक- ९ वरवद्धमाण १० निजुत्तचित्तचिंधगया सुरूवा महिड्ढीया महज्जुइया महायसा महावला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णा पीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउली (मउडा) कल्लाणगपवरवत्थप-

रिद्धिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणवरा भासुरबोंदी पलंववणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पहाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेस्साए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा, ते णं तत्थ साणं २ भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसगाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं २ अग्गमहिसीणं साणं २ अणीयाणं साणं साणं अणियाहिवईणं साणं २ आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महयरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महयाऽऽहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति'' अस्य व्याख्या—'असुराः' असुरकुमाराः, एवं नागकुमाराः सुवर्णकुमारा विद्युत्कुमारा अग्निकुमारा द्वीपकुमारा उदधिकुमारा दिक्कुमाराः पवनकुमाराः स्तनितकुमाराः, 'दशधा' दशप्रकाराः 'एते' अनन्तरोदिता असुरकुमारादयो भवनवासिनो यथाक्रमं चूडामणिमुकुटरत्नभूषणनियुक्तनागस्फटादिविचित्रचिह्नगताश्च, तथाहि—असुरकुमारा भवनवासिनश्चूडामणिमुकुटरत्नाः, चूडामणिर्नाम मुकुटे रत्नं चिह्नभूतं येषां ते तथा, नागकुमारा भूषणनियुक्तनागस्फटारूपचिह्नधराः, सुवर्णकुमाराः भूषणनियुक्तगरुडरूपचिह्नधराः, विद्युत्कुमाराः भूषणनियुक्तवज्ररूपचिह्नधराः, वज्रं नाम शक्रस्यायुधं, अग्निकुमारा भूषणनियुक्तपूर्णकलशरूपचिह्नधराः, द्वीपकुमारा भूषणनियुक्तसिंहरूपचिह्नधराः, उदधिकुमारा भूषणनियुक्तहयवररूपचिह्नधारिणः, दिक्कुमारा भूषणनियुक्तगजरूपचिह्नधारिणः, वायुकुमारा भूषणनियुक्तमकररूपचिह्नधराः, स्तनितकुमारा भूषणनियुक्तवर्द्धमानकरूपचिह्नधारिणः, भूषणमत्र मुकुटो द्रष्टव्योऽन्यत्र 'मउडवरवद्धमाणनिजुत्तचित्तचिंधगया' इति पाठदर्शनाद्, वर्द्धमानकं—शरावसंपुटं, पुनः सर्वे कथम्भूताः? इत्याह—'सुरूपाः' शोभनं रूपं येषां ते तथा, अत्यन्तकमनीय-

रूपा इत्यर्थः, 'महिड्डिया महज्जुइया महायसा महाबला महाणुभागा महासोक्खा' इति प्राग्वत्, 'हारविराइयवच्छा' इति हारैर्विराजितं वक्षो येषां ते हारविराजितवक्षसः, 'कडगतुडियथंभियभुया' इति कटकानि—कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि—बाहुरक्षकास्तैः स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ येषां ते कटकत्रुटितस्तम्भितभुजाः, तथाऽङ्गदानि—बाहुशीर्षाभरणविशेषरूपाणि कुण्डले—कर्णाभरणविशेषरूपे, तथा मृष्टौ—मृष्टीकृतौ गण्डौ—कपोलौ यैस्तानि मृष्टगण्डानि कर्णपीठानि—आभरणविशेषरूपाणि धारयन्तीत्येवंशीला अङ्गदकुण्डलमृष्टगण्डकर्णपीठधारिणः, तथा विचित्राणि— नानारूपाणि हस्ताभरणानि येषां ते विचित्रहस्ताभरणाः, तथा 'विचित्तमालामउलिमउडा' इति, विचित्रा माला—कुसुमस्रग् मौलौ—मस्तके मुकुटं च येषां ते विचित्रमालामौलिमुकुटाः, तथा कल्याणकं—कल्याणकारि प्रवरं वस्त्रं परिहितं यैस्ते कल्याणकवस्त्रपरिहिताः, सुखादिदर्शनान्निष्ठान्तस्यात्र पाक्षिकः परनिपातः, तथा कल्याणकं—कल्याणकारि यत् प्रवरं माल्यं—पुष्पदाम यच्चानुलेपनं तद्धरन्तीति कल्याणकप्रवरमाल्यानुलेपनधराः, तथा भास्वरा—देदीप्यमाना बोन्दिः—शरीरं येषां ते भास्वरबोन्दयः, तथा प्रलम्बत इति प्रलम्बा या वनमाला तां धरन्तीति प्रलम्बवनमालाधराः, दिव्येन 'वर्णेन' कृष्णादिना 'दिव्येन गन्धेन' सुरभिणा 'दिव्येन स्पर्शेन' मृदुस्निग्धादिरूपेण दिव्येन शक्तिविशेषमपेक्ष्य संहननेनेव संहननेन न तु साक्षात्संहननेन, देवानां संहननासम्भवात्, संहननं हि अस्थिरचनात्मकं, न च देवानामस्थीनि सन्ति, तथा चोक्तं प्रागेव—"देवा असंघयणी तेसिं नेव सिरा" इत्यादि, 'दिव्येन संस्थानेन' समचतुरस्ररूपेण भवधारणीयशरीरस्य, तेषामन्यसंस्थानासम्भवात्, 'दिव्यया ऋद्ध्या' परिवारादिकया 'दिव्यया द्युत्या' इष्टार्थसंप्रयोगलक्षणया, 'द्यु अभिगमने' इतिवचनात् 'दिव्यया प्रभया' भवनावासगतया 'दिव्यया छायया' समुदायशोभया 'दिव्येनार्चिषा' स्वशरीरगतरत्नादितेजोज्वालया 'दिव्येन तेजसा' शरीरप्रभवेन 'दिव्यया

लेश्यया' देहवर्णसुन्दरतया दश दिशः 'उद्द्योतयन्तः' प्रकाशयन्तः 'पभासेमाणा' इति शोभयन्तस्ते भवनवासिनो देवा णमिति वाक्यालङ्कारे 'तत्र' स्वस्थाने 'साणं साणं'ति स्वेषां स्वेषामात्मीयात्मीयानां भवनावासशतसहस्राणां स्वेषां स्वेषां सामानिकसहस्राणां स्वेषां त्रायस्त्रिंशकानां स्वेषां स्वेषां लोकपालानां स्वासां स्वासाम् 'अग्रमहिषीणा' पट्टराज्ञीनां स्वेषां स्वेषामनीकानां स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनां स्वेषां स्वेषामात्मरक्षदेवसहस्राणाम्, अन्येषां च बहूनां स्वस्वभवनावासनगरीवास्तव्यानां भवनवासिनां देवानां देवीनां च 'आहेवच्च'मित्यादि, अधिपतेः कर्म्म आधिपत्यं रक्षेत्यर्थः, सा च रक्षा सामान्येनापि (आ)रक्षकेणेव क्रियते तत आह—पुरस्य पतिः पुरपतिस्तस्य कर्म्म पौरपत्यं, सर्वेषामात्मीयानामग्रेसरत्वमिति भावः, तच्चाग्रेसरत्वं नायकत्वमन्तरेणापि नायकनियुक्ततथाविधगृहचिन्तकसामान्यपुरुषस्येव भवति ततो नायकत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह—'स्वामित्वं' स्वमस्यास्तीति स्वामी तद्भावो नायकत्वमित्यर्थः, तदपि च नायकत्वं कथञ्चित्पोषकत्वमन्तरेणापि भवति यथा हरिणयूथाधिपतेर्हरिणस्य, तत आह—'भर्तृत्वं' पोषकत्वमत एव महत्तरकत्वं, तदपि महत्तरकत्वं कस्यचिदाज्ञाविकलस्यापि संभवति यथा कस्यचिद्वणिजः स्वदासदासीवर्गं प्रति, तत आह—'आणाईसरसेणावच्चं' आज्ञया ईश्वर आज्ञेश्वरः सेनायाः पतिः सेनापतिः आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म्म आज्ञेश्वरसेनापत्यं स्वस्वसैन्यं प्रत्यद्भुतमाज्ञाप्राधान्यमिति भावः कारयन्तोऽन्यैर्नियुक्तकैः पुरुषैः पालयन्तः स्वयमेव, महता रवेणेति योगः, 'आहय' इति आख्यानकप्रतिबद्धानि यदिवा 'अहतानि' अव्याहतानि नित्यानुबन्धीनीति भावः ये नाट्यगीते नाट्यं—नृत्यं गीतं—गानं यानि च वादितानि तन्त्रीतलतालत्रुटितानि तन्त्री—वीणा तलौ—हस्ततलौ तालः—कंसिका त्रुटितानि—वादित्राणि, तथा यश्च घनमृदङ्गः पटुना पुरुषेण प्रवादितः, तत्र घनमृदङ्गो नाम घनसमानध्वनिर्यो मृदङ्गः, तत एतेषां द्वन्द्वस्तेषां रवेण 'दिव्यान्' दिवि भवान् प्रधानानिति भावः, भो-

गाढ़ी भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जमानाः 'विहरन्ति' आसते ॥ "कहि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं भवणा पन्नत्ता ?, कहि णं भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति ?, एवं जा ठाणपए वत्तव्वया सा भाणियव्वा जाव चमरे एत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसति जाव विहरति" क भदन्त! असुरकुमाराणां देवानां भवनानि प्रज्ञप्तानि ?, तथा क भदन्त! असुरकुमारा देवाः परिवसन्ति ?, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण या स्थानपदे वक्तव्यता सा भणितव्या यावच्चमरः असुरकुमारेन्द्रः असुरकुमारराजा परिवसति यावद्विहरतीति, सा चैवम्—"गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हिट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अडहुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठी भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिता उक्किन्नंतरविउलगम्भीरखायपरिहा जाव पडिरूवा, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता, एत्थ णं बहवे असुरकुमारा देवा परिवसंति काला लोहियक्खबिंबोट्ठा धवलपुप्फदंता असियकेसा वामेयकुंडलधरा अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसिसिलिंधपुप्फपगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया पढमं वयं च समइक्कंता बिइयं च असंपत्ता भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियग्गहत्था चूडामणिचित्तचिंधगया सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महाजसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति, चमरबलिणो य एत्थ दुवे असुरकुमारिंदा असुरकुमाररायाणो परिवसंति काला महानीलसरिसा नीलगुलियगवलपगासा वियसियसयवत्तनिम्मलईसिसियरत्ततंबनयणा गरुलाययउज्जुतुंगनासा उवचियसिलप्पवाल-



बिंबफलसन्निभाधरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मल (दहिघण) संखगोखीरकुंदधवलमुणालियादंतसेढी हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा अंजणघणमसिणरुयगरमणिज्जनिद्धकेसा वामेयकुंडलधरा जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं जाव भुंजमाणा विहरंति ॥ कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता?, कहि णं भंते! दाहिणिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं चोत्तीसं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा तहेव जाव पडिरूवा, तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति काला लोहियक्खा तहेव भुंजमाणा विहरंति, चमरे य एत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसइ काले महानीलसरिसे जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं चउण्हं चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव विहरइ" ॥ इति, इदं प्रायः समस्तमपि सुगमं नवरं 'काला लोहियक्ख' इत्यादि, 'कालाः' कृष्णवर्णाः 'लोहियक्खबिंबोट्ठा' लोहिताक्षरत्नवद् बिम्बवच्च—बिम्बीफलवद् ओष्ठौ येषां ते लोहिताक्षबिम्बौष्ठाः आरक्तौष्ठा इति भावः, धवलाः पुष्पवत् सामर्थ्यात्कुन्दकलिका इव दन्ता येषां ते धवलपुष्पदन्ताः, असिताः—कृष्णाः केशा येषां ते असितकेशाः, दन्ताः केशाश्चामीषां वैक्रिया द्रष्टव्या न स्वाभाविकाः, वैक्रियशरीरत्वात्, 'वामेयकुण्डलधराः' एककर्णावसक्तकुण्डलधारिणः, तथाऽऽर्द्रेण—सरसेन चन्दनेनानुलिप्तं गात्रं यैस्ते

आर्द्रचन्दनानुलिप्तगात्राः, तथा ईषत्—मनाक् **'शिलिन्ध्रपुष्पप्रकाशानि'** शिलिन्ध्रपुष्पसदृशवर्णानि **'असंक्लिष्टानि'** अत्यन्तसुखजनकतया मनागपि सङ्क्लेशानुत्पादकत्वात् **'सूक्ष्माणि'** मृदुलघुस्पर्शानि अच्छानि चेति भावः वस्त्राणि प्रवरं सुशोभं यथा भवति एवं **परिहिताः**—परिहितवन्तः प्रवरवस्त्रपरिहिताः, तथा वयः प्रथमं—कुमारत्वलक्षणमतिक्रान्तास्तत्पर्यन्तवर्तिन इत्यर्थः, यत आह—द्वितीयं च—मध्यलक्षणं वयोऽसंप्राप्ताः, एतदेव व्यक्तीकरोति—**'भद्रे'** अतिप्रशस्ये यौवने वर्त्तमानाः **'तलभंगयतुडियवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया'** तलभङ्गका—बाह्वाभरणविशेषाः त्रुटितानि—बाहुरक्षकाः, अन्यानि च यानि वराणि भूषणानि बाह्वाभरणानि तेषु ये निर्म्मला मणयः—चन्द्रकान्ताद्या यानि रत्नानि—इन्द्रनीलादीनि तैर्मण्डितौ भुजौ येषां ते तथा, तथा दशभिर्मुद्राभिर्मण्डितौ अग्रहस्तौ येषां ते (दशमुद्रा) मण्डिताग्रहस्ताः, **'चूडामणिचित्तचिंधगया'** चूडामणिः—चूडामणिनामकं **चित्रम्**—अद्भुतं चिह्नं गतं—स्थितं येषां ते चूडामणिचित्रचिह्नगताः, चमरबलिसामान्यसूत्रे **'कालाः'** कृष्णवर्णाः, एतदेवोपमानतः प्रतिपादयति—**'महानीलसरिसा'** महानीलं यत्किमपि वस्तुजातं लोके प्रसिद्धं तेन सदृशाः, एतदेव व्याचष्टे—**नीलगुटिका**—नील्या गुटिका **गवलं**—माहिषं शृङ्गं तयोरिव **प्रकाशः**—प्रतिभा येषां ते नीलगुटिकागवलप्रकाशाः, तथा विकसितशतपत्रमिव निर्मले ईषद्देशविभागेन सिते रक्ते ताम्रे च नयने येषां ते विकसितशतपत्रनिर्म्मलेषत्सितरक्तताम्रनयनाः, तथा गरुडस्येवायता—दीर्घा ऋज्वी—अकुटिला **तुङ्गा**—उन्नता **नासा**—नासिका येषां ते गरुडायतर्जुतुङ्गनासाः, तथा **ओयवियं**—तेजितं यत् **शिलाप्रवाहं**—विद्रुमं रत्नं यच्च बिम्बफलं तत्सन्निभोऽधरः—ओष्ठो येषां ते तथा, तथा पाण्डुरं न तु सन्ध्याकालभावि आरक्तं **शशिशकलं**—चन्द्रखण्डं, तदपि च कथम्भूतमित्याह—**विमलं**—रजसा रहितं कलङ्कविकलं वा तथा निर्म्मलो यो दधिघनः शङ्खो गोक्षीरं यानि **कुन्दानि**—कुन्दकुसुमानि **दकरजः**—पानीयकणा मृणालिका च तद्वद् धवला दन्तश्रे-

णिर्येषां ते तथा, विमलशब्दस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, तथा हुतवहेन—वैश्वानरेण निर्ध्मातं सत् यद् जायते धौतं—निर्म्मलं तप्तम्—उत्तप्तं तपनीयम् आरक्तं सुवर्णं तद्वद्रक्तानि तलानि—हस्तपादतलानि तालुजिह्वे च येषां ते हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालुजिह्वाः, तथाऽञ्जनं—सौवीराञ्जनं घनः—प्रावृट्कालभावी मेघस्तद्वत् कृष्णाः रुचकवद्—रुचकरत्नवद् रमणीयाः स्निग्धाश्च केशा येषां ते अञ्जनघनकृष्णरुचकरमणीयस्निग्धकेशाः, शेषं प्राग्वत् ॥ चमरसूत्रे 'तिण्हं परिसाण'मित्युक्तं ततः पर्षद्विशेषपरिज्ञानाय सूत्रमाह—

चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररन्नो कति परिसातो पं० ?, गो०! तओ परिसातो पं०, तं०—समिता चंडा जाता, अब्भिंतरिता समिता मज्झे चंडा बाहिं च जाया ॥ चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भिंतरपरिसाए कति देवसाहस्सीतो पण्णत्ताओ ?, मज्झिमपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?, बाहिरियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा! चमरस्स णं असुरिंदस्स २ अब्भिंतरपरिसाए चउवीसं देवसाहस्सीतो पण्णत्ताओ, मज्झिमिताए परिसाए अट्ठावीसं देव०, बाहिरिताए परिसाए बत्तीसं देवसा० ॥ चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भिंतरिताए कति देविसता पण्णत्ता ?, मज्झिमियाए परिसाए कति देविसया पण्णत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए कति देविसता पण्णत्ता ?, गोयमा! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए अद्धुट्ठा देविसता पं० मज्झिमियाए परिसाए तिन्नि

देवि० बाहिरियाए अड्ढाइज्जा देवि०। चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? मज्झिमियाए परिसाए० बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? अब्भिंतरियाए परि० देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? मज्झिमियाए परि० देवीणं केवतियं० बाहिरियाए परि० देवीणं के०?, गोयमा! चमरस्स णं असुरिंदस्स २ अब्भिंतरियाए परि० देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पं० मज्झिमाए परिसाए देवाणं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता बाहिरियाए परिसाए देवाणं दिवड्ढं पलि० अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं दिवड्ढं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता मज्झिमियाए परिसाए देवीणं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता बाहिरियाए परि० देवीणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति?—चमरस्स असुरिंदस्स तओ परिसातो पण्णत्ताओ, तंजहा—समिया चंडा जाया, अब्भिंतरिया समिया मज्झिमिया चंडा बाहिरिया जाया?, गोयमा! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भिंतरपरिसा देवा वाहिता हव्वमागच्छंति णो अव्वाहिता, मज्झिमपरिसाए देवा वाहिता हव्वमागच्छंति अव्वाहितावि, बाहिरपरिसा देवा अव्वाहिता हव्वमागच्छंति, अदुत्तरं च णं गोयमा! चमरे असुरिंदे असुरराया अन्नयरेसु उच्चावएसु कज्जकोडुंबेसु समुप्पन्नेसु अब्भिंतरियाए परिसाए सद्धिं संमइसंपुच्छणाबहुले विहरइ मज्झिमपरिसाए सद्धिं पयं एवं पवंचेमाणे २

विहरति बाहिरियाए परिसाए सद्धिं पयंडेमाणे २ विहरति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ— चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ समिया चंडा जाता, अब्भिंतरिया समिया मज्झिमिया चंडा बाहिरिया जाता (सू० ११८) ॥

'चमरस्स ण'मित्यादि, चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य 'कति' कियत्सङ्ख्याकाः पर्षदः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—
गौतम! तिस्रः पर्षदः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—समिता चण्डा जाता, तत्राभ्यन्तरिका पर्षत् 'समिता' समिताभिधाना, एवं मध्यमिका
चण्डा वाह्या जाता ॥ 'चमरस्स ण'मित्यादि, चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि कति देवसह-
स्राणि प्रज्ञप्तानि?, मध्यमिकायां पर्षदि कति देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, वाह्यायां पर्षदि कति देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—
गौतम! चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि चतुर्विंशतिर्देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, मध्यमिकायामष्टाविंशतिर्देवसह-
स्राणि, वाह्यायां द्वात्रिंशद्देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'चमरस्स णं भंते'! इत्यादि, चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्या-
भ्यन्तरिकायां पर्षदि कति देवीशतानि प्रज्ञप्तानि? मध्यमिकायां पर्षदि कति देवीशतानि प्रज्ञप्तानि? वाह्यायां पर्षदि कति देवीशतानि
प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! अभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धतृतीयानि देवीशतानि प्रज्ञप्तानि, मध्यमिकायां पर्षदि त्रीणि देवीशतानि
प्रज्ञप्तानि, वाह्यायां पर्षदि अर्द्धचतुर्थानि देवीशतानि प्रज्ञप्तानि ॥ 'चमरस्स णं भंते!' इत्यादि, चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्यासुरकु-
मारराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता? मध्यमिकायां पर्षदि देवानां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?,
एवं वाह्यपर्षद्विषयमपि प्रश्नसूत्रं वक्तव्यं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?, एव मध्यमिकाबाह्यपर्ष-

द्विषये अपि प्रश्नसूत्रे वक्तव्ये, भगवानाह—गौतम! चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धतृतीयानि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, मध्यमिकायां पर्षदि देवानां द्वे पल्योपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता, बाह्यायां पर्षदि देवानां द्व्यर्द्धं पल्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां द्व्यर्द्धपल्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता, मध्यमिकायां पर्षदि देवीनां पल्योपमं स्थितिः, प्रज्ञप्ता, बाह्यायां पर्षदि देवीनामर्द्धपल्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता, इह भूयान् वाचनाभेद इति यथाऽवस्थितसूत्रे पाठनिर्णयार्थं सुगममपि सूत्रमक्षरसंस्कारमात्रेण विध्रियते। सम्प्रत्यभ्यन्तरिकादिव्यपदेशकारणं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते? चमरस्य असुरकुमारराजस्य तिस्रः पर्षदः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा समिता चण्डा जाता, अभ्यन्तरा समिता मध्यमिका चण्डा बाह्या जाता भगवानाह—गौतम! चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्याभ्यन्तरपर्षत्का देवाः 'वाहिता' आहूताः 'हव्वं' शीघ्रमागच्छन्ति नो 'अव्वाहिता' अनाहूताः, अनेन गौरवमाह, मध्यमपर्षद्गा देवा आहूता अपि शीघ्रमागच्छन्ति अनाहूता अपि, मध्यमप्रतिपत्तिविषयत्वात्, बाह्यपर्षद्गा देवा अनाहूताः शीघ्रमागच्छन्ति, तेषामाकारणलक्षणगौरवानर्हत्वात्, 'अदुत्तरं च ण'मित्यादि, 'अथोत्तरम्' अथान्यद् अभ्यन्तरत्वादिविषये कारणं गौतम! चमरोऽसुरेन्द्रोऽसुरकुमारराजोऽन्यतरेषु 'उच्चावचेषु' शोभनाशोभनेषु 'कज्जकोडुंबेसु' इति कौटुम्बिकेषु कार्येषु कुटुम्बे भवानि कौटुम्बानि स्वराष्ट्रविषयाणीत्यर्थः तेषु कार्येषु समुत्पन्नेषु अभ्यन्तरिकया पर्षदा सार्द्धं संमतिसंप्रश्नबहुलश्चापि विहरति, सन्मत्या—उत्तमया मत्या यः संप्रश्नः—पर्यालोचनं तद्बहुलश्चापि 'विहरति' आस्ते, स्वल्पमपि प्रयोजनं प्रथमतस्तया सह पर्यालोच्य विदधातीति भावः, मध्यमिकया पर्षदा सार्द्धं यदभ्यन्तरिकया पर्षदा सह पर्यालोच्य कर्त्तव्यतया निश्चितं पदं 'तत्पञ्चयन् विहरति' एवमिदमस्माभिः पर्यालोचितमिदं कर्त्तव्यमन्यथा दोष इति विस्तारयन्नास्ते, बाह्यया पर्षदा सह यदभ्यन्तरिकया पर्षदा सह पर्यालोचितं

मध्यमिकया सह गुणदोषप्रपञ्चकथनतो विस्तारितं पदं तत् 'प्रचण्डयन् प्रचण्डयन् विहरंति' आज्ञाप्रधानः सन्नवश्यं कर्त्तव्यतया निरूपयन् तिष्ठति, यथेदं युष्माभिः कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति, तदेवं या एकान्ते गौरवमेव केवलमर्हति यया च सहोत्तममतित्वात्स्वल्पमपि कार्यं प्रथमतः पर्यालोचयति सा गौरवविषये पर्यालोचनायां चात्यन्तमभ्यन्तरा वर्त्तते इत्यभ्यन्तरिका, या तु गौरवार्हा पर्यालोचितं चाभ्यन्तरिकया पर्षदा सह अवश्यकर्त्तव्यतया निश्चितं न तु प्रथमतः सा किल गौरवे पर्यालोचनायां च मध्यमे भागे वर्त्तेत इति मध्यमिका, या तु गौरवं न जातुचिदप्यर्हति न च यया सह कार्यं पर्यालोचयति केवलमादेश एव यस्मै दीयते सा गौरवानर्हा पर्यालोचनायाश्च वहिर्भावे वर्त्तेत इति बाह्या। तदेवमभ्यन्तरिकादिव्यपदेशनिबन्धनमुक्तं, सम्प्रत्येतदेवोपसंहरन्नाह—'से एएण(तेण)ट्ठेण'मित्यादि पाठसिद्धं, यानि तु समिया चंडा जाता इति नामानि तानि कारणान्तरनिबन्धनानि, कारणान्तरं च ग्रन्थान्तरादवसातव्यं, अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—"चउवीस अट्ठवीसा बत्तीससहस्स देव चमरस्स। अद्धुट्ठा तिन्नि तहा अड्ढाइज्जा य देविसया ॥१॥ अड्ढाइज्जा य दोन्नि य दिवड्ढपलियं कमेण देवठिई। पलियं दिवड्ढमेगं अद्धो देवीण परिंसासु ॥ २ ॥"

कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं भवणा पण्णत्ता?, जहा ठाणपदे जाव बली, एत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसति जाव विहरति ॥ बलिस्स णं भंते! वयरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो कति परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिण्णि परिसा, तंजहा—समिया चंडा जाया, अब्भिंतरिया समिया मज्झिमिया चंडा बाहिरिया जाया। बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए कति देवसहस्सा? मज्झिमियाए परिसाए कति देवसहस्सा

जाव बाहिरियाए परिसाए कति देविसया पण्णत्ता?, गोयमा! बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स २ अब्भितरियाए परिसाए वीसं देवसहस्सा पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए चउवीसं देवसहस्सा पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अट्ठावीसं देवसहस्सा पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए अद्ध-पंचमा देविसता, मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि देविसया पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अद्धुट्ठा देविसता पण्णत्ता, बलिस्स ठितीए पुच्छा जाव बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स २ अब्भितरियाए परिसाए देवाणं अद्धुट्ठ-पलिओवमा ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं दो पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं दिवड्ढं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, सेसं जहा चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो ॥ (सू० ११९)

'कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता' इत्यादि, क्व भदन्त! उत्तराणामसुरकुमाराणां भवनानि प्रज्ञप्तानि? इत्येवं यथा प्रज्ञापनायां द्वितीये स्थानाख्ये पदे तथा तावद्वक्तव्यं यावद्बलिः, अत्र वैरोचनेन्द्रो वैरोचनराजः परिवसति, तत ऊर्द्धमपि तावद्वक्तव्यं यावद्विहरति, तच्चैवम्—"कहि णं भंते! उत्तरिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! जंबु-

दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरे जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से एत्थ उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं तीसं भवणवाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा सेसं जहा दाहिणिल्लाणं जाव विहरंति, बली य एत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसइ काले महानीलसरिसे जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तीसाए भवणवाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हमणियाणं सत्तण्हमणियाहिवईणं चउण्ह य सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरइ" समस्तमिदं प्राग्वत् ॥ सम्प्रति पर्षन्निरूपणार्थमाह—'बलिस्स णं भंते!' इत्यादि प्राग्वत्, नवरमिदमत्र देवदेवीसङ्ख्यास्थितिनानात्वम्—"वीस उ चउवीस अट्ठावीस सहस्साण (होंति) देवाणं। अद्धपणचउद्धुट्ठा देविसय बलिस्स परिसासु ॥ १ ॥ अद्धुट्ठ तिण्णि अड्ढाइज्जाइं (होंति) पलियदेवठिई। अड्ढाइज्जा दोण्णि य दिवड्ढ देवीण ठिइ कमसो ॥ २ ॥"

कहि णं भंते! नागकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता?, जहा ठाणपदे जाव दाहिणिल्लावि पुच्छियव्वा जाव धरणे इत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसति जाव विहरति॥ धरणस्स णं भंते! णागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो कति परिसाओ? पं०, गोयमा! तिण्णि परिसाओ, ताओ चेव जहा चमरस्स। धरणस्स णं भंते! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए कति देवसहस्सा पन्नत्ता?, जाव बाहिरियाए परिसाए कति देवीसता पण्णत्ता?, गोयमा! धरणस्स णं

णागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए सट्ठिं देवसहस्साइं मज्झिमियाए परिसाए सत्तरिं देवसहस्साइं बाहिरियाए असीतिदेवसहस्साइं अब्भिंतरपरिसाए पण्णत्तरं देविसतं पण्णत्तं मज्झिमियाए परिसाए पण्णासं देविसतं पण्णत्तं बाहिरियाए परिसाए पणवीसं देविसतं पण्णत्तं । धरणस्स णं रन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता? बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! धरणस्स रण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं सातिरेगं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं चउभागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो जहा चमरस्स ॥ कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं णागकुमाराणं जहा ठाणपदे जाव विहरंति ॥ भूयाणंदस्स णं भंते! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्ण-

त्ताओ?, मज्झिमियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ?, बाहिरियाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ? अब्भितरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता? मज्झिमियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता? बाहिरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता?, गोयमा! भूयाणंदस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए पन्नासं देवसहस्सा पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए सट्ठिं देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए सत्तरि देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, अब्भितरियाए परिसाए दो पणवीसं देविसयाणं पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए दो देवीसया पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए पण्णत्तरं देविसयं पण्णत्तं। भूयाणंदस्स णं भंते! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? जाव बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?, गोयमा! भूताणंदस्स णं अब्भितरियाए परिसाए देवाणं देसूणं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं साइरेगं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं साइरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अत्थो जहा चमरस्स, अवसेसाणं वेणु-

देवादीणं महाघोसपज्जवसाणाणं ठाणपदवत्तव्वया णिरवयवा भाणियव्वा, परिसातो जहा धरणभूताणंदाणं (सेसाणं भवणवईणं) दाहिणिल्लाणं जहा धरणस्स उत्तरिल्लाणं जहा भूताणंदस्स, परिमाणंपि ठितीवि ॥ (सू० १२०)

'कहि णं भंते! नागकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता?' इत्यादि, क भदन्त! नागकुमाराणां देवानां भवनानि प्रज्ञप्तानि?, एवं यथा प्रज्ञापनायां स्थानाख्ये द्वितीयपदे तथा वक्तव्यं यावद् दाक्षिणात्या अपि प्रष्टव्या यावद्धरणोऽत्र नागकुमारेन्द्रो नागकुमारराजः परिवसति यावद्विहरति, तच्चैवम्—"कहि णं भंते! नागकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हिट्ठावि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं नागकुमाराणं देवाणं चुलसी भवणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा जाव पडिरूवा, एत्थ णं नागकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढीया महज्जुतिया, सेसं जहा ओहियाणं जाव विहरंति, धरणभूयाणंदा एत्थ दुवे नागकुमारिंदा नागकुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढीया सेसं जहा ओहियाणं जाव विहरंति। कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! दाहिणिल्ला नागकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चोयालीसं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा जाव पडिरूवा, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं

भवणा पन्नत्ता, एत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला 'नागकुमारा परिवसंति महिड्डीया जाव विहरंति, धरणे एत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसइ महिड्डीए जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं छण्हं सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरंति" पाठसिद्धं ॥ सम्प्रति पर्षन्निरूपणार्थमाह—**'धरणस्स णं भंते!'** इत्यादि, प्राग्वत्, नवरमत्राभ्यन्तरपर्षदि षष्टिर्देवसहस्राणि मध्यमिकायां सप्ततिर्देवसहस्राणि बाह्यायामशीतिर्देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्चसप्ततं देवीशतं, 'मज्झिमियाए परिसाए पण्णासं देविसतं पण्णत्तं' मध्यमिकायां पर्षदि पञ्चाशं देवीशतं बाह्यायां पञ्चविंशं देवीशतं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां स्थितिः सातिरेकमर्द्धपल्योपमं मध्यमिकायामर्द्धपल्योपमं बाह्यायां देशोनमर्द्धपल्योपमं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां स्थितिर्देशोनमर्द्धपल्योपमं मध्यमिकायां सातिरेकं चतुर्भागपल्योपमं बाह्यायां चतुर्भागपल्योपमं, शेषं प्राग्वत् ॥ **'कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं भवणा पण्णत्ता जहा ठाणपदे जाव विहरइ'**त्ति, क भदन्त! उत्तराणां नागकुमाराणां भवनानि प्रज्ञप्तानि? इत्यादि यथा प्रज्ञापनायां स्थानाख्ये पदे तथा वक्तव्यं यावद्विहरतीति पदं, तच्चैवम्—'कहि णं भंते! उत्तरिल्ला नागकुमारा परिवसन्ति?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं चत्तालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीतिमक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा सेसं जहा दाहिणिल्लाणं जाव विहरंति, भूयाणंदे एत्थ नागकुमारिंदे नाग-

कुमारराया परिवसति महिड्डीए जाव पभासेमाणे, से णं चत्तालीसाए भवणावाससयसहस्साणं सेसं तं चेव जाव विहरइ' इति निगदसिद्धं ॥ पर्षन्निरूपणार्थमाह—'**भूयाणंदस्स ण**'मित्यादि प्राग्वत् नवरमत्राभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्चाशद्देवसहस्राणि मध्यमिकायां षष्टिर्देवसहस्राणि बाह्यायां सप्ततिर्देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि पञ्चविंशे द्वे देवीशते मध्यमिकायां परिपूर्णे द्वे देवीशते बाह्यायां पञ्चसप्ततं देवीशतं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां स्थितिर्देशोनं पल्योपमं मध्यमिकायां सातिरेकमर्द्धपल्योपमं बाह्यायामर्द्धपल्योपमं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां स्थितिरर्द्धपल्योपमं मध्यमिकायां देशोनमर्द्धपल्योपमं बाह्यायां सातिरेकं चतुर्भागपल्योपमं, शेषं प्राग्वत् । '**अवसेसाणं वेणुदेवाईणं महाघोसपज्जवसाणाणं ठाणपयवत्तव्वया भाणियव्वा**' इति, '**अवशेषाणां**' नागकुमारराजव्यतिरिक्तानां वेणुदेवादीनां महाघोषपर्यवसानानां **स्थानाख्यप्रज्ञापनागतद्वितीयपदवक्तव्यता** भणितव्या, सा चैवम्—"कहि णं भंते! सुवन्नकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए-असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठावि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं बावत्तरी भवणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भवणा बाहिं वट्टा जाव पडिरूवा, एत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं भवणा पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति महिड्डिया सेसं जहा ओहियाणं जाव विहरंति, वेणुदेवे वेणुदाली एत्थ दुवे सुवण्णकुमारिंदा सुवण्णकुमाररायाणो परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति । कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं भवणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! दाहिणिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसयसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे

जोयणसयसहस्से, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं अट्ठत्तीसं भवणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भवणा वाहिं वट्टा जाव पडिरूवा, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं भवणा पण्णत्ता, एत्थ णं वहवे दाहिणिल्ला सुवण्णकुमारा परिवसंति, वेणुदेवे एत्थ सुवण्णकुमारिंदे सुवण्णकुमारराया परिवसति महिड्ढिए जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ अट्ठत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं जाव विहरति।" पर्षद्वक्तव्यताऽपि धरणवन्निरवशेषा वक्तव्या। 'कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं भवणा पन्नत्ता? कहि णं भंते! उत्तरिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति?, गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं चोत्तीसं भवणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भवणा वाहिं वट्टा जाव पडिरूवा, एत्थ णं वहवे उत्तरिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया जाव विहरंति, वेणुदाली य एत्थ सुवण्णकुमारिंदे सुवण्णकुमारराया परिवसति महिड्ढिए जाव पभासे०, (से णं) तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं सेसं जहा नागकुमाराणं।" पर्षद्वक्तव्यताऽपि भूतानन्दवन्निरवशेषा वक्तव्या। यथा सुवर्णकुमाराणां वक्तव्यता भणिता तथा शेषाणामपि वक्तव्या, नवरं भवननानात्वमिन्द्रनानात्वं परिमाणनानात्वं चैताभिर्गाथाभिरनुगन्तव्यम्—"चउसट्ठी असुराणं चुलसीई चेव होइ नागाणं। वावत्तरिं सुवण्णे वाउकुमाराण छन्नउई ॥१॥ दीवदिसाउदहीणं विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं। छण्हंपि जुयलयाणं वावत्तरिमो सयसहस्सा ॥ २ ॥ चोत्तीसा १ चोयाला २ अट्ठत्तीसं ३ च सयसहस्साइं। पण्णा ४ चत्तालीसा १० दाहिणतो होंति भवणाइं ॥ ३ ॥ तीसा १ चत्तालीसा २ चोत्तीसं ३ चेव सयसहस्साइं। छायाला ४ छत्तीसा १० उत्तरतो होंति भवणाइं ॥ ४ ॥ चमरे १ धरणे २ तह वेणुदेव ३ हरिकंत ४ अग्गिसीहे ५ य। पुण्णे ६ जलकंते या अमिए ८ लंबे य ९ घोसे य १० ॥ ५ ॥ वलि १ भूयाणंदे २ वेणुदालि ३ हरिस्सह ४ अग्गिमाणव

५ विसिट्ठे ६ । जलप्पभ अमियवाहण ८ पभंजणे ९ चेव महघोसे १० ॥ ६ ॥ चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं । सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खा उ ॥ ७ ॥" पर्षद्वक्तव्यताऽपि दाक्षिणात्यानां धरणवत्, उत्तराणां भूतानन्दवत्, तथा चाह— "परिसाओ सेसाणं भवणवईणं दाहिणिल्लाणं जहा धरणस्स, उत्तरिल्लाणं जहा भूयाणंदस्से"ति ॥ तदेवं भवन(पति)वक्तव्यतोक्ता, सम्प्रति वानमन्तरवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! वाणमंतराणं देवाणं भवणा (भोमेज्जा णगरा) पण्णत्ता?, जहा ठाणपदे जाव
विहरंति ॥ कहि णं भंते! पिसायाणं देवाणं भवणा पण्णत्ता?, जहा ठाणपदे जाव विहरंति
कालमहाकाला य तत्थ दुवे पिसायकुमाररायाणो परिवसंति जाव विहरंति, कहि णं भंते! दा-
हिणिल्लाणं पिसायकुमाराणं जाव विहरंति काले य एत्थ पिसायकुमारिंदे पिसायकुमारराया
परिवसति महड्ढिए जाव विहरति ॥ कालस्स णं भंते! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो
कति परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—ईसा
तुडिया दढरहा, अब्भिंतरिया ईसा मज्झिमिया तुडिया बाहिरिया दढरहा । कालस्स णं
भंते! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिंतरपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्ण-
त्ताओ? जाव बाहिरियाए परिसाए कइ देविसया पण्णत्ता?, गो० कालस्स णं पिसायकुमारिं-
दस्स पिसायकुमाररायस्स अब्भिंतरियपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ मज्झिमपरि-

साए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरियपरिसाए बारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ अब्भिंतरियाए परिसाए एगं देविसतं पण्णत्तं मज्झिमियाए परिसाए एगं देविसतं पण्णत्तं बाहिरियाए परिसाए एगं देविसतं पण्णत्तं। कालस्स णं भंते! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता? जाव बाहिरियाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गोयमा! कालस्स णं पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिंतरपरिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परि० देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परि० देवाणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भंतरपरि० देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमपरि० देवीणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरपरिसाए देवीणं देसूणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमपरिसाए देवीणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, बाहिरपरिसाए देवीणं देसूणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो जो चेव चमरस्स, एवं उत्तरस्सवि, एवं णिरंतरं जाव गीयजसस्स ॥ (सू० १२१)

'कहि णं भंते! वाणमंतराणं देवाणं भोमेज्जा नगरा पण्णत्ता?' क भदन्त! वानमन्तराणां देवानां भौमेयानि नगराणि प्रज्ञ-

ज्ञानि ?, 'जहा ठाणपदे जाव विहरंति' इति, यथा स्थानाख्ये प्रज्ञापनायां द्वितीये पदे तथा वक्तव्यं यावद्विहरन्तीति, तच्चैवं—"गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठावि एगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं वाणमन्तराणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जा नगरावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया उक्किण्णंतरविउलगंभीरखायपरिहा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसुंढिपरियरिया अयोज्झा सयाजया सयागुत्ता अडयालकोट्ठरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं भोमेज्जा नगरा पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा परिवसंति, तंजहा—पिसाया भूया जक्खा रक्खसा किंनरा किंपुरिसा भुयगपतिणो महाकाया गंधव्वगणा य निउणगंधव्वगीयरमणा अणपन्निय पणपन्निय इसिवाइय भूयवाइय कंदिय महाकंदिया य कुहंडपयंगदेवा चंचलचवलचित्तकीलणदवप्पिया गहिरहसियगीयणच्चणरई वणमालामेलमउडकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा सव्वोउयसुरहिकुसुमरइयपलंबसोहंतकंतवियसंतचित्तवणमालरइयवच्छा कामकामा कामरूवदेहधारी नाणाविहवण्णरागवरवत्थचिल्ललगनियंसणा विविहदेसनेवत्थगहियवेसा पमुइयकंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया हासबोलबहुला असिमोग्गरसत्तिहत्था अणेगमणिरयणविविह (निजुत्त) चित्तचिंधगया

सुरूवा महिड्ढिया महायसा जाव महासोक्खा हारविराइयवच्छा जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भोमेज्जनगरावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं २ अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव भुंजमाणा विहरंति" प्रायः सुगमं, नवरं 'भुयगवइणो महाकाया' इति, महाकाया—महोरगाः, किंविशिष्टाः? इत्याह—भुजगपतयः, 'गन्धर्वगणाः' गन्धर्वसमुदायाः, किंविशिष्टाः? इत्याह—'निपुणगन्धर्वगीतरतयः' निपुणाः—परमकौशलोपेता एवं गन्धर्वा—गन्धर्वजातीया देवास्तेषां यद् गीतं तत्र रतिर्येषां ते तथा, एते व्यन्तराणामष्टौ मूलभेदाः, इमे चान्येऽवान्तरभेदा अष्टौ—'अणपन्निय'इत्यादि, कथम्भूता एते षोडशापीत्यत आह—'चंचलचवलचित्तकीलणदवप्पिया' चञ्चला—अनवस्थितचित्तास्तथा चलचपलम्—अतिशयेन चपलं यच्चित्रं—नानाप्रकारं क्रीडनं यश्च चित्रो—नानाप्रकारो द्रवः—परिहासस्तौ प्रियौ येषां ते चलचपलचित्रक्रीडनद्रवप्रियाः, ततश्चञ्चलशब्देन विशेषणसमासः, तथा 'गहिरहसियगीयनच्चणरई' इति गम्भीरेषु हसितगीतनर्त्तनेषु रतिर्येषां ते तथा, तथा 'वणमालामेडमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणभूसणधरा' इति वनमाला—वनमालामयानि आमेलमुकुटकुण्डलानि, आमेलः—आपीडशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशाद् आपीडः—शेखरकः, तथा स्वच्छन्दं विकुर्वितानि यानि आभरणानि तैश्चारु भूषणं—मण्डनं तद्धरन्तीति वनमालाऽऽपीडमुकुटकुण्डलस्वच्छन्दविकुर्विताभरणचारुभूषणधराः, लिङ्गादिलाद्धच्, तथा सर्वर्त्तुकैः—सर्वर्त्तुभाविभिः सुरभिकुसुमैः सुरचिताः—शोभनं निर्वर्त्तिताः तथा प्रलम्बत इति प्रलम्बा शोभत इति शोभमाना कान्ता—कमनीया विकसन्ती—अमुकुलिता अम्लानपुष्पमयी चित्रा—नानाप्रकारा वनमाला रचिता वक्षसि यैस्ते सर्वर्त्तुकसुरभिकुसुमरचितप्रलम्बशोभमानकान्तविकसच्चित्रवनमालारचितवक्षसः, तथा कामं

कामकामा अनियतकामा इत्यर्थः, क्वचित् 'कामकामाः' इति पाठः, कामेन—स्वेच्छया कामो—मैथुनसेवा येषां ते —स्वेच्छया गमो येषां ते कामगमाः—स्वेच्छाचारिणः, तथा कामं—स्वेच्छया रूपं येषां ते कामरूपास्ते च ते देहाश्च कामरूपदेहास्तान् धरन्तीत्येवंशीलाः कामरूपदेहधारिणः, स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपदेहधारिण इत्यर्थः, तथा नानाविधैर्वर्णै रागो—रक्तता येषां तानि नानाविधवर्णरागाणि वराणि—प्रधानानि चित्राणि—नानाविधानि अद्भुतानि वा (वस्त्राणि) चेल्ललकानि—देशीवचनाद् देदीप्यमानानि निर्यसणं—परिधानं येषां ते नानाविधवर्णरागवरवस्त्रचेल्ललकनिवसनाः तथा विविधैर्देशनेपथ्यैर्गृहीतो वेषो यैस्ते विविधदेशनेपथ्यगृहीतवेषाः, 'पमुइयकंदप्पक-लहकेलिकोलाहलप्पिया' कन्दर्पः—कामोद्दीपनं वचनं चेष्टा च कलहो—राटिः केलिः—क्रीडा कोलाहलो—बोलः कन्दर्पकलहकेलिको-लाहलाः प्रिया येषां ते कन्दर्पकलहकेलिकोलाहलप्रियाः, ततः प्रमुदितशब्देन सह विशेषणसमासः, 'हासबोलबहुला' इति हास-बोलौ बहुलौ—अतिप्रभूतौ येषां ते हासबोलबहुलाः, तथाऽसिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः, 'प्रहरणात् सप्तमी चे'ति सप्तम्यन्तस्य पाक्षिकः परनिपातः, 'अणेगमणिरयणविविहनिजुत्तचित्तचिंधगया' इति, मणयः—चन्द्रकान्ताद्या रत्नानि—कर्केतनादीनि अनेकैर्मणिरत्नैर्विविधं—नानाप्रकारं नियुक्तानि विचित्राणि—नानाप्रकाराणि चिह्नानि गतानि—स्थितानि येषां ते तथा, शेषं प्राग्वत् ॥ 'कहि णं भंते ! पिसायाणं देवाणं भोमेज्जा नगरा पण्णत्ता?' क भदन्त ! पिशाचानां देवानां भौमेयानि नगराणि प्रज्ञप्तानि ? इत्यादि, 'जहा ठाणपदे जाव विहरंति' यथा प्रज्ञापनायां स्थानाख्ये पदे तथा वक्तव्यं यावद्विहरन्तीति पदं, तच्चैवं—

"कहि णं भंते ! पिसाया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जन-

गरावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं भोमेज्जनगरा बाहिं वट्टा जो ओहिओ भोमेज्जनगरवण्णतो सो भाणियव्वो जाव पडिरूवा, एत्थ णं पिसायाणं भोमेज्जनगरा पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे पिसाया देवा परिवसंति महिड्डिया जहा ओहिया जाव विहरंति" सुगमं, "कालमहाकाला य एत्थ दुवे पिसाइंदा पिसायरायाणो परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति, कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं पिसायाणं भोमेज्जा नगरा० बाहिं वट्टा जो ओहिओ भोमेज्जनगरवण्णतो सो भाणियव्वो जाव पडिरूवा, एत्थ णं पिसायाणं भोमेज्जनगरा पण्णत्ता। कहि णं भंते! दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठावि एगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं भोमेज्जा नगरा पण्णत्ता, तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति, काले य तत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति महिड्डिए जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तिरियमसंखेज्जाणं भोमेज्जनगरावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं वाणमन्तराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरति" पाठसिद्धं ॥ सम्प्रति पर्षन्निरूपणार्थमाह—'कालस्स णं भंते! पिसायइंदस्स पिसायरन्नो कति परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—ईसा तुडिया दढरहा अब्भिंतरिया ईसा' इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरमत्राभ्यन्तरिकायामष्टौ देवसहस्राणि मध्यमिकायां दश देवसहस्राणि बाह्यायां द्वादश देवसहस्राणि, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि एकं देवीशतं मध्यमिकायामप्येकं देवीशतं बाह्यायामप्येकं देवीशतं, अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानां स्थितिरर्द्धपल्योपमं मध्यमिकायां देशोनमर्द्ध-

पल्योपमं वाह्यायां सातिरेकचतुर्भागपल्योपमं, तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां सातिरेकं चतुर्भागपल्योपमं मध्यमिकायां चतुर्भागपल्योपमं वाह्यायां देशोनं चतुर्भागपल्योपमं, शेषं प्राग्वत्। "कहि णं भंते! उत्तरिल्लाणं पिसायाणं भोमेज्जा नगरा पण्णत्ता?, कहि णं भंते! उत्तरिल्ला पिसाया देवा परिवसंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे जहेव दाहिणिल्लाणं वत्तव्वया तहेव उत्तरिल्लाणंपि, नवरं मन्दरस्स उत्तरेणं, महाकाले इत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति जाव विहरति" पाठसिद्धं, पर्षद्वक्तव्यताऽपि कालवत्, "एवं जहा पिसायाणं तहा भूयाणवि जाव गंधव्वाणं नवरं इंदेसु नाणत्तं भाणियव्वं, इमेण विहिणा—भूयाणं सुरूवपडिरूवा, जक्खाणं पुण्णभद्दमाणिभद्दा, रक्खसाणं भीममहाभीमा, किंनराणं किंनरकिंपुरिसा, किंपुरिसाणं सप्पुरिसमहापुरिसा, महोरगाणं अइकायमहाकाया, गंधव्वाणं गीयरईगीयजसा—'काले य महाकाले सुरूवपडिरूवपुण्णभद्दे य। अमरवइमाणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥ १ ॥ किंनरकिंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे। अइकायमहाकाए गीयरई चेव गीयजसे ॥ २ ॥" सुगमम्, पर्षद्वक्तव्यताऽपि कालवन्निरन्तरं वक्तव्या यावद्गीतयशसः ॥ तदेवमुक्ता वानमन्तरवक्तव्यता सम्प्रति ज्योतिष्काणामाह—

कहि णं भंते! जोइसियाणं देवाणं विमाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! जोतिसिया देवा परिवसंति?, गोयमा! उप्पिं दीवसमुद्दाणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो सत्तणउए जोयणसते उड्ढं उप्पतित्ता दसुत्तरसया जोयणबाहल्लेणं, तत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा जोतिसियविमाणावाससतसहस्सा भवंतीतिमक्खायं, ते णं विमाणा अद्धकविट्ठकसंठाणसंठिया एवं जहा ठाणपदे जाव चंदमसूरिया य तत्थ णं जोतिसिंदा जोतिसरायाणो

परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति ॥ सूरस्स णं भंते! जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—तुंबा तुडिया पेश्चा, अब्भिंतरया तुंबा मज्झिमिया तुडिया बाहिरिया पेचा, सेसं जहा कालस्स परिमाणं, ठिनीवि। अट्ठो जहा चमरस्स। चंदस्सवि एवं चेव ॥ (सू० १२२)

'कहि णं भंते! जोइसियाण'मित्यादि, क भदन्त! ज्योतिष्कानां देवानां विमानानि प्रज्ञप्तानि? क भदन्त! ज्योतिष्का देवाः परिवसन्ति?, भगवानाह—गौतम! अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् रुचकोपलक्षितात् 'सप्तनवतिशतानि' सप्तनवत्यधिकानि योजनशतान्यूर्ध्वमुत्प्लुत्य—उत्प्लुत्याऽतिक्रम्य दशोत्तरयोजनशतबाहल्ये तिर्यगसङ्ख्येयेऽसङ्ख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणे ज्योतिर्विषये 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे ज्योतिष्काणां देवानां तिर्यगसङ्ख्येयानि ज्योतिष्कविमानशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, तानि च विमानान्यर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितानि, अत्राक्षेपपरिहारौ चन्द्रप्रज्ञप्तिटीकायां सूर्यप्रज्ञप्तिटीकायां सङ्ग्रहणिटीकायां चाभिहिताविति ततोऽवधार्यौ, 'सव्वफालियामया' सर्वात्मना स्फटिकमयानि सर्वस्फटिकमयानि 'जहा ठाणपदे जाव चंदमसूरिया एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसरायाणो परिवसंति महिड्डिया जाव विहरंति' यथा प्रज्ञापनायां स्थानाख्ये द्वितीये पदे तथा वक्तव्यं यावच्चन्द्रसूर्यौ, द्वावत्र ज्योतिष्केन्द्रौ ज्योतिष्कराजानौ परिवसतस्ततोऽप्यूर्द्ध्वं यावद्विहरन्तीति, एतच्चैवं—"अब्भुग्गयमूसियपहसिया इव विविहमणिकणगरयणभत्तिचित्ता वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागछत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाणसिहरा जालंतररयणा पंजरुम्मिल्लियव्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीया तिलगरयणद्धचंदचित्ता नाणामणिमयदामालंकिया अंतो बहिं च

३ प्रतिपत्तौ देवाधिकारः उद्देशः १ सू० १२२

सण्हा तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडा सुहफासा सस्सिरीया सुरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, एत्थ णं जोइसियाणं विमाणा पण्णत्ता, एत्थ णं जोइसिया देवा परिवसंति, तंजहा—बिहस्सती चंदसूरा सुक्कसणिच्छरा राहू धूमकेउबुहा अंगारका तत्ततवणिज्जकणगवण्णा जया तहा जोइसंमि चारं चरंति केऊ य गइरतीया अट्ठावीसइविहा य नक्खत्तदेवगणा नाणासंठाणसंठिया य पंचवण्णा य तारगाओ ठियलेसाचारिणो अविस्सामंडलगई पत्तेयनामंकपायडियचिंधमउडा महिड्ढिया जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणियाणं साणं साणं अणियाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरंति, चंदिमसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति महिड्ढिया जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं जोइसियविमाणावाससयसहस्साणं चउण्हं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरंति" इति, अभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो गता उत्सृता—प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा—दीप्तिस्तया सितानि—धवलानि अभ्युद्गतोत्सृतप्रभासितानि, तथा विविधानां मणिकनकरत्नानां या भक्तयो—विच्छित्तिविशेषास्ताभिश्चित्राणि—आश्चर्यभूतानि विविधमणिकनकभक्तिचित्राणि, 'वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिच्छत्तकलिया' वातोद्धूता—वायुकम्पिता विजयः—अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताकाः, अथवा विजय इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः—पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः छत्रातिच्छत्राणि—उपर्युपरि स्थितानि छत्राणि तैः कलितानि वातोद्धूतविजयवैजयन्ती-

पताकाछत्रातिच्छत्रकलितानि 'तुङ्गानि' उच्चानि, तथा गगनतलम्—अम्बरतलमनुलिखन्—अभिलङ्घयन् शिखरं येषां तानि गगनतलानुलिखच्छिखराणि, तथा जालानि—जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोकप्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्र तानि जालान्तररत्नानि, तथा पञ्जराद् उन्मीलितवद् यथा हि किल किमपि वस्तु पञ्जराद्—वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमनष्टच्छायत्वात् शोभते तथा तान्यपि विमानानीति भावः, तथा मणिकनकानां सम्बन्धिनी स्तूपिका—शिखरं येषां तानि मणिकनकस्तूपिकानि, ततः पूर्वपदाभ्यां सह विशेषणसमासः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादिषु प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकाश्च—भित्त्यादिषु पुण्ड्राणि रत्नमयाश्चार्द्धचन्द्रा द्वारादिषु तैश्चित्राणि विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकरत्नार्द्धचन्द्रचित्राणि, तथा नानामणिमयीभिर्दामभिरलङ्कृतानि नानामणिमयदामालङ्कृतानि, तथाऽन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णानि—मसृणानि, तथा तपनीयं—सुवर्णविशेषस्तन्मय्या रुचिराया वालुकायाः—सिकतायाः प्रस्तटः—प्रतरो येषु तानि तपनीयरुचिरवालुकाप्रस्तटानि, तथा सुखस्पर्शानि शुभस्पर्शानि वा शेषं प्राग्वद् यावद् 'वहस्सइचंदा' इत्यादि, बृहस्पतिचन्द्रसूर्यशुक्रशनैश्चरराहुधूमकेतुबुधाङ्गारकाः तप्ततपनीयकनकवर्णाः—ईषत्कनकवर्णाः, तथा ये ग्रहा ज्योतिष्के—ज्योतिश्चक्रे चारं चरन्ति केतवः ये च बाह्यद्वीपसमुद्रेष्वगतिरतिकाः ये चाष्टाविंशतिविधा नक्षत्रदेवगणास्ते सर्वेऽपि नानाविधसंस्थानसंस्थिताः चशब्दात्तप्ततपनीयकनकवर्णाश्च, तारकाः पञ्चवर्णाः, एते च सर्वेऽपि स्थितलेश्या—अवस्थिततेजोलेश्याकाः, तथा ये चारिणः—चाररतास्तेऽविश्राममण्डलगतिकाः, तथा सर्वेऽपि प्रत्येकं नामाङ्केन—स्वस्वनामाङ्कपातेन प्रकटित चिह्नं मुकुटो येषां ते प्रत्येकं स्वनामाङ्कप्रकटितमुकुटचिह्नाः, किमुक्तं भवति?—चन्द्रस्य स्वमुकुटे चन्द्रमण्डलं लाञ्छनं स्वनामाङ्कप्रकटितं सूर्यस्य सूर्यमण्डलं ग्रहस्य ग्रहमण्डलं नक्षत्रस्य नक्षत्रमण्डलं तारकस्य तारकाकारमिति, शेषं प्राग्वत् ॥ पर्षन्निरूपणार्थमाह

—'सूरस्स णं भंते! जोइसिंदस्स जोइसरण्णो कइ परिसाओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! तिन्नि परिसाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—तुंवा तुडिया पेचा, अब्भितरिया तंबा मज्झिमिया तुडिया वाहिरिया पेचा, सेसं जहा कालस्स, अट्ठो जहा चमरस्स, चन्दस्सवि एवं चेव' पाठसिद्धं ज्योतिष्कास्तिर्यग्लोक इति तिर्यग्लोकप्रस्तावाद्द्वीपसमुद्रवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! दीवसमुद्दा? केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा? केमहालया णं भंते! दीवसमुद्दा? किंसंठिया णं भंते! दीवसमुद्दा? किमाकारभावपडोयारा णं भंते! दीवसमुद्दा णं पन्नत्ता?, गोयमा! जंवुदीवाइया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणतो एकविहविधाणा वित्थारतो अणेगविधविधाणा दुगुणादुगुणे पडुप्पाएमाणा २ पवित्थरमाणा २ ओभासमाणवीचीया बहुउप्पलपउमकुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तपप्फुल्लकेसरोवचिता पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता अस्सिं तिरितलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा सयंभुरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ (सू० १२३)

'कहि णं भंते! दीवसमुद्दा' इत्यादि, 'क्व' कस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे 'भदन्त!' परमकल्याणयोगिन्! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?, अनेन द्वीपसमुद्राणामवस्थानं पृष्टं, 'केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा' इति 'कियन्तः' कियत्सङ्ख्याका णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?, अनेन द्वीपसमुद्राणां सङ्ख्यानं पृष्टं, 'केमहालिया णं भंते! दीवसमुद्दा' इति किं महानालय—आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो येषां ते महालयाः किंप्रमाणमहालया णमिति प्राग्वद् द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?, किंप्रमाणं द्वीपसमुद्राणां महत्त्वमिति

भावः, एतेन द्वीपसमुद्राणामायामादिपरिमाणं पृष्टं, तथा 'किंसंठिया णं भंते! दीवसमुद्दा' इति किं संस्थितं—संस्थानं येषां ते किंसंस्थिता णमिति पूर्ववद् भदन्त! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?, अनेन संस्थानं पप्रच्छ, 'किमागारभावपडोयारा णं भंते! दीवसमुद्दा पण्णत्ता' इति आकारभावः—स्वरूपविशेषः कस्याकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवताराः, बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः, णमिति पूर्ववद्, द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?, किं स्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः, अनेन स्वरूपविशेषविषयः प्रश्नः कृतः, भगवानाह—'गोयमे'त्यादि, गौतम! जम्बूद्वीपादयो द्वीपा 'लवणादिकाः' लवणसमुद्रादिकाः समुद्राः, अनेन द्वीपानां समुद्राणां चादिरुक्तः, एतच्चापृष्टमपि भगवता कथितमुत्तरत्रोपयोगित्वात् गुणवते शिष्यायापृष्टमपि कथनीयमिति ख्यापनार्थं च, 'संठाणतो' इत्यादि, 'संस्थानतः' संस्थानमाश्रित्य 'एगविहिविहाणा' इति एकविधि—एकप्रकारं विधानं येषां ते एकविधिविधानाः, एकस्वरूपा इति भावः, सर्वेषां वृत्तसंस्थानसंस्थितत्वाद्, 'विस्तारतः' विस्तारमधिकृत्य पुनरनेकविधिविधानाः अनेकविधानि—अनेकप्रकाराणि विधानानि येषां ते तथा, विस्तारमधिकृत्य नानास्वरूपा इत्यर्थः, तदेव नानास्वरूपत्वमुपदर्शयति—'दुगुणादुगुणे पडुप्पाएमाणा २ पवित्थरमाणा' इति, द्विगुणं द्विगुणं यथा भवति एवं प्रत्युत्पद्यमाना गुण्यमाना इत्यर्थः, 'प्रविस्तरन्तः' प्रकर्षेण विस्तारं गच्छन्तः, तथाहि—जम्बूद्वीप एकं लक्षं लवणसमुद्रो द्वे लक्षे धातकीखण्डश्चत्वारि लक्षाणीत्यादि, 'ओभासमाणवीचीया' इति अवभासमाना वीचयः—कल्लोला येषां ते अवभासमानवीचयः, इदं विशेषणं समुद्राणां प्रतीतमेव, द्वीपानामपि च वेदितव्यं, तेष्वपि ह्रदनदीतडागादिषु कल्लोलसम्भवात्, तथा बहुभिरुत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः 'पप्फुल्ल'त्ति प्रफुल्लैः—विकसितैः 'केसरे'ति केसरोपलक्षितैरुपचिताः—उपचितशोभाका बहूत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापौण्डरीकशतपत्रसह-

न्धपत्रप्रफुल्लकेसरोपचिताः, तत्रोत्पलं—गर्दभकं पद्मं—सूर्यविकासि कुमुदं—चन्द्रविकासि नलिनम्—ईषद्रक्तं पद्मं सुभगं—पद्मविशेषः सौग-
न्धिकं—कल्हारं पौण्डरीकं—सिताम्बुजं तदेव बृहत् महापौण्डरीकं शतपत्रसहस्रपत्रे—पद्मविशेषौ पत्रसङ्ख्याकृतभेदौ, 'पत्तेयं २' इति
प्रतिशब्दोऽत्राभिमुख्ये 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इति च समासस्ततो वीप्साविवक्षायां प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनं पद्मवरवेदिकापरि-
क्षिप्ताः प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च 'सयंभूरमणपज्जवसाणा' इति जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः स्वयम्भूरमणद्वीपपर्यवसाना लवणसमुद्रादयः
समुद्राः स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यवसाना अस्मिन् तिर्यग्लोके यत्र वयं स्थिता असङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! इह
'अस्सिं तिरियलोए' इत्यनेन स्थानमुक्तम्, 'असंखेज्जा' इत्यनेन सङ्ख्यानं, 'दुगुणादुगुण'मित्यादिना महत्त्वं 'संठाणतो' इत्यादिना
संस्थानम् ॥ सम्प्रत्याकारभावप्रत्यवतारं विवक्षुरिदमाह—

तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे णामं दीवे दीवसमुदाणं अब्भिंतरिए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसं-
ठिते वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिते,
एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं
दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलकं
च किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ से णं एक्काए जगतीए सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते॥
सा णं जगती अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले बारस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोयणाइं
विक्खंभेणं उप्पिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया

गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्ववइरामई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ सा णं जगती एक्केणं जालकडएणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ से णं जालकडए णं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए अच्छे सण्हे लण्हे (जाव) [घट्ठे मट्ठे णीरए णिम्मले णिप्पंके णिक्कंकडच्छाए सप्पभे [सस्सिरीए] समरीए सउज्जोए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे] पडिरूवे ॥ (सू० १२४)

'तत्थ ण'मित्यादि, 'तत्र' तेपु द्वीपसमुद्रेषु मध्ये 'अयं' यत्र वयं वसामो जम्बूद्वीपो नाम द्वीपः, कथम्भूतः? इत्याह—सर्वद्वीपसमुद्राणां **'सर्वाभ्यन्तरकः'** सर्वात्मना—सामस्त्येनाभ्यन्तरः सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरकः, प्राकृतलक्षणात्स्वार्थे कप्रत्ययः, केषां सर्वात्मनाऽभ्यन्तरकः?, उच्यते, सर्वद्वीपसमुद्राणां, तथाहि—सर्वेऽपि शेषा द्वीपसमुद्रा जम्बूद्वीपादारभ्यागमाभिहितेन क्रमेण द्विगुणद्विगुणविस्तारास्ततो भवति सर्वद्वीपसमुद्राणां सर्वाभ्यन्तरकः, अनेन जम्बूद्वीपस्यावस्थानमुक्तं, **'सव्वखुड्डाग'** इति सर्वेभ्योऽपि शेषद्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको—लघुः सर्वक्षुल्लकः, तथाहि—सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे च धातकीखण्डादयो द्वीपा जम्बूद्वीपादारभ्य द्विगुणद्विगुणायामविष्कम्भपरिधयस्ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽयं लघुरिति, एतेन सामान्यतः परिमाणमुक्तं, विशेपतस्त्वायामादिगतं परिमाणमग्रे वक्ष्यति, तथा वृत्तोऽयं जम्बूद्वीपो यतस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तोऽयं जम्बूद्वीपो यतो **'रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः'**

रथस्य—रथाङ्गस्य चक्रस्यावयवे समुदायोपचाराच्चक्रवालं—मण्डलं तस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः, एवं
वृत्तः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितः पुष्करकर्णिका—पद्मबीजकोशः वृत्तः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः पदद्वयं भावनीयम्, एतेन जम्बू-
द्वीपस्य संस्थानमुक्तम् ॥ सम्प्रत्यायामादिपरिमाणमाह—'एक्कं ण'मित्यादि, एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेन, आयामश्च विष्क-
म्भश्च आयामविष्कम्भं, समाहारो द्वन्द्वः, तेन, आयामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजन-
शते सप्तविंशत्यधिके त्रयः क्रोशा अष्टाविंशम्—अष्टाविंशत्यधिकं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकमित्येतावान्
परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, इदं च परिक्षेपपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ ।' इति करणवशात्स्वयमानेतव्यं क्षेत्रस-
मासटीका वा परिभावनीया, तत्र गणितभावनायाः सविस्तरं कृतत्वात् ॥ सम्प्रत्याकारभावप्रत्यवतारप्रतिपादनार्थमाह—'से ण'मि-
त्यादि, 'सः' अनन्तरोक्तायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपो णमिति वाक्यालङ्कारे एकया जगत्या सुनगरप्राकारकल्पया 'स-
र्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन 'संपरिक्षिप्तः' सम्यग्वेष्टितः ॥ 'सा णं जगई' इत्यादि, सा च जगती ऊर्द्ध्वम्—उच्चैस्त्वे-
नाष्टौ योजनानि मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन मध्येऽष्टौ उपरि चत्वारि, अत एव मूले विष्कम्भमधिकृत्य विस्तीर्णा, मध्ये सं-
क्षिप्ता त्रिभागोनत्वात्, उपरि तनुका, मूलापेक्षया त्रिभागमात्रविस्तारभावात्, एतदेवोपमया प्रकटयति—'गोपुच्छसंठाणसंठिया'
गोपुच्छस्येव संस्थानं गोपुच्छसंस्थानं तेन संस्थिता गोपुच्छसंस्थानसंस्थिता ऊर्द्ध्वीकृतगोपुच्छाकारा इति भावः, 'सव्ववइरामई' सर्वा-
त्मना—सामस्त्येन वज्रमयी—वज्ररत्नात्मिका 'अच्छा' आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छा 'सण्हा लण्हा' श्लक्ष्णा-श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ना श्ल-
क्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् 'लण्हा' मसृणा घुण्टितपटवत् 'घट्ठा' घृष्टा इव घृष्टा खरशानया पाषाणप्रतिमावत् 'मट्ठा' मृष्टा इव मृष्टा सुकु-

मारशानया पाषाणप्रतिमावत् **'नीरजा'** स्वाभाविकरजोरहितत्वात् **'निर्मला'** आगन्तुकमलाभावात् **'निष्पङ्का'** कलङ्कविकला कर्दमरहिता वा **'निक्कंकडच्छाया'** इति निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावार्थः छाया—दीप्तिर्यस्याः सा निष्कङ्कटच्छाया **'सप्रभा'** स्वरूपतः प्रभावती **'समरीचा'** वहिर्विनिर्गतकिरणजाला, अत एव **'सोद्योता'** वहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरी **'प्रासादीया'** प्रसादाय—मनःप्रसत्तये हिता तत्कारित्वात् प्रासादीया मनःप्रह्लत्तिकारिणीति भावः **'दर्शनीया'** दर्शनयोग्या यां पश्यतश्चक्षुषी श्रमं न गच्छत इति **'अभिरूवा'** इति अभि—सर्वेषां द्रष्टॄणां मनःप्रसादानुकूलतयाऽभिमुखं रूपं यस्याः सा अभिरूपा, अत्यन्तकमनीयेति भावः, अत एव **'प्रतिरूपा'** प्रतिविशिष्टम्—असाधारणं रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा, अथवा प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा ॥ **'सा णं जगती'** इत्यादि, **'सा'** अनन्तरोदितस्वरूपा णमिति वाक्यालङ्कारे जगती एकेन **'जालकटकेन'** जालानि—जालकानि यानि भवनभित्तिषु लोकेऽपि प्रसिद्धानि तेषां कटकः—समूहो जालकटको जालकाकीर्णो रम्यसंस्थानप्रदेशविशेषपङ्क्तिरिति भावः, तेन जालकटकेन **'सर्वतः'** सर्वासु दिक्षु **'समन्ततः'** सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता ॥ **'से णं जालकडए'** इत्यादि, **'सः'** जालकटक ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेनार्द्धयोजनं—द्वे गव्यूते विष्कम्भेन पञ्च धनुःशतानि, किमुक्तं भवति?—जगत्या प्रायो बहुमध्यभागे सर्वत्र जालकानि तानि च प्रत्येकमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे गव्यूते विष्कम्भतः पञ्चधनुःशतानीति, स च जालकटकः **'सव्वरयणामए'** इति सर्वात्मना रत्नमयः **'अच्छे सण्हे लण्हे जाव पडिरूवे'** इति यावच्छब्दकरणात् 'घट्ठे मट्ठे नीरए निम्मले निप्पंके निक्कंकडच्छाये सप्पभे समरीए सउज्जोए पासाइए दरिसणिज्जे अभिरूवे' इति परिग्रहः, एतेषां [ग्रन्थाग्रम् ५०००] पदानामर्थः प्राग्वत् ॥

तीसे णं जगतीए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महई पउमवरवेदिया पं०, सा णं पउमवरवे-

दिया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए जगतीसमिया परिक्खेवेणं
सव्वरयणामई० ॥ तीसे णं पउमवरवेइयाए अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया
नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहितक्ख-
मईओ सूईओ णाणामणिमया कलेवरा कलेवरसंघाडा णाणामणिमया रूवा नाणामणिमया रूवसं-
घाडा अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य रययामईओ पट्टियाओ
जातरूवमयीओ ओहाडणीओ वइरामयीओ उवरिं पुञ्छणीओ सव्वसेए रययामते साणं छादणे॥
सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं (एगमेगेणं गवक्खजालेणं) एगमेगेणं खिंखिणिजालेणं
जाव मणिजालेणं (कणयजालेणं रयणजालेणं) एगमेगेणं पउमवरजालेणं सव्वरयणामएणं सव्वतो
समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं जाला तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिया णाणामणिरयणवि-
विहहारद्धहारउवसोभितसमुदया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणउत्तरागतेहिं वाएहिं
मंदागं २ एज्जमाणा २ कंपिज्जमाणा २ लंबमाणा २ पझंझमाणा २ सद्दायमाणा २ तेणं ओरालेणं
मणुण्णेणं कण्णमणणेव्वुतिकरेणं सद्देणं सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए अतीव उवसोभेमाणा
उव० चिट्ठंति ॥ तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा गयसंघाडा
नरसंघाडा किण्णरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा वसहसंघाडा सव्वर-

यणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्टा मट्टा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरिया सउज्जोया पासाईया दरसणिज्ञा अभिरूवा पडिरूवा । तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयपंतीओ तहेव जाव पडिरूवाओ । एवं हयवीहीओ जाव पडिरूवाओ । एवं हयमिहुणाइं जाव पडिरूवाइं ॥ तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमलयाओ नागलताओ, एवं असोग० चंपग० चूयवण० वासंति० अतिमुत्तग० कुंद० सामलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव सुविहत्तपिंडमंजरिवडिंसकधरीओ सव्वरयणामईओ सण्हाओ लण्हाओ घट्टाओ मट्टाओ णीरयाओ णिम्मलाओ णिप्पंकाओ णिक्कंकडच्छायाओ सप्पभाओ समिरीयाओ सउज्जोयाओ पासाईयाओ दरिसणिज्ञाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ ॥ [तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे अक्खयसोत्थिया पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा] ॥ से केणट्ठेणं (भंते!) एवं वुचइ—पउमवरवेइया पउमवरवेइया?, गोयमा! पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वेदियासु वेतियाबाहासु वेदियासीसफलएसु वेदियापुडंतरेसु खंभेसु खंभबाहासु खंभसीसेसु खंभपुडंतरेसु सूईसु सुईमुहेसु सूईफलएसु सूईपुडंतरेसु पक्खेसु पक्खबाहासु पक्खपेरंतरेसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्कंकड-

च्छायाइं सप्पभाइं समिरीयाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं
महता २ वासिक्कच्छत्तसमयाइं पण्णत्ताइं समणाउसो!, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ पउमवरवे-
दिया २ ॥ पउमवरवेइया णं भंते! किं सासया असासया?, गोयमा! सिय सासया सिय अ-
सासया ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—सिय सासया सिय असासया?, गोयमा! दव्वट्ठयाए
सासता वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से तेणट्ठेणं गोयमा!
एवं वुच्चइ—सिय सासता सिय असासता ॥ पउमवरवेइया णं भंते! कालओ केवच्चिरं होति?,
गोयमा! ण कयावि णासि ण कयावि णत्थि ण कयावि न भविस्सति ॥ भुविं च भवति य भवि-
स्सति य धुवा नियया सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेदिया ॥ (सू० १२५)

'तीसे णं जगतीए' इत्यादि, 'तस्याः' यथोक्तरूपाया जगत्याः 'उपरि'उपरितने तले यो वहुमध्यदेशभागः, सूत्रे एकारान्तता मागधदेशभाषालक्षणानुरोधात् यथा 'कयरे आगच्छइ दित्तरूवे?' इत्यत्र, 'एत्थ ण'मिति 'अत्र' एतस्मिन् वहुमध्यदेशभागे णमिति पूर्ववत् महती एका पद्मवरवेदिका प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, सा चोर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेनार्द्धयोजनं—द्वे गव्यूते पञ्च धनुःशतानि विष्कम्भेन 'जगतीसमिया' इति जगत्याः समा—समाना जगतीसमा सैव जगतीसमिका 'परिक्षेपेण' परिरयेण यावान् जगत्या मध्यभागे परिरयस्तावान् तस्या अपि परिरय इति भावः, 'सर्वरत्नमयी' सामस्त्येन रत्नात्मिका 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं पाठतोऽर्थतश्च प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या णमिति पूर्ववत् पद्मवरवेदिकायाः 'अयं' वक्ष्यमाणः 'एतद्रूपः' एवंस्वरूपः 'वर्णा-

वासः' वर्णः—श्लाघा यथावस्थितस्वरूपकीर्त्तनं तस्यावासो—निवासो ग्रन्थपद्धतिरूपो वर्णावासो वर्णकनिवेश इत्यर्थः 'प्रज्ञप्तः' प्ररूपितः, 'तद्यथे'त्यादिना तदेव दर्शयति—'वइरामया नेमा' इति नेमा नाम पद्मवरवेदिकाया भूमिभागादूर्द्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशास्ते सर्वे 'वज्रमयाः' वज्ररत्नमयाः, वज्रशब्दस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं, रिष्टमयानि प्रतिष्ठानानि—मूलपादाः 'वेरुलियमया खंभा' इति वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भाः सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि लोहिताक्षरत्नालिकाः सूचयः फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयास्ते सर्वे 'वइरामया संधी' वज्रमयाः सन्धयः—सन्धिमेलाः फलकानां, किमुक्तं भवति?—वज्ररत्नापूरिताः फलकानां सन्धयः 'नाणामणिमया कलेवरा' इति नानामणिमयानि कलेवराणि—मनुष्यशरीराणि नानामणिमयाः कलेवरसङ्घाटा—मनुष्यशरीरयुग्मानि नानामणिमयानि रूपाणि—रूपकाणि नानामणिमया रूपसङ्घाटाः—रूपयुग्मानि 'अङ्कामया पक्खा पक्खबाहातो य' इति अङ्को—रत्नविशेषस्तन्मयाः पक्षास्तदेकदेशाः पक्षवाहवोऽपि तदेकदेशभूता एवाङ्कमयाः, आह च मूलटीकाकारः—"अङ्कमयाः पक्षास्तदेकदेशभूताः, एवं पक्षवाहवोऽपि द्रष्टव्या" इति, 'जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य' इति ज्योतीरसं नाम रत्नं तन्मया वंशाः—महान्तः पृष्ठवंशाः 'वंशकवेल्लुया य' इति महतां पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक् स्थाप्यमाना वंशाः कवेल्लुकानि—प्रतीतानि 'रययामईओ पट्टियाओ' इति रजतमय्यः पट्टिका वंशानामुपरि कम्बास्थानीयाः 'जायरूवमईओ ओहाडणीओ' जातरूपं—सुवर्णविशेषस्तन्मय्यः 'ओहाडणीओ' अवघाटिन्यः आच्छादनहेतुकम्बोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिञ्चस्थानीयाः, 'वइरामईओ उवरिं पुंछणीओ' इति 'वज्रमय्यो' वज्ररत्नालिका अववाटनीनामुपरि पुञ्छन्यः—निविडतरच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः, उक्तं च मूलटीकाकारेण—"ओहाडणी हीरग्गहणं महत् क्षुल्लकं तु पुञ्छनी इति, 'सव्वसेए रययामए सा णं छाणे' इति, सर्वश्वेतं रजतमयं

पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादनम् ॥ 'सा ण'मित्यादि, 'सा' एवंस्वरूपा णमिति वाक्यालङ्कारे पद्मवरवेदिका तत्र तत्र प्रदेशे एकैकेन 'हेमजालेन' सर्वात्मना हेममयेन लम्बमानेन दामसमूहेन एकैकेन 'गवाक्षजालेन' गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहेन एकैकेन 'किङ्किणीजालेन' किङ्किण्यः—क्षुद्रघण्टिकाः एकैकेन घण्टाजालेन, किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महत्यो घण्टा घण्टाः, तथा एकै-केन 'मुक्ताजालेन' मुक्ताफलमयेन दामसमूहेन एकैकेन 'मणिजालेन' मणिमयेन दामसमूहेन एकैकेन 'कनकजालेन' कनकं—पीतरूपः सुवर्णविशेषस्तन्मयेन दामसमूहेन एकैकेन रत्नजालेन एकैकेन (वर) पद्मजालेन—सर्वरत्नमयपद्मात्मकेन दामसमूहेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सर्वासु विदिक्षु परिक्षिप्ता, एतानि च दामसमूहरूपाणि हेमजालादीनि जालानि लम्बमानानि वेदितव्यानि, तथा चाह—'ते णं जाला' इत्यादि, तानि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्गमनियतमिति, णमिति पूर्ववत् हेमजा-लादीनि क्वचित् दामा इति पाठः तत्र ता हेमजालादिरूपा दामान इति व्याख्येयं, 'तवणिज्जलंवूसगा' तपनीयम्—आरक्तं सुवर्णं तन्मयो लम्बूसगो—दाम्नामग्रिमभागे मण्डनविशेषो येषां तानि तपनीयलम्बूसकानि 'सुवण्णपयरगमंडिया' इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरकेण—सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि, 'नाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदया' इति ना-नारूपाणां मणीनां रत्नानां च ये विविधा—विचित्रवर्णा हारा—अष्टादशसरिका अर्द्धहारा—नवसरिकास्तैरुपशोभितः समुदायो येषां तानि, तथा 'ईसिमन्नमन्नमसंपत्ता' इति ईषत्—मनाग् अन्योऽन्यं—परस्परमसंप्राप्तानि—असंलग्नानि पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैर्वातैः 'मंदायं मंदायं' इति मन्दं मन्दम् एज्यमानानि—कम्प्यमानानि 'भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे द्विः प्राक्तमबादेः' इत्यविच्छेदे द्विर्वचनं यथा पचति पचतीत्यत्र, एवमुत्तरत्रापि, ईषत्कम्पनवशादेव च प्रकर्पत इतस्ततो मनाक् चलनेन लम्बमानानि प्रलम्बमानानि, ततः

परस्परसंपर्कवशतः **'पझंझमाणा पझंझमाणा'** इति शब्दायमानानि शब्दायमानानि **'उदारेण'** स्फारेण शब्देनेति योगः, स च स्फारशब्दो मनःप्रतिकूलोऽपि भवति तत आह—**'मनोज्ञेन'** मनोऽनुकूलेन, तच्च मनोऽनुकूलत्वं लेशतोऽपि स्यादत आह—**'मनोहरेण'** मनांसि श्रोतॄणां हरति–आत्मवशं नयतीति मनोहरः, 'लिहादे'राकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः, तेन, तदपि मनोहरत्वं कुतः? इत्याह—कर्णमनोनिर्वृतिकरेण—'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति वचनाद् हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—यतः श्रोतृकर्णयोर्मनसश्च निर्वृतिकरः–सुखोत्पादकस्ततो मनोहरस्तेन, इत्थम्भूतेन शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् **'सर्वतः'** दिक्षु **'समन्ततः'** विदिक्षु आपूरयन्ति शत्रन्तस्य शाविदं रूपं, तत एव **'श्रिया'** शोभयाऽतीव उपशोभमानानि उपशोभमानानि तिष्ठन्ति॥ **'तीसे ण'**मित्यादि, तस्याः पद्मवरवेदिकायास्तत्र तत्र देशे २ **'तहिं तहिं'** इति तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे, एतावता किमुक्तं भवति?–यत्र देशे एकस्तत्रान्येऽपि विद्यन्त इति, बहवे **'हयसंघाडा'** हययुग्मानि सङ्घाटशब्दो युग्मवाची यथा साधुसङ्घाट इत्यत्र, एवं गजनरकिंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभसङ्घाटा अपि वाच्याः, एते च कथम्भूताः? इत्याह—**'सव्वरयणामया'** सर्वात्मना रत्नमयाः **'अच्छा'** आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छाः **'जाव पडिरूवा'** इति यावत्करणात् **'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा'** इत्यादिविशेषणकदम्बकपरिग्रहस्तच्च प्राग्वत्। एते च सर्वेऽपि हयसङ्घाटादयः सङ्घाटाः पुष्पावकीर्णका उक्ताः, सम्प्रत्येतेषामेव हयादीनां पङ्क्त्यादिप्रतिपादनार्थमाह—**'एवं पंतीओ वीहीओ एवं मिहुणगा'** इति यथाऽमीषां हयादीनामष्टानां सङ्घाटा उक्तास्तथा पङ्क्तयोऽपि वक्तव्या वीथयोऽपि मिथुनकानि च, तानि चैवम्—'तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहुयाओ हयपंतीओ गयपंतीओ' इत्यादि, नवरमेकस्यां दिशि या श्रेणिः सा पङ्क्तिरभिधीयते, उभयोरपि पार्श्वयोरेकैकश्रेणिभावेन यच्छ्रेणिद्वयं सा वीथी, एते च वीथी-

१ प्रतिपत्तौ मनुष्या० पद्मवरवेदिकाव० उद्देशः १ सू० १२६

पङ्क्तिसङ्घाटा हयादीनां पुरुषाणामुक्ताः, साम्प्रतमेतेषामेव हयादीनां स्त्रीपुरुषयुग्मप्रतिपादनार्थं 'मिहुणाइं' इत्युक्तम्, उक्तेनैव प्रकारेण हयादीनां मिथुनकानि स्त्रीपुरुषयुग्मरूपाणि वाच्यानि, यथा 'तत्थ तत्थ तहिं २ देसे देसे वहूइं हयमिहुणाइं गयमिहुणाइं' इत्यादि ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्यां णमिति पूर्ववत् पद्मवरवेदिकायां तत्र तत्र देशे २ 'तहिं २' इति तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे, अत्रापि 'तत्थ २ देसे २ तहिं २' इति वदता यत्रैका लता तत्रान्या अपि बह्वयो लताः सन्तीति प्रतिपादितं द्रष्टव्यं, 'वहुयाओ पउमलयाओ' इत्यादि, बह्वयः 'पद्मलताः' पद्मिन्यः 'नागलताः' नागा—द्रुमविशेषाः त एव लतास्तिर्यक्शाखाप्रसराभावात् नागलताः, एवमशोकलताश्चम्पकलता वणलताः, वणाः—तरुविशेषाः, वासन्तिकलता अतिमुक्तकलताः कुन्दलताः श्यामलताः, कथम्भूता एताः? इत्याह—'नित्यं' सर्वकालं षट्स्वपि ऋतुष्वित्यर्थः 'कुसुमिताः' कुसुमानि—पुष्पाणि संजातान्यास्विति कुसुमिताः, तारकादिदर्शनादितप्रत्ययः, एवं नित्यं मुकुलिताः, मुकुलानि नाम कुड्मलानि कलिका इत्यर्थः नित्यं 'लवइयाओ' इति पल्लविताः, नित्यं 'थवइयाओ' इति स्तवकिताः, नित्यं 'गुम्मियाओ' इति गुल्मिताः, स्तबकगुल्मौ गो(गु)च्छविशेषौ, नित्यं गुच्छाः, नित्यं यमलं नाम समानजातीययोर्लतयोर्युग्मं तत्संजातमास्विति यमलिताः, नित्यं 'युगलिताः' युगलं सजातीयविजातीययोर्लतयोर्द्वन्द्वं, तथा 'नित्यं' सर्वकालं फलभारेण नता—ईषन्नता नित्यं प्रणता—महता फलभारेण दूरं नताः, तथा नित्यं 'सुविभक्ते'त्यादि सुविभक्तिकः—सुविच्छित्तिकः प्रतिविशिष्टो मञ्जरीरूपो योऽवतंसकस्तद्धराः—तद्धारिण्यः । एष सर्वोऽपि कुसुमितत्वादिको धर्म एकैकस्या एकैकस्या लताया उक्तः, साम्प्रतं कासांश्चिल्लतानां सकलकुसुमितत्वादिधर्म्मप्रतिपादनार्थमाह—'निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीउ' एताश्च सर्वा अपि लता एवंरूपाः, किंरूपाः? इत्याह—'सव्वरयणामईओ' सर्वात्मना

रत्नमय्यः, **'अच्छा सण्हा'** इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ अधुना पद्मवरवेदिकाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं जिज्ञासुः पृच्छति—**'से केणट्ठेणं भंते!'** इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थः, अथ **'केनार्थेन'** केन कारणेन भदन्त! एवमुच्यते—पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति?, किमुक्तं भवति?—पद्मवरवेदिकेत्येवंरूपस्य शब्दस्य तत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तमिति?, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम! पद्मवरवेदिकायां तत्र तत्र प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे **'वेदिकासु'** उपवेशनयोग्यमत्तवारणरूपासु **'वेदिकाबाहासु'** वेदिकापार्श्वेषु **'वेइयापुडंतरेसु'** इति द्वे वेदिके वेदिकापुटं तेषामन्तराणि—अपान्तरालानि वेदिकापुटान्तराणि तेषु, तथा स्तम्भेषु सामान्यतः तथा **'स्तम्भबाहासु'** स्तम्भपार्श्वेषु **'खंभसीसेसु'** इति स्तम्भशीर्षेषु **'खंभपुडंतरेसु'** इति द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं तेषामन्तराणि तेषु **'सूचीषु'** फलकसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयासु तासामुपरीति तात्पर्यार्थः, **'सूइमुहेसु'** इति यत्र प्रदेशे सूची फलकं भित्त्वा मध्ये प्रविशति तत्प्रत्यासन्नो देशः सूचीमुखं तेषु, तथा सूचीफलकेषु—सूचीभिः संबन्धिता ये फलकप्रदेशास्तेऽप्युपचारात्सूचीफलकानि तेषु सूचीनामध उपरि च वर्त्तमानेषु, तथा **'सुईपुडंतरेसु'** इति द्वे सूच्यौ सूचीपुटं तेषामन्तरेषु, पक्षाः पक्षवाहा—वेदिकैकदेशास्तेषु बहूनि **'उत्पलकानि'** गर्दभकानि बहूनि **'पद्मानि'** सूर्यविकासीनि बहूनि **'कुमुदानि'** चन्द्रविकासीनि, एवं नलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्राण्यपि वाच्यानि, एतेषां च विशेषः प्रागेवोपदर्शितः, एतानि कथम्भूतानि? इत्याह—**'सर्वरत्नमयानि'** सर्वात्मना रत्नमयानि, **'अच्छा'** इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् **'महयावासिक्कछत्तसमाणा'** इति **'महान्ति'** महाप्रमाणानि वार्षिकाणि—वर्षाकाले यानि पानीयरक्षणार्थं कृतानि तानि वार्षिकाणि तानि च तानि छत्राणि च तत्समानानि च प्रज्ञप्तानि हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, **'से एएणट्ठेण'**मित्यादि, तदेतेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति तेषु तेषु यथोक्तरूपेषु

प्रदेशेषु यथोक्तरूपाणि पद्मानि पद्मवरवेदिकाशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमितिभावः, व्युत्पत्तिश्चैवं—पद्मवरा पद्मप्रधाना वेदिका पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति ॥ **'पउमवरवेइया णं भंते! किं सासया?'** इत्यादि, पद्मवरवेदिका णमिति पूर्ववत् किं शाश्वती उताशाश्वती?, आवन्ततया सूत्रे निर्देशः प्राकृतत्वात्, किं नित्या उतानित्येति भावः, भगवानाह—गौतम! स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती—कथञ्चिन्नित्या कथञ्चिदनित्येत्यर्थः, स्याच्छब्दो निपातः कथञ्चिदित्येतदर्थवाची ॥ **'से केणट्ठेणं भंते!'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! **'द्रव्यार्थतया'** द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयि परिणामित्वाद्, अन्यथा द्रव्यत्वायोगाद्, अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती, **'वर्णपर्यायैः'** तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपैरेवं गन्धपर्यायै रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः, उपलक्षणमेतत्तदन्यपुद्गलविचटनोच्चटनैश्चाशाश्वती, किमुक्तं भवति?—पर्यायास्तिकनयमतेन पर्यायप्राधान्यविवक्षायामशाश्वती, पर्यायाणां प्रतिक्षणभावितया कियत्कालभावितया वा विनाशित्वात्, **'से एएणट्ठेण'**मित्यादि उपसंहारवाक्यं सुगमं, इह द्रव्यास्तिकनयवादी स्वमतप्रतिस्थापनार्थमेवमाह—नात्यन्तासत उत्पादो नापि सतो विनाशो, 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत' इति वचनात्, यौ तु दृश्येते प्रतिवस्तु उत्पादविनाशौ तदाविर्भावतिरोभावमात्रं यथा सर्प्पस्योत्फणत्वविफणत्वे, तस्मात्सर्वं वस्तु नित्यमिति ॥ एवं च तन्मतचिन्तायां संशयः—किं घटादिवद्रव्यार्थतया शाश्वती उत सकलकालमेवंरूपा? इति, ततः संशयापनोदार्थं भगवन्तं भूयः पृच्छति—**'पउमवरवेइया णं'**मित्यादि, पद्मवरवेदिका णमिति पूर्ववद् **'भदन्त!'** परमकल्याणयोगिन्! **'कियच्चिरं'** कियन्तं कालं यावद्भवति?, एवंरूपा कियन्तं कालमवतिष्ठते? इति, भगवानाह—गौतम! न कदाचिन्नासीत्, सर्वदैवासीदिति भावः, अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्त्तमानकालचिन्तायां भवतीति

भावः, सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किन्तु भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यं, अपर्यवसितत्वात्, तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति—'भुविं चे'त्यादि, अभूच्च भवति च भविष्यति चेति, एवं त्रिकालावस्थायित्वाद् 'ध्रुवा' मेर्वादिवद् ध्रुवत्वादेव सदैव स्वस्वरूपे नियता, नियतत्वादेव च 'शाश्वती' शश्वद्भवनस्वभावा, शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवानेकपुद्गलविचटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलोच्चटनसम्भवाद् 'अक्षया' न विद्यते क्षयो—यथोक्तस्वरूपाकारपरिभ्रंशो यस्याः साऽक्षया, अक्षयत्वादेव 'अव्यया' अव्ययशब्दवाच्या, मनागपि स्वरूपचलनस्य जातुचिदप्यसम्भवात्, अव्ययत्वादेव स्वप्रमाणेऽवस्थिता मानुषोत्तरपर्वताद् वहिः समुद्रवत्, एवं स्वस्वप्रमाणे सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या धर्मास्तिकायादिवत् ॥

तीसे णं जगतीए उप्पिं बाहिं पउमवरवेइयाए एत्थ णं एगे महं वणसंडे पण्णत्ते देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं जगतीसमए परिक्खेवेणं, किण्हे किण्होभासे जाव अणेगसगडरहजाणजुग्गपरिमोयणे सुरम्मे पासातीए सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे नीरए निप्पंके निम्मले निक्कंकडच्छाए सप्पभे समिरीए सउज्जोए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे ॥ तस्स णं वणसंडस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहानामए—आलिंगपुक्खरेति वा मुइंगपुक्खरेति वा सरतलेइ वा करतलेइ वा आयंसमंडलेति वा चंदमंडलेति वा सूरमंडलेति उरब्भचम्मेति वा उसभचम्मेति वा वराहचम्मेति वा सीहचम्मेति वा वग्घचम्मेति वा विगचम्मेति वा दी-

वितचम्मेति वा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते आवडपच्चावडसेढीपसेढीसोत्थियसोवत्थियपुसमाणवद्धमाणमच्छंडकमकरंडकजारमारफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवासंतिलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं समिरीएहिं सउज्जोएहिं नाणाविहपंचवण्णेहिं तणेहिं य मणिहिं य उवसोहिए तंजहा—किण्हेहिं जाव सुक्किल्लेहिं ॥ तत्थ णं जे ते किण्हा तणा य मणी य तेसि णं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए—जीमूतेति वा अंजणेति वा खंजणेति वा कज्जलेति वा मसीइ वा गुलियाइ वा गवलेइ वा गवलगुलियाति वा भमरेति वा भमरावलियाति वा भमरपत्तगयसारेति वा जंबुफलेति वा अद्दारिट्ठेति वा पुरिपुट्ठए (ति) वा गएति वा गयकलभेति वा कण्हसप्पेइ वा कण्हकेसरेइ वा आगासथिग्गलेति वा कण्हासोएति वा किण्हकणवीरेइ वा कण्हबंधुजीवएति वा, भवे एयारूवे सिया?, गोयमा! णो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं कण्हाणं तणाणं मणीण य इत्तो इट्ठयराए चेव कंततराए चेव पिययराए चेव मणुण्णतराए चेव मणामतराए चेव वण्णेणं पण्णत्ते ॥ तत्थ णं जे ते णीलगा तणा य मणी य तेसि णं इमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए—भिंगेइ वा भिंगपत्तेति वा चासेति वा चासपिच्छेति वा सुएति वा सुयपिच्छेति वा णीलीति वा णीलीभेएति वा णीलीगुलियाति वा सामाएति वा उच्चंतएति वा वणराईइ वा हलहरवसणेइ वा मोरग्गीवाति वा पारेवयगीवाति वा अयसिकुसुमेति वा अंजणकेसिगा-

कुसुमेति वा णीलुप्पलेति वा णीलासोएति वा णीलकणवीरेति वा णीलबंधुजीवएति वा, भवे एयारूवे सिता?, णो इणट्ठे समट्ठे, तेसि णं णीलगाणं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ते ॥ तत्थ जे ते लोहितगा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए—ससकरुहिरेति वा उरब्भरुहिरेति वा णररुहिरेति वा वराहरुहिरेति वा महिसरुहिरेति वा वालिंदगोवएति वा वालदिवागरेति वा संझब्भरागेति वा गुंजद्धराएति वा जातिहिंगुलुएति वा सिलप्पवालेति वा पवालंकुरेति वा लोहितक्खमणीति वा लक्खारसएति वा किमिरागेइ वा रत्तकंबलेइ वा चीणपिट्ठरासीइ वा जासुयणकुसुमेइ वा किंसुअकुसुमेइ वा पालियाइकुसुमेइ वा रत्तुप्पलेति वा रत्तासोगेति वा रत्तकणयारेति वा रत्तबंधुजीवेइ वा, भवे एयारूवे सिया?, नो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं लोहियगाणं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ते ॥ तत्थ णं जे ते हालिद्दगा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए—चंपए वा चंपगच्छल्लीइ वा चंपयभेएइ वा हालिद्दाति वा हालिद्दभेएति वा हालिद्दगुलियाति वा हरियालेति वा हरियालभेएति वा हरियालगुलियाति वा चिउरेति वा चिउरंगरागेति वा वरकणएति वा वरकणगनिघसेति वा सुवण्णसिप्पिएति वा वरपुरिसवसणेति वा सल्लइकुसुमेति वा चंपककुसुमेइ वा

कुहुंडियाकुसुमेति वा (कोरंटकदामेइ वा) तडउडाकुसुमेति वा घोसाडियाकुसुमेति वा सुवण्णजूहियाकुसुमेति वा सुहरिन्नयाकुसुमेइ वा [कोरिंटवरमल्लदामेति वा] बीयगकुसुमेति वा पीयासोएति वा पीयकणवीरेति वा पीयबंधुजीएति वा, भवे एयारूवे सिया?, नो इणट्ठे समट्ठे, ते णं हालिद्दा तणा य मणी य एत्तो इट्ठयरा चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ता ॥ तत्थ णं जे ते सुक्किल्लगा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए— अंकेति वा संखेति वा चंदेति वा कुंदेति वा कुसुमे(मुए)ति वा दयरएति वा (दहिघणेइ वा खीरेइ वा खीरपूरेइ वा) हंसावलीति वा कोंचावलीति वा हारावलीति वा बलायावलीति वा चंदावलीति वा सारतियबलाहएति वा धंतधोयरुप्पपट्टेइ वा सालिपिट्ठरासीति वा कुंदपुप्फरासीति वा कुमुयरासीति वा सुक्कछिवाडीति वा पेहुणमिंजाति वा बिसेति वा मिणालियाति वा गयदंतेति वा लवंगदलेति वा पोंडरीयदलेति वा सिंदुवारमल्लदामेति वा सेतासोएति वा सेयकणवीरेति वा सेयबंधुजीएइ वा, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं सुक्किल्लाणं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव जाव वण्णेणं पण्णत्ते ॥ तेसि णं भंते! तणाण य मणीण य केरिसए गंधे पण्णत्ते?, से जहाणामए—कोट्ठपुडाण वा पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा [किरिमेरिपुडाण वा] चंदणपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा उ-

सीरपुडाण वा चंपगपुडाण वा मरुयगपुडाण वा दमणगपुडाण वा जातिपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियपुडाण वा णोमालियपुडाण वा वासंतियपुडाण वा केयतिपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण य णिब्भिज्जमाणाण य कोट्टेज्जमाणाण वा रुविज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाणं ओराला मणुण्णा घाणमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं तणाणं मणीण य एत्तो उ इट्ठतराए चेव जाव मणामतराए चेव गंधे पण्णत्ते ॥ तेसि णं भंते! तणाण य मणीण य केरिसए फासे पण्णत्ते?, से जहाणामए—आईणेति वा रूएति वा बूरेति वा णवणीतेति वा हंसगब्भतूलीति वा सिरीसकुसुमणिचतेति वा बालकुमुदपत्तरासीति वा, भवे एतारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, तेसि णं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव जाव फासेणं पण्णत्ते॥ तेसि णं भंते! तणाणं पुव्वावरदाहिणउत्तरागतेहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं खोभियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे पण्णत्ते?, से जहाणामए—सिवियाए वा संदमाणीयाए (वा) रहवरस्स वा सछत्तस्स सज्झयस्स सघंटयस्स सतोरणवरस्स सणंदिघोसस्स सखिंखिणिहेमजालपेरंतपरिखित्तस्स हेमवयखेत्त (चित्तविचित्त) तिणिसकणगनिज्जुत्तदारुयागस्स सुपिणिद्धारकमं-

ङ्खलधुरागस्स कालायससुकयणेमिजंतकम्मस्स आइण्णवरतुरगसुसंपउत्तस्स कुसलणरछेयसारहिसुसंपरिगहितस्स सरसतबत्तीसतोरण(परि)मंडितस्स सकंकडवडिंसगस्स सचावसरपहरणावरणहरियस्स जोहजुद्धस्स रायंगणंसि वा अंतेपुरंसि वा रम्मंसि वा मणिकोट्टिमतलंसि अभिक्खणं २ अभिघट्टिज्जमाणस्स वा णियट्टिज्जमाणस्स वा [परूढवरतुरंगस्स चंडवेगाइद्धस्स] ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समंता सद्दा अभिणिस्सवंति, भवे एतारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से जहाणामए—वेयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छिताए अंके सुपइट्ठियाए वंदणसारकाणपडिपट्टियाए कुसलणरणारिसंपगहिताए पदोसपच्चूसकालसमयंसि मंदं मंदं एइयाए वेइयाए खोभियाए उदीरियाए ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समंता सद्दा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से जहाणामए—किण्णराण वा किंपुरिसाण वा महोरगाण वा गंधव्वाण वा भद्दसालवणगयाण वा नंदणवणगयाण वा सोमणसवणगयाण वा पंडगवणगयाण वा हिमवंतमलयमंदरगिरिगुहसमण्णागयाण वा एगतो सहिताणं संमुहागयाणं समुविट्ठाणं संनिविट्ठाणं पमुदियपक्कीलियाणं गीयरतिगंधव्वहरिसियमणाणं गेज्जं पज्जं कत्थं गेयं पयविद्धं पायविद्धं उक्खित्तयं पवत्तयं मंदायं रोचियावसाणं सत्तसरसमण्णागयं अट्ठरससुसंपउत्तं छद्दोसविप्पमुक्कं एकारसगुणालंकारं अट्ठगुणोववेयं गुंजंतवंसकुहरोवगूढं

रत्तं तित्थाणकरणसुद्धं मधुरं समं सुललियं सकुहरगुंजंतवंसतंतीसुसंपउत्तं तालसुसंपउत्तं तालसमं (रयसुसंपउत्तं गहसुसंपउत्तं) मणोहरं मउयरिभियपयसंचारं सुरभिं सुणतिं वरचारुरूवं दिव्वं नट्टं सज्जं गेयं पगीयाणं, भवे एयारूवे सिया?, हंता गोयमा! एवंभूए सिया ॥ (सू० १२६)

'तीसे णं जगतीए' इत्यादि, तस्या णमिति पूर्ववत् जगत्या उपरि पद्मवरवेदिकाया वहिर्वर्त्ती प्रदेशः 'तत्र' तस्मिन् णमिति पूर्ववत्, महानेको वनषण्डः प्रज्ञप्तः, अनेकजातीयानामुत्तमानां महीरुहाणां समूहो वनषण्डः, आह च मूलटीकाकारः—'एगजाईएहिं रुक्खेहिं वणं अणेगजाईएहिं उत्तमेहिं रुक्खेहिं वणसंडे' इति, स चैकैको देशोने द्वे योजने विष्कम्भतो जगतीसमकः 'परिक्षेपेण' परिरयेण। कथम्भूतः? इत्याह—'किण्हे' इत्यादि, इह प्रायो वृक्षाणां मध्यमे वयसि वर्त्तमानानि पत्राणि नीला (कृष्णा)नि तद्योगाद् वनखण्डोऽपि कृष्ण, न चोपचारमात्रात्कृष्ण इति व्यपदेशः किन्तु तथाप्रतिभासनात्, तथा चाह—'कृष्णावभासः' यावति भागे कृष्णानि पत्राणि सन्ति तावति भागे स वनखण्डः कृष्णोऽवभासतेऽतः कृष्णोऽवभासो यस्यासौ कृष्णावभासः, तथा हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसंप्राप्तानि पत्राणि नीलानि तद्योगाद् वनखण्डोऽपि नीलः, न चैतदप्युपचारमात्रेणोच्यते किन्तु तथाऽवभासात्, तथा चाह—नीलावभासः, समासः प्राग्वत्, यौवने तान्येव पत्राणि किशलयत्वं रक्तत्वं चातिक्रान्तानि ईषद्धरितालाभानि पाण्डूनि सन्ति हरितानीत्युपदिश्यन्ते, ततस्तद्योगाद्वनषण्डोऽपि हरितः, न चैतदुपचारमात्रं, किन्तु तथाप्रतिभासोऽप्यस्ति तथा चाह—हरितावभासः, तथा बाल्यादतिक्रान्तानि वृक्षाणां पत्राणि शीतानि भवन्ति ततस्तद्योगाद् वनषण्डोऽपि शीतः, न चासौ न गुणतः किन्तु गुणत एव, तथा चाह—'शीतावभासः' अधोभागवर्त्तिनां व्यन्तराणां देवानां देवीनां च तद्योगे शीतवातसंस्पर्शः ततः स शीतो

वनपण्डोऽवभासते इति, तथा एते कृष्णनीलहरितवर्णा यथा (तः) स्वस्मिन् रूपेऽत्यर्थमुत्कटाः स्निग्धा भण्यन्ते तीव्राश्च ततस्तद्योगाद्वनख-
ण्डोऽपि स्निग्धस्तीव्रश्चोक्तः, न चैतदुपचारमात्रं, किन्तु तथा प्रतिभासोऽपि तत उक्तं स्निग्धावभासस्तीव्रावभास इति, इहावभासो
भ्रान्तोऽपि भवति यथा मरुमरीचिकासु जलावभासः ततो नावभासमात्रोपदर्शनेन यथाऽवस्थितं वस्तुस्वरूपमुक्तं वर्णितं भवति किन्तु
यथास्वरूपप्रतिपादनेन ततः कृष्णत्वादीनां तथास्वरूपप्रतिपादनार्थमनुवादपुरस्सरं विशेषणान्तरमाह—'**किण्हे किण्हच्छाये**' इत्यादि,
कृष्णो वनखण्डः, कुतः? इत्याह—कृष्णच्छायः, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मितिवचनाद्धेतौ प्रथमा, ततोऽ-
यमर्थः—यस्मात् कृष्णा छाया—आकारः सर्वाविसंवादितया तस्य तस्मात्कृष्णः, एतदुक्तं भवति—सर्वाविसंवादितया तत्र कृष्ण आकार
उपलभ्यते, न च भ्रान्तावभाससंपादितसत्ताकः सर्वाविसंवादी भवति, ततस्तत्त्ववृत्त्या स कृष्णो न भ्रान्तावभासमात्रव्यवस्थापित इति,
एवं नीलो नीलच्छाय इत्याद्यपि भावनीयं, नवरं शीतः शीतच्छाय इत्यत्र छायाशब्द आतपप्रतिपक्षवस्तुवाची द्रष्टव्यः, '**घणकडिय-
डच्छाए**' इति इह शरीरस्य मध्यभागे कटिस्ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते, कटिस्तटमिव कटितटं घना—अन्या-
न्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निविडा कटितटे—मध्यभागे छाया यस्य स घनकटितटच्छायः, मध्यभागे निविडतरच्छाय इत्यर्थः, क्वचि-
त्पाठः '**घनकडियकडच्छाए**' इति, तत्रायमर्थः—कटः सञ्जातोऽस्येति कटितः कटान्तरेणोपरि आवृत इत्यर्थः कटितश्चासौ कटश्च
कटितकटः घना—निविडा कटितकटस्येवाधोभूमौ छाया यस्य स घनकटितकटच्छायः अत एव रम्यो—रमणीयः, तथा महान्—जल-
भारावनतः प्रावृट्कालभावी मेघनिकुरम्बो—मेघसमूहस्तं भूतो—गुणैः प्राप्तो महामेघनिकुरम्बभूतः महामेघवृन्दोपम इत्यर्थः। '**ते णं
पायवा**' इत्यादि, 'ते' वनषण्डान्तर्गताः पादपा '**मूलवन्तः**' मूलानि प्रभूतानि दूरावगाढानि च सन्त्येषामिति मूलवन्तः, कन्द एषा-

मस्तीति कन्दवन्तः, एवं स्कन्धवन्तस्त्वग्वन्तः शालावन्तः प्रवालवन्तः पत्रवन्तः पुष्पवन्तः फलवन्तो वीजवन्त इत्यपि भावनीयं, तत्र मूलानि—प्रसिद्धानि यानि कन्दस्याधः प्रसरन्ति कन्दास्तेषां मूलानामुपरिवर्त्तिनस्तेऽपि प्रतीताः, स्कन्धः—स्थुडं यतो मूलशाखाः प्रभवन्ति, त्वक्—छल्ली शाला—शाखा प्रवालः—पल्लवाङ्कुरः पत्रपुष्पफलवीजानि सुप्रसिद्धानि, सर्वत्रातिशायने क्वचिद्भूम्नि वा मतुप्प्रत्ययः, 'अणुपुव्वसुजाइरुइलवट्टभावपरिणया' इति आनुपूर्व्या—मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता आनुपूर्वीसुजाता रुचिलाः—स्निग्धतया देदीप्यमानच्छविमन्तः, तथा वृत्तभावेन परिणता वृत्तभावपरिणताः, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च शाखाभिः प्रशाखाभिश्च प्रसृता यथा वर्त्तुलाः संजाता इति, आनुपूर्वीसुजाताश्च ते रुचिराश्च ते च ते वृत्तभावपरिणताश्च आनुपूर्वीसुजातरुचिरवृत्तभावपरिणताः, तथा ते पादपाः प्रत्येकमेकस्कन्धाः, (समासान्तइन्) प्राकृते वाऽस्य स्त्रीत्वमिति 'एगखंधी' इति पाठः, तथाऽनेकाभिः शाखाभिः प्रशाखाभिश्च मध्यभागे विटपो—विस्तारो येषां तेऽनेकशाखाप्रशाखाविटपाः, तथा तिर्यग्बाहुद्वयप्रसारणप्रमाणो व्यामः अनेकैर्नरव्यामैः—पुरुषव्यामैः सुप्रसारितैरग्राह्यः—अप्रमेयो घनो—निविडो विपुलो—विस्तीर्णः स्कन्धो येषां ते अनेकनरव्यामसुप्रसारिताग्राह्यघनविपुलवृत्तस्कन्धाः, तथाऽच्छिद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छिद्रपत्राः, किमुक्तं भवति ?—न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोषतो वा गड्डुरिकादिरीतिरुपजायते, न तेषु पत्रेषु छिद्राणि भवन्तीत्यच्छिद्रपत्राः, अथवा एवं नामान्योऽन्यं शाखाप्रशाखानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्यपान्तरालरूपं छिद्रं नोपलक्ष्यत इति, तथा चाह—'अविरलपत्ता' इति, अत्र हेतौ प्रथमा ततोऽयमर्थः—यतोऽविरलपत्रा अतोऽच्छिद्रपत्राः, अविरलपत्रा अपि कुतः ? इत्याह—'अवातीनपत्राः' वातीनानि—वातोपहतानि वातेन पातितानीत्यर्थः न वातीनानि अवातीनानि पत्राणि येषां ते तथा, किमुक्तं भवति ?—न तत्र प्रवलो वातः खरपरुषो वाति येन पत्राणि त्रुटित्वा भूमौ

निपतन्ति, ततोऽवातीनपत्रत्वादविरलपत्रा इति, अच्छिद्रपत्रा इत्यत्र प्रथमव्याख्यानपक्षमधिकृत्य हेतुमाह—'**अणईइपत्ता**' न विद्यते ईतिः—गड्डरिकादिरूपा येषां तान्यनीतीनि अनीतीनि पत्राणि येषां ते अनीतिपत्राः, अनीतिपत्रत्वाच्चाच्छिद्रपत्राः, '**निद्धुयजरढपंडुरपत्ता**' इति निर्द्धूतानि—अपनीतानि जरठानि पाण्डूनि पत्राणि येभ्यस्ते निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्राः, किमुक्तं भवति ?—यानि वृक्षस्थानि जरठानि पाण्डूनि पत्राणि तानि वातेन निर्द्धूय निर्द्धूय भूमौ पात्यन्ते भूमेरपि च प्रायो निर्द्धूय निर्द्धूयान्यत्रापसार्यन्त इति, '**नवहरियभिसंतपत्तंधयारगंभीरदरसणिज्जा**' इति नवेन—प्रत्यग्रेण हरितेन—नीलेन भासमानेन—स्निग्धत्वचा दीप्यमानेन पत्रभारेण—दलसञ्चयेन यो जातोऽन्धकारस्तेन गम्भीरा—अलब्धमध्यभागाः सन्तो दर्शनीया नवहरितभासमानपत्रान्धकारगम्भीरदर्शनीयाः, तथा उपविनिर्गतैः—निरन्तरविनिर्गतैर्नवतरुणपल्लवैः तथा कोमलैः—मनोज्ञैरुज्ज्वलैः—शुद्धैश्चलद्भिः—ईषत्कम्पमानैः किशलयैः—अवस्थाविशेषोपेतैः पल्लवविशेषैः तथा सुकुमारैः प्रवालैः—पल्लवाङ्कुरैः शोभितानि वराङ्कुराणि—वराङ्कुरोपेतानि अग्रशिखराणि येषां ते उपविनिर्गतनवतरुणपत्रपल्लवकोमलोज्ज्वलचलत्किशलयसुकुमारप्रवालशोभितवराङ्कुराग्रशिखराः, इहाङ्कुरप्रवालयोः कालकृतावस्थाविशेषाद्विशेषो भावनीयः, '**निच्चं कुसुमिया निच्चं मउलिया निच्चं लवइया निच्चं थवइया निच्चं गोच्छिया निच्चं जमलिया निच्चं जुयलिया निच्चं विणमिया निच्चं पणमिया निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियजमलियजुगलियविणमियपणमियसुविभत्तप(पिं)डिमंजरिवडंसगधरा**' इति पूर्ववत्, तथा शुकबर्हिणमदनशलाकाकोकिलकोरकभिङ्गारककोंडलजीवंजीवकनन्दीमुखकपिलपिङ्गलाक्षकारण्डवचक्रवाककलहंससारसाख्यानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुनैः—स्त्रीपुंसयुग्मैर्विचरितं—इतस्ततो गतं यच्च शब्दोन्नतिकम्—उन्नतशब्दकं मधुरस्वरं च नादितं—लपितं येषु ते तथा, अत एव सुरम्याः—सुष्ठु रमणीयाः, अत्र शुकाः—कीराः बर्हिणो—मयूरा मदनशलाका—

शारिका कोकिलाऽपि चक्रवाककलहंससारसाः—प्रतीताः, शेषास्तु जीवविशेषा लोकतो वेदितव्याः, तथा संपिण्डिताः—एकत्र पिण्डीभूता दृप्ता—मदोन्मत्ततया दर्प्पाध्माता भ्रमरमधुकरीणां पहकराः—सङ्घाताः, 'पहकरओरोहसंघाया' इति देशीनाममालावचनात्, यत्र ते संपिण्डितदृप्तमधुकरभ्रमरमधुकरीपहकराः, तथा परिलीयमानाः—अन्यत आगत्यागत्य श्रयन्तो मत्ताः पट्पदाः कुसुमासवलोलाः—किञ्जल्कपानलम्पटा मधुरं गुमगुमायमानाः गुञ्जन्तश्च—शब्दविशेषं च विदधाना देशभागेषु तस्मिन् तस्मिन् देशभागे येषां ते परिलीयमानमत्तपट्पदकुसुमासवलोलमधुरगुमगुमायमानगुञ्जन्तदेशभागाः, गमकत्वादेवमपि समासः, ततो भूयः पूर्वपदेन सह विशेषणसमासः, तथाऽभ्यन्तराणि—अभ्यन्तरवर्त्तीनि पुष्पाणि फलानि च पुष्पफलानि येषां ते तथा, 'वाहिरपत्तच्छन्ना' इति वहिःपत्रैश्छन्ना—व्याप्ता वहिःपत्रछन्नाः, तथा पत्रैश्च पुष्पैश्च 'अवच्छन्नपरिच्छन्ना' अत्यन्तमाच्छादिताः, तथा 'नीरोगाः' रोगवर्जिताः 'अकण्टकाः' कण्टकरहिताः, नैतेषु मध्ये वव्बूलकादिवृक्षाः सन्तीति भावः, तथा स्वादूनि फलानि येषां ते स्वादुफलाः, तथा स्निग्धानि फलानि येषां ते स्निग्धफलाः, तथा प्रत्यासन्नैर्नानाविधैः—नानाप्रकारैर्गुच्छैः—वृन्ताकीप्रभृतिभिर्गुल्मैः—नवमालिकादिभिर्मण्डपैः—द्राक्षामण्डपकैरुपशोभिता नानाविधगुच्छगुल्ममण्डपकशोभिताः, तथा विचित्रैः—नानाप्रकारैः शुभैः—मङ्गलभूतैः केतुभिः—ध्वजैर्वहुला—व्याप्ता विचित्रशुभकेतुवहुलाः, तथा 'वाविपुक्खरिणीदीहियासु य निवेसियरम्मजालघरगा' वाप्यः—चतुरस्राकारास्ता एव वृत्ताः पुष्करिण्यः यदिवा पुष्कराणि विद्यन्ते यासु ताः पुष्करिण्यः दीर्घिका—ऋजुसारिण्यः वापीपुष्करिणीषु दीर्घिकासु च सुष्ठु निवेशितानि रम्याणि जालगृहकाणि येषु ते वापीपुष्करिणीदीर्घिकासुनिवेशितरम्यजालगृहकानि, तथा पिण्डिता सती निर्हारिमा—दूरे विनिर्गच्छन्ती पिण्डिमनीर्हारिमा तां सुगन्धि—सद्गन्धिकां शुभसुरभिभ्यो गन्धान्तरेभ्यः सकाशान्मनोहरा शुभसुरभिमनोहरा तां

च 'महया' इति प्राकृतत्वाद्वितीयार्थे तृतीया महतीमित्यर्थः, गन्धघ्राणिं यावद्भिर्गन्धपुद्गलैर्गन्धविषये घ्राणिरुपजायते तावती गन्धपुद्गलसंहतिरुपचाराद् गन्धघ्राणिरित्युच्यते तां निरन्तरं मुञ्चन्तः, तथा 'सुहसेउकेउबहुला' इति शुभाः—प्रधानाः सेतवो—मार्गा आलवालपाल्यो वा केतवो—ध्वजा बहुला—अनेकरूपा येषां ते तथा, 'अणेगरहजाणजुग्गसिवियसंदमाणिपडिमोयणा' इति, तथा रथा द्विविधाः—क्रीडारथाः सङ्ग्रामरथाश्च, यानानि सामान्यतः, शेषाणि वाहनानि, युग्यानि—गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानानि शिविकाः—कूटाकारेणाच्छादिता जंपानविशेषाः स्यन्दमानिकाः—पुरुषप्रमाणा जम्पानविशेषाः, अनेकेषां रथादीनामधो विस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचनं येषु ते तथा, 'पासाइया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तस्स णं वणसंडस्से'त्यादि, तस्य णमिति पूर्ववद् वनषण्डस्य 'अन्तः' मध्ये बहुसमः सन् रमणीयो बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, किंविशिष्टः ? इत्याह— 'से जहा नामए' इत्यादि, 'तत्' सकललोकप्रसिद्धं यथेति दृष्टान्तोपदर्शने नामेति शिष्यामन्त्रणे 'ए' इति वाक्यालङ्कारे 'आलिंगपुक्खरेइ वा' इति आलिङ्गो—मुरजो वाद्यविशेषस्तस्य पुष्करं—चर्म्मपुटकं तत् किलात्यन्तसममिति तेनोपमा क्रियते, इतिशब्दाः सर्वेऽपि स्वस्वोपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतकाः वाशब्दाः समुच्चये मृदङ्गो—लोकप्रतीतो मर्दलस्तस्य पुष्करं मृदङ्गपुष्करं परिपूर्णं—पानीयेन भृतं तडागं—सरस्तस्य तलं—उपरितनो भागः सरस्तलं 'करतलं' प्रतीतं, चन्द्रमण्डलं च यद्यपि तत्त्ववृत्त्या उत्तानीकृतकपित्थाकारपीठप्रासादापेक्षया वृत्तालेखमिति तद्गतो दृश्यमानो भागो न समतलस्तथाऽपि प्रतिभासते समतल इति तदुपादानम्, आदर्शमण्डलं सुप्रसिद्धम्, 'उरब्भचम्मेइ वे'त्यादि, अत्र सर्वत्रापि 'अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते' इति विशेषणयोगः, उरभ्रः—ऊरणः वृषभवराहसिंहव्याघ्रछगलाः प्रतीताः द्वीपी—चित्रकः, एतेषां प्रत्येकं चर्म्म अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैः—महद्भिः कीलकैरताडितं प्रायो

मध्यक्षामं भवति न समतलं तथारूपतडाकासम्भवात् अतः शङ्कुग्रहणं, विततं—विततीकृतं ताडितमिति भावः, यथाऽत्यन्तं बहुसमं भवति तथा तस्यापि वनषण्डस्यान्तर्बहुसमो भूमिभागः, पुनः कथम्भूतः? इत्याह—'नाणाविहपंचवन्नेहिं मणीहिं तणेहि य उवसोभिए' इति योगः, नानाविधा—जातिभेदान्नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तृणानि च तैरुपशोभितः, कथम्भूतैर्मणिभिः? इत्याह—'आवडे'त्यादि, आवर्तादीनि मणीनां लक्षणानि, तत्रावर्त्तः प्रतीत एकस्यावर्त्तस्य प्रत्यभिमुख आवर्त्तः प्रत्यावर्त्तः श्रेणिः—तथाविधबिन्दुजातादेः पङ्क्तिः तस्याश्च श्रेणेर्या विनिर्गताऽन्या श्रेणिः सा प्रश्रेणिः स्वस्तिकः प्रतीतः सौवस्तिकपुष्पमाणवौ—लक्षणविशेषौ लोकात्प्रत्येतव्यौ वर्द्धमानकं—शरावसंपुटं मत्स्यकाण्डकमकराण्डके—प्रतीते 'जारमारे'ति लक्षणविशेषौ सम्यग्मणिलक्षणवेदिनो लोकाद्वेदितव्यौ, पुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताः प्रतीतास्तासां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रम्—आलेखो येषु ते आवर्त्तप्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकसौवस्तिकपुष्पमाणववर्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीपद्मलताभक्तिचित्रास्तैः, किमुक्तं भवति?—आवर्त्तादिलक्षणोपेतैः, तथा सच्छायैः सती—शोभना प्रभा—कान्तिर्येषां ते सत्प्रभास्तैः 'समरीएहिं'ति समरीचिकैः—बहिर्विनिर्गतकिरणजालसहितैः 'सोद्द्योतैः' बहिर्व्यवस्थितप्रत्यासन्नवस्तुस्तोमप्रकाशकरोद्द्योतसहितैः, एवंभूतैर्नानाजातीयैः पञ्चवर्णैर्मणिभिस्तृणैश्चोपशोभितः, तानेव पञ्च वर्णानाह—'तंजहा कण्हे' इत्यादि ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषां पञ्चवर्णानां मणीनां तृणानां च मध्ये णमिति वाक्यालङ्कारे ये ते कृष्णा मणयस्तृणानि च, ये इत्येव सिद्धे ये ते इति वचनं भाषाक्रमार्थं, तेषां णमिति पूर्ववत् 'अयम्' अनन्तरमुद्दिश्यमानः 'एतद्रूपः' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम—'जीमूत' इति 'जीमूतः' बलाहकः, स चेह प्रावृट्प्रारम्भसमये जलभृतो वेदितव्यः,

तस्यैव प्रायोऽतिकालिमसम्भवात्, इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्द उपमानान्तरापेक्षया समुच्चये, एवं सर्वत्रेतिवाशब्दौ द्रष्टव्यौ, **'अञ्जनं'** सौवीराञ्जनं रत्नविशेषो वा **'खञ्जनं'** दीपमल्लिकामलः **'कज्जलं'** दीपशिखापतितं **'मषी'** तदेव कज्जलं ताम्रभाजनादिषु सामग्रीविशेषेण घोलितं **मषीगुलिका**—घोलितकज्जलगुटिका, क्वचित् **'मसी इति मसीगुलिया** इति वे'ति न दृश्यते, तथा तस्यैव माहिषश्रृङ्गस्य **गवलं**—माहिषं शृङ्गं तदपि चोपरितनत्वग्भागापसारणेन द्रष्टव्यं, तत्रैव विशिष्टस्य कालिम्नः सम्भवात्, निबिडतरसारनिर्वर्त्तिता गुडिका गवलगुडिका **'भ्रमरः'** प्रतीतः **'भ्रमरावली'** भ्रमरपङ्क्तिः **'भ्रमरपतङ्गसारः'** भ्रमरपक्षान्तर्गतो विशिष्टकालिमोपचितः प्रदेशः **'जम्बूफलं'** प्रतीतम् **'आर्द्रारिष्टः'** कोमलकाकः **'परपुष्टः'** कोकिलः गजो गजकलभश्च प्रतीतः **'कृष्णसर्पः'** कृष्णवर्णसर्प्पजातिविशेषः **'कृष्णकेसरः'** कृष्णवकुलः **'आकाशथिग्गलं'** शरदि मेघविनिर्मुक्तमाकाशखण्डं तद्धत्कृष्णमतीव प्रतिभातीति तदुपादानं, कृष्णाशोककृष्णकणवीरकृष्णबन्धुजीवाः अशोककणवीरबन्धुजीववृक्षभेदाः, अशोकादयो हि पञ्चवर्णा भवन्ति ततः शेषवर्णव्युदासार्थं कृष्णग्रहणम्, एतावत्युक्ते गौतमो भगवन्तं पृच्छति—**'भवे एयारूवे'** इति भवेन्मणीनां तृणानां च कृष्णो वर्ण. **'एतद्रूपः'** जीमूतादिरूपः ?, भगवानाह—गौतम ! **'नायमर्थः समर्थः'** नायमर्थ उपपन्नो यदुतैवंभूतः कृष्णो वर्णो मणीनां तृणानां च, किन्तु ते कृष्णा मणयस्तृणानि च **'इतः'** जीमूतादेः **'इष्टतरका एव'** कृष्णवर्णेनाभीप्सिततरका एव, तत्र किञ्चिदकान्तमपि केषाञ्चिदिष्टतरं भवति ततोऽकान्ततान्यवच्छित्त्यर्थमाह—**'कान्ततरका एव'** अतिस्निग्धमनोहारिकालिमोपचिततया जीमूतादेः कमनीयतरका एव, अत एव **'मनोज्ञतरकाः'** मनसा ज्ञायन्ते—अनुकूलतया स्वप्रवृत्तिविषयीक्रियन्त इति मनोज्ञा—मनोऽनुकूलास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्ययः, तत्र मनोज्ञतरमपि किञ्चिन्मध्यमं भवति ततः सर्वोत्कर्षप्रतिपादनार्थमाह—**'मनआपतरका एव'** द्र-

द्गृणां मनांसि आप्नुवन्ति–प्राप्नुवन्ति आसवशतां नयन्तीति मनआपास्ततः प्रकर्षविवक्षायां तरप्प्रत्ययः, प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति । तथा 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषां मणीनां तृणानां च मध्ये ये ते नीला मणयस्तृणानि च तेषामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम—'भृङ्गः' कीटविशेषः पक्ष्मलः भृङ्गपत्रं–तस्यैव भृङ्गाभिधानस्य कीटविशेषस्य पक्ष्म 'शुकः' कीरः 'शुकपिच्छं' शुकस्य पत्रं 'चापः' पक्षिविशेषः 'चापपिच्छं' चापपक्षः 'नीली' प्रतीता 'नीलीभेदः' नीलीच्छेदः 'नीलीगुलिया' नीलीगुटिका 'श्यामाकः' धान्यविशेषः 'उच्चंतगे वा' इति 'उच्चन्तगः' दन्तरागः 'वनराजी' प्रतीता हलधरो–बलदेवस्तस्य वसनं हलधरवसनं तच्च किल नीलं भवति, सदैव तथास्वभावतया हलधरस्य नीलवस्त्रपरिधानात्, मयूरग्रीवापारापतग्रीवाऽतसीकुसुमबाणकुसुमानि प्रतीतानि, अत ऊर्द्ध क्वचित् 'इंदनीलेइ वा महानीलेइ वा मरगतेइ वा' तत्र इन्द्रनीलमहानीलमरकता रत्नविशेषाः प्रतीताः, अञ्जनकेशिका–वनस्पतिविशेषस्तस्याः कुसुममञ्जनकेशिकाकुसुमं 'नीलोत्पलं' कुवलयं नीलाशोकनीलकणवीरनीलबन्धुजीवा अशोकादिवृक्षविशेषाः, 'भवे एयारूवे' इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम् । तथा 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषां मणीनां मध्ये ये ते लोहिता मणयस्तृणानि च तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम शशकरुधिरमुरभ्र–ऊरणस्तस्य रुधिरं वराहः–शूकरस्तस्य रुधिरं मनुष्यरुधिरं महिषरुधिरं च प्रतीतं, एतानि हि किल शेषरुधिरेभ्यो लोहितवर्णोत्कटानि भवन्ति तत एतेषामुपादानं, 'बालेन्द्रगोपकः' सद्योजात इन्द्रगोपकः, स हि प्रवृद्धः सन्नीषत्पाण्डुरक्तो भवति ततो बालग्रहणम्, इन्द्रगोपकः–प्रथमप्रावृट्कालभावी कीटविशेषः 'बालदिवाकरः' प्रथममुद्गच्छन् सूर्यः 'सन्ध्याभ्ररागः' वर्षासु सन्ध्यासमयभावी अभ्ररागः गुञ्जा–लोकप्रतीता तस्या अर्द्धे रागो गुञ्जार्द्धरागः, गुञ्जाया हि अर्द्ध-

जपाकुसुमकिंशुककुसुमपारिजातकुसुमजात्यहिङ्गुलकाः—प्रतीताः 'शिलाप्रवालं'
मतिरक्तं भवति अर्द्धमतिक्रष्णं ततो गुञ्जार्द्धग्रहणं, स हि प्रथमोद्गतत्वेनात्यन्तरक्तो भवति ततस्तदुपादानं,
प्रवालनामा रत्नविशेषः प्रवालाङ्कुरः तस्यैव रत्नविशेषस्य प्रवालाभिधस्याङ्कुरः, स हि प्रथमोद्गतत्वेनात्यन्तरक्तो भवति ततस्तदुपादानं,
लोहिताक्षमणिर्नाम रत्नविशेषः, लाक्षारसकृमिरागरक्तकम्बलचीनपिष्टराशिरक्तोत्पलरक्ताशोकरक्तकणवीररक्तबन्धुजीवाः प्रतीताः 'भवे
एयारूवे' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र तेषां मणीनां तृणानां च मध्ये ये हरिद्रा मणयस्तृणानि च तेषामयमेतद्रूपो
'वर्णावासः' वर्णकविशेषः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम—चम्पकः सामान्यतः सुवर्णचम्पको वृक्षः 'च-
म्पकच्छल्ली' सुवर्णचम्पकत्वक् 'चम्पकभेदः' सुवर्णचम्पकच्छेदः 'हरिद्रा' प्रतीता 'हरिद्राभेदः' हरिद्राच्छेदः 'हरिद्रागुलिका'
हरिद्रासारनिर्वर्त्तिता गुलिका 'हरितालिका' पृथ्वीविकाररूपा प्रतीता 'हरितालिकाभेदः' हरितालिकाच्छेदः 'हरितालिकागुलिका'
हरितालिकासारनिर्वर्त्तिता गुटिका 'चिकुरः' रागद्रव्यविशेषः 'चिकुराङ्गरागः' चिकुरसंयोगनिमित्तो वस्त्रादौ रागः, वरकनकस्य—
जात्यसुवर्णस्य यः कषपट्टके निघर्षः स वरकनकनिघर्षः, वरपुरुषो—वासुदेवस्तस्य वसनं वरपुरुषवसनं, तद्धि किल पीतमेव भवतीति
तदुपादानम्, अ(स)ल्लकीकुसुमं लोकतोऽवसेयं 'चम्पककुसुमं' सुवर्णचम्पककुसुमं 'कूष्माण्डीकुसुमं' पुष्पफलीकुसुमं कोरण्टकः—
पुष्पजातिविशेषस्तस्य दाम कोरण्टकदाम तडवडा आउली तस्याः कुसुमं तडवडाकुसुमं घोषातकीकुसुमं सुवर्णयूथिकाकुसुमं च प्रतीतं
सुहरिण्यका—वनस्पतिविशेषस्तस्याः कुसुमं सुहरिण्यकाकुसुमं वीयको—वृक्षः प्रतीतस्तस्य कुसुमं वीयककुसुमं पीताशोकपीतकणवी-
रपीतबन्धुजीवाः प्रतीताः 'भवे एयारूवे' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण' मित्यादि, तत्र तेषां मणीनां तृणानां च मध्ये ये
ते शुक्ला मणयस्तृणानि च तेषामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'से जहा नाम ए' इत्यादि, स यथा नाम—'अङ्कः' रत्न-

विशेषः शङ्खचन्द्रकुमुदोदकरजोदधिवनक्षीरक्षीरपूरक्रौञ्चावलिहारावलिहंसावलिवलाकावलयः प्रतीताः 'चन्द्रावली' तडाकादिषु जलमध्यप्रतिविम्बितचन्द्रपङ्क्तिः 'सारइयवलाहगेइ वा' इति शारदिकः—शरत्कालभावी वलाहको—मेघः 'धंतधोयरुप्पपट्टेइ वे'ति, ध्मातः—अग्निसंपर्केण निर्मलीकृतो धौतो—भूतिखरण्टितहस्तसन्मार्जनेनातिनिशितीकृतो यो रूप्यपट्टो—रजतपत्रं स ध्मातधौतरूप्यपट्टः, अन्ये तु व्याचक्षते—ध्मातेन—अग्निसंयोगेन यो धौतः—शोधितो रूप्यपट्टः स ध्मातरूप्यपट्टः, शालिपिष्टराशिः—शालिक्षोदपुञ्जः कुन्दपुष्पराशिः कुमुदराशिश्च प्रतीतः, 'सुक्कछेवाडियाइ वा' इति छेवाडी नाम—वल्लादिफलिका, सा च क्वचिद्देशविशेषे शुष्का सती शुक्ला भवति ततस्तदुपादानं, 'पेहुणमिंजियाइ वा' इति पेहुणं—मयूरपिच्छं तन्मध्यवर्त्तिनी मिञ्जा पेहुणमिञ्जिका सा चाति-शुक्लेति तदुपन्यासः, विसं—पद्मिनीकन्दः मृणालं—पद्मतन्तुः, गजदन्तलवङ्गदलपुण्डरीकदलश्वेतकणवीरश्वेतवन्धुजीवाः प्रतीताः, 'भवेयारूवे' इत्यादि प्राग्वत् ॥ तदेवमुक्तं वर्णस्वरूपं, सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—'तेसि णं मणीणं तणाण य' इत्यादि, तेषां मणीनां तृणानां च कीदृशो गन्धः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—'से जहा नाम ए' इत्यादि, प्राकृतत्वात् 'से' इति वहुवचनार्थः, ते यथा नाम गन्धा अभिनिःश्रवन्तीति सम्बन्धः, कोष्ठं—गन्धद्रव्यं तस्य पुटाः कोष्ठपुटास्तेषां, वाशब्दाः सर्वत्रापि समुच्चये, इहैकस्य पुटस्य न तादृशो गन्ध आयाति द्रव्यस्याल्पत्वात् ततो वहुवचनं, तगरमपि गन्धद्रव्यम्, 'एलाः' प्रतीताः 'चोयगं' गन्धद्रव्यं चम्प-कदमनककुङ्कुमचन्दनोशीरमरुवकजातीयूथिकामल्लिकास्नानमल्लिकाकेतकीपाटलानवमालिकावासकर्पूराणि प्रतीतानि नवरमुशीरं—वीरणीमूलं स्नानमल्लिका—स्नानयोग्यो मल्लिकाविशेषः एतेषामनुवाते—आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूले वाते वाति सति 'उब्भिज्जमा-नानाम्' उद्घाट्यमानानां, चशब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, 'निर्भिद्यमानानां' नितरां—अतिशयेन भिद्यमानानां 'कोट्टिज्जमाणाण वा'

इति, इह पुटैः परिमितानि यानि कोष्ठादिगन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात्कोष्ठपुटानीत्युच्यन्ते तेषां **'कुट्टयमानानाम्'** उदूखले कुट्टयमानानां **'रुविज्जमाणाण वा'** इति श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम्, एतच्च विशेषणद्वयं कोष्ठादिद्रव्याणामवसेयं, तेषामेव प्रायः कुट्टनश्लक्ष्णखण्डीकरणसम्भवात्, न तु यूथिकादीनाम्, **'उक्किरिज्जमाणाण वा'** इति क्षुरिकादिभिः कोष्ठादिपुटानां कोष्ठादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणानां **'विक्खरिज्जमाणाण वा'** इति **'विकीर्यमाणानाम्'** इतस्ततो विप्रकीर्यमाणानां **'परिभुज्जमाणाण वा'** परिभोगायोपभुज्यमानानां, क्वचित्पाठः **'परिभाएज्जमाणाण वा'** इति, तत्र **'परिभाज्यमानानां'** पार्श्ववर्त्तिभ्यो मनाग् २ दीयमानानां **'भंडाओ भंडं साहरिज्जमाणाण वा'** इति **'भाण्डात्'** स्थानादेकस्माद् अन्यद् भाण्ड—भाजनान्तरं संह्रियमाणानाम् **'उदाराः'** स्फाराः, ते चामनोज्ञा अपि स्युरत आह—**'मनोज्ञाः'** मनोऽनुकूलाः, तच्च मनोज्ञत्वं कुतः ? इत्याह—**'मनोहराः'** मनो हरन्ति—आत्मवशं नयन्तीति मनोहराः, यतस्ततो मनोहरत्वं कुतः ? इत्याह—घ्राणमनोनिर्वृतिकराः, एवंभूताः **'सर्वतः'** सर्वासु दिक्षु **'समन्ततः'** सामस्त्येन गन्धाः **'अभिनिःस्रवन्ति'** जिघ्रतामभिमुखं निस्सरन्ति, एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति—**'भवे एयारूवे'** इत्यादि प्राग्वत् ॥ तेषां मणीनां तृणानां च कीदृशः स्पर्शः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! **'से जहा नाम ए'** इत्यादि, तद्यथा—**'अजिनकं'** चर्म्ममयं वस्त्रं रूतं च प्रतीतं **'बूरः'** वनस्पतिविशेषः **'नवनीतं'** म्रक्षणं हंसगर्भतूली शिरीषकुसुमनिचयश्च प्रतीतः **'बालकुमुदपत्तरासीइ वे'**ति बालानि—अचिरकालजातानि यानि कुमुदपत्राणि तेषां राशिर्बालकुमुदपत्रराशिः, क्वचित् बालकुसुमपत्रराशिरिति पाठः, **'भवे एयारूवे'** इत्यादि प्राग्वत् ॥ **'तेसि णं भंते !'** इत्यादि, तेषां भदन्त ! तृणानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैर्वातैः **'मन्दायं मन्दाय'**मिति मन्दं मन्दम् **'एजितानां'** कम्पितानां **'व्येजितानां'** विशेषतः कम्पितानाम्, एत-

देव पर्यायशब्देन व्याचष्टे—कम्पितानां तथा 'चालितानाम्' इतस्ततो विक्षिप्तानाम्, एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे—स्पन्दितानां तथा 'संघट्टितानां' परस्परं घर्षयुक्तानां, कथं घट्टिताः? इत्याह—'क्षोभितानां' स्वस्थानाच्चालितानां, स्वस्थानाच्चालनमपि कुतः? इत्याह—'उदीरितानाम्' उत्प्राबल्येनेरितानां—प्रेरितानां, कीदृशः शब्दः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—'गोयमे' त्यादि, गौतम! स यथानामकः—शिबिकाया वा स्पन्दमानिकाया वा रथस्य वा, तत्र शिबिका—जम्पानविशेषरूपा उपरिच्छादिता कोष्ठाकारा, तथा दीर्घो—जम्पानविशेषः पुंरुषस्य स्वप्रमाणावकाशदायी स्यन्दमानिका, अनयोश्च शब्दः पुरुषोत्पाटितयोः क्षुद्रहेमघण्टिकादिचलनवशतो वेदितव्यः, रथश्चेह सङ्ग्रामरथः प्रत्येयो, न क्रीडारथः, तस्यामेतनविशेषणानामसंभवात्, तस्य च फलकवेदिका यस्मिन् काले (यः) पुरुषस्तदपेक्षया कटिप्रमाणाऽवसेया, तस्य च रथस्य विशेषणान्यभिधत्ते—'सच्छत्तस्से'त्यादि, सच्छत्रस्य सध्वजस्य 'सघण्टाकस्य' उभयपार्श्वावलम्बिमहाप्रमाणघण्टोपेतस्य सपताकस्य सह तोरणवरं—प्रधानं तोरणं यस्य स सतोरणवरस्तस्य सह नन्दिघोषो—द्वादशतूर्यनिनादो यस्य स सनन्दिघोषस्तस्य, तथा सह किङ्किणीभिः—क्षुद्रघण्टाभिर्वर्त्तन्त इति सकिङ्किणीकानि यानि हेमजालानि—हेममयदामसमूहास्तैः सर्वासु दिक्षु पर्यन्तेषु—बहिःप्रदेशेषु परिक्षिप्तो—व्याप्तः सकिङ्किणीकहेमजालपर्यन्तपरिक्षिप्तस्तस्य, तथा हैमवतं—हिमवत्पर्वतभावि चित्रविचित्रं—मनोहारिचित्रोपेतं तैनिशं—तिनिशदारुसम्बन्धि कनकनियुक्तं—कनकविच्छुरितं दारु—काष्ठं यस्य स हैमवतचित्रविचित्रतैनिशकनकनियुक्तदारुस्तस्य, सूत्रे च द्वितीयककारः स्वार्थिकः पूर्वस्य च दीर्घे प्राकृतत्वात्, तथा सुष्ठु—अतिशयेन सम्यक् पिनद्धमरकमण्डलं धूश्च यस्य स सुपिनद्धारकमण्डलधूष्कस्तस्य, तथा कालायसेन—लोहेन सुष्ठु—अतिशयेन कृतं नेमेः—बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य च—अरकोपरि फलकचक्रवालस्य कर्म्म यस्मिन् स कालायससुकृतनेमियन्त्रकर्म्मा तस्य, तथा आकीर्णा—गुणैर्व्याप्ता ये वराः—प्रधा-

नास्तुरगास्ते **सुष्टु**—अतिशयेन सम्यक् **प्रयुक्ता**—योत्रिता यस्मिन् स आकीर्णवरतुरगसुसंप्रयुक्तः, प्राकृतत्वाद् बहुव्रीहावपि निष्ठान्तस्य परनिपातः, तथा सारथिकर्म्मणि ये कुशला नरास्तेषां मध्येऽतिशयेन **छेको**—दक्षः सारथिस्तेन सुष्टु सम्यक्परिगृहीतस्य, तथा '**सरसयबत्तीसतोणमंडियस्स**' इति शराणां शतं प्रत्येकं येषु तानि शरशतानि तानि च तानि द्वात्रिंशत्तोणानि च—बाणाश्रयाः शरशतद्वात्रिंशत्तोणानि तैर्मण्डितः शरशतद्वात्रिंशत्तोणमण्डितः, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम तानि द्वात्रिंशच्छरशतधृतानि तूणानि रथस्य सर्वतः पर्यन्तेष्ववलम्बितानि यथा तानि तस्य सङ्ग्रामायोपकल्पितस्यातीव मण्डनाय भवन्तीति, तथा **कङ्कटं**—कवचं सह कङ्कटं यस्य स सकङ्कटः सकङ्कटोऽ**वतंसः**—शेखरो यस्य स सकङ्कटावतंसस्तस्य, तथा सह चापं येषां ते सचापा ये शरा यानि च कुन्तभल्लिमुषण्ढिप्रभृतीनि नानाप्रकाराणि यानि च कवचखेटकप्रमुखाणि आवरणानि तैर्भृतः—परिपूर्णः, तथा योधानां युद्धं तन्निमित्तं सद्यः प्रगुणीभूतो यः स योधयुद्धसज्जः, ततः पूर्वपदेन सह विशेषणसमासः, तस्येत्थंभूतस्य राजाङ्गणे अन्तःपुरे वा रम्ये वा मणिकुट्टिमतले—मणिबद्धभूमितले अभीक्ष्णमभीक्ष्णं मणिको(कु)ट्टिमतलप्रदेशे राजाङ्गणप्रदेशे वा '**अभिघट्टिज्जमाणस्से**'ति अभिघट्टयमानस्य वेगेन गच्छतो ये **उदारा**—मनोज्ञाः कर्णमनोनिर्वृतिकराः सर्वतः समन्तात् शब्दा अभिनिस्सरन्ति, '**भवे एयारूवे सिया**' इति 'स्यात्' कथञ्चिद् भवेद् एतद्रूपस्तेषां मणीनां तृणानां च शब्दः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, पुनरपि गौतमः प्राह—स यथा नामकः—प्रातः सन्ध्यायां देवतायाः पुरतो या वादनायोपस्थाप्यते सा किल मङ्गलपाठिका तालाभावे च वाद्यते इति विताले—तालाभावे भवतीति वैतालिकी तस्या वैतालिक्या—वीणाया '**उत्तरामन्दा मुच्छियाए**' इति मूर्छनं मूर्छा सा संजाताऽस्या इति मूर्च्छिता **उत्तरमन्दया**—उत्तरमन्दाभिधानया मूर्च्छनया—गान्धारस्वरान्तर्गतया सप्तम्या मूर्च्छिता उत्तरमन्दामूर्च्छिता, किमुक्तं भवति ?—गान्धारस्वरस्य सप्त मू-

र्च्छना भवन्ति, तद्यथा—"नंदी य खुद्दिमा पूरिमा य चोत्थी अ सुद्धगंधारा। उत्तरगन्धारावि य हवई सा पंचमी मुच्छा ॥ १ ॥ सुट्टुत्तरआयामा छट्ठी सा नियमसो उ वोद्धव्वा। उत्तरमंदा य तहा हवई सा सत्तमी मुच्छा ॥ २ ॥" अथ किंस्वरूपा मूर्च्छना: ?, उच्यते, गान्धारादिस्वरूपामोचनेन गायतोऽतिमधुरा अन्यान्यस्वरविशेषा यान् कुर्वन्नास्तां श्रोतॄन् मूर्च्छितान् करोति किन्तु स्वयमपि मूर्च्छित इव तान् करोति, यदिवा स्वयमपि साक्षान्मूर्च्छा करोति, तथा चोक्तम्—"अन्नन्नसरविसेसे उप्पायंतस्स मुच्छणा भणिया। कत्तावि मुच्छितो इव कुणए मुच्छं व सोवेति ॥ १ ॥" गान्धारस्वरान्तर्गतानां च मूर्च्छनानां मध्ये सप्तमी उत्तरमन्दाभिधाना मूर्च्छना किलातिप्रकर्षप्राप्ता ततस्तदुत्पादनया च मुख्यवृत्त्या वादयिता मूर्च्छितो भवति, परमभेदोपचारात् वीणाऽपि मूर्च्छितेत्युक्ता, साऽपि यद्यङ्के सुप्रतिष्ठिता न भवति ततो न मूर्च्छनाप्रकर्षं विदधाति तत आह—अङ्के—स्त्रियाः पुरुषस्य वा उत्सङ्गे सुप्रतिष्ठितायाः, तथा कुशलेन—वादननिपुणेन नरेण पुरुषेण नार्या वा सुष्ठु—अतिशयेन सम्यग् गृहीतायाः, तथा चन्दनस्य सारः चन्दनसारस्तेन निर्मापितो यः कोणो—वादनदण्डस्तेन परिघट्टितायाः—संस्पृष्टायाः 'पच्चूसकालसमयंसि' इति 'प्रत्यूषकालसमये' प्रभातवेलायां, क्वचित् 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' इति पाठस्तत्र प्रदोषसमये प्रात.समये चेत्यर्थः, 'मन्दं मन्दं' शनैः शनैः 'एजिताया' चन्दनसारकोणेन मनाक् कम्पितायाः 'व्येजितायाः' विशेषतः कम्पितायाः, एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे—चालितायास्तथा घट्टितायाः, ऊर्द्ध्वाधोगच्छता चन्दनसारकोणेन गाढतरं वीणादण्डेन सह तन्त्र्याः स्पृष्टाया इत्यर्थः, तथा 'स्पन्दितायाः' नखाग्रेण स्वरविशेषोत्पादनार्थमीषच्चालितायाः 'क्षोभितायाः' मूर्च्छां प्रापिताया ये 'उदारा' मनोज्ञाः कर्णमनोनिर्वृतिकराः सर्वतः समन्ताच्छब्दा अभिनिस्सरन्ति, 'स्यात्' कथञ्चिद् भवेदेतद्रूपस्तेषां तृणानां मणीनां च शब्दः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, पुनरपि गौतमः प्राह—स यथा नामकः—किन्नराणां वा

किंपुरुषाणां वा महोरगाणां वा गन्धर्वाणां वा, वाशब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः, किंनराद्यो व्यन्तरविशेषाः, तेषां कथम्भूतानाम् ?
इत्याह—'भद्रशालवनगतानां वा' इत्यादि, तत्र मेरोः समन्ततो भूमौ भद्रशालवनं प्रथममेखलायां नन्दनवनं शिरसि चूलिकायाः पा-
श्वेषु सर्वतः पण्डकवनं 'महाहिमवंतमलयमन्दरगिरिगुहासमन्नागयाणं' इति महाहिमवान्—हैमवतक्षेत्रस्योत्तरतः सीमाकारी वर्ष-
धरपर्वतः, उपलक्षणं शेषवर्षधरपर्वतानां, मलयपर्वतस्य मन्दरगिरेश्च—मेरुपर्वतस्य च गुहा समन्वागतानां, वाशब्दा विकल्पार्थाः, एतेषु
हि स्थानेषु प्रायः किंनरादयः प्रमुदिता भवन्ति तत एतेषामुपादानम्, 'एगतो सहियाणं'ति एकस्मिन् स्थाने सहितानां—समुदितानां
'समुहागयाणं'ति परस्परसंमुखागतानां—संमुखं स्थितानां, नैकोऽपि कस्यापि पृष्ठं दत्त्वा स्थित इत्यर्थः, पृष्ठदाने हर्षविघातोत्पत्तेः,
तथा 'समुविद्वाणं' सम्यक् परस्परानाबाधया उपविष्टाः समुपविष्टास्तेषां समुपविष्टानां, तथा 'संनिविद्वाण'मिति सम्यक् स्वशरीराना-
बाधया न तु विषमसंस्थानेन निविष्टाः संनिविष्टास्तेषां, 'पमुइयपक्कीलियाणं'ति प्रमुदिताः—प्रहर्षं गताः प्रक्रीडिताः—क्रीडितुमारब्ध-
वन्तस्ततो विशेषणसमासस्तेषां, तथा गीते रतिर्येषां ते गीतरतयो गन्धर्वे—नाट्यादि तत्र हर्षितमनसो गन्धर्वहर्षितमनसस्ततः पूर्वपदेन
विशेषणसमासस्तेषां गद्यादिभेदादष्टविधं गेयं, तत्र गद्यं यत्र स्वरसञ्चारेण गद्यं गीयते, यत्र तु पद्यं—वृत्तादि गीयते तत्पद्यं, यत्र
कथिकादि गीयते तत्कथ्यं, पदबद्धं यदेकाक्षरादि यथा ते ते इत्यादि, पादबद्धं यद् वृत्तादिचतुर्भागमात्रे पदे बद्धम्, 'उक्खित्ताय'—
मिति उक्षिप्तकं प्रथमतः समारभ्यमाणं, दीर्घत्वं ककारात्पूर्वं प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यं, 'प्रवृत्तकं' प्रथमसमारम्भादूर्द्ध्वमाक्षे-
पपूर्वकप्रवर्त्तमानं 'मंदाय'मिति मन्दकं मध्यभागे सकलमूर्च्छनादिगुणोपेतं मन्दं मन्दं संचरन्, तथा 'रोइयावसाणं'ति रोचितं—
सम्यग्भावितमवसानं यस्य तद् रोचितावसानं, शनैः शनैः प्रक्षिप्यमाणस्वरं यस्य गेयस्यावसानं तद् रोचितावसानमिति भावः, तथा

'सप्तस्वरसमन्वागतं' सप्त स्वराः षड्जादयः, उक्तञ्च—"सज्जे रिसह गंधारे, मज्झिमे पंचमे सरे। धेवए चेव नेसाए, सरा सत्त वियाहिया ॥ १ ॥" ते च सप्त स्वराः पुरुषस्य स्त्रिया वा नाभीतः समुद्भवन्ति 'सत्त सरा नाभीतो' इति पूर्वमहर्षिवचनात्, तथाऽष्टभी रसैः—शृङ्गारादिभिः सम्यक् प्रकर्षेण युक्तमष्टरससम्प्रयुक्तं, तथा एकादश अलङ्काराः पूर्वान्तर्गते स्वरप्राभृते सम्यगभिहिताः, तानि च पूर्वाणि सम्प्रति व्यवच्छिन्नानि ततः पूर्वेभ्यो लेशतो विनिर्गतानि यानि भरतविशाखिलप्रभृतीनि तेभ्यो वेदितव्याः, 'छद्दोसविप्पमुक्कं'ति षड्भिर्दोषैर्विप्रमुक्तं षड्दोषविप्रमुक्तं, ते च षड् दोषा अमी—'भीयं दुयमुप्पिच्छं उत्तालं कागस्सरमणुणासं च'। उक्तञ्च—"भीयं दुयमुप्पिच्छत्थमुत्तालं च कमसो मुणेयव्वं। काकस्सरमणुनासं छद्दोसा होंति गेयस्स ॥ १ ॥" तत्र 'भीतम्' उत्त्रस्तं, किमुक्तं भवति?—यदुत्त्रस्तेन मनसा गीयते तद्भीतपुरुषनिबन्धनधर्म्मानुवृत्तत्वाद्भीतमुच्यते, 'द्रुतं' यत्त्वरितं गीयते, 'उप्पिच्छं' नाम आकुलम्, उक्तञ्च—"आहित्थं उप्पिच्छं च आउलं रोसभरियं च" अस्यायमर्थः—आहित्थमुप्पिच्छं च प्रत्येकमाकुलं रोषभृतं वोच्यत इति, आकुलता च श्वासेन द्रष्टव्या तथा पूर्वसूरिभिर्व्याख्यानात्, उक्तञ्च मूलटीकायाम्—"उप्पिच्छं श्वासयुक्त"मिति, तथा उत्—प्राबल्येनातितालमस्थानतालं वा उत्तालं, श्लक्ष्णस्वरेण काकस्वरं, सानुनासिकमनुनासं, नासिकाविनिर्गतस्वरानुगतमिति भावः, तथा 'अट्ठगुणोववेय'मिति अष्टभिर्गुणैरुपेतमष्टगुणोपेतं, ते चाष्टावमी गुणाः—पूर्णं रक्तमलङ्कृतं व्यक्तमविघु(घु)ष्टं मधुरं समं सललितं च, तथा चोक्तम्—"पुण्णं रत्तं च अलंकियं च वत्तं तहेव अविघु(घु)ट्ठं। महुरं समं सललियं अट्ठ गुणा होंति गेयस्स ॥ १ ॥" तत्र यत्स्वरकलाभिः पूर्णं गीयते तत्पूर्णं, गेयरागानुरक्तेन यद् गीयते तद्रक्तम्, अन्योऽन्यस्वरविशेषकरणेन यदलङ्कृतमेव गीयते तदलङ्कृतम्, अक्षरस्वरस्फुटकरणतो व्यक्तं, विस्वरं क्रोशतीव विघु(घु)ष्टं न विघुष्टमविघु(घु)ष्टं, मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुत-

वत्, तालवंशस्वरादिसमनुगतं समं, तथा यत्स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव तत् सह ललितेनेति सललितं, यदिवा यच्छ्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितम् ॥ इदानीमेतेषामेवाष्टानां गुणानां मध्ये कियतो गुणान् अन्यच्च प्रतिपिपादयिषुराह—'रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्ध'मित्यादि, 'रक्तं' पूर्वोक्तस्वरूपं तथा च 'त्रिस्थानकरणशुद्धं' त्रीणि स्थानानि—उरःप्रभृतीनि तेषु करणेन—क्रियया शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धं, तद्यथा—उरःशुद्धं कण्ठशुद्धं शिरोविशुद्धं च, तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशालो भवति तत उरोविशुद्धं, स एव यदि कण्ठे वर्त्तितो भवति अस्फुटितश्च ततः कण्ठविशुद्धं, यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति ततः शिरोविशुद्धं, यदिवा यद् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धैर्गीयते तद् उरःकण्ठशिरोविशुद्धत्वात्रिस्थानकरणविशुद्धं, तथा सकुहरो गुञ्जन् यो वंशो यत्र तन्त्रीतलताललयग्रहसुसंप्रयुक्तं भवति सकुहरे वंशे गुञ्जति तन्त्र्यां च वाद्यमानायां यत्तन्त्रीस्वरेणाविरुद्धं तत् सकुहरगुञ्जद्वंशतन्त्रीसुसंप्रयुक्तं, तथा परस्पराहतहस्ततालस्वरानुवर्त्ति यद् गीतं तत्तालसुसंप्रयुक्तं, यत् मुरजकंसिकादीनामातोद्यानामाहतानां यो ध्वनिर्यश्च नृत्यन्त्या नर्त्तक्याः पादोत्क्षेपस्तेन समं तत्तालसुसंप्रयुक्तं, तथा शृङ्गमयो दारुमयो वंशमयो वाऽङ्गुलिकोशस्तेनाहतायास्तन्त्र्याः स्वरप्रकारो लयस्तमनुसरद् गेयं लयसुसंप्रयुक्तं, तथा यः प्रथमं वंशतन्त्र्यादिभिः स्वरो गृहीतस्तन्मार्गानुसारि ग्रहसुसंप्रयुक्तं, तथा 'महुर'मिति मधुरं प्राग्वत्, तथा 'सम'मिति तालवंशस्वरादिसमनुगतं समं सललितं प्राग्वद् अत एव मनोहरं, पुनः कथम्भूतम्? इत्याह—'मउयरिभियपयसंचारं' तत्र मृदु—मृदुना स्वरेण युक्तं न निष्ठुरेण तथा यत्र स्वरोऽक्षरेषु—घोलनास्वरविशेषेषु संचरन् रागेऽतीव प्रतिभासते स पदसञ्चारो रिभितमुच्यते मृदुरिभितपदेषु गेयनिबद्धेषु सञ्चारो यत्र गेये तत् मृदुरिभितपदसञ्चारं, तथा 'सुरइं' इति शोभना रतिर्यस्मिन् श्रोतॄणां तत्सुरति, तथा शोभना नतिः

रचनातोऽवसाने यस्मिन् तत्सुनति, तथा वरं—प्रधानं चारु—विशिष्टचङ्गिमोपेतं रूपं—स्वरूपं यस्य तद् वरचारुरूपं 'दिव्यं' प्रधानं नृत्यं गेयं प्रगीतानां—गानानुसारध्वनिव(म)तां यादृशः शब्दोऽतिमनोहरो भवति 'स्यात्' कथञ्चिद् भवेद् एतद्रूपस्तेषां तृणानां मणीनां च शब्दः ?, एवमुक्ते भगवानाह—गौतम ! स्यादेवंभूतः शब्द इति ॥

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं वहवे खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ पुक्खरिणीओ गुंजालियाओ दीहियाओ (सरसीओ) सरपंतियाओ सरसरपंतीओ विलपंतीओ अच्छाओ सण्हाओ रयतामयकूलाओ वइरामयपासाणाओ तवणिज्जमयतलाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ णवणीयतलाओ सुवण्णसुब्भ(ज्झ) रययमणिवालुयाओ सुहोयारासुउत्ताराओ णाणामणितित्थसुबद्धाओ चारु(चउ)क्कोणाओ समतीराओ आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछण्णपत्तभिसमुणालाओ वहुउप्पलकुमुयणलिणसुभगसोगंधितपोंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोवइयाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुण्णाओ परिहत्थभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणमिहुणपरिचरिताओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेदियापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ अप्पेगतियाओ आसवोदाओ अप्पेगतियाओ वारुणोदाओ अप्पेगतियाओ खीरोदाओ अप्पेगतियाओ घओदाओ अप्पेगतियाओ [इक्खु]खो(दो)दाओ (अमयरससमरसोदाओ) अप्पेगतियाओ पगतीए उदग(अमय)रसेणं पण्णत्ताओ पासाइयाओ ४, तासि णं खुड्डि-

याणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ २ देसे २ तहिं २ जाव बहवे तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पामया फलगा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणबाहाओ ॥ तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं २ तोरणा पं० ॥ ते णं तोरणा णाणामणिमयखंभेसु उवणिविट्ठसण्णिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवइता विविहताराखोवचिता ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेदियापरिगताभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासातिया ४ ॥ तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता—सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणभद्दासणकलसमच्छदप्पणा सव्वरतणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झया नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हारिद्दचामरज्झया सुक्किल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरदंडा जलयामलगंधीया सुरूवा पासाइया ४ ॥ तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइछत्ता पडागाइपडागा घंटाजुयला चामरजुयला उप्पलहत्थया जाव सयसहस्सवत्तहत्थगा सव्वरयणामया

अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तासि णं खुड्डियाणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे उप्पायपव्वया णियइपव्वया जगतिपव्वया दारुपव्वयगा दगमंडवगा दगमंचका दगमालका दगपासायगा ऊसडा खुल्ला खडहडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं उप्पायपव्वतेसु जाव पक्खंदोलएसु बहवे हंसासणाइं कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्कंकडच्छायाइं सप्पभाइं सम्मिरीयाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं ॥ तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालिघरा कयलिघरा लयाघरा अच्छणघरा पेच्छणघरा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालघरगा जालघरगा कुसमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सम्मिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ तेसु णं आलिघरएसु जाव आयंसघरएसु बहूइं हंसासणाइं जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं ॥ तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं

ताहिं बहवे जाइमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा णवमालियामंडवगा वासंतीमंडवगा दधिवासुयामंडवगा सूरिल्लिमंडवगा तंबोलीमंडवगा मुद्दियामंडवगा णागलयामंडवगा अतिमुत्तमंडवगा अप्फोतामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामंडवगा णिच्चं कुसुमिया णिच्चं जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं जातीमंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता, तंजहा—हंसासणसंठिता कोंचासणसंठिता गरुलासणसंठिता उण्णयासणसंठिता पणयासणसंठिता दीहासणसंठिता भद्दासणसंठिता पक्खासणसंठिता मगरासणसंठिता उसभासणसंठिता सीहासणसंठिता पउमासणसंठिता दिसासोत्थियासणसंठिता पं०, तत्थ बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया पण्णत्ता समणाउसो! आइण्णगरूयबूरणवणीततूलफासा मउया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ तीसे णं जगतीए उप्पिं अंतो पउमवरवेदियाए एत्थ णं एगे महं वणसंडे पण्णत्ते देसूणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेणं वेइयासमएणं परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे वणसंडवण्णओ (मणि)तणसद्दविहूणो णेयव्वो, तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीयंति तुयट्टंति रमंति

ललंति कीडंति मोहंति पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कंताणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ (सू० १२७)

'तस्स णं वणसंडस्से'त्यादि, तस्य णमिति वाक्यालङ्कारे वनखण्डस्य मध्ये तत्र तत्र देशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे 'वहूईओ' इति वह्वयः 'खुड्डा खुड्डियाओ' इति क्षुल्लिकाः क्षुल्लिका लघवो लघव इत्यर्थः, 'वाप्यः' चतुरस्राकाराः 'पुष्करिण्यः' वृत्ताकाराः अथवा पुष्कराणि विद्यन्ते यासु ताः पुष्करिण्यः 'दीर्घिकाः' सारिण्यस्ता एव वक्रा गुञ्जालिकाः, वहूनि केवलकेवलानि पुष्पावकीर्णकानि सरांसि, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, वहूनि सरांसि एकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सरःपङ्क्तिस्ता वह्वयः सरःपङ्क्तयः, तथा येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया संचरति सा सरःसरःपङ्क्तिस्ता वह्वयः सरःसरःपङ्क्तयः, तथा विलानीव विलानि—कूपास्तेषां पङ्क्तयो विलपङ्क्तयः, एताश्च सर्वा अपि कथम्भूताः ? इत्याह—'अच्छा' स्फटिकवद्बहिर्निर्म्मलप्रदेशाः 'श्लक्ष्णाः' श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशाः, तथा रजतमयं—रूप्यमयं कूलं यासां ता रजतमयकूलाः, तथा समं—अगर्त्तासद्भावतोऽविषमं तीरं तीरावर्त्तिजलापूरितं स्थानं यासां ताः समतीराः, तथा वज्रमयाः पाषाणा यासां ता वज्रमयपाषाणाः, तथा तपनीयं—हेमविशेषस्तपनीयं—तपनीयमयं तलं—भूमितलं यासां तास्तपनीयतलाः, तथा 'सुवण्णसुज्झरययवालुयाओ' इति सुवर्णं—पीतकान्तिहेम सुज्झं—रूप्यविशेषः रजतं—प्रतीतं तन्मय्यो वालुका यासु ताः सुवर्णसुज्झरजतवालुकाः, 'वेरुलियमणिफालिहपडलपच्चोयडाओ य'त्ति वैडूर्यमणिमयानि स्फाटिकपटलमयानि प्रत्यवतटानि तटसमीपवर्त्तिनोऽत्युन्नतप्रदेशा यासां ता वैडूर्यमणिस्फटिकपटलप्रत्यवतटाः 'सुहोयारासुउत्तारा' इति सुखेनावतारो—जलमध्ये प्रवेशनं यासु ताः स्ववताराः तथा सु—सुखेन उत्तारो—जलमध्याद्बहिर्विनिर्गमनं यासु ताः

सुखोत्तारा: ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः **'नाणामणितित्थसुबद्धाओ'** इति नानामणिभिः—नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः, अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्प्राकृतशैलीवशाद्वा, **'चउक्कोणाओ'** इति चत्वारः कोणा यस्यां सा चतुष्कोणाः एतच्च विशेषणं वापीः कूपांश्च प्रति द्रष्टव्यं, तेषामेव चतुष्कोणत्वसम्भवात् न शेषाणां, तथा **आनुपूर्व्वेण**—क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु—अतिशयेन यो जातो **वप्रः**—केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरं—अलब्धस्थानं शीतलं जलं यासु ता आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजलाः **'संछण्णपत्तभिसमुणालाओ'** संछन्नानि—जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यासु ताः संछन्नपत्रबिसमृणालाः, इह बिसमृणालसाहचर्यात्पत्राणि—पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि, बिसानि—कन्दा मृणालानि—पद्मनालाः, तथा बहुभिरुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रकेसरफुल्लोपचिताः, तथा षट्पदैः—भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि च यासु ताः षट्पदपरिभुज्यमानकमलाः, तथाऽच्छेन—स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेन—आगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णा अच्छविमलसलिलपूर्णाः, तथा **'पडिहत्था'** अतिरेकिताः अतिप्रभूता इत्यर्थः "पडिहत्थमुद्धुमायं अहिरेइयं च जाण आउण्णं" इति वचनात्, उदाहरणं चात्र—"घणपडिहत्थं गयणं सराइं नवसलिलसुद्ध(उद्धु)मायाइं । अहिरेइयं महं उण चिंताएँ मणं तुहं विरहे ॥ १ ॥" इति, भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र ताः पडिहत्थभ्रमन्मत्स्यकच्छपाः, तथाऽनेकैः—शकुनमिथुनकैः प्रविचरिता—इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ता अनेकशकुनमिथुनकप्रविचरिताः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, एता वाप्यादयः सरस्सरःपङ्क्तिपर्यवसानाः प्रत्येकं प्रत्येकमिति, एकमेकं प्रति प्रत्येकम्, अत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दो न वीप्साविवक्षायां, पश्चात्प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनमिति, पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं वनषण्डपरिक्षिप्ताश्च, **'अप्पेगतियाओ'** इत्यादि, अपिर्बाढार्थे बाढमेकका:—काश्चन

वाप्यादय आसवमिव—चन्द्रहासादिपरमासवमिव उदकं यासां ता आसवोदकाः, अप्येकका वारुणस्य वारुणसमुद्रस्येव उदकं यासां ता वारुणोदकाः, अप्येककाः क्षीरमिवोदकं यासां ताः क्षीरोदकाः, अप्येकका घृतमिवोदकं यासां ता घृतोदकाः, अप्येककाः क्षोद इव—इक्षुरस इव उदकं यासां ताः क्षोदोदकाः, अप्येकका अमृतरससमरसमुदकं यासां ता अमृतरससमरसोदकाः, अप्येकका अमृत-रसेन स्वाभाविकेन प्रज्ञप्ताः, 'पासाईया(ओ)' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्, तासां क्षुल्लिकानां यावद्बिलपङ्क्तीनां प्रत्येकं २ चतुर्दिशि चत्वारि, एकैकस्यां दिशि एकैकभावात्, 'त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि' प्रतिविशिष्टं रूपं येषां तानि प्रतिरूपकाणि त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानं त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, तानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणाम् 'अयं' वक्ष्यमाणः 'एतद्रूपः' अनन्तरं वक्ष्यमाणस्वरूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'वज्रमयाः' वज्ररत्नमया 'नेमाः' भूमेरूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः 'रिष्ठमयाः' रिष्ठरत्नमयाः 'प्रतिष्ठानाः' त्रिसोपानमूलपादा वैडूर्यमयाः स्तम्भाः सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि—त्रिसोपानाङ्गभूतानि वज्रमयानि वज्ररत्नापूरिताः सन्धयः—फलकद्वयापान्तरालप्रदेशाः लोहिताक्षमय्यः सूच्यः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः नानामणिमया अवलम्ब्यन्ते इति अवलम्बना—अवतरतामुत्तरतां चालम्बने हेतुभूता अवलम्बनबाहातो विनिर्गताः केचिदवयवाः 'अवलंबणबाहाओ' इति अवलम्बनबाहा अपि नानामणिमयाः, अवलम्बनबाहा नाम उभयोः उभयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः, 'पासाईयाओ' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'-मित्यादि, तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च तोरणानामयमेतद्रूपो 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'ते णं तोरणा नाणामणिमया' इत्यादि, तानि तोरणानि नानामणिमयानि, मणयः—चन्द्रकान्तादयः, विविध म-

णिमयानि, नानामणिमयेषु स्तम्भेषु 'उपविष्टानि' सामीप्येन स्थितानि, तानि च कदाचिच्चलानि अथवाऽपदपतितानि वाऽऽशङ्क्येरन् तत आह–सम्यग्–निश्चलतयाऽपदपरिहारेण च निविष्टानि ततो विशेषणसमासः उपविष्टसन्निविष्टानि 'विविहमुत्तंतरोचिया' इति विविधा–विविधविच्छित्तिकलिता मुक्ता–मुक्ताफलानि 'अंतरे'ति अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति, अन्तरा २ 'ओचिया' आरोपिता यत्र तानि तथा, 'विविहताराख्वोवचिया' इति विविधैस्तारारूपैः–तारिकारूपैरुपचितानि, तोरणेपु हि शोभार्थं तारका निबध्यन्ते इति लोकेऽपि प्रतीतं इति विविधतारारूपोपचितानि, 'ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता' इति ईहामृगा–वृका व्यालाः–श्वापदभुजगाः, ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिंनररुरुसरभकुञ्जरवनलतापद्मलतानां भक्त्या–विच्छित्त्या विचित्रं–आलेखो येषु तानि तथा, स्तम्भोद्गताभिः–स्तम्भोपरिवर्त्तिनीभिर्वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामाणि, तथा 'विजाहरजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया' इति विद्याधरयोर्यद् यमलं–समश्रेणीकं युगलं–द्वन्द्वं विद्याधरयमलयुगलं तेषां यन्त्राणि–प्रपञ्चास्तैर्युक्तानीव, अर्चिषां सहस्रैर्मालनीयानि–परिवारणीयानि अर्चिःसहस्रमालनीयानि, किमुक्तं भवति ?–एवं नाम प्रभासमुदायोपेतानि येनैवं संभावनोपजायते यथा नूनमेतानि न स्वाभाविकप्रभासमुदयोपेतानि किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषविशेषप्रपञ्चयुक्तानीति, 'रूवगसहस्सकलिया' इति रूपकाणां सहस्राणि रूपकसहस्राणि तैः कलितानि रूपकसहस्रकलितानि 'भिसमाणा' इति दीप्यमानानि 'भिब्भिसमाणा' इति अतिशयेन दीप्यमानानि 'चक्खुल्लोयणलेसा' इति चक्षुः कर्तृ लोकने–अवलोकने लिसतीव–दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतीव यत्र तानि चक्षुर्लोकनलेसानि 'सुहफासा' इति शुभस्पर्शानि सशोभाकानि रूपाणि यत्र तानि सश्रीकरूपाणि,

'पासाईया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसिं तोरणाणं उवरिं अट्ठट्ठमंगले'त्यादि सुगमं, नवरं 'जाव पडिरूवा' इति यावत्क-
रणात् 'घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादिपरिग्रहः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानामुपरि वहवः 'कृष्णचामरध्वजाः' कृष्णचामरयुक्ता ध्वजाः
कृष्णचामरध्वजाः एवं वहवो नीलचामरध्वजा लोहितचामरध्वजा हारिद्रचामरध्वजाः शुक्लचामरध्वजाः, कथम्भूता इत्याह एते सर्वे-
ऽपि? इति, अत आह—'अच्छा' आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः 'कृष्णाः' कृष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिता 'रूप्यपट्टा' इति रूप्यो—
रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषां ते रूप्यपट्टाः 'वइरदंडा' इति वज्रो—वज्ररत्नमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्त्ती येषां ते वज्र-
दण्डाः, तथा जलजानामिव—जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवामलो—निर्म्मलो न तु कुद्रव्यगंधसम्मिश्रो यो गन्धः स विद्यते येषां ते ज-
लजामलगन्धिका 'अतः अनेकस्वरा'दितीकप्रत्ययः, अत एव सुरम्याः, 'पासादीया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि,
तेषां तोरणानामुपरि वहूनि 'छत्रातिच्छत्राणि' छत्रात्—लोकप्रसिद्धादेकसङ्ख्याकादतिशायीनि द्विसङ्ख्यानि त्रिसङ्ख्यानि वा छत्रातिच्छत्राणि,
वह्वयः पताकाभ्यो—लोकप्रसिद्धाभ्योऽतिशायिन्यो दीर्घत्वेन विस्तारेण च पताकाः पताकातिपताकाः, वहूनि घण्टायुगलानि वहूनि चामरयु-
गलानि वहवः 'उत्पलहस्तकाः' उत्पलाख्यजलजकुसुमसमूहविशेपाः, एवं पद्महस्तका वहवो नलिनहस्तका वहवः सुभगहस्तका वहवः
सौगन्धिकहस्तका वहवः पुण्डरीकहस्तका वहवः शतपत्रहस्तकाः वहवः सहस्रपत्रहस्तकाः, उत्पलादीनि प्रागेव व्याख्यातानि, एते च छत्रा-
तिच्छत्रादयः सर्वेऽपि सर्वरत्नमयाः 'जाव पडिरूवा' इति यावत्करणात् 'अच्छा सण्हा लण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्वकपरिग्रहः ॥
'तासि ण'मित्यादि, तासां क्षुल्लिकानां वापीनां यावद्विलपङ्क्तीनाम्, अत्र यावच्छब्दात् पुष्करिण्यादिपरिग्रहः, अपान्तरालेषु तत्र तत्र देशे
तस्यैव देशस्य तत्र तत्रैकदेशे वहव उत्पातपर्वता—यत्रागत्य वहवो व्यन्तरदेवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति

'**नियइपव्वया**' इति **नियत्या**—नैयत्येन पर्वता नियतिपर्वताः, क्वचित् '**निययपव्वया**' इति पाठस्तत्र **नियताः**—सदा भोग्यत्वेनावस्थिताः पर्वता नियतपर्वताः, यत्र वानमन्तरा देवा देव्यश्च भवधारणीयेन वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते इति भावः, '**जगतीपर्वतकाः**' पर्वतविशेषाः '**दारुपर्वतकाः**' दारुनिर्मापिता इव पर्वतकाः '**दगमंडवगा**' इति '**दकमण्डपकाः**' स्फटिकमण्डपकाः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"दकमण्डपकाः स्फाटिकमण्डपका" इति, एवं दकमञ्चका दकमालका दकप्रासादाः, एते च दकमण्डपादयः केचित् '**ऊसडा**' इति उत्सृता उच्चा इत्यर्थः, केचित् '**खुड्डा**' इति क्षुल्ला लघवः क्वचित् '**खडख(ह)डगा**' इति लघव आयताश्च, तथा अन्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च, तत्र यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमन्दोलयन्ति ते अन्दोलका इति लोके प्रसिद्धाः, यत्र तु पक्षिण आगत्यात्मानमन्दोलयन्ति ते पक्ष्यन्दोलकाः, ते चान्दोलकाः पक्ष्यन्दोलकाश्च तस्मिन् वनषण्डे तत्र तत्र प्रदेशे वानमन्तरदेवदेवीक्रीडायोग्या बहवः सन्ति, ते चोत्पातपर्वतादयः कथम्भूताः? इत्याह—'**सर्वरत्नमयाः**' सर्वात्मना रत्नमयाः, '**अच्छा सण्हा**' इत्यादि विशेषणजातं पूर्ववत् ॥ '**तेसु ण**'मित्यादि, तेषु उत्पातपर्वतेषु यावत्पक्ष्यन्दोलकेषु, यावत्करणान्नियतिपर्वतकादिपरिग्रहः, बहूनि हंसासनानि तत्र येषामासनानामधोभागे हंसा व्यवस्थिता यथा सिंहासने सिंहाः तानि हंसासनानि, एवं क्रौञ्चासनानि गरुडासनानि च भावनीयानि, उन्नतासनानि नाम यानि उच्चासनानि प्रणतासनानि—निम्नासनानि दीर्घासनानि—शय्यारूपाणि **भद्रासनानि** येषामधोभागे पीठिकाबन्धः पक्ष्यासनानि येषामधोभागे नानास्वरूपाः पक्षिणः, एवं मकरासनानि सिंहासनानि च भावनीयानि, **पद्मासनानि**—पद्माकाराणि आसनानि '**दिसासोवत्थियासणाणि**' येषामधोभागे दिक्सौवस्तिका आलिखिताः सन्ति, अत्र यथाक्रममासनानां सङ्ग्राहिका सङ्ग्रहणिगाथा—"हंसे १ कोंचे २ गरुडे ३ उण्णय ४ पणए य ५ दीह ६ भद्दे य ७ । पक्खे ८ मयरे ९

तथा वर्त्तन्त इति भावः 'क्रीडन्ति' यथासुखमितस्ततो गमनविनोदेन गीतनृत्यादिविनोदेन वा तिष्ठन्ति 'मोहन्ति' मैथुनसेवां कुर्वन्ति, इत्येवं 'पुरा पोराणाग'मित्यादि, 'पुरा' पूर्वं प्राग्भवे इति भावः कृतानां कर्म्मणामिति योगः, अत एव पौराणानां सुचीर्णानां—सुचरितानामितिभावः, इह सुचरितजनितं कर्म्मापि कार्ये कारणोपचारात्सुचरितमिति विवक्षितं, ततोऽयं भावार्थः—विशिष्टतथाविधधर्म्मानुष्ठानविषयाप्रमादकरणक्षान्त्यादिसुचरितानामिति, तथा सुपराक्रान्तानाम्, अत्रापि कारणे कार्योपचारात् सुपराक्रान्तजनितानि कर्माण्येव सुपराक्रान्तानि इत्युक्तं भवति, सकलसत्त्वमैत्रीसत्यभाषणपरद्रव्यानपहारसुशीलादिरूपसुपराक्रमजनितानामिति, अत एव शुभानां—शुभफलानाम्, इह किञ्चिदशुभफलमपीन्द्रियमतिविपर्यासात् शुभफलमाभाति ततस्तात्त्विकशुभत्वप्रतिपत्त्यर्थमस्यैव पर्यायशब्दमाह—'कल्याणानां' तत्त्ववृत्त्या तथाविधविशिष्टफलदायिनाम्, अथवा कल्याणानाम्—अनर्थोपशमकारिणां, कल्याणं—कल्याणरूपं फलविपाकं 'पच्चणुभवमाणा' प्रत्येकमनुभवन्तः—'विहरन्ति' आसते ॥ तदेवं पद्मवरवेदिकाया वहिर्यो वनखण्डस्तद्वक्तव्यतोक्ता, सम्प्रति तस्या एव पद्मवरवेदिकाया अर्वाग् जगत्या उपरि यो वनखण्डस्तद्वक्तव्यतामभिधित्सुराह—'तीसे णं जगतीए' इत्यादि, तस्या जगत्या उपरि पद्मवरवेदिकाया 'अन्तः' मध्यभागे अत्र महानेको वनषण्डः प्रज्ञप्तः 'देसोणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेण'मित्यादि सर्वं वहिर्वनखण्डवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरमत्र मणीना तृणानां च शब्दो न वक्तव्यः, पद्मवरवेदिकान्तरिततया तथाविधवाताभावतो मणीनां तृणानां च चलनाभावतः परस्परसंघर्षाभावात्, तथा चाह—"वणसंडवण्णतो सद्दवज्जो जाव विहरंति" इति ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपस्य द्वारसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—

जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—

विजये वेजयंते जयंते अपराजिए ॥ (सू० १२८) कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजये नामं दारे पण्णत्ते ?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाधाए जंबुद्दीवे दीवे पुरच्छिमपेरंते लवणसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स विजये णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेए वरकणगथूभियागे ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलतपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गतवइरवेदियापरिगताभिरामे विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिते भिसिमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे वण्णो दारस्स (तस्सिमो होइ) तं०—वइरामया णिम्मा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतले हंसगब्भमए एलुए गोमेज्जमते इंदक्खीले लोहितक्खमईओ दारचेडाओ जोतिरसामते उत्तरंगे वेरुलियामया कवाडा वइरामया संधी लोहितक्खमईओ सूईओ णाणामणिमया समुग्गगा वईरामई अग्गलाओ अग्गलपासाया वइरामई आवत्तणपेढिया अंकुत्तरपासते णिरंतरितघणकवाडे भित्तीसु चेव भित्तीगुलिया छप्पण्णा तिण्णि होंति गोमाणसी तत्तिया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालिभंजिया वइरामए कूडे रययामए उ-

रसेहे सव्वतवणिज्जमए उल्लोए णाणामणिरयणजालपंजरमणिवंसगलोहितक्खपडिवंसगरयत-
भोम्मे अंकामया पक्खबाहाओ जोतिरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रयतामयी पट्टिताओ
जायरूवमती ओहाडणी वइरामयी उवरि पुच्छणी सव्वसेतरययमए च्छायणे अंकमतकणगकूडत-
वणिज्जथूभियाए सेते संखतलविमलणिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे तिलगरयणद्ध-
चंदचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो य बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडे सुह-
प्फासे सस्सिरीयरूवे पासातीए ४ ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयो पासिं दुहतो णिसीहियाते
दो दो चंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा सुरभिवर-
वारिपडिपुण्णा चंदणकयचच्चागा आवद्धकंठेगुणा पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा
जाव पडिरूवा महता महता महिंदकुंभसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ विजयस्स णं दारस्स
उभओ पासिं दुहतो णिसीहिआए दो दो णागदंतपरिवाडीओ, ते णं णागदंतगा मुत्ताजालंतरू-
सितहेमजालगवक्खजालखिंखिणीघंटाजालपरिक्खित्ता अब्भुग्गता अभिणिसिट्ठा तिरियं सुसं-
पगहिता अहेपण्णगद्धरूवा पण्णगद्धसंठाणसंठिता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महता
महया गयदंतसमाणा प० समणाउसो ! ॥ तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धवग्घारि-
तमल्लदामकलावा जाव सुक्किलसुत्तबद्धवग्घारियमल्लदामकलावा ॥ ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा

सुवण्णपतरगमंडिता णाणामणिरयणविविधहारद्धहार (उवसोभितसमुदया) जाव सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति ॥ तेसि णं णागदंतकाणं उवरिं अण्णाओ दो दो णागदंतपरिवाडीओ पण्णत्ताओ, तेसि णं णागदंतगाणं मुत्ताजालंतरूसिया तहेव जाव समणाउसो! । तेसु णं णागदंतएसु बहवे रयतामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रयणामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामतीओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधगंधियाओ गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुण्णेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं तप्पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ आपूरेमाणीओ अतीव अतीव सिरीए जाव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीधियाए दो दो सालिभंजियापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठिताओ सुपयट्ठियाओ सुअलंकिताओ णाणागारवसणाओ णाणामल्लपिणट्टि(द्धि)ओ मुट्ठीगेज्झमज्झाओ आमेलगजमलजुयलवट्टिअब्भुण्णयपीणरचियसंठियपओहराओ रत्तावंगाओ असियकेसीओ मिदुविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लितग्गसिरयाओ ईसिं असोगवरपादवसमुट्ठिताओ वामहत्थगहितग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीतो इव चक्खुल्लोयणलेसाहिं अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ इव पुढविपरिणामाओ सासयभावमुव-

गताओ चंदाणणाओ चंदविलासिणीओ चंदद्धसमनिडालाओ चंदाहियसोमदंसणाओ उक्का इव उज्जोएमाणीओ विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहिययरसंनिकासाओ सिंगारागारचारुवेसाओ पासाइयाओ ४ तेयसा अतीव अतीव सोभेमाणीओ सोभेमाणीओ चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभयतो पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओपासिं दुहओ णिसीधियाए दो दो घंटापरिवाडिओ पण्णत्ताओ, तासि णं घंटाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—जंबूणतमतीओ घंटाओ वइरामतीओ लालाओ णाणामणिमया घंटापासगा तवणिज्जमतीओ संकलाओ रयतामतीओ रज्जूओ ॥ ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ मेहस्सराओ हंसस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदिघोसाओ सीहस्सराओ सीहघोसाओ मंजुस्सराओ मंजुघोसाओ सुस्सराओ सुस्सरणिग्घोसाओ ते पदेसे ओरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणनिव्वुइकरेण सद्देण जाव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं दारस्स उभओपासिं दुहतो णिसीधिताए दो दो वणमालापरिवाडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणादुमलताकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलसोभंतसस्सिरीयाओ पासाईयाओ ते पएसे उरालेणं जाव गंधेणं आपूरेमाणीओ जाव चिट्ठंति (सू० १२९) ॥

'जंबुद्दीवस्स णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य 'पुरच्छिमेणं'ति पूर्वस्यां दिशि पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रप्रमाणया 'अबाधया' अपान्तरालेन यो जम्बूद्वीपस्य 'पुरच्छिमे पेरंते' इति पूर्वः पर्यन्तो लवणसमुद्रपूर्वार्द्धस्य 'पच्चत्थिमेणं'ति पश्चिमे भागे शीताया महानद्या उपरि 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, अष्टौ योजनानि उच्चैस्त्वेन चत्वारि योजनानि विष्कम्भेन, 'तावइयं चेव पवेसेणं'ति तावन्त्येव चत्वारीत्यर्थः योजनानि प्रवेशेन, कथम्भूतमित्यर्थः, 'सेए' इत्यादि, 'श्वेतं' श्वेतवर्णोपेतं बाहल्येनाङ्करत्नमयत्वात् 'वरकणगथूभियाए' इति वरकनका—वरकनकमयी स्तूपिका—शिखरं यस्य तद् वरकनकस्तूपिकाकम्, 'ईहामियउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामे विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ते इव अच्चीसहस्समालणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोयणलेसे सुहफासे सस्सिरीयरूवे' इति विशेषणजातं प्राग्वत्। 'वण्णो दारस्स तस्सिमो होइ' इति 'वर्णः' वर्णकनिवेशो द्वारस्य 'तस्य' विजयाभिधानस्य 'अयं' वक्ष्यमाणो भवति, तमेवाह—'तंजहे'त्यादि, तद्यथा—वज्रमया नेमा—भूमिभागादूर्द्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशा रिष्टमयानि प्रतिष्ठानानि—मूलपादाः 'वेरुलियरुइलखंभे' इति वैडूर्या—वैडूर्यरत्नमया रुचिराः स्तम्भा यस्य तद् वैडूर्यरुचिरस्तम्भं 'जायरूवोवचियपवरपंचवण्णमणिरयणकुट्टिमतले' इति जातरूपेण—सुवर्णेनोपचितैः—युक्तैः प्रवरैः—प्रधानैः पञ्चवर्णैर्मणिभिः—चन्द्रकान्तादिभिः रत्नैः—कर्केतनादिभिः कुट्टिमतलं—बद्धभूमितलं यस्य तत्तथा 'हंसगब्भमए एलुगे'

इति हंसगर्भो—रत्नविशेषस्तन्मय एलुको—देहली 'गोमेज्जमयंइंदकीले' इति गोमेयकरत्नमय इन्द्रकीलो लोहिताक्षरत्नमय्यौ द्वारपिण्डौ(चेट्यौ)—द्वारशाखे 'जोइरसामए उत्तरंगे' इति ज्योतीरसमयमुत्तरङ्ग—द्वारस्योपरि तिर्यग्व्यवस्थितं काष्ठं वैडूर्यमयौ कपाटौ लोहिताक्षमय्यो—लोहिताक्षरत्नालिकाः सूचयः—फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयाः 'वइरामया संधी' वज्रमयाः 'सन्धयः' सन्धिमेलाः फलकानां, किमुक्तं भवति ?—वज्ररत्नापूरिताः फलकानां सन्धयः, 'नानामणिमया समुग्गया' इति समुद्गका इव समुद्गकाः—सूतिकागृहाणि तानि नानामणिमयानि 'वइरामया अग्गला अग्गलपासाया' अर्गलाः—प्रतीताः अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते, आह च मूलटीकाकारः—"अर्गलाप्रासादा यत्रार्गला नियम्यन्ते" इति, एतौ द्वावपि वज्ररत्नमयौ, 'रययामयी आवत्तणपेढिया' इति आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलिका, उक्तं च मूलटीकायाम्—"आवर्त्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवति" 'अंकुत्तरपासाए' इति अङ्का अङ्करत्नमया उत्तरपार्श्वा यस्य तद् अङ्कोत्तरपार्श्वं 'निरंतरियघणकवाडे' इति निर्गता अन्तरिका—लध्वन्तररूपा ययोस्तौ निरन्तरिकौ अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरघनकपाटं 'भित्तिसु चेव भित्तिगुलिया छप्पण्णा तिन्नि होंति' इति तस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्भित्तिषु—भित्तिगता भित्तिगुलिकाः—पीठकसंस्थानीयास्तिस्रः षट्पञ्चाशतः—षट्पञ्चाशत्त्रिकप्रमाणा भवन्ति, 'गोमाणसिया तत्तिया' इति गोमानस्यः—शय्याः 'तत्तिया' इति तावन्मात्राः षट्पञ्चाशत्त्रिकसङ्ख्याका इत्यर्थः, 'नानामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसालभंजियाए' इति इदं द्वारविशेषणं, नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि व्यालरूपकाणि लीलास्थितशालभञ्जिकाश्च—लीलास्थितपुत्रिकाश्च यस्य तत्तथा 'वइरामए कूडे' वज्रमयो—वज्ररत्नमयः कूटो—माडभागः रजतमय उत्सेधः—शिखरम्, आह च मूलटीकाकारः—"कूडो—माडभाग उच्छ्रयः—शिखर"मिति, केवलं शिखरमत्र तस्यैव माडभागस्य सं-

बन्धि द्रष्टव्यं न द्वारस्य, तस्य प्रागेवोक्तत्वात्, **'सव्वतवणिज्जमए उल्लोए'** सर्वात्मना तपनीयमय उल्लोकः—उपरिभागः **'नानामणि-रयणजालपंजरमणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमे'** इति, मणयो—मणिमया वंशा येषां तानि मणिमयवंशकानि लोहिताक्षा—लोहिताक्षमयाः प्रतिवंशा येषां तानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजता—रजतमयी भूमिर्येषां तानि रजतभूमानि, प्राकृतत्वात्समासान्तो मकारस्य च द्वित्वं, मणिवंशकानि लोहिताक्षप्रतिवंशकानि रजतभूमानि नानामणिरत्नानि—नानामणिरत्नमयानि जालपञ्जराणि—गवाक्षापरपर्यायाणि यस्मिन् द्वारे तत्तथा, पदानामन्यथोपनिपातः प्राकृतत्वात्, 'अंकमया पक्खा पक्खबाहाओ जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुगा य रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुंछणीओ सव्वसेयरययामए छा(य)णे' इति पञ्चवरवेदिकावद्भावनीयम्, **'अंकमयकणगकूडतवणिज्जथूभियागे'** इति अङ्कमयं—बाहुल्येनाङ्करत्नमयं पक्षबाह्वादीनामङ्करत्नात्मकत्वात् कनकं—कनकमयं कूटं—शिखरं यस्य तत् कनककूटं तपनीया—तपनीयमयी स्तूपिका—लघुशिखररूपा यस्य तत्तपनीयस्तूपिकाकं, ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्म्मधारयः, एतेन यत् प्राक् सामान्यत उत्क्षिप्तं **'सेए वरकणगथूभियागे'** इति तदेव प्रपञ्चतो भावितमिति। सम्प्रति तदेव श्वेतत्वमुपसंहारव्याजेन भूय उपदर्शयति—'सेए' श्वेतं, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति—**'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासे'** इति विमलं—विगतमलं यत् शङ्खतलं शङ्खस्योपरितनो भागो यश्च निर्मलो दधिघनो—घनीभूतं दधिगोक्षीरफेनो रजतनिकरश्च तद्वत्प्रकाशः—प्रतिमता यस्य तत्तथा, **'तिलगरयणद्धचंदचित्ते'** इति तिलकरत्नानि—पुण्ड्रविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि—नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि, क्वचित् 'संखतलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनियरप्पगासद्धचंदचित्ता' इति पाठस्तत्र पूर्ववत् पृथक् पृथग् व्युत्पत्तिं कृत्वा पश्चात्पदद्वयस्य २ कर्मधारयः, **'नाणामणिदामालंकिए'** नाना-

मणयो—नानामणिमयानि दामानि—मालास्तैरलङ्कृतं नानामणिदामालङ्कृतम् अन्तर्बहिश्च 'श्लक्ष्णं' श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापितं 'तवणिज्जवालुयापत्थडे' इति तपनीया:—तपनीयमय्यो या वालुका:—सिकतास्तासां प्रस्तट:—प्रस्तारो यस्मिन् तत्तथा, 'सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स णं दारस्से' त्यादि, विजयस्य णमिति प्राग्वत् द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'दुहतो' इति द्विधातो द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां, नैषेधिकी—निषीदनस्थानम्, उक्तं च मूलटीकाकारेण—"नैषेधिकी निषीदनस्थान"मिति प्रत्येकं द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, ते च चन्दनकलशाः 'वरकमलपइट्ठाणा' इति वरं—प्रधानं यत्कमलं तत्प्रतिष्ठानं—आधारो येषां ते वरकमलप्रतिष्ठानाः, तथा सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णाश्चन्दनकृतचर्चाका:—चन्दनकृतोपरागाः 'आविद्धकंठेगुणा' इति आविद्ध:—आरोपितः कण्ठे गुणो—रक्तसूत्ररूपो येषु ते आविद्धकण्ठेगुणाः, कण्ठेकालवत्सप्तम्या अलुक्, 'पउमुप्पलपिहाणा' इति पद्ममुत्पलं च यथायोगं पिधानं येषां ते पद्मोत्पलपिधानाः 'सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् 'महयामहया' इति अतिशयेन महान्तो महेन्द्रकुम्भसमानाः, कुम्भानामिन्द्र इन्द्रकुम्भो, राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः, महांश्चासौ इन्द्रकुम्भश्च तस्य समाना महेन्द्रकुम्भसमाना—महाकलशप्रमाणाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ 'नागदन्तकौ' नर्कुटकौ अङ्कुटकावित्यर्थः प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तका 'मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजालखिंखिणीजालपरिक्खित्ता' इति मुक्ताजालानामन्तरेषु यानि उत्सृतानि—लम्बमानानि हेमजालानि—हेममयदामसमूहाः यानि च गवाक्षजालानि—गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहाः यानि च किङ्किणी—क्षुद्रघण्टा किङ्किणीजालानि—क्षुद्रघण्टा(सङ्घाता)स्तैः परिक्षिप्ताः—सर्वतो व्याप्ताः 'अब्भुग्गया' इति अभिमुखमुद्गता अभ्युद्गता अग्रिमभागे मनाग् उन्नता

इति भावः **'अभिनिसिट्ठा'** इति अभिमुखं—बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टाः अभिनिसृष्टाः **'तिरियं सुसंपग्गहिया'** इति तिर्यग्—भित्तिप्रदेशे सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्—मनागप्यचलनेन परिगृहीताः सुसंपरिगृहीताः **'अहेपन्नगद्धरूवा'** इति अधः—अधस्तनं यत्पन्नगस्य—सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपं—आकारो येषां ते तथा अधःपन्नगार्द्धवदतिसरला दीर्घाश्चेति भावः, एतदेव व्याचष्टे—**'पन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः'** अधःपन्नगार्द्धसंस्थानसंस्थिताः **'सव्ववइरामया'** सर्वात्मना वज्रमयाः **'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा'** इति प्राग्वत्, **'महयामहया'** इति अतिशयेन **'गजदन्तसमानाः'** गजदन्ताकाराः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ **'तेसु णं नागदंतएसु'** इत्यादि, तेषु च नागदन्तकेषु बहवः कृष्णसूत्रे बद्धाः **'वग्घारिया'** इति अवलम्बिताः **'माल्यदामकलापाः'** पुष्पमालासमूहा बहवो नीलसूत्रबद्धा माल्यदामकलापाः, एवं लोहितहारिद्रशुक्लसूत्रबद्धा अपि वाच्याः ॥ **'ते णं दामा'** इत्यादि, तानि दामानि **'तवनिज्जलंबूसगा'** इति तपनीयः—तपनीयमयो लम्बूसगो—दाम्नामग्रिमभागे प्राङ्गणे लम्बमानो मण्डनविशेषो गोलकाकृतिर्येषां तानि तपनीयलम्बूसकानि **'सुवण्णपयरगमंडिया'** इति पार्श्वतः सामस्त्येन सुवर्णप्रतरेण—सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि **'नानामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदया'** इति नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च ये विविधा—विचित्रवर्णा हारा—अष्टादशसरिका अर्द्धहारा—नवसरिकास्तैरुपशोभितः समुदायो येषां तानि तथा 'जाव सिरीए अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति' अत्र यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः—'ईसिमण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं मंदायं मंदायमेइज्जमाणा पलंबमाणा पलंबमाणा पझंभ(झंझ)माणा पझंभ(झंझ)माणा ओरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।' एतच्च प्रागेव पद्मवरवेदिकावर्णने व्याख्यातमिति भूयो न व्याख्यायते ॥ **'तेसि णं नागदं-**

ताण'मित्यादि, तेषां नागदन्तानामुपरि अन्यौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, ते च नागदन्तकाः 'मुत्ताजालंतरूसियहेमजालगवक्खजाल' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं द्रष्टव्यं यावद् गजदन्तसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसु णं णागदंतएसु' इत्यादि, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो 'वेडूर्यरत्नमय्यो' वैडूर्यरत्नात्मिकाः 'धूपघट्यो' धूपघटिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च धूपघटिकाः 'कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा' कालागुरुः प्रसिद्धः प्रवरः—प्रधानः कुन्दुरुष्कः—चीडा तुरुष्कं—सिल्हकं कालागुरुश्च प्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्के च कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्काणि तेषां धूपस्य यो मघमघायमानो गन्ध उद्धुत—इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामाः कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूममघमघायमानगन्धोद्धुताभिरामाः, तथा शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धास्ते च ते वरगन्धास्तेषां गन्धः स आस्वस्तीति सुगन्धवरगन्धिकाः 'अतोऽनेकस्वरादि'तीकप्रत्ययः, अत एव गन्धवर्त्तिभूताः—सौरभ्यवर्त्तिभूताः सौरभ्यातिशयाद् गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पाः 'उदारेण' स्फारेण 'मनोज्ञेन' मनोऽनुकूलेन, कथं मनोऽनुकूलत्वम्? अत आह—घ्राणमनोनिर्वृतिकरेण हेतौ तृतीया यतो घ्राणमनोनिर्वृतिकरस्ततो मनोज्ञस्तेन गन्धेन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् आपूरयन्त्य आपूरयन्त्यः अत एव श्रियाऽतीव शोभमानास्तिष्ठन्ति ॥ 'विजयस्स णं दारस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन द्विधातो—द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते, ताश्च शालभञ्जिका लीलया ललिताङ्गनिवेशरूपया स्थिता लीलास्थिताः 'सुपइट्ठियाओ' इति सुष्ठु—मनोज्ञतया प्रतिष्ठिताः सुप्रतिष्ठिताः 'सुअलंकियाओ' इति सुष्ठु—अतिशयेन रमणीयतयाऽलङ्कृताः स्वलङ्कृताः 'णाणाविहरागवसणाओ' इति नानाविधो—नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि तानि वसनानि—वस्त्राणि संवृततया यासां ता नानाविधरागवसनाः 'रत्तावंगाओ' इति रक्तोऽपाङ्गो—नयनोपान्तं यासां ता रक्तापाङ्गाः 'असिय-

केसीओ' इति असिताः—कृष्णाः केशा यासां ता असितकेश्यः 'मिउविसयपसत्थलक्खणसंवेल्लियग्गसिरयाओ' मृदवः—कोमला विशदा—निर्म्मलाः प्रशस्तानि—शोभनानि अस्फुटितत्वप्रभृतीनि लक्षणानि येषां ते प्रशस्तलक्षणाः संवेल्लितं—संवृतमग्रं येषां शेखरककरणात् ते संवेल्लिताग्राः शिरोजाः—केशा यासां ता मृदुविशदप्रशस्तलक्षणसंवेल्लिताग्रशिरोजाः 'नाणामल्लपिणद्धाओ' इति नानारूपाणि माल्यानि—पुष्पाणि पिनद्धानि—आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्, 'मुट्ठिगेज्झसुमज्झा' इति मुष्टिग्राह्यं सुष्ठु—शोभनं मध्यं—मध्यभागो यासां ता मुष्टिग्राह्यसुमध्याः 'आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहराओ' पीनं—पीवरं रचितं संस्थितं—संस्थानं यकाभ्यां तौ पीनरचितसंस्थितौ आमेलक—आपीडः शेखरक इत्यर्थः तस्य यमलं—समश्रेणीकं युगलं तद्वत् वर्त्तितौ—बद्धस्वभावावुपचितकठिनभावाविति भावः अभ्युन्नतौ पीनरचितसंस्थितौ च पयोधरौ यासां तास्तथा, 'ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ' इति ईषत्—मनाक् अशोकवरपादपे समवस्थिता—आश्रिता ईषदशोकवरपादपसमवस्थिताः, तथा वामहस्तेन गृहीतमग्रं शालायाः—शाखाया अर्थादशोकपादपस्य यकाभिस्ता वामहस्तगृहीताग्रशालाः, 'ईसिं अद्धऽच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणीओ विवे'ति ईषत्—मनाग् 'अद्धं'तिर्यग्वलितम् अक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु तैर्मुष्णन्त्य इव सुरजनानां मनांसि 'चक्खुल्लोयणलेसेहि य अण्णमण्णं विज्झेमाणीओ इव' अन्नमन्नं—परस्परं चक्षुषां लोकनेन—अवलोकनेन लेशाः—संश्लेषास्तैर्विध्यमाना इव, किमुक्तं भवति ?—एवं नाम तास्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परमवलोकमाना अवतिष्ठन्ते यथा नूनं परस्परसौभाग्यासहनतस्तिर्यग्वलिताक्षिकटाक्षैः परस्परं खिद्यन्त इवेति 'पुढविपरिणामाओ' इति पृथिवीपरिणामरूपाः शाश्वतभावमुपागता विजयद्वारवत् 'चंदाणणाओ' इति चन्द्रवद् आननं—मुखं यासां ताश्चन्द्राननाः 'चंदविलासिणीओ' इति चन्द्रवन्मनोहरं

विलसन्तीत्येवंशीलाश्चन्द्रविलासिन्यः 'चंदद्धसमनिडालाओ' इति चन्द्रार्द्धेन—अष्टमीचन्द्रेण समं—समानं ललाटं यासां ताश्चन्द्रार्द्धसमललाटाः 'चंदाहियसोमदंसणाओ' इति चन्द्रादप्यधिकं सोमं—सुभगं कान्तिमद्दर्शनं—आकारो यासां तास्तथा, उल्का इव द्योतमानाः 'विज्जुघणमरीचिसूरदिप्पंततेयअहियसन्निकासाओ' इति विद्युतो ये घना—बहुलतरा मरीचयस्तेभ्यो यच्च सूर्यस्य दीप्यमानमनावृतं तेजस्तस्मादप्यधिकतरः सन्निकाशः—प्रकाशो यासां तास्तथा 'सिंगारागारचारुवेसाओ' इति शृङ्गारो—मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकार—आकृतिर्यासां ताः शृङ्गाराकाराः चारु वेषो—नेपथ्यं यासां ताश्चारुवेषास्ततः कर्म्मधारये शृङ्गाराकाश्चारुवेषाः 'पासाईयाओ' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स णं दारस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्य उभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन 'द्विधातो' द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ जालकटकौ प्रज्ञप्तौ, 'ते णं जालकडगा'इत्यादि, ते च जालकटकाकीर्णा रम्यसंस्थानाः प्रदेशविशेषाः 'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'विजयस्से'त्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे घण्टे प्रज्ञप्ते, तासां च घण्टानामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेश. प्रज्ञप्तः, तद्यथा—जाम्बूनदमय्यो घण्टाः वज्रमय्यो लालाः नानामणिमया घण्टापार्श्वाः तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति रजतमय्यो रज्जवः ॥ 'ताओ णं घंटाओ' इत्यादि, ताश्च घण्टाः 'ओघस्वराः' ओघेन—प्रवाहेण स्वरो यासां ता ओघस्वराः, मेघस्येवातिदीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः, हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हंसस्वराः, एवं क्रौञ्चस्वराः, सिंहस्येव प्रभूतदेशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः, एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशतूर्यसङ्घातो नन्दिः, नन्दिवद् घोषो—निनादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जुः—प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वराः, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना?, सुस्वराः सुस्वरघोषाः,

'ओरालेण'मित्यादि प्राग्वत् ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वे द्वे वनमाले प्रज्ञप्ते, ताश्च वनमाला नानाद्रुमाणां नानालतानां च ये किशलयरूपा अतिकोमला इत्यर्थः पल्लवास्तैः समाकुलाः—सम्मिश्राः 'छप्पयपरिभुज्जमाणसोभंतसस्सिरीया' इति षट्पदैः परिभुज्यमाना सती शोभमाना षट्पदपरिभुज्यमानशोभमाना अत एव सश्रीका ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं दो जोयणाइं बाहल्लेणं सव्ववइरामता अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पयंठगाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा चत्तारि जोयणाइं उद्धं उच्चत्तेणं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसितपहसिताविव विविहमणिरयणभत्तिचित्ता वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाण(णुलिहंत)सिहरा जालंतररयणपंजरुम्मिलितव्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयवत्तपोंडरीयतिलकरयणद्धयंदचित्ता णाणामणिमयदामालंकिया अंतो य बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुयापत्थडगा सुहु(ह)फासा सस्सिरीयरूवा पासातीया ४ ॥ तेसि णं पासायवडेंसगाणं उल्लोया पउमलता जाव सामलयाभत्तिचित्ता सव्वतवणिज्जमता अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं पासायवडिंसगाणं पत्तेयं पत्तेयं अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहा-

णामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीहिं उवसोभिए, मणीण गंधो वण्णो फासो य नेयव्वो ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वरयणामईओ जाव पडिरूवाओ, तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं २ सीहासणे पण्णत्ते, तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया चक्कवाला रयतामया सीहा सोवण्णिया पादा णाणामणिमयाइं पायवीढगाइं जंबूणयमताइं गत्ताइं वतिरामया संधी नाणामणिमए वेच्चे, ते णं सीहासणा ईहामियउसभ जाव पउमलयभत्तिचित्ता ससारसारोवइयविविहमणिरयणपायपीढा अच्छरगमिउमसूरगनवतयकुसंतलिचसीहकेसरपच्चुत्थताभिरामा उयचियखोमदुगुल्लयपडिच्छयणा सुविरचितरयत्ताणा रत्तंसुयसंवुया सुरम्मा आईणगरूयबूरणवनीततूलमउयफासा मउया पासाईया ४॥ तेसि णं सीहासणाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं विजयदूसं पण्णत्ते, ते णं विजयदूसा सेता संखकुंददगरयअमतमहियफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा॥ तेसि णं विजयदूसाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामया अंकुसा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु अंकुसेसु पत्तेयं २ कुंभिक्का मुत्तादामा पण्णत्ता, ते णं कुंभिक्का मुत्तादामा अन्नेहिं चउहिं चउहिं तदद्धुच्चप्पमाणमेत्तेहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता,

ते णं दामा तवणिज्जलंबूसका सुवण्णपयरगमंडिता जाव चिट्ठंति, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता सोत्थिय तधेव जाव छत्ता ॥ (सू० १३०)

'**विजयस्स ण**'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ प्रकण्ठकौ प्रज्ञप्तौ, प्रकण्ठको नाम पीठविशेषः, आह च **मूलटीकाकारः**—"प्रकण्ठौ पीठविशेषौ," **चूर्णिकारस्त्वेवमाह**—"आदर्शवृत्तौ पर्यन्तावनतप्रदेशौ पीठौ प्रकण्ठावि"ति, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनानि '**आयामविक्खम्भेन**' आयामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने बाहल्येन '**सव्ववइरामया**' इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्रमयाः '**अच्छा सण्हा य**' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ '**तेसि णं पकंठयाण**'मित्यादि, तेषां च प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, प्रासादावतंसको नाम प्रासादविशेषः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"प्रासादावतंसकः प्रासादविशेष" इति, व्युत्पत्तिश्चैवम्—प्रासादानामवतंसक इव—शेखरक इव प्रासादावतंसकः, ते च प्रासादावतसंकाः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्याम्, '**अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे**'ति अभ्युद्गता—आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता—प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा तया सिता इव—बद्धा इव तिष्ठन्तीति गम्यते, अन्यथा कथमिव तेऽत्युच्चा निरालम्बास्तिष्ठन्तीति भावः, अथवा प्रबलश्वेतप्रभापटलया प्रहसिताविव प्रकर्षेण हसिताविव, तथा '**विविहमणिरयणभत्तिचित्ता**' विविधा अनेकप्रकारा ये मणयः—चन्द्रकान्ताद्या यानि च रत्नानि—कर्केतनादीनि तेषां भक्तिभिः—विच्छित्तिभिश्चित्रा—नानारूपा आश्चर्यवन्तो वा नानाविधमणिरत्नभक्तिविचित्राः '**वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागछत्तातिछत्तकलिया**' वातोद्धूता—वायुकम्पिता विजयः—अभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्तीनामानो (नाम्न्यो) याः पताकाः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते तत्प्रधाना वैजयन्त्यो

विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिछत्राणि—उपर्युपरिस्थितान्यातपत्राणि तैः कलिता वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाछत्रातिच्छत्रकलिताः 'तुङ्गाः' उच्चा उच्चैस्त्वेन चतुर्योजनप्रमाणत्वात्, अत एव 'गगणतलमणुलिहन्तसिहरा' इति, गगनतलम्—अम्बरम् अनुलिखन्ति—अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः, तथा जालानि—जालकानि यानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि येषु ते जालान्तररत्नाः, सूत्रे चात्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्, तथा पञ्जराद् उन्मीलिता इव—बहिष्कृता इव, यथा हि किल किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायं भवति एवं तेऽपि प्रासादावतंसका इति भावः, तथा मणिकनकानि—मणिकनकमय्यः स्तूपिकाः—शिखराणि येषां ते मणिकनकस्तूपिकाः, तथा विकसितानि यानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकरत्नानि भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषा अर्द्धचन्द्राश्च द्वारादिषु तैश्चित्रा—नानारूपा आश्चर्यभूता विकसितशतपत्रपुण्डरीकतिलकार्द्धचन्द्रचित्राः अन्तर्बहिश्च (नाना—अनेकप्रकारा ये चन्द्रकान्ताद्या मणयस्तन्मयानि—तत्प्रधानानि यानि दामानि—पुष्पमालास्तैरलङ्कृताः) 'श्लक्ष्णाः' मसृणाः, तथा तपनीयं—सुवर्णविशेषस्तन्मय्या वालुकायाः प्रस्तटं—प्रतरो येषु ते तपनीयवालुकाप्रस्तटाः 'सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासाईया' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां च प्रासादावतंसकानाम् 'उल्लोकाः' उपरितनभागाः पद्मलताभक्तिचित्रा अशोकलताभक्तिचित्राश्चम्पकलताभक्तिचित्राश्चूतलताभक्तिचित्रा वनलताभक्तिचित्रा वासन्तिकलताभक्तिचित्राः सर्वात्मना तपनीयमयाः 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहा नामए आलिंगपुक्खरे इ वा' इत्यादि समस्तं भूमिवर्णनं मणीनां वर्णपञ्चकसुरभिगन्धशुभस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि,

तेषां प्रासादावतंसकानामन्तर्बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं (मणिपीठिका: प्रज्ञप्ता:, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भेन अष्ट योजनानि बाहल्येन सर्वरत्नमय्यो यावत्प्रतिरूपाः तासां मणिपीठिकानामुपरि) सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानामयमेतद्रूपो **'वर्णावासो'** वर्णकनिवेश: प्रज्ञप्त:, तद्यथा–रजतमया: सिंहा तैरुपशोभितानि सिंहासनानि **'सौवर्णिका:'** सुवर्णमया: पादा: तपनीयमयानि **चक्कलानि**–पादानामध:प्रदेशा: भवन्ति [मुक्तानानामणिमयानि पादानामध:प्रदेशा:] प्रयुक्ता, नानामणिमयानि **'पादशीर्षकाणि'** पादानामुपरितना अवयवविशेषा जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषदच्छा: **'वज्रमया:'** वज्ररत्नापूरिता: **'सन्धय:'** गात्राणां सन्धिमेला नानामणिमयं **'वेच्चं'** व्यूतं वानमित्यर्थ:, आह च **चूर्णिकृत्**—"वेच्चे वाणकतेण"मित्यादि, तानि च सिंहासनानि ईहामृगऋषभतुरगनरमकरव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राणि **'ससारसारोवचियविविहमणिरयणपादपीढा'** इति, सारसारै:–प्रधानप्रधानैर्विविधैर्मणिरत्नैरुपचितै: पादपीठै: सह यानि तानि तथा, प्राकृतत्वाच्च उपचितशब्दस्यान्तरुपन्यास:, **'अच्छरमउयमसूरगनवतयकुसन्तलित्तकेसरपच्चत्थुयाभिरामा'** इति, आस्तरकं–आच्छादनं मृदु येषां मसूरकाणां तानि आस्तरकमृदूनि, विशेषणस्य परनिपात: प्राकृतत्वात्, नवा त्वग् येषां ते नवत्वच: कुशान्ता–दर्भपर्यन्ता:, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ता: प्रत्यग्रत्वग्दर्भपर्यन्तरूपाणि त्वतिकोमलानि लित्तानि–नम्र(मन)शीलानि च केसराणि, क्वचित् सिंहकेसरेति पाठस्तत्र सिंहकेसराणीव केसराणि मध्ये मसूरकाणां तानि नवत्वक्कुशान्तचिह्न(लित्त)केसराणि, सिंहकेसरेति पाठपक्षे एकस्य केसरशब्दस्य शाकपार्थिवादिदर्शनाल्लोप:, आस्तरकमृदुभिर्मसूरकैर्नवत्वक्कुशान्तलिच(त्त)केसरै: प्रत्यवस्तृतानि–आच्छादितानि सन्ति यानि अभिरामाणि तानि तथा, विशेषणपूर्वापरनिपातो यादृच्छिक: प्राकृतत्वात्, **'आईणगरुयबूरनवणीयतूलफासा'** इति आजिनकं—

चर्म्ममयं वस्त्रं तच्च स्वभावादतिकोमलं भवति रूतं—कर्पासपक्ष्म बूरो—वनस्पतिविशेषः नवनीतं—म्रक्षणं तूलं—अर्कतूलं तेषामिव स्पर्शो येषां तानि तथा, तथा सुविरचितं रजस्त्राणं प्रत्येकमुपरि येषां तानि सुविरचितरजस्त्राणानि 'उवचिय(खोम)दुगुल्लपट्टपडिच्छायणे' इति उपचितं—परिकर्म्मितं यत्क्षौमं दुकूलं—कार्पासिकं वस्त्रं तत्प्रतिच्छादनं—रजस्त्राणस्योपरि द्वितीयमाच्छादनं प्रत्येकं येषां तानि तथा, तत उपरि 'रत्तंसुयसंवुया' इति रक्तांशुकेन—अतिरमणीयेन रक्तेन वस्त्रेण संवृतानि—आच्छादितानि रक्तांशुकसंवृतानि अत एव सुरम्याणि 'पासाइया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च सिंहासनानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं विजयदूष्यं—वस्त्रविशेषः प्रज्ञप्तः, आह च मूलटीकाकारः—"विजयदूष्यं वस्त्रविशेष" इति । 'ते ण'मित्यादि, तानि च विजयदूष्याणि 'शङ्खकुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसन्निकाशानि' शङ्खः प्रतीतः कुन्देति—कुन्दकुसुमं दकरजः—उदककणाः अमृतस्य—क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो—डिण्डीरोत्करस्तत्सन्निकाशानि—तत्समप्रभाणि, पुनः कथम्भूतानि ? इत्यत आह—'सव्वरयणामया' सर्वात्मना रत्नमयानि 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां—सिंहासनोपरिस्थितानां विजयदूष्याणां प्रत्येकं प्रत्येकं बहुमध्यदेशभागे वज्रमयाः वज्ररत्नात्मकाः 'अङ्कुशाः' अङ्कुशाकारा मुक्तादामावलम्बनाश्रयभूताः प्रज्ञप्ताः, तेषु च वज्रमयेष्वङ्कुशेषु प्रत्येकं प्रत्येकं 'कुम्भाग्रं' मगधदेशप्रसिद्धं कुम्भप्रमाणमुक्तामयं मुक्तादाम प्रज्ञप्तं, तानि च कुम्भाग्राणि मुक्तादामानि प्रत्येकं प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिः कुम्भाग्रैर्मुक्तादामभिस्तदर्धोच्चप्रमाणमात्रैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तानि, 'ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा नाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिमन्नमन्नमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं वाएहिं

मंदायं मंदायं एइज्जमाणा २ वेइज्जमाणा २ पकंपमाणा पकंपमाणा पझंझमाणा पझंझमाणा ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणनिव्वुइकरेणं ते पएसे सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए उवसोभमोणा चिट्ठंति" ॥

विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसीहियाए दो दो तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा णाणामणिमया तहेव जाव अट्ठट्ठमंगलका य छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सालभंजिताओ पण्णत्ताओ, जहेव णं हेट्ठा तहेव ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो णागदंतगा पण्णत्ता, तेणं णागदंतगा मुत्ताजालंतरूसिया तहेव, तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हे सुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा जाव चिट्ठंति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयसंघाडगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा, एवं पंतीओ वीहीओ मिहुणगा, दो दो पउमलयाओ जाव पडिरूवाओ तेसि णं तोरणाणं पुरनो (अक्खाअसोवत्थिया सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा) तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चंदणकलसा पण्णत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव सव्वरयणामया जाव पडिरूवा समणाउसो! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो भिंगारगा पण्णत्ता वरकमलपइट्ठाणा जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा महतामहता मत्तगयमुहागितिसमाणा पण्णत्ता समणाउसो! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो आतंसगा पण्णत्ता, तेसि णं आतंसगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया पयंठगा वेरु-

लियमया छरुहा (थंभया) वइरामया वरंगा णाणामणिमया वलक्खा अंकमया मंडला अणोघसियनिम्मलासाए छायाए सव्वतो चेव समणुबद्धा चंदमंडलपडिणिकासा महतामहता अद्धकायसमाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो वइरणाभे थाले पण्णत्ते, ते णं थाला अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसंदट्ठबहुपडिपुण्णा चेव चिट्ठंति सव्वजंबूणतामता अच्छा जाव पडिरूवा महतामहता रहचक्कसमाणा समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पातीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं पातीओ अच्छोदयपडिहत्थाओ णाणाविधपंचवण्णस्स फलहरितगस्स बहुपडिपुण्णाओ विव चिट्ठंति सव्वरयणामतीओ जाव पडिरूवाओ महयामहया गोकलिंजगचक्कसमाणाओ पण्णत्ताओ समणाउसो ! ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सुपतिट्ठगा पण्णत्ता, ते णं सुपतिट्ठगा णाणाविध(पंचवण्ण)पसाहणगभंडविरचिया सव्वोसधिपडिपुण्णा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो मणोगुलियाओ पण्णत्ताओ ॥ तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरूप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरूप्पामएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंतगा मुत्ताजालंतरुसिता हेम जाव गयंदगसमाणा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कया पण्णत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वायकरगा पण्णत्ता ॥ ते णं वायकरगा किण्हसुत्तसिक्कगवत्थिया जाव सुक्किलसुत्तसिक्कगवत्थिया सव्वे

वेरुलियामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरंडगा पण्णत्ता, से जहाणामए—रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडे वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासइ उज्जोवेति तावेइ पभासेति, एवामेव ते चित्तरयणकरंडगा पण्णत्ता वेरुलियपडलपच्चोयडा साए पभाए ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासेति ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो हयकंठगा जाव दो दो उसभकंठगा पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसु णं हयकंठएसु जाव उसभकंठएसु दो दो पुप्फचंगेरीओ, एवं मल्लगंधचुण्णवत्थाभरणचंगेरीओ सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ सव्वरयणामतीओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो पुप्फपडलाइं जाव लोमहत्थपडलाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो सीहासणाइं पण्णत्ताइं, तेसि णं सीहासणाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तहेव जाव पासातीया ४ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो रुप्पछदाछत्ता पण्णत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियभिसंतविमलदंडा जंबूणयकन्निकावइरसंधी मुत्ताजालपरिगता अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा दद्दरमलयसुगंधी सव्वोउअसुरभिसीयलच्छाया मंगलभत्तिचित्ता चंदागारोवमा वट्टा ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो चामराओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामराओ (चन्दप्पभवइरवेरुलियनानामणि-

रयणखचियदंडा) णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लिआओ संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरयतदीहवालाओ सव्वरयणामताओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो दो तिल्लसमुग्गा कोट्ठसमुग्गा पत्तसमुग्गा चोयसमुग्गा तयरसमुग्गा एलासमुग्गा हरियालसमुग्गा हिंगुलयसमुग्गा मणोसिलासमुग्गा अंजणसमुग्गा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ (सू० १३१)

'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्योभयोः पार्श्वयोर्द्विधातो नैषेधिक्या द्वे द्वे तोरणे प्रज्ञप्ते, तानि च तोरणानि नानामणिमयानीत्यादि तोरणवर्णनं निरवशेषं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे शालभञ्जिके प्रज्ञप्ते, शालभञ्जिकावर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां द्वौ द्वौ नागदन्तकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां च नागदन्तकानां वर्णनं यथाऽधस्तादनन्तरमुक्तं तथा वक्तव्यं, नवरमत्रोपरि नागदन्तका न वक्तव्या अभावात् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ हयसंघाटकौ द्वौ द्वौ गजसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ नरसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ किन्नरसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ किंपुरुषसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ महोरगसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ गन्धर्वसङ्घाटकौ द्वौ द्वौ वृषभसङ्घाटकौ, एते च कथम्भूताः ? इत्याह—'सव्वरयणामया अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत्, एवं पङ्क्तिवीथीमिथुनकान्यपि प्रत्येकं वाच्यानि ॥ 'तेसिं तोरणाण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पद्मलते यावत्करणाद् द्वे द्वे नागलते द्वे द्वे अशोकलते द्वे द्वे चम्पकलते द्वे द्वे चूतलते द्वे द्वे वासन्तीलते द्वे द्वे कुन्दलते द्वे द्वे अतिमुक्तकलते इति परिग्रहः, द्वे द्वे श्यामलते, एताश्च कथम्भूताः? इत्याह—'निच्चं सुकुमियाओ' इत्यादि यावत्करणात् 'निच्चं मउलिया निच्चं लवइयाओ निच्चं थइयाओ निच्चं गोच्छियाओ निच्चं जमलियाओ निच्चं

विणमियाओ (निच्चं पणमियाओ) निच्चं सुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ निच्चं कुसुमियमउलियलवइयथवइयनिच्चंगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडंसगधरीओ' इति परिगृह्यते, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत्। पुनः कथम्भूताः? इत्याह—'सव्वरयणामया जाव पडिरूवा' इति, अत्रापि यावत्करणात् 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकपरिग्रहः स च प्राग्वद्भावनीयः॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ चन्दनकलशौ प्रज्ञप्तौ, वर्णकश्च चन्दनकलशानां 'वरकमलपइट्ठाणा' इत्यादिरूपः सर्वः प्राक्तनो वक्तव्यः॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ भृङ्गारकौ प्रज्ञप्तौ, तेषामपि चन्दनकलशानामिव वर्णको वक्तव्यः, नवरं पर्यन्ते 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा पण्णत्ता समणाउसो!' इति वक्तव्यं 'मत्तगयमहामुहागिइसमाणा' इति मत्तो यो गजस्तस्य महद्—अतिविशालं यन्मुखं तस्याकृतिः—आकारस्तत्समानाः—तत्सदृशाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वावादर्शकौ प्रज्ञप्तौ, तेषां चादर्शकानामयमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—तपनीयमयाः 'प्रकण्ठकाः' पीठकविशेषाः 'वैडूर्यमयाथंभया' आदर्शकगण्डप्रतिवन्धप्रदेशाः, आदर्शकगण्डानां मुष्टिग्रहणयोग्याः प्रदेशा इति भावः, वज्ररत्नमया वराङ्गा गण्डा इत्यर्थः, 'नानामणिमया वलक्षाः' वलक्षो नाम शृङ्खलादिरूपमवलम्बनम्, अङ्कमयानि—अङ्करत्नमयानि मण्डलानि यत्र प्रतिबिम्बसंभूतिः 'अणोहसियणिम्मलाए छायाए' इति, अवघर्षणमवघर्षितं, भावे क्तप्रत्ययः, भूत्यादिना निमज्जनमित्यर्थः, अवघर्षितस्याभावोऽनवघर्षितं तेन निर्म्मला अनवघर्षितनिर्म्मला तया छायया समनुबद्धाः 'चंदमंडलपडिनिकासा' इति चन्द्रमण्डलसदृशाः 'महयामहया' अतिशयेन महान्तः 'अर्द्धकायसमानाः' द्रष्टुः शरीरार्द्धप्रमाणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे वज्रनाभे स्थाले प्रज्ञप्ते, तानि च स्थालानि [तिष्ठन्ति] 'अच्छतिच्छडियसालितंदुलनहसं-

दद्धपडिपुण्णा इव चिट्ठंति' अच्छा—निर्म्मलाः शुद्धस्फटिकवत्रिच्छटिता अत एव नखसंदष्टाः—नखाः संदष्टा मुसलादिभिश्चुम्बिता येषां ते तथा, भार्यादिदर्शनात्परनिपातो निष्ठान्तस्य, अच्छैस्त्रिच्छटितैः शालितन्दुलैर्नखसंदष्टैः परिपूर्णानीव अच्छत्रिच्छटितशालितन्दुलनखसंदष्टपरिपूर्णानीव पृथिवीपरिमाणरूपाणि तानि तथा स्थितानि केवलमेवमाकाराणीत्युपमा, तथा चाह—'सव्वजंबूनदमया' सर्वात्मना जम्बूनदमयानि 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत् 'महयामहया' इति अतिशयेन महान्ति रथचक्रसमानानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण ! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'पाईओ' इति पात्र्यौ प्रज्ञप्ते, ताश्च पात्र्यः 'अच्छोदकपडिहत्थाओ' इति स्वच्छपानीयपरिपूर्णाः 'नाणाविहस्स फलहरियस्स बहुपडिपुण्णाओ विवे'ति अत्र षष्ठी तृतीयार्थे बहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, नानाविधैः 'फलहरितैः' हरितफलैर्बहु—प्रभूतं प्रतिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, न खलु तानि फलानि जलं वा किन्तु तथारूपाः शाश्वतभावमुपगताः पृथिवीपरिणामास्तत उपमानमिति, 'सव्वरयणामईओ' इत्यादि प्राग्वत्, 'महयामहया' इति अतिशयेन महत्यो गोकलिञ्ज(र) चक्रसमानाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन्!॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषा तोरणाना पुरतो द्वौ द्वौ सुप्रतिष्ठकौ आधारविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च सुप्रतिष्ठकाः [सु]सर्वौषधिप्रतिपूर्णा नानाविधैः पञ्चवर्णैः प्रसाधनभाण्डैश्च बहुपरिपूर्णा इव तिष्ठन्ति, अत्रापि तृतीयार्थे षष्ठी बहुवचने चैकवचनं प्राकृतत्वात्, उपमानभावना प्राग्वत्, 'सव्वरयणामया' इत्यादि तथैव ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे मनोगुलिके प्रज्ञप्ते, मनोगुलिका नाम पीठिका, उक्तं च मूलटीकायां—"मनोगुलिका पीठिके"ति, ताश्च मनोगुलिकाः सर्वात्मना 'वेडूर्यमय्यो' वैडूर्यरत्नात्मिकाः 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासु णं मणोगुलियासु बहवे' इत्यादि, तासु मनोगुलिकासु बहूनि सुवर्णमयानि रूप्यमयानि च फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु सुवर्णरूप्यमयेषु फलकेषु बहवो वज्रमयाः

'नागदन्तकाः' अङ्कुटकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि **'रजतमयानि'** रूप्यमयानि सिक्ककानि प्रज्ञप्तानि, तेषु च रजतमयेषु सिक्ककेषु बहवो **'वातकरकाः'** जलशून्याः करका इत्यर्थः प्रज्ञप्ताः ॥ **'ते ण'**मित्यादि ते वातकरकाः **'कृष्णसूत्रसिक्कगवस्थिताः'** इति, आच्छादनं गवस्था:(ता:) संजाता एष्विति गवस्थिताः कृष्णसूत्रैः—कृष्णसूत्रमयैर्गवस्थैरिति गम्यते, सिक्ककेषु गवस्थिताः कृष्णसूत्रसिक्कगवस्थिताः, एवं नीलसूत्रसिक्ककगवस्थिता इत्याद्यपि भावनीयं, ते च वातकरकाः सर्वात्मना वैडूर्यमया अच्छा इत्यादि प्रागवत् ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ **'चित्रौ'** चित्रवर्णोपेतावाश्चर्यभूतौ वा रत्नकरण्डकौ प्रज्ञप्तौ, **'से जहा नामए'** इत्यादि, स यथा नाम—राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिनः, चतुर्षु—पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु पृथ्वीपर्यन्तेषु चक्रेण वर्त्तितुं शीलं यस्य तस्य **'चित्रः'** आश्चर्यभूतो नानामणिमयत्वेन नानावर्णो वा **'वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडे'** इति वाहुल्येन वैडूर्यमणिमयः, तथा 'स्फाटिकपटलप्रत्यवतटः' स्फाटिकपटलमयाच्छादनः **'साय पभाए'** इति स्वकीयया प्रभया **'तान्'** प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् **'सर्वतः'** सर्वासु दिक्षु **'समन्ततः'** सामस्त्येनावभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति तापयति प्रभासति, **'एवमेवे'**त्यादि सुगमम् ॥ **'तेसि णं तोरणाण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ **'हयकण्ठौ'** हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ प्रज्ञप्तौ, एवं गजकिंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठा अपि वाच्याः, उक्तं च **मूलटीकायां**—"हयकण्ठौ हयकण्ठप्रमाणौ रत्नविशेषौ," एवं सर्वेऽपि कण्ठा वाच्या इति, तथा चाह—**'सव्वरयणामया'** सर्वे **'रत्नमयाः'** रत्नविशेषरूपा 'अच्छा' इत्यादि प्रागवत् ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे पुष्पचङ्गेर्यौ प्रज्ञप्तौ, एवं माल्यचूर्णगन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकचङ्गेर्योऽपि वक्तव्याः, एताश्च सर्वा अपि सर्वात्मना रत्नमय्यः, 'अच्छा' इत्यादि प्रागवत् ॥ एवं पुष्पादीनामष्टानां पटलकान्यपि द्विद्विसङ्ख्याकानि वाच्यानि ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे

सिंहासने प्रज्ञप्ते, तेषां च सिंहासनानां वर्णकः प्रागुक्तो निरवशेषो वक्तव्यो यावद्दामवर्णनम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे 'रूप्यच्छदे' रूप्याच्छादने छत्रे प्रज्ञप्ते, तानि च छत्राणि वैडूर्यरत्नमयविमलदण्डानि जाम्बूनदकर्णिकानि 'वज्रसन्धीनि' वज्ररत्नापूरितदण्डशलाकासन्धीनि मुक्ताजालपरिगतानि अष्टौ सहस्राणि—अष्टसहस्रसङ्ख्याका वरकाञ्चनशलाका—वरकाञ्चनमय्यः शलाका येषु तानि अष्टसहस्रवरकञ्चनशलाकानि 'दद्दरमलयसुगन्धिसव्वोउयसुरहिसीयलच्छाया' इति दर्दरः—चीवरावनद्धं कुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितास्तत्र पक्का वा ये मलय इति—मलयोद्भवं श्रीखण्डं तत्सम्बन्धिनः सुगन्धयो गन्धवासास्तद्वत्सर्वेषु ऋतुषु सुरभिः शीतला च छाया येषां तानि, तथा 'मंगलभत्तिचित्ता' तेषां अष्टानां मङ्गलानां भक्त्या—विच्छित्त्या चित्रं—आलेखो येषां तानि मङ्गलभक्तिचित्राणि, तथा 'चंदागारोवमा' इति चन्द्राकारः—चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा चन्द्रमण्डलवद्वृत्तानीति भावः ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते, तानि च चामराणि 'चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचियदंडा' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपाश्चित्रा—नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, तथा 'सुहुमरययदीहवालाओ' इति सूक्ष्मा रजतमया दीर्घा वाला येषां तानि तथा, 'संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसंनिकासाओ' इति शङ्खः—प्रतीतोऽङ्को—रत्नविशेषः कुन्देति—कुन्दपुष्पं दकरजः—उदककणाः अमृतमथितफेनपुञ्जः—क्षीरोदजलमथनसमुत्थफेनपुञ्जस्तेषामिव संनिकाशः—प्रभा येषां तानि तथा, अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां तोरणानां पुरतो द्वौ द्वौ 'तैलसमुद्गकौ' सुगन्धितैलाधारविशेषौ, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायां—"तैलसमुद्गकौ सुगन्धितैलाधारौ" एवं कोष्ठादिसमुद्गका अपि वाच्याः, अत्र

सङ्ग्रहणिगाथा—"तेल्लो कोट्ठसमुग्गा पत्ते चोए य तगर एला य। हरियाले हिंगुलए मणोसिला अंजणसमुग्गो ॥ १ ॥" 'सव्व रयणामया' इति एते सर्वेऽपि सर्वात्मना रत्नमया: 'अच्छा सण्हा' इत्यादि प्राग्वत् ॥

विजये णं दारे अट्ठसतचक्कज्झयाणं अट्ठसयं मिगज्झयाणं अट्ठसयं गरुडज्झयाणं अट्ठसयं विगज्झयाणं (अट्ठसयं रुरुयज्झयाणं) अट्ठसतं छत्तज्झयाणं अट्ठसयं पिच्छज्झयाणं अट्ठसयं सउणिज्झयाणं अट्ठसतं सीहज्झयाणं अट्ठसतं उसभज्झयाणं अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेतूणं एवामेव सपुव्वावरेणं विजयदारे य आसीयं केउसहस्सं भवतित्ति मक्खायं ॥ विजये णं दारे णव भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता जाव मणीणं फासो, तेसि णं भोमाणं उप्पिं उल्लोया पउमलया जाव सामलताभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमता अच्छा जाव पडिरूवा, तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे से पंचमे भोम्मे तस्स णं भोमस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णतो विजयदूसे जाव अंकुसे जाव दामा चिट्ठंति, तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसहस्साणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स

अब्भितरियाए परिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठण्हं भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणेणं विजयस्स देवस्स मज्झिमियाए परिसाए दसण्हं देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपचत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स बाहिरियाए परिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ॥ तस्स णं सीहासणस्स पचत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणा पण्णत्ता, तस्स णं सीहासणस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पचत्थिमेणं उत्तरेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ, एवं चउसुवि जाव उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता ॥ (सू० १३२)

'विजये णं दारे' इत्यादि, तस्मिन् विजये द्वारे 'अष्टशतम्' अष्टाधिकं शतं 'चक्रध्वजानां' चक्रालेखरूपचिह्नोपेतानां ध्वजानाम्, एवं मृगगरुडरुरुकच्छत्रपिच्छशकुनिसिंहवृषभचतुर्दन्तहस्तिध्वजानामपि प्रत्येकमष्टशतमष्टशतं वक्तव्यम्, 'एवामेव सपुव्वावरेणं' 'एवमेव' अनेन प्रकारेण सपूर्वापरेण सह पूर्वैरपरैश्च वर्त्तत इति सपूर्वापरं सङ्ख्यान तेन विजयद्वारे 'अशीतम्' अशीत्यधिकं केतुसहस्रं भवतीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः ॥ 'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य पुरतो नव 'भौमानि' विशिष्टानि स्थानानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च पूर्ववद्वक्तव्याः, तेषां च भौमानां बहुमध्यदेशभागे यत्पञ्चमं भौमं तस्य बहुमध्यदेशभागे विजय-

द्वाराधिपतिविजयदेवयोग्यं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तस्य च सिंहासनस्य वर्णनं विजयदूष्यं कुम्भाग्रमुक्तादामवर्णनं प्राग्वत्, तस्य च सिंहासनस्य 'अपरोत्तरस्यां' वायव्यकोणे उत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां च विजयदेवस्य संवन्धिनां चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य पूर्वस्यामत्र विजयस्य देवस्य चतसृणामग्रमहिषीणां चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेयकोण इत्यर्थः, अत्र विजयदेवस्य 'अभ्यन्तरपर्षदाम्' अभ्यन्तरपर्षद्रूपाणामष्टानां देवसहस्राणां योग्यानि अष्टौ भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणस्यां दिशि अत्र विजयदेवस्य मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य दक्षिणापरस्यां दिशि नैर्ऋतकोण इत्यर्थः अत्र विजयदेवस्य वाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां योग्यानि द्वादश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'तस्स णं सीहासणस्से'त्यादि, तस्य सिंहासनस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धिनां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त भद्रासनानि प्रज्ञप्तानि, तस्य सिंहासनस्य 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन अत्र विजयस्य देवस्य संबन्धिनां षोडशानामात्मरक्षदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, अवशेषेषु प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनमपरिवारं सामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनरूपपरिवाररहितं प्रज्ञप्तम् ॥

विजयस्स णं दारस्स उवरिमागारा सोलसविहेहिं रतणेहिं उवसोभिता, तंजहा—रयणेहिं वयरेहिं वेरुलिएहिं जाव रिट्ठेहिं ॥ विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थितसिरिवच्छ जाव दप्पणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं

दारस्स उप्पिं बहवे कण्हचामरज्झया जाव सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। विजयस्स णं दारस्स उप्पिं बहवे छत्तातिच्छत्ता तहेव ॥ (सू० १३३)

'विजयस्स ण'मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य 'उवरिमाकारा' इति उपरितन आकारः—उत्तरङ्गादिरूपः षोडशविधै रत्नैरुपशोभितः, तद्यथा—रत्नैः सामान्यतः कर्केतनादिभिः १ वज्रैः २ वैडूर्यैः ३ लोहिताक्षैः ४ मसारगल्लैः ५ हंसगर्भैः ६ पुलकैः ७ सौगन्धिकैः ८ ज्योतीरसैः ९ अङ्कैः १० अञ्जनैः ११ रजतैः १२ जातरूपैः १३ अञ्जनपुलकैः १४ स्फटिकैः १५ रिष्ठैः १६॥ 'विजयस्स ण' मित्यादि, विजयस्य द्वारस्य उपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्र०, तद्यथेत्यादिना तान्येवोपदर्शयति—'सव्वरयणामया' इत्यादि प्राग्वत् ॥

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति?—विजए णं दारे २, गोयमा विजए णं दारे विजए णाम देवे महिड्ढीए महज्जुतीए जाव महाणुभावे पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं विजयस्स णं दारस्स विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयाए रायहाणीए वत्थव्वगाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति—विजये दारे विजये दारे, [अदुत्तरं च णं गोयमा! विजयस्स णं दारस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते जण्ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सति जाव अवट्ठिए णिच्चे विजए दारे] ॥ (सू० १३४)

'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—'गोयमे'त्यादि, गौतम ! विजये द्वारे विजयो नाम, प्राकृतत्वाद् अव्ययत्वाच्च नामशब्दात्परस्य टावचनस्य लोपस्ततोऽयमर्थः—प्रवाहतोऽनादिकालसन्ततिपतितेन विजय इति नाम्ना देवः 'महर्द्धिकः' महती ऋद्धिः—भवनपरिवारादिका यस्यासौ महर्द्धिकः 'महाद्युतिकः' महती द्युतिः शरीरगता आभरणगता च यस्यासौ महाद्युतिकः, तथा महद् बलं—शारीरः प्राणो यस्य स महाबलः, तथा महद् यशः—ख्यातिर्यस्यासौ महायशाः, महेश इत्याख्या—प्रसिद्धिर्यस्य स महेशाख्यः, अथवा ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्ययः ऐश्वर्यमित्यर्थः 'ईश ऐश्वर्ये' इति वचनात् तत ईशनमैश्वर्यं आत्मनः ख्याति अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति—प्रथयति यः स ईशाख्यः महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः, कचित् 'महासोक्खे' इति पाठस्तत्र महत् सौख्यं प्रभूतसद्वेद्योदयवशाद् यस्य स महासौख्यः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां प्रत्येकमेकैकसहस्रसङ्ख्यपरिवारसहितानां तिसृणां अभ्यन्तरमध्यमबाह्यरूपाणां यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रसङ्ख्याकानां पर्षदां सप्तानामनीकानां—हयानीकगजानीकरथानीकपदात्यनीकमहिषानीकगन्धर्वानीकनाट्यानीकरूपाणां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षसहस्राणां विजयस्य द्वारस्य विजयाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां विजयराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां च 'आहेवच्चं'ति आधिपत्यम् अधिपतेः कर्म आधिपत्यं रक्षा इत्यर्थः, सा च रक्षा सामान्येनाप्यारक्षकेणेव क्रियते तत आह—पुरस्य पतिः पुरपतिस्तस्य कर्म्म पौरपत्यं सर्वेषामग्रेसरत्वमिति भावः, तच्चाग्रेसरत्वं नायकत्वमन्तरेणापि स्वनायकनियुक्ततथाविधगृहचिन्तकसामान्यपुरुषस्येव (स्यात्) ततो नायकत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह—'स्वामित्वं' स्वमस्यास्तीति स्वामी तद्भावः स्वामित्वं नायकत्वमित्यर्थः, तदपि च नायकत्वं कदाचित्पोषकत्वमन्तरेणापि भवति यथा हरिणयूथाधिपतेर्हरिणस्य तत आह—भर्तृत्वं—पोषकत्वं 'डुभृञ् धारणपोषणयोः'

इति वचनात्, अत एव महत्तरकत्वं, तदपि चेह महत्तरकत्वं कस्यचिदाज्ञाविकलस्यापि भवति यथा कस्यचिद्वणिजः स्वदासदासीवर्गं प्रति तत आह—'आणाईसरसेणावच्चं' आज्ञया ईश्वर आज्ञेश्वरः सेनायाः पतिः सेनापतिः आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म्म आज्ञेश्वरसेनापत्यं स्वसैन्यं प्रत्यद्भुतमाज्ञाप्राधान्यमिति भावः 'कारयन्' अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः पालयन् स्वयमेव, महता रवेणेति योगः 'अहय'त्ति आख्यानकप्रतिबद्धानि यदिवा 'अहतानि' अव्याहतानि नित्यानि नित्यानुबन्धीनीति भावः, ये नाट्यगीते नाट्यं—नृत्यं गीतं—गानं यानि च वादितानि 'तन्त्रीतलतालत्रुटितानि' तन्त्री—वीणा तलौ—हस्ततलौ तालः—कंसिका त्रुटितानि—वादित्राणि, तथा यश्च घनमृदङ्गः पटुना पुरुषेण प्रवादितः, तत्र घनमृदङ्गो नाम घनसमानध्वनिर्यो मृदङ्गस्तत एतेषां द्वन्द्वस्तेषां रवेण 'दिव्यान्' प्रधानान् भोगार्हा भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जानः 'विहरति' आस्ते 'से एएणट्ठेण'मित्यादि, तत एतेन 'अर्थेन' कारणेन गौतम! एवमुच्यते—विजयद्वारं विजयद्वारमिति, विजयाभिधानदेवस्वामिकत्वाद् विजयमिति भावः ॥

कहि णं भंते! विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी पण्णत्ता?, गोयमा! विजयस्स णं दारस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवतित्ता अण्णंमि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं विजयस्स देवस्स विजया णाम रायहाणी प० बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसजोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ सा णं एगेणं पागारेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ से णं पागारे सत्ततीसं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झेत्थ

सक्कोसाइं छजोयणाइं विक्खंभेणं उप्पिं तिण्णि सद्धकोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए बाहिं वट्टे अंतो चउरंसे गोपुच्छसंठाणसंठिते सव्वकणगामए अच्छे जाव पडिरूवे॥ से णं पागारे णाणाविहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोभिए, तंजहा—किण्हेहिं जाव सुक्किलेहिं॥ ते णं कविसीसका अद्धकोसं आयामेणं पंचधणुसताइं विक्खंभेणं देसोणमद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वमणिमया अच्छा जाव पडिरूवा॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगाए बाहाए पणुवीसं पणुवीसं दारसतं भवतीति मक्खायं॥ ते णं दारा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेता वरकणगथूभियागा ईहामिय० तहेव जधा विजए दारे जाव तवणिज्जवालुगपत्थडा सुहफासा सस्सि-(म)रीए सरूवा पासातीया ४। तेसि णं दाराणं उभयपासिं दुहतो णिसीहियाए दो वंदणकलसपरिवाडीओ पण्णत्ताओ तहेव भाणियव्वं जाव वणमालाओ॥ तेसि णं दाराणं उभओ पासिं दुहतो णिसीहियाए दो दो पगंठगा पण्णत्ता, ते णं पगंठगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा॥ तेसि णं पगंठगाणं उप्पिं पत्तेयं २ पासायवडिंसगा पण्णत्ता॥ ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नरस जोयणाइं अड्ढाइज्जे य कोसे आयामवि-

क्खंभेणं सेसं तं चेव जाव समुग्गया णवरं बहुवयणं भाणितव्वं । विजयाए णं रायधाणीए एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं जाव अट्ठसतं सेयाणं चउविसाणाणं णागवरकेऊणं, एवामेव स पुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगे दारे आसीतं २ केउसहस्सं भवतीति मक्खायं ॥ विजयाए णं रायहाणीए एगमेगे दारे (तेसि णं दाराणं पुरओ) सत्तरस भोमा पण्णत्ता, तेसि णं भोमाणं (भूमिभागा) उल्लोया (य) पउमलया०भत्तिचित्ता ॥ तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए जे ते नवमनवमा भोमा तेसि णं भोमाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ जाव दामा जहा हेट्ठा, एत्थ णं अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं पत्तेयं भद्दासणा पण्णत्ता । तेसि णं दाराणं उत्तिमं (उवरिमा) गारा सोलसविधेहिं रयणेहिं उवसोभिया तं चेव जाव छत्ताइछत्ता, एवामेव पुव्वावरेण विजयाए रायहाणीए पंच दारसता भवंतीति मक्खाया ॥ (सू० १३६)

'कहि णं भंते ! विजयस्से'त्यादि, क भदन्त ! विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम ! विजयस्य द्वारस्य पूर्वस्यां दिशि तिर्यग् असङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् 'व्यतिव्रज्य' अतिक्रम्य अत्रान्तरे योऽन्यः जम्बूद्वीपः अधिकृतद्वीपतुल्याभि-

१ वृत्तिकारा अतिदिशन्ति 'तोरणे'त्यादिगाथात्रयं सूत्रादर्शगतं पर न क्वाप्यादर्शेऽत्र दृश्यत इदं, अनेकेषु च स्थानेष्वेवं वृत्तिकारप्राप्तानामादर्शानामिदानीन्तनप्राप्यादर्शाना च परस्परं भिन्नतमत्वात् सूत्रवृत्त्योर्वैचित्र्यं न च तादृश उपलभ्यते आदर्श इति निरुपाया वयं सर्वत्र द्वयोरेकत्रीकरणे.

धानः, अनेन जम्बूद्वीपानामप्यसङ्ख्येयत्वं सूचयति, तस्मिन् द्वादश योजनसहस्राणि अवगाह्य अत्रान्तरे विजयस्य देवस्य योग्या विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, सा च द्वादश योजनसहस्राणि **'आयामविष्कम्भेन'** आयामविष्कम्भाभ्यां, सप्तत्रिंशद् योजनसहस्राणि नव शतानि 'अष्टाचत्वारिंशानि' अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, इदं च परिक्षेपपरिमाणं 'विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ' इति करणवशात्स्वयमानेतव्यम् ॥ **'सा ण'**मित्यादि, **'सा'** विजयाभिधाना राजधानी णमिति वाक्यालङ्कारे एकेन महता प्राकारेण **'सर्वतः'** सर्वासु दिक्षु **'समन्ततः'** सामस्त्येन परिक्षिप्ता ॥ **'से ण'**मित्यादि, स प्राकारः सप्तत्रिंशतं योजनानामर्द्धयोजनमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन मूलेऽर्द्धत्रयोदश योजनानि विष्कम्भेन मध्ये षड् योजनानि सक्रोशानि—एकेन क्रोशेनाधिकानि विष्कम्भेन उपरि त्रीणि योजनानि सार्द्धक्रोशानि [योजनानि] सार्द्धानि द्वादश अर्द्धक्रोशाधिकानि (द्वादश) विष्कम्भेन, मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्षिप्तो, मूलविष्कम्भतोऽर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, उपरि तनुको, मध्यविष्कम्भादप्यर्द्धस्य त्रुटितत्वात्, बहिर्वृत्तोऽन्तश्चतुरस्रो **'गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः'** ऊर्द्ध्वीकृतगोपुच्छसंस्थानसंस्थितः **'सव्वकणगमए'** सर्वात्मना कनकमयः 'अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ **'से ण'**मित्यादि, स प्राकारो नानाविधानि च तानि पञ्चवर्णानि च नानाविधपञ्चवर्णानि तैः, नानाविधत्वं च पञ्चवर्णापेक्षया कृष्णादिवर्णतारतम्यापेक्षया वा द्रष्टव्यं, पञ्चवर्णत्वमेवोपदर्शयति—**'किण्हेहिं'** इत्यादि ॥ **'ते णं कविसीसगा'** इत्यादि, तानि कपिशीर्षकाणि प्रत्येकमर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रप्रमाणमायामेन—दैर्घ्येण पञ्च धनुःशतानि **'विष्कम्भेन'** विस्तारेण, देशोनमर्द्धक्रोशमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन **'सव्वमणिमया'** इत्यादि सर्वात्मना मणिमया 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ **'विजयाए णं रायहाणीए'** इत्यादि, विजयाया राजधान्या एकैकस्यां बाहायां पञ्चविंशं—पञ्चविंशत्यधिकं द्वारशतं २ प्रज्ञप्तं, सर्वसङ्ख्यया पञ्च द्वारशतानि ॥ **'ते णं दारा'**

इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भतः, **'तावइयं चेव पवेसेणं'** एतावदेव—एकत्रिंशद् योजनानि क्रोशं चेत्यर्थः प्रवेशेन, **'सेया वरकणगथूभियागा'** इत्यादि द्वारवर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावद्वनमालावर्णनम् ॥ **'तेसि णं दाराण'**मित्यादि, तेषां द्वाराणां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोरेकैकनैषेधिकीभावेन **'द्विधातो'** द्विप्रकारायां नैषेधिक्यां द्वौ द्वौ **'प्रकण्ठकौ'** पीठविशेषौ प्रज्ञप्तौ, ते च प्रकण्ठकाः प्रत्येकमेकत्रिंशतं योजनानि क्रोशमेकं च आयामविष्कम्भाभ्यां, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् बाहल्येन **'सव्ववइरामया'** इति सर्वात्मना ते प्रकण्ठका वज्ररत्नमयाः 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्॥ **'तेसिं पगंठगाण'**मित्यादि, तेषां प्रकण्ठकानामुपरि प्रत्येकं **'प्रासादावतंसकः'** प्रासादविशेषः प्रज्ञप्तः ॥ **'ते णं पासायवडेंसगा'** इत्यादि, ते प्रासादावतंसका एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषां च प्रासादानाम् 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि सामान्यतः स्वरूपवर्णनम् उल्लोकवर्णनं मध्यभूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनं मुक्तादामोपवर्णनं च विजयद्वारवत्, शेषमपि तोरणादिकं विजयद्वारवदिमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्गाथाभिरनुगन्तव्यं, ता एव गाथा आह—**'तोरणे'**त्यादि गाथात्रयं, द्वारेषु प्रत्येकमेकैकस्यां नैषेधिक्यां द्वे द्वे तोरणे वक्तव्ये, तेषां च तोरणानामुपरि प्रत्येकमष्टावष्टौ मङ्गलकानि, तेषां तोरणानामुपरि कृष्णचामरध्वजादयो ध्वजाः, तदनन्तरं तोरणानां पुरतः शालभञ्जिकाः तदनन्तरं नागदन्तकास्तेषु च नागदन्तकेषु दामानि ततो हयसङ्घाटादयः सङ्घाटा वक्तव्याः ततो हयपङ्क्त्यादयः पङ्क्तयस्तदनन्तरं हयवीथ्यादयो वीथयस्ततो हयमिथुनकादीनि मिथुनानि ततः पद्मलतादयो लताः ततः **'सोत्थिया'** चतुर्दिक्सौवस्तिका वक्तव्यास्ततो वन्दनकलशास्तदनन्तरं भृङ्गारकास्तत आदर्शकास्ततः स्थालानि ततः पात्र्यस्तदनन्तरं सुप्रतिष्ठानि ततो मनोगुलिकास्तासु

'वातकरकाः' वातभृताः करका वातकरका जलशून्या इत्यर्थः, तदनन्तरं चित्रा रत्नकरण्डकास्ततो हयकण्ठा गजकण्ठा नरकण्ठाः, उपलक्षणमेतत् किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभकण्ठकाः क्रमेण वक्तव्याः, तदनन्तरं पुष्पादिचङ्गेर्यो वक्तव्यास्ततः पुष्पादिपटलकानि ततः सिंहासनानि तदनन्तरं छत्राणि ततश्चामराणि ततस्तैलादिसमुद्गका वक्तव्यास्ततो ध्वजाः, तेषां च ध्वजानामिदं चरमसूत्रम्—'एवामेव सपुव्वावरेणं विजयाए रायहाणीए एगमेगंसि दारंसि असीयं असीयं केउसहस्सं भवतीति मक्खायं' तदनन्तरं भौमानि वक्तव्यानि, तत्सूत्रं साक्षादुपदर्शयति—'तेसि णं दाराण'मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः सप्तदश सप्तदश भौमानि प्रज्ञप्तानि, तेषां च भौमानां भूमिभागा उल्लोकाश्च प्राग्वद्वक्तव्याः ॥ 'तेसि णं भोमाण'मित्यादि, तेषां च भौमानां वहुमध्यदेशभागे यानि नवमनवमानि भौमानि तेषां बहुमध्यदेशभागेषु प्रत्येकं विजयदेवयोग्यं (सिंहासनं यथा) विजयद्वारपञ्चमभौमे किन्तु सपरिवारं सिंहासनं वक्तव्यम्, अवशेषेषु च भौमेषु प्रत्येकं सपरिवारं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, 'तेसि णं दाराणं उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिता' इत्यादि प्राग्वत् ॥

विजयाए णं रायहाणीए चउद्दिसिं पंचजोयणसताइं अबाहाए, एत्थ णं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तंजहा—असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपगवणे चूतवणे, पुरत्थिमेणं असोगवणे दाहिणेणं सत्तवण्णवणे पच्चत्थिमेणं चंपगवणे उत्तरेणं चूतवणे ॥ ते णं वणसंडा साइरेगाइं दुवालस जोयणसहस्साइं आयामेणं पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिक्खित्ता किण्हा किण्होभासा वणसंडवण्णओ भाणियव्वो जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य

आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीदंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीलंति मोहंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कम्माणं कडाणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडिंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडिंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसिया तहेव जाव अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता उल्लोया पउमभत्तिचित्ता भाणियव्वा, तेसि णं पासायवडेंसगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता वण्णावासो सपरिवारा, तेसि णं पासायवडिंसगाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—असोए सत्तवण्णे चंपए चूते ॥ तत्थ णं ते साणं साणं वणसंडाणं साणं साणं पासायवडेंसयाणं साणं साणं सामाणियाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं आयरक्खदेवाणं आहेवच्चं जाव विहरति ॥ विजयाए णं रायहाणीए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए तणसद्दविहूणे जाव देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं ओवरियालेणे पण्णत्ते बारस जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसहस्साइं

सत्त य पंचाणउते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वजंबूणतामतेणं अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेतियाए वण्णओ वणसंडवण्णओ जाव विहरंति, से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं ओवारियालयणसमपरिक्खेवेणं ॥ तस्स णं ओवारियालयणस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता छत्तातिछत्ता ॥ तस्स णं उवारियालयणस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीहिं उवसोभिते मणिवण्णओ, गंधरसफासो, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं मूलपासायवडिंसए पण्णत्ते, से णं पासायवडिंसए बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियप्पहसिते तहेव तस्स णं पासायवडिंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणिफासे उल्लोए ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पन्नत्ता, सा च एगं जोयणमायामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा सण्हा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एगे महं सीहासणे पन्नत्ते, एवं सीहासणवण्णओ सपरिवारो, तस्स णं पासायवडिंसगस्स उप्पिं बहवे अट्ठमंग-

लगा झया छत्तातिछत्ता ॥ से णं पासायवडिंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, ते णं पासायवडिंसगा एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० तहेव, तेसि णं पासायवडिंसयाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया ॥ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं सीहासणं पण्णत्तं, वण्णओ, तेसिं परिवारभूता भद्दासणा पण्णत्ता, तेसि णं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडिंसका अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं पासायवडेंसका अद्धसोलसजोयणाइं अद्धकोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गय० तहेव, तेसि णं पासायवडेंसगाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा उल्लोया, तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पउमासणा पन्नत्ता, तेसि णं पासायाणं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता ॥ ते णं पासायवडेंसका देसूणाइं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गत० भूमिभागा उल्लोया भद्दासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्तातिछत्ता, ते णं पासायव-

डिंसगा अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडिंसएहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता । ते णं पासायवडिंसगा देसूणाइं चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं देसूणाइं दो जोयणाइं आयामविक्खंभेण अब्भुग्गयमूसिय० भूमिभागा उल्लोया पउमासणाइं उवरिं मंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता ॥ (सू० १३६)

'**विजयाए णं रायहाणीए**' इत्यादि, विजयाया राजधान्याः '**चउदिसि**'मिति चतस्रो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् तस्मिन् चतुर्दिशि—चतसृषु दिक्षु पञ्च पञ्च योजनशतानि '**अबाहाए**' इति बाधनं बाधा—आक्रमणं तस्यामबाधायां कृत्वेति गम्यते, अपान्तरालेषु मुक्त्वेति भावः, चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्ताः, 'तद्यथे'त्यादि, तानेव वनषण्डान् नामतो दिग्भेदतश्च दर्शयति, अशोकवृक्षप्रधानं वनमशोकवनम्, एवं सप्तपर्णवनं चम्पकवनं चूतवनमपि भावनीयं, 'पुव्वेण असोगवण'मित्यादिरूपा गाथा पाठसिद्धा (अत्र तु न)॥ '**ते णं वणसंडा**' इत्यादि, ते वनखण्डाः सातिरेकाणि द्वादश योजनसहस्राण्यायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेन प्रत्येकं प्रज्ञप्ताः प्रत्येकं प्राकारपरिक्षिप्ताः, पुनः कथम्भूतास्ते वनषण्डाः ? इत्यादि पद्मवरवेदिकावहिर्वनपण्डवत्तावदविशेषेण वक्तव्यं यावत् 'तत्थ णं वहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंति' ॥ '**तेसि ण**'मित्यादि, तेषां वनषण्डानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, ते च प्रासादावतंसका द्वाषष्टिर्योजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेन 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविव' इत्यादि प्रासादावतंसकानां वर्णनं निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावत्तत्र प्रत्येकं सिंहासनं सपरिवारं । '**तत्थ ण**'मित्यादि, तेषु वनषण्डेषु प्रत्येकमेकैकदेवभावेन चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् 'महज्जुइया महाबला महायसा महासोक्खा महाणु-

भावा' इतिपरिग्रहः पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—'असोए' इत्यादि, अशोकवनेऽशोकः सप्तपर्णवने सप्तपर्णः चम्पकवने चम्पकः चूतवने चूतः ॥ 'तेसि णं'मि(तत्थ णं ते इ) त्यादि, ते अशोकादयो देवास्तस्य वनखण्डस्य स्वस्य प्रासादावतंसकस्य, सूत्रे बहुवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवतीति, स्वेषां स्वेषां सामानिकसहस्राणां स्वासां स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां स्वासां स्वासां पर्षदां स्वेषां स्वेषामनीकानां (अनीकाधिपतीनां) स्वेषां स्वेषामात्मरक्षकाणाम् 'आहेवच्चं पोरेवच्चं'मित्यादि प्राग्वत् ॥ 'विजयाए णं'-मित्यादि, विजयाया राजधान्या अन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि वर्णनं प्राग्वत् निरवशेषं तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महद् एकमुपकारिका-लयनं प्रज्ञप्तं, राजधानीस्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीन् उपकरोति—उपष्टभ्नातीत्युपकारिका—राजधानीस्वामिसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारकेति प्रसिद्धा, उक्तञ्च—"गृहस्थानं स्मृतं राज्ञामुपकार्योपकारका" इति, उपकारिकालयनमिव उपकारिकालयनं तद् द्वादश योजनशतानि 'आयामविष्कम्भेन' आयामविष्कम्भाभ्यां, त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त योजनशतानि पञ्चनवतानि—पञ्चनवत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तानि, परिक्षेपपरिमाणं चेदं प्रागुक्तकरणवशात्स्वयमानेतव्यम्, अर्द्धक्रोशं—धनुःसहस्रपरिमाणं बाहल्येन 'सव्वजंबूणयामए' इति सर्वात्मना जाम्बूनदमयम्, 'अच्छे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'से णं'मित्यादि, 'तद्' उपकारिकालयनम् एकया पद्मवरवेदिकया तत्पृष्ठभाविन्या एकेन च वनपण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं, पद्मवरवेदिकावर्णको वनपण्डवर्णकः प्राग्वन्निरवशेषो वक्तव्यो यावत् 'तत्थ बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति' इति ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य उपकारिकालयनस्य 'चउदिसिं'ति चतुर्दिशि चतसृषु

दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, त्रिसोपानवर्णकः पूर्ववद्वक्तव्यः, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, तेषां च तोरणानां वर्णनं प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, 'तस्य' उपकारिकालयनस्य उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, 'से जहानामए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं प्राग्वत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको मूलप्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धं च योजनमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चायामविष्कम्भाभ्याम्, 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि, तस्य वर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनं सिंहासनवर्णनं शेषाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि विजयद्वारबहिःस्थितप्रासादवद्भावनीयानि ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा चैकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इति सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तस्य च सिंहासनस्य परिवारभूतानि शेषाणि भद्रासनानि प्राग्वद्वक्तव्यानि ॥ 'से ण'मित्यादि, स च मूलप्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिर्मूलप्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—मूलप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—एकत्रिंशतं योजनानि क्रोशं चैकमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रासादावतंसकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं प्राग्वत्, नवरमत्र सिंहासनानां शेषाणि परिवारभूतानि न वक्तव्यानि ॥ 'ते णं पासा-

यवडेंसया' इत्यादि, ते प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—मूलप्रासादावतंसकपरिवारभूतप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसकाः पञ्चदश योजनानि अर्द्धतृतीयांश्च क्रोशान् ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोनानि अष्टौ योजनानि आयामविष्कम्भाभ्यां, सूत्रे च 'आयामविक्खंभेणं'ति एकवचनं समाहारविवक्षणात्, एवमन्यत्रापि भावनीयम्, एतेषामपि 'अब्भुग्गयमूसिये'त्यादि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च प्राग्वत् केवलमत्रापि सिंहासनमपरिवारं वक्तव्यम् ॥ 'ते ण'मित्यादि, तेऽपि प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चप्रमाणमात्रैः—अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणैर्मूलप्रासादापेक्षयाऽष्टभागमात्रप्रमाणैरित्यर्थः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, तदेव तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रमुपदर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसका देशोनानि अष्टौ योजनानि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोनानि चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां तेषामपि 'अब्भुग्गयमूसियपहसियाविवे'त्यादि स्वरूपादिवर्णनमनन्तरप्रासादावतंसकवत् ॥ (एतयोः सूत्रयोर्मूलपाठो न दृश्यते) 'ते ण'मित्यादि, तेऽपि च प्रासादावतंसका अन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः—अनन्तरोक्तप्रासादावतंसकार्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैर्मूलप्रासादावतंसकापेक्षया षोडशभागप्रमाणमात्रैरित्यर्थः सर्वतः समन्ततः संपरिक्षिप्ताः, तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव दर्शयति—'ते ण'मित्यादि, ते प्रासादावतंसका देशोनानि चत्वारि योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, तेषामपि स्वरूपवर्णनं मध्येभूमिभागवर्णनमुल्लोकवर्णनं सिंहासनवर्णनं च परिवारवर्जितं प्राग्वत्, तदेवं चतस्रः प्रासादावतंसकपरिपाट्यो भवन्ति, क्वचित्तिस्र एव दृश्यन्ते न चतुर्थी ॥

तस्स णं मूलपासायवडेंसगस्स उत्तरपुरत्थिमे णं एत्थ णं विजयस्स देवस्स सभा सुधम्मा पण्णत्ता अद्धत्तेरसजोयणाइं आयामेणं छ सक्कोसाइं जोयणाइं विक्खंभेणं णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसतसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेदिया तोरणवररतियसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा णाणामणिकणगरयणखइयउज्जलबहुसमसुविभत्तचित्त(णिचिय)रमणिज्जकुट्टिमतला ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता थंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणी भिब्भिसमाणी चक्खुलोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा कंचणमणिरयणथूभियागा नाणाविहपंचवण्णघंटापडागपडिमंडितग्गसिहरा धवला मिरीइकवचं विणिम्मुयंती लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिता कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिन्ना दिव्वतुडियमधुरसद्दसंपणाइया सुरम्मा सव्वरयणामती अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं सोहम्माए सभाए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता ॥ ते णं दारा पत्तेयं पत्तेयं

दो दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं सेया॰ वरकणगथूभियागा जाव वणमालादारवन्नओ ॥ तेसि णं दाराणं पुरओ मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छजोयणाइं सक्कोसाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मुहमंडवा अणेगखंभसयसंनिविट्ठा जाव उल्लोया भूमिभागवण्णओ ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं अट्ठट्ठ मंगला पण्णत्ता सोत्थिय जाव मच्छ० ॥ तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता, ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं जाव दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव मणिफासो ॥ तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामयअक्खाडगा पण्णत्ता, तेसि णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ मणिपीढिया पण्णत्ता, ताओ णं मणिपीढियाओ जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपीढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं सीहासणा पण्णत्ता, सीहासणवण्णओ जाव दामा परिवारो। तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरतो तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पं० ताओ णं मणिपेढियाओ दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमतीओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभा पण्णत्ता, ते णं चेइयथूभा

दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंददगरयामयमहितफेणपुंजसण्णिकासा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पिं अट्ठट्ठ मंगलगा बहुकिण्हचामरज्झया पण्णत्ता छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं चेतियथूभाणं चउद्दिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ प०, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ ॥ तासि णं मणिपीढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ पलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निविट्ठाओ चिट्ठंति, तंजहा—उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा ॥ तेसि णं चेतियथूभाणं पुरतो तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पन्नत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ दो दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ लण्हाओ सण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णिप्पंकाओ णीरयाओ जाव पडिरूवाओ । तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेइयरुक्खा पण्णत्ता, ते णं चेतियरुक्खा अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधी अद्धजोयणं विक्खंभेणं छजोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं । तेसि णं चेइयरुक्खाणं अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया मूला रययसुपतिट्ठिता विडिमा रिट्ठामयविपुल-

कंदवेरुलियरुतिलखंधा सुजातरूवपढमगविसालसाली नाणामणिरयणविविधसाहप्पसाहवेरुलि-
यपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवसोभंतवरंकुरग्गसिहरा विचित्तम-
णिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमियसाला सच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया अमयरस-
समरसफला अधियं णयणमणणिव्वुतिकरा पासातीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ ते
णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तवन्नदहिवन्नलोद्धधवचंदणनीवकु-
डयकयंबपणसतालतमालपियालपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरि-
क्खित्ता ॥ ते णं तिलया जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कन्दमंतो जाव सुरम्मा ॥ ते णं तिलया
जाव नंदिरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं पउमलयाहिं जाव सामलयाहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता,
ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं चे-
तियरुक्खाणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरतो
तिदिसिं तओ मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं
अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमतीओ अच्छा जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं मणिपेढियाणं
उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं माहिंदझया अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं
विक्खंभेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिता बिसिट्ठा अणेगवरपंचव-

णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्तातिछत्तकलिया तुंगा गगणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीया जाव पडिरूवा ॥ तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो तिदिसिं तओ णंदाओ पुक्खरिणीओ पं० ताओ णं पुक्खरिणीओ अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं सक्कोसाइं छ जोयणाइं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ जाव पडिरूवाओ ॥ तेसि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं २ तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पं०, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणा भाणियव्वा, जाव छत्तातिच्छत्ता सभाए णं सुहम्माए छ मणोगुलिसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—पुरत्थिमे णं दो साहस्सीओ पच्चत्थिमेणं दो साहस्सीओ दाहिणेणं एगसाहस्सी उत्तरेणं एगा साहस्सी, तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरुप्पामया फलगा पण्णत्ता, तेसु णं सुवण्णरुप्पामएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा जाव सुक्किलवट्टवग्घारितमल्लदामकलावा, ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा जाव चिट्ठंति ॥ सभाए णं सुहम्माए छगोमाणसीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ तंजहा—पुरत्थिमेणं दो साहस्सीओ, एवं पच्चत्थिमेणवि दाहिणेणं सहस्सं एवं

उत्तरेणवि, तासु णं गोमाणसीसु बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पं० जाव तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रयतामया सिक्कता पण्णत्ता, तेसु णं रयतामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडिताओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क जाव घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं सव्वतो समंता आपूरेमाणीओ चिट्ठंति। सभाए णं सुधम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीणं फासो उल्लोया पउमलयभत्तिचित्ता जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ (सू० १३७)

'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलप्रासादावतंसकस्य 'उत्तरपूर्वस्याम्' ईशानकोण इत्यर्थः, 'अत्र' एतस्मिन् भागे विजयस्य देवस्य योग्या सभा सुधर्मा नाम विशिष्टच्छन्दकोपेता साऽर्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन नव योजनानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन 'अणेगे'त्यादि अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टा अनेकस्तंभशतसन्निविष्टा 'अब्भुग्गयसुकयवरवेइया तोरणवररइयसालभंजिया सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभा' अभ्युद्गता—अतिरमणीयतया द्रष्टॄणां प्रत्यभिमुखमुत्—प्रावल्येन स्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिरचितेवेति भावः, अभ्युद्गता चासौ सुकृता च अभ्युद्गतसुकृता वज्रवेदिका—द्वारमुण्डकोपरि वज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं चाभ्युद्गतसुकृतं यत्र सा तथा, तथा वराभिः—प्रधानाभिः रचिताभिः—विरचिताभिः रतिदाभिर्वा सालभञ्जिकाभिः सुश्लिष्टा—संबद्धा विशिष्टं—प्रधानं लष्टं—मनोज्ञं संस्थितं—संस्थानं येषां ते विशिष्टलष्टसंस्थिताः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यस्तम्भाः—वैडूर्यरत्नमयाः स्तम्भा यस्यां सा वररचितशालभञ्जिकासुश्लिष्टविशिष्टलष्टसंस्थितप्रशस्तवैडूर्यस्तम्भा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयः, तथा नानामणिकन-

करत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्यादिदर्शनात्, नानामणिकनकरत्नखचितः उ-ज्ज्वलो—निर्म्मलो बहुसमः—अत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो—निबिडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा नानामणिकनकरत्नखचितोज्ज्वलबहुसमसुविभक्त (निचितरमणीय) भूमिभागा 'ईहामिगउसहतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता' इति तथा **स्तम्भोद्गतया**—स्तम्भोपरिवर्त्तिन्या **वज्रवेदिकया**—वज्ररत्नमय्या वेदिकया परिगता सती याऽभिरामा स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामा 'विज्जाहरजमलजुगलजंतजुत्ताविव अच्चिसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा' इति प्राग्वत् **'कंचणमणिरयणथूभियागा'** इति काञ्चनमणिरत्नानां स्तूपिका—शिखरं यस्याः सा काञ्चनमणिरत्नस्तूपिकाका 'नाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरा' नानाविधाभिः—नानाप्रकाराभिः पञ्चवर्णाभिर्घण्टाभिः पताकाभिश्च परि—सामस्त्येन मण्डितमग्रशिखरं यस्याः सा नानाविधपञ्चवर्णघण्टापताकापरिमण्डिताग्रशिखरा **'धवला'** श्वेता **मरीचिकवचं**—किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चन्ती **'लाउल्लोइयमहिया'** इति लाइयं नाम यद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम् उल्लोइयं—कुड्यानां मालस्य च सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं लाउल्लोइयं ताभ्यामिव महिता—पूजिता लाउल्लोइयमहिता, तथा **गोशीर्षेण**—गोशीर्षनामचन्दनेन सरसरक्तचन्दनेन दर्द्दरेण—बहलेन चपेटाकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला—हस्तका यत्र सा गोशीर्षकसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितला, तथा उपचिता—निवेशिता वन्दनकलशा—मङ्गलकलशा यस्यां सा उपचितवन्दनकलशा **'चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा'** इति चन्दनघटैः—चन्दनकलशैः सुकृतानि—सुष्ठु कृतानि शोभनानीति तात्पर्यार्थः यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि तोरणानि प्रतिद्वारदेशभागे यस्यां सा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागा, तथा **'आसत्तोसत्तवट्टवग्घारिय-**

मल्लदामकलावा' इति आ—अवाङ् अधोभूमौ सक्त आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थः ऊर्द्ध्वं सक्त उत्सक्तः—उल्लोचतले उपरिसंवद्ध इत्यर्थः, विपुलो—विस्तीर्णः वृत्तो—वर्त्तुलः 'वग्घारिय' इति प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो यस्यां सा आसक्तोत्सक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापा, तथा पञ्चवर्णेन सरसेन—सच्छायेन सुरभिणा मुक्तेन—क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण—पूजया कलिता पञ्चवर्णसरससुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलिता 'कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघेतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया' इति प्राग्वत्, **'अच्छरगणसंघसंविकिण्णा'** इति अप्सरोगणानां सङ्घः—समुदायस्तेन सम्यग्—रमणीयतया विकीर्णा—व्याप्ता **'दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया'** इति दिव्यानां त्रुटितानां—आतोद्यानां वेणुवीणामृदङ्गादीनां ये शब्दास्तैः सम्यक्—श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नादिता—शब्दवती दिव्यत्रुटितसंप्रणादिता 'अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ **'तीसे णं सभाए ण'**मित्यादि, सभायाः सुधर्मायाः 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्याम् ॥ **'ते णं दारा'** इत्यादि, तानि द्वाराणि प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे द्वे योजने ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन योजनमेकं विष्कम्भेन **'तावइयं चेवे'**ति योजनमेकं प्रवेशेन 'सेया वरकणगथूभियागा' इत्यादि प्रागुक्तं द्वारवर्णनं तदेतावद्वक्तव्यं यावद्वनमाला इति ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मुखमण्डपः प्रज्ञप्तः, ते च मुखमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एतेषामपि 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठा' इत्यादि वर्णनं सुधर्मायाः सभाया इव निरवशेषं द्रष्टव्यं, तेषां मुखमण्डपानामुल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं च यावन्मणीनां स्पर्शः प्राग्वत् ॥ **'तेसि ण'**मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि—स्वस्तिकादीनि प्रज्ञप्तानि, तान्येवाह—**'तंजहे'**त्यादि, एतच्च विशेषणं

सुधर्मासभाया अपि द्रष्टव्यम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां मुखमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं २ प्रेक्षागृहमण्डपः प्रज्ञप्तः, तेऽपि च प्रेक्षागृहमण्डपा अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन, सक्रोशानि षड् योजनानि विष्कम्भेन, सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन, प्रेक्षागृहमण्डपानां च भूमिभागवर्णनं पूर्ववत्तावद्वाच्यं यावन्मणीनां स्पर्शः॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं वज्रमयः 'अक्षपाटकः' चतुरस्राकारः प्रज्ञप्तः, तेषां चाक्षपाटकानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमईओ' इति सर्वात्मना मणिमय्यः 'अच्छा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, तेषां च सिंहासनानां वर्णनं परिवारश्च प्राग्वद्वक्तव्यः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानामुपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि, कृष्णचामरध्वजादि च प्राग्वद्वक्तव्यम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिकाः प्रत्येकं द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं चैत्यस्तूपाः प्रज्ञप्ताः, ते च चैत्यस्तूपाः सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां शङ्खाङ्ककुन्ददकरजोऽमृतमथितफेनपुञ्जसंनिकाशाः सर्वात्मना रत्नमया अच्छाः श्लक्ष्णा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं प्रत्येकं 'चतुर्दिशि' चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकमणिपीठिकाभावेन चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि,

तासां मणिपीठिकानामुपरि एकैकस्या मणिपीठिकाया उपरि एकैकप्रतिमाभावेन चतस्रो जिनप्रतिमा जिनोत्सेधः—उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि जघन्यतः सप्त हस्ताः, इह तु पञ्च धनुःशतानि संभाव्यन्ते, 'पलियंकनिसन्नाओ' इति पर्यङ्कासननिषण्णाः स्तूपाभिमुख्यस्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा वर्द्धमाना चन्द्रानना वारिषेणा ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां चैत्यस्तूपानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका द्वे द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । तासां च मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्ताः । ते चैत्यवृक्षा अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अर्द्धयोजनमुत्सेधेन उण्डत्वेन द्वे योजने उच्चैस्त्वेन स्कन्धः स एवार्द्धं योजनं विष्कम्भेन यावद्बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा सा विडिमा सा षड् योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, साऽपि चार्द्धं योजनं विष्कम्भेन, सर्वाग्रेण सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि प्रज्ञप्तः । तेषां च चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'वइरामया मूला रययसुपइट्ठिया विडिमा' वज्राणि—वज्ररत्नमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता—रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वविनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयसमासः, 'रिट्ठमयकंदवेरुलियरुचिरखंधी' रिष्ठमयो—रिष्ठरत्नमयः कन्दो येषां ते रिष्ठरत्नमयकन्दाः, तथा वैडूर्यो—वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्म्मधारयसमासः, 'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला' सुजातं—मूलद्रव्यशुद्धं वरं—प्रधानं यज्जातरूपं तदात्मका प्रथमका—मूलभूता विशाला शाला—शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशालाः 'नानामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा' नानामणिरत्नानां नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखाश्च येषां ते तथा, वैडूर्याणि—वैडूर्यमयानि पत्राणि येषां ते तथा, तथा तपनीयानि—तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत्पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्म्म-

धारयः, जाम्बूनदा—जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता—रक्तवर्णा मृदवो—मनोज्ञाः सुकुमाराः—सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला—ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः—संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः—प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः, कचित्पाठः 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालकोमलपवालपल्लवङ्कुरग्गसिहरा' तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि—अकठिनानि सुकुमाराणि—अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि—मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुराः—यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च येषां ते तथा, 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरेण नमियसाला' विचित्रमणिरत्नानि—विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता—नामं ग्राहिताः शालाः—शाखा येषां ते तथा, सती—शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, तथा सती—शोभना प्रभा—कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, सह उद्द्योतेन वर्त्तन्ते मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् सोद्द्योताः, अधिकं—अतिशयेन नयनमनोनिर्वृतिकराः, अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते अमृतरससमफलाः 'पासाईया' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'ते णं चेइयरुक्खा' इत्यादि, ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवङ्गछत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः ॥ 'ते णं तिलगा' इत्यादि, ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावदनेकशकटरथयानशिबिकास्यन्दमानिकाप्रतिमोचनासुरम्या इति ॥ 'ते णं तिलगा' इत्यादि, ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिर्नागलताभिरशोकलताभिश्चम्पकलताभिश्चूतलताभिर्वनलताभिर्वासन्तिकालताभिरतिमुक्तकलताभिः कुन्दलताभिः श्यामलताभिः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्ताः, 'ताओ णं पउमलयाओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ' इत्यादिलतावर्णनं तावद्वक्तव्यं यावत् 'पडिरूवाओ' इति, व्याख्या चास्य पूर्ववत् ॥ 'तेसि णं'मित्यादि,

तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत्प्रतिरूपका इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः, ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्यः, अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, ते च महेन्द्रध्वजा 'अर्द्धाष्टमानि' सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं–धनुःसहस्रप्रमाणमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं–धनुःसहस्रप्रमाणं 'विष्कम्भेन' विस्तारेण, 'वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिया' इति वज्रमया–वज्ररत्नमयाः तथा वृत्तं–वर्तुलं लष्टं–मनोज्ञं संस्थितं–संस्थानं येषां ते वृत्तलष्टसंस्थिताः, तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टा इव खरशानया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः मृष्टाः सुकुमारशानया पाषाणप्रतिमेव सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् 'अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामा' अनेकैर्वरैः–प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुडभीसहस्रैः–लघुपताकासहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामा अनेकवरपञ्चवर्णकुडभीसहस्रपरिमण्डिताभिरामाः 'वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगणतलमणुलिहंतसिहरा पासाईया जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत् सर्वं वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रकहस्तका इति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां महेन्द्रध्वजानां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं 'नन्दा' नन्दाभिधाना पुष्करिणी प्रज्ञप्ता, 'अर्द्धत्रयोदश' सार्द्धानि द्वादश योजनानि आयामेन, षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन, दश योजनान्युद्वेधेन–उण्डत्वेन, 'अच्छाओ सण्हाओ रययमयकूडाओ' इत्यादि वर्णनं जगत्युपरिपुष्करिणीवन्निरवशेषं वक्तव्यं यावत् 'पासाईयाओ उदगरसेणं पण्णत्ताओ' ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं २ पद्मवरवेदिकया प्रत्येकं २

वनषण्डेन च परिक्षिप्ताः, तासां च नन्दापुष्करिणीनां त्रिदिशि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि तेषां च वर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्म्मायां षड् (मनो) गुलिकासहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं सहस्रं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामिति, एतासु च फलकनागदन्तकमाल्यदामवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि, सभायां सुधर्मायां षड् गोमानसिकाः—शय्यारूपाः स्थानविशेषास्तासां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्वे सहस्रे पूर्वस्यां दिशि द्वे पश्चिमायामेकं दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्यामिति, तास्वपि फलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं धूपघटिकावर्णनं च विजयद्वारवत् । 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि उल्लोकवर्णनं 'सभाए णं सुहम्माए' इत्यादि भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत् ॥

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपीढिया पण्णत्ता, सा णं मणिपीढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमता ॥ तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एत्थ णं माणवए णाम चेइयखंभे पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं छकोडीए छलंसे छविग्गहिते वइरामयवट्टलट्ठसंठिते, एवं जहा महिंदज्झयस्स वण्णओ जाव पासातीए ॥ तस्स णं माणवकस्स चेतियखंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हेट्ठावि छक्कोसे वज्जेत्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पं०, तेसु णं सुवण्णरूप्पमएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे रययामता सिक्कगा पण्णत्ता ॥ तेसु णं रययाम-

यसिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गका पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहाओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं विजयस्स देवस्स अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ। माणवस्स णं चेतियखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ तस्स णं माणवकस्स चेतियखंभस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं एगा महामणिपेढिया पं०, सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ ॥ तस्स णं माणवगस्स चेतियखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पं० जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—नाणामणिमया पडिपादा सोवण्णिया पादा नाणामणिमया पायसीसा जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमते चिच्चे रइयामता तूली लोहियक्खमया बिब्बोयणा तवणिज्जमती गंडोवहाणिया, से णं देवसयणिज्जे उभओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झेणयगंभीरे सालिंगणवट्टीए गंगापुलिणवालुउद्दालसालिसए ओतवितक्खो-

मदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे सुविरचितरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुते सुरम्मे आईणगरूतबूरणवणीयतूलफासमउए पासाईए॥ तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महई एगा मणिपीठिका पण्णत्ता जोयणमेगं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमई जाव अच्छा ॥ तीसे णं मणिपीढियाए उप्पिं एगं महं खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते अद्धट्ठमाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेधेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं वेरुलियामयवट्टलट्ठसंठिते तहेव जाव मंगला झया छत्तातिछत्ता॥ तस्स णं खुड्डमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं विजयस्स देवस्स चुप्पालए नाम पहरणकोसे पण्णत्ते ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स फलिहरयणपामोक्खा बहवे पहरणरयणा संनिक्खित्ता चिट्ठंति, उज्जलसुणिसियसुतिक्खधारा पासाईया ॥ तीसे णं सभाए सुहम्माए उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता ॥ (सू० १३८)

'तस्स णं बहुसमरमणीयस्स भूमिभागस्से'त्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महती एका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यामेकं योजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि महानेको माणवकनामा चैत्यस्तम्भः प्रज्ञप्तः, अर्द्धाष्टमानि—सार्द्धानि सप्त योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन अर्द्धकोशं—धनुःसहस्रमानमुद्वेधेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन षडस्रिकः—षट्कोटीकः षड्विग्रहिकः 'वइरामयवट्टलट्ठसंठिए' इत्यादि महेन्द्रध्वजवद् वर्णनमशेषमस्यापि तावद्वक्तव्यं यावद् 'बहवो सहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा' इति ॥ 'तस्स ण'मि-

त्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्योपरि पट् क्रोशान् अवगाह्य उपरितनभागात् पट् क्रोशान् वर्जयित्वेति भावः, अधस्तादपि पट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्द्धपञ्चमेषु योजनेषु वहवे 'सुवण्णरूप्पमया फलगा' इत्यादिफलकवर्णनं नागदन्तवर्णनं सिक्कगवर्णनं च प्राग्वत् ॥ 'तेसु ण'मित्यादि, तेषु रजतमयेषु सिक्ककेषु वहवो वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकाः, तेषु च वज्रमयेषु समुद्गकेषु वहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति यानि विजयस्य देवस्यान्येषां च वहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चार्चनीयानि चन्दनतः वन्दनीयानि स्तुत्यादिना पूजनीयानि पुष्पादिना माननीयानि वहुमानकरणतः सत्कारणीयानि वस्त्रादिना कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमितिवुद्ध्या पर्युपासनीयानि ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य माणवकस्य चैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं तद्वर्णनं शेपाणि च भद्रासनानि तत्परिवारभूतानि प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य माणवकनाम्नश्चैत्यस्तम्भस्य पश्चिमायां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, एकं योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन 'सव्वमणिमयी' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं (देव) शयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य च देवशयनीयस्यायमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—नानामणिमयाः प्रतिपादाः—मूलपादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः 'सौवर्णिकाः' सुवर्णमयाः 'पादाः' मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि—ईषादीनि वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः, 'नानामणिमये चिच्चे' इति चिच्चं नाम च्युतं वानमित्यर्थः, नानामणिमयं च्युतं—विशिष्टवानं रजतमयी तूली लोहिताक्षमयानि 'विव्वोयणा' इति उपधानकानि, आह च मूलटीकाकारः—"विव्वोयणा—उपधानकानि उच्यन्त" इति, तपनीयमय्यो गण्डोपधानकाः ॥

'से णं देवसयणिज्जे' इत्यादि, तद् देवशयनीयं 'सालिङ्गनवर्त्तिकं' सह आलिङ्गनवर्त्या–शरीरप्रमाणेनोपधानेन यद् तत्तथा 'उभओविब्बोयणे' इति उभयतः–उभौ–शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य विब्बोयणे–उपधाने यत्र तद् उभयतोविब्बोयणं 'दुहतो उन्नते' इति उभयत उन्नतं 'मज्झेणयगंभीरे' इति, मध्ये च नतं निम्नत्वाद् गम्भीरं च महत्त्वात् नतगम्भीरं गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो–विद्लनं पादादिन्यासेऽधोगमनमिति भावः तेन 'सालिसए' इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशं, तथा 'ओयविय' इति विशिष्टं परिकर्मितं क्षौमं–कार्पासिकं दुकूलं–वस्त्रं तदेव पट्ट ओयवियक्षौमदुकूलपट्टः स प्रतिच्छादनं–आच्छादनं यस्य तत्तथा, 'आईणगरूयबूरनवणीयतूलफासे' इति प्राग्वत्, 'रत्तंसुयसंवुए' इति रक्तांशुकेन संवृतं रक्तांशुकसंवृतम्, अत एव सुरम्यं 'पासाइए' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य देवशयनीयस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन 'सव्वमणिमयी अच्छा' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र क्षुल्लको महेन्द्रध्वजः प्रज्ञप्तः, तस्य प्रमाणं च वर्णकश्च महेन्द्रध्वजवद्वक्तव्यः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य क्षुल्लकस्य महेन्द्रध्वजस्य पश्चिमायां दिशि अत्र विजयस्य देवस्य सम्बन्धी महान् एकश्चोप्पालो नाम 'प्रहरणकोशः' प्रहरणस्थानं प्रज्ञप्तं, किंविशिष्टमित्याह— 'सव्ववइरामए अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र चोप्पालकाभिधाने प्रहरणकोशे बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि संक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, कथम्भूतानीत्यत आह–उज्ज्वलानि–निर्मलानि सुनिशितानि–अतितेजितानि अत एव तीक्ष्णधाराणि प्रासादीयानीत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे णं सभाए' इत्यादि, तस्याः सुधर्म्मायाः सभाया उपरि बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि, इत्यादि सर्वं प्राग्वत्तावक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः ॥

सभाए णं सुधम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पण्णत्ते अद्धतेरस जोयणाइं आयामेणं छज्जोयणाइं सकोसाइं विक्खंभेणं नव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जाव गोमाणसिया वत्तव्वया जा चेव सहाए सुहम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा तहेव दारा मुहमंडवा पेच्छाघरमंडवा झया थूभा चेइयरुक्खा महिंदज्झया णंदाओ पुक्खरिणीओ, तओ य सुधम्माए जहा पमाणं मणगुलियाणं गोमाणसीया धूवयघडिओ तहेव भूमिभागे उल्लोए य जाव मणिफासे ॥ तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा०, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवच्छंदए पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए अच्छे ॥ तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताणं संणिखित्तं चिट्ठइ ॥ तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा— तवणिज्जमता हत्थतला अंकामयाइं णक्खाइं अंतोलोहियक्खपरिसेयाइं कणगमया पादा कणगामया गोप्फा कणगामतीओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामयाओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमतीओ णाभीओ रिट्ठामतीओ रोमरातीओ तवणिज्जमया चुचुया तवणिज्जमता सिरिवच्छा कणगमयाओ बाहाओ कणगमईओ पासाओ कणगमतीओ गीवाओ रिट्ठामते मंसु

सिलप्पवालमया उट्ठा फलिहामया दंता तवणिज्जमतीओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुया कणगमतीओ णासाओ अंतोलोहितक्खपरिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि अंतोलोहितक्खपरिसेताइं पुलगमतीओ दिट्ठीओ रिट्ठामतीओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामतीओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वट्टा वइरामतीओ सीसघडीओ तवणिज्जमतीओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरिमुद्धजा। तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठतो पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरततकुंदेंदुसप्पकासाइं सकोरेंटमल्लदामधवलाइं आतपत्तातिं सलीलं ओहारमाणीओ चिट्ठंति ॥ तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारपडिमाओ पन्नत्ताओ, ताओ णं चामरधारपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमतमथितफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरयतदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति ॥ तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो दो दो नागपडिमाओ दो २ जक्खपडिमाओ दो २ भूतपडिमाओ दो २ कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पायवडियाओ पंजलिउडाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति सव्वरयणामतीओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ णिप्पंकाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासि णं

जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसतं घंटाणं अट्ठसतं चंदणकलसाणं एवं अट्ठसतं भिंगारगाणं एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं मणगुलियाणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठगाणं जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं जाव धूवगडच्छुयाणं संणिखित्तं चिट्ठति ॥ तस्स णं सिद्धायतणस्स णं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया तंजहा—रयणेहिं जाव रिट्ठेहिं ॥ (सू० १३९)

'सभाए ण'मित्यादि, सभायाः सुधर्म्माया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम्, अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भतो नव योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेनेत्यादि सर्वं सुधर्म्मावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तथा चाह— 'जा चेव सभाए सुधम्माए वत्तव्वया सा चेव निरवसेसा भाणियव्वा जाव गोमाणसियाओ' इति, किमुक्तं भवति ?—यथा सुधर्म्मायाः सभायाः पूर्वदक्षिणोत्तरवर्त्तीनि त्रीणि द्वाराणि, तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपाः, तेषां च मुखमण्डपानां पुरतः प्रेक्षागृहमण्डपाः, तेषां च प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतश्चैत्यस्तूपाः सप्रतिमाः, तेषां च चैत्यस्तूपानां पुरतश्चैत्यवृक्षाः, तेषां च चैत्यवृक्षाणां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां च महेन्द्रध्वजानां पुरतो नन्दापुष्करिण्य उक्ताः, तदनन्तरं च सभायां सुधर्म्मायां षड् गुलिकासहस्राणि षड् गोमानसीसहस्राण्यप्युक्तानि तथाऽत्रापि सर्वमनेनैव क्रमेण निरवशेषं वक्तव्यम्, उल्लोकवर्णनं बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनमपि तथैव ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य (सिद्धायतनस्य) बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता द्वे

योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन सर्वमणिमयी अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां सर्वात्मना रत्नमया अच्छा इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र देवच्छन्दके 'अष्टशतम्' अष्टाधिकं शतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां पञ्चधनुःशतप्रमाणानामिति भावः सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तासि णं जिणपडिमाण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि 'अङ्कमयाः' अङ्करत्नमया अन्तः—मध्ये लोहिताक्षरत्नप्रतिषेका नखाः, कनकमय्यो जङ्घाः, कनकमयानि जानूनि, कनकमया ऊरवः, कनकमय्यो गात्रयष्टयः, तपनीयमया नाभयः, रिष्ठरत्नमय्यो रोमराजयः, तपनीयमयाः 'चुचुकाः' स्तनाग्रभागाः, तपनीयमयाः श्रीवृक्षाः (वत्सा.) 'शिलाप्रवालमयाः' विद्रुममया ओष्ठाः, स्फटिकमया दन्ताः, तपनीयमय्यो जिह्वाः, तपनीयमयानि तालुकानि, कनकमय्यो नासिकाः अन्तर्लोहिताक्षरत्नप्रतिसेकाः, अङ्कमयानि अक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि, रिष्ठरत्नमय्योऽक्षिमध्यगतास्तारिकाः, रिष्ठरत्नमयानि अक्षिपत्राणि, रिष्ठरत्नमय्यो भ्रुवः, कनकमयाः कपोलाः, कनकमयाः श्रवणाः, कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः, वज्रमय्यः शीर्षघटिकाः, तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशानामन्तभूमयः केशभूमयश्चेति भावः, रिष्ठमया उपरि मूर्द्धजाः—केशाः, तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधरप्रतिमा हेमरजतकुन्देन्दु (समान) प्रकाशं सकोरिंटमाल्यदामधवलमातपत्रं गृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति ॥ 'तासि णं जिणपडिमाण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चमरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, 'चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचितदंडाओ' इति चन्द्रप्रभः—चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपाश्चित्राः—नानाप्र-

कारा दण्डा येषां तानि तथा, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, 'सुहुमरययदीहवालाओ' इति सूक्ष्माः—श्लक्ष्णा रजतस्य—रजतमया वाला येषां तानि तथा, 'संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निकासाओ धवलाओ चामराओ' इति प्रतीतं चामराणि गृहीत्वा सलीलं वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति ॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे संनिक्षिप्ते तिष्ठतः, ताश्च 'सव्वरयणामईओ अच्छाओ' इत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, 'तस्मिन्' देवच्छन्दके जिनप्रतिमानां पुरतोऽष्टशतं घण्टानामष्टशतं चन्दनकलशानामष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं स्थालानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठानामष्टशतं मनोगुलिकानां—पीठिकाविशेषरूपाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकाणामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानामष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किंनरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं गन्धर्वकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणामष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तचङ्गेरीणां लोमहस्तका—मयूरपिच्छपुञ्जनिकाः अष्टशतं पुष्पपटलकानामष्टशतं माल्यपटलकानां मुत्कलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि अष्टशतं चूर्णपटलकानाम्, एवं गन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं वक्तव्यम्, अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतं अंजनसमुद्गकानां, सर्वाण्यप्येतानि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि द्रष्टव्यानि, अष्टशतं ध्वजानाम्, अत्र सङ्ग्रहणिगाथे—"वंदणकलसा भिंगारगा य आयंसगा य थाला य। पाईओ सुपइट्ठा मणगुलिया वायकरगा य ॥१॥

चित्ता रयणकरंडा हयगयनरकंठगा य चंगेरी। पडला सिंहासणछत्तचामरा समुग्गयक(जु)या य ॥ २ ॥" अष्टशतं धूपकडुच्छ संनिक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि, ध्वजच्छत्रातिछत्रादीनि तु प्राग्वत् ॥

तस्स णं सिद्धाययणस्स णं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं उववायसभा पण्णत्ता जहा सुधम्मा तहेव जाव गोमाणसीओ उववायसभाएवि दारा मुहमंडवा सव्वं भूमिभागे तहेव जाव मणिफासो (सुहम्मासभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव भूमीए फासो) ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमती अच्छा, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स वण्णओ, उववायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता जाव उत्तिमागारा, तीसे णं उववायसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं एगे महं हरए पण्णत्ते, से णं हरए अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छक्कोसातिं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे वण्णओ जहेव णंदाणं पुक्खरिणीणं जाव तोरणवण्णओ, तस्स णं हरतस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अभिसेयसभा पण्णत्ता जहा सभासुधम्मा तं चेव निरवसेसं जाव गोमाणसीओ भूमिभाए उल्लोए तहेव ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता जोयणं आयामविक्खंभेणं

अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ अपरिवारो ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहु अभिसेक्के भंडे संणिक्खित्ते चिट्ठति, अभिसेयसभाए उप्पिं अट्ठट्ठमंगलए जाव उत्तिमागारा सोलसविधेहिं रयणेहिं, तीसे णं अभिसेयसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं अलंकारियसभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव गोमाणसीओ मणिपेढियाओ जहा अभिसेयसभाए उप्पिं सीहासणं स(अ)परिवारं ॥ तत्थ णं विजयस्स देवस्स सुबहु अलंकारिए भंडे संनिक्खित्ते चिट्ठति, उत्तिमागारा अलंकारिय० उप्पिं मंगलगा झया जाव (छत्ताइछत्ता) ॥ तीसे णं आलंकारियसहाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं एगा महं ववसातसभा पण्णत्ता, अभिसेयसभावत्तव्वया जाव सीहासणं अपरिवारं ॥ त(ए)त्थणं विजयस्स देवस्स एगे महं पोत्थयरयणे संनिक्खित्ते चिट्ठति, तत्थ णं पोत्थयरयणस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते, तंजहा—रिट्ठामतीओ कंबियाओ [रयतामतातिं पत्तकाइं रिट्ठामयातिं अक्खराइं] तवणिज्जमए दोरे णाणामणिमए गंठी (अंकमयाइं पत्ताइं) वेरुलियमए लिप्पासणे तवणिज्जमती संकला रिट्ठमए छादने रिट्ठामया मसी वइरामयी लेहणी रिट्ठामयाइं अक्खराइं धम्मिए सत्थे ववसायसभाए णं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्तातिछत्ता उत्तिमागारेति । तीसे णं

ववसा(उववा)यसभाए उत्तरपुरच्छिमेणं एगे महं [1]बलिपेढे पण्णत्ते दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणं बाहल्लेणं सव्वरयतामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ एत्थ णं तस्स णं बलिपेढस्स उत्तरपुर-त्थिमेणं एगा महं णंदापुक्खरिणी पण्णत्ता जं चेव माणं हरयस्स तं चेव सव्वं ॥ (सू० १४०)

'तस्स ण'मित्यादि, तस्य सिद्धायतनस्य उत्तरपूर्वस्यामत्र महत्येका उपपातसभा प्रज्ञप्ता, तस्याश्च सुधर्म्मासभाया इव प्रमाणं त्रीणि द्वाराणि तेषां च द्वाराणां पुरतो मुखमण्डपा इत्यादि सर्वं तावद्वक्तव्यं यावद् गोमानसीवर्णनं, तदनन्तरमुल्लोकवर्णनं ततो भूमिभागवर्णनं तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः, तथा चाह—'सुहम्मसभावत्तव्वया भाणियव्वा जाव भूमीए फासो' इति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत्, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, तस्य स्वरूपवर्णनं यथा सुधर्म्मायां सभायां देवशयनीयस्य तस्य तथा द्रष्टव्यं, तस्या अपि उपपातसभाया उपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानीत्यादि प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महानेको ह्रदः प्रज्ञप्तः, अर्द्धत्रयोदश योजनान्यायामेन षड् योजनानि सक्रोशानि विष्कम्भेन दश योजनान्युद्वेधेन 'अच्छे सण्हे रययाकूले' इत्यादि नन्दापुष्करिणीवत्सर्वं निरवशेषं वाच्यं, तथा चाह—'आयामुव्वेहेणं विक्खंभेणं वन्नओ जो चेव नंदापुक्खरिणीण'मिति ॥ '[2]तीसे ण'मित्यादि, स ह्रद

१ अत्र प्रथमं जीर्णपुस्तके नंदापुष्करिणीविवेचनं वर्त्तते पश्चात् बलिपीठस्य परं च टीकायां प्रथमं बलिपीठस्य पश्चात् नंदायाः, एतदनुसारेण मयाऽप्यत्रैवं लिखितं

२ अस्या वक्ष्यमाणव्याख्याया मूलपाठो न दृश्यते पुस्तकेषु.

एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकाया वर्णनं वनषण्डवर्णनं च तावद् यावत् 'तत्थ णं वहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति जाव विहरंती'ति, तस्य ह्रदस्य 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां तोरणानां च (वर्णनं पूर्ववत्) 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य ह्रदस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽभिषेकसभा प्रज्ञप्ता, साऽपि प्रमाणस्वरूपद्वारमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपचैत्यस्तूपवर्णनादिप्रकारेण सुधर्मासभावत्तावद्वक्तव्या यावद् गोमानसीवक्तव्यता, तदनन्तरं तथैवोल्लोकवर्णनं भूमिभागवर्णनं च तावद् यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य वहुमध्यदेशभागे अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता योजनमेकमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं वाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा सण्हा' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं सिंहासनं प्रज्ञप्तं, सिंहासनवर्णकः प्राग्वत्, नवरमत्र परिवारभूतानि भद्रासनानि न वक्तव्यानि ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तस्मिन् सिंहासने विजयस्य देवस्य योग्यं सुवहु 'अभिषेकभाण्डम्' अभिषेकोपस्करः संनिक्षिप्तः तिष्ठति, तस्याश्चाभिषेकसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येकाऽलङ्कारसभा प्रज्ञप्ता, सा च प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपप्रेक्षागृहमण्डपादिवर्णनप्रकारेणाभिषेकसभावत्तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, 'तत्र' सिंहासने विजयदेवस्य योग्यं सुवहु 'आलङ्कारिकम्' अलङ्कारयोग्यं भाण्डं संनिक्षिप्तं तिष्ठति ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या अलङ्कारसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका व्यवसायसभा प्रज्ञप्ता, सा चाभिषेकसभावत्प्रमाणस्वरूपद्वारत्रयमुखमण्डपादिवर्णकप्रकारेण तावद्वक्तव्या यावदपरिवारं सिंहासनम् ॥ 'एत्थ ण'मित्यादि, 'अत्र' सिंहा-

१ अत्र सवंधत्रुटितो दृश्यते.

सने महदेकं पुस्तकरत्नं संनिक्षिप्तं तिष्ठति, तस्य च पुस्तकरत्नस्यायमेतद्रूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः—'रिष्ठमय्यौ' रिष्ठरत्नात्मिके कम्बिके पुष्टके इति भावः, रजतमयो(तपनीयमयो)दवरको यत्र पत्राणि प्रोतानि सन्ति, नानामणिमयो ग्रन्थिर्दवरकस्यादौ येन पत्राणि न निर्गच्छन्ति 'अङ्कमयानि' अङ्करत्नमयानि पत्राणि नानामणि(वैडूर्य)मयं लिप्पासनं—मषीभाजनमित्यर्थः, तपनीयमयी शृङ्खला मषीभाजनसत्का रिष्ठरत्नमयमुपरितनं तस्य छादनं 'रिष्ठमयी' रिष्ठरत्नमयी मषी वज्रमयी लेखिनी रिष्ठमयान्यक्षराणि धार्म्मिकं लेख्यं, तस्याश्च उपपातसभाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं बलिपीठं प्रज्ञप्तं द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां योजनमेकं बाहल्येन 'अच्छे सण्हे' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बलिपीठस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि अत्र महत्येका नन्दापुष्करिणी प्रज्ञप्ता, सा च ह्रदप्रमाणा, ह्रदस्येव च तस्या अपि त्रिसोपानवर्णनं तोरणवर्णनं च प्राग्वत् ॥ तदेवं यत्र यादृग्भूता च राजधानी विजयस्य देवस्य तदेतद् उपवर्णितं, सम्प्रति विजयो देवस्तत्रोत्पन्नस्तदा यदकरोद् यथा च तस्याभिषेकोऽभवत्तदुपदर्शयति—

तेणं कालेणं तेणं समएणं विजए देवे विजयाए रायहाणीए उववातसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिते अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्तीए बोंदीए विजयदेवत्ताए उववण्णे ॥ तए णं से विजये देवे अहुणोववण्णमेत्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तंजहा—आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणापाणुपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिते मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मे पुव्वं सेयं किं मे पच्छा सेयं किं मे पुव्विं कर-

णिज्जं किं मे पच्छा करणिज्जं किं मे पुव्विं वा पच्छा वा हिताए सुहाए खेमाए णीस्सेसयाते अणुगामियत्ताए भविस्सतीतिकट्टु एवं संपेहेति ॥ तते णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा विजयस्स देवस्स इमं एतारूवं अज्झत्थितं चिंतियं पत्थियं मणोगयं संकप्पं समुप्पण्णं जाणित्ता जेणामेव से विजए देवे तेणामेव उवागच्छंति तेणामेव उवागच्छित्ता विजयं देवं करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए सिद्धायतणंसि अट्ठसतं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति सभाए य सुधम्माए माणवए चेतियखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गतेसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति जाओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ एतण्णं देवाणुप्पियाणं पुव्विंपि सेयं एतण्णं देवाणुप्पियाणं पच्छावि सेयं एतण्णं देवा० पुव्विं करणिज्जं पच्छा करणिज्जं एतण्णं देवा० पुव्विं वा पच्छा वा जाव आणुगामियत्ताते भविस्सतीतिकट्टु महता महता जय(जय)सद्दं पउंजंति ॥ तए णं से विजए देवे तेसिं सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियते देवसयणिज्जा-

ओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता दिव्वं देवदूसजुयलं परिहेइ २ त्ता देवसयणिज्जाओ पच्चोरुहइ २त्ता उपपातसभाओ पुरत्थिमेणं बारेणं णिग्गच्छइ २ त्ता जेणेव हरते तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता हरयं अणुपदाहिणं करेमाणे करेमाणे पुरत्थिमेणं तोरणेणं अणुप्पविसति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति २ हरयं ओगाहति २ त्ता जलावगाहणं करेति २ त्ता जलमज्जणं करेति २ त्ता जलकिड्डं करेति २ त्ता आयंते चोक्खे परमसूतिभूते हरताती पच्चुत्तरति २ त्ता जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति २ त्ता अभिसेयसभं पदाहिणं करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं बारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव सए सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे॥ तते णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिते देवे सद्दावेंति २ त्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह ॥ तते णं ते आभिओगिता देवा सामाणियपरिसोववण्णेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हितया करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवा तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति २ त्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमंति २ त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं णिसरंति तं०—रयणाणं जाव रिट्ठाणं, अहाबायरे पोग्गले परिसाडंति २ त्ता अहासुहुमे पोग्गले परियायंति २ त्ता दोच्चंपि वेउ-

व्वियसमुग्घाएणं समोहणंति २ त्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं कलसाणं अट्ठसहस्सं रूप्पामयाणं कलसाणं अट्ठसहस्सं मणिमयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णरूप्पामयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णमणिमयाणं अट्ठसहस्सं रुप्पामणिमयाणं अट्ठसहस्सं सुवण्णरूप्पामताणं अट्ठसहस्सं भोमेज्जाणं अट्ठसहस्सं भिंगारगाणं एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं जाव लोमहत्थगपडलगाणं अट्ठसतं सीहासणाणं छत्ताणं चामराणं अवपडगाणं वट्टकाणं तवसिप्पाणं खोरकाणं पीणकाणं तेल्लसमुग्गकाणं अट्ठसतं धूवकडुच्छुयाणं विउव्वंति ते साभाविए विउव्विए य कलसे य जाव धूवकडुच्छुए य गेण्हंति गेण्हित्ता विजयातो रायहाणीतो पडिनिक्खमंति २ त्ता ताए उक्किट्ठाए जाव उद्धुताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीयीवयमाणा २ जेणेव खीरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता खीरोदगं गिण्हित्ता जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्तातिं तातिं गिण्हंति २ त्ता जेणेव पुक्खरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता पुक्खरोदगं गेण्हंति पुक्खरोदगं गिण्हित्ता जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति २ त्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयातिं वासाइं जेणेव मागधवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गिण्हंति २ त्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति २ त्ता जेणेव गंगासिं-

धुरत्तारत्तवतीसलिला तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सरितोदगं गेण्हंति २ त्ता उभओ तडमट्टियं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासधरपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतूवरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमल्ले य सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हित्ता जेणेव पउमदहपुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति तेणेव २ दहोदगं गेण्हंति जातिं तत्थ उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति ताइं गिण्हित्ता जेणेव हेमवयहेरण्णवयाइं वासाइं जेणेव रोहियरोहितंससुवण्णकूलरुप्पकूलाओ तेणेव उवागच्छंति २ त्ता सलिलोदगं गेण्हंति २ त्ता उभओ तडमट्टियं गिण्हंति गेण्हित्ता जेणेव सद्दावातिमालवंतपरियागा वट्टवेतड्डपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, सिद्धत्थए य गेण्हित्ता जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासधरपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव जेणेव महापउमद्दहमहापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव जेणेव हरिवासे रम्मावासेति जेणेव हरकान्तहरिकंतणरकंतनारिकंताओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति सलिलोदगं गेण्हित्ता जेणेव वियडावइगंधावतिवट्टवेयड्डपव्वया तेणेव उवागच्छंति सव्वपुप्फे य तं चेव जेणेव णिसहनीलवंतवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवा-

गच्छित्ता सव्वतूवरे य तहेव जेणेव तिगिच्छिद्दहकेसरिद्दहा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव जेणेव पुव्वविदेहावरविदेहवासाइं जेणेव सीयासीओयाओ महाणईओ जहा णईओ जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्थाइं तहेव जहेव जेणेव सव्ववक्खारपव्वता सव्वतुवरे य जेणेव सव्वंतरणदीओ सलिलोदगं गेण्हंति २ तं चेव जेणेव मंदरे पव्वते जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति २ त्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सव्वतुवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थे य सरसं च गोसीसचंदणं गिण्हंति २ त्ता जेणेव सोमणसवणे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति गेण्हित्ता जेणेव पंडगवणे तेणामेव समुवागच्छंति तेणेव समुवा० २ त्ता सव्वतूवरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणोदामं दद्दरयमलयसुगंधिए य गंधे गेण्हंति २ त्ता एगतो मिलंति २ त्ता जंबूद्दीवस्स पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छंति पुरत्थिमिल्लेणं निग्गच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीयीवयमाणा २ जेणेव विजया रायहाणी तेणेव उवागच्छंति २ त्ता विजयं रायहाणिं अणुप्पयाहिणं करेमाणा २ जेणेव अभिसेयसभा जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता करतलपरि-

ग्गहितं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति विजयस्स देवस्स तं महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं अभिसेयं उवट्ठवेंति ॥ तते णं तं विजयदेवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ तिण्णि परिसाओ सत्त अणिया सत्त अणियाहिवई सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अन्ने य बहवे विजयरायधाणिवत्थव्वगा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं साभावितेहि उत्तरवेउव्वितेहिं य वरकमलपतिट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चातेहिं आविद्धकंठेगुणेहिं पउमुप्पलपिधाणेहिं करतलसुकुमालकोमलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्साणं सोवण्णियाणं कलसाणं रूप्पमयाणं ताव अट्ठसहस्साणं भोमेयाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूतिए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वोरोहेणं सव्वणाडएहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडियणिणाएणं महया इड्ढीए महया जुत्तीए महया बलेणं महता समुदएणं महता तुरियजमगसमगपडुप्पवादितरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिमुरवमुयंगदुंदुहिहुडुक्कणिग्घोससंनिनादितरवेणं महता महता इंदाभिसेगेणं अभिसिंचंति ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स महता महता इंदाभिसेगंसि वट्टमाणंसि अप्पेगतिया देवा णच्चोदगं णातिमट्टियं पविरलफुसियं दिव्वं सुरभिं रयरेणुविणासणं गंधोदगवासं

वासंति, अप्पेगतिया देवा णिहतरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं सब्भिंतरबाहिरियं आसितसम्मज्जितोवलित्तं सित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं मंचातिमंचकलितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं णाणाविहरागरंजियऊसियजयविजयवेजयन्तीपडागातिपडागमंडितं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं रायहाणिं लाउल्लोइयमहियं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं करेंति, अप्पेगतिया देवा विजयं आसत्तोसत्तविपुलवट्टवग्घारितमल्लदामकलावं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं रायहाणिं पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेंति, अप्पेगइया देवा विजयं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघेंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेंति, अप्पेगइया देवा हिरण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा सुवण्णवासं वासंति, अप्पेगइया देवा एवं रयणवासं वइरवासं पुप्फवासं मल्लवासं गंधवासं चुण्णवासं वत्थवासं आहरणवासं, अप्पेगइया देवा हिरण्णविधिं भाइंति, एवं सुवण्णविधिं रयणविधिं वतिरविधिं पुप्फविधिं मल्लविधिं चुण्णविधिं गंधविधिं वत्थविधिं भाइंति आभरणविधिं ॥ अप्पेगतिया देवा दुयं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया

विलंबितं णट्टविहिं उवदंसेंति अप्पेगइया देवा दुतविलंबितं णाम णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा अंचियं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा रिभितं णट्टविधिं उवदंसेंति अ० अंचितरिभितं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा भसोलं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा आरभडभसोलं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा उप्पायणिवायपवुत्तं संकुचियपसारियं रियारियं भंतसंभंतं णाम दिव्वं णट्टविधिं उवदंसेंति अप्पेगतिया देवा चउव्विधं वातियं वादेंति, तंजहा—ततं विततं घणं झुसिरं, अप्पेगतिया देवा चउव्विधं गेयं गातंति, तंजहा—उक्खित्तयं पवत्तयं मंदायं रोइदावसाणं, अप्पेगतिया देवा चउव्विधं अभिणयं अभिणयंति, तंजहा—दिट्ठंतियं पाडंतियं सामन्तोवणिवातियं लोगमज्झावसाणियं, अप्पेगतिया देवा पीणंति अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा तंडवेंति अप्पे० लासेंति अप्पेगतिया देवा पीणंति बुक्कारेंति तंडवेंति लासंति अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा अप्फोडंति अप्पेगतिया देवा वग्गंति अप्पेगतिया देवा तिवातिं छिंदंति अप्पेगतिया देवा अप्फोडेंति वग्गंति तिवातिं छिंदेंति अप्पेगतिया देवा हतहेसियं करेंति अप्पेगतिया देवा हत्थिगुलगुलाइयं करेंति अप्पेगतिया देवा रहघणघणातियं करेंति अप्पेगतिया देवा हयहेसियं करेंति हत्थिगुलगुलाइयं करेंति रहघणघणाइयं करेंति

अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति अप्पेगतिया देवा पच्छोलेंति [अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठिं करेंति] अप्पेगतिया देवा उक्किट्ठीओ करेंति अप्पेगतिया देवा उच्छोलेंति पच्छोलिंति उक्किट्ठिओ करेंति अप्पेगतिया देवा सीहणादं करेंति अप्पेगतिया देवा पाददद्दरयं करेंति अप्पेगतिया देवा भूमिचवेडं दलयंति अप्पेगतिया देवा सीहनादं पाददद्दरयं भूमिचवेडं दलयंति, अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति अप्पेगतिया देवा वुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा थक्कारेंति अप्पे० पुक्कारेंति अप्पेगतिया देवा नामाइं सावेंति अप्पेगतिया देवा हक्कारेंति वुक्कारेंति थक्कारेंति पुक्कारेंति णामाइं सावेंति अप्पेगतिया देवा उप्पतंति अप्पेगतिया देवा णिवयंति अप्पेगतिया देवा परिवयंति अप्पेगतिया देवा उप्पयंति णिवयंति परिवयंति अप्पेगतिया देवा जलेंति अप्पेगतिया देवा तवंति अप्पेगतिया देवा पतवंति अप्पेगतिया देवा जलंति तवंति पतवंति अप्पेगइया देवा गज्जेंति अप्पेगइया देवा विज्जुयायंति अप्पेगइया देवा वासंति अप्पेगइया देवा गज्जंति विज्जुयायंति वासंति अप्पेगतिया देवा देव सन्निवायं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुक्कलियं करेंति अप्पेगइया देवा देवकहकहं करेंति- अप्पेगतिया देवा दुहदुहं करेंति अप्पेगतिया देवा देवसन्निवायं देवउक्कलियं देवकहकहं देवदुहदुहं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं करेंति अप्पेगतिया देवा विज्जुयारं करेंति अप्पेगतिया देवा चेलुक्खेवं करेंति अप्पेगतिया देवा देवुज्जोयं विज्जुतारं चेलुक्खेवं करेंति अप्पेगतिया देवा उप्प-

लहत्थगता जाव संहस्सपत्त० घंटाहत्थगता कलसहत्थगता जाव धूवकडुच्छहत्थगता हट्ठ तुट्ठा जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया विजयाए रायहाणीए सव्वतो समंता आधावेंति परिधावेंति ॥ तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ जाव सोलसआयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे विजयरायहाणीवत्थव्वा वाणमंतरा देवा य देवीओ य तेहिं वरकमलपतिट्ठाणेहिं जाव अट्ठसतेणं सोवण्णियाणं कलसाणं तं चेव जाव अट्ठसएणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदगेहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वतुवरेहिं सव्वपुप्फेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए जाव निग्घोसनाइयरवेणं महया २ इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति २ पत्तेयं २ सिरसावत्तं अंजलिं कट्टु एवं वयासि—जय जय नंदा! जय जय भद्दा! जय जय नंद भद्दं ते अजियं जिणेहि जियं पालयाहि अजितं जिणेहि सत्तुपक्खं जितं पालेहि मित्तपक्खं जियमज्झे वसाहि तं देव! निरुवसग्गं इंदो इव देवाणं चंदो इव ताराणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं भरहो इव मणुयाणं बहूणि पलिओवमाइं बहूणि सागरोवमाणि चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं विजयस्स देवस्स विजयाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं वाणमंतराणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे विहराहित्तिकट्टु महता २ सद्देणं जयजयसद्दं पउंजंति ॥ (सू० १४१) ॥

'तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादि, तस्मिन् काले तस्मिन् समये विजयो देव उपपातसभायां देवशयनीये देवदूष्यान्तरिते अङ्गुलासंख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया समुत्पन्नः ॥ 'तए णं'मित्यादि, सुगमं नवरमिह भाषामनःपर्याप्त्योः समाप्तिकालान्तरस्य प्रायः शेषपर्याप्तिकालान्तरापेक्षया स्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणमिति 'पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ' इत्युक्तम् ॥ 'तए णं'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तभावं गतस्य सतोऽयम्—एतद्रूपः संकल्पः समुदपद्यत, कथम्भूतः? इत्याह—'मनोगतः' मनसि गतो—व्यवस्थितो नाद्यापि वचसा प्रकाशितस्वरूप इति भावः, पुनः कथम्भूतः? इत्याह—'आध्यात्मिकः' आत्मन्यधि यो वर्त्तते स आध्यात्मिकः आत्मविषय इति भावः, सङ्कल्पश्च द्विधा भवति—कश्चिद्ध्यानिकोऽपरश्च चिन्तात्मकः, तत्रायं चिन्तात्मक इति प्रतिपादनार्थमाह—'चिन्तितः' चिन्ता संजाताऽस्येति चिन्तितश्चिन्तात्मक इति भावः, सोऽपि कश्चिदभिलाषात्मको भवति कश्चिदन्यथा, तत्रायमभिलाषात्मकस्तथा चाह—प्रार्थनं प्रार्थो णिजन्तादच् प्रार्थः संजातोऽस्येति प्रार्थितोऽभिलाषात्मक इति भावः, किंरूपः? इत्याह—'किं मे' इत्यादि, किं 'मे' मम पूर्वं करणीयं किं मे पश्चात्करणीयं, तथा किं मे पूर्वं कर्त्तुं श्रेयः किं मे पश्चात्कर्त्तुं श्रेयः, तथा किं मे पूर्वमपि च पश्चादपि च हिताय भावप्रधानोऽयं निर्देशो हितत्वाय—परिणामसुन्दरत्वाय सुखाय—शर्मणे क्षेमायेति अत्रापि भावप्रधानो निर्देशः संगतत्वाय, निःश्रेयसाय—निश्चितकल्याणाय अनुगामिकतायै—परम्परया शुभानुबन्धाय भविष्यतीति ॥ 'तए णं'मित्यादि, 'ततः' एतच्चिन्तासमनन्तरमेव द्विगानुभावतो विजयस्य देवस्य 'सामानियपरिसोववन्नगा देवा' इति सामानिकाः पर्षदुपपन्नकाश्च—अभ्यन्तरादिपर्षदुपगताः 'इमम्' अनन्तरोक्तम् 'एतद्रूपम्' अनन्तरोदितस्वरूपमाध्यात्मिकं चिन्तितं प्रार्थितं मनोगतं सङ्कल्पं समभिज्ञाय 'जेणेवे'ति यत्रैव विजयो देवस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागम्य च

'**करयलपरिग्गहिय**'मित्यादि द्वयोर्हस्तयोरन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया यदेकत्र मीलनं सा अञ्जलिस्तां करतलाभ्यां परिगृहीता–निष्पादिता करतलपरिगृहीता ताम्, आवर्त्तनमावर्त्तः शिरस्यावर्त्तो यस्याः सा शिरस्यावर्त्ता, कण्ठेकाल उरसिलोमेत्यादिवदलुक्समासः, तामत एव मस्तके कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयन्ति–जय त्वं देव! विजय त्वं देव! इत्येवं वर्द्धापयन्तीत्यर्थः, तत्र जयः–परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च, विजयस्तु–परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः, जयेन विजयेन च वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुः—'एवं खलु देवाणुप्पियाण'मित्यादि पाठसिद्धम् ॥ '**तए ण**'मित्यादि, '**ततः**' एतद्वचनानन्तरं विजयो देवस्तेषां सामानिकपर्षदुपपन्नकानां–सामानिकानां पर्षदुपपन्नकानां च देवानामन्तिके एनमर्थं '**श्रुत्वा**' आकर्ण्य '**निशम्य**' हृदये परिणमय्य '**हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए**' इति हृष्टतुष्टोऽतीव तुष्ट इति भावः, अथवा हृष्टो नाम विस्मयमापन्नो यथा शोभनमहो! एतैरुपदिष्टमिति, '**तुष्टः**' तोषं कृतवान् यथा भव्यसभूद् यदेतैरित्थमुपदिष्टमिति, तोषवशादेव चित्तमानन्दितं–स्फीतीभूतं 'टुणदु समृद्धौ' इति वचनात्, यस्य स चित्तानन्दितः, भार्यादिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकस्ततः पदत्रयस्य पदद्वय २ मीलनेन कर्म्मधारयः, '**पीइमणे**' इति प्रीतिर्मनसि यस्यासौ प्रीतिमना जिनप्रतिमाऽर्चनविषयबहुमानपरायणमना इति भावः, ततः क्रमेण बहुमानोत्कर्षवशात् '**परमसोमणस्सिए**' इति शोभनं मनो यस्यासौ सुमनास्तस्य भावः सौमनस्यं परमं च तत् सौमनस्यं च परमसौमनस्यं तत्संजातमस्मिन्निति परमसौमनस्यितः, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—'**हरिसवसविसप्पमाणहियए**' हर्षवशेन विसर्पद्–विस्तारयायि हृदयं यस्य स हर्षवशविसर्पद्धृदयः देवशयनीयादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय च देवदूष्यं परिधत्ते, परिधाय च उपपातसभातः पूर्वद्वारेण निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव प्रदेशे ह्रदस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य ह्रदमनुप्रदक्षिणीकृत्य पूर्वेण तोरणेन ह्रदमनुप्रविशति, प्रविश्य च

ह्रदे प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य च ह्रदमवगाहते, अवगाह्य जलमज्जनं करोति, कृत्वा च क्षणमात्रं जलक्रीडां करोति, ततः 'आयंते' इति नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेनाऽऽचान्तो-गृहीताचमनश्चोक्षः-स्वल्पस्यापि शङ्कितमलस्यापनयनात्, अत एव परमशुचिभूतो ह्रदात् प्रत्युत्तरति, प्रत्युत्तीर्य यत्रैव प्रदेशेऽभिषेकसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्याभिषेकसभामनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव च मणिपीठिकाया उपरि सिंहासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य सामानिकाः पर्षदुपपन्नकाश्च देवाः 'आभियोगिकान्' अभियोजनमभियोगः, प्रेष्यकर्म्मणि व्यापार्यमाणत्वमिति भावः, अभियोगे नियुक्ता आभियोगिकास्तान् देवान् 'शब्दायन्ते' आकारयन्ति, शब्दायित्वा च तानेवमवादिषुः—'क्षिप्रमेव' शीघ्रमेव भो देवानां प्रियाः! विजयस्य देवस्य 'महार्थं' महान् अर्थो-मणिकनकरत्नादिक उपयुज्यमानो यस्मिन् स महार्थस्तं महार्थं, तथा महान् अर्घः-पूजा यत्र स महार्घस्तं, महं-उत्सवमर्हतीति महार्हस्तं 'विपुलं' विस्तीर्णं शक्राभिषेकवद् इन्द्राभिषेकमुपस्थापयत ॥ 'तए णं ते' इत्यादि, ततस्ते आभियोगिका देवाः सामानिकपर्षदुपपन्नकैर्देवैरेवमुक्ताः 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु' इति पूर्ववत्, विनयेन वचनं 'प्रतिशृण्वन्ति' अभ्युपगच्छन्ति, कथम्भूतेन विनयेन? इत्याह—'एवं देवा तहत्ति आणाए' इति हे देवाः! एवं-यथैव यूयमादिशत तथैवाज्ञया-युष्मदादेशेन कुर्म्म इत्येवंरूपेण प्रतिश्रुत्य वचनमुत्तरपूर्वं दिग्भागमीशानकोणमित्यर्थः तस्यात्यन्तप्रशस्तत्वात् 'अपक्रामन्ति' गच्छन्ति अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन-वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण 'समोहणंति' समवहन्यन्ते समवहता भवन्तीत्यर्थः, समवहताश्चात्मप्रदेशान् दूरतो विक्षिपन्ति, तथा चाह—'संखेज्जाणि जो-

यणाणि दंडं निसरंति' दण्ड इव दण्ड ऊर्द्ध्वाधआयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशसमूहस्तं शरीरस्य वहिः सङ्ख्येयानि योजनानि यावत् **'निसृजन्ति'** निष्काशयन्ति, निसृज्य च तथाविधान् पुद्गलानाददते, एतदेव दर्शयति—तद्यथा—'रत्नानां' कर्केतनादीनां १ वज्राणां २ वैडूर्याणां ३ लोहिताक्षाणां ४ मसारगल्लानां ५ हंसगर्भाणां ६ पुलकानां ७ सौगन्धिकानां ८ ज्योतीरसानाम् ९ अञ्जनानाम् १० अञ्जनपुलकानां ११ रजतानां १२ जातरूपाणाम् १३ अङ्कानां १४ स्फटिकानां १५ रिष्ठानां १६, यथाबादरान्—असारान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मान्—सारान् पुद्गलान् पर्याददते, पर्यादाय च चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं द्वितीयमपि वारं वैक्रियसमुद्घातेन **समवहन्यन्ते** समवहत्य यथोक्तानां रत्नादीनां योग्यान् यथाबादरान् पुद्गलान् परिशातयन्ति यथासूक्ष्मानाददते आदाय च **'अष्टसहस्रम्'** अष्टाधिकं सहस्रं सौवर्णिकानां कलशानां विकुर्वन्ति १ अष्टसहस्रं रूप्यमयानाम् २ अष्टसहस्रं मणिमयानाम् ३ अष्टसहस्रं सुवर्णरूप्यमयानाम् ४ अष्टसहस्रं सुवर्णमणिमयानाम् ५ अष्टसहस्रं रूप्यमणिमयानाम् ६ अष्टसहस्रं सुवर्णरूप्यमणिमयानाम् ७ अष्टसहस्रं भौमेयानाम् ८ अष्टसहस्रं भृङ्गाराणाम् ९, एवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठमनोगुलिकावातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तकपटलकसिंहासनच्छत्रचामरसमुद्गकध्वजधूपकडुच्छुकानां प्रत्येकं प्रत्येकमष्टसहस्रं विकुर्वन्ति, विकुर्वित्वा 'ताए उक्किट्ठाए' इत्यादि पूर्वं व्याख्यातार्थं यत्रैव क्षीरोदसमुद्रस्तत्रागच्छन्ति, आगत्य च क्षीरोदकं गृह्णन्ति, यानि च तत्र उत्पलानि पद्मानि कुमुदानि नलिनानि सुभगानि सौगन्धिकानि पुण्डरीकाणि महापुण्डरीकाणि शतपत्राणि सहस्रपत्राणि शतसहस्रपत्राणि च तानि गृह्णन्ति, गृहीत्वा पुष्करोदे समुद्रे समागत्य तत्रोदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, तदनन्तरं यत्रैव समयक्षेत्रं यत्रैव भरतैरावतानि क्षेत्राणि यत्रैव च तेषु भरतैरावतेषु वर्षेषु मागधवरदामप्रभासाख्यानि तीर्थानि तत्रैवोपागत्य तीर्थोदकं तीर्थमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततो गङ्गा-

सिन्धुरक्तारक्तवतीषु महानदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति, ततः क्षुल्लहिमवच्छिखरिषु समागत्य सर्वतुवरान्—कषायान् सर्वाणि जातिभेदेन पुष्पाणि सर्वान् '**गन्धान्**' गन्धवासादीन् सर्वाणि माल्यानि—ग्रथितादिभेदभिन्नानि सर्वौषधीः सिद्धार्थकांश्च गृह्णन्ति, गृहीत्वा तदनन्तरं पद्मह्रदपुण्डरीकह्रदेषूपागत्य तदुदकमुत्पलादीनि च गृह्णन्ति, ततो हैमवतैरण्यवतेषु वर्षेषु रोहितारोहितांशासुवर्णकूलारूप्यकूलासु महानदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकां तदनन्तरं शब्दापातिविकटापातिवृत्तवैताढ्येषु सर्वतुवरादीन् ततो महाहिमवद्रूपिवर्षधरपर्वतेषु सर्वतुवरादीन् ततो महापद्ममहापौण्डरीकह्रदेषु ह्रदोदकमुत्पलादीनि च तदनन्तरं हरिवर्षरम्यकवर्षेषु हरकान्ताहरिकान्तानरकान्तानारीकान्तासु महानदीषु सलिलोदकम् उभयतटमृत्तिकां च ततो गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायवृत्तवैताढ्येषु सर्वतुवरादीन् ततो निषधनीलवर्षधरपर्वतेषु सर्वतुवरादीन् तदनन्तरं तद्गतेषु तिगिञ्छिकेसरिमहाह्रदेषु ह्रदोदकमुत्पलादीनि च ततः पूर्वविदेहापरविदेहेषु शीताशीतोदामहानदीषु नद्युदकम् उभयतटमृत्तिकां च तदनन्तरं सर्वेषु चक्रवर्त्तिविजेतव्येषु मागधवरदामप्रभासाख्यतीर्थेषु तीर्थोदकानि तीर्थमृत्तिकाश्च ततः सर्वेषु वक्षस्कारपर्वतेषु सर्वतुवरादीन् तदनन्तरं सर्वास्वन्तरनदीषु नद्युदकमुभयतटमृत्तिकाश्च ततो मन्दरपर्वते भद्रशालवने सर्वतुवरादीन् ततो नन्दनवने सर्वतुवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं ततः सौमनसवने सर्वतुवरादीन् सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदाम गृह्णन्ति, ततः पण्डकवने सर्वतुवरपुष्पगन्धमाल्यसरसगोशीर्षचन्दनदिव्यसुमनोदामानि '**दद्दरमलए सुगंधिए य गिण्हंति**' इति दर्दरः—चीवरावनद्धकुण्डिकादिभाजनमुखं तेन गालितं तत्र पक्वं वा यन्मलयोद्भवतया प्रसिद्धत्वान्मलयं—श्रीखण्डं येषु तान् 'सुगन्धान्' परमगन्धोपेतान् गन्धान् गृह्णन्ति, गृहीत्वा एकत्र मिलन्ति, मिलित्वा तया उत्कृष्टया दिव्यया देवगत्या यत्रैव विजया राजधानी यत्रैव विजयो देवस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च करतलपरिगृहीतां शिरस्यावर्त्तिकां मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा विजयं देवं जयेन

विजयेन वर्द्धापयन्ति, वर्द्धापयित्वा महार्थं महार्घं महार्हं विपुलमिन्द्राभिषेकयोग्यं क्षीरोदकादि 'उपनयन्ति' समर्पयन्ति ॥ 'तए णं'-मित्यादि, ततो णमिति वाक्यालङ्कारे तं विजयं देवं चत्वारि देवसामानिकसहस्राणि चतस्रोऽग्रमहिष्यः सपरिवारास्तिस्रः पर्षदो यथाक्रममष्टदशद्वादशदेवसहस्रपरिमाणाः सप्तानीकानि सप्तानीकाधिपतयः षोडश आत्मरक्षदेवसहस्राणि, अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवा देव्यश्च तैः—तद्गतदेवजनप्रसिद्धैः स्वाभाविकैर्वैकुर्विकैश्च वरकमलप्रतिष्ठानैः सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णैश्चन्दनकृतचर्चाकैः 'आविद्धकण्ठेगुणैः' आरोपितकण्ठे रक्तसूत्रतन्तुभिः पद्मोत्पलपिधानैः सुकुमारकरतलपरिगृहीतैरनेकसहस्रसङ्ख्यैः कलशैरिति गम्यते, तानेव विभागतो दर्शयति—अष्टसहस्रेण सौवर्णिकानां कलशानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण मणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण रूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण सुवर्णरूप्यमणिमयानाम्, अष्टसहस्रेण भौमेयानां, सर्वसङ्ख्ययाऽष्टभिः सहस्रैश्चतुःपञ्चाधिकैः, तथा 'सर्वोदकैः' सर्वतीर्थनद्याद्युदकैः सर्वतुवरैः सर्वपुष्पैः सर्वगन्धैः सर्वमाल्यैः सर्वौषधिसिद्धार्थकैश्च 'सर्वर्द्धा' परिवारादिकया 'सर्वद्युत्या' यथाशक्ति विस्फारितेन शरीरतेजसा 'सर्वबलेन' सामस्त्येन स्वस्वहस्त्यादिसैन्येन 'सर्वसमुदयेन' स्वस्वाभियोग्यादिसमस्तपरिवारेण 'सर्वादरेण' समस्तयावच्छक्तितोलनेन 'सर्वविभूत्या' स्वस्वाभ्यन्तरवैक्रियकरणादिबाह्यरत्नादिसम्पदा, तथा 'सर्वविभूषया' यावच्छक्तिस्फारोदारशृङ्गारकरणेन 'सव्वसंभमेणं'ति सर्वोत्कृष्टेन संभ्रमेण, सर्वोत्कृष्टसंभ्रमो नाम इह स्वनायकविषयबहुमानख्यापनार्थपरा स्वनायककार्यसम्पादनाय यावच्छक्ति त्वरितत्वरिता प्रवृत्तिः, सर्वपुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालङ्कारेण, अत्र गन्धा—वासा माल्यानि—पुष्पदामानः अलङ्कारा—आभरणानि ततः समाहारो द्वन्द्वः, ततः सर्वदिव्यत्रुटितानि तेषां शब्दाः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दास्तैः सह सर्वशब्देन विशेषणसमासः, 'सव्वदिव्वतुडियसद्दनि-

नाएण'मिति सर्वाणि च तानि दिव्यत्रुटितानि च—दिव्यतूर्याणि च, एषामेकत्र मीलनेन यः संगतो नितरां नादो—महान् घोषः सर्वदिव्यत्रुटितशब्दसंनिनादस्तेन, इह तुल्येष्वपि सर्वशब्दो दृष्टो यथाऽनेन सर्वं पीतं घृतमिति, तत आह—'महया इड्डीए' इत्यादि, महत्या यावच्छक्तितुलितया 'ऋद्ध्या' परिवारादिकया 'महया जुईए' इत्याद्यपि भावनीयं, तथा महता—स्फूर्त्तिमता वराणां—प्रधानानां त्रुटितानां—आतोद्यानां यमकसमकं—एककालं पटुभिः पुरुषैः प्रवादितानां यो रवस्तेन, एतदेव विशेषेणाचष्टे—'संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिनिग्घोससंनिनादितरवेणं' शङ्खः प्रतीतः पणवो—भाण्डानां पटहः—प्रतीतः भेरी—ढक्का झल्लरी—चर्मावनद्धा विस्तीर्णा वलयरूपा खरमुही—काहला हुडुक्का—महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः—स एव लघुर्मृदङ्गो दुन्दुभिः—भेर्याकारा सङ्कटमुखी, तासा द्वन्द्वः, तासां निर्घोषो—महान् ध्वानो नादितं च घण्टायामिव वादनोत्तरकालभावी सततध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन महता महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिञ्चति ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततो णमिति पूर्ववत् तस्य विजयस्य देवस्य 'महया' इति अतिशयेन महति इन्द्राभिषेके वर्त्तमानेऽप्येकका देवा विजयां राजधानीं, सप्तम्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः—विजयायां राजधान्यां नात्युदके प्रभूतजलसंग्रहभावतो वैरस्योपपत्तेः नातिमृत्तिके अतिमृत्तिकाया अपि कर्दमरूपतायां उत्साहवृद्धिजनकत्वाभावात् 'पविरलफुसिय'मिति प्रविरलानि—घनभावे कर्दमसम्भवात् प्रकर्षेण यावता रेणवः स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेण स्पृष्टानि—स्पर्शनानि यत्र वर्षे तत् प्रविरलस्पृष्टं 'रयरेणुविणासणं'ति श्लक्ष्णतरा रेणुपुद्गला रजस्त एव स्थूला रेणवः रजांसि च रेणवश्च रजोरेणवस्तेषां विनाशनं रजोरेणुविनाशनं 'दिव्यं' प्रधानं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति, अप्येकका विजयां राजधानीं समस्तामपि 'निहतरजसं' निहतं रजो यस्यां सा निहतरजास्तां, तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनापि संभवति तत आह—'नष्टरजसं' नष्टं—सर्वथाऽदृश्यी-

भूतं रजो यत्र [ग्रन्थाग्रं ७०००] सा नष्टरजास्तां, तथा भ्रष्टं—वातोद्धूततया राजधान्या दूरतः पलायितं रजो यस्याः सा भ्रष्टरजास्ताम्, एतदेवैकार्थिकद्वयेन प्रकटयति—प्रशान्तरजसं उपशान्तरजसं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीम् 'आसियसंमज्जियोवलित्तं सित्तं सुइसम्मट्ठ[रय]रत्थंतरावणवीहियं करेंति' इति आसिक्तमुदकच्छटेन संमार्जितं कचवरशोधनेन उपलिप्तमिव गोमयादिनोपलिप्तं, तथा सिक्तानि जलेनात एव शुचीनि—पवित्राणि संमृष्टानि—कचवरापनयनेन रथ्यान्तराणि आपणवीथय इव—हट्टमार्गा इव आपणवीथयो रथ्याविशेषाश्च यस्यां सा तथा तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा मञ्चातिमञ्चकलितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा नानाविधा विशिष्टा रागा येषु ते नानाविरागा नानाविरागैरुच्छ्रतैः—ऊर्ध्वीकृतैर्ध्वजैः पताकातिपताकाभिश्च मण्डितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा लाउल्लोइयमहितां गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपञ्चाङ्गुलितला कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीमुपचितचन्दनकलशां कुर्वन्ति अप्येकका देवा चन्दनघटसुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीमासिक्तोत्सक्तविपुलवृत्तवग्घारितमाल्यदामकलापां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीं पञ्चवर्णसुरभिमुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा विजयां राजधानीं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपमघमघायमानां गन्धोद्धुताभिरामां सुगन्धवरगन्धगन्धिकां गन्धवर्त्तिभूतां कुर्वन्ति, एतेषां च पदानां व्याख्यानं पूर्ववत्, अप्येकका देवा हिरण्यवर्षं वर्षन्ति, अप्येककाः सुवर्णवर्षमप्येकका आभरणवर्षं (रत्नवर्षमप्येकका वज्रवर्षमप्येककाः) पुष्पवर्षमप्येकका माल्यवर्षमप्येककाश्चूर्णवर्षं वस्त्रवर्षं (आभरणवर्षं) वर्षन्ति, अप्येकका देवा हिरण्यविधिं—हिरण्यरूपं मङ्गलप्रकारं 'भाजयन्ति' विश्राणयन्ति शेषदेवेभ्यो ददतीति भावः, एवं सुवर्णरत्नाभरणपुष्पमाल्यगन्धचूर्णवस्त्रविधिभाजनमपि भावनीयम् ॥ 'अप्पेगइया देवा दुयं नट्टविहिं उवदंसेंति' इत्यादि, इह द्वात्रिंशन्नाट्यविधयः, ते च येन क्रमेण

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतः सूर्याभदेवेन भाविता राजप्रश्नीयोपाङ्गे दर्शितास्तेन क्रमेण विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्श्यन्ते, तत्र स्वस्तिकश्रीवत्सनन्दावर्त्तवर्द्धमानकभद्रासनकलशमत्स्यदर्पणरूपाष्टमङ्गलाकाराभिनयात्मकः प्रथमो नाट्यविधिः १, द्वितीय आवर्त्तप्रत्यावर्त्तश्रेणिप्रतिश्रेणिस्वस्तिकपुष्पमाणवकवर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्राभिनयात्मकः २, तृतीय ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तितचित्रात्मकः ३, चतुर्थ एकतोच(तश्च)क्रद्विधातोच(तश्च)क्रएकतश्चक्रवालद्विधातश्चक्रवालचक्रार्द्धचक्रवालाभिनयात्मकः ४, पञ्चमश्चन्द्रावलिप्रविभक्तिसूर्यावलिप्रविभक्तिवलयावलिप्रविभक्तिहंसावलीप्रविभक्तितारावलिप्रविभक्तिमुक्तावलिप्रविभक्तिरत्नावलिप्रविभक्तिपुष्पावलिप्रविभक्तिनामा ५, षष्ठश्चन्द्रोद्गमप्रविभक्तिसूर्योद्गमप्रविभक्त्यभिनयात्मक उद्गमनोद्गमनप्रविभक्तिनामा ६, सप्तमश्चन्द्रागमनसूर्यागमनप्रविभक्त्यभिनयात्मक आगमनागमनप्रविभक्तिनामा ७, अष्टमश्चन्द्रावरणप्रविभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्त्यभिनयात्मक आवरणावरणप्रविभक्तिनामा ८, नवमश्चन्द्रास्तमयनप्रविभक्तिसूर्यास्तमयनप्रविभक्त्यभिनयात्मकोऽस्तमयनास्तमयनप्रविभक्तिनामा ९, दशमश्चन्द्रमण्डलप्रविभक्तिसूर्यमण्डलप्रविभक्तिनागमण्डलप्रविभक्तियक्षमण्डलप्रविभक्तिभूतमण्डलप्रविभक्त्यभिनयात्मको मण्डलप्रविभक्तिनामा १०, एकादश ऋषभमण्डलप्रविभक्तिसिंहमण्डलप्रविभक्तिहयविलम्बितगजविलम्बितहयविलसितगजविलसितमत्तहयविलसितमत्तगजविलसितमत्तहयविलम्बितमत्तगजविलम्बिताभिनयो द्रुतविलम्बितनामा ११, द्वादशः सागरप्रविभक्तिनागप्रविभक्त्यभिनयात्मकः सागरनागप्रविभक्तिनामा १२, त्रयोदशो नन्दाप्रविभक्तिचम्पाप्रविभक्त्यभिनयात्मको नन्दाचम्पाप्रविभक्त्यात्मकः १३, चतुर्दशो मत्स्याण्डकप्रविभक्तिमकराण्डकप्रविभक्तिजारप्रविभक्तिमारप्रविभक्त्यभिनयात्मको मत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारप्रविभक्तिनामा १४, पञ्चदशः क इति ककारप्रविभक्तिः ख इति खकारप्रविभ-

३ प्रतिपत्तौ विजयदेवाभिषेकः उद्देशः २ सू० १४

क्तिर्ग इति गकारप्रविभक्तिर्घ इति घकारप्रविभक्तिर्ङ इति ङकारप्रविभक्तिरित्येवं क्रमभाविककारादिप्रविभक्त्यभिनयात्मकः ककारखकारगकारघकारङकारप्रविभक्तिनामा १५, एवं षोडशश्चकारछकारजकारझकारञकारप्रविभक्तिनामा १६, सप्तदशः टकारठकारडकारढकारणकारप्रविभक्तिनामा १७, अष्टादशस्तकारथकारदकारधकारनकारप्रविभक्तिनामा १८, एकोनविंशतितमः पकारफकारबकारभकारमकारप्रविभक्तिनामा १९, विंशतितमोऽशोकपल्लवप्रविभक्त्याम्रपल्लवप्रविभक्तिजम्बूपल्लवप्रविभक्तिकोशाम्बपल्लवप्रविभक्त्यभिनयात्मकः पल्लव २ प्रविभक्तिनामा २०, एकविंशतितमः पद्मलताप्रविभक्त्यशोकलताप्रविभक्तिचम्पकलताप्रविभक्तिचूतलताप्रविभक्तिवनलताप्रविभक्तिवासन्तीलताप्रविभक्त्यतिमुक्तलताप्रविभक्तिश्यामलताप्रविभक्त्यभिनयात्मको लताप्रविभक्तिनामा २१, द्वाविंशतितमो द्रुतनामा २२, त्रयोविंशतितमो विलम्बितनामा २३, चतुर्विंशतितमो द्रुतविलम्बितनामा २४, पञ्चविंशतितमः अञ्चितनामा २५, षड्विंशतितमो रिभितनामा २६, सप्तविंशतितमोऽञ्चितरिभितनामा २७, अष्टाविंशतितम आरभटनामा २८, एकोनत्रिंशत्तमो भसोलनामा २९, त्रिंशत्तम आरभटभसोलनामा ३०, एकत्रिंश उत्पातनिपातप्रसक्तसंकुचितप्रसारितरेचकरचितभ्रान्तसंभ्रान्तनामा ३१ द्वात्रिंशत्तमस्तु चरमचरमनामानिबद्धनामा, स च सूर्याभदेवेन भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतो भगवतश्चरमपूर्वमनुष्यभवचरमदेवलोकभवचरमच्यवनचरमगर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरमबालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्चरणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमपरिनिर्वाणाभिनयात्मको भावितः ३२। तत्रैतेषां द्वात्रिंशतो नाट्यविधीनां मध्ये कांश्चन नाट्यविधीनुपन्यस्यति—अप्येकका देवाः द्रुतं—द्रुतनामकं द्वाविंशतितमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, एवमप्येकका विलम्बितं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, अप्येकका द्रुतविलम्बितं नाट्यविधिं, अप्येकका अञ्चितं नाट्यविधिं, अप्येकका रिभितं नाट्यविधिं, अप्येकका अ-

श्वितरिभितं नाट्यविधिं, अप्येकका आरभटं नाट्यविधिं, अप्येकका भसोलं नाट्यविधिं, अप्येकका आरभटभसोलं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति, अप्येकका देवा उत्पातनिपातम् उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातस्तं; एवं निपातोत्पातं सङ्कुचितप्रसारितं 'रियारिय'मिति गमनागमनं भ्रान्तसम्भ्रान्तं नाम, नाट्यविधिं—सामान्यतो नर्त्तनविधिं द्वात्रिंशद्विध्युत्तीर्णमुपदर्शयन्ति । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं वाद्यं वादयन्ति, तद्यथा—'ततं' मृदङ्गपटहादि 'विततं' वीणादिकं 'घनं' कंसिकादि 'शुषिरं' काहलादि, अप्येकका देवाश्चतुर्विधं गेयं गायन्ति, तद्यथा—'उत्क्षिप्तं' प्रथमतः समारभ्यमाणं 'प्रवृत्तम्' उत्क्षेपावस्थातो विक्रान्तं मनाग्भरेण प्रवर्त्तमानं मन्दायमिति—मध्यभागे मूर्छनादिगुणोपेततया मन्दं मन्दं घोलनात्मकं 'रोचितावसान'मिति रोचितं—यथोचितलक्षणोपेततया भावितं सत्यापितमितियावद् अवसानं यस्य तद् रोचितावसानं । अप्येककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति, तद्यथा—दार्ष्टान्तिकं प्रतिश्रुतिकं सामान्यतोविनिपातिकं लोकमध्यावसानिकमिति, एतेऽभिनयविधयो नाट्यकुशलेभ्यो वेदितव्याः, अप्येकका देवाः 'पीनयन्ति' पीनमात्मानं कुर्वन्ति स्थूला भवन्तीति भावः, अप्येकका देवाः 'ताण्डवयन्ति' ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः 'लास्ययन्ति' लास्यरूपं नृत्यं कुर्वन्ति, अप्येकका देवाः 'छुक्कारेंति' छूत्कारं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा एतानि पीनत्वादीनि चत्वार्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा उच्छलन्ति अप्येकका देवाः प्रोच्छलन्ति अप्येकका देवास्त्रिपदिकां छिन्दन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा हयहेषितानि कुर्वन्ति अप्येकका देवा हस्तिगडगडायितं कुर्वन्ति अप्येकका रथघणघणायितं कुर्वन्ति अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा आस्फोटयन्ति; भूम्यादिकमिति गम्यते, अप्येकका देवा वल्गन्ति; अप्येकका देवाः सिंहनादं नदन्ति अप्येकका देवाः पाददर्दरकं कुर्वन्ति अप्येकका देवा भूमिचपेटां ददति—भूमिं चपेटयाऽऽस्फाल-

यन्तीति भावः, अप्येकका देवा महता महता शब्देन 'रवन्ते' शब्दं कुर्वन्ति अप्येकका देवाश्चत्वार्यपि सिंहनादादीनि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा 'हक्कारेंति' हक्कारं कुर्वन्ति अप्येकका देवाः 'वुक्कारेंति' मुखेन वुक्कारशब्दं कुर्वन्ति अप्येकका देवाः 'थक्कारेंति' थक्क इत्येवं महता शब्देन कुर्वन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा अवपतन्ति अप्येकका देवा उत्पतन्ति अप्येकका देवाः परिपतन्ति—तिर्यग्निपतन्तीत्यर्थः अप्येकका देवास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येककाः 'ज्वलन्ति' ज्वालामालाकुला भवन्ति अप्येकका देवाः 'तपन्ति' तप्ता भवन्ति अप्येककाः प्रतपन्ति अप्येकका देवास्त्रीण्यपि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा गर्जयन्ति अप्येककाः 'विज्जुयारेंति' विद्युतं कुर्वन्ति अप्येकका देवा वर्षं वर्षन्ति अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवोत्कलिकां कुर्वन्ति—देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका तां कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवकहकहं कुर्वन्ति—प्रभूतानां देवानां प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलः कोलाहलो देवकहकहस्तं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा देवदुहुदुहुकं कुर्वन्ति—दुहुदुहुकमित्यनुकरणवचनमेतत्, अप्येककास्त्रीण्यप्येतानि कुर्वन्ति, अप्येकका देवाश्चेलोत्क्षेपं कुर्वन्ति, अप्येकका देवा वन्दनकलशहस्तगताः—वन्दनकलशा हस्ते गता येषां ते वन्दनकलशहस्तगताः, अप्येकका देवाः भृङ्गारकलशहस्तगताः, एवमादर्शस्थालपात्रीसुप्रतिष्ठकवातकरकचित्ररत्नकरण्डकपुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिंहासनचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः प्रत्येकमभिलाप्याः, 'हट्ठतुट्ठे'त्यादि यावत्करणात् 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीतिमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया' इति परिग्रहः, सर्वतः समन्ताद् आधावन्ति प्रधावन्ति ॥ 'तए णं तं विजयं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ' इत्याद्यभिषेकनिगमनसूत्रमाशीर्वादसूत्रं च पाठसिद्धम् ॥

तए णं से विजए देवे महया २ इंदाभिसेएणं अभिसित्ते समाणे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ सीहासणाओ अब्भुट्ठेत्ता अभिसेयसभातो पुरत्थिमेणं दारेणं पडिनिक्खमति २ त्ता जेणामेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति २ त्ता आलंकारियसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसति पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे, तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति २ एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयस्स देवस्स आलंकारियं भंडं उवणेह, तेणेव ते आलंकारियं भंडं जाव उवट्ठवेंति ॥ तए णं से विजए देवे तप्पढमयाए पम्हलसूमालाए दिव्वाए सुरभीए गंधकासाईए गाताइं लूहेति गाताइं लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपति सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताइं अणुलिंपेत्ता ततोऽणंतरं च णं नासाणीसासवायवज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हतलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखइयंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अहतं दिव्वं देवदूसजुयलं णियंसेइ णियंसेत्ता हारं पिणिद्धेइ हारं पिणिद्धेत्ता एवं एकावलिं पिणिंधति एकावलिं पिणिंधेत्ता एवं एतेणं अभिलावेणं मुत्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं कडगाइं तुडियाइं अंगयाइं केयूराइं दसमुद्दिताणंतकं कडिसुत्तकं तेअत्थिसुत्तगं मुरविं कंठमुरविं पालंबंसि

कुंडलाइं चूडामणिं चित्तरयणुक्कडं मउडं पिणिंधेइ पिणिंधित्ता गंठिम[1]वेढिमपूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खयंपिव अप्पाणं अलंकियविभूसितं करेति, कप्परुक्खयंपिव अप्पाणं अलंकियविभूसियं करेत्ता दद्दर[2]मलयसुगंधगंधितेहिं गंधेहिं गाताइं सुक्किडति २ त्ता दिव्वं च सुमणदामं पिणिद्धति ॥ तए णं से विजए देवे केसा[3]लंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकिते विभूसिए समाणे [4]पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता आलंकारियसभाओ पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमति २ त्ता जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छति २ त्ता ववसायसभं अणुप्पदाहिणं करेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तते णं तस्स विजयस्स देवस्स आहिओगिया देवा पोत्थयरयणं उवणेंति ॥ तए णं से विजए देवे पोत्थयरयणं गेण्हति २ त्ता पोत्थयरयणं मुयति पोत्थयरणं मुएत्ता पोत्थयरयणं विहाडेति पोत्थयरयणं विहाडेत्ता पोत्थयरयणं वाएति पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं

---

१ 'गंठिमे'त्यादितो यावत् 'करेत्ता' इत्ययं पाठोऽप्रलिखितसूत्रस्यादावेव दृश्यते व्याख्यानुसारेण. २ अस्य व्याख्या न दृश्यते. ३ 'गंठिमे'त्यादि यावत् 'करेत्ता' इत्ययं पाठ व्याख्या न दृश्यते, 'केसालंकारेणं' इत्यादि यावत् 'विभूसिए समाणे' इत्येतस्य व्याख्याऽपि न दृश्यते । गंठिमे'त्यादि यावत् 'करेत्ता' इत्येतस्य 'पडिपुण्णालंकारे' इत्येतेन सह संबंधो दृश्यते व्याख्यानुसारेण. ४ अयं पुस्तकद्वयेऽप्यत्रैव दृश्यतेऽतोऽहं व्याख्यानुसारेण मूलपाठे कर्त्तुं न शक्तोऽभूवम्..

ववसायं पगेण्हति धम्मियं ववसायं पगेण्हित्ता पोत्थयरयणं पडिणिक्खिवेइ २ त्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेति २ त्ता ववसायसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता णंदं पुक्खरिणिं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवगएणं पच्चोरुहति २ त्ता हत्थं पादं पक्खालेति २ त्ता एगं महं सेतं रयतामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकितिसमाणं भिंगारं पगिण्हति भिंगारं पगेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हति २ त्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चुत्तरेइ २ त्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ जाव अण्णे य बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य अप्पेगइया उप्पलहत्थगया जाव हत्थगया विजयं देवं पिट्ठतो पिट्ठतो अणुगच्छंति ॥ तए णं तस्स विजयस्स देवस्स बहवे आभिओगिया देवा देवीओ य कलसहत्थगता जाव धूवकडुच्छुयहत्थगता विजयं देवं पिट्ठतो २ अणुगच्छंति । तते णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अण्णेहि य बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए सव्वजुत्तीए जाव णिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव सिद्धाययणे तेणेव उवागच्छति २ त्ता सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणु-

पविसित्ता जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छति २ त्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेति २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति लोमहत्थगं गेण्हित्ता जिणपडिमाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेति २ त्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइए गाताइं लूहेति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताणि अणुलिंपइ अणुलिंपेत्ता जिणपडिमाणं अहयाइं सेताइं दिव्वाइं देवदूसजुयलाइं णियंसेइ नियंसेत्ता अग्गेहिं वरेहि य गंधेहि य मल्लेहि य अचेति २ त्ता पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभरणारुहणं करेति करेत्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारितमल्लदाम० करेति २ त्ता अच्छेहिं सण्हेहिं [सेएहिं] रययामएहिं अच्छरसातंदुलेहिं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठट्ठमंगलए आलिहति सोत्थियसिरिवच्छ जाव दप्पण अट्ठट्ठमंगलगे आलिहति आलिहित्ता कयग्गाहग्गहितकरतलपब्भट्ठविप्पमुक्केण दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेति २ त्ता चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं धूमवट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियामयं कडुच्छुयं पग्गहित्तु पयत्तेण धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं संथुणइ २ त्ता सत्तट्ठ पयाइं ओसरति सत्तट्ठपयाइं ओसरित्ता वामं जाणुं अंचेइ २ त्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवाडेइ तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणि-

यलंसि णमेइ नमित्ता ईसिं पच्चुण्णमति २ त्ता कडयतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरति २ त्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं जाव सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं तिकट्टु वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खति २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलं आलिहति २ त्ता चच्चए दलयति वच्चए दलयित्ता कयग्गाहग्गहियकरतलपब्भट्ठविमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति २ त्ता धूवं दलयति २ जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थयं गेण्हइ २ दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जति २ बहुमज्झदेसभाए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं अणुलिंपति २ चच्चए दलयति २ पुप्फारुहणं जाव आहरणारुहणं करेति २ आसत्तोसत्तविपुल जाव मल्लदामकलावं करेति २ कयग्गाहग्गहित जाव पुंजोवयारकलितं करेति २ धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छति २ त्ता बहुमज्झदेसभाए लोमहत्थेणं पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलेणं मंडलगं आलिहति २ चच्चए दलयति २ कयग्गाह जाव धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवगस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव

उवा० लोमहत्थगं गेण्हति २ दारचेडीओ य सालिभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थगेण पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं जाव चच्चए दलयति २ आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति २ जेणेव मुहमंडवगस्स उत्तरिल्ला णं खंभपंती तेणेव उवागच्छइ २ लोमहत्थगं परा० सालभंजियाओ दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति जेणेव मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव दारस्स अच्चणिया जेणेव दाहिणिल्ले दारे तं चेव जेणेव पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए जेणेव वइरामए अक्खाडए जेणेव मणिपेढिया जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति २ लोमहत्थगं गिण्हति लोमहत्थगं गिण्हित्ता अक्खाडगं च सीहासणं च लोमहत्थगेण पमज्जति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भु० पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयति जेणेव पेच्छाघरमंडवपच्चत्थिमिल्ले दारे दारच्चणिया उत्तरिल्ला खंभपंती तहेव पुरत्थिमिल्ले दारे तहेव जेणेव दाहिणिल्ले दारे तहेव जेणेव चेतियथूभे तेणेव उवागच्छति २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति २ त्ता चेतियथूभं लोमहत्थएणं पमज्जति २ दिव्वाए दग० सरसेण० पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त जाव धूवं दलयति २ जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छति जिणपडिमाए आलोए पणामं करेइ २ त्ता लोमहत्थगं गेण्हति २ त्ता तं

घेव सव्वं जं जिणपडिमाणं जाव सिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्ताणं वंदति णमंसति, एवं उत्तरिल्लाएवि, एवं पुरत्थिमिल्लाएवि, एवं दाहिणिल्लाएवि, जेणेव चेइयरुक्खा दारविही य मणिपेढिया जेणेव महिंदज्झए दारविही, जेणेव दाहिणिल्ला नंदापुक्खरणी तेणेव उवा० लोमहत्थगं गेण्हति चेतियाओ य तिसोपाणपडिरूवए य तोरणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएण पमज्जति २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए सिंचति सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपति २ पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयति २ सिद्धायतणं अणुप्पयाहिणं करेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता तहेव महिंदज्झया चेतियरुक्खो चेतियथूभे पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जिणपडिमा उत्तरिल्ला पुरत्थिमिल्ला दक्खिणिल्ला पेच्छाघरमंडवस्सवि तहेव जहा दक्खिणिल्लस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे जाव दक्खिणिल्ला णं खंभपंती मुहमंडवस्सवि तिण्हं दाराणं अच्चणिया भणिऊणं दक्खिणिल्ला णं खंभपंती उत्तरे दारे पुरच्छिमे दारे सेसं तेणेव कमेण जाव पुरत्थिमिल्ला णंदापुक्खरिणी जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥ ततेणं तस्स विजयस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ एयप्पभितिं जाव सव्विड्ढीए जाव णाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता तं णं सभं सुधम्मं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे २ पुरत्थिमिल्लेणं अणुपविसति २ आलोए जिणसकहाणं पणामं करेति २ जेणेव मणिपेढिया

जेणेव माणवचेतियक्खंभे जेणेव वइरामया गोलवट्टसमुग्गका तेणेव उवागच्छति २ लोमहत्थयं गेण्हति २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थएण पमज्जइ २ त्ता वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेति २ त्ता जिणसकहाओ लोमहत्थएणं पमज्जति २ त्ता सुरभिणा गंधोदएणं तिसत्तखुत्तो जिणसकहाओ पक्खालेति २ सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ २ त्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहि य अच्चिणति २ त्ता धूवं दलयति २ त्ता वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिणिक्खिवति २ त्ता माणवकं चेतियखंभं लोमहत्थएणं पमज्जति २ दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयति २ पुप्फारुहणं जाव आसत्तोसत्त० कयग्गाह० धूवं दलयति २ जेणेव सभाए सुधम्माए बहुमज्झदेसभाए तं चेव जेणेव सीहासणे तेणेव जहा दारच्चणिता जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव जेणेव खुड्डागे महिंदज्झए तं चेव जेणेव पहरणकोसे चोप्पाले तेणेव उवागच्छति २ पत्तेयं २ पहरणाइं लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं तहेव सव्वं सेसंपि दक्खिणदारं आदिकाउं तहेव णेयव्वं जाव पुरच्छिमिल्ला णंदापुक्खरिणी सव्वाणं सभाणं जहा सुधम्माए सभाए तहा अच्चणिया उववायसभाए णवरि देवसयणिज्जस्स अच्चणिया सेसासु सीहासणाण अच्चणिया हरयस्स जहा णंदाए पुक्खरिणीए अच्चणिया, ववसायसभाए पोत्थयरयणं लोम० दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं

अणुलिंपति अग्गेहिं वरेहिं गंधेहि य मल्लेहि य अच्चिणति २ त्ता [मल्लेहि] सीहासणे लोमहत्थएणं पमज्जति जाव धूवं दलयति सेसं तं चेव णंदाए जहा हरयस्स तहा जेणेव वलिपीढं तेणेव उवागच्छति २ त्ता अभिओगे देवे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य तिएसु य चउक्केसु य चच्चरेसु य चतुमुहेसु य महापहपहेसु य पासाएसु य पागारेसु य अट्टालएसु य चरियासु य दारेसु य गोपुरेसु य तोरणेसु य वावीसु य पुक्खरिणीसु य जाव विलपंतिगासु य आरामेसु य उज्जाणेसु य काणणेसु य वणेसु य वणसंडेसु य वणराईसु य अच्चणियं करेह करेत्ता ममेयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगिया देवा विजएणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा जाव हट्टतुट्ठा विणएणं पडिसुणेंति २ त्ता विजयाए रायहाणीए सिंघाडगेसु य जाव अच्चणियं करेत्ता जेणेव विजए देवे तेणेव उवागच्छन्ति २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ॥ तए णं से विजए देवे तेसिं णं आभिओगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्टतुट्ठचित्तमाणंदिय जाव हयहियए जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति २ त्ता पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं जाव हत्थपायं पक्खालेति २ त्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए णंदापुक्खरिणीओ पच्चुत्तरति २ त्ता जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं से विजए देवे चउहिं सामाणियसाह-

स्सीहिं जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सव्विड्ढीए जाव निग्घोसनाइयरवेणं जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छति २ त्ता सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति २ त्ता जेणेव मणिपेढिया तेणेव उवागच्छति २ त्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे ॥ (सू० १४२)

'तए णं'मित्यादि, ततः स विजयो देवो वानमन्तरैः **'महया २'** इति अतिशयेन महता इन्द्राभिषेकेणाभिषिक्तः सन् सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायाभिषेकसभातः पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य यत्रैवालङ्कारसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालङ्कारिकसभामनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य च यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव च सिंहासनं तत्रोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः संनिषण्णः, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्या देवा सुबहु **'आलङ्कारिकम्'** अलङ्कारयोग्यं भाण्डमुपनयन्ति ॥ **'तए णं'**मित्यादि, ततः स विजयो देवस्तत्प्रथमतया तस्यामलङ्कारसभायां प्रथमतया पक्ष्मला च सा सुकुमारा च पक्ष्मलसुकुमारा तया **'सुरभिगन्धकाषायिक्या'** सुरभिगन्धकषायद्रव्यपरिकर्म्मितया लघुशाटिकयेति गम्यते गात्राणि रूक्षयति रूक्षयित्वा सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्यनुलिम्पति अनुलिप्य देवदूष्ययुगलं निधत्त इति योगः, कथम्भूतः? इत्याह—**'नासानीसासवायवज्झं'** नासिकानिःश्वासवातवाह्यं, एतेन श्लक्ष्णतामाह, **'चक्खुहरं'** चक्षुर्हरति—आत्मवशं नयति विशिष्टरूपातिशयकलितत्वाच्चक्षुर्हरं **'वर्णस्पर्शयुक्तम्'** अतिशायिना वर्णेनातिशायिना स्पर्शेन युक्तं **'हयलालापेलवाइरेग'**मिति हयलाला—अश्वलाला तस्या अपि पेलवमतिरेकेण हयलालापेलवातिरेकं 'नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुल'मिति समासः, अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः,

धवलं—श्वेतं कनकखचितानि—विच्छुरितानि अन्तकर्म्माणि—अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् कनकखचितान्तकर्म्म आकाशस्फटिकं नाम—अतिस्वच्छस्फटिकविशेपस्तत्समप्रभं दिव्यं 'देवदूष्ययुगलं' देववस्त्रयुग्मं 'निवस्ते' परिधत्ते, परिधाय हारादीन्याभरणानि पिनह्यति, तत्र हारः—अष्टादशसरिकः अर्द्धहारो—नवसरिकः एकावली—विचित्रमणिका मुक्तावली—मुक्ताफलमयी कनकावली—कनकमणिमयी प्रालम्बः—तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आसनः प्रमाणेन स्वप्रमाण आभरणविशेपः कटकानि—कलाचिकाभरणानि त्रुटितानि—बाहुरक्षकाः अङ्गदानि—बाह्वाभरणविशेपा 'दशमुद्रिकाऽनन्तकं' हस्ताङ्गुलिसम्बन्धि मुद्रिकादशकं 'कुण्डले' कर्णाभरणे चूडामणिमिति—चूडामणिर्नाम सकलपार्थिवरत्नसर्वसारो देवेन्द्रमनुष्येन्द्रमूर्द्धकृतनिवासो निःशेपापमङ्गलाशान्तिरोगप्रमुखदोपापहारकारी प्रवरलक्षणोपेतः परममङ्गलभूत आभरणविशेपः 'चित्तरयणसंकडं मउड'मिति चित्राणि—नानाप्रकाराणि यानि रत्नानि तैः सङ्कटः चित्ररत्नसङ्कटः प्रभूतरत्ननिचयोपेत इति भावः । 'तं दिव्वं सुमणदामं'ति 'दिव्यां' प्रधानां पुष्पमालाम् ॥ 'तए णं से विजए'इत्यादि, ग्रन्थिमं—ग्रंथनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं 'भावादिमः प्रत्ययः' यत् सूत्रादिना ग्रथ्यते तद् ग्रन्थिममिति भावः, भरिमं—यद् ग्रन्थितं सद् वेष्ट्यते यथा पुष्पलम्बूसको गण्डूक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकादिमयपञ्जरी पूर्यते, सङ्घातिमं यत्परस्परतो नालसङ्घातेन सङ्घात्यते, एवंविधेन चतुर्विधेन माल्येन कल्पवृक्षमिवात्मानमलङ्कृतविभूपितं करोति कृत्वा परिपूर्णालङ्कारः सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थायालङ्कारसभातः पूर्वेण द्वारेण निर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निपण्णः । 'तए णं'मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्याभियोग्याः पुस्तकरत्नमुपनयन्ति ॥ 'तए णं'मित्यादि, ततः स विजयो देवः पुस्तकरत्नं गृह्णाति गृहीत्वा पुस्तकरत्नमुत्सङ्गादाविति गम्यते मुञ्चति

मुक्त्वा विघाटयति विघाट्यानुप्रवाचयति अनु–परिपाट्या प्रकर्षेण–विशिष्टार्थावगमरूपेण वाचयति वाचयित्वा **'धार्म्मिकं'** धर्मानुगतं व्यवसायं व्यवस्यति, कर्त्तुमभिलषतीति भावः, व्यवसायसभायाः शुभाध्यवसायनिबन्धनत्वात्, क्षेत्रादेरपि कर्म्मक्षयोपशमादिहेतुत्वात्, उक्तञ्च—"उदयक्खयखओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥ १ ॥" इति, धार्म्मिकं च व्यवसायं व्यवसाय पुस्तकरत्नं प्रतिनिक्षिपति प्रतिनिक्षिप्य सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय व्यवसायसभातः पूर्वद्वारेण विनिर्गच्छति विनिर्गत्य यत्रैव व्यवसायसभाया एव पूर्वा नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य नन्दां पुष्करिणीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति प्रविश्य पूर्वेण त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, मध्ये प्रविशतीति भावः, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति प्रक्षाल्यैकं महान्तं श्वेतं रजतमयं विमलसलिलपूर्णं मत्तकरिमहामुखाकृतिसमानं भृङ्गारं गृह्णाति गृहीत्वा यानि तत्रोत्पलानि पद्मानि कुमुदानि नलिनानि यावत् शतसहस्रपत्राणि तानि गृह्णाति गृहीत्वा नन्दातः पुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति प्रत्युत्तीर्य यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैव प्रधावितवान् गमनाय ॥ **'तए ण'**मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य चत्वारि सामानिकदेवसहस्राणि चतस्रः सपरिवारा अग्रमहिष्यः तिस्रः पर्षदः सप्तानीकानि सप्तानीकाधिपतयः षोडशात्मरक्षदेवसहस्राणि अन्ये च बहवो विजयराजधानीवास्तव्या वानमन्तरा देवाश्च देव्यश्च अप्येकका उत्पलहस्तगता अप्येककाः पद्महस्तगता अप्येककाः कुमुदहस्तगताः एवं नलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रशतसहस्रपत्रहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकं वाच्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतः परिपाट्येति भावः अनुगच्छन्ति ॥ **'तए ण'**मित्यादि, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य बहव आभियोग्या देवा देव्यश्च अप्येकका वन्दनकलशहस्तगताः अप्येकका भृङ्गारहस्तगताः अप्येकका आदर्शहस्तगताः एवं स्थालपात्रीसुप्रतिष्ठवातकरकचित्ररत्नकरण्डक-

पुष्पचङ्गेरीयावल्लोमहस्तचङ्गेरीपुष्पपटलकयावल्लोमहस्तपटलकसिंहासनच्छत्रचामरतैलसमुद्गकयावदञ्जनसमुद्गकधूपकडुच्छुकहस्तगताः क्रमेण प्रत्येकमालाप्याः, विजयं देवं पृष्ठतः पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति । ततः स विजयो देवश्चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च वहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या 'जाव निग्घोसनादितरवेण'मिति यावत्करणादेवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः—'सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुडियसद्दनिनाएणं महया इड्डीए महया जुईए महया वलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगपडुप्पवाइयरवेणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कदुंदुभिनिग्घोसनादितरवेणं' अस्य व्याख्या प्राग्वत् । यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्यालोक्य जिनप्रतिमानां प्रणामं करोति, कृत्वा यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव देवच्छन्दको यत्रैव जिनप्रतिमास्तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति परामृश्य च जिनप्रतिमाः प्रमार्जयति प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया स्नपयति स्नपयित्वा सरसेनार्द्रेण गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्यनुलिम्पति, अनुलिप्य 'अहतानि' अपरिमलितानि दिव्यानि देवदूष्ययुगलानि 'नियंसइ'त्ति परिधापयति परिधाप्य 'अग्रैः' अपरिभुक्तैः 'वरैः' प्रधानैर्गन्धैर्माल्यैश्चार्चयति । एतदेव सविस्तरमुपदर्शयति—पुष्पारोपणं माल्यारोपणं वर्णकारोपणं चूर्णारोपणं गन्धारोपणम् आभरणारोपणं (च) करोति, कृत्वा तासां जिनप्रतिमानां पुरतः 'अच्छैः' स्वच्छैः 'श्लक्ष्णैः' मसृणै रजतमयैः, अच्छो रसो येषां तेऽच्छरसाः, प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिविम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इति भावः, ते च ते तन्दुलाश्चाच्छरसतन्दुलाः, पूर्वपदस्य दीर्घान्तता प्राकृतत्वात्, यथा 'वइरामया नेमा' इत्यादौ, तैरष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गल-

कान्यालिखति, आलिख्य '**कयग्गाहगहिय**'मित्यादि मैथुनप्रथमसंरम्भे मुखचुम्बनाद्यर्थं युवत्याः पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणं कचग्राहस्तेन कचग्राहेण गृहीतं करतलाद्विमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविमुक्तं, प्राकृतत्वादेवं पदव्यत्ययः, तेन '**दशार्द्धवर्णेन**' पञ्चवर्णेन '**कुसुमेन**' कुसुमसमूहेन '**पुष्पपुञ्जोपचारकलितं**' पुष्पपुञ्ज एवोपचारः—पूजा पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं—युक्तं करोति, कृत्वा च '**चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं**' चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्यमयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रं कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपेन गन्धोत्तमेनानुविद्धा कालागुरुप्रवरकुन्दुरुष्कतुरुष्कधूपगन्धोत्तमानुविद्धा, प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः, तां धूपवर्त्तिं विनिर्मुञ्चन्तं वैडूर्यमयं धूपकडुच्छुकं प्रगृह्य प्रयतो धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, सप्ताष्टानि पदानि पश्चादपसृत्य दशाङ्गुलिमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रयतः '**अट्ठसयविसुद्धगंठजुत्तेहिं**' इति विशुद्धो—निर्मलो लक्षणदोषरहित इति भावः यो ग्रन्थः—शब्दसंदर्भस्तेन युक्तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि अष्टशतं च तानि विशुद्धग्रन्थयुक्तानि च तैः '**अर्थयुक्तैः**' अर्थसारैः अपुनरुक्तैः महावृत्तैः, तथाविधदेवलब्धेः प्रभाव एषः, संस्तौति संस्तुत्य वामं जानुं '**अञ्चति**' उत्पाटयति दक्षिणं जानुं धरणितले '**निवाडेइ**' इति निपातयति लगयतीत्यर्थः '**त्रिकृत्वः**' त्रीन् वारान् मूर्द्धानं धरणितले '**नमेइ**'त्ति नमयति नमयित्वा चेषत्प्रत्युन्नमयति, ईषत्प्रत्युन्नम्य कटकत्रुटितस्तम्भितौ भुजौ '**संहरति**' सङ्कोचयति, संहृत्य करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वैवमवादीत्—'**नमोऽत्थु ण**'मित्यादि, नमोऽस्तु णमिति वाक्यालङ्कारे देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेभ्यः, सूत्रे षष्ठी "छट्ठिविभत्तीएँ भन्नइ चउत्थी" इति प्राकृतलक्षणात्, ते चार्हन्तो नामादिरूपा अपि सन्ति ततो भावार्हत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—'**भगवद्भ्यः**' भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः स एषामस्तीति भगवन्तस्तेभ्यः, आदिः—धर्म्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीला आदिकरास्तेभ्यः, तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति

तीर्थं तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यः, स्वयं—अपरोपदेशेन सम्यग्वरबोधिप्राप्त्या बुद्धा मिथ्यात्वनिद्रापगमसम्बोधेन स्वयंसंबुद्धास्तेभ्यः, तथा पुरुषाणामुत्तमाः पुरुषोत्तमाः, भगवन्तो हि संसारमध्यावसन्तः सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमास्तेभ्यः, तथा पुरुषाः सिंहा इव कर्म्मगजान् प्रति पुरुषसिंहास्तेभ्यः, तथा पुरुषा वरपुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना धर्म्मकलापेनेति पुरुषवरपुण्डरीकाणि तेभ्यः, तथा पुरुषा वरगन्धहस्तिन इव परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतिक्षुद्रगजनिराकरणेनेति पुरुषवरगन्धहस्तिनस्तेभ्यः, तथा लोको—भव्यसत्त्वलोकस्तस्य सकलकल्याणैकनिबन्धनतया भव्यत्वभावेनोत्तमा लोकोत्तमास्तेभ्यः तथा लोकस्य—भव्यलोकस्य नाथा—योगक्षेमकृतो लोकनाथास्तेभ्यः, तत्र योगो—बीजाधानोद्भेदपोषणकरणं क्षेमं—तदुपद्रवाद्यभावापादनं, तथा लोकस्य—प्राणिलोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य वा हितोपदेशेन सम्यक्प्ररूपणया वा हिता लोकहितास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—देशनायोग्यस्य विशिष्टस्य प्रदीपा—देशनांशुभिर्यथाऽवस्थितवस्तुप्रकाशका लोकप्रदीपास्तेभ्यः, तथा लोकस्य—उत्कृष्टमतेर्भव्यसत्त्वलोकस्य प्रद्योतनं प्रद्योतः प्रद्योतकत्वं—विशिष्टज्ञानशक्तिस्तत्करणशीला लोकप्रद्योतकराः, तथा च भवन्ति भगवत्प्रसादात् तत्क्षणमेव भगवन्तो गणभृतो विशिष्टज्ञानसम्पत्समन्विता यद्वशाद् द्वादशाङ्गमारचयन्तीति तेभ्यः, तथाऽभयं—विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता परमा धृतिरिति भावः, तद् अभयं ददतीत्यभयदास्तेभ्यः, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतलक्षणवशात्, एवमन्यत्रापि, तथा चक्षुरिव चक्षुः—विशिष्ट आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं श्रद्धास्वभावः, श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव तत्त्वदर्शनायोगात्, तद्ददातीति चक्षुर्दास्तेभ्यः, तथा मार्गो—विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषस्तं ददतीति मार्गदास्तेभ्यः, तथा शरणं—संसारकान्तारगतानामतिप्रबलरागादिपीडितानां समाश्वसनस्थान-

कल्पं तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं तद्ददतीति शरणदास्तेभ्यः, तथा बोधिः—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तां तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपां ददतीति बोधिदास्तेभ्यः, तथा धर्मं—चारित्ररूपं ददतीति धर्मदास्तेभ्यः कथं धर्म्मदाः ? इत्याह—धर्मं दिशन्तीति धर्म्मदेशकास्तेभ्यः, तथा धर्म्मस्य नायकाः—स्वामिनस्तद्वशीकरणात्तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकास्तेभ्यः, धर्म्मस्य सारथय इव सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन धर्मसारथयस्तेभ्यः, तथा धर्म एव वरं—प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं २ चक्रमिव चतुरन्तचक्रं तेन वर्त्तितुं शीलं येषां ते धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिनस्तेभ्यः, तथाऽप्रतिहते—अप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वाद् वरे—प्रधाने ज्ञानदर्शने धरन्तीति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरास्तेभ्यः, तथा छादयति—आवरयतीति छद्म—घातिकर्म्मचतुष्टयं व्यावृत्तं—अपगतं छद्म येभ्यस्ते व्यावृत्तछद्मानस्तेभ्यः, तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्म्मशत्रून् जितवन्तो जिनाः अन्यान् जापयन्तीति जापकास्तेभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्यः, तथा भवार्णवं स्वयं तीर्णा अन्यांश्च तारयन्तीति तीर्णास्तारकास्तेभ्यः, तथा केवलवेदसा अवगततत्त्वा बुद्धा अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकास्तेभ्यः, मुक्ताः—कृतकृत्या निष्ठितार्था इति भावः, अन्यांश्च मोचयन्तीति मोचकास्तेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः, शिवं—सर्वोपद्रवरहितत्वात् 'अचलं' स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात् 'अरुजं' शरीरमनसोरभावेनाऽऽधिव्याध्यसम्भवात् अनन्तं—केवलात्मनाऽनन्तत्वात् 'अक्षयं' विनाशकारणाभावात् 'अव्याबाधं' केनापि विबाधयितुमशक्यत्वात् न पुनरावृत्तिर्यस्मात्तदपुनरावृत्ति, सिध्यन्ति—निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिः—लोकान्तक्षेत्रलक्षणा सैव गम्यमानत्वाद् गतिः सिद्धिगतिः २ रिति नामधेयं यस्य तत्सिद्धिगतिनामधेयं, तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं—व्यवहारतः सिद्धक्षेत्रं निश्चयतो यथाऽवस्थितं स्वं स्वरूपं, स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात्तु सिद्धिगतिनामधेयं तत्संप्राप्तेभ्यः। एवं प्रणिपातदण्डकं पठित्वा 'वंदइ नमंसइ' इति वन्दते—ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति—

पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेत्येके, अन्ये त्वभिदधति—विरतिमतामेव प्रसिद्धश्चैत्यवन्दनविधिरन्येषां तथाऽभ्युपगमे कायोत्सर्गासिद्धेरिति वन्दते सामान्येन, नमस्करोत्याशयवृद्धेरुत्थाननमस्कारेणेति, तत्त्वमत्र भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति, ततो वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव सिद्धायतनस्य वहुमध्यदेशभागस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य वहुमध्यदेशभागं दिव्ययोदकधारया 'अभ्युक्षति' अभिमुखं सिञ्चति, अभ्युक्ष्य सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं ददाति, दत्त्वा कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन 'कुसुमेन' कुसुमजातेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं गृह्णाति, गृहीत्वा तेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, ततो दक्षिणद्वारेण निर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य वहुमध्यदेशभागस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य च वहुमध्यदेशभागं लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षणं सरसेन गोशीर्षचन्दनेन पञ्चाङ्गुलितलं मण्डलमालिखति, कचग्राहगृहीतेन करतलप्रभ्रष्टविमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन कुसुमेन पुष्पपुञ्जोपचारकलितं करोति, कृत्वा धूपं ददाति, दत्त्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पश्चिमं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तपरामर्शनं, तेन च लोमहस्तकेन द्वारशाखाशालभञ्जिकाव्यालरूपकप्रमार्जनं, उदकधारयाऽभ्युक्षणं गोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद् द्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्राप्यर्चनिकां करोति, कृत्वा च दाक्षिणात्यस्य मुखमण्डपस्य यत्रैव दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्तत्र पूजां विधाय तेन द्वारेण विनिर्गत्य यत्रैव दाक्षिणात्यः प्रेक्षागृहमण्डपो यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य

वहुमध्यदेशभागो यत्रैव वज्रमयोऽक्षपाटको यत्रैव च मणिपीठिका यत्रैव च सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्याक्षपाटकं मणिपीठिकां सिंहासनं च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चा पुष्पपूजां धूपदानं च करोति, कृत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्योत्तरद्वारं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववद्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य पूर्वद्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्वद्वारार्चनिकां करोति, कृत्वा यत्रैव तस्य दाक्षिणात्यस्य प्रेक्षागृहमण्डपस्य दाक्षिणात्यं द्वारं तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रार्चनिकां कृत्वा यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यस्तम्भस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य स्तूपं मणिपीठिकां च लोमहस्तकेन प्रमृज्य दिव्ययोदकधारयाऽभ्युक्षति सरसगोशीर्षचन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च यत्रैव पाश्चात्या मणिपीठिका यत्रैव च पाश्चात्या जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य जिनप्रतिमाया आलोके प्रणामं करोतीत्यादि पूर्ववद् यावन्नमस्थित्वा यत्रैवोत्तरा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति, उपागत्य तत्रापि यावन्नमस्थित्वा यत्रैव पूर्वा जिनप्रतिमा तत्रोपागच्छति उपागत्य पूर्ववद् यावन्नमस्थित्वा यत्रैव दाक्षिणात्या जिनप्रतिमा पूर्ववत् सर्वं तदेव यावन्नमस्थित्वा यत्रैव दाक्षिणात्यश्चैत्यवृक्षस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा च यत्रैव महेन्द्रध्वजस्तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववदर्चनिकां विधाय यत्रैव दाक्षिणात्या नन्दापुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य लोमहस्तकं परामृशति, परामृश्य तोरणानि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि शालभञ्जिकाव्यालरूपकाणि च प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य दिव्ययोदकधारया सिञ्चति, सिक्त्वा सरसगोशीर्षचन्दनपञ्चाङ्गुलितलप्रदानपुष्पाद्यारोहणधूपदानादि करोति, कृत्वा च सिद्धायतनमनुप्रदक्षिणीकृत्य यत्रैवोत्तरा नन्दापुष्करिणी स तत्रोपागच्छति, उपागत्य पूर्ववत्सर्वं करोति, कृत्वा चौत्तराहे माहेन्द्रध्वजे तदनन्तरमौत्तराहे चैत्यवृक्षे तत औत्तराहे चैत्यस्तूपे, ततः पश्चिमोत्तरपूर्वदक्षिणजिनप्रतिमासु पूर्ववत्सर्वा वक्तव्यता वक्तव्या,

तदनन्तरमौत्तराहे प्रेक्षागृहमण्डपे समागच्छति, तत्र दाक्षिणात्ये प्रेक्षागृहमण्डपे पूर्ववत्सर्वं वक्तव्यं, तत उत्तरद्वारेण विनिर्गत्यौत्तराहे मुखमण्डपे समागच्छति, तत्रापि दाक्षिणात्यमुखमण्डपवत्सर्वं कृत्वोत्तरद्वारेण विनिर्गत्य सिद्धायतनस्य पूर्वद्वारे समागच्छति, तत्रार्चनिकां पूर्ववत्कृत्वा पूर्वस्य मुखमण्डपस्य दक्षिणोत्तरपूर्वद्वारेषु क्रमेणोक्तरूपां पूजां विधाय पूर्वद्वारेण विनिर्गत्य पूर्वप्रेक्षामण्डपे समागत्य पूर्ववदर्चनिकां करोति, ततः पूर्वप्रकारेणैव क्रमेण चैत्यस्तूपजिनप्रतिमाचैत्यवृक्षमाहेन्द्रध्वजनन्दापुष्करिणीनां ततः सभायां सुधर्मायां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका तत्रैवोपागच्छति, उपागत्यालोके जिनसक्थ्नां प्रणामं करोति, कृत्वा च यत्र माणवकचैत्यस्तम्भो यत्र वज्रमया गोलवृत्ताः समुद्गकास्तत्रागत्य समुद्गकान् गृह्णाति, गृहीत्वा च विघाटयति, विघाट्य लोमहस्तकेन प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षति, अभ्युक्ष्य गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, ततः प्रधानैर्गन्धमाल्यैरर्चयति, अर्चयित्वा धूपं दहति, तदनन्तरं भूयोऽपि वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु प्रक्षिपति, प्रक्षिप्य तान् वज्रमयान् गोलवृत्तसमुद्गकान् स्वस्थाने प्रतिनिक्षिपति, प्रतिनिक्षिप्य तेषु पुष्पगन्धमाल्यवस्त्राभरणान्यारोपयति, ततो लोमहस्तकेन माणवकचैत्यस्तम्भं प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, कृत्वा सिंहासनप्रदेशे समागत्य सिंहासनस्य लोमहस्तकेन प्रमार्जनादिरूपां पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा यत्र मणिपीठिका यत्र च देवशयनीयं तत्रोपागत्य मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य च प्राग्वदर्चनिकां करोति, तत उक्तप्रकारेणैव क्षुल्लकेन्द्रध्वजपूजां करोति, कृत्वा च यत्र चोप्पालको नाम प्रहरणकोशस्तत्र समागत्य लोमहस्तेन परिघरत्नप्रमुखाणि प्रहरणरत्नानि प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योदकधारयाऽभ्युक्षणं चन्दनचर्चा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं करोति, कृत्वा सभायाः सुधर्माया बहुमध्यदेशभागेऽर्चनिकां पूर्ववत्करोति, कृत्वा सभायाः सुधर्माया दक्षिणद्वारे समागत्यार्चनिकां पूर्ववत्करोति, ततो दक्षिणद्वारे विनिर्गच्छति, इत ऊर्ध्वं यथैव सिद्धायत-

नान्निष्क्रामतो दक्षिणद्वारादिका दक्षिणनन्दापुष्करिणीपर्यवसाना पुनरपि प्रविशत उत्तरनन्दापुष्करिणीप्रभृतिका उत्तरान्ता ततो द्वितीयं वारं निष्क्रामतः पूर्वद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानार्चनिका वक्तव्या तथैव सुधर्मायाः सभाया अप्यन्यूनातिरिक्ता द्रष्टव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिण्या अर्चनिकां कृत्वोपपातसभां पूर्वद्वारेण प्रविशति, प्रविश्य च मणिपीठिकाया देवशयनीयस्य तदनन्तरं बहुमध्यदेशभागे प्राग्वदर्चनिकां विदधाति, ततो दक्षिणद्वारेण समागत्य तस्यार्चनिकां कुरुते, अत ऊर्द्धमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या । ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतोऽपक्रम्य ह्रदे समागत्य पूर्ववत्तोरणार्चनिकां करोति, कृत्वा पूर्वद्वारेणाभिषेकसभायां प्रविशति, प्रविश्य मणिपीठिकायाः सिंहासनस्याभिषेकभाण्डस्य बहुमध्यदेशभागस्य च पूर्ववदर्चनिकां क्रमेण करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतः पूर्वद्वारेण व्यवसायसभां प्रविशति प्रविश्य पुस्तकरत्नं लोमहस्तकेन प्रमृज्योदकधारयाऽभ्युक्ष्य चन्दनेन चर्चयित्वा वरगन्धमाल्यैरर्चयित्वा पुष्पाद्यारोपणं धूपदानं च करोति, तदनन्तरं मणिपीठिकायाः सिंहासनस्य बहुमध्यदेशभागस्य च क्रमेणार्चनिकां करोति, तदनन्तरमत्रापि सिद्धायतनवद्दक्षिणद्वारादिका पूर्वनन्दापुष्करिणीपर्यवसानाऽर्चनिका वक्तव्या, ततः पूर्वनन्दापुष्करिणीतो बलिपीठे समागत्य तस्य बहुमध्यदेशभागे पूर्ववदर्चनिकां करोति, कृत्वा चोत्तरपूर्वस्यां नन्दापुष्करिण्यां समागत्य तस्यास्तोरणेषु पूर्ववदर्चनिकां कृत्वाऽऽभियोगिकान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—'खिप्पामेवे'त्यादि सुगमं यावत् 'एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति' नवरं श्रृङ्गाटकं—त्रिकोणं स्थानं त्रिकं—यत्र रथ्यात्रयं मिलति चतुष्कं—चतुष्पथयुक्तं चत्वरं—बहुरथ्यापातस्थानं चतुर्मुखं—यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति महापथो—राजपथः शेषः सामान्यः पन्थाः प्राकारः—प्रतीतः अट्टालकाः—प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः चरिका—अष्टह-

स्तत्प्रमाणो नगरप्राकारान्तरालमार्गः द्वाराणि— प्रासादादीनां गोपुराणि—प्राकारद्वाराणि तोरणानि—द्वारादिसम्बन्धीनि आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्य इति स आरामः पुष्पादिसद्वृक्षसङ्कुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यमुद्यानं सामान्यवृक्षवृन्दं नगरासन्नं काननं नगरविप्रकृष्टं वनं एकानेकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनषण्डः एकजातीयोत्तमवृक्षसमूहो वनराजी ॥ 'तए ण'मित्यादि, ततः स विजयो देवो बलिपीठे बलिविसर्जनं करोति, कृत्वा च यत्रैवोत्तरनन्दापुष्करिणी तत्रोपागच्छति, उपागत्योत्तरपूर्वां नन्दां पुष्करिणीं प्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वतोरणेनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य पूर्वत्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य हस्तपादौ प्रक्षालयति, प्रक्षाल्य नन्दापुष्करिणीतः प्रत्युत्तरति, प्रत्युत्तीर्य चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्विजयराजधानीवास्तव्यैर्वानमन्तरैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावद् दुन्दुभिनिर्घोषनादितरवेण विजयाया राजधान्या मध्यंमध्येन यत्रैव सभा सुधर्मा तत्रोपागच्छति, उपागत्य सभां सुधर्मां पूर्वद्वारेणानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मणिपीठिका यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः ॥

तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पुरत्थिमेणं पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भितरियाए परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पत्तेयं २ जाव णिसी-

यंति । एवं दक्खिणेणं मज्झिमियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ जाव णिसीदंति । दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पत्तेयं २ जाव णिसीदंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पच्चत्थिमेणं सत्त अणियाहिवती पत्तेयं २ जाव णिसीयंति । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स पुरत्थिमेणं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ पत्तेयं २ पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीदंति, तंजहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ जाव उत्तरेणं ४ ॥ ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधीणि वइरामया कोडीणि धणूइं अहिगिज्झ परियाइयकंडकलावा णीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो चावपाणिणो चारुपाणिणो चम्मपाणिणो खग्गपाणिणो दंडपाणिणो पासपाणिणो णीलपीयरत्तचावचारुचम्मखग्गदंडपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगा गुत्ता गुत्तपालिता जुत्ता जुत्तपालिता पत्तेयं २ समयतो विणयतो किंकरभूताविव चिट्ठंति ॥ विजयस्स णं भंते! देवस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, गो०! एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, विजयस्स णं भंते! देवस्स सामाणियाणं देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, एवंमहिड्ढीए एवंमहज्जुतीए एवंमहब्बले एवंमहायसे एवंमहासुक्खे एवंमहाणुभागे विजए देवे २ ॥ (सू० १४३)

ततस्तस्य विजयस्य देवस्यापरोत्तरेण—अपरोत्तरस्यां दिशि एवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि च चत्वारि २ सामानिकदेवसहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पूर्वस्यां दिशि चतस्रोऽग्रमहिष्यश्चतुर्षु भद्रासनेषु निषीदन्ति, ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरिकायाः पर्षदोऽष्टौ देवसहस्राणि अष्टासु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य दक्षिणस्यां दिशि मध्यमिकायाः पर्षदो दश देवसहस्राणि दशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि वाह्यायाः पर्षदो द्वादश देवसहस्राणि द्वादशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य पश्चिमायां दिशि सप्तानीकाधिपतयः सप्तसु भद्रासनेषु निषीदन्ति। ततस्तस्य विजयस्य देवस्य सर्वतः समन्तात् सर्वासु दिक्षु सामस्त्येन षोडश आत्मरक्षकदेवसहस्राणि षोडशसु भद्रासनसहस्रेषु निषीदन्ति, तद्यथा—चत्वारि सहस्राणि चतुर्षु भद्रासनसहस्रेषु पूर्वस्यां दिशि, एवं दक्षिणस्यां दिशि, एवं प्रत्येकं पश्चिमोत्तरयोरपि॥ ते चात्मरक्षाः सन्नद्धवद्धवर्मितकवचाः, कवचं—तनुत्राणं वर्म—लोहमयकुतूलिकादिरूपं संजातमस्मिन्निति वर्मितं सन्नद्धं शरीरे आरोपणात् वद्धं गाढतरवन्धनेन वन्धनात् वर्मितं कवचं यैस्ते सन्नद्धवद्धवर्मितकवचाः, 'उप्पीलियसरासणपट्टिया' इति उत्पीडिता—गाढीकृता शरा अस्यन्ते—क्षिप्यन्तेऽस्मिन्निति शरासनः—इषुधिस्तस्य पट्टिका यैरुत्पीडितशरासनपट्टिकाः 'पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टा' इति पिनद्धं ग्रैवेयं—ग्रीवाभरणं विमलवरचिह्नपट्टश्च यैस्ते पिनद्धवरग्रैवेयविमलवरचिह्नपट्टाः 'गहियाउहपहरणा' इति आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधं—खेटकादि प्रहरणं—असिकुन्तादि, गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि च यैस्ते गृहीतायुधप्रहरणाः 'त्रिनतानि' आदिमध्यावसानेषु नमनभावात् 'त्रिसन्धीनि' आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात्, वज्रमयकोटीनि धनूंषि अभिगृह्य 'परियाइयकंडकलावा' इति पर्यात्तकाण्डकलापा विचित्रकाण्डकलापयोगात्, केचित् 'नीलपाणय' इति नीलः काण्डकलाप

इति गम्यते पाणौ येषां ते नीलपाणयः, एवं पीतपाणयः रक्तपाणयः, चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः, चारुः—प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः, चर्म—अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं पाणौ येषां ते चर्मपाणयः, एवं दण्डपाणयः खड्गपाणयः पाशपाणयः, एतदेव व्याचष्टे—यथायोगं नीलपीतरक्तचापचारुचर्मदण्डपाशधरा आत्मरक्षाः, रक्षामुपगच्छन्ति—तदेकचित्ततया तत्परायणा वर्त्तन्त इति रक्षोपगाः 'गुप्ताः' न स्वामिभेदकारिणः तथा गुप्ता—पराप्रवेश्या पालिः—सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः, तथा 'युक्ताः' सेवकगुणोपेततयोचिताः, तथा युक्ता—परस्परं बद्धा न तु बृहदन्तराला पालिर्येषां ते युक्तपालिकाः, प्रत्येकं प्रत्येकं समयतः—आचारत आचारेणेत्यर्थः विनयतश्च किङ्करभूता इव तिष्ठन्ति, न खलु ते किङ्कराः, किन्तु तेऽपि मान्याः, तेषामपि पृथगासननिपातनात्, केवलं ते तदानीं निजाचारपरिपालनतो विनीतत्वेन च तथाभूता इव तिष्ठन्ति तदुक्तं किङ्करभूता इवेति ॥ 'तए णं से विजए' इत्यादि सुप्रतीतं यावद्विजयदेववक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ तदेवमुक्ता विजयद्वारवक्तव्यता, सम्प्रति वैजयन्तद्वारवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाधाए जंबुद्दीवदीवदाहिणपेरंते लवणसमुद्ददाहिणद्धस्स उत्तरेणं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स २ वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सच्चेव सव्वा वत्तव्वता जाव णिच्चे। कहि णं भंते!० रायहाणी?, दाहिणे णं जाव वेजयंते देवे २ ॥ कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स २ जयंते णाम दारे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं जंबुद्दीवपच्चत्थिमपेरंते लवणसमुद्दपच्चत्थिमद्धस्स पुर॰

च्छिमेणं सीओदाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स जयंते णाम दारे पण्णत्ते, तं चेव से पमाणं जयंते देवे पच्चत्थिमेणं से रायहाणी जाव महिड्डीए ॥ कहि णं भंते! जंबुद्दीवस्स अपराइए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! मंदरस्स उत्तरेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए जंबुद्दीवे २ उत्तरपेरंते लवणसमुद्दस्स उत्तरद्धस्स दाहिणेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे २ अपराइए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव पमाणं, रायहाणी उत्तरेणं जाव अपराइए देवे, चउण्हवि अण्णंमि जंबुद्दीवे ॥ (सू० १४४) जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! अउणासीतिं जोयणसहस्साइं बावण्णं च जोयणाइं देसूणं च अद्धजोयणं दारस्स य २ अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥ (सू० १४५)

'कहि णं भंते' इत्यादि सर्वं पूर्ववत्, नवरमत्र वैजयन्तस्य द्वारस्य दक्षिणतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्येति वक्तव्यं, शेषं प्राग्वत् ॥ एवं जयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि वाच्या, नवरं जयन्तद्वारस्य पश्चिमायां दिशि, अपराजितद्वारस्योत्तरतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्येति वाच्यम् ॥ सम्प्रति विजयादिद्वाराणां परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'जंबुद्दीवस्स ण'मित्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त! द्वीपस्य सम्बन्धिनो द्वारस्य च द्वारस्य चैतत् कियत्प्रमाणाबाधया—अन्तरित्वा प्रतिघातेनान्तरं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! एकोनाशीतिर्योजनसहस्राणि द्विपञ्चाशद् योजनानि देशोनं चार्द्धयोजनं द्वारस्य च द्वारस्य चाबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—चतुर्णामपि द्वाराणां प्रत्येकमेकैकस्य कुड्यस्य द्वारशाखापरपर्यायस्य बाहल्यं गव्यूतं द्वाराणां च वि-

स्तारः प्रत्येकं २ चत्वारि २ योजनानि, ततश्चतुर्ष्वपि द्वारेषु सर्वसङ्ख्यया कुड्यद्वारप्रमाणमष्टादश योजनानि, जम्बूद्वीपस्य च परिधिस्तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके ३१६२२७ क्रोशत्रयं ३ अष्टाविंशं धनुःशतं १२८ त्रयोदशाङ्गुलानि एकमर्धाङ्गुल १३॥-मिति, अस्माच्च जम्बूद्वीपपरिधेः सकाशात्तानि कुड्यद्वारपरिमाणभूतान्यष्टादश योजनानि शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु परिधिसत्को योजनराशिरेवंरूपो जातः—तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते नवोत्तरे ३१६२०९, शेषं तथैव, ततो योजनराशेश्चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि योजनानामेकोनाशीतिः सहस्राणि द्विपञ्चाशदधिकानि गव्यूतं चैकं ७९०५२ क्रो० १, यानि च परिधिसत्कानि त्रीणि गव्यूतानि तानि धनुस्त्वेन क्रियन्ते लब्धानि धनुषां षट् सहस्राणि, यदपि च परिधिसत्कमष्टाविंशं धनुःशतं तदप्येतेषु धनुःषु मध्ये प्रक्षिप्यते, ततो जातो धनूराशिरेकषष्टिः शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ६१२८, एषां चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि धनुषां पञ्चदश शतानि द्वात्रिंशदधिकानि १५३२, यान्यपि च त्रयोदशाङ्गुलानि तेषामपि चतुर्भिर्भागो ह्रियते, लब्धानि त्रीणि अङ्गुलानि, एतदपि सर्वं देशोनमेकं गव्यूतमिति लब्धं देशोनमर्द्धयोजनं, उक्तं च—"[1]कुड्डदुवारपमाणं अट्ठारस जोयणाइं परिहीए । सोहिय चउहिं विभत्तं इणमो दारंतरं होइ ॥ १ ॥ अउणासीइ सहस्सा बावण्णा अद्धजोयणं नूणं । दारस्स य दारस्स य अंतरमेयं विणिद्दिट्ठं ॥ २ ॥"

जंबुद्दीवस्स णं भंते! दीवस्स पएसा लवणं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा ॥ ते णं भंते! किं जंबुद्दीवे २

---

१ कुड्यद्वारप्रमाणमष्टादश योजनानि परिधेः । शोधयित्वा चतुर्भिर्विभक्ते इदं द्वारान्तरं भवति ॥ १ ॥ एकोनाशीतिः सहस्राणि द्विपञ्चाशत् अर्धयोजनमूनं द्वारस्य द्वारस्य चान्तरमेतत् विनिर्दिष्टं ॥ २ ॥

लवणसमुद्दे?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे नो खलु ते लवणसमुद्दे ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा जंबूद्दीवं दीवं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा। ते णं भंते! किं लवणसमुद्दे जंबूद्दीवे दीवे?, गोयमा! लवणे णं ते समुद्दे नो खलु ते जंबुद्दीवे दीवे ॥ जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे जीवा उद्दाइत्ता २ लवणसमुद्दे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता २ जंबुद्दीवे २ पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति ॥ (सू० १४६)

'जंबूद्दीवस्स णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपस्य णमिति पूर्ववत् भदन्त! द्वीपस्य 'प्रदेशाः' स्वसीमागतचरमरूपा लवणं समुद्रं 'स्पृष्टाः?' कर्तरि क्तप्रत्ययः, स्पृष्टवन्तः, काका पाठ इति प्रश्नार्थत्वावगतिः, पृच्छतश्चायमभिप्रायः—यदि स्पृष्टास्तर्हि वक्ष्यमाणं पृच्छयते नो चेत्तर्हि नेति भावः, भगवानाह—हंतेत्यादि, 'हन्त' इति प्रत्यवधारणे स्पृष्टाः ॥ एवमुक्ते भूयः पृच्छति—'ते ण'मित्यादि, ते भदन्त! स्वसीमागतचरमरूपाः प्रदेशाः किं जम्बूद्वीपः? किं वा लवणसमुद्रः?, इह यद् येन संस्पृष्टं तत्किञ्चित्तद्व्यपदेशमश्नुवानमुपलब्धं यथा सुराष्ट्रेभ्यः संक्रान्तो मगधदेशं मागध इति, किञ्चित्पुनर्न तद्व्यपदेशभाग् यथा तर्जन्या संस्पृष्टा ज्येष्ठाऽङ्गुलिर्ज्येष्ठैवेति, इहापि च जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तस्ततो व्यपदेशचिन्तायां संशय इति प्रश्नः, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीप एव णमिति निपातस्यावधारणार्थत्वात् ते चरमप्रदेशा द्वीपो, जम्बूद्वीपसीमावर्त्तित्वात्, न खलु ते जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रः, (न ते) जम्बूद्वीपसीमानमतिक्रम्य लवणसमुद्रसीमानमुपगताः किन्तु स्वसीमागता एव लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तस्तेन तटस्थतया संस्पर्शभावात् तर्जन्या

संस्पृष्टा ज्येष्ठाङ्गुलिरिव ते स्वव्यपदेशं भजन्ते न व्यपदेशान्तरं, तथा चाह—नो खलु ते जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रः । एवं 'लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा' इत्यादि लवणविषयमपि सूत्रं भावनीयम् ॥ 'जंबुद्दीवे णं भंते!' इत्यादि, जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे ये जीवास्ते 'उद्दाइत्ता' इति 'अवद्राय २' मृत्वा २ लवणसमुद्रे 'प्रत्यायान्ति' आगच्छन्ति ?, भगवानाह—गौतम! अस्तीति निपातोऽत्र बह्वर्थः, सन्त्येकका जीवा ये 'अवद्रायावद्राय' मृत्वा २ लवणसमुद्रे प्रत्यायान्ति, सन्त्येकका ये न प्रत्यायान्ति, जीवानां तथा तथा स्वस्वकर्म्मवशतया गतिवैचित्र्यसम्भवात् ॥ एवं लवणसूत्रमपि भावनीयं ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीप इति नाम्नो निवन्धनं जिज्ञासिषुः प्रश्नं करोति—

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति जंबूद्दीवे २?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं गंधमायणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं उत्तरकुरा णाम कुरा पण्णत्ता, पाईणपडीणायता उदीणदाहिणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिता एक्कारस जोयणसहस्साइं अट्ठ बायाले जोयणसते दोण्णि य एक्कोणवीसतिभागे जोयणस्स विक्खंभेणं ॥ तीसे जीवा पाईणपडीणायता दुहओ वक्खारपव्वयं पुट्ठा, पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं वक्खारपव्वतं पुट्ठा पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं वक्खारपव्वयं पुट्ठा, तेवण्णं जोयणसहस्साइं आयामेणं, तीसे धणुपट्ठं दाहिणेणं सट्ठिं जोयणसह-

स्साइं चत्तारि य अट्ठारसुत्तरे जोयणसते दुवालस य एकूणवीसतिभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ उत्तरकुराए णं भंते! कुराए केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते?, गोयमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहा णाम ए आलिंगपुक्खरेति वा जाव एवं एकोरुयदीववत्तव्वया जाव देवलोगपरिग्गहा णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो!, णवरि इमं णाणत्तं—छधणुसहस्समूसिता दोछप्पन्ना पिट्ठकरंडसता अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति तिण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं पलिओवमस्सासंखिज्जइभागेण ऊणगाइं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं उक्कोसेणं एकूणपण्णराइंदियाइं अणुपालणा, सेसं जहा एगूरुयाणं ॥ उत्तरकुराए णं कुराए छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जंति, तंजहा—पम्हगंधा १ मियगंधा २ अम्ममा ३ सहा ४ तेयालीसे ५ सणिचारी ६ (सू० १४७)

'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केन 'अर्थेन' केन कारणेन भदन्त! एवमुच्यते जम्बूद्वीपो द्वीपः? इति, भगवानाह—

---

१ यद्यपि सूत्रकारैः जहा एगोरुयवत्तव्वयेति वाक्येनातिदिश्यते उत्तरकुरुस्वरूपमशेषं तथापि व्याख्यातमत्राशेषं तत्, न चैकोरुकद्वीपस्वरूपावसरे तल्लेशोऽपि व्याख्यातो वर्णनस्य, व्याख्यायकसूरिभिश्चान्यत्रातिदिश्यते कल्पद्रुमादिवर्णने यथोत्तरकुरुष्विति नात्र धृतं मूलसूत्रं न च परावर्त्तिता व्याख्या, परमेतदनुमीयते यदुत टीकाकृद्भि प्राप्ता आदर्शा अत्रैव कल्पवृक्षादिवर्णनयुक्ता प्रथमोपस्थितैकोरुकवर्णनस्थाने च तद्रहिता अतिदिष्टा स्युः, चिन्त्यमेतावदेवात्र यत्र सूत्रकारशैल्याऽग्रे वर्णनीयपदार्थातिदेशस्तत्रैव सूत्रे, तत्र सामान्येन वर्णनं स्यादत्र विशेषेणेति युक्त विवेचनमत्र तत्रभवदीयादर्शानुसारेण वा, अत एवात्र प्रतिसूत्रं प्रतीकधृतिर्मलयगिरिपादानाम्

जम्बूद्वीपे णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीपे मन्दरपर्वतस्य 'उत्तरेण' उत्तरतः नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य 'दक्षिणेन' दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य 'पुरत्थिमेणं'ति पूर्वस्यां दिशि माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायाम् 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे उत्तरकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः, सूत्र एकवचननिर्देशोऽकारान्ततानिर्देशश्च प्राकृतत्वात्, ताश्च कथम्भूताः? इत्याह—'पाईणे'त्यादि, प्राचीनापाचीनायता उदग्दक्षिणविस्तीर्णा अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिता एकादश योजनसहस्राण्यष्टौ योजनशतानि 'द्विचत्वारिंशानि' द्विचत्वारिंशदधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य 'विष्कम्भेन' दक्षिणोत्तरतया विस्तारेण, तथाहि—महाविदेहे मेरोरुत्तरत उत्तरकुरवो दक्षिणतो दक्षिणकुरवः, ततो यो महाविदेहक्षेत्रस्य विष्कम्भस्तस्मान्मन्दरविष्कम्भे शोधिते यदवशिष्यते तस्यार्द्धं यावत्परिमाणमेतावत्प्रत्येकं दक्षिणकुरूणामुत्तरकुरूणां च विष्कम्भः, उक्तं च—"वइदेहा विक्खंभा मंदरविक्खंभसोहियद्धं जं। कुरुविक्खंभं जाणसु" इति, स च यथोक्तप्रमाण एव, तथाहि—महाविदेहे विष्कम्भस्त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि योजनानां चतस्रः कलाः ३३६८४ क० ४, एतस्मान्मेरुविष्कम्भो दश योजनसहस्राणि शोध्यन्ते १०००० स्थितानि पश्चात्त्रयोविंशतिः सहस्राणि षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि योजनानां चतस्रः कलाः २३६८४ क० ४, एतेषामर्द्धं लब्धान्येकादश सहस्राणि अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि योजनानां द्वे च कले ११८४२ क० २ ॥ 'तीसे' इत्यादि, तासामुत्तरकुरूणां जीवा उत्तरतो नीलवर्षधरसमीपे प्राचीनापाचीनायता उभयतः पूर्वपश्चिमभागाभ्यां वक्षस्कारपर्वतं यथाक्रमं माल्यवन्तं गन्धमादनं च 'स्पृष्टा' स्पृष्टवती, एतदेव भावयति—'पुरत्थिमिल्लाए' इत्यादि, पूर्वया 'कोट्या' अग्रभागेन पूर्वं वक्षस्कारपर्वतं माल्यवदभिधानं 'स्पृष्टा' स्पृष्टवती 'पश्चिमया' पश्चिमदिगवलम्बिन्या कोट्या पश्चिमवक्षस्कारपर्वतं गन्धमादनाख्यं स्पृष्टा, सा च जीवा

आयामेन त्रिपञ्चाशद् योजनसहस्राणि, कथमिति चेदुच्यते—इह मेरोः पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि भद्रशालवनस्य यदायामेन परिमाणं यच्च मेरोर्विष्कम्भस्य तदेकत्र मीलितं गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वतमूलपृथुत्वपरिमाणरहितं यावत्प्रमाणं भवति तावदुत्तरकुरूणां जीवायाः परिमाणम्, उक्तं च—"मंदरपुव्वेणायय वावीस सहस्स भद्दसालवणं । दुगुणं मंदरसहियं दुसेलरहियं च कुरुजीवा ॥ १ ॥" तच्च यथोक्तप्रमाणमेव, तथाहि—मेरोः पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि प्रत्येकं भद्रशालवनस्य दैर्ध्यपरिमाणं द्वाविंशतिर्योजनसहस्राणि, ततो द्वाविंशतिः सहस्राणि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि चतुश्चत्वारिंशत् सहस्राणि ४४०००, मेरोश्च पृथुत्वपरिमाणं दश योजनसहस्राणि १००००, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि ५४०००, गन्धमादनस्य माल्यवतश्च वक्षस्कारपर्वतस्य प्रत्येकं मूले पृथुत्वं पञ्च योजनशतानि, ततः पञ्च शतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातं योजनसहस्रं, तत् पूर्वराशेरपनीयते, जातानि त्रिपञ्चाशद् योजनसहस्राणि ५३००० ॥ 'तीसे धणुपट्ठ'मित्यादि, तासामुत्तरकुरूणां धनुःपृष्ठं 'दक्षिणेन' दक्षिणतः, तच्च षष्टिर्योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि अष्टादशोत्तराणि द्वादश एकोनविंशतिभागा योजनस्य परिक्षेपेण, द्वयोरपि हि गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारपर्वतयोरायामपरिमाणमेकत्र मीलितमुत्तरकुरूणां धनुःपृष्ठपरिमाणं, "आयामो सेलाणं दोण्ह व मिलिओ कुरूण धणुपट्ठं" इति वचनात्, गन्धमादनस्य माल्यवतश्च वक्षस्कारपर्वतस्य प्रत्येकमायामपरिमाणं त्रिंशद् योजनसहस्राणि द्वे शते नवोत्तरे षट् च कलाः ३०२०९ क० ६, उभयोश्च मिलित आयामो यथोक्तपरिमाणो भवति ६०४१८ क० १२ ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते !' इत्यादि, उत्तरकुरूणां भदन्त ! कुरूणां, सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात्, कीदृश आकारभावस्वरूपस्य प्रत्यवतारः—सम्भवः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभाग उत्तरकुरूणां प्रज्ञप्तः, 'से जहानामए—आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि जगत्युपरि वनप-

ण्डवर्णकवत्तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां च मणीनां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च सवर्णकः परिपूर्ण उक्तो भवति, पर्यन्तसूत्रं चेदम्— 'दिव्वं नट्टं सज्जं गेयं पगीयाणं भवे एयारूवे ?, हंता सिया' इति ॥ **'उत्तरकुराए णं कुराए'** इत्यादि, उत्तरकुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवे **'खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ'** इत्यादि, तथा त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि तोरणानि पर्वतकाः पर्वतकेष्वासनानि गृहकाणि गृहेष्वासनानि मण्डपका मण्डपेषु पृथिवीशिलापट्टकाः पूर्ववद् वक्तव्याः, तदनन्तरं चेदं वक्तव्यम्—'तत्थ णं वहवे उत्तरकुरा मणुस्सा मणुस्सीओ य आसयंति सयंति जाव कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरन्ति' एतद्व्याख्याऽपि प्राग्वत् । **'उत्तरकुराए णं भंते ! कुराए'** इत्यादि, उत्तरकुरुषु णमिति पूर्ववत् कुरुषु तत्र तत्र देशे **'तहिं तहिं'** इति तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवः सरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः कोरण्डगुल्माः बन्धुजीवकगुल्माः मनोवद्यगुल्माः वीयकगुल्माः बाणगुल्माः (कणवीरगुल्माः) कुब्जकगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्मा यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः कस्तूलगुल्माः सेवालगुल्माः अगस्त्यगुल्माः मगदन्तिगुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्माः नवनातिकागुल्माः कुन्दगुल्माः महाकुन्दगुल्माः, सरिकादयो लोकतः प्रत्येतव्याः, गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः, ततः सर्वत्र विशेषणसमासः, सरिकादीनां चेमास्तिस्रः सङ्ग्रहणिगाथाः—"सेरियए नोमालियकोरंटयबन्धुजीवगमणोज्जा । वीययबाणयकणवीरकुज्ज तह सिंदुवारे य ॥ १ ॥ जाईमोग्गर तह जूहिया य तह मल्लिया य वासंती । वत्थुलकत्थुलसेवालगत्थिमगदंतिया चेव ॥ २ ॥ चंपकजाईनवनाइया य कुंदे तहा महाकुंदे । एवमणेगागारा हवंति गुम्मा मुणेयव्वा ॥ ३ ॥" **'ते णं गुम्मा'** इत्यादि, **'ते'** अनन्तरोदिता णमिति वाक्यालङ्कारे गुल्माः **'दशार्द्धवर्णं'** पञ्चवर्णं **'कुसुमं'** जातावेकवचनं कुसुमसमूहं **'कुसुमयन्ति'** उत्पादयन्तीति भावः, येन कुसुमोत्पादनेन कुरूणां वहुसमरम-

णीयो भूमिभागो 'वायविहुयग्गसालेहिं'ति वातेन विधुता:—कम्पिता वातविधुतास्ताश्च ता अग्रशाखाश्च वातविधुताग्रशाखास्ताभिः, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, मुक्तो यः पुष्पपुञ्जः स एवोपचार:—पूजा मुक्तपुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितः श्रियाऽतीव उपशोभमानस्तिष्ठति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, हरुतालवनानि भेरुतालवनानि मेरुतालवनानि शालवनानि सरलवनानि सप्तपर्णवनानि पूगीफलीवनानि खर्जूरीवनानि नालिकेरीवनानि कुशविकुशवि- शुद्धवृक्षमूलानि, ते च वृक्षाः मूलमंतो कंदमंतो इत्यादि विशेषणजातं जगत्युपरिवनपण्डकवर्णकवत्तावत्परिभावनीयं यावद् 'अणेगसग- डरहजाणजोग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणपडिमोयणेसु रम्मा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा' इति, भेरुतालादयो वृक्षजातिवि- शेषाः शालादयः प्रतीताः ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहव उद्दालाः कोद्दाला मोद्दालाः कृतमाला नृत्तमाला वृत्तमाला दन्तमालाः शृङ्गमालाः शङ्खमालाः श्वेतमाला नाम 'द्रुमगणाः' द्रुमजातिविशेषसमूहाः प्रज्ञप्ताः तीर्थकरगणधरैः हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, ते च कथम्भूताः? इत्याह—कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला इत्यादि प्राग्वद् यावत् 'पडिमोयणा सुरम्मा' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवस्तिलका लवकाः छत्रोपगाः शिरीषाः सप्तपर्णाः लुध्राः धवाः चन्दनाः अर्जुनाः नीपाः कुटजाः कदम्बाः पनसाः शालाः तमालाः प्रियालाः प्रियङ्गवः पारापता राजवृक्षा नन्दिवृक्षाः, तिलकादयो लोकप्रतीताः, एते कथम्भूताः? इत्याह—कुशविकु- शविशुद्धवृक्षमूला इत्यादि सर्वं प्राग्वद् यावत् 'पडिमोयणा सुरम्मा' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बह्व्यः पद्मलता नागलता अशोकलताश्चम्पकलताश्चूतलता वनलता वासन्तिकलता-

अतिमुक्तकलता: कुन्दलता: श्यामलता:, एता: सुप्रतीता:, 'निच्चं कुसुमियाओ' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् 'जाव पडिरूवाओ' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वह्वयो वनराजय: प्रज्ञप्ता:, इहै-कानेकजातीयानां वृक्षाणां पङ्क्तयो वनराजयस्तत: पूर्वोक्तसूत्रेभ्योऽस्य भिन्नार्थतेति न पौनरुक्त्यं, ताश्च वनराजय: प्रज्ञप्ता: कृष्णा: कृष्णा-वभासा इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् 'अणेगरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियपडिमोयणाओ सुरम्माओ जाव पडिरू-वाओ' इति ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवो मत्ताङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, किंविशिष्टास्ते? इत्याह—यथा 'से चंदप्पभमणिसलाग' इत्यादि, यथा चन्द्रप्रभादयो मद्यविधयो बहुप्रकारास्तत्र चन्द्रस्येव प्रभा—आकारो यस्या: सा चन्द्रप्रभा, मणिशलाकेव मणिशलाका, वरं च तत् सीधु च वरसीधु, वरा च सा वारुणी च वरवारुणी 'सुजायपुत्तपुप्फफलचोयनिज्जाससारबहुदव्वजुत्तिसंभारकालसंधियआसव' इति इहासव:—पत्रादि-वासकद्रव्यभेदादनेकप्रकार:, तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां लेश्यापदे रसचिन्तावसरे—'पत्तासवेइ वा पुप्फासवेइ वा फलासवेइ वा चोयासवेइ वा' ततोऽत्र निर्याससारशब्द: पत्रादिभि: सह प्रत्येकमभिसम्बन्धनीय:, पत्रनिर्याससार: पुष्पनिर्याससार: फलनिर्यास-सारश्चोयनिर्याससार:, तत्र पत्रनिर्यासो—धातकीपत्ररसस्तत्प्रधान आसव: पत्रनिर्याससार:, एवं पुष्पनिर्याससार: फलनिर्याससारश्च परिभावनीय:, चोयो—गन्धद्रव्यं तन्निर्याससारश्चोयनिर्याससार:, सुजाता:—सुपरिपाकागता:, 'बहुद्रव्ययुक्तिसंभारा' इति बहूनां द्रव्याणामुपबृंहकाणां युक्तयो—मीलनानि तासां संभार:—प्राभूत्यं येषु ते बहुद्रव्ययुक्तिसंभारा:, पुन: कथम्भूता:? इत्याह—'कालसं-धिय' इति कालसन्धिता: सन्धानं सन्धा काले—स्वस्वोचिते सन्धा कालसन्धा सा संजातैषामिति कालसन्धिता, तारकादिदर्शनादि-

तंप्रत्ययस्ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन विशेषणसमासः, सुजातपत्रपुष्पफलचोयनिर्यासससारवहुद्रव्ययुक्तिसम्भारकालसन्धितासवाः, मधु-मेरकौ–मद्यविशेषौ, 'रिट्ठरत्नवर्णाभा' रिष्ठा या शास्त्रान्तरे जम्बूफलकलिकेति प्रसिद्धा, दुग्धजातिः–आस्वादतः क्षीरसदृशी, प्रसन्ना–सुराविशेषः, नेल्लकोऽपि सुराविशेषः, शतायुर्नाम या शतवारान् शोधिताऽपि स्वस्वरूपं न जहाति, 'खज्जूरमुद्दियासार' इति अत्रापि सारशब्दः प्रत्येकमभिसंवध्यते, खर्जूरसारो मृद्वीकासारः, तत्र ण(मू)लदलखर्जूरसारनिष्पन्न आसवविशेषः खर्जूरसारः, मृद्वीका–द्राक्षा तत्सारनिष्पन्न आसवविशेषो मृद्वीकासारः, कापिशायितं–मद्यविशेषः, सुपक्वः–सुपरिपाकागतो यः क्षोदरस–इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा सुपक्वक्षोदरसवरसुरा, कथम्भूता एते मद्यविशेषाः? इत्याह—'वन्नगंधरसफासजुत्तवलविरियपरिणामा' वर्णेन सामर्थ्यादतिशायिना एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन च युक्ताः–सहिता वलवीर्यपरिणामा–वलहेतवो वीर्यपरिणामा येषां ते तथा, किमुक्तं भवति?–परमातिशयसंपन्नैर्वर्णगन्धरसस्पर्शैर्वलहेतुभिर्वीर्यपरिणामैश्चोपेता इति, पुनः किंविशिष्टाः? इत्याह—'वहुप्रकाराः' वहवः प्रकारा येषां जातिभेदेन ते वहुप्रकाराः, तथैव मत्ताङ्गका अपि द्रुमगणा मद्यविधिनोपपेता इति योगः, किंविशिष्टेन मद्यविधिना? इत्यत आह—'अणेगवहुविविहवीससापरिणयाए' इति न एकः अनेकः, तत्रानेकः अनेकजातीयोऽपि व्यक्तिभेदाद्भवति तत आह–वहु–प्रभूतं विविधो–जातिभेदान्नानाप्रकारो वहुविविधः प्रभूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः, स च केनापि निष्पादितोऽपि संभाव्यते तत आह–विश्रसया–स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादितो विश्रसापरिणतः, ततः पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः, सूत्रे च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, ते च मद्यविधिनोपपेता न ताडादिवृक्षा इवाङ्कुरादिषु किन्तु फलेषु तथा चाह—'फलेहिं पुण्णा वीसंदंति' अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया 'व्यत्ययोऽप्यासा'मिति वचनात्, फलेषु मद्यविधिभिरिति गम्यते 'पूर्णाः'

संभृता: 'विष्यन्दन्ति' स्रवन्ति, सामर्थ्यात्तानेवानन्तरोदितान् मद्यविधीन्, क्वचित् 'विसट्टंति' इति पाठस्तत्र विकसन्तीति व्याख्येयं, किमुक्तं भवति?—तेषां फलानि परिपाकागतमद्यविधिभि: पूर्णानि स्फुटित्वा तान् मद्यविधीन् मुञ्चन्तीति, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला:, 'मूलवन्त' इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपका इति १। 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो भृङ्गाङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! 'जहा से' इत्यादि, यथा ते करकघटककलशकर्करीपादकाञ्चनिकाउदङ्कवार्द्धानीसुप्रतिष्ठकविष्टरपारीचषकभृङ्गारककरोटिकासरकपरकपात्रीस्थालमल्लकचपलितदकवारकविचित्रपट्टकशुक्तिचारुपीनका भाजनविधय:, एते प्राय: प्रतीता:, नवरं पादकाञ्चनिका—पादधावनयोग्या काञ्चनमयी पात्री उदङ्को—येनोदकमुदच्यते वार्द्धानी—गलन्तिका सरको—वंशमयच्छिक्का: शिक्काकृति: अप्रतीता लोकतो विशिष्टसंप्रदायाद्वाऽवसातव्या:, कथम्भूता:? इत्याह—काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रा:, पुन: कथम्भूता:? इत्याह—बहुप्रकारा:, एकैकस्मिन् विधाववान्तरानेकभेदभावात्, तथैव ते भृङ्गाङ्गका अपि द्रुमगणा: 'अणेगबहुविविहविस्ससापरिणयाए' इत्यस्य व्याख्या पूर्ववत् भाजनविधिनोपपेता:, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपा: २॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवस्तुटिताङ्गका नाम द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'जहा से' इत्यादि, यथा ते आलिङ्ग्य(मुरव)मृदङ्गपणवपटहदर्दरककरटिडिण्डिमभम्भाहोरम्भाक्वणिताखरमुखीमकुन्दशङ्खिकापिरलीवच्चकपरिवादिनीवंशवेणुवीणासुघोपाविपञ्चीमहतीकच्छभीरिगसिका, तत्रालिङ्ग्य वाद्यत इति आलिङ्ग्य: मुरव:—वाद्यविशेष:, एष यकारान्तशब्द:, मृदङ्गो—लघुमर्दल:, पणवो—भाण्डपटहो लघुपटहो वा पटह:—प्रतीत:, दर्दरकोऽपि तथैव, करटी—सुप्रसिद्धा, डिण्डिम:—प्रथमप्रस्तावनासूचक: पणवविशेष:, भम्भा—

ढक्का, होरम्भा—महाढक्का, कणिता—काचिद् वीणा, खरमुखी—काहला, मकुन्दो—मरुजवाद्यविशेषो योऽभिलीनं प्रायो वाद्यते, शङ्खिका—लघुशङ्खरूपा तस्याः स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति नतु शङ्खस्येवातिगम्भीरः, पिरलीवचकौ तृणरूपवाद्यविशेषौ, परिवादिनी—सप्ततन्त्रीवीणा वंशः—प्रतीतो वेणुः—वंशविशेषः सुघोषा—वीणाविशेषः, विपञ्ची—तन्त्री वीणा महती—शततन्त्रिका, कच्छभी रिगसिका च लोकतः प्रत्येतव्या, एताः कथम्भूताः? इत्याह—'तलतालकंसतालसुसंपउत्ता' तलं—हस्तपुटं तालाः—प्रतीताः कांस्यतालाः—कंसालिया एतैः 'सुसंप्रयुक्ताः' सुष्ठु—अतिशयेन सम्यग्—यथोक्तनीत्या प्रयुक्ताः—संबद्धा आतोद्यविधयः—आतोद्यभेदाः, पुनः कथम्भूताः? इत्याह—'निउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिया' इति, निपुणं यथा भवति एवं गन्धर्वसमये—नाट्यसमये कुशलास्तैः स्पन्दिता—व्यापारिता इति भावः, पुनः किंविशिष्टाः? इत्याह—'त्रिस्थानकरणशुद्धाः' आदिमध्यावसानरूपेषु त्रिषु स्थानेषु करणेन—क्रियया यथोक्तवादनक्रियया शुद्धा अवदाता न पुनरवस्थानव्यापारणरूपदोपलेशेनापि कलङ्किताः, तथैव ते तुटिताङ्गका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत्, 'ततविततघनशुषिरेण' ततं—वीणादिकं विततं—पटहादिकं घनं—कांस्यतालादि शुषिरं—वंशादि, एतद्रूपेण चतुर्विधेनातोद्यविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूलाः मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपकाः ३। 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो दीपशिखा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तत् 'सन्ध्याविरागसमये' सन्ध्यारूपो विरुद्धस्तिमिररूपत्वाद्रागः सन्ध्याविरागस्तत्समये—तदवसरे नवनिधिपतेः—चक्रवर्त्तिन इव दीपिकाचक्रवालवृन्दं—ह्रस्वो दीपो दीपिका तासां चक्रवालं—सर्वं परिमण्डलरूपं वृन्दं दीपिकाचक्रवालवृन्दं, कथम्भूतमित्याह—'प्रभूतवर्त्ति' प्रभूता—बहुसङ्ख्याकाः स्थूरा वा वर्त्तयो यत्र तत्तथा, तथा 'पलित्तनेहं'ति पर्याप्तः—प्रतिपूर्णः स्नेहः—

तैलादिरूपो यस्य तत् पर्याप्तस्नेहं, 'धणिउज्जालिए' इति धणियं—अत्यर्थमुज्ज्वालितम्, अत एव तिमिरमर्दकं—तिमिरनाशकं, पुनः किंविशिष्टमित्याह—'कणगनिगरणकुसुमियपारियातगवणप्पगासे' कनकस्य निगरणं कनकनिगरणं गालितं कनकमिति भावः कुसुमितं च तत्पारिजातकवनं च कुसुमितपारिजातकवनं ततो द्वन्द्वसमासस्तद्वत्प्रकाशः—प्रभा आकारो यस्य तत्कनकनिगरणपारिजातकुसुमवनप्रकाशम्, एतावता समुदायविशेषणमुक्तम्, इदानीं समुदायसमुदायिनोः कथञ्चिद्भे(दभे)द इति ख्यापयन् समुदायविशेषणमेव विवक्षुः समुदायिविशेषणान्याह—'कंचणमणिरयणे'त्यादि, दीपिकाभिः शोभमानमिति सम्बन्धः, कथम्भूताभिर्दीपिकाभिः? अत आह—काञ्चनमणिरत्नानां काञ्चनमणिरत्नमया विमलाः—स्वाभाविकागन्तुकमलरहिता महार्हा—महोत्सवार्हाः विचित्रा—विचित्रवर्णोपेता दण्डा यासां ताः काञ्चनमणिरत्नविमलमहार्हविचित्रदण्डास्ताभिः, तथा सहसा—एककालं ज्वालिताश्च ता उत्सर्पिताश्च वर्त्त्युत्सर्प्पणेन सहसाप्रज्वालितोत्सर्प्पिताः, स्निग्धं—मनोहरं तेजो यासां ताः स्निग्धतेजसः, तथा दीप्यमानो—रजन्यां भास्वान् विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो—ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ता दीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभाः, ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्म्मधारयसमासः, सहसाप्रज्वालितोत्सर्पितस्निग्धतेजोदीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभास्ताभिः, तथा वितिमिराः करा यस्यासौ वितिमिरकरः स चासौ सूरश्च वितिमिरकरसूरस्तस्येव यः प्रसरति उद्द्योतः—प्रभासमूहस्तेन 'चिल्लियाहिं'ति देशीपदमेतद् दीप्यमानाभिरित्यर्थः, ज्वाला एव यदुज्ज्वलं प्रहसितमिव प्रहसितं तेनाभिरामा—अभिरमणीया ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताभिरामास्ताभिः, अत एव शोभमानाभिः शोभमानाः, तथैव दीपशिखा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतोद्योतविधिनोपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत् प्रतिरूपा इति ४॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे

बहवो ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तद् अचिरोद्गतं शरदि सूर्यमण्डलं यदिवा यथैतद् उल्कासहस्रं यथा वा दीप्यमाना विद्युत् अथवा यथा निर्धूमज्वलित उज्ज्वलः—उद्गता ज्वाला यस्य स तथा हुतवहः, सूत्रे च पदोपन्यासव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, ततः सर्वेषामेपां द्वन्द्वः समासः, कथम्भूता एते? इत्याह—'निद्धंतधोये'त्यादि, निध्मातेन—नितरामग्निसंयोगेन यद् धौतं—शोधितं तप्तं च तपनीयं ये च किंशुकाशोकजपाकुसुमानां विमुकुलितानां—विकसितानां पुञ्जाः ये च मणिरत्नकिरणाः यश्च जात्यहिङ्गुलकनिकरस्तद्रूपेभ्योऽप्यतिरेकेण—अतिशयेन यथायोगं वर्णतः प्रभया च रूपं—स्वरूपं येषां ते निध्मातधौततप्ततपनीयकिंशुकाशोकजपाकुसुमविमुकुलितपुञ्जमणिरत्नकिरणजात्यहिङ्गुलकनिकररूपातिरेकरूपाः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तथैव ते ज्योतिषिका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतेनोद्योतविधिनोपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपाः ५ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवश्चित्राङ्गका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा तत् प्रेक्षागृहं विचित्रं—नानाविधचित्रोपेतम्, अत एव रम्यं—रमयति मनांसि द्रष्टॄणामिति रम्यं, बाहुलकात् कर्त्तरि यप्रत्ययः, वराश्च ताः कुसुमदाममालाश्च—ग्रथितकुसुममाला वरकुसुमदाममालास्ताभिरुज्ज्वलं देदीप्यमानत्वाद् वरकुसुमदाममालोज्ज्वलं, तथा भास्वान्—विकसिततया मनोहरतया च देदीप्यमानो मुक्तो यः पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं भास्वन्मुक्तपुष्पपुञ्जोपचारकलितं, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तथा विरल्लितानि—विरलीकृतानि विचित्राणि यानि माल्यानि ग्रथितपुष्पमालास्तेषां यः श्रीसमुदयस्तेन प्रगल्भं—अतीव परिपुष्टं विरल्लितविचित्रमाल्यश्रीसमुदयप्रगल्भं, तथा ग्रन्थिमं—यत् सूत्रेण ग्रथितं वेष्टिमं—यत्पुष्पमुकुट इव उपर्युपरि शिखराकृत्या मालास्थापनं पूरिमं—यल्लघुच्छिद्रेषु पुष्पनिवेशेन पूर्यते सङ्घातिमं—यत्पुष्पं पुष्पेण

परस्परं नालप्रवेशेन संयोज्यते, ग्रन्थिमं च वेष्टिमं च पूरिमं च सङ्घातिमं चेति समाहारो द्वन्द्वस्तेन माल्येन छेकशिल्पिना—परमदक्षेण शिल्पिना विभागरहितेन यद् यत्र योग्यं ग्रन्थिमं वेष्टिमं पूरिमं सङ्घातिमं च तत्र तेन सर्वतः—सर्वासु दिक्षु समनुबद्धं, तथा प्रविरलैः—लम्बमानैः, तत्र विरलत्वं मनागप्यसंहतत्वमात्रेण भवति ततो विप्रकृष्टत्वप्रतिपादनार्थमाह—विप्रकृष्टैः—बृहदन्तरालैः पञ्चवर्णैः कुसुमदामभिः शोभमानं 'वणमालाकयग्गए चेवे'ति वनमाला—चन्दनमाला कृताऽग्रे यस्य तद् वनमालाकृताग्रं तथाभूतं सद् दीप्यमानं, तथैव चित्राङ्गका अपि नाम द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन ग्रन्थिमवेष्टिमपूरिमसङ्घातिमेन चतुर्विधेन माल्यविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि यावत्प्रतिरूपकाः ६ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे चित्ररसा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, यथा तत्परमान्नं—पायसं भवेदिति सम्बन्धः, किंविशिष्टमित्याह—ये सुगन्धाः—प्रवरगन्धोपेताः, समासान्तविधेरनित्यत्वादत्रैतद्रूपस्य समासान्तस्याभावो यथा सुरभिगन्धेन वारिणा इत्यत्र, वराः—प्रधाना दोषरहितक्षेत्रकालादिसामग्रीसंपादितात्मलाभा इति भावः, कमलशालितन्दुलाः, यच्च विशिष्टं—विशिष्टगवादिसम्बन्धि निरुपहतमिति—पाकादिभिरविनाशितं दुग्धं तै राद्धं—पक्वं परमकलमशालिभिः परमदुग्धेन च यथोचितमात्रापाकेन निष्पादितमित्यर्थः, तथा शारदं घृतं गुडः खण्डं मधु वा शर्करापरपर्यायं मेलितं यत्र तत् शारदघृतगुडखण्डमधुमेलितं, निष्ठान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् सुखादिदर्शनाद्वा, अत एवातिरसमुत्तमवर्णगन्धवत्, यथा वा राज्ञश्चक्रवर्त्तिनो भवेत् कुशलैः सूपपुरुषैः—सूपकारैः पुरुषैः सज्जितो—निष्पादितः चतुष्कल्पसेकसिक्त इवौदनः, चत्वारश्च कल्पाः सेकविषया रसवतीशास्त्राभिज्ञेभ्यो भावनीयाः, स चौदनः किंविशिष्टः? इत्याह—कलमशालिनिर्वर्त्तितः—कलमशालिमयो विपक्वो—विशिष्टपरिपाकमागतः, 'सव्वप्फमिउविसयसक-

लसित्थे' इति सबाष्पानि—बाष्पं मुञ्चन्ति मृदूनि—कोमलानि चतुष्कलपसेकादिना परिकर्मितत्वात् विशदानि सर्वथा तुपादिमलापगमात् सकलानि—परिपूर्णानि सित्थूनि यत्र स सबाष्पमृदुविशदसकलसित्थुः, अनेकानि यानि शालनकानि—पुष्पफलप्रभृतीनि तैः संयुक्तः—समुपेतोऽनेकशालनकसंयुक्तः, तथा चामोदक इति सम्बन्धः, किंविशिष्टः? इत्याह—परिपूर्णानि—समस्तानि द्रव्याणि—एलाप्रभृतीनि उपस्कृतानि—नियुक्तानि यत्र स परिपूर्णद्रव्योपस्कृतः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, सुसंस्कृतो—यथोक्तमात्राग्निपरितापादिना परमसंस्कारमुपनीतः, वर्णगन्धरसस्पर्शयुक्तबलवीर्यपरिणाम इति वर्णगन्धरसस्पर्शैः सामर्थ्यादतिशायिभिर्युक्ताः—सहिता बलवीर्यहेतवः परिणामा यस्य स तथा, अतिशायिभिर्वर्णादिभिर्बलवीर्यहेतुपरिणामैश्चोपपेता इति भावः, तत्र बलं—शारीरं वीर्यं—आन्तरोत्साहः, 'इंदियबलपुट्ठिवद्धणे' इति, इन्द्रियाणां—चक्षुरादीनां बलं—स्वस्वविषयग्रहणपाटवमिन्द्रियबलं तस्य पुष्टिः—अतिशायी पोष इन्द्रियबलपुष्टिस्तां वर्द्धयति, नन्द्यादित्वादनः, इन्द्रियबलपुष्टिवर्द्धनः, तथा क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासे तयोर्मथनः क्षुत्पिपासामथनः, तथा प्रधानः—कथितो यो गुडो यद्वा कथितं—प्रधानं खण्डं यदिवा कथिता प्रधाना मत्स्यण्डी—खण्डशर्करा यच्च प्रधानं घृतं तानि उपनीतानि—योजितानि यस्मिन् स प्रधानकथितगुडखण्डमत्स्यण्डीघृतोपनीतः, निष्ठान्तस्य परनिपातोऽत्रापि सुखादिदर्शनात्, स इव मोदकः श्लक्ष्णसमितिगर्भः—अतिश्लक्ष्णकणिकामूलदलः प्रशस्तः, तथैव चित्ररसा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भोजनविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्तो यावत्प्रतिरूपाः ७ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो मण्यङ्गका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, यथा ते हारोऽर्द्धहारो वेष्टनं मुकुटः कुण्डलं वामोत्तको हेमजालं मणिजालं कनकजालं सूत्रकमुच्चीकटकं खुड्डकाम(ङ्का ए)कावलिः कण्ठसूत्रं मकरिका उरस्क-

न्धग्रैवेयकं श्रोणीसूत्रकं चूडामणिः कनकतिलकं फुल्लकं सिद्धार्थकं कर्णपाली शशी सूर्यो वृषभश्चक्रकं तलभङ्गकं त्रुटितं हस्तमालकं हर्षकं केयूरं वलयं प्रालम्बमङ्गुलीयकं वलक्षं दीनारमालिका काञ्ची मेखला कलापः प्रतरं प्रातिहार्यकं पादोज्ज्वलं घण्टिका किङ्किणी रत्नोरुजालं वरनूपुरं चरणमालिका कनकनिगरमालिकेति भूषणविधयो बहुप्रकाराः, एते च लोकतः प्रत्येतव्याः, कथम्भूताः? इत्याह—काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्राः, तथैव ते मण्यङ्गका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतेन भूषणविधिनोपपेताः, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला यावत्प्रतिरूपा इति ८ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो गेहाकारा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! यथा ते प्राकाराट्टालकचरिकाद्वारगोपुरप्रासादाकाशतलमण्डपैकशालकद्विशालकत्रिशालकचतुःशालकगर्भगृहमोहनगृहवलभीगृहचित्रशालमालिकभक्तिगृहवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रनन्द्यावर्त्तसंस्थितानि पाण्डुरतलहर्म्यं मुण्डमालहर्म्यं, अथवा धवलगृहाणि अर्द्धमागधविभ्रमाणि शैलसुस्थितानि अर्द्धशैलसुस्थितानि कूटाकाराद्यानि सुविधिकोष्ठकानि, तथाऽनेकानि गृहाणि शरणानि लयनानि 'अप्पेगे' इति भवनविकल्पा अत्र बहुविकल्पाः, एतेषां च परस्परं विशेषो वास्तुविद्यातोऽवसातव्यः, कथम्भूता एते? इत्याह—'विडंगे'त्यादि, विटङ्कः—कपोतपाली जालवृन्दं—गवाक्षसमूहः निर्यूहो—गृहैकदेशविशेषः अपवरकः—प्रतीतः चन्द्रशालिका—शिरोगृहं, एवंरूपाभिर्विभक्तिभिः कलिताः, तथैव गृहाकारा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविश्रसापरिणतेन भवनविधिनेति सम्बन्धः, किंविशिष्टेन? इत्याह—'सुहारुहणसुहोत्ताराए' इति सुखेनारोहणं—ऊर्द्ध्वं गमनं सुखेनोत्तारः—अधस्तादवतरणं यस्य दर्दरसोपानपङ्क्त्यादिभिः स सुखारोहसुखोत्तारस्तेन, तथा सुखेन निष्क्रमणं प्रवेशश्च यत्र स सुखनिष्क्रमणप्रवेशस्तेन, कथं सुखारोहसुखोत्तारः? इत्याह—दर्दरसोपानपङ्क्तिकलितेन, हेतौ तृतीया, ततोऽयमर्थः—यतो दर्दरसोपानपङ्क्तिक-

लितस्तत: सुखारोहसुखोत्तार:, 'पतिरिक्कसुहविहाराए' प्रतिरिक्ते—एकान्ते सुखविहार:—अवस्थानशयनादिरूपो यत्र प्रतिरिक्तसुखविहारस्तेनोपपेता, सर्वत्र स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपका: ९ ॥ 'उत्तरकुराए णं कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवोऽनग्नका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्!, 'जहा से' इत्यादि, आजिनकं नाम—चर्ममयं वस्त्रं क्षौमं—कार्पासिकं कम्बलः—प्रतीतः दुकूलं—वस्त्रजातिविशेषः कौसेयं—त्रसरितन्तुनिष्पन्नं कालमृगपट्टः—कालमृगचर्म अंशुकचीनांशुकानि—दुकूलविशेषरूपाणि पट्टानि—प्रतीतानि आभरणचित्राणि—आभरणैश्चित्राणि—विचित्राणि आभरणचित्राणि 'सण्ह' इति श्लक्ष्णानि कल्याणकानि—परमवस्त्रलक्षणोपेतानि गम्भीराणि—निपुणशिल्पिनिष्पादिततयाऽलब्धस्वरूपमध्यानि 'नेहल'त्ति स्नेहलानि—स्निग्धानि 'गया(ज्ज)लानि' उद्वेल्यमानानि परिधीयमानानि वा गर्जयन्ति, शेषं सम्प्रदायादवसातव्यं, तदन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्तत्वात्, वस्त्रविधयो वहुप्रकारा भवेयुर्वरपट्टनोद्गता:—प्रसिद्धतत्तत्पत्तनविनिर्गता 'विविधवर्णरागकलिता' विविधैर्वर्णैर्विविधै रागैः—मञ्जिष्ठारागादिभिः कलिता:, तथैवानग्नका अपि द्रुमगणा अनेकवहुविविधविस्त्रसापरिणतेन वस्त्रविधिनोपपेता:, कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूला मूलवन्त इत्यादि प्राग्वद् यावत्प्रतिरूपाः १० । 'उत्तरकुराए णं भंते! कुराए मणुयाण'मित्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त! 'मनुजानां' मनुष्याणां कीदृशः कीदृश आकारभाव:, प्रत्यवतारस्वरूपसम्भव इति भाव:, प्रश्नः?, भगवानाह—गौतम! 'ते ण'मिति पूर्ववत् मनुष्या 'अतीव' अतिशयेन सोमं—दृष्टिसुभगं चारु रूपं येषां तेऽतीवसोमचारुरूपाः 'भोगुत्तमगयलक्खणा' इति उत्तमशब्दस्य विशेषणस्यापि परनिपातः प्राकृतत्वात्, उत्तमाश्च ते भोगाश्च उत्तमभोगास्तद्गतानि—तत्संसूचकानि लक्षणानि येषां ते उत्तमभोगगतलक्षणा:, तथा भोगै. सश्रीका:—सशोभाका भोगसश्रीका:, तथा सुजातानि—

यथोक्तप्रमाणोपपन्नत्वेन शोभनजन्मानि यानि सर्वाणि उर:शिर:प्रभृतीन्यङ्गानि तैः सुन्दरमङ्गं—समग्रं वपुर्येषां ते सुजातसर्वाङ्गसुन्दराङ्गाः, **'सुपइट्ठियकुम्मचारुचरणा'** इति सुष्ठु—शोभनं यथा भवति एवं प्रतिष्ठिताः कूर्म्मवदुन्नतत्वेन चारवश्चरणाः—पादा येषां ते सुप्रतिष्ठितकूर्मचारुचरणाः, **'रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतला'** इति रक्तं—लोहितमुत्पलपत्रवत् मृदु—मार्दवोपेतमकर्कशमिति भावः तचासुकुमारमपि संभवति यथा घृष्टमृष्टपाषाणप्रतिमा तत आह—सुकुमारं—शिरीपकुसुमवदकठिनं कोमलं—मनोज्ञं चरणतलं येषां ते रक्तोत्पलपत्रमृदुसुकुमारकोमलतलाः, तथा **'नगनगरमगरसागरचक्कंकहरंकलक्खणंकियचलणा'** नगः—पर्वतः नगरमकरसागरचक्राणि—प्रतीतानि अङ्कधरः—चन्द्रमा अङ्कः—तस्यैव लाञ्छनं मृगः एवंरूपाणि यानि लक्षणानि तैरङ्कितौ चरणौ येषां ते नगनगरमकरसागरचक्राङ्कधराङ्कलक्षणाङ्कितचरणाः, **'अणुपुव्वसुसाहयंगुलीया'** इति पूर्वस्याः पूर्वस्या अनु लघव इति गम्यते अनुपूर्वाः, किमुक्तं भवति?—पूर्वस्याः पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः "नहं नहेण हीणाओ" इति **सामुद्रिकशास्त्रवचनात्** सुसंहताः—सुश्लिष्टा अङ्गुलयो येषां ते अनुपूर्वसुसंहताङ्गुलीकाः, **'उन्नयतणुतंबनिद्धनखा'** उन्नता—ऊर्द्ध्वं नतास्तनवस्ताम्राः **'स्निग्धाः'** स्निग्धच्छाया नखाः पादगता इति सामर्थ्यलभ्यं तद्वर्णनाधिकाराद् येषां ते उन्नततनुताम्रस्निग्धनखाः, **'संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फा'** सम्यक्स्वरूपप्रमाणतया स्थितौ संस्थितौ सुश्लिष्टौ—मांसलौ गुल्फौ—गुलुकौ येषां ते संस्थितसुश्लिष्टगूढगुल्फाः, **'एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघा'** इति एण्या इव—हरिण्या इव कुरुविन्दस्येव वर्त्तं—सूत्रवलनकं तस्येव वृत्ते—वर्त्तुले आनुपूर्व्येण—क्रमेण ऊर्द्ध्वं स्थूरे स्थूरतरे इति गम्यं जङ्घे येषां ते एणीकुरुविन्दवर्त्तवृत्तानुपूर्वजङ्घाः **'समुग्गनिमग्गगूढजाणू'** समुद्गकस्येव—समुद्गकपक्षिण इव निमग्ने—अन्तःप्रविष्टे गूढे—मांसलत्वादनुद्धते जानुनी—अष्ठीवन्तौ येषां ते समुद्गनिमग्नगूढजानवः, **'गयससणसुजायसन्निभोरू'** गजो—हस्ती श्वसिति—प्राणित्यनेनेति

श्वसनः—शुण्डादण्डः गजस्य श्वसनो गजश्वसनस्तस्य सुजातस्य—सुनिष्पन्नस्य सन्निभौ ऊरू येषां ते गजश्वसनसुजातसन्निभोरवः, सुजातशब्दस्य विशेषणस्यापि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात्, **'वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासियगई'** अत्रापि मत्तशब्दस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, मत्तो—मदोन्मत्तो यो वरः—प्रधानो भद्रजातीयो वारणो—हस्ती तस्य तुल्यः—सदृशो विक्रमः—पराक्रमो विलासिता—विलासः संजातोऽस्या विलासिता तारकादिदर्शनादितप्रत्ययः विलासवती गतिः—गमनं येषां ते वरवारणमत्ततुल्यविक्रमविलासितगतयः, **'पमुइयवरतुरगसीहवरवट्टियकडी'** प्रमुदितो—रोगशोकाद्युपद्रवाभावात्, कचित्पुनरेवं पाठः 'पमुइयवरतुरगसिंहअइरेगवट्टियकडी' तत्र प्रमुदितयो—रोगशोकाद्युपद्रवरहितत्वेनातिपुष्टयोर्वरयोस्तुरगसिंहयोः कट्याः सकाशादतिशयेन वर्त्तिता—वृत्तिः (त्ता) कटिर्येषां ते प्रमुदितवरतुरगसिंहातिरेकवर्त्तितकटयः, **'वरतुरयसुजायगुज्झदेसा'** वरतुरगस्येव सुजातः—संगुप्तत्वेन सुनिष्पन्नो गुह्यदेशो येषां ते वरतुरगसुजातगुह्यदेशाः, पाठान्तरं **'पसत्थवरतुरगगुज्झदेसा'** व्यक्तं, **'आइण्णहयव्व निरुवलेवा'** आकीर्णो—गुणैर्व्याप्तः स चासौ हयश्च आकीर्णहयस्तद्वन्निरुपलेपा—लेपरहितशरीरमलाः, यथा जात्याश्वो मूत्रपुरीषाद्यनुपलिप्तगात्रो भवति तथा तेऽपीति भावः, **'साहयसोणंदमुसलदप्पणनिगरियवरकणगछरुसरिसवरवइरवलियमज्झा'** संहृतसौनन्दं नाम ऊर्द्धीकृतमुदूपलाकृति काष्ठं तच्च मध्ये तनु उभयोः पार्श्वयोर्बृहत्, मुसलं—प्रतीतं, दर्प्पणशब्देनेहावयवे समुदायोपचाराद्दर्प्पणगण्डो गृह्यते, तथा यन्निगरितं—सारीकृतं वरकनकं तस्य—तन्मयं त्सरुः—खड्गादिमुष्टिर्निगरितवरकनकत्सरुस्तैः सदृशः तेषामिवेत्यर्थः, तथा वरवज्रस्येव क्षामो वलितो—वलयः संजाता अस्य वलितः—वलित्रयोपेतो मध्यो—मध्यभागो येषां ते संहृतसोनन्दमुसलदर्प्पणनिगरितवरकनकत्सरुसदृशवरवज्रवलितमध्याः **'झसविहगसुजायपीणकुच्छी'** झषो—मत्स्यः पक्षी—प्रतीतस्तयोरिव सुजातौ—सुनिष्पन्नौ जन्मदोषरहिताविति भावः पीनौ—उपचितौ

कुक्षी येषां ते मत्स्यपक्षिसुजातपीनकुक्षयः, **'झषोदरा'** झषस्येवोदरं येषां ते झषोदराः, **'सुइकरणा'** इति शुचीनि—पवित्राणि निरुपलेपानीति भावः करणानि—चक्षुरादीनीन्द्रियाणि येषां ते शुचिकरणाः, क्वचिदेव 'पम्हवियडनाभा' इति पाठस्तत्र पद्मवद् विकटा—विस्तीर्णा नाभिर्येषां ते पद्मविकटनाभाः, अत एव निर्देशादनाऽप्यपि समासान्तः, एवमुत्तरपदेऽपि, **'गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगभंगुरविकिरणतरुणबोहियअ(आ)कोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा'** गङ्गावर्त्तक इव दक्षिणावर्त्ता तरङ्गैरिव तरङ्गैस्तिसृभिर्वलिभिर्भङ्गुरा तरङ्गभङ्गुरा रविकिरणैः—सूर्यकरैस्तरुणं—नवं तत्प्रथमं तत्कालमित्यर्थः यद्बोधितं—उन्निद्रीकृतमत एव **'आकोसायंत'** इत्याकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः पद्मं तद्वद् गम्भीरा च विकटा च नाभिर्येषां ते गङ्गावर्त्तकप्रदक्षिणावर्त्ततरङ्गभङ्गुररविकिरणतरुणबोधिताकोशायमानपद्मगम्भीरविकटनाभाः, **'उज्जुयसमसहियसुजायजच्चतणुकसिणनिद्धआइज्जलडहसुकुमालमिउरमणिज्जरोमराई'** ऋजुका—न वक्रा समा—न क्वाप्युदन्तुरा सहिता—सन्तता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना सुजाता—सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्याद्दुर्जन्मा अत एव जात्या—प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न तु मर्कटवर्णा, कृष्णमपि किञ्चिन्निर्दीप्तिकं भवति तत आह—स्निग्धा आदेया—दर्शनपथमुपगता सती उपादेया सुभगा इति भावः, एतदेव विशेषणद्वारेण समर्थयते—'लडहा' सलवणिमा अत एव आदेया, तथा सुकुमारा—अकठिना, तत्राकठिनमपि किञ्चित्कर्कशस्पर्शं भवति तत आह—मृद्वी अत एव रमणीया—रम्या रोमराजिः—तनूरुहपङ्क्तिर्येषां ते ऋजुकसमसहितसुजातजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलटहसुकुमारमृदुरमणीयरोमराजयः, **'सन्नयपासा'** सम्यग्—अधोऽधःक्रमेण नतौ पार्श्वौ येषां ते सन्नतपार्श्वाः अधोऽधःक्रमावनतपार्श्वा इत्यर्थः, तथा **'संगयपासा'** इति संगतौ—देहप्रमाणोचितौ पार्श्वौ येषां ते सङ्गतपार्श्वा अत एव सुन्दरपार्श्वाः **'सुजायपासा'** इति सुनिष्पन्नपार्श्वाः **'मियमाइयपीणरइयपासा'** मितं—परिमितं यथा भवति देहानुसारेणेत्यर्थः आयतौ—दीर्घौ पीनौ-

उपचितौ मांसलाविति भावः रचितौ—स्वस्वनामकर्मोदयनिर्वर्त्तितौ रतिदौ वा—रम्यौ पार्श्वौ येषां ते तथा, **'अकरंडयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी'** अविद्यमानं—मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणं करण्डकं—पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्य सोऽकरण्डकस्तं कनकस्येव रुचको—रुचिर्यस्य स कनकरुचिस्तं निर्मलं—स्वाभाविकागन्तुकमलरहितं सुजातं—बीजाधानादारभ्य जन्मदोषरहितं निरुपहतं—ज्वरादिदंशाद्युपद्रवरहितं देहं धारयन्तीत्येवंशीला अकरण्डककनकरुचकनिर्म्मलसुजातनिरुपहतदेहधारिणः **'कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतलोवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा'** कनकशिलातलवदुज्ज्वलं च—निर्मलं प्रशस्तं च—अतिप्रशस्यं समतलं—न विषमोन्नतं उपचितं—मांसलं विस्तीर्णम्—ऊर्द्ध्वाधोऽपेक्षया पृथुलं दक्षिणोत्तरतो वक्षो येषां ते कनकशिलातलोज्ज्वलप्रशस्तसमतलोपचितविस्तीर्णपृथुलवक्षसः **'सिरिवच्छंकियवच्छा'** इति श्रीवृक्षेणाङ्कितं—लाञ्छितं वक्षो येषां ते श्रीवृक्षलाञ्छितवक्षसः **'जुगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिरसुबद्धसंधी पुरवरफलिहवट्टियभुया'** युगसन्निभौ—वृत्ततया आयततया च यूपतुल्यौ पीनौ—उपचितौ रतिदौ—पश्यतां दृष्टिसुखदौ पीवरप्रकोष्ठौ—अकृशकलाचिकौ संस्थितौ—विशिष्टसंस्थानौ सुश्लिष्टाः—संगताः विशिष्टाः—प्रधानाः घनाः—निविडाः स्थिरा—नातिश्लथाः सुबद्धाः—स्नायुभिः सुष्ठु नद्धाः सन्धयः—सन्धानानि ययोस्तौ तथा पुरवरपरिघवत्—महानगरार्गलावद् वर्त्तितौ च वाहू येषां ते युगसन्निभपीनरतिदपीवरप्रकोष्ठसंस्थितसुश्लिष्टविशिष्टघनस्थिरसुबद्धसन्धिपुरवरपरिघवर्त्तितभुजाः, पाठान्तरं **'जुगसन्निभपीणरइयपउट्ठसंठियोवचियघणथिरसुबद्धसुनिगूढपव्वसंधी'** युगसन्निभौ वर्त्तुलत्वेन पीनौ रतिदौ प्रकोष्ठौ येषां ते तथा, तथा संस्थिताः—सम्यक्स्थिता उपचिता—मांसला घना—निविडाः स्थिरा—अचाल्याः, कुतः? इत्याह—सुबद्धा—दृढबन्धनबद्धा निगूढा—मांसलत्वादनुपलक्ष्याः पर्वसन्धयो हस्तादिगता येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, **'भुयगीसरविपुलभोगआयाणफलि-**

हउच्छूढदीहबाहू' भुजगेश्वरो—नागराजस्तस्य यो विपुलो—महान् भोगो—देहो भुजगेश्वरविपुलभोगः तथा आदीयते—द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः स चासौ परिघश्च आदानपरिघः 'उच्छूढ'त्ति अवक्षिप्तः—अर्गलास्थानान्निष्कासितो द्वारपृष्ठभागे दत्त इत्यर्थः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, भुजगेश्वरविपुलभोगश्च आदानपरिघावक्षिप्तश्च ताविव दीर्घौ बाहू येषां ते तथा, **'रत्ततलोवतियमांसलसुजायअच्छिद्दजालपाणी'** रक्ततलौ—लोहिततलौ अवपतितौ—क्रमेण हीयमानोपचयौ मृदुकौ—कोमलौ मांसलौ सुजातौ—जन्मदोषरहितौ अच्छिद्रजालौ—अङ्गुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी—हस्तौ येषां ते तथा, पाठान्तरं 'रत्ततलोवइयमंसलसुजायपसत्थलक्खणअच्छिद्दजालपाणी' तत्र प्रशस्तलक्षणौ—शुभचिह्नाविति व्याख्येयं, शेषं तथैव, **'पीवरकोमलवरंगुलीया'** इति पीवराः—स्वशरीरानुक्रमोपचयाः कोमला—मृदवो वराः—प्रशस्तलक्षणोपेता अङ्गुलयो येषां ते पीवरकोमलवराङ्गुलिकाः, पाठान्तरं 'पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलीया' व्यक्तम्, **'आयंबतलिणसुइरुइलनिद्धनखा'** आताम्रा—ईषद्रक्ताः तलिनाः—प्रतलाः शुचयः—पवित्रा रुचिरा—दीप्ताः स्निग्धा—अरूक्षा नखाः—कररुहा येषां ते तथा आताम्रतलिनशुचिरुचिरस्निग्धनखाः, **'चंदपाणिलेखा'** चन्द्र इव चन्द्राकारा पाणौ रेखा येषां ते चन्द्रपाणिरेखाः, एवं सूर्यपाणिरेखाः शङ्खपाणिरेखाश्चक्रपाणिरेखा दिक्सौवस्तिको—दिक्प्रोक्षको दक्षिणावर्त्तः स्वस्तिक इत्यन्ये स पाणौ रेखा येषां ते दिक्सौवस्तिकपाणिरेखाः, एतदेवानन्तरोक्तं विशेषणपञ्चकं तत्प्रशस्तताप्रकर्षप्रतिपादनाय सङ्ग्रहवचनेनाह—चन्द्रसूर्यशङ्खचक्रदिक्सौवस्तिकरेखाः, एतदनन्तरं क्वचिदेवं पाठः—'रविससिसंखवरचक्कसोत्थियविभिन्नसुविरइयपाणिरेहा' व्यक्तो नवरं विभक्ता—विभागवत्यः सुविरचिताः—सुष्ठु कृताः स्वकीयकर्म्मणा **'अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिलेहा'** अनेकैः—अनेकसङ्ख्यैर्वरैः—प्रधानैर्लक्षणैरुत्तमाः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूताः शुचयः—पवित्रा रचिताः—स्वकर्मणा निष्पा-

दिताः पाणिरेखा येषां ते अनेकवरलक्षणोत्तमप्रशस्तशुचिरचितपाणिरेखाः, 'वरमहिसवराहसिंहसदूलउसभनागवरपडिपुण्णविउलखंधा' वरमहिषः—प्रधानसौरभेयः वराहः—शूकरः सिंहः—केशरी शार्दूलो—व्याघ्रः ऋषभो—वृषभः नागवरः—प्रधानो गजः, एषामिव प्रतिपूर्णः—स्वप्रमाणेनाहीनो विपुलो—विस्तीर्णः स्कन्धः—अंशदेशो येषां ते वरमहिषवराहसिंहशार्दूलवृषभनागवरप्रतिपूर्णविपुलस्कन्धाः 'चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा' चतुरङ्गुलं—स्वाङ्गुलापेक्षया चतुरङ्गुलप्रमितं सुष्ठु—शोभनं प्रमाणं यस्याः सा चतुरङ्गुलसुप्रमाणा कम्बुवरसदृशी—उन्नततया वलियोगेन च प्रधानशङ्खसन्निभा ग्रीवा येषां ते चतुरङ्गुलसुप्रमाणकम्बुवरसदृशग्रीवाः 'मंसलसंठियसदूलविपुलहणुया' मांसलं—उपचितमांसं सम्यक् स्थितं संस्थितं विशिष्टस्थानमित्यर्थः प्रशस्तं प्रशस्यलक्षणोपेतत्वात् शार्दूलस्येव—व्याघ्रस्येव विपुलं—विस्तीर्णं हनुकं येषां ते तथा, 'अवट्ठियसुविभत्तमंसू' अवस्थितानि—अवर्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि—विविक्तानि चित्राणि—अतिरम्यतयाऽद्भुतानि श्मश्रूणि—कूर्चकेशा येषां तेऽवस्थितसुविभक्तचित्रश्मश्रवः 'ओयवियसिलप्पवालबिंबफलसन्निभाधरोट्ठा' ओयवियं—परिकर्मितं यत् शिलारूपं प्रवालं विद्रुममित्यर्थः बिम्बफलं—गोल्हाफलं तयोः सन्निभो रक्ततया उन्नतमध्यतयाऽधरओष्ठः—अधस्तनो दन्तच्छदो येषां ते तथा, 'पंडुरससिसगलविमलनिम्मलसंखगोखीरफेणकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी' पाण्डुरं—अकलङ्कं यत् शशिशकलं—चन्द्रखण्डं विमल—आगन्तुकमलरहितो निर्मलः—स्वभावोत्थमलरहितो यः शङ्खः गोक्षीरफेनः प्रतीतः कुन्दं—कुन्दकुसुमं दकरज—उदककणाः मृणालिका—बिशं, एतद्वद्धवला दन्तश्रेणिर्येषां ते पाण्डुरशशिशकलविमलनिर्मलगोक्षीरफेनकुन्ददकरजोमृणालिकाधवलदन्तश्रेणयः 'अखंडदंता' इति अखण्डाः—सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः 'अप्फुडियदंता' अस्फुटिता—अजर्जरा राजिरहिता दन्ता येषां ते अस्फुटितदन्ताः, तथा सुजाता—जन्मदोषरहिता दन्ता येषां ते सुजा-

तदन्ताः, तथाऽविरला—घना दन्ता येषां ते अविरलदन्ताः, **'एगदंतसेढीविव अणेगदंता'** एकाकारा दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा ते इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वाद् अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः, एवं नामाविरलदन्ता यथाऽनेकदन्ता अपि सन्त एकाकारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्त इति भावः, **'हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा'** हुतवहेन—अग्निना निर्ध्मातं सद् यद् धौतं—शोधितमलं तप्तं तपनीयं—सुवर्णविशेषस्तद्वद् रक्ते तले—हस्ततले तालु—काकुदं जिह्वा च—रसना येषां ते हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालुजिह्वाः **'गरुलाययउज्जुतुंगनासा'** गरुडस्येवायता—दीर्घा ऋज्वी—अवक्रा तुङ्गा—उन्नता नासा—नासिका येषां ते गरुडायतऋजुतुङ्गनासाः **'कोकासियधवलपत्तलच्छा'** कोकासिते—पद्मवद्विकसिते धवले क्वचिद्देशे पत्रले—पक्ष्मवती अक्षिणी—लोचने येषां ते कोकासितधवलपत्राक्षाः, एतदेव स्पष्टयति—**'विप्फालियपुंडरीयनयणा'** विस्फारितं—रविकिरणैर्विकासितं यत्पुण्डरीकं—सितपद्मं तद्वन्नयने येषां ते विस्फारितपुण्डरीकनयनाः, क्वचित् **'अवदालियपुंडरीयनयणा'** इति पाठस्तत्रापि अवदालितं—रविकिरणैर्विकासितमिति व्याख्येयं, **'आणामियचावरुइलतणुकसिणनिद्धभुया'** आनामितं—ईषन्नामितमारोपितमिति भावः यच्चापं—धनुस्तद्वद् रुचिरे—संस्थानविशेषभावतो रमणीये तनू—तनुके श्लक्ष्णपरिमितवालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे—परमकालिमोपेते स्निग्धे—स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते आनामितचापरुचिरतनुकृष्णस्निग्धभ्रूकाः, क्वचित्पाठः—'आणामियचारुरुचिलकिण्हब्भराईसंठियसंगयआययसुजायभुमया' तत्र आनामितचापवद् रुचिरे कृष्णाभ्रराजीव संस्थिते संगते—यथोक्तप्रमाणोपपन्ने आयते—दीर्घे सुजाते—सुनिष्पन्ने जन्मदोषरहितत्वाद् भ्रुवौ येषां ते तथा, क्वचित्पुनरेवं पाठः—'आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइतणुकसिणनिद्धभुमया' तत्रानामितचापवद् रुचिरे—मनोज्ञे कृष्णाभ्रराजीव—कालमेघरेखेव तनू—तनुके कृष्णे—काले स्निग्धे—सच्छाये भ्रुवौ येषां ते तथा, **'आलीणपमा-**

णजुत्तसवणा' आलीनौ न तु टप्परौ प्रमाणयुक्तौ—प्रमाणोपेतौ श्रवणौ—कर्णौ येषां ते आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणाः, अत एव 'सुसवणा' शोभनश्रवणाः 'पीणमंसलकवोलदेसभागा' पीनौ—अकृशौ यतो मांसलौ—उपचितौ कपोलदेशौ—गण्डभागौ मुखस्य देशभागौ येषां ते पीनमांसलकपोलदेशभागाः, अथवा कपोलयोर्देशभागाः कपोलदेशभागाः कपोलावयवा इत्यर्थः पीना—मांसलाः कपोलदेशभागा येषां ते पीनमांसलकपोलदेशभागाः 'निव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमनिडाला' निर्व्रणं—विस्फोटकादिक्षतरहितं समं—अविषमं अत एव लष्टं—मनोज्ञं मृष्टं—मसृणं चन्द्रार्द्धसमं—शशधरसमप्रविभागसदृशं ललाटं—अलकं येषां ते निर्व्रणसमलष्टचन्द्रार्द्धसमललाटाः, सूत्रे 'निडाले'ति प्राकृतलक्षणवशात्, 'उडुवइपडिपुण्णसोमवयणा' प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः, प्रतिपूर्णोडुपतिरिव—सम्पूर्णचन्द्र इव सोमं—सश्रीकं वदनं येषां ते प्रतिपूर्णोडुपतिसोमवदनाः, 'घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिहपिंडियसिरा' घनं—अतिशयेन निचितं घननिचितं सुष्ठु—अतिशयेन बद्धानि—अवस्थितानि लक्षणानि यत्र तत् सुबद्धलक्षणं, उन्नतं—मध्यभागे उच्चं यत्कूटं तस्याकारो—मूर्त्तिस्तन्निभमुन्नतकूटाकारसदृशमिति भावः पिण्डितं—स्वकर्म्मणा संयोजितं शिरो येषां ते घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटाकारनिभपिण्डितशिरसः 'छत्ताकारुत्तमंगदेसा' छत्राकार उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते छत्राकारोत्तमाङ्गदेशाः 'दाडिमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुजायकेसंतकेसभूमी' दाडिमपुष्पप्रकाशा—दाडिमपुष्पप्रतिमास्तपनीयसदृशाश्च निर्म्मला—आगन्तुकस्वाभाविकमलरहिताः केशान्ताः केशभूमिश्च—केशोत्पत्तिस्थानभूता मस्तकत्वग् येषां ते दाडिमपुष्पप्रकाशतपनीयसदृशनिर्मलसुजातकेशान्तकेशभूमयः 'सामलिबोंडघणछोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुन्दरभुयमोयगभिंगनीलकज्जलपहट्ठभमरगणनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया' शाल्मली—वृक्षविशेषः स च प्रतीत एव तस्य बोण्डं—फलं तद्वच्छोटिता अपि घनं—अतिशयेन निचिताः शाल्मलीबोण्डघननि-

चितच्छोटिताः, स्नेहकेशपाशं न कुर्वन्ति परिज्ञानाभावात्, केवलं छोटिता अपि तथास्वभावतया शाल्मलीबोण्डाकारवद् घननिचिता अवतिष्ठन्ते तत एतद्विशेषणोपादानं, तथा मृदवः—अकर्कशा विशदा—निर्मलाः प्रशस्ताः—प्रशंसास्पदीभूताः सूक्ष्माः—श्लक्ष्णाः लक्षणा—लक्षणवन्तः सुगन्धाः—परमगन्धकलिता अत एव सुन्दराः, तथा भुजमोचको—रत्नविशेषः भृङ्गः—प्रतीतः नीलो—मरकतमणिः कज्जलं—प्रतीतं प्रहृष्टः—प्रमुदितो भ्रमरगणः प्रहृष्टभ्रमरगणः, प्रहृष्टो हि भ्रमरगणस्तारुण्यावस्थायां भवति तदानीं चातिकृष्ण इति प्रहृष्टग्रहणं, तद्वत्स्निग्धा भुजमोचकभृङ्गनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धाः, तथा निकुरम्बा—निकुरम्बीभूताः सन्तो निचिता न तु विस्तृताः सन्तः परस्परसंहता निकुरम्बनिचिता ईषत्कुटिलाः प्रदक्षिणावर्त्ताश्च मूर्द्धनि शिरोजा—वाला येषां ते शाल्मलीबोण्डघननिचितच्छोटितमृदुविशदप्रशस्तसूक्ष्मलक्षणसुगन्धसुन्दरभुजमोचकभृङ्गनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धनिकुरम्बनिचितप्रदक्षिणावर्त्तमूर्द्धशिरोजाः, 'लक्खणवंजणगुणोववेया' लक्षणानि—स्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि—मषतिलकादीनि गुणाः—क्षान्त्यादयस्तैरुपपेता—युक्ता लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेताः 'सुजायसुविभत्तसुरूवगा' सुजातं—सुनिष्पन्नं जन्मदोषरहितत्वात् सुविभक्तं—अङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गानां यथोक्तवैविक्त्यभावात् सुरूपं—शोभनं रूपं समुदायगतं येषां ते सुजातसुविभक्तसुरूपकाः 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते! कुराए' इत्यादि, उत्तरकुरुषु भदन्त! कुरुषु मनुजीनां कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः स्वरूपसम्भव इति भावः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! ता मनुष्यः सुजातसर्वाङ्गसुन्दर्यः—सुजातानि—यथोक्तप्रमाणोपेततया शोभनजन्मानि यानि सर्वाण्यङ्गानि—उदरप्रभृतीनि तैः सुन्दर्यः—सुन्दराकाराः सुजातसर्वाङ्गसुन्दर्यः 'पहाणमहेलागुणजुत्ताओ' प्रधाना—अतिशायिनो ये महेलागुणाः—प्रियंवदत्वभर्तृचित्तानुवर्त्तकत्वप्रभृतयस्तैर्युक्ता—उपपेताः प्रधानमहेलागुणयुक्ताः 'कंतविसयमिउसुकुमालकुम्मसंठियविसि-

ट्ठचलणा' कान्तौ—कमनीयौ विशदौ—निर्म्मलौ मृदू—अकठिनौ सुकुमारौ—अकर्कशौ कूर्मसंस्थितौ—कूर्मवदुन्नतौ विशिष्टौ—विशिष्टलक्षणोपेतौ चरणौ यासां ताः कान्तविशदमृदुसुकुमारकूर्मवदुन्नतसंस्थितविशिष्टचरणाः 'उज्जुमउयपीवरपुट्ठसाहयंगुलीओ' ऋजवः—अवक्रा मृदवः—अकठिनाः पीवरा—अकृशाः पुष्टा—मांसलाः संहताः—सुश्लिष्टा अङ्गुलयो यासां ता ऋजुमृदुकपीवरपुष्टसंहताङ्गुलयः 'उन्नयरतियतलिनतंबसुइनिद्धनखा' उन्नता—ऊर्द्धनता रतिदा—रमणीयास्तलिनाः—प्रतलास्ताम्रा—ईषद्रक्ताः शुचयः—पवित्राः स्निग्धाः—स्निग्धच्छाया नखा यासां ता उन्नतरतिदतलिनताम्रशुचिस्निग्धनखाः 'रोमरहियवट्टलट्ठसंठियअजहन्नपसत्थलक्खणजंघाजुयला' रोमरहितं वृत्तं—वर्तुलं लष्टसंस्थितं—मनोज्ञसंस्थानं क्रमेणोर्द्ध स्थूरस्थूरतरमिति भावः, अजघन्यप्रशस्तलक्षणं—जघन्यपदरहितशेषप्रशस्तलक्षणाङ्कितं जङ्घायुगलं यासां ता रोमरहितवृत्तलष्टसंस्थिताजघन्यप्रशस्तलक्षणजङ्घायुगलाः 'सुनिम्मियगूढजाणुमंडलसुवद्धा' सुष्ठु—अतिशयेन निर्मितः सुनिर्मितः एवं सुगूढं—मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणं जानुमण्डलं सुबद्धं—स्नायुभिरतीव बद्धं यासां ताः सुनिर्मितसुगूढजानुमण्डलसुबद्धाः, सुबद्धशब्दस्य निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् प्राकृतत्वाद्वा, 'कयलीखंभातिरेगसंठियनिव्वणसुकुमालमउयकोमलअइविमलसमसंहतसुजायवट्टपीवरनिरंतरोरू' कदलीस्तम्भाभ्यामतिरेकेण—अतिशायितया संस्थितं—संस्थानं ययोस्तौ कदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितौ निर्व्रणौ—विस्फोटकादिकृतक्षतरहितौ सुकुमारौ—अकर्कशौ मृदू—अकठिनौ कोमलौ—दृष्टिसुभगौ अतिविमलौ—सर्वथा स्वाभाविकागन्तुकमललेशेनाप्यकलङ्कितौ समसंहतौ—समप्रमाणौ सन्तौ संहतौ समसंहतौ सुजातौ—जन्मदोषरहितौ वृत्तौ—वर्तुलौ पीवरौ—मांसलौ निरन्तरौ—उपचितावयवतयाऽपान्तरालवर्जितौ ऊरू यासां ताः कदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितनिर्व्रणसुकुमारमृदुकोमलातिविमलसमसंहतसुजातवृत्तपीवरनिरन्तरोरवः 'पट्टसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणीओ' पट्टवत्—शिलापट्टकादि-

वत् संस्थिता पट्टसंस्थिता प्रशस्ता प्रशस्तलक्षणोपेतत्वाद् विस्तीर्णा ऊर्द्धाधः पृथुला दक्षिणोत्तरतः श्रोणिः—कटेरग्रभागो यासां ताः पट्टसंस्थितविस्तीर्णपृथुलश्रोणयः 'वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारणीओ' वदनस्य—मुखस्यायामप्रमाणं—द्वादशाङ्गुलानि तस्माद् द्विगुणितं—द्विगुणप्रमाणं सद् विशालं वदनायामप्रमाणद्विगुणितविशालं मांसलमप्युपचितं सुबद्धं—अतीव सुबद्धावयवं न तु श्लथमिति भावः जघनवरं—वरजघनं, वरशब्दस्य विशेषणस्यापि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात्, धारयन्तीत्येवंशीला वदनायामप्रमाणद्विगुणितविशालमांसलसुबद्धजघनवरधारिण्यः 'वज्जविराइयपसत्थलक्खणनिरोदरतिवलीविणीयतणुनमियमज्झियाओ' वज्रस्येव विराजितं वज्रविराजितं प्रशस्तानि लक्षणानि यत्र तत् प्रशस्तलक्षणं निरुदरं—विकृतोदररहितं त्रिवलीविनीतं—तिस्रो वलयो विनीता—विशेषतः प्रापिता यत्र तत् त्रिवलीविनीतं तनु—कृशं नतं तनुनतमीषन्नतमित्यर्थः मध्यं यासां ता वज्रविराजितप्रशस्तलक्षणनिरुदरत्रिवलीविनीततनुनतमध्यकाः 'उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणनिद्धआएज्जलडहसुविभत्तसुजायसोभंतरुइलरमणिज्जरोमराई' ऋजुका—न वक्रा समा—न काप्युद्दन्तुरा संहिता—सन्तता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना जात्या—प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न मर्कटवर्णा स्निग्धा—स्निग्धच्छाया आदेया—दर्शनपथप्राप्ता सन्ती उपादेया सुभगेति भावः, एतदेव समर्थयति—लटहा—सलवणिमाऽत एव आदेया सुविभक्ता—सुविभागा सुजाता—जन्मदोषरहिता अत एव शोभमाना रुचिरा—दीप्रा रमणीया—द्रष्टृमनोरमणशीला रोमराजिर्यासां ता ऋजुकसमसहितजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलटहसुविभक्तसुजातशोभमानरुचिररमणीयरोमराजयः 'गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियआकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा' इति पूर्ववत्, 'अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छीओ' अनुद्भटा—अनुल्बणा प्रशस्ता—प्रशस्तलक्षणा पीना कुक्षिर्यासां ता अनुद्भटप्रशस्तपीनकुक्षयः 'सन्नयपासा संगतपासा सुंदरपासा सुजायपासा मिय-

माइयपीणरइयपासा अकरंडयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलट्ठीओ' इति पूर्ववत्, 'कंचणकलससुप्पमाणसमसंहितसुजायलट्ठचूचुयआमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयरइयसंठियपओहराओ' काञ्चनकलशाविव काञ्चनकलशौ सुप्रमाणौ—स्वशरीरानुसारिप्रमाणोपेतौ समौ—नैको हीनो नैकोऽधिक इति भावः संहितौ—संततौ अपान्तरालरहिताविति भावः सुजातौ—जन्मदोषरहितौ लष्टौ—मनोज्ञौ चूचुक आमेलकः—आपीडकः शेखरो ययोस्तौ चूचुकापीडकौ 'जमलजुगले'ति यमलयुगलं—समश्रेणीकयुगलरूपौ वर्त्तिताविव वर्त्तितौ कठिनाविति भावः अभ्युन्नतौ—पत्युरभिमुखमुन्नतौ रतिदं—रतिकारि संस्थितं—संस्थानं ययोस्तौ रतिदसंस्थितौ पयोधरौ यासां ताः काञ्चनकलशसुप्रमाणसमसंहितसुजातलष्टचूचुकापीडयमलयुगलवर्त्तिताभ्युन्नतरतिदसंस्थितपयोधराः 'अणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहितनमियआएज्जललियबाहाओ' आनुपूर्व्येण—क्रमेण तनुकौ आनुपूर्व्यतनुकौ अत एव गोपुच्छवद् वृत्तौ—वर्त्तुलौ समौ—समप्रमाणौ संहितौ—स्वशरीरसंश्लिष्टौ नतौ स्कन्धदेशस्य नतत्वात् आदेयौ—अतिसुभगतयोपादेयौ ललितौ—मनोज्ञचेष्टाकलितौ बाहू यासां ता आनुपूर्व्यतनुगोपुच्छवृत्तसंहितनतादेयललितबाहवः 'तंबनहा' ताम्रा—ईषद्रक्ता नखाः—कररुहा यासां तास्ताम्रनखाः 'मंसलग्गहत्था' मांसलौ अग्रहस्तौ बाह्वग्रभागवर्त्तिनौ हस्तौ यासां ता मांसलाग्रहस्ताः 'पीवरकोमलवरंगुलीया' पीवरा—उपचिताः कोमलाः—सुकुमारा वराः—प्रमाणलक्षणोपेततया प्रधाना अङ्गुलयो यासां ताः पीवरकोमलवराङ्गुलिकाः 'निद्धपाणिरेहा' स्निग्धाः पाणौ रेखा यासां ताः तथा, 'रविससिसंखचक्कसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा' इति पूर्ववत् 'पीणुन्नयकक्खवक्खवत्थिप्पएसा' पीना—उपचितावयवा उन्नता—अभ्युन्नताः कक्षावक्षोवस्तिरूपाः प्रदेशा यासां ताः पीनोन्नतकक्षावक्षोवस्तिप्रदेशाः 'पडिपुण्णगलकवोला' प्रतिपूर्णौ गलकपोलौ च यासां तास्तथा 'चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा' पूर्ववत् 'मंसलसंठियपसत्थहणुया' मांसलम्

—उपचितमांसं संस्थितं—विशिष्टसंस्थानं प्रशस्तं—प्रशस्तलक्षणोपेतं हनुकं यासां ता मांसलसंस्थितप्रशस्तहनुकाः **'दाडिमपुप्फप्पगास-पीवरप्पवराहरा'** दाडिमपुष्पप्रकाशः पीवरः प्रवरः—सुभगोऽधरो यासां ता दाडिमपुष्पप्रकाशपीवरप्रवराधराः **'सुंदरोत्तरोट्ठा'** व्यक्तं **'दहिदगरयचंदकुंदवासंतियमउलधवलअच्छिद्दविमलदसणा'** दधि—प्रतीतं दकरज—उदककणाः चन्द्रः—प्रतीतः कुन्दः—कुसुमं वासन्तिकामुकुलं—वासन्तिकाकलिका तद्वद्धवला अच्छिद्राः—छिद्ररहिता विमला—मलरहिता दशना—दन्ता यासां ता दधिदकरजश्चन्द्रकुन्दवासन्तिकामुकुलधवलाच्छिद्रविमलदशनाः **'रत्तुप्पलपत्तमउयसूमालतालुजीहा'** रक्तोत्पलवद् रक्तं मृदु—अकठिनं सुकुमारं—अकर्कशं तालु जिह्वा च यासां ता रक्तोत्पलमृदुसुकुमारतालुजिह्वाः **'कणइरमुकुलअकुडियअब्भुग्गयउज्जुतुंगनासा'** कणयरा—अतिस्निग्धतया श्लक्ष्णश्लक्ष्णस्वेदकणाकीर्णा मुकुला—नासापुटद्वयस्यापि यथोक्तप्रमाणतया संवृत्ताकारतया च मुकुलाकारा अभ्युद्गता—अभ्युन्नता ऋजुका—सरला तुङ्गा—उच्चा नासा यासां तास्तथा, **'सारयनवकमलकुमुयकुवलयविमुक्कदलनिगरसरिसलक्खणंकियकंतनयणाओ'** शारदं—शरन्मासभावि यन्नवं—प्रत्यग्रं कमलं—पद्मं कुमुदं—कैरवं कुवलयं—नीलोत्पलं तैर्विमुक्तो यो दलनिकरस्तत्सदृशे, किमुक्तं भवति ?—एवं नामायतदीर्घे मनोहारिणी नयने यत् शारदान्नवात् कमलाद्वा कुमुदाद्वा कुवलयाद्वा उत्पद्य पत्रद्वयमिवावस्थितमाभातीति, लक्षणाङ्किते—प्रशस्तलक्षणोपेते नयने यासां ताः शारदनवकमलकुमुदकुवलयविमुक्तदलनिकरसदृशलक्षणाङ्कितनयनाः, एतदेव किञ्चिद्विशेषार्थमाह—**'पत्तलचपलायंततंबलोयणाओ'** पत्रले—पक्ष्मवती चपलायमाने ताम्रे—क्वचित्प्रदेशे ईषद्रक्ते लोचने यासां ताः पत्रलचपलायमानताम्रलोचनाः 'आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंठियसंगयआगयसुजायभुमया अल्लीणपमाणजुत्तसवणा' इति पूर्ववत्, **'पीणमट्ठरमणिज्जगंडलेहा'** पीना—उपचिता मृष्टा—मसृणा रमणीया—रम्या गण्डरेखा—कपोलपाली यासां ताः पीनमृष्टरमणीयगण्ड-

लेखा: **'चउरंसपसत्थसमनिडाला'** चतुरस्रं—चतुष्कोणं प्रशस्तं—प्रशस्तलक्षणोपेतं समं—ऊर्द्ध्वाधस्तया दक्षिणोत्तरतया च तुल्यप्रमाणं ललाटं यासां ताश्चतुरस्रप्रशस्तसमललाटा: **'कोमुईरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा'** कौमुदी—कार्त्तिकी पौर्णमासी तस्यां रजनिकर इव विमलं प्रतिपूर्णं सोमं च वदनं यासां ता: कौमुदीरजनिकरविमलप्रतिपूर्णसोमवदना:, सोमशब्दस्य परनिपात: प्राकृतत्वात्, **'छत्तुन्नयउत्तमंगाओ'** छत्रवन्मध्ये उन्नतमुत्तमाङ्गं यासां तारछत्रोन्नतोत्तमाङ्गा: **'कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरयाओ'** कुटिला: सुस्निग्धा दीर्घा: शिरोजा यासां ता: कुटिलसुस्निग्धदीर्घशिरोजा:, छत्रध्वजयूपस्तूपदामनीकमण्डलुकलशवापीसौवस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरमकरशुकस्थालाङ्कुशाष्टापदसुप्रतिष्ठकमयूरश्रीदामाभिषेकतोरणमेदिन्युदधिवरभवनगिरिवरादर्शललितगजवृषभसिंहचामररूपाणि उत्तमानि—प्रधानानि प्रशस्तानि—सामुद्रिकशास्त्रेषु प्रशंसास्पदीभूतानि द्वात्रिंशतं लक्षणानि धारयन्तीति छत्रचामरयावदुत्तमप्रशस्तद्वात्रिंशल्लक्षणधरा: **'हंससरिसगतीओ'** हंसस्य सदृशी गतिर्यासां ता हंससदृशगतय:, कोकिलाया इव या मधुरा गीस्तया सुस्वरा: कोकिलामधुरगी:सुस्वरा:, तथा कान्ता:—कमनीया:, तथा सर्वस्य—तत्प्रत्यासन्नवर्त्तिनो लोकस्यानुमता:—संमता न मनागपि द्वेष्या इति भाव:, व्यपगतवलिपलिता:, तथा व्यङ्गदुर्वर्णव्याधिदौर्भाग्यशोकमुक्ता:, स्वप्नेऽपि तेषामसम्भवात्, स्वभावत एव शृंगार:—शृङ्गाररूपश्चारु:—प्रधानो वेषो यासां ता: स्वभावशृङ्गारचारुवेषा:, तथा **'संगयगयहसियभणियचेट्ठियविलाससंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला'** सङ्गतं—सुश्लिष्टं यद् गतं—गमनं हंसीगमनवत् हसितं—हसनं कपोलविकासि प्रेमसंदर्शि च भणितं—भणनं गम्भीरं—मन्मथोद्दीपि च चेष्टितं—चेष्टनं सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपदर्शनादि विलासो—नेत्रविकार: संलाप:—पत्या सहासकामस्वहृदयप्रत्यर्पणक्षमं परस्परसंभाषणं निपुण:—परमनैपुण्योपेतो युक्तश्च य: शेष उपचारस्तत्र कुशला: संगतगतहसितभणितचेष्टितविलाससंलापनिपुणयुक्तोपचार-

कलिताः, एवंविधविशेषणाश्च स्वपतिं प्रति द्रष्टव्या न परपुरुषं प्रति, तथा क्षेत्रस्वाभाव्यतः प्रतनुकामतया परपुरुषं प्रति तासामभिलापासम्भवात्, पूर्वोक्तमेवार्थं संपिण्ड्याह—वरस्तनजघनवदनकरचरणनयनलावण्यवर्णयौवनविलासकलिता नन्दनवनचारिण्य इवाप्सरसः, **'अच्छेरपेच्छणिज्जा'** इति आश्चर्यप्रेक्षणीयाः **'पासाईयाओ'** इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ सम्प्रति स्त्रीपुंसविशेषमन्तरेण सामान्यतस्तत्रत्यमनुष्याणां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—**'ते णं मणुया ओहस्सरा'** इत्यादि, ते उत्तरकुरुनिवासिनो मनुष्या ओघः—प्रवाही स्वरो येषां ते ओघस्वराः, हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते हंसस्वराः, क्रौञ्चस्येवाप्रयासविनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते क्रौञ्चस्वराः, एवं सिंहस्वरा दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, नन्द्या इव घोषः—अनुनादो येषां ते नन्दीघोषाः, मञ्जुः—प्रियः स्वरो येषां ते मञ्जुस्वराः, मञ्जुर्घोषो येषां ते मञ्जुघोषाः, एतदेव पदद्वयेन व्याचष्टे—सुस्वराः सुस्वरनिर्घोषाः **'पउमुप्पलगंधसरिसनीससुरभिवयणा'** पद्मं—कमलमुत्पलं—नीलोत्पलं अथवा पद्मं—पद्मकाभिधानं गन्धद्रव्यं उत्पलम्—उत्पलकुष्ठं तयोर्गन्धेन—सौरभ्येण सदृशः-समो यो निःश्वासस्तेन सुरभिगन्धि वदनं—मुखं येषां ते पद्मोत्पलगन्धसदृशनिःश्वाससुरभिवदनाः, तथा छवी—छविमन्त उदात्तवर्णया सुकुमारया च त्वचा युक्ता इति भावः **'निरायंकउत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू'** निरातङ्का—नीरोगा उत्तमा—उत्तमलक्षणोपेता अतिशेषा—कर्म्मभूमकमनुष्यापेक्षयाऽतिशायिनी अत एव निरुपमा—उपमारहिता तनुः—शरीरं येषां ते निरातङ्कोत्तमप्रशस्तातिशेषनिरुपमतनवः, एतदेव सविशेषमाह—**'जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरनिरुवलेवा'** याति च लगति चेति जल्लः—पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः स्वल्पप्रयत्नापनेयः स चासौ मलश्च जल्लमलः स च कलङ्कं च—दुष्टतिलकादिकं चित्रादिकं वा स्वेदश्च—प्रस्वेदः रजश्च—रेणुर्दोषो—मालिन्यकारिणी चेष्टा तेन वर्जितं निरुपलेपं च—मूत्रविष्ठाद्युपलेपरहितं शरीरं येषां ते जल्लमलकलङ्कस्वेदरजोदोषवर्जित-

निरुपलेपशरीराः, सूत्रे च निरुपलेपशब्दस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, 'छायाउज्जोवियंगमंगा' छायया—शरीरप्रभया उद्द्योतितमङ्गमङ्गम्—अङ्गप्रत्यङ्गं येषां ते तथा, 'अनुलोमवाउवेगा' अनुलोमः—अनुकूलो वायुवेगः—शरीरान्तर्वर्तिवातजवो येषां ते अनुलोमवायुवेगाः, वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशा इति भावः, आह च मूलटीकाकारः—"उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां तेषामनुलोमो वायुवेगो न भवति, तदभावाच्च तेषामनुलोमो भवति वायुवेगो मिथुनाना"मिति, 'कङ्कग्गहणी' इति कङ्कः—पक्षिविशेषस्तस्येव ग्रहणिः—गुदाशयो नीरोगवर्चस्कतया येषां ते कङ्कग्रहणयः, 'कवोयपरिणामा' कपोतस्येव—पक्षिविशेषस्य परिणाम—आहारपाको येषां ते कपोतपरिणामाः, कपोतस्य हि जाठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति श्रुतिः, एवं तेषामप्यत्यर्गलाहारग्रहणेऽपि न जातुचिदप्यजीर्णदोषा भवन्तीति, 'सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया' इति शकुनेरिव—पक्षिण इव पुरीषोत्सर्गे निर्लेपतया 'पोसं'ति पोसः—अपानदेशः 'पुस उत्सर्गे' पुरीषमुत्सृजन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेः, तथा लघुपरिणामतया पृष्ठं च प्रतीतं अन्तरे च—पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वावित्यर्थः ऊरू चेति द्वन्द्वः ते परिणता येषां ते शकुनिपोसपृष्ठान्तरोरुपरिणताः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, 'विग्गहियउन्नयकुच्छी' विग्रहिता—मुष्टिग्राह्या उन्नता च कुक्षिर्येषां ते विग्रहितोन्नतकुक्षयः, वज्रर्षभनाराचं संहननं येषां ते वज्रर्षभनाराचसंहननाः, तथा समचतुरस्रं च तत् संस्थानं च समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थिताः समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः, षड्धनुःसहस्रोच्छ्रिताः—त्रिगव्यूतप्रमाणोच्छ्रयाः, तथा तेषामुत्तरकुरुवास्तव्यानां मनुष्याणां द्वे पृष्ठकरण्डकशते षट्पञ्चाशे—षट्पञ्चाशदधिके प्रज्ञप्ते तीर्थकरगणधरैः॥ 'ते णं मणुया' इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या मनुजाः प्रकृत्या—स्वभावेन भद्रकाः—अपरानुपतापहेतुकायवाङ्मनश्चेष्टाः, तथा प्रकृत्या—स्वभावेन न तु परोपदेशतः परेभ्यो भयतो वोपशान्ताः, तथा प्रकृत्या—स्वभावेन प्रतनवः—अतिमन्दीभूताः क्रोधमानमायालोभा येषां ते प्रकृ-

तिप्रतनुक्रोधमानमायालोभाः, अत एव मृदु—मनोज्ञं परिणामसुखावहमिति भावः यन्मार्दवं तेन संपन्ना मृदुमार्दवसंपन्ना न कपटमार्दवोपेताः 'अल्लीणा' इति आ—समन्तात्सर्वासु क्रियासु लीना—गुप्ता आलीना नोल्वणचेष्टाकारिण इत्यर्थः, भद्रकाः—सकलतत्क्षेत्रोचितकल्याणभागिनः विनीता—बृहत्पुरुषविनयकरणशीलाः अल्पेच्छा—मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिता अत एवासन्निधिसञ्चया—न विद्यते सन्निधिरूपः सञ्चयो येषां ते तथा, 'विडिमंतरपरिवसणा' विडिमान्तरेषु—शाखान्तरेषु प्रासादाद्याकृतिषु परिवसनं—आकालमावासो येषां ते विडिमान्तरपरिवसनाः 'जहिच्छियकामकामिणो' यथेप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान्—शब्दादीन् कामयन्त इत्येवंशीला यथेप्सितकामकामिनः, ते उत्तरकुरुवास्तव्या णमिति पूर्ववत् मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि णं भंते!' इत्यादि, तेषां भदन्त! उत्तरकुरुवास्तव्यानां मनुष्याणां 'केवइकालस्स'त्ति सप्तम्यर्थे षष्ठी कियति काले गते भूय आहारार्थः समुत्पद्यते?—आहारलक्षणं प्रयोजनमुपतिष्ठते?, भगवानाह—गौतम! 'अट्ठमभत्तस्स' अत्रापि सप्तम्यर्थे षष्ठी अष्टमभक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः समुत्पद्यते ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या भदन्त! मनुष्याः किमाहारमाहारयन्ति?, भगवानाह—गौतम! पृथिवीपुष्पफलाहाराः—पृथिवीपुष्पफलानि च कल्पद्रुमाणामाहारो येषां ते तथा ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि णं भंते' इत्यादि, तस्या भदन्त! पृथिव्याः कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! 'से जहा नामए' इत्यादि, तत्—लोके प्रसिद्धं यथा नाम 'ए' इति वाक्यालङ्कारेऽखण्डमिति वा, इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दो विकल्पने, एवं सर्वत्र, गुड इति वा शर्करा इति वा, इयं शर्करा काशादिप्रभवा द्रष्टव्या, मत्स्यण्डिका इति वा, मत्स्यण्डी—खण्डशर्करा, पर्पटमोदक इति वा विसकन्द इति वा पुष्पोत्तरेति वा पद्मोत्तरेति वा विजया इति वा महाविजया इति वा उपमा इति वा अनुपमा इति वा, पर्प-

टमोदकादयः खाद्यविशेषा लोकतः प्रत्येतव्याः, 'चाउरक्के वा गोखीरे' इत्यादि वा, चातुरक्यं-चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तं, तच्चैवं-गवां पुण्ड्रदेशोद्भवेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां कृष्णानां यत्क्षीरं तदन्यान्याभ्यः कृष्णगोभ्य एव यथोक्तगुणाभ्यः पानं दीयते, तत्क्षीरमप्येवंभूताभ्योऽन्याभ्यस्तत्क्षीरमप्यन्याभ्य इति चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तं, एवंभूतं यच्चातुरक्यं गोक्षीरं खण्डगुडमत्स्यण्डिकोपनीतं-खण्डगुडमत्स्यण्डिका उपनीता यत्र तत्तथा, सुखादिदर्शनान्निष्ठान्तस्य परनिपातः, खण्डादिभिः सुरसतां प्रापितमिति भावः, 'मंदग्गिकढिए' मन्दमग्निना कथितं मन्दाग्निकथितम्, अत्यग्निकथितं हि विरसं विगन्धादि च भवतीति मन्दग्रहणं, वर्णाद्यतिशयप्रतिपादनार्थमेवाह-वर्णेन-सामर्थ्यादतिशायिना अन्यथा वर्णोपादानैनैरर्थक्यापत्तेः उपपेतं-युक्तं, एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन चातिशायिनोपपेतं, एवमुक्ते गौतम आह-भगवन्! भवेदेतद्रूपः पृथिव्या आस्वादः?, भगवानाह-गौतम! नायमर्थः समर्थः, तस्याः पृथिव्या इतो-गुडखण्डशर्करादेरिष्टतर एव, यावत्करणात् 'कंततराए चेव पियतराए चेव मणामतराए चेवे'ति परिग्रहः, आस्वादः प्रज्ञप्तः ॥ पुष्पफलादीनामास्वादनं पृच्छन्नाह-'तेसि णं भंते! पुप्फफलाणं' मित्यादि, तेषां कल्पपादपसत्कानां पुष्पफलानां कीदृश आस्वादः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह-गौतम! 'से जहा नामए' इत्यादि तद्यथा नाम राज्ञः, स च राजा लोके कतिपयदेशाधिपतिरपि प्राप्यते तत आह-चतुरन्तचक्रवर्त्तिनः-चतुर्षु अन्तेषु त्रिसमुद्रहिमवत्परिच्छिन्नेषु चक्रेण वर्त्तितुं शीलं यस्यासौ चक्रवर्त्ती तस्य कल्याणं-एकान्तसुखावहं भोजनं शतसहस्रनिष्पन्नं-लक्षनिष्पन्नं वर्णेनातिशायिनेति गम्यते, एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेतं, आस्वादनीयं सामान्येन विस्वादनीयं विशेषतस्तद्रसप्रकर्षमधिकृत्य दीपनीयमग्निवृद्धिकरं, दीपयति हि जाठराग्निमिति दीपनीयं, बाहुलकात्कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः, एवं दर्प्पणीयमुत्साहवृद्धिहेतुत्वात्, मदनीयं मन्मथजननात्, बृंहणीयं धातूपचयकारित्वात्, सर्वाणीन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति स-

र्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयं, वैशद्येन तत्प्रह्लादहेतुत्वात्, एवमुक्ते गौतम आह—भगवन्! भवेदेतद्रूप: पुष्पफलानामास्वाद: ?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थ: समर्थ:, तेषां पुष्पफलानामितश्चक्रवर्त्तिभोजनादिष्टतरादिरेवास्वाद: प्रज्ञप्त: ॥ 'ते णं भंते!' इत्यादि, ते भदन्त! मनुजास्तं—अनन्तरोदितस्वरूपमाहारमाहार्य 'क्व वसतौ' कस्मिन्नुपाश्रये 'उपयान्ति ?' उपगच्छन्ति, भगवानाह—गौतम! 'वृक्षगृहालया:' वृक्षरूपाणि गृहाणि आलया—आश्रया येषां ते वृक्षगृहालयास्ते मनुजा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'ते णं भंते' इत्यादि, ते भदन्त! वृक्षा: 'किंसंस्थिता:' किमवसंस्थिता: प्रज्ञप्ता: ?, भगवानाह—गौतम! अप्येकका: कूटाकारसंस्थिता: शिखराकारसंस्थिता इत्यर्थ: अप्येकका: प्रेक्षागृहसंस्थिता: अप्येककाश्छत्रसंस्थिता: अप्येकका ध्वजसंस्थिता: अप्येकका: स्तूपसंस्थिता: अप्येककास्तोरणसंस्थिता: अप्येकका गोपुरसंस्थिता:, गोभि: पूर्यत इति गोपुरं—पुरद्वारं, अप्येकका वेदिकासंस्थानसंस्थिता:, वेदिका—उपवेशनयोग्या भूमि:, अप्येककाश्चोप्पालसंस्थिता इत्यर्थ:, चोप्पालं नाम मत्तवारणं, अप्येकका अट्टालकसंस्थिता: अट्टालक:—प्राकारस्योपर्याश्रयविशेष:, अप्येकका वीथीसंस्थिता: वीथी—मार्ग:, अप्येकका: प्रासादसंस्थिता:, राज्ञां देवतानां च भवनानि प्रासादा: उत्सेधबहुला वा प्रासादास्ते चोभयेऽपि पर्यन्तशिखरा:, हर्म्य—शिखररहितं धनवतां भवनं, अप्येकका गवाक्षसंस्थिता:, गवाक्षो—वातायनं, अप्येकका वालाग्रपोतिकासंस्थिता:, वालाग्रपोतिका नाम तडागादिषु जलस्योपरि प्रासाद:, अप्येकका वलभीसंस्थिता:, वलभी—गृहाणामाच्छादनं, अप्येकका वरभवनविशिष्टसंस्थानसंस्थिता:, वरभवनं सामान्यतो विशिष्टं गृहं तस्यैव यद् विशिष्टं संस्थानं तेन संस्थिता:, शुभा शीतला च छाया येषां ते शुभशीतलच्छायास्ते द्रुमगणा: प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु गृहाणि वाऽस्मद्गृहकल्पानि गृहायतनानि—तेषु गृहेषु तेषां मनुष्याणामायतनानि—गमनानि गृहायतनानि ?,

भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, वृक्षगृहालयास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु ग्रामा इति वा यावत्सन्निवेशा इति वा, यावत्करणान्नगरादिपरिग्रहः, तत्र ग्रसन्ति बुद्ध्यादीन् गुणानिति यदिवा गम्याः—शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां कराणामिति ग्रामाः, न विद्यते करो येषु तानि नकराणि, नखादय इति निपातनान्नञोऽनादेशाभावः, निगमाः—प्रभूतवणिग्वर्गावासाः, पांशुप्राकारनिबद्धानि खेटानि, क्षुल्लप्राकारवेष्टितानि कर्बटानि, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितानि मडम्बानि, 'पट्टणाइ वे'ति पट्टनानि पत्तनानि वा, उभयत्रापि प्राकृतत्वेन निर्देशस्य समानत्वात्, तत्र यन्नौभिरेव गम्यं तत्पट्टनं, यत्पुनः शकटैर्घोटकैर्नौभिश्च गम्यं तत्पत्तनं यथा भरुकच्छं, उक्तं च—"पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च। नौभिरेव तु यद्गम्यं, पट्टनं तत्प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥" द्रोणमुखानि—बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशानि, आकरा—हिरण्याकरादयः, आश्रमाः—तापसावसथोपलक्षिता आश्रयाः, संवाधा—यात्रासमागतप्रभूतजननिवेशाः, राजधान्यो यत्र नकरे पत्तनेऽन्यत्र वा स्वयं राजा वसति, सन्निवेशा इति—सन्निवेशो यत्र सार्थादिरावासितः, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, यद्—यस्मान्नेच्छितकामगामिनः—न इच्छितं—इच्छाविषयीकृतं नेच्छितं, नायं नञ् किन्तु नशब्द इत्यत्रा(ना)देशाभावो यथा 'नैके द्वेपस्य पर्याया' इत्यत्र, नेच्छितं—इच्छाया अविषयीकृतं कामं—स्वेच्छया गच्छन्तीत्येवंशीला नेच्छितकामगामिनस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु 'असयः' अस्युपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः, मषीति वा मष्युपलक्षिता लेखनजीविनः, कृषिरिति कृषिकर्मोपजीविनः, 'पणी'ति पणितं पण्यमिति वा क्रयविक्रयोपजीविनः, वाणिज्यमिति वाणिज्यकलोपजीविनः?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगतासिमषीकृषिपण्यवाणिज्यास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते'

इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु हिरण्यमिति वा—हिरण्यं—अघटितं सुवर्णं कांस्यं—कांस्यभाजनजातिः 'दूस'मिति वा दूष्यं वस्त्रजातिः, मणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालसत्सारस्वापतेयानि वा, तत्र मणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालानि प्रतीतानि सद्—विद्यमानं सारं—प्रधानं स्वापतेयं—धनं सत्सारस्वापतेयं, भगवानाह—हन्ता! अस्ति, 'नो चेव ण'मित्यादि, न पुनस्तेषां मनुजानां तद्विषयस्तीव्रो ममत्वभावः समुत्पद्यते, मन्दरागादितया विशुद्धाशयत्वात् ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु राजेति वा राजा—चक्रवर्त्ती बलदेववासुदेवो महामाण्डलिको वा युवराज इति वा—उत्थिताशनः ईश्वरो—भोगिकादि, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके, तलवर इति वा, तलवरो नाम परितुष्टनरपतिप्रदत्तरत्नालङ्कृतसौवर्णपट्टविभूषितशिराः, कौटुम्बिक इति वा, कतिपयकुटुम्बप्रभुः कौटुम्बिकः, माडम्बिक इति वा, यस्य प्रत्यासन्नं ग्रामनगरादिकमपरं नास्ति तत्सर्वतश्छिन्नं जनाश्रयविशेषरूपं मडम्बं तस्याधिपतिर्माडम्बिकः, इभ्य इति वा, इभो—हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीभ्यः, यत्सत्कपुञ्जीकृतहिरण्यरत्नादिद्रव्येणान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इत्यर्थः, श्रेष्ठीति वा श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गः पुरज्येष्ठो वणिग्विशेषः श्रेष्ठी, सेनापतिरिति वा हस्त्यश्वरथपदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रभुः सेनापतिः, सार्थवाह इति वा, "[1]गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छेज्जं चेव दव्वजायं तु। घेत्तूणं लाभत्थं वच्चइ जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥ निववहुमओ पसिद्धो दीणाणाहाण वच्छलो पंथे। सो सत्थवाहनामं धणो व्व लोए समुव्वहइ ॥ २ ॥" एतल्लक्षणयुक्तः सार्थवाहः, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगतर्द्धिसत्कारा—

---

१ गणिमं धरिमं मेयं परिच्छेद्यं चैव द्रव्यजातं तु। गृहीत्वा लाभार्थं व्रजति योऽन्यदेशं तु ॥ १ ॥ नृपबहुमतः प्रसिद्धो दीनानाथाना वत्सल. पथि। स सार्थवाहनाम धन इव लोके समुद्वहति ॥ २ ॥

व्यपगता ऋद्धिः—विभवैश्वर्यं सत्कारश्च—सेव्यतालक्षणो येभ्यस्ते तथा उत्तरकुरुवास्तव्या मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! । 'अत्थि णं भंते', इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु दास इति वा, दासः—आमरणं क्रयक्रीतः, प्रेष्य इति वा, प्रेष्यः—प्रेषणयोग्यः, शिष्य इति वा, शिष्यः—उपाध्यायस्योपासकः, भृतक इति वा, भृतको—नियतकालमधिकृत्य वेतनेन कर्म्मकरणाय धृतः, 'भागिल्लए'ति वा भागिक इति वा, भागिको नाम द्वितीयांशस्य चतुर्थांशस्य वा ग्राहकः, कर्मकारपुरुष इति वा, कर्म्मकारो लोहारादिः कर्म्मकारः?, भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थो, व्यपगताभियोग्यास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः, अभिमुखं कर्म्मसु युज्यते व्यापार्यत इति वाऽभियोग्यस्तस्य भावः कर्म्म वा आभियोग्यं, 'व्यञ्जनाद् यपंचमस्य सरूपे वा' इत्येकस्य यकारस्य लोपः, व्यपगतमाभियोग्यं येभ्यस्ते तथा हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु मातेति वा पितेति वा भ्रातेति वा भगिनीति वा भार्येति वा सुत इति वा दुहितेति वा स्नुषेति वा?, तत्र माता—जननी पिता—जनकः सहोदरो—भ्राता सहोदरी—भगिनी वधूः—भार्या सुतः—पुत्रः सुता—दुहिता पुत्रवधूः—स्नुषा, भगवानाह—हन्त! अस्ति, तथाहि—या प्रसूते सा जननी, यो वीजं निषिक्तवान् स पिता विवक्षितः पुरुषः, सहजातो यो भ्राता एकमातृपितृकत्वात्, इतरा तस्य भगिनी, भोग्यत्वाद् भार्या, स्वमातापित्रोः स पुत्र इतरा दुहिता, स्वपुत्रभोग्यत्वात्स्नुषेति, 'नो चेव ण'मित्यादि, न पुनस्तेषां मनुजानां तीव्रं प्रेमरूपं वन्धनं समुत्पद्यते, तथा क्षेत्रस्वाभाव्यात् प्रतनुप्रेमवन्धनास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु अरिरिति वा—शत्रुः वैरीति वा—जातिनिवद्धवैरोपेतः, घातक इति वा, घातको योऽन्येन घातयति, वधक इति वा, वधकः—स्वयं हन्ता, प्रत्यनीक इति वा, प्रत्यनीकः—छिद्रान्वेषी, प्रत्यमित्र इति वा, प्रत्यमित्रो यः पूर्वं मित्रं भूत्वा पश्चाद्-

मित्रो जातः?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतवैरानुबन्धास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु मित्रमिति वा मित्रं—स्नेहविषयः, वयस्य इति वा—समानवया गाढतरस्नेहविषयः, सखा इति वा—समानखादनपानो गाढतमस्नेहस्थानं, सुहृदिति वा, सुहृत्—मित्रमेव सकलकालमव्यभिचारि हितोपदेशदायि च, साङ्गतिक इति वा, साङ्गतिकः—सङ्गतिमात्रघटितः?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतस्नेहानुरागास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु 'आवाहा इति वा' आहूयन्ते स्वजनास्ताम्बूलदानाय यत्र स आवाहः—विवाहात्पूर्वस्ताम्बूलदानोत्सवः, वीवाहा इति वा, वीवाहः—परिणयनं, यज्ञा इति वा, यज्ञाः—प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजाः, श्राद्धानीति वा, श्राद्धं—पितृक्रिया, स्थालीपाका इति वा, स्थालीपाकः—प्रतीतः, मृतपिण्डनिवेदनानीति वा—मृतेभ्यः श्मशाने तृतीयनवमादिषु दिनेषु पिण्डनिवेदनानि मृतपिण्डनिवेदनानि, चूडोपनयनानीति वा, चूडोपनयनं—शिरोमुण्डनं, सीमन्तोन्नयनानीति वा, सीमन्तोन्नयनं—गर्भस्थापनं?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतावाहवीवाहयज्ञश्राद्धस्थालीपाकमृतपिण्डनिवेदनास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु नटप्रेक्षेति वा नटा—नाटकानां नाटयितारस्तेषां प्रेक्षा नटप्रेक्षा, नृत्यप्रेक्षेति वा, नृत्यन्ति स्म नृत्या—नृत्यविधायिनस्तेषां प्रेक्षा नृत्यप्रेक्षा इति वा, जल्लप्रेक्षेति वा, जल्ला—वरत्राखेलका राजस्तोत्रपाठका इत्यपरे तेषां प्रेक्षा जल्लप्रेक्षा, मल्लप्रेक्षेति वा, मल्लाः—प्रतीताः, मौष्टिकप्रेक्षेति वा, मौष्टिकाः मल्लविशेषा एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति, विडम्बकप्रेक्षेति वा, विडम्बका—विदूषका नानावेषकारिण इत्यर्थः, कथकप्रेक्षेति वा, कथकाः प्रतीताः, प्लवकप्रेक्षेति वा, प्लवका ये उत्प्लुत्य गर्त्तादिकं झम्पाभिर्लङ्घयन्ति नद्यादिकं वा तरन्ति तेषां प्रेक्षा प्लवकप्रेक्षा, लासकप्रेक्षेति वा, लासका ये रास-

कान् गायन्ति जयशब्दप्रयोक्तारो वा भाण्डास्तेषां प्रेक्षा लासकप्रेक्षा, आख्यायकप्रेक्षेति वा ये शुभाशुभमाख्यान्ति ते आख्यायकास्तेषां प्रेक्षा आख्यायकप्रेक्षा, लङ्खप्रेक्षेति वा, लङ्खा ये महावंशाग्रमारुह्य नृत्यन्ति तेषां प्रेक्षा लङ्खप्रेक्षा, मङ्खप्रेक्षेति वा, ये चित्रपट्टिकादि-हस्ता भिक्षां चरन्ति ते मङ्खास्तेषां प्रेक्षा मङ्खप्रेक्षा, 'तूणइल्लपेच्छाइ वा' इति तूणइल्ला—तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तस्तेषां प्रेक्षा तूणइ-ल्लप्रेक्षा, तुम्ववीणाप्रेक्षेति वा, तुम्वयुक्ता वीणा येषां ते तुम्ववीणाः—तुम्ववीणावादकास्तेषां प्रेक्षा, 'कावपिच्छाइ वे'ति कावाः—काव-डिवाहका तेषां प्रेक्षा, मागधप्रेक्षेति वा, मागधा—वन्दिभूतास्तेषां प्रेक्षा मागधप्रेक्षेति वा ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपग-तकौतुकास्ते मनुजगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु इन्द्रमह इति वा, इन्द्रः—शक्रस्तस्य महः—प्रतिनियतदिवसभावी उत्सवः, स्कन्दमह इति वा, स्कन्दः—कार्त्तिकेयः, रुद्रमह इति वा, रुद्रः प्रतीतः, शिवमह इति वा, शिवो—देवताविशेषः, वैश्रमणमह इति वा, वैश्रमणः—उत्तरदिग्लोकपालः, नागमह इति वा, नागो—भवनपतिविशेषः, यक्षमह इति वा भूतमह इति वा, यक्षभूतौ—व्यन्तरविशेषौ, मकुन्दमह इति वा, मकुन्दो—वलदेवः, कूपमह इति वा तडाकमह इति वा नदीमह इति वा ह्रदमह इति वा पर्वतमह इति वा वृक्षमह इति वा चैत्यमह इति वा स्तूपमह इति वा ?, कूपादयः प्रतीताः, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतमहमहिमास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु शकटानीति वा, शकटानि—प्रतीतानि, रथा वा, रथा द्विविधा—यानरथाः सङ्ग्रामरथाश्च, तत्र सङ्ग्रामरथस्य प्राकारानुकारिणी फलकमयी वेदिकाऽपरस्य तु न भवतीति विशेषः, यानानीति वा, यानं—गब्‍यादि, युग्यानीति वा, युग्यं—गोल्लविषयप्रसिद्धं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रवेदिकोपशोभितं जम्पानं, गिल्लय इति वा, गिल्लिर्हस्तिन उपरि कोल्लररूपा या मानुषं गिलतीव, थिल्लय इति वा,

लाटानां यद् अङ्गपल्लाणं रूढं तदन्यविषये थिल्लिरित्युच्यते, शिबिका इति वा, शिबिका—कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः, सन्दमाणिया इति वा, सन्दमाणिया—पुरुषप्रमाणो जम्पानविशेषः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, पादविहारचारिणस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! अश्वा इति वा हस्तिन इति वा उष्ट्रा इति वा गाव इति वा महिषा इति वा खरा इति वा घोटका इति वा ?, इह जात्या आशुगमनशीला अश्वाः शेषा घोटकाः, खरा—गर्दभाः, अजा इति वा एडका इति वा ?, भगवानाह—हन्त ! सन्ति, न पुनस्तेषां मनुजानां परिभोग्यतया 'हव्वं' शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु गाव इति वा, गावः—स्त्रीगव्यः, महिष्य इति वा उष्ट्र्य इति वा अजा इति वा एडका इति वा ?, हन्त ! सन्ति, न पुनस्तेषां मनुष्याणामुपभोग्यतया हव्वं शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु सिंहा इति वा, सिंहः—पञ्चाननः, व्याघ्रा इति वा, व्याघ्रः—शार्दूलः, वृका इति वा, द्वीपिका इति वा द्वीपिकाः—चित्रकाः, ऋक्षा इति वा, परस्सरा इति वा, परस्सरो—गण्डः, शृगाला इति वा, बिडाला इति वा, शुनका इति वा, कालशुनका इति वा, कोकन्तिका इति वा, कोकन्तिका—लुङ्कडिकाः, शशका इति वा, चिल्लला इति वा, चिल्लल—आरण्यकः पशुविशेषः ?, भगवानाह—हन्त ! सन्ति, न पुनस्ते परस्परस्या तेषां वा मनुजानां काञ्चिदाबाधां वा प्रबाधां वा छविच्छेदं वा कुर्वन्ति, प्रकृतिभद्रकास्ते श्वापदगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु शालय इति वा व्रीहय इति वा गोधूमा इति वा यवा इति वा तिला इति वा इक्षव इति वा ?, हन्त ! सन्ति न पुनस्तेषां मनुष्याणां परिभोग्यतया 'हव्वं' शीघ्रमागच्छन्ति ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु स्थाणुरिति वा कण्टक इति वा हीरमिति वा, हीरं—लघु कुत्सितं तृणं, शर्करेति वा, शर्करा—कर्क-

रकः, तृणकचवर इति वा पत्रकचवर इति वा अशुचीति वा, अशुचि—विगन्धं शरीरमलादि, पूतीति वा, पूति—कुथितं स्वस्वभावचलितं त्रिवासरवटकादिवत्, दुरभिगन्धमिति वा, दुरभिगन्धं मृतकलेवरादिवत्, अचोक्षं—अपवित्रमस्थ्यादिवत् ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतस्थाणुकण्टकहीरशर्करातृणकचवरपत्रकचवराशुचिपूतिदुरभिगन्धाचोक्षपरिवर्जिता उत्तरकुरव. प्रज्ञप्ताः हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, अस्ति भदन्त! उत्तरकुरुपु कुरुपु, गर्त्तेति वा, गर्त्ता—महती खड्डा, दरीति वा, दरी—मूषिकादिकृता लध्वी खड्डा, घसीति वा, घसी—भूराजिः, भृगुरिति वा, भृगुः—प्रपातस्थानं, विषममिति वा, विषमं—दुरारोहावरोहस्थानं, धूलिरिति वा पङ्क इति वा, धूलीपङ्कौ प्रतीतौ, चलणीति वा, चलनी—चरणमात्रस्पर्शी कर्दमः ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थः, उत्तरकुरुपु कुरुपु बहुसमरमणीयो भूभागः प्रज्ञप्तो हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! दंसा इति वा मसका इति वा ढङ्कुणा इति वा, क्वचित् पिशुगा इति वा इति पाठस्तत्र पिशुकाः—चंचटादयः, यूका इति वा लिक्षा इति वा ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतोपद्रवाः खलु उत्तरकुरवः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुपु कुरुपु अहय इति वा अजगरा इति वा महोरगा इति वा ?, हन्त! सन्ति न पुनस्तेऽन्योऽन्यस्य तेषां वा मनुजानां काञ्चिदाबाधां व्याबाधां वा छविच्छेदं वा कुर्वन्ति, प्रकृतिभद्रकास्ते व्यालकगणाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति (भदन्त)! उत्तरकुरुपु कुरुपु ग्रहदण्डा इति वा, दण्डाकारव्यत्रस्थिता ग्रहा ग्रहदण्डाः ते चानर्थोपनिपातहेतुतया प्रतिषेध्या न स्वरूपतः, एवं ग्रहमुशलानीति वा, ग्रहगर्जितानि—ग्रहचारहेतुकानि गर्जितानि, इमानि स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्यानि, ग्रहयुद्धानीति वा, ग्रहयुद्धं नाम यदेको ग्रहोऽन्यस्य ग्रहस्य मध्येन याति, ग्रहसङ्घाटका इति वा, ग्रहसङ्घाटको नाम ग्रहयुग्मं, ग्रहापसव्यानीति वा

अभ्राणीति वा, अभ्राणि—सामान्याकारेण प्रतीतानि, अभ्रवृक्षा इति वा, अभ्रवृक्षा—वृक्षाकारपरिणतान्यभ्राणि, सन्ध्या इति वा सन्ध्याकाले नीलाद्यभ्रपरिणतिरूपा प्रतीतैव, गन्धर्वनगराणि—सुरसदनप्रासादोपशोभितनगराकारतया तथाविधनभःपरिणतपुद्गलराशिरूपाणि, एतान्यपि तत्र स्वरूपतोऽपि न भवन्ति, गर्जितानीति वा विद्युत इति वा, गर्जितानि विद्युतश्च प्रतीताः, उल्कापाता इति वा, उल्कापाता—व्योम्नि संमूर्च्छितज्वलननिपतनरूपाः, दिग्दाह इति वा, दिग्दाहा—अन्यतरस्यां दिशि छिन्नमूलज्वलनज्वालाकरालिताम्बरप्रतिभासरूपाः, निर्घाता इति वा, निर्घातो—विद्युत्प्रपातः, पांशुवृष्टय इति वा, पांशुवृष्टयो—धूलिवर्षाणि, यूपका इति वा, यूपकाः 'संझाछेयावरणो य' इत्यादिनाऽऽवश्यकग्रन्थेन प्रतिपत्तव्याः, यक्षदीप्तकानीति वा, यक्षदीप्तकानि नाम नभसि दृश्यमानाग्निसहितः पिशाचः, धूमिकेति वा रूक्षा प्रविरला धूमाभा धूमिका, महिकेति वा, स्निग्धा घना घनत्वादेव भूमौ पतिता सार्द्रतृणादिदर्शनद्वारेणोपलक्ष्यमाणा महिका, रजउद्घाता—रजस्वला दिशः, चन्द्रोपरागा इति वा सूर्योपरागा इति वा, चन्द्रोपरागः—चन्द्रग्रहणं सूर्योपरागः—सूर्यग्रहणं, इह गर्जितविद्युदुल्कादिग्दाहनिर्घातपांशुवृष्टियूपकयक्षदीप्तकधूमिकामहिकारजउद्घाताः स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, चन्द्रसूर्यग्रहणे त्वनर्थोपनिपातहेतुतया, स्वरूपतस्तयोः प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्, जम्बूद्वीपगतौ हि चन्द्रौ सूर्यौ वा तत्प्रकाशयतः, एकस्य चन्द्रस्य ग्रहणे सकलमनुष्यलोकवर्त्तिनां चन्द्राणामेकस्य सूर्यस्य ग्रहणे सकलमनुष्यलोकवर्त्तिनां सूर्याणां ग्रहणमत इह क्षेत्र इव तत्रापि स्वरूपतश्चन्द्रसूर्योपरागप्रतिषेधासम्भवः, चन्द्रपरिवेषा इति वा सूर्यपरिवेषा इति वा, चन्द्रसूर्यपरिवेषाश्चन्द्रादित्ययोः परितो वलयाकारपरिणतिरूपाः प्रतीता एव, प्रतिचन्द्रा इति वा प्रतिसूर्या इति वा, प्रतिचन्द्र—उत्पातादिसूचको द्वितीयश्चन्द्रः, एवं द्वितीयः सूर्यः प्रतिसूर्यः, इन्द्रधनुरिति वा उदकमत्स्य इति वा, इन्द्रधनुः—प्रतीतं, तस्यैव खण्डमुदकमत्स्यः, कपिहसितानीति वा, कपिहसितानि—अकस्मा-

भसि ज्वलद्भीमशब्दरूपाणि, अमोघा इति वा, अमोघाः—सूर्यविम्वस्याधः कदाचिदुपलभ्यमानशकटोद्धिसंस्थिता श्यामादिरेखा, एते चन्द्रपरिवेषादयः स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, प्राचीनवाता इति वा अपाचीनवाता इति वा यावत् शुद्धवाता इति वा, यावत्करणाद् क्षिणवातादिपरिग्रहः, एतेऽसुखहेतवो विकृतरूपाः प्रतिषेध्याः नतु सामान्येन, पूर्वादिवातस्य तत्रापि सम्भवात्, ग्रामदाहा इति वा यावत्करणाद् नकरदाहा इति यावत्संनिवेशदाहा इति, यावत्करणान्निगमदाहखेटदाहादिपरिग्रहः, दाहकृतश्च प्राणक्षय इति वा भूतक्षय इति वा कुलक्षय इति वा, एते स्वरूपतोऽपि प्रतिषेध्याः, तथा चाह भगवान्—गौतम! नायमर्थः समर्थः, केषाञ्चिदनर्थहेतुतया केषाञ्चित्स्वरूपतश्च तत्र तेषामसम्भवात् ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु डिम्बानीति वा, डिम्बानि—स्वदेशोत्था विप्लवाः, डमराणीति वा, डमराणि—परराजकृता उपद्रवाः, कलहा इति वा, कलहा—वाग्युद्धानि, वोला इति वा, बोलः—आर्त्तानां बहूनां कलकलपूर्वको मेलापकः, क्षार इति वा, क्षारः—परस्परं मात्सर्यं, वैराणीति वा, वैरं—परस्परमसहनतया हिंस्यहिंसकभावाध्यवसायः, महायुद्धानीति वा, महायुद्धं—परस्परं मार्यमाणमारकतया युद्धं, महासङ्ग्रामा इति वा, महासन्नाहा इति वा, महासङ्ग्रामश्चेटिककोणिकवत्, महासन्नाहो—बृहत्पुरुषाणामपि बहूनां यः सन्नाहः, महापुरुषनिपतनानीति वा, प्रतीतं, महाशस्त्रनिपतनानीति वा, महाशस्त्रनिपतनं—यन्नागवाणादीनां दिव्यास्त्राणां प्रक्षेपणं, नागवाणादयो हि बाणा महाशस्त्राणि, तेषामद्भुतविचित्रशक्तिकत्वात्, तथाहि नागवाणा धनुष्यारोपिता वाणाकारा मुक्ताश्च सन्तो जाज्वल्यमानासद्योल्कादण्डरूपास्ततः परशरीरे सङ्क्रान्ता नागमूर्तीभूय पाशत्वमुपगच्छन्ति, तामसबाणाश्च पर्यन्ते सकलसङ्ग्रामभूमिव्यापिमहान्धतमसरूपतया परिणमन्ते, उक्तञ्च—"चित्रं श्रेणिक! ते बाणा, भवन्ति धनुराश्रिताः। उल्कारूपाश्च गच्छन्तः, शरीरे नागमूर्त्तयः ॥ १ ॥ क्षणं बाणाः क्षणं दण्डाः, क्षणं पाशत्वमागताः।

आकरा ग्रसभेदास्ते, यथाचिन्तितमूर्त्तय: ॥ २ ॥" इत्यादि, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतडिम्बडमरकलहबोलक्षारवैरास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'अत्थि णं भंते' इत्यादि, सन्ति भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु दुर्भूतानीति वा, दुर्भूतं—अशिवं, कुलरोगा इति वा मण्डलरोगा इति वा शिरोवेदनेति वा अक्षिवेदनेति वा कर्णवेदनेति वा नखवेदनेति वा दन्तवेदनेति वा काश इति वा श्वास इति वा शोष इति वा ज्वर इति वा दाह इति वा कच्छूरिति वा खसर इति वा कुष्ठमिति वा अर्शं इति वा अजीर्णमिति वा भगन्दर इति वा इन्द्रग्रह इति वा स्कन्धग्रह इति वा कुमारग्रह इति वा नागग्रह इति वा यक्षग्रह इति वा भूतग्रह इति वा धनुर्ग्रह इति वा उद्वेग इति वा एकाहिका इति वा द्व्याहिका इति वा त्र्याहिका इति वा चतुर्थका इति वा हृदयशूलानीति वा मस्तकशूलानीति वा पार्श्वशूलानीति वा कुक्षिशूलानीति वा योनिशूलानीति वा ग्राममारिरिति वा नकरमारिरिति वा निगममारिरिति वा यावत्सन्निवेशमारिरिति वा, यावत्करणात् खेडकर्बटादिपरिग्रहः, मारिकृतप्राणिक्षय इति वा जनक्षय इति वा धनक्षय इति वा कुलक्षय इति वा व्यसनभूतमनार्यतेति वा ?, भगवानाह—नायमर्थः समर्थो, व्यपगतरोगातङ्कास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'तेसि ण' मित्यादि, तेषामुत्तरकुरुवास्तव्यानां भदन्त! मनुष्याणां कियन्तं कालं स्थितिः—अवस्थानं प्रज्ञप्ता ?, भगवानाह—गौतम! जघन्येन देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, तत्र न ज्ञायते कियता देशेनोनानि ? तत आह—पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागेनोनानि, उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि ॥ 'ते णं भंते' इत्यादि, ते उत्तरकुरुवास्तव्या भदन्त! मनुजाः कालमासे 'कालं' मरणं कृत्वा क्व गच्छन्ति ?, एतदेव व्याचष्टे—कोत्पद्यन्ते ? इति, भगवानाह—गौतम! ते मनुजाः षण्मासावशेषायुषः कृतपरभवायुर्बन्धाः स्वकाले युगलं प्रसूवते, प्रसूय एकोनपञ्चाशतं रात्रिन्दिवानि तद् युगलमनुपालयन्ति, अनुपाल्य काशित्वा क्षुत्वा जृम्भयित्वा

'अक्लिष्टाः' स्वशरीरोत्थक्लेशरहिताः 'अव्यथिताः' परेणानापादितदुःखाः 'अपरितापिताः' स्वतः परतो वाऽनुपजातकायमनःपरितापाः कालमासे कालं कृत्वा 'देवलोकेषु' भवनपत्याद्याश्रयेषूत्पद्यन्ते, 'देवलोगपरिग्गहिया ण'मिति देवलोको—भवनपत्याद्याश्रयरूपस्तथाक्षेत्रस्वाभाव्यतस्तद्योग्यायुर्बन्धनेन परिगृहीतो यैस्ते देवलोकपरिगृहीताः, निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात्, णमिति वाक्यालङ्कारे, ते मनुजाः प्रज्ञप्ता हे श्रमण! हे आयुष्मन्! ॥ 'उत्तरकुराए णं भंते' इत्यादि, उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त! 'कतिविधाः' जातिभेदेन कतिप्रकारा मनुष्याः 'अनुसजन्ति?' सन्तानेनानुवर्त्तन्ते, भगवानाह—गौतम! षड्विधा मनुजा अनुसजन्ति, तद्यथा—पद्मगन्धा इत्यादि, जातिवाचका इमे शब्दाः। अत्र विनेयजनानुग्रहायोत्तरकुरुविषयसूत्रसङ्कलनार्थं सङ्ग्रहणिगाथात्रयमाह—"उसुजीवाधणुपट्ठं भूमी गुम्मा य हेरुउद्दाला। तिलगलयावणराई रुक्खा मणुया य आहारे ॥ १ ॥ गेहा गामा य असी हिरण्ण राया य दास माया य। अरिवेरिए य मित्ते विवाहमहनट्टसगडा य ॥ २ ॥ आसा गावो सीहा साली खाणू य गड्डदंसाही। गहजुद्धरोगठिइ उवट्टणा य अणुसज्जणा चेव ॥ ३ ॥" अस्य व्याख्या—प्रथममुत्तरकुरुविषयमिषुजीवाधनुःपृष्ठप्रतिपादकं सूत्रं, तदनन्तरं भूमिरिति भूमिविषयं सूत्रं, ततो 'गुम्मा' इति गुल्मविषयं, तदनन्तरं हेरुतालवनविषयं, ततः 'उद्दाला' इति उद्दालादिविषयं, तदनन्तरं 'तिलग' इति तिलकपदोपलक्षितं, ततो लताविषयं, तदनन्तरं वनराजीविषयं, ततः 'रुक्खा' इति दशविधकल्पपादपविषया दश सूत्रदण्डकाः, 'मणुया य' इति त्रयो मनुष्यविषयाः सूत्रदण्डकास्तद्यथा—आद्यः पुरुषविषयो द्वितीयः स्त्रीविषयस्तृतीयः सामान्यत उभयविषय इति, ततः 'आहारे' इति आहारविषयः, तदनन्तरं 'गेहा' इति गृहविषयौ द्वौ दण्डकौ, आद्यो गृहाकारवृक्षाभिधायी अपरो गेहाद्यभावविषय इति, ततः 'गामा' इति ग्रामाद्यभावः, तदनन्तरमसीति अस्याद्यभावविषयः, ततो हिरण्यादिविषयः, तद-

नन्तरं राजाद्यभावविषयः, ततो दासाद्यभावविषयः, ततो मात्रादिविषयः, तदनन्तरमरिवैरिप्रभृतिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं मित्राद्यभावविषयः, तदनन्तरं विवाहपदोपलक्षितस्तत्प्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं महप्रतिषेधविषयः, ततो नृत्यपदोपलक्षितः प्रेक्षाप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं शकटादिप्रतिषेधविषयः, ततोऽश्वादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं स्त्रीगव्यादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः, ततः सिंहादिश्वापदविषयः, तदनन्तरं शाल्याद्युपभोगप्रतिषेधविषयः, ततः स्थाण्वादिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं गर्त्तादिप्रतिषेधविषयः, ततो दंशाद्यभावविषयः, ततोऽह्यादिविषयः, तदनन्तरं 'गह' इति ग्रहदण्डादिविषयः, ततः 'जुद्ध' इति युद्धपदोपलक्षितो डिम्बादिप्रतिषेधविषयः सूत्रदण्डकः, ततो रोग इति रोगपदोपलक्षितो दुर्भूतादिप्रतिषेधविषयः, तदनन्तरं स्थितिसूत्रं, ततोऽनुषजनसूत्रमिति ॥ सम्प्रत्युत्तरकुरुभावियमकपर्वतवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए कुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पन्नत्ता?, गोयमा! नीलवंतस्स वासधरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते चत्तारि य सत्तभागे जोयणस्स अबाधाए सीताए महाणईए (पुव्वपच्छिमेणं) उभओ कूले, इत्थ णं उत्तर कुराए जमगा णामं दुवे पव्वता पण्णत्ता एगमेगं जोयणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसताणि उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं एगं च बावट्ठिं जोयणसतं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं मज्झे दो जोयणसहस्साइं तिन्नि य बावत्तरे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं

पन्नत्ते उवरिं पन्नरसं एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते, मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वकणगमया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता, वण्णओ दोण्हवि, तेसिणं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते वण्णओ जाव आसयंति० ॥ तेसिणं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसगा पण्णत्ता, ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उद्धं उच्चत्तेणं एकत्तीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसिता वण्णओ भूमिभागा उल्लोता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ वरसीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचति जमगा पव्वता? २, गोयमा! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहुइओ खुड्डाखुड्डियाओ वावीओ जाव बिलपंतिताओ, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं २ जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं, जमगा य एत्थ दो देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाण पव्वयाणं जमगाण य रायधाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव पालेमाणा विहरंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं० जमगपव्वया २, अदुत्तरं च णं गोयमा! जाव णिचा

॥ कहि णं भंते! जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीइवतित्ता अण्णंमि जंबूदीवे २ बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्स जहा विजयस्स जाव महिड्डिया जमगा देवा जमगा देवा ॥ (सू० १४८)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ?, भगवानाह–गौतम! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तात्–चरमरूपात्पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्तभागान् अबाधया कृत्वा–अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, अत्रान्तरे शीताया महानद्याः 'पूर्वपश्चिमेन' पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोः 'अत्र' एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–एकः पूर्वकूले एकः पश्चिमकूले, प्रत्येकं चैकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन–अवगाहेन, मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामविशेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहनाभावात्, मूले एकयोजनसहस्रं विष्कम्भतः १०००, मध्येऽर्द्धाष्टमानि योजनशतानि ७५०, उपरि पञ्च योजनशतानि ५००, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टं–द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ३१६२, मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्ततानि–द्वासप्तत्यधिकानि २३७२ किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ, उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्च चैकाशीतानि–एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये सङ्क्षिप्तौ उपरि च तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ, 'सव्वकणगमया' इति सर्वात्मना कनकमयौ 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्, तौ च प्रत्येकं

प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येकं २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ, पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरिपद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णकवद् वक्तव्यः ॥ 'तेसि णं जमगपव्वयाण'मित्यादि, यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, भूमिभागवर्णनं 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावद् 'वाणमंतरा देवाय देवीओ य आसयंति सयंति जाव पच्चणुभवमाणा विहरंति' ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टिर्योजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशद् योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया इवेत्यादि यावत् पडिरूवा' इति प्रासादावतंसकवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णनं दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यं, नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने, बाहल्येनैकं योजनं, शेषं तथैव । 'तेसि णं सिंहासणाण'मित्यादि, तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकम् 'अवरुत्तरेणं'ति अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थः उत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां च दिशि, अत एतासु तिसृषु दिक्षु 'यमकयोः' यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, एवमनेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राग्विजयदेवस्य ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपर्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि इत्याद्यपि प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'सयसहस्सपत्तगा' इति पदम् ॥ सम्प्रति नामनिबन्धनं पिपृच्छिषुरिदमाह—अथ 'केनार्थेन' केन कारणेन एवमुच्यते—यमकपर्वतौ यमकपर्वतौ ? इति, भगवानाह—गौतम ! यमकपर्वतयोः णमिति वाक्यालङ्कारे क्षुल्लकक्षुल्लिकासु वापीपुष्करिणीषु यावद्विलपङ्क्तिषु बहूनि यावत्सहस्रपत्राणि 'यमकप्रभाणि' यमका नाम—शकुनिविशेषास्तत्प्रभानि—तदाकाराणि, एतदेव व्याचष्टे—यमकवर्णाभानि

—यमकवर्णसदृशवर्णानीत्यर्थः, 'यमकौ च' यमकनामानौ च तत्र—तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ च तत्र प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तर-मध्यमबाह्यरूपाणां यथासङ्ख्यमष्टदशद्वादशदेवसहस्रसङ्ख्याकानां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्ष-देवसहस्राणां 'जमगपव्वयाणं जमगाण य रायहाणीण'मिति स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्य स्वस्य यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयमिकाभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः, यावत्करणात् 'पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्त'मित्यादिपरिग्रहः, ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगाद्यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति यमिकाभिधराजधानीस्थानं पृच्छति—कहि णं भंते' इत्यादि, क्व भदन्त! यमकयोर्देवयोः सम्बन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते?, भगवानाह—गौतम! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन्नसङ्ख्येयतमे जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राणि अवगाह्यात्रान्तरे यमकयोर्देवयोः सम्बन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते, ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृशे वक्तव्ये। सम्प्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहेणामं दहे पण्णत्ते?, गोयमा! जमगपव्वयाणं दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते चत्तारि सत्तभागा जोयणस्स अबाहाए सीताए महाणईए बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं उत्तरकुराए २ नीलवंतद्दहे नामं दहे पन्नत्ते, उत्तरदक्खिणायए पाईणपडीणविच्छिन्ने एगं जोयणसहस्सं आयामेणं पंच जोयणसताइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रयतामत-

कूले चउक्कोणे समतीरे जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहि य पउमवरवेइयाहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ ॥ णीलवंतद्दहस्स णं दहस्स तत्थ २ जाव बहवे तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ भाणियव्वो जाव तोरणत्ति ॥ तस्स णं नीलवंतद्दहस्स णं दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पउमे पण्णत्ते, जोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिते जलंतातो सातिरेगाइं दसद्धजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ॥ तस्स णं पउमस्स अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामता मूला रिट्ठामते कंदे वेरुलियामए नाले वेरुलियामता बाहिरपत्ता जंबूणयमया अब्भिंतरपत्ता तवणिज्जमया केसरा कणगामई कण्णिया नाणामणिमया पुक्खरत्थिभुता ॥ सा णं कण्णिया अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं सव्वप्पणा कणगमई अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं कण्णियाए उवरिं बहुसमरमणिज्जे देसभाए पण्णत्ते जाव मणीहिं ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसंनिविट्ठं जाव वण्णओ, तस्स णं भवणस्स तिदिसिं ततो दारा पण्णत्ता पुरत्थिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं, ते णं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं

अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेया वरकणगथूभियागा जाव वणमालाउत्ति ॥ तस्स णं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा नामए—आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीणं वण्णओ ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं मणिपेढिया पण्णत्ता, पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, देवसयणिज्जस्स वण्णओ ॥ से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसतेणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्ताणं पउमाणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते ॥ ते णं पउमा अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं कोसं ऊसिया जलंताओ साइरेगाइं ते दस जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं ॥ तेसिं णं पउमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—वइरामया मूला जाव णाणामणिमया पुक्खरत्थिभुगा ॥ ताओ णं कण्णियाओ कोसं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं स० परि० अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ॥ तासिं णं कण्णियाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव मणीणं वण्णो गंधो फासो ॥ तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं नीलवंतद्दहस्स कुमारस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवं (एतेणं) सव्वो परिवारो

नवरि पउमाणं भाणितव्वो ॥ से णं पउमे अण्णेहिं तिहिं पउमवरपरिक्खेवेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, तंजहा—अब्भिंतरेणं मज्झिमेणं बाहिरएणं, अब्भिंतरएणं पउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीओ प०, मज्झिमए णं पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पं० बाहिरए णं पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एवामेव सपुव्वावरेणं एगा पउमकोडी वीसं च पउमसतसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—णीलवंतद्दहे दहे?, गोयमा! णीलवंतद्दहे णं तत्थ तत्थ जाइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं नीलवंतप्पभातिं नीलवंतद्दहकुमारे य० सो चेव गमो जाव नीलवंतद्दहे २ ॥ (सू० १४९)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवद्द्रहो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! यमकपर्वतयोर्दक्षिणात्यचरमान्तादर्वाग् दक्षिणाभिमुखमष्टौ 'चतुस्त्रिंशानि' चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति गम्यते अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, अत्रान्तरे शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'एत्थ णं'ति एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवद्द्रहो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, स च किंविशिष्टः? इत्याह—उत्तरदक्षिणायतः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः, उत्तरदक्षिणाभ्यामवयवाभ्यामायत उत्तरदक्षिणायतः, प्राचीनापाचीनाभ्यामवयवाभ्यां विस्तीर्णः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः, एकं योजनसहस्रमायामेन, पञ्च योजनशतानि विष्कम्भतः, दश योजनान्युद्वेधेन—उण्डत्वेन, 'अच्छः' स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशः 'श्लक्ष्णः' श्लक्ष्णपुद्गलनिर्मापितबहिःप्रदेशः, तथा रजतमयं—रूप्यमयं कूलं यस्यासौ रजतमयकूलः, इत्यादि विशेषणकदम्बकं जगत्युपरिवाप्यादिवत्तावद्वक्तव्यं यावदिदं

पर्यन्तपदं 'पडिहत्थभमंतमच्छकच्छपअणेगसउणमिहुणपरियरिए' इति । 'उभओपासे' इत्यादि, स च नीलवन्नामा ह्रदः शीताया महानद्या उभयोः पार्श्वयोर्वहिर्विनिर्गतः, स तथाभूतः सन्नुभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्याम्, एकस्मिन् पार्श्वे एकया पद्मवरवेदिकया द्वितीये पार्श्वे द्वितीयया पद्मवरवेदिकयेत्यर्थः, एवं द्वाभ्यां वनषण्डाभ्यां 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णकश्च प्राग्वत् ॥ 'नीलवंतदहस्स णं दहस्स तत्थ तत्थे'त्यादि, नीलवद्ह्रदस्य णमिति वाक्यालङ्कारे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपकाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, वर्णकस्तेषां प्राग्वद्वक्तव्यः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणं प्रज्ञप्तं, 'ते णं तोरणा' इत्यादि तोरणवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'वहवो सयसहस्सपत्तहत्थगा' इति पदम् ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य नीलवन्नाम्नो ह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तं योजनमायामतो विष्कम्भतश्चार्द्धयोजनं बाहल्येन दश योजनानि 'उद्वेधेन' उण्डत्वेन जलपर्यन्ताद् द्वौ क्रोशौ उच्छ्रितं सर्वाग्रेण सातिरेकाणि दश योजनशतानि प्रज्ञप्तानि ॥ 'तस्स णं'मित्यादि, तस्य पद्मस्य 'अयं' वक्ष्यमाणः 'एतद्रूपः' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपः 'वर्णावासः' वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—वज्रमयं मूलं रिष्टरत्नमयः कन्दो वैडूर्यरत्नमयो नालः, वैडूर्यरत्नमयानि बाह्यपत्राणि, जाम्बूनदमयान्यभ्यन्तरपत्राणि, तपनीयमयानि केसराणि, कनकमयी पुष्करकर्णिका, नानामणिमयी पुष्करस्थिबुका ॥ 'सा णं कण्णिया अद्ध'मित्यादि, सा कर्णिकाऽर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहल्यतः सर्वात्मना कनकमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा, यावत्करणात् 'सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया' इत्यादि परिग्रहः ॥ 'तीसे णं कण्णियाए' इत्यादि, तस्याः कर्णिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तद्वर्णनं च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वे'त्यादिना प्र-

न्येन विजयराजधान्या उपकारिकालयनस्येव तावद्वक्तव्यं यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहु-समरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यादि तद्वर्णनं विजयराजधानीगतसुधर्मसभाया इव तावद्वक्तव्यं यावदिदं सूत्रं 'दिव्वतुडियसद्दसंपणदिते' इति, तदनन्तरं सूत्रमाह—'सव्वरयणामए' इत्यादि सर्वात्मना रत्नमयम् अच्छं यावत्प्रतिरूपं, यावत्करणात् 'सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे' इत्यादिपरिग्रहः। तस्स णमित्यादि तस्य भवनस्य 'त्रिदिशि' तिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्वस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्याम् ॥ 'ते णं दारा' इत्यादि, तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि विष्कम्भेन, तावदेव—अर्द्धतृतीयान्येव धनुःशतानीति भावः प्रवेशेन। 'सेयावरकणगथूभिया' इत्यादि द्वारवर्णनं विजयद्वारस्येव तावद्विशेषेणावसातव्यं यावत् 'वणमालाओ' इति वनमालावक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य भवनस्य उल्लोचोऽन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागो मणीनां वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णनं प्रागवत् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा इति प्रागवत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपर्यत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तं, शयनीयवर्णकः प्राग्वत्। 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य भवनस्य उपर्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानीत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति ॥ 'से ण'मित्यादि, तत्पद्ममन्येनाष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां—तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धं तदर्द्धं तच्च तद् उच्चत्वप्रमाणं च तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं तत् मात्रा येषां ते तानि तथा तेषां, 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं। तद-

द्वोच्चत्वप्रमाणमेव तेषां भावयति—'ते णं पउमा' इत्यादि, तानि पद्मानि प्रत्येकमर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहल्येन दश योजनशतानि उद्वेधेन क्रोशमेकं जलपर्यन्तादुच्छ्रितं सातिरेकाणि दश योजनशतानि सर्वाग्रेण ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां पद्मानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, वज्रमयानि मूलानि रिष्ठरत्नमयाः कन्दाः वैडूर्यरत्नमया नालाः तपनीयमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि अभ्यन्तरपत्राणि तपनीयमयानि केशराणि कनकमय्यः कर्णिकाः नानामणिमयाः पुष्करस्थिभुगाः ॥ 'ताओ णं कण्णियाओ' इत्यादि, ताः कर्णिकाः क्रोशमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धक्रोशं बाहल्येन सर्वात्मना कनकमय्यः 'अच्छाओ जाव पडिरूवाओ' इति प्राग्वत् ॥ 'तासि णं कण्णियाण'मित्यादि, तासां कर्णिकानामुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य वर्णकः पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शः ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य मूलभूतपद्मस्य 'अपरोत्तरेण' अपरोत्तरस्यां, एवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां, सर्वसङ्कलनया तिसृषु दिक्षु अत्र नीलवतो नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । 'एतेण'मित्यादि, एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन यथा विजयस्य सिंहासनपरिवारोऽभिहितस्तथेहापि पद्मपरिवारो वक्तव्यः, तद्यथा—पूर्वस्यां दिशि चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चत्वारि महापद्मानि, दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ पद्मसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश पद्मसहस्राणि, दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश पद्मसहस्राणि, पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त महापद्मानि प्रज्ञप्तानि, तदनन्तरं तस्य द्वितीयस्य पद्मपरिवेषस्य पृष्ठतश्चतसृषु दिक्षु षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—चत्वारि पद्मसहस्राणि पूर्वस्यां दिशि चत्वारि पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां चत्वारि पद्मसहस्राणि पश्चिमायां चत्वारि पद्मसह-

स्राण्युत्तरस्यामिति । तदेवं मूलपद्मस्य त्रयः पद्मपरिवेषा अभूवन्, अन्येऽपि च त्रयो विद्यन्त इति तत्प्रतिपादनार्थमाह—'से णं पउमे' इत्यादि, तत् पद्ममन्यैरनन्तरोक्तपरिक्षेपत्रिकव्यतिरिक्तैस्त्रिभिः पद्मपरिवेषैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं, तद्यथा—अभ्यन्तरेण मध्यमेन बाह्येन च, तत्राभ्यन्तरे पद्मपरिक्षेपे सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशत्पद्मशतसहस्राणि पद्मानि ३२००००००, मध्ये पद्मपरिक्षेपे चत्वारिंशत् शतसहस्राणि ४००००००, बाह्ये पद्मपरिक्षेपेऽष्टाचत्वारिंशत्पद्मशतसहस्राणि ४८००००० पद्मानि । 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण 'सपुव्वावरेणं'ति सह पूर्वं यस्य येन वा सपूर्वं सपूर्वं च तद् अपरं च सपूर्वापरं तेन, पूर्वापरसमुदायेनेत्यर्थः, एका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, एतेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह, कोट्यादिका च सङ्ख्या स्वयं मीलनीया, द्वात्रिंशदादिशतसहस्राणामेकत्र मीलने यथोक्तसङ्ख्याया अवश्यं भावात् ॥ सम्प्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केनार्थेनैवमुच्यते नीलवद्ह्रदो नीलवद्ह्रदः? इति, भगवानाह—गौतम ! नीलवद्ह्रदे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि 'उत्पलानि' पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि नीलवद्ह्रदप्रभाणि—नीलवन्नाम ह्रदाकाराणि 'नीलवद्वर्णानि' नीलवन्नामवर्षधरपर्वतस्तद्वर्णानि नीलानीति भावः, नीलवन्नामा च नागकुमारेन्द्रो नागकुमारराजो महर्द्धिक इत्यादि यमकदेववन्निरवशेषं वक्तव्यं यावद्विहरति, ततो यस्मात्तद्वतानि पद्मानि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नामा च तदधिपतिर्देवस्ततस्तद्योगादसौ नीलवन्नामा ह्रदः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ 'कहि णं भंते ! नीलवंतदहस्से'त्यादि राजधानीविषयं सूत्रं समस्तमपि प्राग्वत् ॥

नीलवंतदहस्स णं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं दस जोयणाइं अबाधाए एत्थ णं दस दस कंचणगप-

३ प्रतिपत्तौ नीलवद्ध्रदाधि० उद्देशः २ सू० १४९

व्वता पण्णत्ता, ते णं कंचणगपव्वता एगमेगं जोयणसतं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं २ जोयणाइं उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे पण्णत्तरिं जोयणाइं [आयाम]विक्खंभेणं उवरिं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले तिण्णि सोले जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं मज्झे दोन्नि सत्ततीसे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं उवरिं एगं अट्ठावण्णं जोयणसतं किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिता सव्वकंचणमया० अच्छा, पत्तेयं २ पउमवरवेतिया० पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता ॥ तेसि णं कंचणगपव्वताणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे जाव आसयंति० तेसि णं० पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा सड्ढबावट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं मणिपेढिया दोजोयणिया सीहासणं सपरिवारा ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—कंचणगपव्वता कंचणगपव्वता?, गोयमा! कंचणगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ वावीसु उप्पलाइं जाव कंचणगवण्णाभातिं कंचणगा जाव देवा महिड्ढीया जाव विहरंति, उत्तरेणं कंचणगाणं कंचणियाओ रायहाणीओ अण्णंमि जंबू० तहेव सव्वं भाणितव्वं ॥ कहि णं भंते! उत्तराए कुराए उत्तरकुरुद्दहे पण्णत्ते?, गोयमा! नीलवंतद्दहस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसते, एवं सो चेव गमो णेतव्वो जो णीलवंतद्दहस्स सव्वेसिं सरिसको दहसरिनामा य देवा, सव्वेसिं पुरत्थिमपचत्थिमेणं

कंचणगपव्वता दस २ एकप्पमाणा उत्तरेणं रायहाणीओ अण्णंमि जंबुद्दीवे। कहि णं भंते! चंदद्दहे एरावणद्दहे मालवंतद्दहे एवं एक्केक्को णेयव्वो ॥ (सू० १५०)

'नीलवंतदहस्स ण'मित्यादि, नीलवतो ह्रदस्य 'पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं'ति पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येकं दश दश योजनान्यबाधया कृत्वेति गम्यते, अपान्तराले मुक्त्वेति भावः, दश दश काञ्चनपर्वता दक्षिणोत्तरश्रेण्या प्रज्ञप्ताः, ते च काञ्चनकाः पर्वताः प्रत्येकमेकं योजनशतमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चविंशतिर्योजनान्युद्वेधेन मूले एकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये पञ्चसप्ततिर्योजनानि विष्कम्भेन उपरि पञ्चाशद् योजनानि विष्कम्भेन, मूले त्रीणि षोडशोत्तराणि योजनशतानि ३१६ किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण मध्ये द्वे सप्तविंशे योजनशते २२७ किञ्चिद्विशेषोने परिक्षेपेण उपर्येकमष्टापञ्चाशं योजनशतं १५८ किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण, अत एव मूले विस्तीर्णा मध्ये सङ्क्षिप्ता उपरि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना कनकमयाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत्। तथा प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनपण्डपरिक्षिप्ताश्च, पद्मवरवेदिकावनपण्डवर्णनं प्राग्वत् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां काञ्चनपर्वतानामुपरि बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः, तेषां च वर्णनं प्राग्वत्तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनमिति ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, प्रासादवक्तव्यता यमकपर्वतोपरि प्रासादावतंसकयोरिव निरवशेषा वक्तव्या यावत्सपरिवारसिंहासनवक्तव्यतापरिसमाप्तिः ॥ सम्प्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेण'मित्यादि प्राग्वन्नवरं यस्मादुत्पलादीनि काञ्चनप्रभानि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति ततः काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति, तथा चाह—'से एएणट्ठे-

ण'मित्यादि। काञ्चनिकाश्च राजधान्यो यमिकाराजधानीवद् वक्तव्याः ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु उत्तरकुरुह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! नीलवतो ह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमपर्यन्तादष्टौ 'चतुस्त्रिंशानि' चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च योजनस्य सप्तभागान् अबाधया कृत्वेति गम्यते शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्रोत्तरकुरुनामा ह्रदः प्रज्ञप्तः, यथैव प्राग् नीलवतो ह्रदस्यायामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनषण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यतोक्ता तथैवेहाप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या ॥ नामकरणं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि प्राग्वन्नवरमुत्पलादीनि यस्माद् 'उत्तरकुरुह्रदप्रभाणि' उत्तरकुरुह्रदाकाराणि तेन तानि तदाकारयोगात् उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति तेन तद्योगाद् ह्रदोऽप्युत्तरकुरुः, न चैवमितरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, उभयेषामपि नाम्नामनादिकालं तथा प्रवृत्तेः, एवमन्यत्रापि निर्दोषता भावनीया, उत्तरकुरुनामा च तत्र देवः परिवसति, तद्वक्तव्यता च नीलवन्नागकुमारवद्वक्तव्या, ततोऽप्यसावुत्तरकुरुरिति, राजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् ॥ चन्द्रह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! उत्तरकुरुह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' अस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु चन्द्रह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, अस्यापि नीलवद्ह्रदस्येवायामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनषण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यता वक्तव्या, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव, नवरं यस्मादुत्पलादीनि 'चन्द्रह्रदप्रभाणि' चन्द्रह्रदाकाराणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रनामा च देवस्तत्र परिवसति तस्माच्चन्द्रह्रदाभोत्पलादियो-

गाञ्चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च चन्द्रह्रद इति, चन्द्राराजधानीवक्तव्यता काञ्चनपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् ॥ साम्प्रतमैरावतह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते' इत्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, निर्वचनमाह—गौतम! चन्द्रह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे ऐरावतह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः, अस्यापि नीलवन्नाम्नो ह्रदस्येवायामविष्कम्भादिवक्तव्यता परिक्षेपपर्यवसाना वक्तव्या, अन्वर्थसूत्रमपि तथैव; नवरं यस्मादुत्पलादीनि ऐरावतह्रदप्रभाणि, ऐरावतो नाम हस्ती तद्वर्णानि च ऐरावतश्च नामा तत्र देवः परिवसति तेन ऐरावतह्रद इति, ऐरावताराजधानी विजयराजधानीवत् काञ्चनकपर्वतवक्तव्यतापर्यवसाना तथैव ॥ अधुना माल्यवन्नामह्रदवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते' इत्यादि सुगमं, भगवानाह—गौतम! ऐरावतह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाग् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु माल्यवन्नामा ह्रदः प्रज्ञप्तः, स च नीलवद्ह्रदवदायामविष्कम्भादिना तावद्वक्तव्यो यावत्पद्मवक्तव्यतापरिसमाप्तिः, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव यस्मादुत्पलादीनि 'माल्यवद्ह्रदप्रभाणि' माल्यवद्ह्रदाकाराणि, माल्यवन्नामा वक्षस्कारपर्वतस्तद्वर्णानि—तद्वर्णाभानि माल्यवन्नामा च तत्र देवः परिवसति तेन माल्यवद्ह्रद इति, माल्यवतीराजधानी विजयाराजधानीवद् वक्तव्या काञ्चनकपर्वतवक्तव्यताऽवसाना प्राग्वत् ॥ सम्प्रति जम्बूपीठवक्तव्यतामाह—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए २ जंबुसुदंसणाए जंबुपेढे नामं पेढे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं नीलवंतस्स वासधरपव्वतस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खा-

रपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं गंधमादणस्स वक्खारपव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीताए महाणदीए पुरत्थिमिल्ले कूले एत्थ णं उत्तरकुरुकुराए जंबूपेढे नाम पेढे पंचजोयणसताइं आयामविक्खंभेणं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं बहुमज्झदेसभाए बारस जोयणाइं बाहल्लेणं तदाणंतरं च णं माताए २ पदेसे परिहाणीए सव्वेसु चरमंतेसु दो कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते सव्वजंबूणतामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खेत्ते वण्णओ दोण्हवि । तस्स णं जंबुपेढस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता तं चेव जाव तोरणा जाव चत्तारि छत्ता ॥ तस्स णं जंबूपेढस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहाणामए आलिंगपुक्खरेतिवा जाव मणि० ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा महं मणिपेढिया पण्णत्ता अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं मणिमती अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं महं जंबूसुदंसणा पण्णत्ता अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणातिं खंधे अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं छ जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता, वइरामयमूला रयतसुपतिट्ठियविडिमा, एवं चेतियरुक्खवण्णओ जाव सव्वो रिट्ठामयविउलकंदा

वेरुलियरुइरक्खंधा सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला नाणामणिरयणविविहसाहप्पसाह-
वेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरधरा विचित्तमणिरयणसुर-
हिकुसुमा फलभारनमियसाला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया अहियं मणोनिव्वुइ-
करा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥ (सू० १५१)

'कहि णं भंते !' इत्यादि, क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु जम्ब्वाः सुदर्शनायाः, जम्ब्वा हि द्वितीयं नाम सुदर्शनेति तत
उक्तं सुदर्शनाया इति, जम्ब्वाः सम्बन्धि पीठं जम्बूपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह—गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्य 'उत्तरपूर्वेण'
उत्तरपूर्वस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य 'दक्षिणेन' दक्षिणतो गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य 'पूर्वेण' पूर्वस्यां दिशि माल्यवतो वक्ष-
स्कारपर्वतस्य पश्चिमायां शीताया महानद्याः पूर्वस्यामुत्तरकुरुपूर्वार्द्धस्य बहुमध्यदेशभागे 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु
जम्ब्वाः सुदर्शनापरनामिकाया जम्बूपीठं प्रज्ञप्तं, पञ्च योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यामेकं योजनसहस्रं पञ्चैकाशीतानि योजनश-
तानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, बहुमध्यदेशभागे द्वादश योजनानि बाहल्येन, तदनन्तरं च मात्रया २ परिहीयमानं
चरमपर्यन्तेषु द्वौ क्रोशौ बाहल्येन सर्वात्मना जाम्बूनदमयम्, 'अच्छे' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, उक्तञ्च—"जंबूनयामयं
जंबूपीढमुत्तरकुराएँ पुव्वद्धे । सीयाए पुव्वद्धे पंचसयायामविक्खंभं ॥ १ ॥ पन्नरसेक्कासीए साहीए परिहिमज्झबाहल्लं । जोयणदु-
छक्कमसो हायंतंतेसु दो कोसा ॥ २ ॥" 'से ण'मित्यादि 'तत्' जम्बूपीठमेकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन 'सर्वतः' सर्वासु
दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन परिक्षिप्तं, वेदिकावनषण्डयोर्वर्णकः प्राग्वद्वक्तव्यः । तस्य च जम्बूपीठस्य चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि

एकैकत्रिसोपानप्रतिरूपकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि—प्रतिविशिष्टरूपाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकं पूर्वस्यामेकं दक्षिणस्यामेकं पश्चिमायामेकमुत्तरस्याम् ॥ 'तेसि ण'मित्यादि, तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—वज्रमया नेमा भूमेरूर्द्धमुद्गच्छन्तः प्रदेशा इत्यादि जगत्युपरिवाप्यादित्रिसोपानवत्तावद्वक्तव्यं यावन्नानामणिमयान्यवलम्बनानि अवलम्बनवाहाश्च, तोरणान्यपि प्राग्वद्वाच्यानि ॥ 'तस्स णं जंबूपेढस्स ण'मित्यादि, जम्बूपीठस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, स च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि विजयाराजधान्युपकारिकालयनवत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यतापरिसमाप्तिः, यावच्च बहवो वानमन्तरा देवा देव्यश्चासते शेरते यावद् विहरन्तीति ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां चत्वारि योजनानि बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि बहुमध्यदेशभागे, अत्र महती जम्बूः सुदर्शना प्रज्ञप्ता, अष्टौ योजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धयोजनमुद्वेधेन, द्वे योजने स्कन्धः षड् योजनानि विडिमा—ऊर्द्ध विनिर्गता शाखा बहुमध्यदेशभागे अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, सातिरेकाण्यष्टौ योजनानि 'सर्वाग्रेण' उद्वेधोच्चैस्त्वपरिमाणमीलनेन, तस्याश्च जम्ब्वा वज्रमयानि मूलानि यस्याः सा वज्रमयमूला 'रययसुपइट्ठियविडिमा' इति रजता—रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा—बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध विनिर्गता यस्याः सा रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, 'रिट्ठामयविउलकंदा वेरुलियरुइलखंधा' रिष्ठमयो—रिष्ठरत्नमयः (विपुलः) कन्दो यस्याः सा रिष्ठरत्नमयकन्दा, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरो—दीप्यमानः स्कन्धो यस्याः सा वैडूर्यरुचिरस्कन्धा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयसमासः, 'सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला' सुजातं—मूल-

द्रव्यशुद्धं वरं—प्रधानं यत् जातरूपं तदात्मकाः प्रथमका—मूलभूता विशालाः शालाः—शाखा यस्याः सा सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशाला: 'नाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा' नानामणिरत्नानां—नानामणिरत्नात्मिका विविधा शाखाप्रशाखा यस्याः सा तथा तथा वैडूर्याणि—वैडूर्यरत्नमयानि पत्राणि यस्याः सा तथा तपनीयानि—तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि यस्याः सा तथा, ततः पदद्वय २ मीलनेन कर्म्मधारयः नानामणिरत्नविविधशाखाप्रशाखावैडूर्यपत्रतपनीयपत्रवृन्ताः, अपरे सौवर्णिक्यो मूलशाखाः प्रशाखा रजतमय्य इत्युचुः, 'जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरधरा' जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता—रक्तवर्णा मृदवो—मनोज्ञाः सुकुमाराः—सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला—ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः-प्रथमसुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुकसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः, कचित्पाठः—'जंबूनयरत्तमउयसुकुमालकोमलपल्लवंकुरग्गसिहरा' तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि—अकठिनानि सुकुमाराणि—अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि—मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुरा—यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च यस्याः सा तथा, अन्ये तु जम्बूनदमया अग्रप्रवाला अङ्कुरापरपर्याया राजता इत्याहुः, 'विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभारनमियसाला' विचित्रमणिरत्नानि—विचित्रमणिरत्नमयानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता—नामं ग्राहिताः शालाः—शाखा यस्याः सा तथा, उक्तञ्च—"मूला वइरमया से कंदो खंधो य रिट्ठवेरुलिओ। सोवण्णियसाहप्पसाह तह जायरूवा य ॥ १ ॥ विडिमा रययवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तविंटा य। पल्लव अग्गपवाला जंबूणयरायया तीसे ॥ २ ॥" 'रयणमयापुप्फफला' इति 'सच्छाया' इति सती—शोभना छाया यस्याः सा सच्छाया, तथा सती—शोभना प्रभा

यस्याः सा सत्प्रभा, अत एव सश्रीका सह उद्द्योतो यया मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् सोद्द्योता अधिकं—अतिशयेन मनोनिर्वृत्तिकरी 'पासाईया' इत्यादि पदचतुष्टयं प्राग्वत् ॥

जंबूए णं सुदंसणाए चउद्दिसिं चत्तारि साला पण्णत्ता, तंजहा—पुरत्थिमेणं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं, तत्थणं जे से पुरत्थिमिल्ले साले एत्थ णं एगे महं भवणे पण्णत्ते एगं कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभ० वण्णओ जाव भवणस्स दारं तं चेव पमाणं पंचधणुसतातिं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं विक्खंभेणं जाव वणमालाओ भूमिभागा उल्लोया मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवसयणिज्जं भाणियव्वं ॥ तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले साले एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए पण्णत्ते, कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं आयामविक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय० अंतो बहुसम० उल्लोता। तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं । तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले साले एत्थ णं पासायवडेंसए पण्णत्ते तं चेव पमाणं सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले साले एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए पण्णत्ते तं चेव पमाणं सीहासणं सपरिवारं । तत्थ णं जे से उवरिमविडिमे एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठे वण्णओ तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अड्ढाइज्जधणुसयवि-

क्खंभा मणिपेढिया पंचधणुसतिया देवच्छंदओ पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगपंचधणुसउच्चत्ते। तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेधप्पमाणाणं, एवं सव्वा सिद्धायतणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव धूवकडुच्छुया उत्तिमागारा सोलसविधेहिं रयणेहिं उवेए चेव जंबू णं सुदंसणा मूले बारसहिं पउमवरवेदियाहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ताओ णं पउमवरवेतियाओ अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसताइं विक्खंभेणं वण्णओ॥ जंबू सुदंसणा अण्णेणं अट्ठसतेणं जंबूणं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता॥ ताओ णं जंबूओ चत्तारि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं कोसं चोव्वेधेणं जोयणं खंधो कोसं विक्खंभेणं तिण्णि जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं चत्तारि जोयणाइं सव्वग्गेणं वइरामयमूला सो चेव चेतियरुक्खवण्णओ॥ जंबूए णं सुदंसणाए अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं अणाढियस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि जंबूसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, जंबूए सुदंसणाए पुरत्थिमेणं एत्थ णं अणाढियस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं चत्तारि जंबूओ पण्णत्ताओ, एवं परिवारो सव्वो णायव्वो जंबूए जाव आयरक्खाणं॥ जंबू णं सुदंसणा तिहिं जोयणसतेहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, तंजहा—पढमेणं दोच्चेणं तच्चेणं। जंबूए सुदंसणाए पुरत्थिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं एगे महं

भवणे पण्णत्ते, पुरत्थिमिल्ले भवणसरिसे भाणियव्वे जाव सयणिज्जं, एवं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं उत्तरेणं ॥ जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरत्थिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ता, तंजहा—पउमा पउमप्पभा चेव कुमुदा कुमुयप्पभा । ताओ णं णंदाओ पुक्खरिणीओ कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णिप्पंकाओ णीरयाओ जाव पडिरूवाओ वण्णओ भाणियव्वो जाव तोरणत्ति ॥ तासि णं णंदापुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं पासायवडेंसए पण्णत्ते कोसप्पमाणे अद्धकोसं विक्खंभो सो चेव सो वण्णओ जाव सीहासणं सपरिवारं । एवं दक्खिणपुरत्थिमेणवि पण्णासं जोयणा० चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ उप्पलगुम्मा नलिणा उप्पला उप्पलुज्जला तं चेव पमाणं तहेव पासायवडेंसगो तप्पमाणो । एवं दक्खिणपच्चत्थिमेणवि पण्णासं जोयणाणं परं—भिंगा भिंगणिभा चेव अंजणा कज्जलप्पभा, सेसं तं चेव । जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरत्थिमे पढमं वणसंडं पण्णासं जोयणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि णंदाओ पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तं०—सिरिकंता सिरिमहिया सिरिचंदा चेव तह य सिरिणिलया । तं चेव पमाणं तहेव पासायवडिंसओ ॥ जंबूए णं सुदंसणाए पुरत्थिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं पासायवडेंसगस्स दाहिणेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं

मूले बारस जोयणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं चत्तारि जोयणाइं आयामविक्खंभेणं मूले सातिरेगाइं सत्ततीसं जोयणाइं परिक्खेवेणं मज्झे सातिरेगाइं पणुवीसं जोयणाइं परिक्खेवेणं उवरिं सातिरेगाइं बारस जोयणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अच्छे जाव पडिरूवे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ ॥ तस्स णं कूडस्स उवरि बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव आसयंति० ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एगं सिद्धायतणं कोसप्पमाणं सव्वा सिद्धायतणवत्तव्वया। जंबूए णं सुदंसणाए पुरत्थिमस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपुरत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च। जंबूए णं सुदंसणाए दाहिणिल्लस्स भवण० पुरत्थिमेणं दाहिणपुरत्थिमस्स पासायवडेंसगस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते, दाहिणस्स भवणस्स परतो दाहिणपच्चत्थिमिल्लस्स पासायवडिंसगस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे जंबूतो पच्चत्थिमिल्लस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपच्चत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं एत्थ णं एगे महं कूडे प० तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च, जंबूए पच्चत्थिमभवणउत्तरेणं उत्तरपच्चत्थिमस्स पासायवडेंसगस्स दाहिणेणं एत्थ णं एगे महं

कूडे पण्णत्ते तं चेव पमाणं सिद्धायतणं च। जंबूए उत्तरस्स भवणस्स पच्चत्थिमेणं उत्तरपच्चत्थिमस्स पासायवडेंगस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं एगे कूडे पण्णत्ते, तं चेव, जंबूए उत्तरभवणस्स पुरत्थिमेणं उत्तरपुरत्थिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं एगे महं कूडे पण्णत्ते, तं चेव पमाणं तहेव सिद्धायतणं। जंबू णं सुदंसणा अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं लउएहिं जाव रायरुक्खेहिं हिंगुरुक्खेहिं जाव सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता। जंबूते णं सुदंसणाए उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थियसिरिवच्छ० किण्हा चामरज्झया जाव छत्तातिच्छत्ता॥ जंबूए णं सुदंसणाए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता, तंजहा—सुदंसणा अमोहा य, सुप्पबुद्धा जसोधरा। विदेहजंबू सोमणसा, णियया णिच्चमंडिया॥ १॥ सुभद्दा य विसाला य, सुजाया सुमणीतिया। सुदंसणाए जंबूए, नामधेज्जा दुवालस॥ २॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जंबूसुदंसणा?, गोयमा! जंबूते णं सुदंसणाते जंबूदीवाहिवती अणाढिते णामं देवे महिड्ढीए जाव पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जंबूदीवस्स जंबूए सुदंसणाए अणाढियाते य रायधाणीए जाव विहरंति। कहिं णं भंते! अणाढियस्स जाव समत्ता वत्तव्वया रायधाणीए महिड्ढीए। अदुत्तरं च णं गोयमा! जंबुद्दीवे २ तत्थ तत्थ देसे तहिं २ बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जंबूवणसंडा णिच्चं कुसुमिया जाव सिरीए अतीव उवसोभे-

माणा २ चिट्ठंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—जंबुद्दीवे २, अदुत्तरं च णं गोयमा! जंबुद्दीवस्स सासते णामधेज्जे पण्णत्ते, जन्न कयावि णासि जाव णिच्चे ॥ (सू० १५२)

'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनायाश्चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि एकैकशाखाभावतश्चतस्रः शाखाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—एका पूर्वस्यामेका दक्षिणस्यामेका पश्चिमायामेकोत्तरस्यां, तत्र या सा पूर्वशाला, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देश. प्राकृतत्वात्, 'तस्स ण'मित्यादि, तस्या बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, तस्य वर्णको द्वारादिवक्तव्यता च प्रागुक्तमहापद्मवत्, तथा चाह—'पमाणाइया महापउमवत्तव्वया भाणियव्वा अहीणमइरित्ता जाव उप्पलहत्थगा' इति ॥ 'तत्थ ण'मित्यादि, तत्र या सा दक्षिणात्या शाखा तस्या बहुमध्यदेशभागे अत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, क्रोशमेकमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, 'अब्भुग्गयमूसियपहसिया इवे'त्यादि तद्वर्णनमुपर्युल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णनं सिंहासनवर्णनं च प्राग्वत्, नवरमत्र मणिपीठिका पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन सिंहासनं च सपरिवारं वाच्यमिति, तस्य च प्रासादावतंसकस्योपरि बहून्यष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानीत्यादि तावद्वक्तव्यं यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति, यथा च दक्षिणस्यां शाखायां प्रासादावतंसक उक्तस्तथा पश्चिमायामुत्तरस्यामपि च प्रत्येकं वक्तव्यः, जम्ब्वाः सुदर्शनाया उपरि विडिमाया बहुमध्यदेशभागे सिद्धायतनं, तच्च पूर्वस्यां भवनमिव तावद्वक्तव्यं यावन्मणिपीठिकावर्णनं, तत ऊर्द्ध्वमेवं वक्तव्यं—'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवच्छन्दकः प्रज्ञप्तः, एवं पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां पञ्चधनुःशतानि सातिरेकाणि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन सर्वात्मना रत्नमयः, अच्छ इत्यादि पूर्ववद् यावत्प्रतिरूप इति । 'तत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं

जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं सन्निक्खित्ताणं चिट्ठइ' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाणं सन्निक्खित्ताणं चिट्ठइ' इति पदं, 'सिद्धायतणस्स उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावत् 'सहस्सपत्तहत्थगा' इति, सर्वत्रापि च व्याख्याऽपि पूर्ववत् ॥ 'जंबू णं सुदंसणा' इत्यादि, जम्बूः सुदर्शना द्वादशभिः पद्मवरवेदिकाभिः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता । वेदिकावर्णनं प्राग्वत् । 'जंबू ण'मित्यादि, जम्बूः सुदर्शना अन्येन जम्बूनामष्टशतेन तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रेण 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता । तदर्द्धोच्चप्रमाणमेव भावयति—'ताओ ण'मित्यादि, 'ताः' अष्टोत्तरशतसङ्ख्या जम्ब्वाः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन क्रोशमुद्वेधेन योजनमेकं स्कन्धः क्रोशं बाहल्येन स्कन्धः, त्रीणि योजनानि विडिमा—ऊर्द्ध्व विनिर्गता शाखा बहुमध्यदेशभागे चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्, ऊर्द्ध्वाधोरूपेण सातिरेकाणि चत्वारि योजनानि सर्वाग्रेण उद्वेधपरिमाणमीलनेनेति भावः । 'वइरामयमूलरययसुपइट्ठिया विडिमा' इत्यादिवर्णनं पूर्ववत्तावद्वक्तव्यं यावदधिकं नयनमनोनिर्वृत्तिकार्यः, प्रासादीया यावत्प्रतिरूपाः ॥ 'जंबूए ण'मित्यादि, 'जंबूए णं सुदंसणाए' इत्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया अवरोत्तरस्यामुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां, अत एवासु तिसृषु दिक्ष्वनादृतस्य देवस्य जम्बूद्वीपाधिपतेश्चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, पूर्वस्यां चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चतस्रो, महाजम्ब्वा दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ जम्बूसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दश जम्बूसहस्राणि, दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादश देवसहस्राणां योग्यानि द्वादश जम्बूसहस्राणि, अपरस्यां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्त महाजम्ब्वः, ततः सर्वासु दिक्षु षोडशानामारक्षदेवसहस्राणां योग्यानि षोडश जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ॥ 'जंबू णं सुदंसणा' इत्यादि, सा जम्बूः सुद-

र्शना त्रिभिः शतकैः—योजनशतप्रमाणैर्वनषण्डैः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्ता, तद्यथा—अभ्यन्तरकेन मध्येन वाह्येन च। जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्यां दिशि प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, तच्च पूर्वदिग्वर्त्तिभवनवद् वक्तव्यं यावत् शयनीयम्। जम्ब्वाः सुदर्शनाया दक्षिणतः प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महदेकं भवनं प्रज्ञप्तं, एतदपि तथैव यावत् शयनीयं, एवं पश्चिमायामुत्तरस्यां च प्रत्येकं च प्रत्येकं च प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्य भवनं वक्तव्यं यावत् शयनीयम्॥ 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया उत्तरपूर्वस्यां—ईशानकोण इत्यर्थः प्रथमं वनषण्डं पञ्चाशतं योजनान्यवगाह्यात्र महत्यश्चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्वस्यां पद्मा—पद्माभिधाना, दक्षिणस्यां पद्मप्रभा, पश्चिमायां कुमुदा, उत्तरस्यां कुमुदप्रभा, ताश्च नन्दापुष्करिण्यः प्रत्येकं क्रोशमायामेन अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन पञ्चधनुःशतान्युद्वेधेन, 'अच्छाओ सण्हाओ' इत्यादि पुष्करिणीवर्णनं प्राग्वत्समस्तं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनषण्डपरिक्षिप्ताः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णनं प्राग्वत्॥ 'तासि ण'मित्यादि, तासां पुष्करिणीनां प्रत्येकं चतुर्दिशि एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, तेषां वर्णकः प्राग्वत्, तोरणान्यपि तथैव, तासां पुष्करिणीनां वहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च जम्बूवृक्षदक्षिणपश्चिमशाखाभाविप्रासादवत् प्रमाणादिना वक्तव्यो यावत् 'सहस्सपत्तहत्थगा' इति पदं, सर्वत्रापि च सिंहासनमनादृतदेवस्य सपरिवारम्। एवं दक्षिणपूर्वस्यां दक्षिणापरस्यामुत्तरापरस्यां च प्रत्येकं वक्तव्यं, नवरं नन्दापुष्करिणीनामनानात्वं, तच्चेदं—दक्षिणपूर्वस्यां पूर्वादिक्रमेण उत्पलगुल्मा नलिना उत्पला उत्पलोज्ज्वला, दक्षिणपूर्वस्यां भृङ्गा भृङ्गनिभा अञ्जना कज्जलप्रभा, अपरोत्तरस्यां श्रीकान्ता श्रीचन्द्रा श्रीनिलया श्रीमहिता, उक्तञ्च—"पउमा पउमप्पभा चेव, कुमुया कुमुयप्पभा। उप्पलगुम्मा न-

लिणा, उप्पला उप्पलुज्जला ॥ १ ॥ भिंगा भिंगनिभा चेव, अंजणा कज्जलप्पभा । सिरिकंता सिरिचंदा, सिरिनिलया चेव सिरिमहिया ॥ २ ॥" 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वदिग्भाविनो भवनस्योत्तरतः उत्तरपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतोऽत्र महानेकः कूटः प्रज्ञप्तः, अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, मूलेऽष्टौ योजनानि विष्कम्भेन मध्ये षड् योजनानि उपरि चत्वारि योजनानि, मूले सातिरेकाणि पञ्चविंशतिर्योजनानि परिक्षेपतः मध्ये सातिरेकाण्यष्टादश योजनानि उपरि सातिरेकाणि द्वादश योजनानि परिक्षेपतः, तथा सति मूले विस्तीर्णो मध्ये सङ्क्षिप्त उपरि तनुकोऽत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितः सर्वात्मना जम्बूनदमयः, 'अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत्, स च कूट एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात् परिक्षिप्तः, पद्मवरवेदिकावनषण्डवर्णनं प्राग्वत् । 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य कूटस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, स च 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनम् ॥ 'तस्स ण'मित्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूसुदर्शनोपरिविडिमासिद्धायतनसदृशं वक्तव्यं यावदष्टोत्तरं शतं धूपकडुच्छुकानामिति । एवं जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्य भवनस्य दक्षिणतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्योत्तरतः, तथा दाक्षिणात्यस्य भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपूर्वस्य प्रासादावतंसकस्य पश्चिमदिशि, तथा दाक्षिणात्यस्य भवनस्य परतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य पूर्वतः, तथा पाश्चात्यस्य भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्योत्तरतः, तथा पश्चिमस्य भवनस्योत्तरत उत्तरपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतः, तथोत्तरस्य भवनस्य पश्चिमायामुत्तरपश्चिमस्य प्रासादावतंसकस्य पूर्वतः, तथोत्तरस्य भवनस्य पूर्वत उत्तरपूर्वस्य प्रासादावतंसकस्यापरतः प्रत्येकमेकैकः कूटः पूर्वोक्तप्रमाणो वक्तव्यः, तेषां च कूटानामुपरि प्रत्येकमेकैकं सिद्धायतनं, तानि च

सिद्धायतनानि पूर्ववद्वाच्यानि, उक्तञ्च—"[1]अट्ठुसहकूडसरिसा सव्वे जंबूनयामया भणिया । तेसुवरिं जिणभवणा कोसपमाणा परमरम्मा ॥ १ ॥" 'जंबूए ण'मित्यादि, जम्ब्वाः सुदर्शनाया द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—'सुदंसणे'त्यादि, शोभनं दर्शनं—दृश्यमानता यस्या नयनमनोहारित्वात् सा सुदर्शना १, यथा च तस्याः शोभनदर्शनं तथाऽग्रे स्वयमेव सूत्रकृद् भावयिष्यति, 'अमोहा य' इति मोघं—निष्फलं न मोघा अमोघा अनिष्फला इत्यर्थः, तथाहि—सा स्वस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजनयति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिभावस्यैवायोगात्, ततोऽनिष्फलेति २, 'सुप्पबुद्धा' इति सुष्ठु—अतिशयेन प्रबुद्धेव प्रबुद्धा मणिकनकरत्नानां निरन्तरं सर्वतश्चाकचिक्येन सर्वकालमुन्निद्रेति भावः ३, 'जसोहरा' इति यशः सकलभुवनव्यापि धरतीति यशोधरा लिहादित्वादच्, जम्बूद्वीपो हि विदितमहिमा भुवनत्रयेऽप्यनया जम्ब्वोपलक्षितस्ततो भवति यथोक्तं यशोधारित्वमस्याः ४, 'सुभद्दा य' इति शोभनं भद्रं—कल्याणं यस्याः सा सुभद्रा, सकलकालं कल्याणभागिनीत्यर्थः, न हि तस्याः कदाचिदप्युपद्रवाः संभवन्ति, महर्द्धिकेनाधिष्ठितत्वात् ५, 'विसाला य' इति विशाला—विस्तीर्णा आयामविष्कम्भाभ्यामुच्चैस्त्वेन चाष्टयोजनप्रमाणत्वात् ६, 'सुजाया' इति शोभनं जातं—जन्म यस्याः सा सुजाता, विशुद्धमणिकनकरत्नमूलद्रव्यतया जन्मदोषरहितेति भावः ७, 'सुमणा इय' इति शोभनं मनो यस्याः सकाशाद् भवति सा सुमनाः, भवति हि तां पश्यतां महर्द्धिकानां मनः शोभनमतिरमणीयत्वात् ८, 'विदेहजंबू' इति, विदेहेषु जम्बूर्विदेहजम्बूर्विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् ९, 'सोमणसा' इति सौमनस्यहेतुत्वात् सौमनस्या, नहि तां पश्यतः कस्यापि मनो दुष्टं भवति, केवलं तां दृष्ट्वा प्रीतमनास्तां तदधिष्ठातारं च प्रशंसतीति १०, 'नियता' इति नियता

[1] अष्टौ ऋषभकूटसदृशाः सर्वे जाम्बूनदमया भणिता । तेषामुपरि जिनभवनानि क्रोशप्रमाणानि परमरम्याणि ॥ १ ॥

सर्वकालमवस्थिता शाश्वतत्वात् ११, 'नित्यमंडिता' सदा भूषणभूषितत्वात् १२। 'सुदंसणाए' इत्यादि तान्येतानि सुदर्शनाया जम्व्वा द्वादश नामधेयानि ॥ सम्प्रति सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पिपृच्छिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि प्रतीतं, निर्वचनमाह—'गोयमे'त्यादि सुगमं, नवरम् 'अणाढिए नामं देवे' इति, अनादृताः—अनादरक्रियाविषयीकृताः शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येनात्मनोऽत्यद्भुतं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृतः, सकलनिर्वचनभावार्थश्चायं—यस्मादेवं महर्द्धिकोऽनादृतनामा देवस्तत्र परिवसति ततस्तस्य समस्ताऽपि स्फातिः तत्र कृतावासेति सा सुदर्शनाऽनादृता, राजधानीवक्तव्यताऽपि प्राग्वद्वक्तव्या, तदेवं यस्मादेवंरूपया जम्व्वोपलक्षित एष द्वीपस्तस्माज्जम्बूद्वीप इत्युच्यते, अथवेदं जम्बूद्वीपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति दर्शयति—'अदुत्तरं च ण'मित्यादि, अथान्यत् जम्बूद्वीपशब्दप्रवृत्तिकारणमिति गम्यते, गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो जम्बूवृक्षा जम्बूवनानि जम्बूषण्डाः, इहैकजातीयवृक्षसमुदायो वनं, अनेकजातीयवृक्षसमूहो वनषण्डः, केवलं प्रधानेन व्यपदेश इति जम्बूवनं जम्बूषण्ड इति भेदेनोपात्तं, 'निच्चंकुसुमिया' इत्यादि विशेषणकदम्बकं प्राग्वत्, तत एष द्वीपो जम्बूद्वीपः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपगतचन्द्रादिसङ्ख्यापरिज्ञानार्थमाह—

जंबूद्दीवे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु वा पभासेंति वा पभासिस्संति वा? कति सूरिया तविंसु वा तवंति वा तविस्संति वा? कति नक्खत्ता जोयं जोयंसु वा जोयंति वा जोएस्संति वा? कति महग्गहा चारं चरिंसु वा चरिंति वा चरिस्संति वा? केवतिताओ तारागणकोडाकोडीओ सोहंसु वा सोहंति वा सोहेस्संतिवा?, गोयमा! जंबूद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासिंसु

वा ३ दो सूरिया तविंसु वा ३ छप्पन्नं नक्खत्ता जोगं जोएंसु वा ३ छावत्तरं गहसतं चारं चारिंसु वा ३—एगं च सतसहस्सं तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं। णव य सया पन्नासा तारागणकोडकोडीणं ॥ १ ॥ सोभिंसु वा सोभंति वा सोभिस्संति वा ॥ (सू० १५३)

'जंबूद्दीवे णं भंते! दीवे' इत्यादि सुगमं, नवरं षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणां भावात्, षट्सप्ततं ग्रहशतमेकैकं शशिनं प्रत्यष्टाशीतेर्ग्रहाणां भावात्, तथैकस्य शशिनः परिवारे तारागणपरिमाणं षट्षष्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि कोटीकोटीनां, वक्ष्यति च—"छावट्ठिसहस्साइं नव चेव सयाइं पंचसयराइं। एगससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं ॥ १ ॥" (६६९७५) जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ तदेतद् द्वाभ्यां गुण्यते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति—एकं शतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चाशदधिकानि कोटीकोटीनामिति ॥ तदेवमुक्तो जम्बूद्वीपः, सम्प्रति लवणसमुद्रं विवक्षुरिदमाह—

जंबूदीवं णाम दीवं लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिते?, गोयमा! समचक्कवालसंठिए नो विसमचक्कवालसंठिए ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नरस जोयणसयसहस्साइं एगासीइसहस्साइं सयमेगोणचत्तालीसे किंचिविसेसाहिए लवणोदधिणो चक्कवालपरिक्खेवेणं। से णं एक्काए पउमवरवेदियाए एगेण य

वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते चिट्ठइ, दोण्हवि वण्णओ । सा णं पउमवर० अद्धजोयणं उद्धं० पंचधणुसयविक्खंभेणं लवणसमुद्दसमियपरिक्खेवेणं, सेसं तहेव । से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं जाव विहरइ ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजये वेजयंते जयंते अपराजिते ॥ कहि णं भंते! लवणसमुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणसमुद्दस्स पुरत्थिमपेरंते धायइखंडस्स दीवस्स पुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं सीओदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं लवणस्स समुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, एवं तं चेव सव्वं जहा जंबुद्दीवस्स विजयस्ससरिसेवि (दारसरिसमेयंपि) रायहाणी पुरत्थिमेणं अण्णंमि [1]लवणसमुद्दे ॥ कहि णं भंते! लवणसमुद्दे वेजयंते नामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणसमुद्दे दाहिणपेरंते धातइसंडदीवस्स दाहिणद्धस्स उत्तरेणं सेसं तं चेव सव्वं । एवं जयंतेवि, णवरि सीयाए महाणदीए उप्पिं भाणियव्वे । एवं अपराजितेवि, णवरं दिसीभागो भाणियव्वो ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—'तिण्णेव सतसहस्सा पंचाणउतिं भवे सहस्साइं । दो जोयणसत असिता कोसं दारंतरे लवणे ॥ १ ॥' जाव

१ यथा अनेकेषु स्थानेष्वत्र मूलटीकापाठयोर्वैषम्यं तथाऽत्र क्वचित् आदर्शे चतुर्णामपि द्वाराणा सामर्थ्येण वर्णनं दृश्यते मूले, न च टीकानुसारी प्रागुक्तं च तदित्युपेक्षितं.

अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । लवणस्स णं पएसा धायइसंडं दीवं पुट्ठा, तहेव जहा जंबूदीवे धायइसंडेवि सो चेव गमो । लवणे णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता सो चेव विही, एवं धायइसंडेवि ॥ से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—लवणसमुद्दे २?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे उदगे आविले रइले लोणे लिंदे खारए कडुए अप्पेज्जे बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसवाणं नण्णत्थ तज्जोणियाणं सत्ताणं, सोत्थिए एत्थ लवणाहिवई देवे महिड्ढीए पलिओवमट्ठिईए, से णं तत्थ सामाणिय जाव लवणसमुद्दस्स सुत्थियाए रायहाणीए अण्णेसिं जाव विहरइ, से एएणट्टेणं गो०! एवं वुच्चइ लवणे णं समुद्दे २, अदुत्तरं च णं गो०! लवणसमुद्दे सासए जाव णिच्चे ॥ (सू० १५४)

'जंबूदीवं दीव'मित्यादि जम्बूद्वीपं द्वीपं लवणो नाम समुद्रो 'वृत्तः' वर्त्तुलः, स च चन्द्रमण्डलवन्मध्यपरिपूर्णोऽपि शङ्क्येत तत आह—'वलयाकारसंस्थानसंस्थितः' वलयाकारं—मध्यशुषिरं यत्संस्थानं तेन संस्थितो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन 'परिक्षिप्य' वेष्टयित्वा तिष्ठति ॥ 'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किं समचक्रवालसंस्थितो यद्वा विषमचक्रवालसंस्थितः?, चक्रवालसंस्थानस्योभयथाऽपि दर्शनात्, भगवानाह—गौतम! समचक्रवालसंस्थितः सर्वत्र द्विलक्षयोजनप्रमाणतया चक्रवालस्य भावात्, नो विषमचक्रवालसंस्थितः ॥ सम्प्रति चक्रवालविष्कम्भादिपरिमाणमेव पृच्छति—'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन, जम्बूद्वीपविष्कम्भादे-

तद्विष्कम्भस्य द्विगुणत्वात्, पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतमेकोनचत्वारिंशं च किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण, परिक्षेपप्रमाणं चैतत् परिधिगणितभावनया स्वयं भावनीयं क्षेत्रसमासटीकातो वा परिभावनीयम् ॥ 'से ण'मित्यादि, 'सः' लवणनामा समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, सा च पद्मवरवेदिकाऽर्द्धयोजनमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भतः परिक्षेपतो लवणसमुद्रपरिक्षेपप्रमाणा, वनखण्डो देशोने द्वे योजने, अभ्यन्तरोऽपि पद्मवरवेदिकाया वनषण्ड एवंप्रमाण एव, उभयोरपि वर्णनं जम्बूद्वीपपद्मवरवेदिकावनषण्डवत् ॥ सम्प्रति द्वारवक्तव्यतामभिधित्सुरिदमाह—'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयवैजयन्तजयन्तापराजिताख्यानि ॥ 'कहि ण'मित्यादि, क भदन्त! लवणसमुद्रस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम!, लवणसमुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपपूर्वार्द्धस्य 'पच्चत्थिमेण'न्ति पश्चिमभागे शीतोदाया महानद्या उपर्यत्रान्तरे लवणसमुद्रस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं, अष्टौ योजनान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन । एवं जम्बूद्वीपगतविजयद्वारसदृशमेतदपि वक्तव्यं यावद्बहून्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि यावद्बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति ॥ सम्प्रति विजयद्वारनामनिबन्धनं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—'से केणट्ठेणं भंते' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—विजयद्वारं विजयद्वारम्? इति, भगवानाह—गौतम! विजये द्वारे विजयो नाम देवो महर्द्धिको यावद् विजयाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां विजयाराजधानीवास्तव्यानां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावत्परिवसति, ततो विजयदेवस्वामिकत्वाद् विजयमिति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि सुगमं ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! विजयद्वारस्य

पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे विजयस्य देवस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयाराजधानीवद्वक्तव्या ॥ सम्प्रति वैजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणस्य समुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र लवणसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एतद्वक्तव्यता सर्वाऽपि विजयद्वारवद्वसेया, नवरं राजधानी वैजयन्तद्वारस्य दक्षिणतो वेदितव्या ॥ जयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणसमुद्रस्य जयन्तं द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महानद्या उपरि लवणस्य समुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद् वक्तव्या, नवरं राजधानी जयन्तद्वारस्य पश्चिमभागे वक्तव्या ॥ अपराजितद्वारप्रतिपादनार्थमाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रस्योत्तरपर्यन्ते धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र लवणस्य समुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं। एतद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवन्निरवशेषा वक्तव्या, नवरं राजधानी अपराजितद्वारस्योत्तरतोऽवसातव्या ॥ सम्प्रति द्वारस्य द्वारस्यान्तरं प्रतिपादयितुकाम आह—'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य द्वारस्य २ 'एस ण'मिति एतदन्तरं कियत्या 'अबाधया' अन्तराललव्याघातरूपया प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवतिः सहस्राणि अशीते द्वे योजनशते क्रोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्याबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—एकैकस्य द्वारस्य पृथुलं चत्वारि योजनानि, एकैकस्मिंश्च द्वारे एकैका द्वारशाखा क्रोशबाहल्या, द्वारे च द्वे द्वे शाखे, तत एकैकस्मिन् द्वारे पृथुलं सामस्त्येन चिन्त्यमानं सार्द्धयो-

जनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते, चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तानि लवणसमुद्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदश शतसहस्राणि एकाशीतिःसहस्राणि एकोनचत्वारिंशं योजनशतं इत्येवंपरिमाणादपनीयन्ते, अपनीय च यच्छेषं तस्य चतुर्भिर्भागेऽपहृते यदागच्छति तत् द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं, तच्च यथोक्तमेव, उक्तं च—"आसीया दोन्नि सया पणनउइसहस्स तिन्नि लक्खा य। कोसो य अंतरं सागरस्स दाराण विन्नेयं ॥१॥" 'लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स पदेसा' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वद्भावनीयम् ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रनामान्वर्थं पृच्छति—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—लवणः समुद्रो लवणः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्य उदकः 'आविलम्' अविमलमस्वच्छं प्रकृत्या 'रइलं' रजोवत्, जलवृद्धिहानिभ्यां पङ्कबहुलमिति भावः, लवणं सान्निपातिकरसोपेतत्वाल्लिन्द्रं गोवराक्ष(व्य)रसविशेषकलितत्वात्, 'क्षारं' तीक्ष्णं लवणरसविशेषवत्त्वात्, 'कटुकं' कटुकरसोपेतत्वात्, अत एवोपद्रवव्रातादपेयं, केषामपेयम्?—चतुष्पदमृगपक्षसरीसृपाणां, नान्यत्र 'तद्योनिकेभ्यः' लवणसमुद्रयोनिकेभ्यः सत्त्वेभ्यस्तेषां पेयमिति भावः, तद्योनिकतया तेषां तदाहारकत्वात्, तदेवं यस्मात्तस्योदकं लवणमतोऽसौ लवणः समुद्र इति, अन्यच्च 'सुट्ठिए लवणाहिवई' इत्यादि सुगमं, नवरमेष भावार्थः—यस्मात् सुस्थितनामा तदधिपतिः—लवणाधिपतिरिति स्वकल्पपुस्तके प्रसिद्धम्, आधिपत्यं च तस्याधिकृतसमुद्रस्य विषये नान्यस्य ततोऽप्यसौ लवणसमुद्र इति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादिसङ्ख्यापरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

लवणे णं भंते! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा?, एवं पंचण्हवि पुच्छा, गोयमा! लवणसमुद्दे चत्तारि चंदा पभासिंसु वा ३ चत्तारि सूरिया तविंसु वा ३ बार-

सुत्तरं नक्खत्तसयं जोगं जोएंसु वा ३ तिण्णि बावण्णा महग्गहसया चारं चरिंसु वा ३ दुण्णि सयसहस्सा सत्तर्ट्ठि च सहस्सा नव य सया तारागणकोडाकोडीणं सोभं सोभिंसु वा ३ ॥ (सू० १५५)

'**लवणे णं भंते! समुद्दे**' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! चत्वारश्चन्द्राः प्रभासितवन्तः प्रभासन्ते प्रभासिष्यन्ते, चत्वारः सूर्यास्तापितवन्तस्तापयन्ति तापयिष्यन्ति, ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धा वेदितव्याः, तद्यथा—द्वौ सूर्यौ एकस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ सूर्यौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य, तथा द्वौ चन्द्रमसावेकस्य जम्बूद्वीपगतस्य चन्द्रस्य समश्रेण्या प्रतिबद्धौ, द्वौ द्वितीयचन्द्रस्य, तौ चैवम्—यदा जम्बूद्वीपगत एकः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतश्चारं चरति तदा लवणसमुद्रेऽपि तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्ध एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति द्वितीयस्तेनैव सह श्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, तदैव च यो जम्बूद्वीपे मेरोरुत्तरतश्चारं चरति तेन सह समश्रेण्या प्रतिबद्धो लवणसमुद्रे उत्तरत एकः शिखाया अभ्यन्तरं चारं चरति, द्वितीयस्तु तेनैव सह समश्रेण्या प्रतिबद्धः शिखायाः परतः, एवं चन्द्रमसोऽपि जम्बूद्वीपगतचन्द्राभ्यां सह समश्रेणिप्रतिबद्धा भावनीयाः, अत एव जम्बूद्वीप इव लवणसमुद्रेऽपि यदा मेरोर्दक्षिणतो दिवसः संभवति तदा मेरोरुत्तरतोऽपि लवणसमुद्रे दिवसः, यदा च मेरोरुत्तरतो लवणसमुद्रे दिवसस्तथा दक्षिणतोऽपि दिवसस्तदा च पूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रे रात्रिः, यदा च मेरोः पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रे दिवसस्तदा पश्चिमायामपि दिवसः, यदा च पश्चिमायां दिवसस्तदा पूर्वदिश्यपि, तदा च मेरोर्दक्षिणत उत्तरतश्च नियमतो रात्रिः, एवं धातकीखण्डादिष्वपि भावनीयं, तद्गतानामपि चन्द्रसूर्याणां जम्बूद्वीपगतचन्द्रसूर्यैः सह समश्रेण्या

व्यवस्थितत्वात्, उक्तं च **सूर्यप्रज्ञप्तौ**—"जया णं लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढेवि दिवसे हवइ, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं लवणसमुद्दे पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई भवइ, एवं जहा जंबूद्दीवे दीवे तहेव" तथा "जया णं धायईसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढेवि, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ, एवं जहा जंबूद्दीवे दीवे तहेव, कालोए जहा लवणे तहेव" तथा "जया णं अब्भिंतरपुक्खरद्धे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ तया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ, जया णं उत्तरड्ढे दिवसे हवइ तया णं अब्भिंतरड्ढे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं राई हवइ, सेसं जहा जंबूद्दीवे तहेव" आह—लवणसमुद्रे षोडश योजनसहस्रप्रमाणा शिखा ततः कथं चन्द्रसूर्याणां तत्र तत्र देशे चारं चरतां न गतिव्याघातः?, उच्यते, इह लवणसमुद्रवर्जेषु शेषेषु द्वीपसमुद्रेषु यानि ज्योतिष्कविमानानि तानि सर्वाण्यपि सामान्यरूपस्फटिकमयानि, यानि पुनर्लवणसमुद्रे ज्योतिष्कविमानानि तानि तथाजगत्स्वाभाव्यादुदकस्फाटनस्वभावस्फटिकमयानि, तथा चोक्तं **सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्तौ**—"जोइसियविमाणाइं सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा ॥१॥" ततो न तेषामुदकमध्ये चारं चरतामुदकेन व्याघातः, अन्यच्च शेषद्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यविमानान्यधोलेश्याकानि यानि पुनर्लवणसमुद्रे तानि तथाजगत्स्वाभाव्यादूर्ध्वलेश्याकानि तेन शिखायामपि सर्वत्र लवणसमुद्रे प्रकाशो भवति, अयं चार्थः प्रायो बहूनामप्रतीत इति संवादार्थमेतदर्थप्रतिपादको जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचितो **विशेषणवती**ग्रन्थ उपदर्श्यते—"सोलससाहसियाए सिहाए कहं जोइसियविघातो न भवति?, तत्थ भन्नइ—जेण सूरपन्नत्तीए भणियं—"जोइसियविमाणाइं सव्वाइं हवंति फलिहमइयाइं। दगफालियामया पुण लवणे जे जोइसविमाणा ॥ २ ॥" जं सव्वदीवसमुद्देसु फालियामयाइं लवणसमुद्दे चेव केवलं दगफालियामयाइं तत्थ इद-

मेव कारणं मा उदगेण विघातो भवउ इति, जंबूसूरपन्नत्तीए चेव भणियं—“लवणंमि उ जोइसिया उड्ढलेसा हवंति नायव्वा। तेण परं जोइसियां अहलेसागा मुणेयव्वा ॥ १ ॥” तंपि उदगमालावभासणत्थमेव लोगठिई एसा” इति। तथा द्वादशं नक्षत्रशतं एवं-चत्वारो हि लवणसमुद्रे शशिनः, एकैकस्य च शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, ततोऽष्टाविंशतेश्चतुर्भिर्गुणने भवति द्वादशोत्तरं शतमिति। त्रीणि द्विपञ्चाशदधिकानि महाग्रहशतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाणां भावात्, द्वे शतसहस्रे सप्तषष्टिः सहस्राणि नव शतानि तारागणकोटीकोटीनाम् २६७९००००००००००००००००, उक्तञ्च—“चत्तारि चेव चंदा चत्तारि य सूरिया लवणतोए। बारं नक्खत्तसयं गहाण तिन्नेव बावन्ना ॥ १ ॥ दो चेव सयसहस्सा सत्तट्ठी खलु भवे सहस्सा य। नव य सया लवणजले तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥” इह लवणसमुद्रे चतुर्दश्यादिषु तिथिषु नदीमुखानामापूरणतो जलमतिरेकेण प्रवर्द्धमानमुपलक्ष्यते तत्र कारणं पिपृच्छिषुरिदमाह—

कम्हा णं भंते! लवणसमुद्दे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु अतिरेगं २ वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा! जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स चउद्दिसिं बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ लवणसमुद्दं पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि महालिंजरसंठाणसंठिया महइमहालया महापायाला पण्णत्ता, तंजहा—वलयामुहे केतूए जूवे ईसरे, ते णं महापाताला एगमेगं जोयणसयसहस्सं उव्वेहेणं मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढीए एगमेगं जोयणसतसहस्सं विक्खंभेणं उवरिं मुहमूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं॥ तेसि णं

महापायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दसजोयणसतबाहल्ला पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य अवक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति सासया णं ते कुड्डा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं० असासया ॥ तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तंजहा—काले महाकाले वेलंबे पभंजणे ॥ तेसि णं महापायालाणं तओ तिभागा पण्णत्ता, तंजहा—हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिमे तिभागे ॥ ते णं तिभागा तेत्तीसं जोयणसहस्सा तिण्णि य तेत्तीसं जोयणसतं जोयणतिभागं च बाहल्लेणं। तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ संचिट्ठति, तत्थ णं जे से मज्झिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाए य आउकाए य संचिट्ठति, तत्थ णं जे से उवरिल्ले तिभागे एत्थ णं आउकाए संचिट्ठति, अदुत्तरं च णं गोयमा! लवणसमुद्दे तत्थ २ देसे बहवे खुड्डालिंजरसंठाणसंठिया खुड्डपायालकलसा पण्णत्ता, ते णं खुड्डा पाताला एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे एगपदेसियाए सेढिए एगमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं उप्पिं मुहमूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं ॥ तेसि णं खुड्डागपायालाणं कुड्डा सव्वत्थ समा दस जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ता सव्ववइरामया अच्छा जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे जीवा पोग्गला य जाव असासयावि, पत्तेयं २ अद्धपलिओवमट्ठितीताहिं देवताहिं परिग्गहिया ॥ तेसि णं खुड्डगपाता-

लाणं ततो तिभागा प०, तंजहा—हेट्ठिल्ले तिभागे मज्झिल्ले तिभागे उवरिल्ले तिभागे, ते णं तिभागा तिण्णि तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभागं च बाहल्लेणं पण्णत्ते। तत्थ णं जे से हेट्ठिल्ले तिभागे एत्थ णं वाउकाओ मज्झिल्ले तिभागे वाउआए आउयाते य उवरिल्ले आउकाए, एवामेव सपुव्वावरेणं लवणसमुद्दे सत्त पायालसहस्सा अट्ठ य चुलसीता पातालसता भवंतीति मक्खाया॥ तेसि णं महापायालाणं खुड्डगपायालाण य हेट्ठिममज्झिमिल्लेसु तिभागेसु बहवे ओराला वाया संसेयंति संमुच्छिमंति एयंति चलंति कंपंति खुब्भंति घट्टंति फंदंति तं तं भावं परिणमंति तया णं से उदए उण्णामिज्जति, जया णं तेसिं महापायालाणं खुड्डागपायालाण य हेट्ठिलमज्झिल्लेसु तिभागेसु नो बहवे ओराला जाव तं तं भावं न परिणमंति तया णं से उदए नो उन्नामिज्जइ अंतरावि य णं ते वायं उदीरेंति अंतरावि य णं से उदगे उण्णामिज्जइ अंतरावि य ते वाया नो उदीरंति अंतरावि य णं से उदगे णो उण्णामिज्जइ, एवं खलु गोयमा! लवणसमुद्दे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु अइरेगं २ वड्ढति वा हायति वा॥ (सू० १५६)

'कम्हा णं भंते!' इत्यादि, कस्माद्भदन्त! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु तिथिषु, अत्रोद्दिष्टा—अमावास्या पौर्णमासी प्रतीता, पूर्णो मासो यस्यां सा पौर्णमासी, 'प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्' अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्णो माः—चन्द्रमा अस्यामिति पौर्णमासी, अण् तथैव, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'पुण्णमासिणी'ति पाठः, 'अइरेगं अइरेगं' अतिशयेन अतिशयेन वर्द्धते हीयते वा?, भगवानाह—गौतम!

जम्बूद्वीपे द्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य चतसृषु पूर्वादिषु दिक्षु लवणसमुद्रं पञ्चनवतिं पञ्चनवतिं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे चत्वारो 'महइमहालया' अतिशयेन महान्तो महालिञ्जरं—महापिडहं तत्संस्थानसंस्थिताः, कचित् 'महारंजरसंठाणसंठिया' इति पाठस्तत्रा- रञ्जरः—अलिञ्जर इति, महापातालकलशाः प्रज्ञप्ताः, उक्तं च—"पणनउइसहस्साइं ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं । चउरोऽलिंजरसं- ठाणसंठिया होंति पायाला ॥ १ ॥" तानेव नामतः कथयति, तद्यथा—मेरोः पूर्वस्यां दिशि वडवामुखः दक्षिणस्यां केयूपः अपरस्यां यूपः उत्तरस्यामीश्वरः, ते चत्वारोऽपि महापातालकलशा एकैकं योजनशतसहस्रं—लक्षं उद्वेधेन मूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन तत ऊर्द्ध्वं एकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतः प्रवर्द्धमाना २ मध्ये एकैकं योजनशतसहस्रं विष्कम्भेन तत ऊर्द्ध्वं भूयोऽप्येकप्रादेशिक्या श्रेण्या विष्कम्भतो हीयमाना हीयमाना उपरि मुखमूले दश योजनसहस्राणि विष्कम्भतः, उक्तञ्च—"जोयणसहस्सदसगं मूले उवरिं च होंति विच्छिण्णा । मज्झे य सयसहस्सं तेत्तियमेत्तं च ओगाढा ॥ १ ॥" 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दश योजनशतवाहल्या योजनसहस्रवाहल्या इत्यर्थः, सर्वात्मना वज्रमयाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, तेषु वज्रमयेषु कुड्येषु बहवो जीवाः पृथिवीकायिकाः पुद्गलाश्च 'अपक्रामन्ति' गच्छन्ति 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते जीवा इति सामर्थ्याद्गम्यं, जीवानामेवोत्पत्तिधर्मकतया प्रसिद्धत्वात्, 'चीयन्ते' चयमुपगच्छन्ति 'उपचीयन्ते' उपचयमायान्ति, एतच्च पदद्वयं पुद्गलापेक्षं, पुद्गलानामेव चयापचयधर्मकतया व्यवहारात्, तत एवं सकलकालं तदाकारस्य सदाऽवस्थानात् शाश्वतास्ते कुड्या द्रव्यार्थतया प्रज्ञप्ताः, वर्णपर्यायैः रसपर्यायैः गन्धपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वताः, वर्णादीनां प्रतिक्षणं कियत्कालादूर्द्ध्वं वाऽ- न्यथाऽन्यथा भवनात् ॥ 'तत्थ णं'मित्यादि, तत्र तेषु चतुर्षु पातालकलशेषु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादि

परिग्रहः, पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—'काले' इत्यादि, वडवामुखे कालः केयूपे महाकालः यूपे वेलम्बः ईश्वरे प्रभञ्जनः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां महापातालकलशानां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः ॥ 'ते णं'मित्यादि, ते त्रयोऽपि त्रिभागास्त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः । तत्र चतुर्ष्वपि पातालकलशेषु अधस्तनेषु त्रिभागेषु वातकायः संतिष्ठति, मध्यमेषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च, उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्काय एव । 'अदुत्तरं च णं'मित्यादि, अथान्यद् गौतम! लवणसमुद्रे 'तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं' इति तेषां पातालकलशानामन्तरेषु तत्र २ देशे तस्य २ देशस्य तत्र २ प्रदेशे क्षुल्लारञ्जरसंस्थानसंस्थिताः क्षुल्लाः पातालकलशाः प्रज्ञप्ताः, ते क्षुल्लाः पातालकलशा एकमेकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेन मध्ये एकैकं योजनसहस्रं विष्कम्भेन उपरि मुखमूले एकैकं योजनशतं विष्कम्भेन ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां क्षुल्लकपातालकलशानां कुड्याः सर्वत्र समा दश दश योजनानि बाहल्यतः, उक्तञ्च—"जोयणसयविच्छिण्णा मूले उवरिं दस सयाणि मज्झंमि । ओगाढा य सहस्सं दसजोयणिया य से कुड्डा ॥ १ ॥" 'सव्ववइरामया' इत्यादि प्राग्वद् यावत् 'फासपज्जवेहिं असासया' इति, प्रत्येकं २ तेऽर्द्धपल्योपमस्थितिकाभिर्देवताभिः परिगृहीताः ॥ 'तेसि णं'मित्यादि, तेषां क्षुल्लकपातालकलशानां प्रत्येकं २ त्रयस्त्रिभागाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—अधस्तनस्त्रिभागो मध्यमस्त्रिभाग उपरितनस्त्रिभागः । 'ते णं'मित्यादि, ते त्रिभागाः प्रत्येकं त्रीणि योजनशतानि 'त्रयस्त्रिंशानि' त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च बाहल्येन प्रज्ञप्ताः, तत्र सर्वेषामपि क्षुल्लकपातालकलशानामधस्तनेषु त्रिभागेषु वायुकायः संतिष्ठति, मध्येषु त्रिभागेषु वायुकायोऽप्कायश्च, उपरितनेषु त्रिभागेष्वप्कायः संतिष्ठति, एवमेव 'सपूर्वापरेण' पूर्वापरसमुदायसङ्ख्यया सप्त पातालकलशसहस्राणि

क्षुल्लकपातालकलशसहस्राणि, अष्टौ च पातालकलशशतानि—क्षुल्लकपातालकलशशतानि '**चतुरशीतानि**' चतुरशीत्यधिकानि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, उक्तञ्च—"अन्नेवि य पायाला खुड्डालंजरगसंठिया लवणे । अट्ठसया चुलसीया सत्त सहस्सा य सव्वेवि ॥ १ ॥ पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि विन्नेया । हेट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदगं च ॥ २ ॥ उवरिं उदगं भणियं पढमगबीएसु वाउ संखुभिओ । उड्ढं वामइ उदगं परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥ ३ ॥" '**तेसि ण**'मित्यादि, तेषां '**क्षुल्लकपातालानां**' क्षुल्लकपातालकलशानां महापातालानां चाधस्तनमध्येषु त्रिभागेषु तथाजगत्स्थितिस्वाभाव्यात् प्रतिदिवसं द्विकृत्वस्तत्रापि चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण '**बहवः**' अतिप्रभूताः '**उदाराः**' ऊर्द्ध्वगमनस्वभावाः प्रबलशक्तयश्च, उत्—प्राबल्येन आरो येषां ते उदारा इति व्युत्पत्तेः, '**वाताः**' वायवः '**संस्विद्यन्ते**' उत्पत्त्यभिमुखीभवन्ति ततः क्षणानन्तरं '**संमूर्च्छन्ति**' संमूर्च्छजन्मना लब्धात्मलाभा भवन्ति ततः '**चलन्ति**' कम्पन्ते वातानां चलनस्वभावत्वात्, ततः '**घट्टन्ते**' परस्परं सङ्घट्टमाप्नुवन्ति, तदनन्तरं '**क्षुभ्यन्ते**' जातमहाद्भुतशक्तिकाः सन्त ऊर्द्ध्वमितस्ततो विप्रसरन्ति, ततः '**उदीरयन्ति**' अन्यान् वातान् जलमपि चोत्—प्राबल्येन प्रेरयन्ति, तं तं देशकालोचितं मन्दं तीव्रं मध्यमं वा भावं परिणामं '**परिणमन्ति**' धातूनामनेकार्थत्वात् प्रपद्यन्ते । '**जया णं तेसिं खुड्डापायालाण**'मित्यादि सुगमं भावितत्वात् । '**तया ण**'मित्यादि, तदा णमिति वाक्यालङ्कारे '**तदू**' उदकम् '**उन्नामिज्जंते**' उन्नाम्यते

१ अन्येऽपि च पातालकलशाः क्षुद्रारञ्जरसंस्थिता लवणे । अष्ट शतानि चतुरशीतीनि सप्त सहस्राणि च सर्वेऽपि ॥ १ ॥ पातालाना विभागाः सर्वेषामपि त्रयस्त्रयो विज्ञेया. । अधस्तनभागे वायु, मध्ये वायुश्च उदकं च ॥ २ ॥ उपरितनभागे उदकं भणितं, प्रथमद्वितीययोः वायुः संक्षुभित । ऊर्द्ध्वं । वामयति (निष्काशयति) उदकं परिवर्द्धते जलनिधिः क्षुभित. ॥ ३ ॥

ऊर्द्धमुत्क्षिप्यत इति भावः। 'जया ण'मित्यादि, यदा पुनः 'ण'मिति पुनरर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्, तेषां क्षुल्लकपातालानां महापातालानां चाधस्तनमध्यमेषु त्रिभागेषु नो वहव उदारा वाताः संस्विद्यन्ते इत्यादि प्राग्वत् 'तया ण'मित्यादि तदा तदुदकं 'नोन्नाम्यते' नोर्द्धमुत्क्षिप्यते उत्क्षेपकाभावात्, एतदेव स्पष्टतरमाह—'अंतराविय ण'मित्यादि, 'अन्तरा' अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण ते वाताः तथाजगत्स्वाभाव्यादुदीर्यन्ते धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यन्ते, ततोऽन्तरा— अहोरात्रमध्ये द्विकृत्वः प्रतिनियते कालविभागे पक्षमध्ये चतुर्दश्यादिषु तिथिषु अतिरेकेण तत उदकमुन्नाम्यते। 'अंतराविय ण'मित्यादि, 'अन्तरा' प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र ते वाताः 'नोदीर्यन्ते' नोत्पद्यन्ते, तदभावात् 'अन्तरा' प्रतिनियतकालविभागादन्यत्र कालविभागे उदकं नोन्नाम्यते उन्नामकाभावात्, तत एवं खलु गौतम! लवणसमुद्रे चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णमासीषु तिथिषु 'अतिरेकमतिरेकम्' अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते वेति॥ तदेवं चतुर्दश्यादिषु तिथिष्वतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमुक्तमिदानीमहोरात्रमध्ये द्विकृत्वोऽतिरेकेण जलवृद्धौ कारणमभिधित्सुराह—

लवणे णं भंते! समुद्दाए तीसाए मुहुत्ताणं कतिखुत्तो अतिरेगं २ वड्डति वा हायति वा?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अतिरेगं २ वड्डति वा हायति वा॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं २ वड्डइ वा हायइ वा?, गोयमा! उड्ढमंतेसु पायालेसु वड्डइ आपूरितेसु पायालेसु हायइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! लवणे णं समुद्दे तीसाए मुहुत्ताणं दुक्खुत्तो अइरेगं अइरेगं वड्डइ वा हायइ वा॥ (सू० १५७)

'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रस्त्रिंशतो मुहूर्त्तानां मध्येऽहोरात्रमध्ये इति भावः 'कतिकृत्वः' कतिवारान् अतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा? इति, तदेवं (प्रश्ने) भगवानाह—गौतम! द्विकृत्वोऽतिरेकमतिरेकं वर्द्धते हीयते वा ॥ 'से केणट्ठेण'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! 'उद्धमत्सु' अधस्तनमध्यमत्रिभागगतवातसङ्क्षोभवशाज्जलमूर्द्ध्वमुत्क्षिपत्सु 'पातालेषु' पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च वर्द्धते 'आपूर्यमाणेषु' परिसंस्थिते पवने भूयो जलेन ध्रियमाणेषु 'पातालेषु' पातालकलशेषु महत्सु लघुषु च हीयते 'से एएणट्ठे ण'मित्यादि उपसंहारवाक्यम् ॥ अधुना लवणशिखावक्तव्यतामाह—

लवणसिहा णं भंते! केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं अइरेगं २ वड्ढति वा हायति वा?, गोयमा! लवणसीहाए णं दस जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं देसूणं अद्धजोयणं अतिरेगं वड्ढति वा हायति वा ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स कति णागसाहस्सीओ अब्भितरियं वेलं धारंति?, कइ नागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धरंति?, कइ नागसाहस्सीओ अग्गोदयं धरंति?, गोयमा! लवणसमुद्दस्स बायालीसं णागसाहस्सीओ अब्भितरियं वेलं धारेंति, बावत्तरिं णागसाहस्सीओ बाहिरियं वेलं धारेंति, सट्ठिं णागसाहस्सीओ अग्गोदयं धारेंति, एवमेव सपुव्वावरेणं एगा णागसतसाहस्सी चोवत्तरिं च णागसहस्सा भवंतीति मक्खाया ॥ (सू० १५८)

'लवणसिहा णं भंते!' इत्यादि, लवणशिखा भदन्त! कियच्चक्रवालविष्कम्भेन? कियच्च 'अतिरेकमतिरेकम्' अतिशयेन २ वर्द्धते हीयते वा?, भगवानाह—गौतम! लवणशिखा सर्वतश्चक्रवालविष्कम्भतया 'समा'समप्रमाणा दश योजनसहस्राणि विष्कम्भेन चक्रवा-

लरूपतया विस्तारेण **'देशोनमर्द्धयोजनं'** गव्यूतद्वयप्रमाणम् **'अतिरेकमतिरेकम्'** अतिशयेनातिशयेन वर्द्धते हीयते वा, इयमत्र भावना—लवणसमुद्रे जम्बूद्वीपाद् धातकीखण्डद्वीपाच्च प्रत्येकं पञ्चनवतिपञ्चनवतियोजनसहस्राणि गोतीर्थं, गोतीर्थं नाम तडागादिष्विव प्रवेशमार्गरूपो नीचो नीचतरो भूदेशो, गोतीर्थमिव गोतीर्थमिति व्युत्पत्तेः, मध्यभागावगाहस्तु दश योजनसहस्रप्रमाणविस्तारः, गोतीर्थं च जम्बूद्वीपवेदिकान्तसमीपे धातकीखण्डवेदिकान्तसमीपे चाङ्गुलासङ्ख्येयभागः, ततः परं समतलाद् भूभागादारभ्य क्रमेण प्रदेशहान्या तावन्नीचत्वं नीचतरत्वं परिभावनीयं यावत्पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेषु समतलं भूभागमपेक्ष्योण्डत्वं योजनसहस्रमेकं, तथा जम्बूद्वीपवेदिकातो धातकीखण्डद्वीपवेदिकातश्च ? तत्र समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसङ्ख्येयभागः, ततः समतलभूभागमेवाधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावत्परिभावनीया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्राणि, पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते चोभयतोऽपि समतलभूभागमपेक्ष्य जलवृद्धिः सप्तयोजनशतानि, किमुक्तं भवति ?—तत्र प्रदेशे समतलभूभागमपेक्ष्यावगाहो योजनसहस्रं, तदुपरि जलवृद्धिः सप्त योजनशतानीति, ततः परं मध्ये भागे दशयोजनसहस्रविस्तारेऽवगाहो योजनसहस्रं जलवृद्धिः षोडश योजनसहस्राणि, पातालकलशगतवायुक्षोभे च तेषामुपर्यहोरात्रमध्ये द्वौ वारौ किञ्चिन्न्यूने द्वे गव्यूते उदकमतिरेकेण वर्द्धते पातालकलशगतवायूपशान्तौ च हीयते, उक्तञ्च—"पंचाणउयसहस्से गोतित्थं उभयतोवि लवणस्स । जोयणसयाणि सत्त उ दगपरिवुड्ढीवि उभयोवि ॥ १ ॥ दस जोयणसाहस्सा लवणसिहा चक्कवालतो रुंदा ।

१ लवणस्य उभयतोऽपि पञ्चनवति सहस्राणि गोतीर्थं तु । उदकपरिवृद्धिरपि उभयतोऽपि सप्त योजनशतानि ॥ १ ॥ लवणशिखा चक्रवालतो दश योजनसहस्राणि रुन्दा ।

सोलससहस्स उच्चा सहस्समेगं च ओगाढा ॥ २ ॥ देसूणमद्धजोयणलवणसिहोवरि दुगं दुवे कालो । अइरेगं २ परिवड्ढइ हायए वावि ॥ ३ ॥" सम्प्रति वेलन्धरवक्तव्यतामाह—'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य कियन्तो नागसहस्रा नागकुमाराणां भवनपतिनिकायान्तर्वर्त्तिनां सहस्रा आभ्यन्तरिकीं—जम्बूद्वीपाभिमुखां वेलां—शिखोपरिजलं शिखां च—अर्वाक् पतन्तीं 'धरन्ति' धारयन्ति? कियन्तो नागसहस्रा बाह्यां—धातकीखण्डाभिमुखां वेलां धातकीखण्डद्वीपमध्ये प्रविशन्तीं वारयन्ति?, कियन्तो वा नागसहस्राः 'अग्रोदकं' देशोनयोजनार्द्धजलादुपरि वर्द्धमानं जलं 'धरन्ति' वारयन्ति?, भगवानाह—गौतम! द्विचत्वारिंशन्नागसहस्राण्याभ्यन्तरिकीं वेलां धरन्ति द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि बाह्यां वेलां धरन्ति, षष्टिर्नागसहस्राण्यग्रोदकं धरन्ति, उक्तञ्च—"अब्भिंतरियं वेलं धरंति लवणोदहिस्स नागाणं । बायालीससहस्सा दुसत्तरिसहस्सा बाहिरियं ॥ १ ॥ सट्ठिं नागसहस्सा धरंति अग्गोदयं समुद्दस्स" इति । एवमेव 'सपूर्वापरेण' पूर्वापरसमुदायेन एकं नागशतसहस्रं चतुःसप्ततिश्च नागशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातानि मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः ॥

कति णं भंते! वेलंधरा णागराया पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि वेलंधरा णागराया पण्णत्ता, तंजहा—गोथूभे सिवए संखे मणोसिलए ॥ एतेसि णं भंते! चउण्हं वेलंधरणागरायाणं कति

---

१ षोडश योजनसहस्राणि उच्चा सहस्रमेकं चावगाढा ॥ २ ॥ देशोनमर्द्धयोजनं लवणशिखोपरि द्विवारं द्वयोः कालयोः । अतिरेकमतिरेकं परिवर्द्धते हीयते वाऽपि ॥ ३ ॥ २ आभ्यन्तरिकीं वेलां धारयन्ति लवणोदधेर्नागानां । द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विसप्ततिसहस्राणि बाह्या ॥ १ ॥ षष्टिर्नागसहस्राणि धारयन्ति अग्रोदकं समुद्रस्य ।

आवासपव्वता पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि आवासपव्वता पण्णत्ता, तंजहा—गोथूभे उदगभासे संखे दगसीमाए ॥ कहि णं भंते! गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिमेणं लवणं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं गोथूभस्स वेलंधरणागरायस्स गोथूभे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसताइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसते कोसं च उव्वेधेणं मूले दसबावीसे जोयणसते आयामविक्खंभेणं मज्झे सत्ततेवीसे जोयणसते उवरिं चत्तारि चउवीसे जोयणसए आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे दो जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीते जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं उवरिं एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य ईयाले जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे जाव पडिरूवे ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, दोण्हवि वण्णओ ॥ गोथूभस्स णं आवासपव्वतस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव आसयंति ॥ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पासायवडेंसए बावट्ठं जोयणद्धं च उड्ढं उच्चत्तेणं तं चेव पमाणं अद्धं आयाम-

विक्खंभेणं वण्णओ जाव सीहासणं सपरिवारं ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचइ गोथूभे आवासपव्वए २?, गोयमा! गोथूभे णं आवासपव्वते तत्थ २ देसे तहिं २ बहुओ खुड्डाखुड्डियाओ जाव गोथूभवण्णाइं बहूइं उप्पलाइं तहेव जाव गोथूभे तत्थ देवे महिड्ढीए जाव पलिओवमट्ठितीए परिवसति, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव गोथूभयस्स आवासपव्वतस्स गोथूभाए रायहाणीए जाव विहरति, से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे ॥ रायहाणि पुच्छा गोयमा! गोथूभस्स आवासपव्वतस्स पुरत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतिवइत्ता अण्णंमि लवणसमुद्दे तं चेव पमाणं तहेव सव्वं ॥ कहि णं भंते! सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासणामे आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सिवगस्स वेलंधरणागरायस्स दओभासे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते, तं चेव पमाणं जं गोथुभस्स, णवरि सव्वअंकामए अच्छे जाव पडिरूवे जाव अट्ठो भाणियव्वो, गोयमा! दओभासे णं आवासपव्वते लवणसमुद्दे अट्ठजोयणियखेत्ते दगं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोवेति तवति पभासेति सिवए इत्थ देवे महिड्ढीए जाव रायहाणी से दक्खिणेणं सिविगा दओभासस्स सेसं तं चेव ॥ कहि णं भंते! संखस्स वेलंधरणागरायस्स संखे णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पचत्थिमेणं बाया-

लीसं जोयणसहस्साइं एत्थ णं संखस्स० वेलंधर० संखे णामं आयासपव्वते तं चेव पमाणं णवरं सव्वरयणामए अच्छे। से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं जाव अट्ठो बहूओ खुड्डाखुड्डिआओ जाव बहूइं उप्पलाइं संखाभाइं संखयण्णाइं संखवण्णाभाइं संखे एत्थ देवे महिड्ढीए जाव रायहाणीए पच्चत्थिमेणं संखस्स आवासपव्वयस्स संखा नाम रायहाणी तं चेव पमाणं॥ कहि णं भंते! मणोसिलकस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स उत्तरेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स उदगसीमाए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते तं चेय पमाणं णवरि सव्वफलिहामए अच्छे जाव अट्ठो, गोयमा! दगसीमंते णं आवासपव्वते सीतासीतोदगाणं महाणदीणं तत्थ गतो सोए पडिहम्मति से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे मणोसिलए एत्थ देवे महिड्ढीए जाव से णं तत्थ चउण्हं सामाणिय० जाव विहरति॥ कहि णं भंते! मणोसिलगस्स वेलंधरणागरायस्स मणोसिला णाम रायहाणी?, गोयमा! दगसीमस्स आवासपव्वयस्स उत्तरेणं तिरि० अण्णंमि लवणे एत्थ णं मणोसिलिया णाम रायहाणी पण्णत्ता तं चेव पमाणं जाव मणोसिलाए देवे—कणगंकरययफालियमया य वेलंधराणमावासा। अणुवेलंधरराईण पव्वया होंति रयणमया॥ १॥ (सू० १५९)

‘कति णं भंते!’ इत्यादि, कति भदन्त! वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—चत्वारो वेलन्धरनागराजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गोस्तूपः शिवकः शङ्खो मनःशिलाकः ॥ **‘एएसि णं’**मित्यादि, एतेषां भदन्त! चतुर्णां वेलन्धरनागराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वार आवासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गोस्तूप उदकभासः शङ्खो दकसीमः ॥ **‘कहि णं भंते!’** इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अस्मिन् जम्बूद्वीपे यो मन्दरपर्वतस्तस्य पूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपो नाम आवासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सप्तदश योजनशतानि एकविंशान्यूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन, चत्वारि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि क्रोशं चैकमुद्वेधेन, उच्छ्रयापेक्षयाऽवगाहस्य चतुर्भागभावात्, मूले दश योजनशतानि द्वाविंशत्युत्तराणि विष्कम्भतः, मध्ये सप्त योजनशतानि त्रयोविंशत्युत्तराणि, उपरि चत्वारि योजनशतानि चतुर्विंशत्युत्तराणि, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्वात्रिंशदुत्तरे किञ्चिद्विशेषोने परिक्षेपेण, मध्ये द्वे योजनसहस्रे द्वे च योजनशते चतुरशीते किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण, उपर्येकं योजनसहस्रं त्रीणि योजनशतानि एकचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, ततो मूले विस्तीर्णो मध्ये सङ्क्षिप्त उपरि तनुकः, अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितो गोपुच्छस्याप्येवमाकारत्वात्, सर्वात्मना जाम्बूनदमयः, ‘अच्छे जाव पडिरूवे’ इति प्राग्वत् ॥ **‘से णं’**मित्यादि, **‘सः’** गोस्तूपनामा आवासपर्वत एकया पद्मवरवेदिकया एकेन च वनषण्डेन **‘सर्वतः’** सर्वासु दिक्षु **‘समन्ततः’** सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि चानयोर्वेदिकावनषण्डयोर्वर्णकः प्राग्वत् ॥ **‘गोथूभस्स णं’**मित्यादि, गोस्तूपस्य णमिति पूर्ववद् आवासपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, ‘से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा’ इत्यादि प्राग्वद् यावत्तत्र बहवो नागकुमारा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति ॥ **‘तस्स णं’**मित्यादि, तस्य बहुसमर-

मणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः, स च विजयदेवस्य प्रासादावतंसकसदृशो वक्तव्यः, स चैवं—सार्द्धानि द्वाषष्टिर्योजनानि उच्चैस्त्वेन, सक्रोशान्येकत्रिंशद् योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, प्रासादवर्णनमुल्लोचवर्णनं च प्राग्वत् । तस्य च प्रासादावतंसकस्यान्तर्बहुमध्यदेशभागे महत्येका सर्वरत्नमयी मणिपीठिका, सा च योजनायामविष्कम्भप्रमाणा गव्यूतद्वयबाहल्या, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि महदेकं सिंहासनं, तच्चेन्द्रसामानिकादिदेवयोग्यैर्भद्रासनैः परिवृतमिति ॥ 'से केणट्ठेणं भंते!' इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते गोस्तूप आवासपर्वतो गोस्तूप आवासपर्वतः? इति, भगवानाह—गौतम! गोस्तूपे आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि गोस्तूपप्रभाणि गोस्तूपाकाराणि गोस्तूपवर्णानि गोस्तूपवर्णस्येवाभा—प्रतिभासो येषां तानि गोस्तूपवर्णाभानि, ततस्तानि तदाकारत्वात् तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च गोस्तूपानीति प्रसिद्धानि, तद्योगादावासपर्वतोऽपि गोस्तूपः, अनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति तेन नेतरेतराश्रयदोषः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयं, तथा गोस्तूपश्चात्र भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्करणात् महाद्युतिक इत्यादि परिग्रहः, स च चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षदेवसहस्राणां गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य गोस्तूपायाश्च राजधान्या अन्येषां च बहूनां गोस्तूपराजधानीवास्तव्यानां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, ततो गोस्तूपदेवस्वामिकत्वाच्च गोस्तूपः, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतम् ॥ सम्प्रति गोस्तूपां राजधानीं पृच्छति—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! गोस्तूपस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम! गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य पूर्वया दिशा तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे गोस्तूपस्य भुज-

गेन्द्रस्य भुजगराजस्य गोस्तूपा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता, सा च विजयराजधानीसदृशी वक्तव्या ॥ तदेवमुक्तो गोस्तूपोऽधुना दकाभासवक्तव्यतामाह—'**कहिं णं भंते! सिवगस्से**'त्यादि प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धं, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे शिवकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकाभासो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेषेण वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ अधुना नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—'**से केणट्ठेण**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! दकाभास आवासपर्वतो लवणसमुद्रे सर्वासु दिक्षु स्वसीमातोऽष्टयोजनिके—अष्टयोजनप्रमाणे क्षेत्रे यदुदकं तत् '**समन्ततः**' सामस्त्येनातिविशुद्धाङ्कनामरत्नमयत्वेन स्वप्रभयाऽवभासयति, एतदेव पर्यायत्रयेण व्याचष्टे—उद्द्योतयति चन्द्र इव तापयति सूर्य इव प्रभासयति ग्रहादिरिव ततो दकं पानीयमाभासयति—समन्ततः सर्वासु दिक्षु अवभासयतीति दकाभासः, अन्यच्च शिवको नामात्र पर्वतेषु भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । '**से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीण**'मित्यादि प्राग्वत् नवरमत्र शिवका राजधानी वक्तव्या, तस्मिंश्च परिवसति स आवासपर्वतो दकमध्येऽतीवाऽऽभासते—शोभते इति दकाभासः, '**से एएणट्ठेण**'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थं, शिवकाराजधानी दकाभासस्यावासपर्वतस्य दक्षिणतोऽन्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीव भावनीया ॥ अधुना शङ्खनामकावासपर्वतवक्तव्यतामाह—'**कहि णं भंते!**' इत्यादि, क्व भदन्त! शङ्खस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शङ्खो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे शङ्खस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य शङ्खो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, स च गोस्तूपवदविशेपेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ इदानीं नामनिबन्धनमभिधित्सुराह—'**से केणट्ठेण**'मि-

त्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—शङ्खे आवासपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु यावद्विलपङ्क्तिषु वहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि शङ्खाभानि—शङ्खाकाराणि शङ्खवर्णानि—श्वेतानीति भावः शङ्खवर्णाभानि—प्रायः शङ्खवर्णसदृशवर्णानि, शङ्खश्चात्र भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । 'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सी ण'मित्यादि प्राग्वत्, नवरमत्र शङ्खा राजधानी वक्तव्या, तदेवं यतस्तद्गतान्युत्पलादीनि शङ्खाकाराणि शङ्खदेवस्वामिकश्चायमतः शङ्ख इति, 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थं, शङ्खा राजधानी शङ्खस्यावासपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीसदृशी वक्तव्या ॥ सम्प्रति दकसीमापर्वतवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतं, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरतो लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे मनःशिलकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य दकसीमो नामावासपर्वतः प्रज्ञप्तः, सोऽपि गोस्तूपपर्वतवदविशेषेण तावद्वक्तव्यो यावत्सपरिवारं सिंहासनम् ॥ इदानीं नामनिमित्तं विभणिषुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि प्रतीतं, भगवानाह—गौतम! दकसीमे आवासपर्वते शीताशीतोदयोर्महानद्योः श्रोतांसि—जलप्रवाहास्तत्र गतानि तस्माच्च तेन प्रतिहतानि प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो दकसीमाकारित्वाद् दकसीमः, दकस्य सीमा—शीताशीतोदापानीयस्य सीमा यत्रासौ दकसीम इति व्युत्पत्तेः, अन्यच्च मनःशिलको भुजगेन्द्रो भुजगराजो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । 'से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीण'मित्यादि प्राग्वत् नवरं मनःशिलाऽत्र राजधानी वक्तव्या, ततो मनःशिलस्य देवस्य दके—लवणजलमध्ये सीमा, आवासचिन्तायां मर्यादा, 'अत्रे'ति दकसीमे, मनःशिला च राजधानी दकसीमस्यावासपर्वतस्योत्तरतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजयाराजधानीव वक्तव्या । तदेवमुक्ताश्चत्वा-

रोऽपि वेलन्धराणामावासपर्वताः, सर्वत्र च गोस्तूपेनातिदेशः कृतः, अत्र च मूलदले विशेषस्ततस्तमभिधित्सुराह—"कणगंकरययफालियमया य वेलंधराणमावासा । अणुवेलंधरराईण पव्वया होंति रयणमया ॥ १ ॥" वेलन्धराणां—गोस्तूपादीनामावासा गोस्तूपादयश्चत्वारः पर्वता यथाक्रमं कनकाङ्करजतस्फटिकमयाः, गोस्तूपः कनकमयो दकाभासोऽङ्करत्नमयः शङ्खो रजतमयो दकसीमः स्फटिकमय इति, तथा महतां वेलन्धराणामादेशप्रतीच्छकतयाऽनुयायिनो वेलन्धराश्चानुवेलन्धराः ते च ते राजानश्च अनुवेलन्धरराजास्तेषामावासपर्वता रत्नमया भवन्ति ॥

कइ णं भंते! अणुवेलंधररायाणो पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि अणुवेलंधरणागरायाणो पण्णत्ता, तंजहा—कक्कोडए कद्दमए केलासे अरुणप्पभे ॥ एतेसि णं भंते! चउण्हं अणुवेलंधरणागरायाणं कति आवासपव्वया पन्नत्ता?, गोयमा! चत्तारि आवासपव्वया पण्णत्ता, तंजहा—कक्कोडए १ कद्दमए २ कइलासे ३ अरुणप्पभे ४ ॥ कहि णं भंते! कक्कोडगस्स अणुवेलंधरणागरायस्स कक्कोडए णाम आवासपव्वते पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कक्कोडगस्स नागरायस्स कक्कोडए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसताइं तं चेव पमाणं जं गोथूभस्स णवरि सव्वरयणामए अच्छे जाव निरवसेसं जाव सपरिवारं अट्ठो से बहूइं उप्पलाइं कक्कोडप्पभाइं सेसं तं चेव णवरि कक्कोडगपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं तं चेव सव्वं, कद्दमस्सवि सो

चेव गमओ अपरिसेसिओ, णवरि दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो विज्जुप्पभा रायहाणी दाहिणपुरत्थिमेणं, कइलासेवि एवं चेव, णवरि दाहिणपच्चत्थिमेणं कयलासावि रायहाणी ताए चेव दिसाए, अरुणप्पभेवि उत्तरपच्चत्थिमेणं रायहाणीवि ताए चेव दिसाए, चत्तारि विगप्पमाणा सव्वरयणामया य ॥ (सू० १६०)

'कइ ण'मित्यादि, कति भदन्त! अनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम! चत्वारोऽनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कोटकः १ कर्दमः २ कैलासः ३ अरुणप्रभश्च ॥ 'एएसि ण'मित्यादि, एतेषां भदन्त! चतुर्णामनुवेलन्धरराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः ?, भगवानाह—गौतम! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वारोऽनुवेलन्धरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कोटको विद्युत्प्रभः कैलासः अरुणप्रभश्च, कर्कोटकस्य कर्कोटकः कर्दमस्य विद्युत्प्रभः कैलाशस्य कैलाशः अरुणप्रभस्यारुणप्रभ इत्यर्थः ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे कर्कोटकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य कर्कोटको नामावासपर्वतकः प्रज्ञप्तः, 'सत्तरसएकवीसाइं जोयणसयाइं' इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतोक्ता सैवेहापि अहीनानतिरिक्ता भणितव्या, नवरं सर्वरत्नमय इति वक्तव्यं, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्माच्च क्षुल्लाक्षुल्लिकासु वापीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि कर्कोटकप्रभाणि कर्कोटकाकाराणि ततस्तानि कर्कोटकादीनि व्यवह्रियन्ते तद्योगात्पर्वतोऽपि कर्कोटकः, तथा कर्कोटकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति ततः कर्कोटकस्वामित्वात्कर्कोटकः, राजधान्यपि कर्कोटस्यावासपर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान्

द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य कर्कोटकाभिधाना विजयाराजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं कर्दमकैलाशारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवरं जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमको दक्षिणापरस्यां कैलाशः अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात्कर्दमके आवासपर्वते उत्पलादीनि कर्दमकप्रभाणि ततः कर्दमकभावना प्रागिव, अन्यच्च कर्दमके विद्युत्प्रभो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्वभावाद् यक्षकर्दमप्रियः, यक्षकर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तुरिकाचन्दनमेलापकः, उक्तञ्च—"कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरीचन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्तं, नामतो यक्षकर्दमम् ॥ १ ॥" ततः प्राचुर्येण यक्षकर्दमसम्भवाच्चासौ पूर्वपदलोपे सत्यभामा भामेतिवत् कर्दम इत्युच्यते, कैलाशे कैलाशप्रभाण्युत्पलादीनि कैलाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति ततः कैलाशः, एवमरुणप्रभेऽपि वक्तव्यं, कर्दमकाराजधानी कर्दमस्यावासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वया कैलाशा कैलाशस्यावासपर्वतस्य दक्षिणापरयाऽरुणप्रभा अरुणप्रभस्यावासपर्वतस्यापरोत्तरया तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रेऽरुणप्रभाराजधानी विजयाराजधानीव वाच्या ॥

कहि णं भंते! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे णामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स गोयमदीवे २ पण्णत्ते, बारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसं जोयणसहस्साइं नव य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसोणे परिक्खेवेणं, जंबूदीवंतेणं अद्धेकोणणउते जोयणाइं चत्तालीसं पंचणउतिभागे जोयणस्स ऊसिए जलंताओ लवणसमुद्दं-

तेणं दो कोसे ऊसिते जलंताओ ॥ से णं एगाए य पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता तहेव वण्णओ दोण्हवि । गोयमदीवस्स णं दीवस्स अंतो जाव बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहानामए—आलिंग० जाव आसयंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स एगे महं अइक्कीलावासे नामं भोमेज्जविहारे पण्णत्ते बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अणेगखंभसतसन्निविट्ठे भवणवण्णओ भाणियव्वो । अइक्कीलावासस्स णं भोमेज्जविहारस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीणं भासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ एगा मणिपेढिया पण्णत्ता । सा णं मणिपेढिया दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं जोयणबाहल्लेणं सव्वमणिमयी अच्छा जाव पडिरूवा ॥ तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं देवसयणिज्जे पण्णत्ते वण्णओ ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—गोयमदीवे णं दीवे?, तत्थ २ तहिं २ बहूइं उप्पलाइं जाव गोयमप्पभाइं से एएणट्ठेणं गोयमा! जाव णिच्चे । कहि णं भंते! सुट्ठियस्स लवणाहिवइस्स सुट्ठिया णामं रायहाणी पण्णत्ता?, गोयमदीवस्स पच्चत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे जाव अण्णंमि लवणसमुद्दे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एवं तहेव सव्वं णेयव्वं जाव सुट्ठिए देवे ॥ (सू० १६१)

'कहिं णं भंते !' इत्यादि, क भदन्त ! सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः ?, भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे सुस्थितस्य लवणाधिपस्य गौतमद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः, द्वादश योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां, सप्तत्रिंशद् योजनसहस्राणि नव चाष्टाचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, 'जंबूदीवंतेण'मिति जम्बूद्वीपदिशि 'अर्द्धैकोननवतीनि' अर्द्धमेकोननवतेर्येषां तानि अर्द्धैकोननवतीनि साद्धोष्टाशीतिसङ्ख्यानीति भावः, योजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्य 'जलान्तात्' जलपर्यन्तादूर्द्धमुच्छ्रितः, एतावान् जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः, 'लवणसमुद्रान्ते' लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ जलान्तादुच्छ्रितौ, द्वावेव क्रोशौ जलस्योपरि प्रकट इत्यर्थः ॥ 'से ण'मित्यादि, स एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णनं प्राग्वत् । तस्य च गौतमद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयभूमिभागवर्णनं प्राग्वद् यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनं वाप्यादिवर्णनं यावद्बहवो वानमन्तरा देवा आसते शेरते यावद्विहरन्तीति । तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र सुस्थितस्य लवणाधिपस्य योग्यो महानेकः 'अतिक्रीडावासः' अत्यर्थं क्रीडावासो नाम भौमेयविहारः प्रज्ञप्तः, सार्द्धानि द्वाषष्टियोजनान्यूर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशतं च योजनानि क्रोशमेकं च विष्कम्भेन 'अणेगखंभसयसन्निविट्ठे' इत्यादि भवनवर्णनमुल्लोचवर्णनं भूमिभागवर्णनं च प्राग्वत् । तस्य च बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, सा योजनमायामविष्कम्भाभ्यां अर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत्प्रतिरूपा ॥ 'तीसे ण'मित्यादि, तस्या मणिपीठिकाया उपरि देवशयनीयं, तस्य वर्णक उपर्यष्टाष्टमङ्गलकादिकं च प्राग्वत् ॥ नामनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ 'केनार्थेन' केन कारणेन एवमुच्यते—गौतमद्वीपो नाम द्वीपः ?, भगवा-

नाह—गौतमद्वीपस्य शाश्वतमिदं नामधेयं न कदाचिन्नासीदित्यादि प्राग्वत् । पुस्तकान्तरेषु पुनरेवं पाठः—'गोयमदीवे णं दीवे तत्थ तत्थ तहिं तहिं वहूइं उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं गोयमप्पभाइं गोयमवन्नाइं गोयमवण्णाभाइं' इति, एवं प्राग्वद् भावनीयः । सुस्थितश्चात्र लवणाधिपो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावत्षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां गौतमद्वीपस्य सुस्थितायाश्च राजधान्या अन्येषां च वहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरति, तत एवमेव शाश्वतनामत्वात्, पाठान्तरे तद्गतानि उत्पलादीनि गौतमप्रभाणीति गौतमानीति प्रसिद्धानि ततस्तद्योगात्तथा, तदधिपतिर्गौतमाधिपतिरिति प्रसिद्धं इति सामर्थ्यादेष गौतमद्वीप इति । उपसंहारमाह—'से तेणट्ठेण'मित्यादि गतार्थम् ॥ सम्प्रति जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कद्वीपप्रतिपादनार्थमाह—

कहि णं भंते! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जंबूदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, जंबुद्दीवंतेणं अद्धेकोणणउइ जोयणाइं चत्तालीसं पंचाणउतिं भागे जोयणस्स ऊसिया जलंतातो लवणसमुद्दंतेणं दो कोसे ऊसिता जलंताओ, बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, सेसं तं चेव जहा गोतमदीवस्स परिक्खेवो पउमवरवेइया पत्तेयं २ वणसंडपरि० दोण्हवि वण्णओ बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव जोइसिया देवा आसयंति। तेसि णं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पासायवडेंसगा बावट्ठि जोयणाइं बहुम-

ज्म० मणिपेढियाओ दो जोयणाइं जाव सीहासणा सपरिवारा भाणियव्वा तहेव अट्ठो, गोयमा! बहुसु खुड्डासु खुड्डियासु बहूइं उप्पलाइं चंदवण्णाभाइं चंदा एत्थ देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव चंदद्दीवाणं चंदाण य रायहाणीणं अन्नेसिं च बहूणं जोतिसियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव विहरंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! चंदद्दीवा जाव णिच्चा । कहि णं भंते! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंदाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ?, गोयमा! चंदद्दीवाणं पुरत्थिमेणं तिरियं जाव अण्णंमि जंबूद्दीवे २ बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव पमाणं जाव एमहिड्ढीया चंदा देवा २ ॥ कहि णं भंते! जंबुद्दीवगाणं सूराणं सूरदीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव उच्चत्तं आयामविक्खंभेणं परिक्खेवो वेदिया वणसंडा भूमिभागा जाव आसयंति पासायवडेंसगाणं तं चेव पमाणं मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो उप्पलाइं सूरप्पभाइं सूरा एत्थ देवा जाव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि जंबूद्दीवे दीवे सेसं तं चेव जाव सूरा देवा ॥ (सू० १६२) कहि णं भंते! अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! जंबूद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारस जोयण-

सहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, जहा जंबुद्दीवगा चंदा तहा भाणियव्वा णवरि रायहाणीओ अण्णंमि लवणे सेसं तं चेव। एवं अब्भिंतरलावणगाणं सूराणवि लवणसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ॥ कहि णं भंते! बाहिरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता?, गोयमा! लवणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ लवणसमुद्दं पचत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं बाहिरलावणगाणं चंददीवा नामं दीवा पण्णत्ता धायतिसंडदीवंतेणं अद्धेकोणणवतिजोयणाइं चत्तालीसं च पंचणउतिभागे जोयणस्स ऊसिता जलंतातो लवणसमुद्दंतेणं दो कोसे ऊसिता बारस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पउमवरवेइया वणसंडा बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा सो चेव अट्ठो रायहाणीओ सगाण दीवाणं पुरत्थिमेणं तिरियमसं० अण्णंमि लवणसमुद्दे तहेव सव्वं। कहि णं भंते! बाहिरलावणगाणं सूराणं सूरदीवा णामं दीवा पण्णत्ता? गोयमा! लवणसमुद्दपचत्थिमिल्लातो वेदियंताओ लवणसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं धायतिसंडदीवंतेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाइं चत्तालीसं च पंचनउतिभागे जोयणस्स दो कोसे ऊसिया सेसं तहेव जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पचत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जे लवणे चेव बारस जोयणा तहेव सव्वं भाणियव्वं॥

(सू० १६३) कहि णं भंते! धायतिसंडदीवगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ?, गोयमा! धायतिसंडस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ कालोयं णं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं धायतिसंडदीवाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, सव्वतो समंता दो कोसा ऊसिता जलंताओ बारस जोयणसहस्साइं तहेव विक्खंभपरिक्खेवो भूमिभागो पासायवडिंसया मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो तहेव रायहाणीओ, सकाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं अण्णंमि धायतिसंडे दीवे सेसं तं चेव, एवं सूरदीवावि, नवरं धायइसंडस्स दीवस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेदियंताओ कालोयं णं समुद्दं बारस जोयण० तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ सूराणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि धायइसंडे दीवे सव्वं तहेव ॥ (सू० १६४) कहि णं भंते! कालोयगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता?, गोयमा! कालोयसमुद्दस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेदियंताओ कालोयण्णं समुद्दं पच्चत्थिमेण बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कालोयगचंदाणं चंददीवा सव्वतो समंता दो कोसा ऊसिता जलंतातो सेसं तहेव जाव रायहाणीओ सगाणं दीव० पुरच्छिमेणं अण्णंमि कालोयगसमुद्दे बारस जोयणा तं चेव सव्वं जाव चंदा देवा २। एवं सूराणवि, णवरं कालोयगपच्चत्थिमिल्लातो वेदियंतातो कालोयसमुद्दपुरच्छिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णंमि कालोयगसमुद्दे त-

हेव सव्वं। एवं पुक्खरवरगाणं चंदाणं पुक्खरवरस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पुक्खररसमुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता चंददीवा अण्णंमि पुक्खरवरे दीवे रायहाणीओ तहेव। एवं सूराणवि दीवा पुक्खरवरदीवस्स पच्चत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पुक्खरोदं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवे समुद्दगाणं समुद्दे चेव एगाण अब्भिंतरपासे एगाणं बाहिरपासे रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवेसु समुद्दगाणं समुद्देसु सरिणामतेसु (सू० १६५) इमे णामा अणुगंतव्वा, जंबुद्दीवे लवणे धायइ कालोद पुक्खरे वरुणे। खीर घय इक्खु[वरो य]णंदी अरुणवरे कुंडले रुयगे ॥ १ ॥ आभरणवत्थगंधे उप्पलतिलते य पुढवि णिहिरयणे। वासहरदहनईओ विजया वक्खारकप्पिंदा ॥ २ ॥ पुरमंदरमावासा कूडा णक्खत्तचंदसूरा य। एवं भाणियव्वं ॥ (सू० १६६)

'कहि णं भंते!' इत्यादि ॥ क भदन्त! जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ?, भगवानाह—'गोयमे'त्यादि सर्वं गौतमद्वीपवत्परिभावनीयं, नवरमत्र जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशीति वक्तव्यं, तथा प्रासादावतंसको वक्तव्यः, तस्य चायामादिप्रमाणं तथैव, नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात्क्षुल्लिकावाप्यादिषु बहूनि उत्पलादीनि यावत्सहस्रपत्राणि चन्द्रप्रभाणि—चन्द्रवर्णानि, चन्द्रौ च ज्योतिषेन्द्रौ ज्योतिषराजौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ चन्द्रौ प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां स्वस्य

स्वस्य चन्द्रद्वीपस्य स्वस्याश्चन्द्राभिधानाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां ज्योतिषाणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरतः । तत-
स्तद्वतोत्पलादीनां चन्द्राकारत्वाच्चन्द्रवर्णत्वाच्चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च तौ चन्द्रद्वीपौ इति, चन्द्राभिधे च राजधान्यौ तयोश्चन्द्रद्वीपयोः पू-
र्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीसदृश्यौ
वक्तव्ये । एवं जम्बूद्वीपगतसूरसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एनमेव लवणसमुद्रमवगाह्य वक्तव्यं,
राजधान्यावपि स्वकद्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे वक्तव्ये, शेषं सर्वं चन्द्रद्वीपवद्भावनीयं नवरं चन्द्रस्थाने सूर्यग्रह-
णमिति ॥ सम्प्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामाह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, लवणे भवौ लावणिकौ अभ्यन्तरौ च तौ
लावणिकौ च अभ्यन्तरलावणिकौ शिखाया अर्वाक्चारिणावित्यर्थः तयोः, सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्, शेषं सुगमं, भगवा-
नाह—गौतम! जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि एनमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य 'अत्र' एतस्मिन्नवकाशे अभ्यन्तरलावणि-
कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ वक्तव्यौ, इत्यादि जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवन्निरवशेषं वक्तव्यं, नवरमत्र राजधान्यौ स्वकी-
ययोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वेदितव्ये । एवमभ्यन्तरलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा-
वपि वक्तव्यौ, नवरं तौ जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एनमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्यौ, राजधान्यावपि
स्वकीययोः द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशः योजनसहस्राण्यवगाह्येति ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त!
बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ?, बाह्यलावणिकौ नाम लवणसमुद्रे शिखाया बहिश्चारिणौ चन्द्रौ, भगवानाह—
गौतम! लवणसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तादर्वाग् लवणसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्च-

न्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ, तौ च धातकीषण्डद्वीपान्तेन—धातकीषण्डद्वीपदिशि अर्द्धैकोननवतियोजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्योदकादूर्द्धमुच्छ्रितो लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ, शेषवक्तव्यताऽभ्यन्तरलावणिकचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्या, अत्रापि च राजधान्यौ स्वकीययोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे वक्तव्ये, एवं बाह्यलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरमत्र लवणसमुद्रस्य पश्चिमाद् वेदिकान्ताल्लवणसमुद्रं पूर्वस्यां दिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यं, राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे इति ॥ सम्प्रति धातकीषण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामभिधित्सुराह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, क भदन्त! धातकीषण्डद्वीपगतानां चन्द्राणां, तत्र द्वादश चन्द्रा इति बहुवचनं, चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि कालोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र धातकीषण्डगतानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः, ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्याः, नवरं ते सर्वासु दिक्षु जलादूर्द्ध्वं द्वौ क्रोशौ उच्छ्रितौ इति वक्तव्यं, तत्र पानीयस्य सर्वत्रापि समत्वाद्, राजधान्योऽपि तेषां स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वतस्तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः, एवं धातकीषण्डगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः, नवरं धातकीषण्डस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्कालोदसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः, राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूरद्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे शेषं तथैव ॥ सम्प्रति कालोदसमुद्रगतचन्द्रादित्यसत्कद्वीपवक्तव्यतां प्रतिपिपादयिषुराह—'कहि णं भंते!' इत्यादि, 'कालोयगाणं'मित्यादि, क भदन्त! 'कालोदगानां' कालोदसमुद्रसत्कानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रस्य पूर्वस्माद् वेदिकान्ता-

त्कालोदसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्र कालोदसमुद्रगतचन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः, ते च सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ द्वौ क्रोशावुच्छ्रितौ, शेषं तथैव । राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् कालोदसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः । एवं कालोदगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः, नवरं कालोदसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्कालोदसमुद्रं पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यं, राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे, शेषं तथैव । एवं पुष्करवरद्वीपगतानां चन्द्राणां पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पुष्करोदसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य द्वीपा वक्तव्याः, राजधान्यः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, पुष्करवरद्वीपगतसूर्याणां द्वीपाः पुष्करवरद्वीपस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पुष्करवरसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः, राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, पुष्करवरसमुद्रगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः, राजधान्यः स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरसमुद्रे द्वादश योजनसहस्रेभ्यः परतः, पुष्करवरसमुद्रगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पूर्वतो द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः । एवं शेषद्वीपगतानामपि चन्द्राणां चन्द्रद्वीपगतात्पूर्वस्माद्वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः, सूर्याणां सूर्यद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात्प-

श्चिमान्ताद्वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे, राजधान्यश्चन्द्राणामात्मीयचन्द्रद्वीपेभ्यः पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके २ द्वीपे, सूर्याणामप्यात्मीयसूर्यद्वीपेभ्यः पश्चिमदिशि तस्मिन्नेव सदृशनामकेऽन्यस्मिन् द्वीपे द्वादश योजनसहस्रेभ्यः परतः, शेषसमुद्रगतानां तु चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात्पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, सूर्याणां तु स्वस्वसमुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्तात्पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य, चन्द्राणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके समुद्रे, सूर्याणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पश्चिमदिशि, केवलमग्रेतनशेषद्वीपसमुद्रगतानां चन्द्रसूर्याणां राजधान्योऽन्यस्मिन् सदृशनामके द्वीपे समुद्रे वाऽग्रेतने वा पश्चात्तने वा प्रतिपत्तव्या नाग्रेतन एवान्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेः ॥ एतच्च देवद्वीपादर्वाक् सूर्यवराभासं यावद्, देवद्वीपादिषु तु राजधानीः प्रति विशेषस्तमभिधित्सुराह—

कहि णं भंते! देवदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! देवदीवस्स देवोदं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तेणेव कमेण पुरत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं देवदीवं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं देवदीवयाणं चंदाणं चंदाओ णामं रायहाणीओ पण्णत्ताओ, सेसं तं चेव, देवदीवचंदा दीवा, एवं सूराणवि, णवरं पच्चत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ पच्चत्थिमेणं च भाणितव्वा, तंमि चेव समुद्दे ॥ कहि णं भंते! देवसमुद्दगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, गोयमा! देवोदगस्स समुद्दगस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेदियंताओ देवोदगं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं तेणेव

कमेणं जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं देवोदगाणं चंदाणं चंदाओ णामं रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं चेव सव्वं, एवं सूराणवि, णवरि देवोदगस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता रायहाणीओ सगाणं २ दीवाणं पुरत्थिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं। एवं णागे जक्खे भूतेवि चउण्हं दीवसमुद्दाणं। कहि णं भंते! सयंभूरमणदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता?, सयंभुरमणस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो सयंभुरमणोदगं समुद्दं बारस जोयणसहस्साइं तहेव रायहाणीओ सगाणं २ दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दं पुरत्थिमेणं असंखेज्जाइं जोयण० तं चेव, एवं सूराणवि, सयंभूरमणस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेदियंताओ रायहाणीओ सकाणं २ दीवाणं पच्चत्थिमिल्लाणं सयंभुरमणोदं समुद्दं असंखेज्जा० सेसं तं चेव। कहि णं भंते! सयंभूरमणसमुद्दकाणं चंदाणं०, सयंभुरमणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो सयंभुरमणं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, सेसं तं चेव। एवं सूराणवि, सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लाओ सयंभुरमणोदं समुद्दं पुरत्थिमेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं सयंभुरमण जाव सूरादेवा

॥(सूत्रं १६७) अत्थि णं भंते! लवणसमुद्दे वेलंधराति वा णागराया खन्नाति वा अग्घाति वा सिंहाति वा विजाती वा ह्रासवट्टीति?, हंता अत्थि। जहा णं भंते! लवणसमुद्दे अत्थि वेलंधराति वा णागराया अग्घा सिंहा विजाती वा ह्रासवट्टीति वा तहा णं वाहिरतेसुवि समुद्देसु अत्थि वेलंधराइ वा णागरायाति वा अग्घाति वा सीहाति वा विजातीति वा ह्रासवट्टीति वा?, णो तिणट्ठे समट्ठे॥ (सूत्रं १६८) लवणे णं भंते! समुद्दे किं ऊसितोदगे किं पत्थडोदगे किं खुभियजले किं अखुभियजले?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे ऊसिओदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले। जहा णं भंते! लवणे समुद्दे ओसितोदगे नो पत्थडोदगे खुभियजले नो अक्खुभियजले तहा णं वाहिरगा समुद्दा किं ऊसिओदगा पत्थडोदगा खुभियजला अक्खुभियजला?, गोयमा! वाहिरगा समुद्दा नो उस्सितोदगा पत्थडोदगा नो खुभियजला अक्खुभियजला पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठंति॥ अत्थि णं भंते! लवणसमुद्दे यहवो ओराला यलाहका संसेयंति संमुच्छंति वा वासं वासंति वा?, हंता अत्थि। जहा णं भंते! लवणसमुद्दे यहवे ओराला यलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति वा तहा णं याहिरएसुवि समुद्देसु यहवे ओराला यलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति?, णो तिणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठे णं भंते! एवं वुचति बाहिरगा णं समुद्दा पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडियाए

चिट्ठंति?, गोयमा! बाहिरएसु णं समुद्देसु बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवचयंति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति–बाहिरगा समुद्दा पुण्णा पुण्ण॰ जाव समभरघडत्ताए चिट्ठंति ॥(सू॰ १६९)

'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! देवद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्ताद् देवोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ता इत्यादि प्राग्वत्, राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रा नाम राजधान्यः प्रज्ञप्ताः, ता अपि विजयाराजधानीवद्वक्तव्याः ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! देवद्वीपगानां सूर्याणां सूर्यद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, भगवानाह—गौतम! देवद्वीपस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्ताद् देवोदं समुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि। राजधान्यः स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तमेव देवद्वीपमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! देवसमुद्राणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपा नाम द्वीपाः प्रज्ञप्ताः?, गौतम! देवोदस्य समुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तादेवोदकं समुद्रं पश्चिमदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवोदसमुद्रगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्तास्ते च प्राग्वत्। राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि देवोदकं समुद्रमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः, देवोदकसमुद्रगानां सूर्याणां सूर्यद्वीपा देवोदकस्य समुद्रस्य पश्चिमान्ताद्वेदिकान्ताद् देवोदकं समुद्रं पूर्वदिशि द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः, राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वदिशि देवोदकं समुद्रमसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य, एवं नागयक्षभूतस्वयम्भूरमण-

द्वीपसमुद्रचन्द्रादित्यानामपि वक्तव्यं, द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां चन्द्रादित्यद्वीपा अनन्तरसमुद्रे, समुद्रगतानां तु स्वस्वसमुद्र एव, राजधान्यो द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां स्वस्वद्वीपे, समुद्रगतानां स्वस्वसमुद्रे, आह च मूलटीकाकारोऽपि—"एवं शेषद्वीपगतचन्द्रादित्यानामपि द्वीपा अनन्तरसमुद्रेष्ववगन्तव्याः, राजधान्यश्च तेषां पूर्वापरतोऽसङ्ख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा ततोऽन्यस्मिन् सदृशनाम्नि द्वीपे भवन्ति, अन्त्यानिमान् पञ्च द्वीपान् मुक्त्वा देवनागयक्षभूतस्वयम्भूरमणाख्यान्, न तेषु चन्द्रादित्यानां राजधान्योऽन्यस्मिन् द्वीपे, अपि तु स्वस्मिन्नेव पूर्वापरतो वेदिकान्तादसङ्ख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य भवन्तीति," इह बहुधा सूत्रेषु पाठभेदाः परमेतावानेव सर्वत्राप्यर्थोऽनर्थभेदान्तरमित्येतद्व्याख्यानुसारेण सर्वेऽप्यनुगन्तव्या न मोग्धव्यमिति ॥ 'अत्थि णं भंते!' इत्यादि, सन्ति भदन्त! लवणसमुद्रे वेलन्धरा इति वा नागराजाः, अग्घा इति वा खन्ना इति वा सीहा इति वा जाइ इति वा ?, अग्घादयो मत्स्यकच्छपविशेषाः, आह च चूर्णिकृत्—"अग्घा खन्ना सीहा विजाइं इति मच्छकच्छभा" इति, ह्रस्ववृद्धी जलस्येति गम्यते इति, भगवानाह—गौतम सन्ति । 'जहा णं भंते! लवणसमुद्दे वेलंधरा इति वा' इत्यादि पाठसिद्धम् ॥ 'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किमुच्छ्रितोदकः प्रस्तटोदकः—प्रस्तटाकारतया स्थितमुदकं यस्य स तथा, सर्वतः समोदक इति भावः, क्षुभितं जलं यस्य स क्षुभितजलस्तत्प्रतिषेधादक्षुभितजलः ?, भगवानाह—गौतम! उच्छ्रितोदको न प्रस्तटोदकः क्षुभितजलो नाक्षुभितजलः ॥ 'जहा णं भंते!' इत्यादि, यथा भदन्त! लवणसमुद्र उच्छ्रितोदक इत्यादि तथा बाह्या अपि समुद्राः किमुच्छ्रितोदकाः प्रस्तटोदकाः क्षुभितजला अक्षुभितजलाः ?, भगवानाह—गौतम! बाह्याः समुद्रा न उच्छ्रितोदकाः किन्तु प्रस्तटोदकाः सर्वत्र समोदकत्वात्, तथा न क्षुभितजलाः किन्त्वक्षुभितजलाः क्षोभहेतुपातालकलशाद्यभावात्, किन्तु ते पूर्णाः, तत्र किञ्चिद्धीनमपि व्यवहारतः पूर्णं भवति तत आह—

पूर्णप्रमाणाः स्वप्रमाणं यावज्जलेन पूर्णा इति भावः, **'वोसट्टमाणा'** परिपूर्णभृततया उल्लुठन्त इवेति भावः, **'वोलट्टमाणा'** इति विशेषेण उल्लुट्ठन्त इवेत्यर्थः **'समभरघडत्ताए चिट्ठंति'** इति समं—परिपूर्णो भरो—भरणं यस्य स समभरः परिपूर्णभृत इत्यर्थः स चासौ घटश्च समभरघटस्तद्भावस्तत्ता तया समभृतघट इव तिष्ठन्तीति भावः ॥ **'अत्थि णं भंते!'** इत्यादि, अस्त्येतद् भदन्त! लवणसमुद्रे **'ओराला वलाहका'** उदारा मेघाः **'संस्विद्यन्ते'** संमूर्च्छनाभिमुखीभवन्ति, तदनन्तरं संमूर्छन्ति, ततो **'वर्षं'** पानीयं वर्षन्ति?, भगवानाह—हन्त! अस्ति ॥ 'जहा णं भंते! लवणसमुद्दे' इत्यादि प्रतीतम् ॥ **'से केणट्ठेण'**मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते बाह्याः समुद्राः पूर्णाः पूर्णप्रमाणाः? इत्यादि प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! बाह्येषु समुद्रेषु बहव उदकयोनिका जीवाः पुद्गलाश्चोदकतया **'अपक्रामन्ति'** गच्छन्ति **'व्युत्क्रामन्ति'** उत्पद्यन्ते, एके गच्छन्त्यन्ये उत्पद्यन्त इति भावः, तथा **'चीयन्ते'** चयमुपगच्छन्ति **'उपचीयन्ते'** उपचयमायान्ति, एतच्च पुद्गलान् प्रति द्रष्टव्यं, पुद्गलानामेव चयोपचयार्थप्रसिद्धेः, **'से एएणट्ठेण'**मित्याद्युपसंहारवाक्यं प्रतीतं ॥ सम्प्रत्युद्वेधपरिवृद्धिं चिचिन्तयिषुरिदमाह—

लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं उव्वेहपरिवुड्ढीते पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं २ पदेसे गंता पदेसं उव्वेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, पंचाणउतिं २ वालग्गाइं गंता वालग्गं उव्वेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, प० लिक्खाओ गंता लिक्खा उव्वेहपरि० पंचाणउइ जवाओ जवमज्झे अंगुलविहत्थिरयणीकुच्छी धणु [उव्वेहपरिवुड्ढीए] गाउयजोयणजोयणसतजोयणसहस्साइं गंता जोयणसहस्सं उव्वेहपरिवुड्ढीए ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं उस्सेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते?,

गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं पदेसे गंता सोलसपएसे उस्सेहपरिवुड्ढीए पण्णत्ते, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स एएणेव कमेणं जाव पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं गंता सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेधपरिवुड्ढिए पण्णत्ते ॥ (सू० १७०)

'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः 'कियत्' कियन्ति योजनानि यावद् उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः ?, किमुक्तं भवति ?—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियन्ति योजनानि यावत् मात्रया मात्रया उद्वेधपरिवृद्धिरिति, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रे उभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिप्रदेशान् गत्वा प्रदेश उद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः, इह प्रदेशस्त्रसरेण्वादिरूपो द्रष्टव्यः, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वैकं वालाग्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तं, एवं लिक्षायवमध्याङ्गुलवितस्तिरत्निकुक्षिधनुर्गव्यूतयोजनयोजनशतसूत्राण्यपि भावनीयानि, पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि गत्वा योजनसहस्रमुद्वेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तं, त्रैराशिकभावना चैवं योजनादिषु द्रष्टव्या, इहोभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहेन दृष्टं ततस्त्रैराशिककर्म्मावतारः, यदि पञ्चनवतिसहस्रपर्यन्ते योजनसहस्रमवगाहस्ततः पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते कोऽवगाहः ?, राशित्रयस्थापना—९५०००।१०००।९५ । अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रयस्यापवर्त्तना ९५।१।९५, ततो मध्यस्य राशेरेकरूपस्य अन्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन राशिना गुणनात् जाता पञ्चनवतिः, तत्राद्येन राशिना पञ्चनवतिलक्षणेन विभज्यते लब्धमेकं योजनं, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गंतूणं जोयणाणि उभओवि । जोयणसहस्समेगं लवणे ओगाहओ होइ ॥ १ ॥ पंचाणउईण वगे (लवणे) गंतूणं जोयणाणि उभओवि । जोयणमेगं लवणे ओगाहेणं मुणेयव्वा ॥ १ ॥" पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते च यद्येकं यो-

जनमवगाहस्ततोऽर्थात्पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते एकं गव्यूतं पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते एकं धनुरित्यादि लब्धम् ॥ सम्प्रत्युत्सेधमधिकृत्याह— 'लवणे णं भंते! समुद्दे' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः 'कियत्' कियन्ति योजनानि उत्सेधपरिवृद्ध्या प्रज्ञप्तः?, एतदुक्तं भवति—जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्योभयतोऽपि लवणसमुद्रस्य कियत्या कियत्या मात्रया कियन्ति योजनानि यावदुत्सेधपरिवृद्धिः?, भगवानाह—गौतम! 'लवणस्स णं समुद्दस्से'त्यादि, इह निश्चयतो लवणसमुद्रस्य जम्बूद्वीपवेदिकातो लवणसमुद्रवेदिकातश्च समतले भूभागे प्रथमतो जलवृद्धिरङ्गुलसङ्ख्येयभागः, समतलमेव भूभागमधिकृत्य प्रदेशवृद्ध्या जलवृद्धिः क्रमेण परिवर्द्धमाना तावद्वसेया यावदुभयतोऽपि पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्ते सप्त शतानि, ततः परं मध्यदेशभागे दश-योजनसहस्रविस्तारे षोडश योजनसहस्राणि, इह तु षोडशयोजनसहस्रप्रमाणायाः शिखायाः शिरसि उभयोश्च वेदिकान्तयोर्मूले दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले किमपि जलरहितमाकाशं तदपि करणगत्या तदाभाव्यमिति स जलं विवक्षित्वाऽधिकृतमुच्यते—लवणस्य समुद्रस्योभयतो जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्च पञ्चनवतिं प्रदेशान् गत्वा षोडश प्रदेशा उत्सेधपरिवृद्धिः प्रज्ञप्ता, पञ्चनवतिं वालाग्राणि गत्वा षोडश वालाग्राणि, एवं यावत् पञ्चनवति योजनसहस्राणि गत्वा षोडश योजनसहस्राणि, अत्रे-यं त्रैराशिकभावना—पञ्चनवतियोजनसहस्रातिक्रमे षोडश योजनसहस्राणि जलोत्सेधस्ततः पञ्चनवतियोजनातिक्रमे क उत्सेधः?, राशित्रयस्थापना—९५०००।१६०००।९५। अत्रादिमध्ययो राश्योः शून्यत्रिकस्यापवर्त्तना ९५।१६।९५, ततो मध्यमराशेः षोडशल-क्षणस्यान्त्येन पञ्चनवतिलक्षणेन गुणने जातानि पञ्चदश शतानि विंशत्यधिकानि १५२०, एषामादिराशिना पञ्चनवतिलक्षणेन भागे हृते लब्धानि षोडश योजनानि, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गंतूणं जोयणाणि उभओवि । उस्सेहेणं लवणो सोलससाहस्सिओ

भणिओ ॥ १ ॥ पंचाणउई लवणे गंतूणं जोयणाणि उभओवि । उस्सेहेणं लवणो सोलस किल जोयणे होइ ॥ २ ॥" तत्र यदि पञ्चनवतियोजनपर्यन्ते षोडशयोजनावगाहस्ततोऽर्थाल्लभ्यते पञ्चनवतिगव्यूतपर्यन्ते षोडश गव्यूतानि पञ्चनवतिधनुःपर्यन्ते षोडश धनूंषीत्यादि ॥ सम्प्रति गोतीर्थप्रतिपादनार्थमाह—

लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए गोतित्थे पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स उभओपासिं पंचाणउतिं २ जोयणसहस्साइं गोतित्थं पण्णत्तं ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते?, गोयमा! लवणस्स णं समुद्दस्स दस जोयणसहस्साइं गोतित्थविरहिते खेत्ते पण्णत्ते ॥ लवणस्स णं भंते! समुद्दस्स केमहालए उदगमाले पण्णत्ते?, गोयमा! दस जोयणसहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते ॥ (सू० १७१)

'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य 'किंमहत्' किंप्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थं प्रज्ञप्तं?, गोतीर्थमिव गोतीर्थं—क्रमेण नीचो नीचतरः प्रवेशमार्गः, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्योभयोः पार्श्वयोर्जम्बूद्वीपवेदिकान्ताल्लवणसमुद्रवेदिकान्ताच्चारभ्येत्यर्थः पञ्चनवतिं योजनसहस्राणि यावद् गोतीर्थं प्रज्ञप्तम्, उक्तञ्च—"पंचाणउइसहस्से गोतित्थं उभयतोवि लवणस्स" इति ॥ 'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त! समुद्रस्य 'किंमहत्' किंप्रमाणमहत्त्वं गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! लवणस्य समुद्रस्य दश योजनसहस्राणि गोतीर्थविरहितं क्षेत्रं प्रज्ञप्तम् ॥ 'लवणस्स णं भंते!' इत्यादि, लवणस्य भदन्त!

समुद्रस्य 'किंमहती' विस्तारमधिकृत्य किंप्रमाणमहत्त्वा उदकमाला—समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता?, भगवानाह—गौतम ! दश योजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता ॥

लवणे णं भंते! समुद्दे किंसंठिए पण्णत्ते?, गोयमा! गोतित्थसंठिते नावासंठाणसंठिते सिप्पिसंपुडसंठिए आसखंधसंठिते वलभिसंठिते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते पण्णत्ते ॥ लवणे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवतियं परिक्खेवेणं? केवतियं उव्वेहेणं? केवतियं उस्सेहेणं? केवतियं सव्वग्गेणं पण्णत्ते?, गोयमा! लवणे णं समुद्दे दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं च इगुयालं किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेधेणं सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेहेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्तं ॥ (सूत्रं १७२) जइ णं भंते! लवणसमुद्दे दो जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णरस जोयणसतसहस्साइं एकासीतिं च सहस्साइं सतं इगुयालं किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेधेणं सत्तरस जोयणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। कम्हा णं भंते! लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं २ नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एक्कोदगं करेंति?, गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे भरहेरवएसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टिबलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाधरा समणा समणीओ सावया सावियाओ मणुया एगध-

च्चा पगतिभद्दया पगतिविणीया पगतिउवसंता पगतिपयणुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दगा विणीता, तेसि णं पणिहाते लवणे समुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एगोदगं करेंति, गंगासिंधुरत्तारत्तवईसु सलिलासु देवया महिड्डियाओ जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तेसिणं पणिहाए लवणसमुद्दे जाव नो चेव णं एगोदगं करेति, चुल्लहिमवंतसिहरेसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्डिया तेसि णं पणिहाए०, हेमवतेरण्णवतेसु वासेसु मणुया पगतिभद्दगा०, रोहितंससुवण्णकूलरूप्पकूलासु सलिलासु देवयाओ महिड्डियाओ तासिं पणि०, सद्दावतिवियडावति वट्टवेयड्ढपव्वतेसु देवा महिड्डिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिव०, महाहिमवंतरुप्पिसु वासहरपव्वतेसु देवा महिड्डिया जाव पलिओवमट्ठितीया, हरिवासरम्मयवासेसु मणुया पगतिभद्दगा गंधावतिमालवंतपरिताएसु वट्टवेयड्ढपव्वतेसु देवा महिड्डीया, णिसढनीलवंतेसु वासधरपव्वतेसु देवा महिड्डीया०, सव्वाओ दहदेवयाओ भाणियव्वा, पउमद्दहतिगिच्छिकेसरिदहावसाणेसु देवा महिड्डीयाओ तासिं पणिहाए०, पुव्वविदेहावरविदेहेसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टिबलदेववासुदेवा चारणा विज्जाहरा समणा समणीओ सावगा सावियाओ मणुया पगति० तेसिं पणिहाए लवण०, सीयासीतोदगासु सलिलासु देवता महिड्डीया०, देवकुरुउत्तरकुरुसु मणुया पगतिभद्दगा०, मंदरे पव्वते देवता महिड्डीया०, जंबूए य सुदंसणाए

जंबूदीवाहिवती अणाढिए णामं देवे महिड्डीए जाव पलिओवमठितीए परिवसति तस्स पणिहाए लवणसमुद्दे नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णं एकोदगं करेति, अदुत्तरं च णं गोयमा! लोगट्ठिती लोगाणुभावे जण्णं लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं नो उवीलेति नो उप्पीलेति नो चेव णमेगोदगं करेति ॥ (सू० १७३)

'लवणे णं भंते!' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! गोतीर्थसंस्थानसंस्थितः क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरामुद्वेधस्य भावात्, नावासंस्थितः बुध्नादूर्द्ध्वं नाव इव उभयोरपि पार्श्वयोः समतलं भूभागमपेक्ष्य क्रमेण जलवृद्धिसम्भवेन उन्नताकारत्वात्, 'सिप्पसंपुडसंठिते' इति शुक्तिकासंपुटसंस्थानसंस्थितः, उद्वेधजलस्य जलवृद्धिजलस्य चैकत्रमीलनचिन्तायां शुक्तिकासंपुटाकारसादृश्यसम्भवात्, '**अश्वस्कन्धसंस्थितः**' उभयोरपि पार्श्वयोः पञ्चनवतियोजनसहस्रपर्यन्तेऽश्वस्कन्धस्येवोन्नततया षोडशयोजनसहस्रप्रमाणोच्चैस्त्वयोः शिखाया भावात्, '**वलभीसंस्थितः**' वलभीगृहसंस्थानसंस्थितः दशयोजनसहस्रप्रमाणविस्तारायाः शिखाया वलभीगृहाकाररूपतया प्रतिभासनात्, तथा वृत्तो लवणसमुद्रो वलयाकारसंस्थितः, चक्रवालतया तस्यावस्थानात् ॥ सम्प्रति विष्कम्भादिपरिमाणमेककालं पिपृच्छिषुराह—'**लवणे णं भंते! समुद्दे**' इत्यादि, लवणो भदन्त! समुद्रः कियच्चक्रवालविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण कियदुद्वेधेन—उण्डत्वेन कियदुत्सेधेन कियत्सर्वाग्रेण—उत्सेधोद्वेधपरिमाणसामस्त्येन प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन प्रज्ञप्तः, पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन, षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन, सप्तदश योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण—उत्सेधो-

द्वेधमीलनचिन्तायां । इह लवणसमुद्रस्य पूर्वाचार्यैर्घनप्रतरगणितभावनाऽपि कृता सा विनेयजनानुग्रहाय दर्श्यते, तत्र प्रतरभावना क्रि-
यते, प्रतरानयनार्थं चेदं करणं—लवणसमुद्रसत्कविस्तारपरिमाणाद् द्विलक्षयोजनरूपाद् दश योजनसहस्राणि शोध्यन्ते, तेषु च शोधि-
तेषु यच्छेषं तस्यार्द्धं क्रियते, जातानि पञ्चनवतिः सहस्राणि, यानि च प्राक् शोधितानि दश सहस्राणि तानि च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं
पञ्चोत्तरं लक्षं १०५०००, एतच्च कोटीति व्यवह्रियते, अनया च कोट्या लवणसमुद्रस्य मध्यभागवर्त्ती परिरयो नव लक्षा अष्टचत्वा-
रिंशत्सहस्राणि पट् शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९४८६८३ इत्येवंपरिमाणो गुण्यते, ततः प्रतरपरिमाणं भवति, तच्चेदं—नवनवतिः को-
टिशतानि एकषष्टिः कोटयः सप्तदश लक्षाः पञ्चदश सहस्राणि ९९६११७१५०००, उक्तञ्च—“वित्थाराओ सोहिय दससहस्साइं
सेसअद्धंमि । तं चेव पक्खिवित्ता लवणसमुद्दस्स सा कोडी ॥ १ ॥ लक्खं पंचसहस्सा कोडीए तीएँ संगुणेऊणं । लवणस्स मज्झप-
रिही ताहे पयरं इमं होइ ॥ २ ॥ नवनउई कोडिसया एगट्ठी कोडि लक्ख सत्तरसा । पन्नरस सहस्साणि य पयरं लवणस्स निद्दिट्ठं
॥ ३ ॥” घनगणितभावना त्वेवं—इह लवणसमुद्रस्य शिखा षोडश सहस्राणि योजनसहस्रमुद्वेधः सर्वसङ्ख्यया सप्तदश सहस्राणि, तैः
प्राक्तनं प्रतरपरिमाणं गुण्यते, ततो घनगुणितं भवति, तच्चेदं—षोडश कोटीकोटयस्त्रिनवतिः कोटिशतसहस्राणि एकोनचत्वारिंशत् को-
टिसहस्राणि नव कोटिशतानि पञ्चदशकोट्यधिकानि पञ्चाशल्लक्षाणि योजनानामिति १६९३३९९१५५००००००, उक्तञ्च—“जो-
यणसहस्ससोलस लवणसिहा अहोगया सहस्सेगं । पयरं सत्तरसहस्ससंगुणं लवणघणगणियं ॥ १ ॥ सोलस कोडाकोडी तेणउई कोडि-
सयसहस्साओ । उणयालीससहस्सा नवकोडिसया य पन्नरसा ॥ २ ॥ पन्नास सयसहस्सा जोयणाणं भवे अणूणाइं । लवणसमुद्द-
स्सेयं जोयणसंखाएँ घणगणियं ॥ ३ ॥” आह—कथमेतावत्प्रमाणं लवणसमुद्रस्य घनगणितं भवति?, न हि सर्वत्र तस्य सप्तदशयो-

जनसहस्रप्रमाण उच्छ्रयः, किन्तु मध्यभाग एव दशसहस्रप्रमाणविस्तारस्ततः कथं यथोक्तं घनगणितमुपपद्यते? इति, सत्यमेतत्, केवलं लवणशिखायाः शिरसि उभयोश्च वेदिकान्तयोरुपरि दवरिकायामेकान्तऋजुरूपायां दीयमानायां २ यदपान्तराले जलशून्यं क्षेत्रं तदपि करणगत्या तदाभाव्यमिति सजलं विवक्ष्यते, अत्रार्थे च दृष्टान्तो मन्दरपर्वतः, तथाहि—मन्दरपर्वतस्य सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिरुपवर्ण्यते, अथ च न सर्वत्रैकादशभागपरिहाणिः, किन्तु क्वापि कियती, केवलं मूलादारभ्य शिखरं यावद्दवरिकायां दत्तायां यदपान्तराले क्वापि कियदाकाशं तत्सर्वं करणगत्या मेरोराभाव्यमिति मेरुतया परिकल्प्य गणितज्ञाः सर्वत्रैकादशपरिभागहानिं परिवर्णयन्ति, तद्वदिदमपि यथोक्तं घनपरिमाणमिति, न चैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत आह **जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो विशेषणवत्यामेतद्विचारप्रक्रमे**—"एवं उभयवेइयंताओ सोलसहस्सुस्सेहस्स कन्नगईए जं लवणसमुद्दाभव्वं जलसुन्नंपि खेत्तं तस्स गणियं, जहा मंदरपव्वयस्स एक्कारसभागपरिहाणी कन्नगईए आगासस्सवि तदाभव्वंतिकाउं भणिया तहा लवणसमुद्दस्सवि ॥" इति ॥ 'जइ णं भंते!' इत्यादि, यदि भदन्त! लवणसमुद्रो द्वे योजनशतसहस्रे चक्रवालविष्कम्भेन पञ्चदश योजनशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि शतं चैकोनचत्वारिंशं किञ्चिद्विशेषोनं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन षोडश योजनसहस्राण्युत्सेधेन सप्तदश योजनसहस्राणि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तः॥ तर्हि '**कम्हा णं भंते!**' इत्यादि, कस्माद् भदन्त! लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं न '**अवपीडयति**' जलेन प्लावयति, न '**उत्पीडयति**' प्राबल्येन बाधते, नापि णमिति वाक्यालङ्कृतौ '**एकोदकं**' सर्वात्मनोदकप्लावितं करोति?, भगवानाह—गौतम! जम्बूद्वीपे भरतैरावतयोः क्षेत्रयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो बलदेवा वासुदेवाः '**चारणाः**' जङ्घाचारणमुनयो विद्याधराः '**श्रमणाः**' साधवः '**श्रमण्यः**' संयत्यः श्रावकाः श्राविकाः, एतत् सुषमदुष्षमादिकमरकत्रयमपेक्ष्योक्तं वेदितव्यं, तत्रैवार्हदादीनां यथायोगं सम्भ-

वात्, सुषमसुषमादिकमधिकृत्याह—मनुष्याः प्रकृतिभद्रकाः प्रकृतिप्रतनुक्रोधमानमायालोभाः मृदुमार्दवसंपन्ना आलीना भद्रका विनीताः, एतेषां व्याख्यानं प्राग्वत्, तेषां '**प्रणिधया**' प्रणिधानं प्रणिधा, 'उपसर्गादात' इत्यङ्प्रत्ययः, तान् 'प्रणिधाय' अपेक्ष्य तेषां प्रभावत इत्यर्थः, लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि, दुष्पमदुष्पमादावपि नावपीडयति, भरतवैताढ्याद्यधिपतिदेवताप्रभावात्, तथा क्षुल्लहिमवच्छिखरिणोर्वर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका यावत्करणान्महाद्युतिका इत्यादिपरिग्रहः परिवसन्ति तेषां '**प्रणिधया**' प्रभावेन लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं नावपीडयतीत्यादि । तथा हैमवतहैरण्यवतोर्वर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत्, तथा तयोरेव वर्षयोर्यौ यथाक्रमं शब्दापातिविकटापाती वृत्तवैताढ्यौ पर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत् । तथा महाहिमवद्रुक्मिवर्षधरपर्वतयोर्देवता महर्द्धिका इत्यादि तथैव । तथा हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्मनुजाः प्रकृतिभद्रका इत्यादि सर्वं हैमवतवत्, तथा तयोः क्षेत्रयोर्यथाक्रमं गन्धापातिमाल्यवत्पर्यायौ यौ वृत्तवैताढ्यपर्वतौ तयोर्देवौ महर्द्धिकावित्यादि पूर्ववत् । तथा पूर्वविदेहापरविदेहवर्षयोरर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो यावन्मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद् विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत् । तथा देवकुरुत्तरकुरुषु मनुजाः प्रकृतिभद्रका यावद्विनीतास्तेषां प्रणिधयेत्यादि पूर्ववत् । तथा उत्तरकुरुषु कुरुषु जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम देवो जम्बूद्वीपाधिपतिः परिवसति तस्य '**प्रणिधया**' प्रभावेनेत्यादि तथैव । अथान्यद् गौतम ! कारणं, तदेवाह—लोकस्थितिरेषा—लोकानुभाव एष यल्लवणसमुद्रो जम्बूद्वीपं द्वीपं जलेन नावपीडयतीत्यादि ॥ तृतीयप्रतिपत्तावेष मन्दरोद्देशकः समाप्तः ॥ तदेवमुक्ता लवणसमुद्रवक्तव्यता, सम्प्रति धातकीषण्डवक्तव्यतामाह—

लवणसमुद्दं धायइसंडे नाम दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता

णं चिट्ठंति, धायतिसंडे णं भंते! दीवे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिते?, गोयमा! समचक्कवालसंठिते नो विसमचक्कवालसंठिते ॥ धायइसंडे णं भंते! दीवे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! चत्तारि जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एगयालीसं जोयणसतसहस्साइं दसजोयणसहस्साइं णवएगट्ठे जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोण्हवि वण्णओ दीवसमिया परिक्खेवेणं ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, विजए वेजयंते जयंते अपराजिए ॥ कहि णं भंते! धायइसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! धायइसंडपुरत्थिमपेरंते कालोयसमुद्दपुरत्थिमद्धस्स पचत्थिमेणं सीयाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं धायइ० विजए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव पमाणं, रायहाणीओ अण्णंमि धायइसंडे दीवे, दीवस्स वत्तव्वया भाणियव्वा, एवं चत्तारिवि दारा भाणियव्वा ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य २ एस णं केवइयं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा! दस जोयणसयसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्तपणतीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे दारस्स य २ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥ धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पदेसा कालोयगं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा ॥ ते णं भंते! किं धायइसंडे दीवे कालोए स-

मुद्दे?, ते धायइसंडे नो खलु ते कालोयसमुद्दे। एवं कालोयस्सवि। धायइसंडदीवे जीवा उद्दाइत्ता २ कालोए समुद्दे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगतिया पच्चायंति अत्थेगतिया नो पच्चायंति। एवं कालोएवि अत्थे० प० अत्थेगतिया णो पच्चायंति ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—धायइसंडे दीवे २?, गोयमा! धायइसंडे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं २ पएसे धायइरुक्खा धायइवण्णा धायइसंडा णिच्चं कुसुमिया जाव उवसोभेमाणा २ चिट्ठंति, धायइमहाधायइरुक्खेसु सुदंसणपियदंसणा दुवे देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति से एएणट्ठेणं०, अदुत्तरं च णं गोयमा! जाव णिच्चे ॥ धायइसंडे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु वा ३? कति सूरिया तविंसु वा ३? कइ महग्गहा चारं चरिंसु वा ३? कइ णक्खत्ता जोगं जोइंसु ३? कइ तारागणकोडाकोडीओ सोभिंसु वा ३?, गोयमा! बारस चंदा पभासिंसु वा ३, एवं—चउवीसं ससिरविणो णक्खत्त सता य तिन्नि छत्तीसा। एगं च गहसहस्सं छप्पन्नं धायईसंडे ॥ १ ॥ अट्ठेव सयसहस्सा तिण्णि सहस्साइं सत्त य सयाइं। धायइसंडे दीवे तारागण कोडिकोडीणं ॥ २ ॥ सोभिंसु वा ३ ॥ (सू० १७४)

'लवणसमुद्द'मित्यादि, लवणसमुद्रं धातकीषण्डो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्य तिष्ठति ॥ 'धायइसंडे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए' इति सूत्रं लवणसमुद्रवद्भावनीयम् ॥ 'धायइसंडे

ण' मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन, एकचत्वारिंशत् योजनशतसहस्राणि दश सहस्राणि नव च एकषष्टानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण, उक्तञ्च—"एयालीसं लक्खा दस य सहस्साणि जोयणाणं तु । नव य सया एगट्ठा किंचूणा परिरओ तस्स ॥ ३ ॥" 'से ण'मित्यादि, स धातकीखण्डो द्वीप एकया पद्मवरवेदिकया अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति सामर्थ्याद्गम्यते, एकेन वनषण्डेन पद्मवरवेदिकाबहिर्भूतेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः । द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत् ॥ 'धायइसंडस्स ण'मित्यादि, धातकीषण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, क्व भदन्त! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह—गौतम! धातकीषण्डस्य द्वीपस्य पूर्वपर्यन्ते कालोदसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीताया महानद्या उपरि 'अत्र' एतस्मिन्नन्तरे धातकीषण्डस्य द्वीपस्य विजयनाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वेदितव्यं, नवरमत्र राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे वक्तव्या । 'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपदक्षिणपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरमत्रापि राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डद्वीपे ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं गतार्थं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपपश्चिमपर्यन्ते कालोदसमुद्रपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उपर्यत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपजयन्तद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीषण्डे द्वीपे ॥ 'कहि णं भंते!' इत्यादि, प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! धातकीषण्डद्वीपोत्तरार्द्धपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र धातकीषण्डस्य द्वीपस्यापरा-

जितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीपण्डे द्वीपे ॥ **'धायइसंडस्स णं भंते!'** इत्यादि, धातकीषण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य २ च परस्परमेतदन्तरं **'कियत्'** किंप्रमाणम् **'अबाधया'** अन्तरित्वा व्याघातेन प्रज्ञप्तम् ?, भगवानाह—गौतम ! दश योजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिर्योजनसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशानि द्वारस्य २ परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—एकैकस्य द्वारस्य सद्वारशाखस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि, ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तान्यनन्तरोक्तात्परिरयमानात् ४११०९६१ शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदम्—एकचत्वारिंशल्लक्षा दश सहस्राणि नव शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४११०९४३, एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम्, उक्तञ्च—"पणतीसा सत्त सया सत्तावीसा सहस्स दस लक्खा। धायइसंडे दारंतरं तु अवरं च कोसतियं ॥ १ ॥" **'धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पएसा'** इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्राग्वद्भावनीयानि ॥ **'से केणट्ठेणं भंते!'** इत्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—धातकीषण्डो द्वीपो धातकीखण्डो द्वीपः? इति, भगवानाह—धातकीपण्डे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो धातकीवृक्षा बहवो धातकीवनषण्डा बहूनि धातकीवनानि, वनषण्डयोः प्रतिविशेषः प्रागेवोक्तः, 'निच्चंकुसुमिया' इत्यादि प्राग्वत्, **'धायइमहाधायइरुक्खेसु एत्थ'**मित्यादि पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीनामवृक्षोऽवतिष्ठते, पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे महाधातकीनामवृक्षोऽवतिष्ठते, तौ च प्रमाणादिना जम्बूवृक्षवद्वेदितव्यौ, तयोरत्र धातकीपण्डे द्वीपे यथाक्रमं सुदर्शनप्रियदर्शनौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततो धातकीषण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीषण्डद्वीपः, तथा चाह—**'से एएणट्ठेण'**मित्यादि गतार्थं ॥ सम्प्रति चन्द्रादिवक्तव्यतामाह—**'धायइसंडे णं भंते! दीवे कति चंदा पभासिंसु'** इत्यादि

प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! धातकीषण्डे द्वादश चन्द्राः प्रभासितवन्तः प्रभासन्ते प्रभासिष्यन्ते, द्वादश सूर्यास्तापितवन्तस्तापयन्ति तापयिष्यन्ति, त्रीणि नक्षत्रशतानि षट्त्रिंशानि योगं चन्द्रमसा सूर्येण च सार्द्धं युक्तवन्तो युञ्जन्ति योक्ष्यन्ति, तत्र त्रीणि षट्त्रिंशानि नक्षत्राणां शतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां भावात्, तथा एकं षट्पञ्चाशदधिकं महाग्रहसहस्रं चारं चरितवन्तश्चरन्ति चरिष्यन्ति, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाग्रहाणां भावात्, अष्टौ शतसहस्राणि त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि तारागणकोटीकोटीनां शोभितवन्तः शोभन्ते शोभयिष्यन्ते, एतदपि एकशशिनः तारापरिमाणं द्वादशभिर्गुणयित्वा भावनीयं, उक्तं च—"बारस चंदा सूरा नक्खत्तसया य तिन्नि छत्तीसा। एगं च गहसहस्सं छप्पन्नं धायईसंडे ॥ १ ॥ अट्ठेव सयसहस्सा तिन्नि सहस्सा य सत्त य सया उ। धायइसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीओ ॥ २ ॥" सम्प्रति कालोदसमुद्रवक्तव्यतामाह—

धायइसंडं णं दीवं कालोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खित्ताणं चिट्ठइ, कालोदे णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठाणसंठिते विसम०?, गोयमा! समचक्कवाल० णो विसमचक्कवालसंठिते॥ कालोदे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एकाणउतिं जोयणसयसहस्साइं सत्तरि सहस्साइं छच्च पंचुत्तरे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं दोण्हवि वण्णओ॥ कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजए वेजयंते जयंते अपराजिए॥

कहि णं भंते! कालोदस्स समुदस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! कालोदे समुद्दे पुरत्थिम-
पेरंते पुक्खरवरदीवपुरत्थिमद्धस्स पचत्थिमेणं सीतोदाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं कालोदस्स
समुदस्स विजये णामं दारे पण्णत्ते, अट्ठेव जोयणाइं तं चेव पमाणं जाव रायहाणीओ। कहि
णं भंते! कालोयस्स समुदस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! कालोयसमुदस्स दक्खिणपे-
रंते पुक्खरवरदीवस्स दक्खिणद्धस्स उत्तरेणं एत्थ णं कालोयसमुदस्स वेजयंते नामं दारे पन्नत्ते।
कहि णं भंते! कालोयसमुदस्स जयंते नामं दारे पन्नत्ते?, गोयमा! कालोयसमुदस्स पचत्थिमपेरंते
पुक्खरवरदीवस्स पचत्थिमद्धस्स पुरत्थिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं जयंते नामं दारे पण्णत्ते।
कहि णं भंते! अपराजिए नामं दारे पण्णत्ते? गोयमा! कालोयसमुदस्स उत्तरद्धपेरंते पुक्खरवरदीवो-
त्तरद्धस्स दाहिणओ एत्थ णं कालोयसमुदस्स अपराजिए णामं दारे०, सेसं तं चेव॥ कालोयस्स णं
भंते! समुदस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं २ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—बावीस
सयसहस्सा बाणउति खलु भवे सहस्साइं। छच्च सया बायाला दारंतर तिन्नि कोसा य॥ १॥
दारस्स य २ आबाहाए अंतरे पण्णत्ते। कालोदस्स णं भंते! समुदस्स पएसा पुक्खरवरदीव०
तहेव, एवं पुक्खरवरदीवस्सवि जीवा उद्दाइत्ता २ तहेव भाणियव्वं॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुचति
कालोए समुद्दे २?, गोयमा! कालोयस्स णं समुदस्स उदके आसले मासले पेसले कालए मासरा-

३ प्रतिपत्तौ
कालोदो-
दध्यधि०
उद्देशः २
सू० १७५

सिवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते, कालमहाकाला एत्थ दुवे देवा महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव णिच्चे ॥ कालोए णं भंते! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा ३? पुच्छा, गोयमा! कालोए णं समुद्दे बायालीसं चंदा पभासेंसु वा ३— बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता। कालोदधिम्मि एते चरंति संबद्धलेसागा ॥ १ ॥ णक्खत्ताण सहस्सं एगं बावत्तरं च सतमण्णं। छच्च सता छण्णउया महागहा तिण्णि य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठावीसं कालोदहिम्मि बारस य सयसहस्साइं। नव य सया पन्नासा तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ (सू० १७९)

'धायइसंडे णं दीव'मित्यादि, धातकीषण्डं णमिति पूर्ववत् द्वीपं कालोदसमुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थितः सर्वतः समन्तात् 'संपरिक्षिप्य' वेष्टयित्वा तिष्ठति ॥ 'कालोए णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ **'कालोए णं भंते'** इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकनवतिः योजनशतसहस्राणि सप्ततिः सहस्राणि षट् शतानि पञ्चोत्तराणि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, एकं च योजनसहस्रमुद्वेधेनेति गम्यते, उक्तञ्च—"अट्ठेव सयसहस्सा कालोओ चक्कवालओ रुंदो। जोयणसहस्समेगं ओगाहेणं मुणेयव्वो ॥ १ ॥ इगनउइ सयसहस्सा हवंति तह सत्तरी सहस्सा य। छच्च सया पंचहिया कालोयहिपरिरओ एसो ॥ २ ॥" **'से णं एगाए'** इत्यादि, स कालोदसमुद्र एकया पद्मवरवेदिकयाऽष्टयोजनोच्छ्रयया जगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनपण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णकः प्रा-

ग्वत् ॥ 'कालोयस्स णं भंते!' इत्यादि, कालोदस्य समुद्रस्य भदन्त! कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ क भदन्त! कालोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं?, गौतम! कालोदसमुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीतोदाया महानद्या उपर्यत्र कालोदस्य समुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एवं विजयद्वारवक्तव्यता पूर्वानुसारेण वक्तव्या, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। वैजयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रदक्षिणपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र कालोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एवं जम्बूद्वीपगतवैजयन्तद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। जयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रपश्चिमपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महानद्या उपर्यत्र कालोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, एतदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे। अपराजितद्वारप्रश्नसूत्रमपि सुगमं, भगवानाह—गौतम! कालोदसमुद्रोत्तरार्द्धपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र कालोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवत् नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे ॥ सम्प्रति द्वाराणा परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—'कालोयस्स णं भंते!' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! द्वाविंशतिर्योजनशतसहस्राणि द्विनवतिः सहस्राणि षड् योजनशतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि त्रयश्च क्रोशा द्वारस्य द्वारस्य परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तं, तथाहि—चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलनेऽष्टादश योजनानि कालोदसमुद्रपरिरयपरिमाणाद् ९१७०६०५ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्—एकनवतिर्लक्षाः सप्ततिः सहस्राणि पञ्च शतानि सप्ताशीत्यधिकानि ९१७०५८७ च, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं २२९२६४६ क्रोशः

३, उक्तञ्च—“छायाला छच्च सया बाणउय सहस्स लक्ख बावीसं । कोसा य तिन्नि दारंतरं तु कालोयहिस्स भवे ॥ १ ॥” ‘कालोयस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा’ इत्यादि सूत्रचतुष्टयं पूर्ववद्भावनीयम् ॥ नामान्वर्थमभिधित्सुराह—‘से केणट्ठेण’मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते कालोदः समुद्रः कालोदः समुद्रः? इति, भगवानाह—गौतम! कालोदस्य समुद्रस्योदकं ‘आसलम्’ आस्वाद्यम् उदकरसत्वात् मांसलं गुरुधर्मकत्वात् पेशलं आस्वादमनोज्ञत्वात् ‘कालं’ कृष्णम्, एतदेवोपमया प्रतिपादयति—माषराशिवर्णाभं, उक्तञ्च—“पगईए उदगरसं कालोए उदग मासरासिनिभं” इति, ततः कालमुदकं यस्यासौ कालोदः, तथा कालमहाकालौ च तत्र द्वौ देवौ पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तत्र कालयोरुदकं यस्मिन् स कालोदः, तथा चाह—‘से एएणट्ठेण’मित्यादि सूत्रं पाठसिद्धं । एवंरूपं च चन्द्रादीनां परिमाणमन्यत्राप्युक्तम्—“बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता । कालोयहिम्मि एए चरंति संबद्धलेसागा ॥ १ ॥ नक्खत्ताण सहस्सा सयं च बावत्तरं मुणेयव्वं । छच्च सया छन्नउया गहाण तिन्नेव य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठावीसं कालोयहिम्मि बारस य सयसहस्साइं । नव य सया पन्नासा तारागणकोडीकोडीणं ॥[1] ३ ॥” सम्प्रति पुष्करवरद्वीपवक्तव्यतामाह—

कालोयं णं समुदं पुक्खरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरि० तहेव जाव समचक्कवालसंठाणसंठिते नो विसमचक्कवालसंठाणसंठिए। पुक्खरवरे णं भंते! दीवे

---

१ अत्र यद्यपि सूत्रादर्शेषु गाथात्रिकं दृश्यते इदमेव, परं वृत्तिकाराद्यादर्शेषु न संभाव्यते सूत्ररूपतया सत्ताऽस्य परिमाणस्येत्युदितं ‘अन्यत्राप्युक्त’मिति, अग्रेऽप्यनेकत्रैवं

केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! सोलस जोयणसतसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं—'एगा जोयणकोडी बाणउतिं खलु भवे सयसहस्सा। अउणाणउतिं अट्ठ सया चउणउया य [परिरओ] पुक्खरवरस्स ॥ १ ॥ से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेण संपरि० दोण्हवि वण्णओ ॥ पुक्खरवरस्स णं भंते! कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तंजहा—विजए वेजयंते जयंते अपराजिते ॥ कहि णं भंते! पुक्खरवरस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते?, गोयमा! पुक्खरवरदीवपुरच्छिमपेरंते पुक्खरोदसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं पुक्खरवरदीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते तं चेव सव्वं, एवं चत्तारिवि दारा, सीयासीओदा णत्थि भाणितव्वाओ ॥ पुक्खरवरस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य २ एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते?, गोयमा!—'अडयाल सयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं। अगुणुत्तरा य चउरो दारंतर पुक्खरवरस्स ॥ १ ॥ पदेसा दोण्हवि पुट्ठा, जीवा दोसु भाणियव्वा ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति पुक्खरवरदीवे २?, गो०! पुक्खरवरे णं दीवे तत्थ २ देसे तहिं २ बहवे पउमरुक्खा पउमवणसंडा णिच्चं कुसुमिता जाव चिट्ठंति, पउममहापउमरुक्खे एत्थ णं पउमपुंडरीया णामं दुवे देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति पुक्खरवरदीवे २ जाव निच्चे ॥ पुक्खरवरे णं

भंते! दीवे केवइया चंदा पभासिंसु वा ३?, एवं पुच्छा,—चोयालं चंदसयं चउयालं चेव सूरियाण सयं। पुक्खरवरदीवंमि चरंति एते पभासेंता ॥ १ ॥ चत्तारि सहस्साइं बत्तीसं चेव होंति णक्खत्ता। छच्च सया बावत्तर महग्गहा बारह सहस्सा ॥ २ ॥ छण्णउइ सयसहस्सा चत्तालीसं भवे सहस्साइं। चत्तारि सया पुक्खर [वर] तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ पुक्खरवरदीवस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं माणुसुत्तरे नामं पव्वते पण्णत्ते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जे णं पुक्खरवरं दीवं दुहा विभयमाणे २ चिट्ठंति, तंजहा—अब्भिंतरपुक्खरद्धं च बाहिरपुक्खरद्धं च ॥ अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! केवतियं चक्कवालेणं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! अट्ठ जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं—कोडी बायालीसा तीसं दोण्णि य सया अगुणवण्णा। पुक्खरअद्धपरिरओ एवं च मणुस्सखेत्तस्स ॥ १ ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति अब्भिंतरपुक्खरद्धे य २?, गोयमा! अब्भिंतरपुक्खरद्धेणं माणुसुत्तरेणं पव्वतेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते, से एएणट्ठेणं गोयमा! अब्भिंतरपुक्खरद्धे य २, अदुत्तरं च णं जाव णिच्चे ॥ अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! केवतिया चंदा पभासिंसु वा ३ साचेव पुच्छा जाव तारागणकोडकोडीओ?, गोयमा!—बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणकरा दित्ता। पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एते प्रभासेंता ॥ १ ॥ तिन्नि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु। णक्खत्ताणं तु भवे सोलाइ दुवे सह-

स्साइं ॥ २ ॥ अडयाल सयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं । दोन्नि सया पुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभेंसु वा ३ ॥ (सू० १७६)

'**कालोयं णं समुद्द**'मित्यादि, कालोदं णमिति वाक्यालङ्कारे समुद्रं पुष्करवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । 'पुक्खरवरे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ विष्कम्भादिप्रतिपादनार्थमाह—'**पुक्खरवरे णं भंते! दीवे**' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! षोडश योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एका योजनकोटी द्विनवतिः शतसहस्राणि एकोननवतिः सहस्राणि अष्टौ शतानि चतुर्नवतानि ९४ योजनानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ॥ '**से ण**'मित्यादि, स पुष्करवरद्वीप एकया पद्मवरवेदिकयाऽष्टयोजनोच्छ्रयया जगत्युपरिभाविन्येति गम्यते, एकेन वनषण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि वर्णकः पूर्ववत् ॥ अधुना द्वारवक्तव्यतामाह—'**पुक्खरवरस्स ण**'मित्यादि, पुष्करवरद्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं च ॥ '**कहि णं भंते!**' इत्यादि, क भदन्त! पुष्करवरद्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं ?, भगवानाह—गौतम! पुष्करवरद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते पुष्करोदस्य समुद्रस्य पश्चिमदिशि अत्र पुष्करवरद्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तत्र जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे वक्तव्या । एवं वैजयन्तादिसूत्राण्यपि भावनीयानि, सर्वत्र राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे ॥ सम्प्रति द्वाराणां परस्परमन्तरमाह—'**पुक्खरवरदीवस्स ण**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अष्टचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राणि द्वाविंशतिर्योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि एकोनसप्ततानि द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणं, चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र

पृथुलमीलनेऽष्टादश योजनानि, तानि पुष्करवरद्वीपपरिमाणाद् १९२८९८९४ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्—एका योजनकोटी द्विनवतिः शतसहस्राणि एकोननवतिः सहस्राणि अष्टौ शतानि षट्सप्तत्यधिकानि १९२८९८७६, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं ४८२२४६९ ॥ 'पुक्खरवरदीवस्स णं भंते! दीवस्स पएसा पुक्खरवरसमुद्दं पुट्ठा?' इत्यादि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वत् ॥ सम्प्रति नामनिमित्तप्रतिपादनार्थमाह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते पुष्करवरद्वीपः २? इति, भगवानाह—गौतम! पुष्करवरद्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र २ प्रदेशे बहवः पद्मवृक्षाः, पद्मानि अतिविशालतया वृक्षा इव पद्मवृक्षाः, पद्मखण्डाः—पद्मवनानि, खण्डवनयोर्विशेषः प्राग्वत्, 'निच्चं कुसुमिया' इत्यादि विशेषणजातं प्राग्वत् । तथा पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु यः पद्मवृक्षः पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु यो महापद्मवृक्षस्तयोरत्र पुष्करवरद्वीपे यथाक्रमं पद्मपुण्डरीकौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती परिवसतः, तथा चोक्तम्—"पउमे य महापउमे रुक्खा उत्तरकुरूसु जंबुसमा । एएसु वसंति सुरा पउमे तह पुंडरीए य ॥ १ ॥" पद्मं च पुष्करमिति पुष्करवरोपलक्षितो द्वीपः पुष्करवरो द्वीपः 'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यम् ॥ सम्प्रति चन्द्रादित्यादिपरिमाणमाह—'पुक्खरवरे'त्यादि पाठसिद्धं, नवरं नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादिसङ्ख्यानि नक्षत्रादीनि चतुश्चत्वारिंशेन शतेन गुणयित्वा स्वयं परिभावनीयं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"चोयालं चंदसयं चोयालं चेव सूरियाण सयं । पुक्खरवरंमि दीवे चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ चत्तारि सहस्साइं

---

१ पद्मश्च महापद्मो वृक्षौ उत्तरकुरुषु जम्बूसमौ । एतयोर्वसतः सुरौ पद्मस्तथा पुण्डरीकश्च ॥ १ ॥ २ चतुश्चत्वारिंशं चन्द्रशतं चतुश्चत्वारिंशं चैव सूर्याणां शतं । पुष्करवरे द्वीपे चरन्ति एते प्रकाशयन्त ॥ १ ॥ चत्वारि सहस्राणि.

बत्तीसं चेव होंति नक्खत्ता । छच्च सया बावत्तर महागहा बारससहस्सा ॥ २ ॥ छन्नउइ सयसहस्सा चोयालीसं भवे सहस्साइं । चत्तारिं च सयाइं तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥" इति ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्रसीमाकारिमानुषोत्तरपर्वतवक्तव्यतामाह—'**पुक्खरवरदीवस्स ण**'मित्यादि, पुष्करवरस्य णमिति वाक्यालङ्कृतौ द्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे मानुषोत्तरो नाम पर्वतः प्रज्ञप्तः, स च वृत्तः, वृत्तं च मध्यपूर्णमपि भवति यथा कौमुदीशशाङ्कमण्डलं ततस्तद्रूपताव्यवच्छेदार्थमाह—वलयाकारसंस्थानसंस्थितो, यः पुष्करवरं द्वीपं द्विधा सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च विभजमानो विभजमानस्तिष्ठति, केनोल्लेखेन द्विधा विभजमानस्तिष्ठति? इत्यत आह—तद्यथा—अभ्यन्तरपुष्करार्द्धं च बाह्यपुष्करार्द्धं च, चशब्दौ समुच्चये, किमुक्तं भवति?—मानुषोत्तरात्पर्वतादर्वाग् यत्पुष्करार्द्धं तदभ्यन्तरपुष्करार्द्धं, यत्पुनस्तस्मान्मानुषोत्तरपर्वतात्परतः पुष्करार्द्धं तद् बाह्यपुष्करार्द्धमिति ॥ '**अब्भिंतरपुक्खरद्धे ण**'मित्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च योजनशते एकोनपञ्चाशे किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ॥ '**से केणट्ठेण**'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—अभ्यन्तरपुष्करार्द्धमभ्यन्तरपुष्करार्द्धम्? इति, भगवानाह—गौतम! अभ्यन्तरपुष्करार्द्धं मानुषोत्तरोत्तरेण पर्वतेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तं, ततो मानुषोत्तरपर्वताभ्यन्तरे वर्त्तमानत्वादभ्यन्तरपुष्करार्द्धं, तथा चाह—'**से एएणट्ठेण**'मित्यादि गतार्थं ॥ '**अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! कइ चंदा पभासिंसु?**' इत्यादि चन्द्रादिपरिमाणसूत्रं पाठसिद्धं, नवरं नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादीनि नक्षत्राणि द्वासप्तत्या गुण-

१ द्वात्रिंशच्चैव भवन्ति नक्षत्राणि । महाग्रहा द्वादश सहस्राणि षट् शतानि द्विसप्ततानि ॥ २ ॥ पण्णवति शतसहस्राणि चतुश्चत्वारिंशत् सहस्राणि । चत्वारि च शतानि तारागणा' कोटीकोटीना भवेयुः ॥ ३ ॥

यित्वा परिभावनीयं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणयरा दित्ता । पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ तिण्णि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु । नक्खत्ताणं तु भवे सोलाणि दुवे सहस्साणि ॥ २ ॥ अडयाल सयसहस्सा बावीसं चेव तह सहस्साइं । दो य सय पुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥" इह सर्वत्र तारापरिमाणचिन्तायां कोटीकोट्यः कोट्य एव द्रष्टव्याः, तथा पूर्वसूरिव्याख्यानाद्, अपरे उच्छ्रयाङ्गुलप्रमाणमनुसृत्य कोटीकोटीरेव समर्थयन्ति, उक्तञ्च—"कोडाकोडी सन्नंतरं तु मन्नंति केइ थोवतया । अन्ने उस्सेहंगुलमाणं काऊण ताराणं ॥ १ ॥"

समयखेत्ते णं भंते! केवतियं आयामविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगा जोयणकोडी जावब्भिंतरपुक्खरद्धपरिरओ से भाणियव्वो जाव अउणपण्णे ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति–माणुसखेत्ते २?, गोयमा! माणुसखेत्ते णं तिविधा मणुस्सा परिवसंति, तंजहा—कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवगा, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति–माणुसखेत्ते माणुसखेत्ते ॥ माणुसखेत्ते णं भंते! कति चंदा पभासेंसु वा ३?, कइ सूरा तवइंसु वा ३?, गोयमा!—बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं । सयलं मणुस्सलोयं चरेंति एते पभासेंता ॥ १ ॥ एक्कारस य सहस्सा छप्पि य सोला महग्गहाणं तु । छच्च सया छण्णउया णक्खत्ता तिण्णि य सहस्सा ॥ २ ॥ अडसीइ सयसहस्सा चत्तालीस सहस्स

१ कोटीकोटीति संज्ञान्तर (कोटीरूपं) मन्यन्ते केचित् क्षेत्रस्य स्तोकत्वात् । अन्ये उत्सेधाङ्गुलमानं ताराणां कृत्वा (कोटीकोटीमित्येव) ॥ १ ॥

मणुयलोगंमि । सत्त य सता अणूणा तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥ सोभं सोभेंसु वा ३ ॥ एसो तारापिंडो सव्वसमासेण मणुयलोगंमि । वहिया पुण ताराओ जिणेहिं भणिया असंखेज्जा ॥ १ ॥ एवइयं तारग्गं जं भणियं माणुसंमि लोगंमि । चारं कलंवुयापुप्फसंठियं जोइसं चरइ ॥२॥ रविससिगहनक्खत्ता एवइया आहिया मणुयलोए । जेसिं नामागोयं न पागया पन्नवेहिंति ॥ ३ ॥ छावट्ठी पिडगाइं चंदाइच्चा मणुयलोगंमि । दो चंदा दो सूरा य होंति एक्कक्कए पिडए ॥ ४ ॥ छावट्ठीपिडगाइं नक्खत्ताणं तु मणुयलोगंमि । छप्पन्नं नक्खत्ता य होंति एक्कक्कए पिडए ॥ ५ ॥ छावट्ठी पिडगाइं महागहाणं तु मणुयलोगंमि । छावत्तरं गहसयं च होइ एक्कक्कए पिडए ॥ ६ ॥ चत्तारि य पंतीओ चंदाइच्चाण मणुयलोगंमि । छावट्ठिय छावट्ठिय होइ य एक्कक्कया पंती ॥ ७ ॥ छप्पन्नं पंतीओ नक्खत्ताणं तु मणुयलोगंमि । छावट्ठी छावट्ठी हवइ य एक्कक्कया पंती ॥ ८ ॥ छावत्तरं गहाणं पंतिसयं होइ मणुयलोगंमि । छावट्ठी छावट्ठी य होंति एक्ककिया पंती ॥ ९ ॥ ते मेरु परियडन्ता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे । अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥ १० ॥ नक्खत्ततारगाणं अवट्ठिया मंडला मुणेयव्वा । तेऽविय पयाहिणावत्तमेव मेरुं अणुचरंति ॥ ११ ॥ रयणियरदिणयराणं उड्ढे व अहे व संकमो नत्थि । मंडलसंकमणं पुण अब्भितरबाहिरं तिरिए ॥ १२ ॥ रयणियरदिणयराणं नक्खत्ताणं महग्गहाणं च । चारविसेसेण भवे सुहदुक्खविही

मणुस्साणं ॥ १३ ॥ तेसिं पविसंताणं तावक्खेत्तं तु वड्ढए नियमा । तेणेव कमेण पुणो परिहायइ निक्खमंताणं ॥ १४ ॥ तेसिं कलंबुयापुप्फसंठिया होइ तावखेत्तपहा । अंतो य संकुया बाहिं वित्थडा चंदसूरगणा ॥ १५ ॥ केणं वड्ढति चंदो परिहाणी केण होइ चंदस्स । कालो वा जोण्हो वा केणऽणुभावेण चंदस्स?॥ १६ ॥ किण्हं राहुविमाणं निच्चं चंदेण होइ अविरहियं । चउरंगुलमप्पत्तं हिट्ठा चंदस्स तं चरइ ॥ १७ ॥ बावट्ठिं बावट्ठिं दिवसे दिवसे उ सुक्कपक्खस्स । जं परिवड्ढइ चंदो खवेइ तं चेव कालेणं ॥ १८ ॥ पन्नरसइभागेण य चंदं पन्नरसमेव तं वरइ । पन्नरसइभागेण य पुणोवि तं चेव तिक्कमइ ॥ १९ ॥ एवं वड्ढइ चंदो परिहाणी एव होइ चंदस्स । कालो वा जोण्हा वा तेणणुभावेण चंदस्स ॥ २० ॥ अंतो मणुस्सखेत्ते हवंति चारोवगा य उववण्णा । पञ्चविहा जोइसिया चंदा सूरा गहगणा य ॥ २१ ॥ तेण परं जे सेसा चंदाइच्चगहतारनक्खत्ता । नत्थि गई नवि चारो अवट्ठिया ते मुणेयव्वा ॥ २२ ॥ दो चंदा इह दीवे चत्तारि य सागरे लवणतोए । धायइसंडे दीवे बारस चंदा य सूरा य ॥ २३ ॥ दो दो जंबूदीवे ससिसूरा दुगुणिया भवे लवणे । लावणिगा य तिगुणिया ससिसूरा धायईसंडे ॥ २४ ॥ धायइसंडप्पभिई उद्दिट्ठतिगुणिया भवे चंदा । आइल्लचंदसहिया अणंतराणंतरे खेत्ते ॥ २५ ॥ रिक्खग्गहतारग्गं दीवसमुद्दे जहिच्छसे नाउं । तस्स ससीहिं गुणियं रिक्खग्गहतारगाणं तु ॥ २६ ॥ चंदातो सूरस्स य सूरा

चंदस्स अंतरं होइ । पन्नास सहस्साइं तु जोयणाणं अणूणाइं ॥ २७ ॥ सूरस्स य सूरस्स य ससिणो ससिणो य अंतरं होइ । बहियाओ मणुस्सनगस्स जोयणाणं सयसहस्सं ॥ २८ ॥ सूरंतरिया चंदा चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता । चित्तंतरलेसागा सुहलेसा मंदलेसा य ॥ २९ ॥ अट्ठासीइं च गहा अट्ठावीसं च होंति नक्खत्ता । एगससीपरिवारो एत्तो ताराण वोच्छामि ॥ ३० ॥ छावट्ठिसहस्साइं नव चेव सयाइं पंचसयराइं । एगससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३१ ॥ बहियाओ माणुसनगस्स चंदसूराणऽवट्ठिया जोगा । चंदा अभीइजुत्ता सूरा पुण होंति पुस्सेहिं ॥ ३२ ॥ (सू० १७७)

'माणुसखेत्ते ण'मित्यादि, मनुष्यक्षेत्रं भदन्त! कियदायामविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तं?, भगवानाह—गौतम! पञ्चचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेन, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे योजनशते एकोनपञ्चाशे किञ्चिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तं ॥ सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह—'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—मनुष्यक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रं? इति, भगवानाह—गौतम! मनुष्यक्षेत्रे त्रिविधा मनुष्याः परिवसन्ति, तद्यथा—कर्म्मभूमका अकर्म्मभूमका अन्तरद्वीपकाश्च, अन्यच्च मनुष्याणां जन्म मरणं चात्रैव क्षेत्रे न तद्बहिः, तथाहि—मनुष्या मनुष्यक्षेत्रस्य बहिर्जन्मतो न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च, तथा यदि नाम केनचिद्देवेन दानवेन विद्याधरेण वा पूर्वानुबद्धवैरनिर्यातनार्थमेवंरूपा बुद्धिः क्रियते यथाऽयं मनुष्योऽस्मात् स्थानाद् उत्पाट्य मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः प्रक्षिप्यतां येनोर्द्ध्वशोषं शुष्यति म्रियते वेति तथाऽपि लोकानुभावा-

देव सा काचनाऽपि बुद्धिर्भूयः परावर्त्तते यथा संहरणमेव न भवति संहृत्य वा भूयः समानयति तेन संहरणतोऽपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्मनुष्या मरणमधिकृत्य न भूता न भवन्ति न भविष्यन्ति च, येऽपि जङ्घाचारिणो विद्याचारिणो वा नन्दीश्वरादीनपि यावद्गच्छन्ति तेऽपि तत्र गता न मरणमश्नुवते किन्तु मनुष्यक्षेत्रसमागता एव, तेन मानुषोत्तरपर्वतसीमाकं मनुष्याणां सम्बन्धि क्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रमिति, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि गतार्थम् ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्रगतसमस्तचन्द्रादिसङ्ख्यापरिमाणमाह—**'मणुस्सखेत्ते णं भंते! कइ चंदा पभासिंसु'** इत्यादि पाठसिद्धं, उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि—"बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं । सयलं मणुस्सलोयं चरंति एए पगासिंता ॥ १ ॥ एकारस य सहस्सा छप्पि य सोला महागहाणं तु । छच्च सया छन्नउया नक्खत्ता तिन्नि य सहस्सा ॥ २ ॥ अट्ठासीयं लक्खा चत्तालीसं च तह सहस्साइं । सत्त सया य अणूणा तारागणकोडकोडीणं ॥ ३ ॥" तत्र द्वात्रिंशं चन्द्रशतमेवं—द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणोदे द्वादश धातकीषण्डे द्वाचत्वारिंशत्कालोदे द्वासप्ततिरभ्यन्तरपुष्करार्द्धे सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशं शतं, एवं सूर्याणामपि द्वात्रिंशं शतं परिभावनीयं, नक्षत्रादिपरिमाणमष्टाविंशत्यादिनक्षत्रादीनि द्वात्रिंशेन शतेन गुणयित्वा परिभावनीयं ॥ सम्प्रति सकलमनुष्यलोकगततारागणस्योपसंहारमाह—**'एषः'** अनन्तरोक्तसङ्ख्याकस्तारापिण्डः सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके आख्यात इति गम्यते, बहिः पुनर्मनुष्यलोकाद् यास्तारास्ताः 'जिनैः' सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिर्भणिता असङ्ख्याता द्वीपसमुद्राणामसङ्ख्यातत्वात्, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च यथायोगं सङ्ख्यातानामसङ्ख्यातानां च ताराणां सद्भावात् **'एतावत्'** एतावत्सङ्ख्याकं **'ताराग्रं'** तारापरिमाणं यत् अनन्तरं भणितं मानुषे लोके तत् **'ज्योतिषं'** ज्योतिषदेवविमानरूपं **'कदम्बपुष्पसंस्थितं'** कदम्बपुष्पवद् अधःसङ्कुचितमुपरि विस्तीर्णं उत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितमिति भावः **'चारं चरति'** चारं प्रतिपद्यते, तथा जगत्स्वाभा-

ध्यात्, तारामहणं चोपलक्षणं, ततः सूर्यादयोऽपि यथोक्तसङ्ख्याका मनुष्यलोके तथाजगत्स्वाभाव्याच्चारं प्रतिपद्यन्त इति द्रष्टव्यं ॥ सम्प्रत्येतद्गतमेवोपसंहारमाह—रविशशिग्रहनक्षत्राणि, उपलक्षणमेतत् तारकाणि च, 'एतावन्ति' एतावत्सङ्ख्याकानि सपूर्वार्द्धे मनुष्यलोके, येषां किम्? इत्याह—येषां सूर्यादीनां यथोक्तसङ्ख्याकानां सकलमनुष्यलोकभाविनां प्रत्येकं नामगोत्राणि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नाम गोत्रमित्युच्यते, ततोऽयमर्थः—नामगोत्राणि—अन्वर्थयुक्तानि नामानि, यदिवा नामानि च गोत्राणि च नामगोत्राणि 'प्राकृताः' अनतिशायिनः पुरुषाः कदाचनापि न प्रज्ञापयिष्यन्ति, केवलं यदा त्वाह सर्वज्ञ एवं, तत इदं सूर्यादिसंस्थानं प्राकृतपुरुषाप्रमेयं सर्वज्ञोपदिष्टमिति सम्यक् श्रद्धेयं ॥ इह द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावेकं पिटकमुच्यते, इत्थम्भूतानि च चन्द्रादित्यानां पिटकानि सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके षट्षष्टिसङ्ख्यानि । अथ किंप्रमाणं पिटकमिति पिटकप्रमाणमाह—एकैकस्मिन् पिटके द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यौ भवत इति, किमुक्तं भवति?—द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावित्येतावत्प्रमाणमेकैकचन्द्रादित्यानां पिटकमिति, एवंप्रमाणं च पिटकं जम्बूद्वीपे एकं, द्वयोरेव चन्द्रमसोर्द्वयोरेव सूर्ययोस्तत्र भावतः, द्वे पिटके लवणसमुद्रे चतुर्णां चन्द्रमसां चतुर्णां सूर्याणां च तत्र भावात्, एवं षट् पिटकानि धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति भवन्ति सर्वमीलने चन्द्रादित्यानां षट्षष्टिः पिटकानि ॥ सर्वस्मिन्नपि मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया नक्षत्राणां पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः, नक्षत्रपिटकपरिमाणं च शशिद्वयसम्बन्धिनक्षत्रसङ्ख्यापरिमाणं, तथा चाह—एकैकस्मिन् पिटके नक्षत्राणि भवन्ति षट्पञ्चाशत्, किमुक्तं भवति?—षट्पञ्चाशन्नक्षत्रसङ्ख्याकमेकैकं नक्षत्रपिटकमिति, अत्रापि षट्षष्टिसङ्ख्याभावनैवम्—एकं नक्षत्रपिटकं जम्बूद्वीपे द्वे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति ॥ महाग्रहाणामप्यङ्गारकप्रभृतीनां सर्वस्मिन् मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः, ग्रहपिट-

कपरिमाणं च शशिद्वयसम्बन्धिग्रहसङ्ख्यापरिमाणं, तथा चाह—एकैकस्मिन् पिटके भवति षट्सप्ततं—षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं, षट्सप्तत्यधिकग्रहशतपरिमाणमेकैकं ग्रहपिटकपरिमाणमिति भावः, षट्षष्टिसङ्ख्याभावना प्राग्वत् ॥ इह मनुष्यलोके चन्द्रादित्यानां चतस्रः पङ्क्तयो भवन्ति, तद्यथा—द्वे पङ्क्ती चन्द्राणां द्वे सूर्याणां, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः षट्षष्टिः—षट्षष्टिषट्षष्टिसूर्यादिसङ्ख्या, तद्भावना चैवम्—एकः किल सूर्यो जम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणभागे चारं चरन् वर्त्तते एक उत्तरभागे, एकश्चन्द्रमा मेरोः पूर्वभागे एकोऽपरभागे, तत्र यो मेरोर्दक्षिणभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्त्तते ततः समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ दक्षिणभागे एव सूर्यौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इत्यस्यामपि सूर्यपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिः सूर्याः, तथा योऽपि च मेरोरुत्तरभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्त्तते तस्यापि समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्वौ उत्तरभागे सूर्यौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इत्यस्यामपि सूर्यपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिः सूर्याः, तथा यो मेरोः किल पूर्वभागे चारं चरन् वर्त्तते चन्द्रमास्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ पूर्वभागे एव चन्द्रमसौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इत्यस्यां चन्द्रपङ्क्तौ सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिश्चन्द्रमसः, एवं यो मेरोरपरभागे चन्द्रमास्तन्मूलायामपि पङ्क्तौ षट्षष्टिश्चन्द्रमसो वेदितव्याः ॥ नक्षत्राणां मनुष्यलोके सर्वसङ्ख्यया पङ्क्तयो भवन्ति षट्पंचाशत्, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः षट्षष्टिस्तद्भवपरिमाणा इत्यर्थः, तथाहि—किलास्मिन् जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूतान्यभिजिदादीन्यष्टाविंशतिसङ्ख्यानि नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि चारं चरन्ति, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूतान्यष्टाविंशतिसङ्ख्याकान्यभिजिदादीन्येव नक्षत्राणि क्रमेण २ व्यवस्थितानि, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे यत्राभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविं-

शतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति, सर्वसङ्ख्यया षट्षष्टिरभिजिन्नक्षत्राणि पङ्क्त्या व्यवस्थितानि, एवं श्रवणादीन्यपि दक्षिणतोऽर्द्धभागे पङ्क्त्या व्यवस्थितानि षट्षष्टिसङ्ख्याकानि भावनीयानि, उत्तरतोऽप्यर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थितेऽपि उत्तरभाग एव द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशत्पुष्करार्द्धे, एवं श्रवणादिपङ्क्त्योऽपि प्रत्येकं षट्षष्टिसङ्ख्याका २ वेदितव्या इति भवति सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशत्सङ्ख्या नक्षत्राणां पङ्क्तयः, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसङ्ख्येति ॥ 'ग्रहाणां' अङ्गारकप्रभृतीनां सर्वसङ्ख्यया मनुष्यलोके षट्सप्तत्यधिकं पङ्क्तिशतं भवति, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः, अत्रापीयं भावना—जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयोऽष्टाशीतिर्ग्रहा उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतय एवान्येऽष्टाशीतिग्रहाः, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे योऽङ्गारकनामा ग्रहस्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ दक्षिणभाग एव द्वावङ्गारकौ लवणसमुद्रे षड् धातकीषण्डे एकविंशतिः कालोदे षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति, एवं शेषा अपि सप्ताशीतिर्ग्रहाः पङ्क्त्या व्यवस्थिताः प्रत्येकं षट्षष्टिः २ वेदितव्याः, एवमुत्तरतोऽप्यर्द्धभागेऽङ्गारकप्रभृतीनामष्टाशीतेर्ग्रहाणां पङ्क्तयः प्रत्येकं षट्षष्टिसङ्ख्याका २ भावनीया इति भवति सर्वसङ्ख्यया ग्रहाणां षट्सप्ततं पङ्क्तिशतं, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसङ्ख्याकेति ॥ 'ते' मनुष्यलोकवर्त्तिनः सर्वे चंद्राः सर्वे सूर्याः सर्वे ग्रहगणा अनवस्थितैर्यथायोगमन्यैरन्यैर्नक्षत्रैः सह योगमुपलक्षिताः **'पयाहिणावत्तमंडला'** इति प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां चन्द्रादीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्ते—मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः २ आवर्त्तो येषां मण्डलानां तानि प्रदक्षिणावर्त्तानि तानि मण्डलानि मेरुं (प्रति) येषां ते प्रदक्षिणावर्त्तमण्डला मेरुमनुलक्षीकृत्य चरन्ति, एतेनैतदुक्तं भवति—सूर्यादयः समस्ता अपि मनुष्यलोकवर्त्तिनः प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलगत्या परिभ्रमन्तीति, इह चन्द्रादित्यग्रहाणां मण्डलान्यनवस्थि-

तानि, यथायोगमन्यस्मिन्नन्यस्मिन्मण्डले तेषां संचरिष्णुत्वात्, नक्षत्रतारकाणां तु मण्डलान्यनवस्थितान्येव, तथा चाह—नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलान्यवस्थितानि ज्ञातव्यानि, किमुक्तं भवति?—आकालं प्रतिनियतमेकैकं नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलमिति, न चैवं व्यवस्थितमण्डलत्वोक्तावेवमाशङ्कनीयं यथा तेषां गतिरेव न भवतीति, यत आह—'तेऽवि य' इत्यादि, तान्यपि नक्षत्राणि तारकाणि च, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, प्रदक्षिणावर्त्तमेव, इदं क्रियाविशेषणं, मेरुमनुलक्ष्यीकृत्य चरन्ति, एतच्च मेरुं लक्ष्यीकृत्य तेषां प्रदक्षिणावर्त्तचरणं प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यत इति संवादि ॥ **'रजनिकरदिनकराणां'** चन्द्रादित्यानामूर्द्ध्वं वाऽधो वा सङ्क्रमो न भवति तथा जगत्स्वाभाव्यात्, तिर्यक् पुनर्मण्डलेषु सङ्क्रमणं भवति, किंविशिष्टमित्याह—**'साभ्यन्तरबाह्यम्'** अभ्यन्तरं च बाह्यं च अभ्यन्तरबाह्यं सह अभ्यन्तरबाह्यं यस्य येन वा तत् साभ्यन्तरबाह्यं, एतदुक्तं भवति?—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्तावन्मण्डलेषु सङ्क्रमणं यावत्सर्वबाह्यमण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाग् मण्डलेषु तावत्सङ्क्रमणं यावत्सर्वाभ्यन्तरमिति ॥ **'रजनिकरदिनकराणां'** चन्द्रादित्यानां नक्षत्राणां महाग्रहाणां च **'चारविशेषेण'** तेन तेन चारेण सुखदुःखविधयो मनुष्याणां संभवन्ति, तथाहि—द्विविधानि सन्ति सदा मनुष्याणां कर्माणि, तद्यथा—शुभवेद्यानि अशुभवेद्यानि च, कर्मणां च सामान्यतो विपाकहेतवः पञ्च, तद्यथा—द्रव्यं क्षेत्रं कालो भावो भवश्च, उक्तञ्च—"[1]उदयक्खयखओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं भावं भवं च संपप्प ॥ १ ॥" शुभवेद्यानां च कर्मणां प्रायः शुभद्रव्यक्षेत्रादिसामग्री विपाकहेतुः, अशुभवेद्यानामशुभद्रव्यक्षेत्रादि सामग्री, ततो यदा येषां जन्मनक्षत्राद्यनुकूलश्चन्द्रादीनां चारस्तदा तेषां प्रायो यानि शुभवेद्यानि कर्म्माणि तानि तथाविधां विपाकसामग्रीमधिगम्य

---

१ उदय॰ क्षय॰ क्षयोपशम उपशमो यच्च कर्मणो भणिताः । द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं भवं च सम्प्राप्य ॥ १ ॥

विपाकं प्रपद्यन्ते, प्रपन्नविपाकानि शरीरनीरोगतासंपादनतो धनवृद्धिकरणेन च वैरोपशमनतः प्रियसंप्रयोगसंपादनतो वा यदिवा
प्रारब्धाभीष्टप्रयोजननिष्पत्तिकरणतः सुखमुपजनयन्ति, अत एव महीयांसः परमविवेकिनः स्वल्पमपि प्रयोजनं शुभतिथिनक्ष-
त्रादावारभंते न तु यथा कथञ्चन, अत एव जिनानामपि भगवतामाज्ञा प्रव्राजनादिकमधिकृत्यैवमवर्त्तिष्ट–यथा शुभक्षेत्रे शुभदिश-
मभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्तादौ प्रव्राजनव्रतारोपणादि कर्त्तव्यं नान्यथा, तथा चोक्तं **पञ्चवस्तुके**—"एसा जिणाण आणा
खेत्ताईया य कम्मुणो भणिया । उदयाइकारणं जं तम्हा सव्वत्थ जइयव्वं ॥ १ ॥" अस्या अक्षरगमनिका–एषा जिनानामाज्ञा यथा
शुभक्षेत्रे शुभां दिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्तादौ प्रव्राजनव्रतारोपणादि कर्त्तव्यं नान्यथा, अपिच–क्षेत्रादयोऽपि कर्म्मणा-
मुदयादिकारणं भगवद्भिरुक्तास्ततोऽशुभद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीमवाप्य कदाचिदशुभवेद्यानि कर्म्माणि विपाकं गत्वोदयमासादयेयुः, तदुदये
च गृहीतव्रतभङ्गादिदोषप्रसङ्गः, शुभक्षेत्रादिसामग्रीं तु प्राप्य जनानां शुभकर्म्मविपाकसम्भव इति संभवति निर्विघ्नं सामायिकपरिपा-
लनादि, तस्मादवश्यं छद्मस्थेन सर्वत्र शुभक्षेत्रादौ यतितव्यं, ये तु भगवन्तोऽतिशयमन्तस्ते अतिशयबलादेव निर्विघ्नं सविघ्नं वा स-
म्यगवगच्छन्ति ततो न शुभतिथिमुहूर्त्तादिकमपेक्षन्त इति तन्मार्गानुसरणं छद्मस्थानां न न्याय्यं, तेन ये च परममुनिपर्युपासितप्रवच-
नविडम्बका अपरिमलितजिनशासनोपनिषद्भूतशास्त्रगुरुपरम्परायातनिरवद्यविशदकालोचितसामाचारीप्रतिपन्थिनः स्वमतिकल्पितसा-
माचारीका अभिदधति–यथा न प्रव्राजनादिषु शुभतिथिनक्षत्रादिनिरीक्षणे यतितव्यं, न खलु भगवान् जगत्स्वामी प्रव्राजनायोपस्थि-
तेषु शुभतिथ्यादिनिरीक्षणं कृतवानिति तेऽपास्ता द्रष्टव्या इति ॥ तेषां–सूर्याचन्द्रमसां सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतां तापक्षेत्रं
प्रतिदिवसं क्रमेण नियमादायामतो वर्द्धते, येनैव च क्रमेण परिवर्द्धते तेनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामतां परिहीयते,

तथाहि–सर्वबाह्यमण्डले चारं चरतां सूर्याणां चन्द्रमसां च प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशधा प्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रं, ततः सूर्यस्याभ्यन्तरं प्रविशतः प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रस्य वर्द्धेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसम्भवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः सप्तविंशतितमस्य च भागस्यैकः सप्तभागः, एवं च प्रतिमण्डलमभिवृद्धौ यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डले चारं चरतस्तदा प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य त्रयः परिपूर्णा दशभागास्तापक्षेत्रं, ततः पुनरपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलाद्बहिर्निष्क्रमेण सूर्यस्य प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य जम्बूद्वीपचक्रवालस्य द्वौ द्वौ भागौ परिहीयेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसम्भवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः सप्तविंशतितमस्य च भागस्य चैकः सप्तभाग इति ॥ 'तेषां' चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रपन्थाः कलम्बुयापुष्पं–नालिकापुष्पं तद्वत्संस्थिताः कलम्बुयापुष्पसंस्थिताः, एतदेव व्याचष्टे–अन्तः–मेरुदिशि सङ्कुचिता बहिः–लवणदिशि विस्तृताः, एतच्चन्द्रप्रज्ञप्तौ सूर्यप्रज्ञप्तौ चतुर्थे प्राभृते सविस्तरं भावितमिति ततोऽवधार्यम् ॥ सम्प्रति चन्द्रमसमधिकृत्य गौतमः प्रश्नयति–केन कारणेन शुक्लपक्षे वर्द्धते ? केन वा कारणेन चन्द्रस्य कृष्णपक्षे परिहानिर्भवति ? केन वा 'अनुभावेन' प्रभावेण चन्द्रस्यैकः पक्षः कृष्णो भवति एकः 'ज्योत्स्नः' शुक्लः ? इति, एवमुक्ते भगवानाह–इह द्विविधो राहुस्तद्यथा–पर्वराहुर्नित्यराहुश्च, तत्र पर्वराहुः स उच्यते यः कदाचिदकस्मात्समागत्य निजविमानेन चन्द्रविमानं सूर्यविमानं वाऽन्तरितं करोति, अन्तरिते च कृते लोके ग्रहणमिति प्रसिद्धिः, स इह न गृह्यते, यस्तु नित्यराहुस्तस्य विमानं कृष्णं तथाजगत्स्वाभाव्याच्चन्द्रेण सह 'नित्यं' सर्वकालमविरहितं तथा 'चउरंगुलेन' चतुरङ्गुलैरप्राप्तं सत् 'चन्द्रस्य' चन्द्रविमानस्याधस्ताच्चरति, तच्चैवं चरत् शुक्लपक्षे शनैः शनैः प्रकटीकरोति चन्द्रमसं कृष्णपक्षे च शनैः शनैरावृणोति, तथा चाह–इह द्वाषष्टिभागीकृतस्य चन्द्रविमानस्य द्वौ भागावुपरितनौ सदाऽनावार्यस्वभा-

वलाद् अपाकृत्य शेषस्य पञ्चदशभिर्भागे हृते ये चत्वारो भागा लभ्यन्ते ते द्वाषष्टिशब्देनोच्यन्ते, अवयवे समुदायोपचारात्, एतच्च व्याख्यानमेतस्यैव चूर्णिमुपजीव्य कृतं न स्वमनीषिकया, तथा च तद्ग्रन्थः—"चन्द्रविमानं द्वाषष्टिभागीक्रियते, ततः पञ्चदशभिर्भागोऽपह्रियते, तत्र चत्वारो भागा द्वाषष्टिभागानां पञ्चदशभागेन लभ्यन्ते शेषौ द्वौ, एतावद् दिने दिने शुक्लपक्षस्य राहुणा मुच्यत" इति, एवं च सति यत्समवायाङ्गसूत्रम्—"सुक्कपक्खस्स दिवसे दिवसे बावट्ठिं बावट्ठिं भागे परिवड्ढइ" इति, तदप्येवमेव व्याख्येयं, संप्रदायवशाद्धि सूत्रं व्याख्येयं, न स्वमनीषिकया, अन्यथा महदाशातनाप्रसक्तेः, संप्रदायश्च यथोक्तस्वरूप इति, तत्र शुक्लपक्षस्य दिवसे यद्—यस्मात्कारणाच्चन्द्रो द्वाषष्टिद्वाषष्टिभागान्—द्वाषष्टिभागसत्कान् चतुरश्चतुरो भागान् यावत्परिवर्द्धते, कालेन—कृष्णपक्षेण पुनर्दिवसे २ तानेव द्वाषष्टिभागसत्कान् चतुरश्चतुरो भागान् 'प्रक्षपयति' परिहापयति, एतदेव व्याचष्टे—कृष्णपक्षे प्रतिदिवसं राहुविमानं स्वकीयेन पञ्चदशेन भागेन तं 'चन्द्रं' चन्द्रविमानं पञ्चदशमेव भागं 'वृणोति' आच्छादयति, शुक्लपक्षे पुनस्तमेव प्रतिदिवसं पञ्चदशभागमात्मीयेन पञ्चदशेन भागेन 'व्यतिक्रामति' मुञ्चति, किमुक्तं भवति ?—कृष्णपक्षे प्रतिपद आरभ्यात्मीयेन पञ्चदशेन पञ्चदशेन भागेन प्रतिदिवसमेकैकं पञ्चदशभागमुपरितनभागादारभ्यावृणोति, शुक्लपक्षे तु प्रतिपद आरभ्य तेनैव क्रमेण प्रतिदिवसमेकैकं पञ्चदशभागं प्रकटीकरोति, तेन जगति चन्द्रमण्डलस्य वृद्धिहानी प्रतिभासेते, स्वरूपतः पुनश्चन्द्रमण्डलमवस्थितमेव, तथा चाह—एवं राहुविमानेन प्रतिदिवसं क्रमेणानावरणकरणतो 'वर्द्धते' वर्द्धमानः प्रतिभासते चन्द्रः, एवं राहुविमानेन प्रतिदिवसं क्रमेणावरणकरणतः परिहानिप्रतिभासो भवति चन्द्रस्य विषये, एतेनैव 'अनुभावेन' कारणेनैकः पक्षः 'कालः' कृष्णो भवति यत्र चन्द्रस्य परिहानिः प्रतिभासते, एकस्तु 'ज्योत्स्नः' शुक्लो यत्र चन्द्रविषयो वृद्धिप्रतिभासः ॥ 'अन्तः' मध्ये 'मनुष्यक्षेत्रे' मनुष्यक्षेत्रस्य

पञ्चविधा ज्योतिष्कास्तद्यथा—चन्द्राः सूर्या ग्रहगणाः चशब्दान्नक्षत्राणि तारकाश्च भवन्ति 'चारोपगाः' चारयुक्ताः, 'तेने'ति प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया ततो मनुष्यक्षेत्रात्परं यानि शेषाणि 'चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्राणि' चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्रविमानानि; सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तेषां नास्ति गतिः—न स्वस्मात्स्थानाच्चलनं नापि 'चारः' मण्डलगत्या परिभ्रमणं किन्त्ववस्थितान्येव तानि ज्ञातव्यानि ॥ सम्प्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रादिसङ्कलनामाह—'एगे जंबुद्दीवे दुगुणा लवणे चउग्गुणा होंति । लावणगा य तिगुणिया ससिसूरा धायइसंडे' ॥ १ ॥ द्वौ चन्द्रौ उपलक्षणमेतत् द्वौ सूर्यौ च 'इह' अस्मिन् जम्बूद्वीपे, चत्वारः 'सागरे' समुद्रे 'लवणतोये' लवणजले, धातकीपण्डे द्वीपे द्वादश चन्द्राश्च द्वादश सूर्याश्च ॥ एतदेव भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति—शशिनौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे द्वौ द्वौ, तावेव द्विगुणितौ 'लवणे' लवणसमुद्रे भवतः, चत्वारो लवणसमुद्रे शशिनश्चत्वारश्च सूर्या भवन्तीत्यर्थः, द्वयोर्द्वाभ्यां गुणने चतुर्भावात्, पाठान्तरम्—"एवं जंबूद्दीवे दुगुणा लवणे चउग्गुणा होंति "त्ति, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण एकैकौ चन्द्रसूर्यौ जम्बूद्वीपे द्विगुणौ भवतः, किमुक्तं भवति?—द्वौ चन्द्रमसौ द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीप इति, 'लवणे' लवणसमुद्रे तावेवैकैकौ सूर्याचन्द्रमसौ चतुर्गुणौ भवतः, चत्वारश्चन्द्राश्चत्वारः सूर्या लवणसमुद्रे भवन्तीति भावः, 'लावणिकाः' लवणसमुद्रभवाः शशिसूर्यास्त्रिगुणिता धातकीपण्डे भवन्ति, द्वादश चन्द्रा द्वादश सूर्या धातकीषण्डे द्वीपे भवन्तीत्यर्थः ॥ सम्प्रति शेषद्वीपसमुद्रगतचन्द्रादित्यसङ्ख्यापरिज्ञानाय करणमाह—धातकीषण्डः प्रभृतिः—आदिर्येषां ते धातकीषण्डप्रभृतयस्तेषु धातकीषण्डप्रभृतिषु द्वीपेषु समुद्रेषु च ये उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादशादयः उपलक्षणमेतत् सूर्या वा ते 'त्रिगुणिताः' त्रिगुणीकृताः सन्तः 'आइल्लचंदसहिय'त्ति उद्दिष्टचन्द्रयुक्ताद्द्वीपात्समुद्राद्वा प्राग् जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा ये प्राक्तनाश्चन्द्रास्तैरादिमचन्द्रैः, उपलक्षणमेतत् आदिमसूर्यैश्च सहिता यावन्तो भवन्ति एतावत्प्रमाणा अनन्तरे-

ऽनन्तरे कालोदादौ भवन्ति, तत्र धातकीषण्डे द्वीपे उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादश ते त्रिगुणाः क्रियन्ते जाताः षट्त्रिंशत्, आदिमचन्द्राः षट्, तद्यथा—द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणसमुद्रे, एतैरादिमचन्द्रैः सहिता द्वाचत्वारिंशद्भवन्ति, एतावन्तः कालोदसमुद्रे चन्द्राः, एष एव विधिः सूर्याणामपि, तेन सूर्या अपि तत्रैतावन्तो वेदितव्याः, तथा कालोदे समुद्रे द्वाचत्वारिंशच्चन्द्रमस उद्दिष्टास्ते त्रिगुणाः क्रियन्ते जाताः षड्विंशं शतं, आदिमचन्द्रा अष्टादश, तद्यथा—द्वौ जम्बूद्वीपे चत्वारो लवणसमुद्रे द्वादश धातकीषण्डे, एतैरादिमचन्द्रैः सहितं षड्विंशं शतं चतुश्चत्वारिंशं शतं जातं, एतावन्तः पुष्करवरद्वीपे चन्द्रा एतावन्त एव च सूर्याः, एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेष्वेतत्करणवशाच्चन्द्रसङ्ख्या प्रतिपत्तव्या, सूर्यसङ्ख्याऽपि ॥ सम्प्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाणज्ञानोपायमाह—अत्राग्रशब्दः परिमाणवाची, यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं वा ज्ञातुमिच्छसि तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा सम्बन्धिभिः शशिभिरेकस्य शशिनः परिवारभूतं नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं च गुणितं सद् यावद् भवति तावत्प्रमाणं तत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणमिति, यथा लवणसमुद्रे किल नक्षत्रादिपरिमाणं ज्ञातुमिष्टं, लवणसमुद्रे च शशिनश्चत्वारस्तत एकस्य शशिनः परिवारभूतानि यान्यष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते जातं द्वादशोत्तरं शतं, एतावन्ति लवणसमुद्रे नक्षत्राणि, तथाऽष्टाशीतिर्ग्रहा एकस्य शशिनः परिवारभूतास्ते चतुर्भिर्गुण्यन्ते जातानि त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२, एतावन्तो लवणसमुद्रे ग्रहाः, तथैकस्य शशिनः परिवारभूतानि तारागणकोटीकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि कोटीकोटीनां द्वे लक्षे सप्तषष्टिः सहस्राणि नव शतानि २६७९००|००|००|०००|००|००० एतावत्यो लवणसमुद्रे तारागणकोटीकोटयः, एवंरूपा च नक्षत्रादीनां लवणसमुद्रे सङ्ख्या प्रागेवोक्ता, एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु नक्ष-

त्रादिसङ्ख्यापरिमाणं भावनीयम् ॥ सम्प्रति मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिनां चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—'**मनुष्यनगस्य**' मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिश्चन्द्रात्सूर्यस्य सूर्याच्चन्द्रस्यान्तरं भवति '**अन्यूनानि**' परिपूर्णानि योजनानां पञ्चाशत् सहस्राणि, एतावता चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरमुक्तम् ॥ इदानीं चन्द्रस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरमाह—'**सूरस्स य सूरस्स य**' इत्यादि, सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं—लक्षं, तथाहि—चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा बहिर्व्यवस्थिताः, चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि ५००००, ततश्चन्द्रस्य चन्द्रस्य सूर्यस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं भवति योजनानां लक्षं, एतच्चैवमन्तरपरिमाणं सूचीश्रेण्या प्रतिपत्तव्यं न वलयाकारश्रेण्येति ॥ सम्प्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्याऽवस्थानमाह—नृलोकाद्बहिः पङ्क्त्याऽवस्थिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकराः '**दीप्ताः**' दीप्यन्ते स्म भास्करा इत्यर्थः, कथम्भूतास्ते चन्द्रसूर्याः ? इत्याह—'**चित्रान्तरलेश्याकाः**' चित्रमन्तरं लेश्या च प्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वात् सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रा लेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्, लेश्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह—'**सुहलेसा मंदलेसा य**' सुखलेश्याश्चन्द्रमसो, न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः, मन्दलेश्याः सूर्या न तु मनुष्यलोके निदाघसमय इव एकान्तोष्णरश्मय इत्यर्थः, आह च तत्त्वार्थटीकाकारो **हरिभद्रसूरिः**—"नात्यन्तं शीताश्चन्द्रमसः नात्यन्तोष्णाः सूर्याः किन्तु साधारणा द्वयोरपी"ति, इहेदमुक्तं भवति—यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रादिपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्रैकशशिपरिवारभूतं नक्षत्रादिपरिमाणं तावद्भिः शशिभिर्गुणयितव्यमिति । तत्रैकशशिपरिवारभूतानां ग्रहादीनां परिमाणमाह—'अट्ठासीई-'त्यादि गाथाद्वयमपि पाठसिद्धम् ॥ बहिः '**मनुष्यनगस्य**' मनुष्यपर्वतस्य चन्द्रसूर्याणां योगा अवस्थिता न मनुष्यलोक इवान्यान्यन-

क्षत्रसञ्चारिणश्चाराभावात्, क्वचित् 'अवट्ठिया तेया' इति पाठस्तत्रावस्थितानि तेजांसीति व्याख्येयं, किमुक्तं भवति ?—सूर्याः सदैवानत्युष्णतेजसो न तु जातुचिदपि मनुष्यलोके ग्रीष्मकाल इवात्युष्णतेजसः, चन्द्रमसोऽपि सदैवानतिशीतलेश्याका न पुनः कदाचनाप्यन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य शिशिरकाल इवातिशीततेजस इति, तत्र प्रथमपाठपक्षे तानेवावस्थितान् योगानाह—'चंदा अभिई' इत्यादि, द्वितीयपाठपक्षे तथेति पठयितव्यं, चन्द्राः सर्वेऽपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिरभिजिता नक्षत्रेण युक्ताः, सूर्याः पुनर्भवन्ति पुष्यैर्युक्ता इति ॥ सम्प्रति मानुषोत्तरपर्वतोच्चैस्त्वादिप्रतिपादनार्थमाह—

माणुसुत्तरे णं भंते! पव्वते केवतियं उड्ढं उच्चत्तेणं? केवतियं उव्वेहेणं? केवतियं मूले विक्खम्भेणं? केवतियं मज्झे विक्खंभेणं? केवतियं सिहरे विक्खंभेणं? केवतियं अंतो गिरिपरिरएणं? केवतियं बाहिं गिरिपरिरएणं? केवतियं मज्झे गिरिपरिरएणं? केवतियं उवरि गिरिपरिरएणं?, गोयमा! माणुसुत्तरे णं पव्वते सत्तरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं उड्ढंउच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसए कोसं च उव्वेहेणं मूले दसबावीसे जोयणसते विक्खंभेणं मज्झे सत्ततेवीसे जोयणसते विक्खंभेणं उवरि चत्तारिचउवीसे जोयणसते विक्खंभेणं अंतो गिरिपरिरएणं—एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं। तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसते किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं, बाहिरगिरिपरिरएणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सतसहस्साइं छत्तीसं च सहस्साइं सत्तचोद्दसोत्तरे जोयणसते परिक्खेवेणं, मज्झे गिरिपरिरएणं एगा जोयण-

कोडी बायालीसं च सतसहस्साइं चोत्तीसं च सहस्सा अट्ठतेवीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, उवरि गिरिपरिरएणं एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं बत्तीसं च सहस्साइं नव य बत्तीसे जोयणसते परिक्खेवेणं, मूले विच्छिन्ने मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए अंतो सण्हे मज्झे उदग्गे बाहिं दरिसणिज्जे ईसिं सण्णिसण्णे सीहणिसाई अवद्धजवरासिसंठाणसंठिते सव्वजंबू-णयामए अच्छे सण्हे जाव पडिरूवे, उभओपासिं दोहिं पउमवरवेदियाहिं दोहि य वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ दोण्हवि ॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—माणुसुत्तरे पव्वते २?, गोयमा! माणुसुत्तरस्स णं पव्वतस्स अंतो मणुया उप्पिं सुवण्णा बाहिं देवा अदुत्तरं च णं गोयमा! माणुसुत्तरपव्वतं मणुया ण कयाइ वितिवइंसु वा वीतिवयंति वा वीतिवइस्संति वा णण्णत्थ चारणेहिं वा विज्जाहरेहिं वा देवकम्मुणा वावि, से तेणट्ठेणं गोयमा!० अदुत्तरं च णं जाव णिच्चेत्ति ॥ जावं च णं माणुसुत्तरे पव्वते तावं च णं अस्सिंलोए त्ति पवुच्चति, जावं च णं वासातिं वा वासधरातिं वा तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं गेहाइ वा गेहावयणाति वा तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं गामाति वा जाव रायहाणीति वा तावं च णं अस्सिंलोएत्ति पवुच्चति, जावं च णं अरहंता चक्कवट्टि बलदेवा वासुदेवा पडिवासुदेवा चारणा विज्जाहरा समणा समणीओ सावया सावियाओ मणुया पगतिभद्दगा विणीता तावं च णं अस्सिं

लोएत्ति पवुचति, जावं च णं समयाति वा आवलियाति वा आणापाणूइति वा थोवाइ वा लवाइ वा मुहुत्ताइ वा दिवसाति वा अहोरत्ताति वा पक्खाति वा मासाति वा उदूति वा अयणाति वा संवच्छराति वा जुगाति वा वाससताति वा वाससहस्साति वा वाससयसहस्साइ वा पुव्वंगाति वा पुव्वाति वा तुडियंगाति वा, एवं पुव्वे तुडिए अडडे अववे हूहुकए उप्पले पउमे णलिणे अच्छिणिउरे अउते णउते मउते चूलिया सीसपहेलिया जाव य सीसपहेलियंगेति वा सीसपहेलियाति वा पलिओवमेति वा सागरोवमेति वा उवसप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा तावं च णं अस्सिं लोगे वुचति, जावं च णं बादरे विज्जुकारे बायरे थणियसद्दे तावं च णं अस्सिं० जावं च णं बहवे ओराला बलाहका संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति तावं च णं अस्सिं लोए, जावं च णं बायरे तेउकाए तावं च णं अस्सिं लोए, जावं च णं आगराति वा नदीउइ वा णिहीति वा तावं च णं अस्सिंलोगित्ति पवुचति, जावं च णं अगडाति वा णदीति वा तावं च णं अस्सिं लोए जावं च णं चंदोवरागाति वा सूरोवरागाति वा चंदपरिएसाति वा सूरपरिएसाति वा पडिचंदाति वा पडिसूराति वा इंदधणूइ वा उदगमच्छेइ वा कपिहसिताणि या तावं च णं अस्सिंलोगेति प० ॥ जावं च णं चंदिमसूरियगहणक्खत्ततारारूवाणं अभिगमणनिग्गमणवुड्ढिणिवुड्ढिअणवट्ठियसंठाणसंठिती आघविज्जति तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुचति ॥ (सू० १७८)

'माणुसुत्तरे ण'मित्यादि, मानुषोत्तरो णमिति वाक्यालङ्कारे पर्वतः 'कियत्' किंप्रमाणमूर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन? कियदुद्वेधेन? कियन्मूलविष्कम्भेन? कियदुपरिविष्कम्भेन? कियद् 'अन्तर्गिरिपरिरयेण' गिरेरन्तः परिक्षेपेण? कियद् 'बहिर्गिरिपरिरयेण' गिरेर्बहिः-परिच्छेदेन? कियत् 'मूलगिरिपरिरयेण?' गिरेर्मूले परिरयेण, एवं कियन्मध्यगिरिपरिरयेण?, एवं कियदुपरिगिरिपरिरयेण प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! सप्तदश योजनशतानि एकविंशानि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन १७२१, चत्वारि त्रिंशानि योजनशतानि क्रोशमेकं च 'उद्वेधेन' उण्डत्वेन ४३०, मूले दश द्वाविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन १०२२, मध्ये सप्त त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भतः ७२३, उपरि चत्वारि चतुर्विंशत्युत्तराणि योजनशतानि विष्कम्भेन ४२४, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे एकोनपञ्चाशदधिके योजनशते किञ्चिद्विशेषाधिके अन्तर्गिरिपरिरयेण १४२३०२४९, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि सप्त चतुर्दशोत्तराणि योजनशतानि बहिर्गिरिपरिरयेण १४२३६७१४, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि अष्टौ त्रयोविंशत्युत्तराणि योजनशतानि मध्यगिरिपरिरयेण १४२३४८२३, एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशच्छतसहस्राणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि नव च द्वात्रिंशदुत्तराणि योजनशतानि उपरिगिरिपरिरयेण १४२३-२९३२, इदं च मध्ये उपरि च गिरिपरिरयपरिमाणं बहिर्भागापेक्षमवसातव्यं, अभ्यन्तरं छिन्नटङ्कतया मूले मध्ये उपरि च सर्वत्र तुल्यपरिरयपरिमाणत्वात्, मूले विस्तीर्णोऽतिपृथुलात्, मध्ये संक्षिप्तो मध्यविस्तारत्वात्, उपरि तनुकः स्तोकबाहल्यभावात्, अन्तः श्लक्ष्णो मृष्ट इत्यर्थः मध्ये 'उदग्रः' प्रधानः बहिः 'दर्शनीयः' नयनमनोहारी 'ईषत्' मनाक् सन्निषण्णः सिंहनिषीदनेन निषीदनात्, तथा चाह—'सिंहनिषादी' सिंहवन्निषीदतीत्येवंशीलः सिंहनिषादी, यथा सिंहोऽग्रेतनं पादयुगलमुत्तम्य पश्चात्तनं तु पादयुग्मं स-

क्रोच्य पुताभ्यां मनागुल्मो निषीदति तथा निषण्णश्च शिरःप्रदेशे उन्नतः पश्चाद्भागे तु निम्नो निम्नतरः एवं मानुषोत्तरोऽपि जम्बूद्वीपदिशि छिन्नटङ्कः स चोन्नतः पाश्चात्यभागे तूपरितनभागादारभ्य पृथुत्वप्रदेशवृद्ध्या निम्नोनिम्नतर इति, एतदेवातिव्यक्तमाह—'अवद्धजवरासिसंठाणसंठिए' इति अपगतमर्द्धं यस्य सोऽपार्द्धः स चासौ यवश्च राशिश्च अपार्द्धयवराशी तयोरिव यत्संस्थानं यस्य तेन संस्थितः, यथा यवो राशिश्च धान्यानामपान्तराले ऊर्द्धाधोभागेन छिन्नो मध्यभागे छिन्नटङ्क इव भवति बहिर्भागे तु शनैः शनैः पृथुत्ववृद्ध्या निम्नो निम्नतरस्तद्वद्देषोऽपि, यवग्रहणं पृथग्व्याख्यातमन्यत्र केवलापार्द्धयवसंस्थानतयाऽपि प्रतिपादनात्, उक्तञ्च—"जंबूणयामओ सो रम्मो अद्धजवसंठिओ भणिओ। सिंहनिसादीएणं दुहाकओ पुक्खरद्दीवो ॥ १ ॥" 'सव्वजंबूणयामए' इति सर्वात्मना जाम्बूनदमयः 'अच्छे जाव पडिरूवे' इति प्राग्वत्। 'उभओ पासि'मित्यादि उभयोः पार्श्वयोरन्तर्भागे मध्यभागे चेत्यर्थः प्रत्येकमेकैकभावेन द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां च 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'समन्ततः' सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः, द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च प्राग्वत् ॥ साम्प्रतं नामनिमित्तमभिधित्सुराह— 'से केणट्ठेण'मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—मानुषोत्तरः पर्वतः मानुषोत्तरः पर्वतः? इति, भगवानाह—गौतम! मानुषोत्तरपर्वतस्य 'अन्तः' मध्ये मनुष्याः उपरि 'सुवर्णाः' सुवर्णकुमारा देवाः वहिः सामान्यतो देवाः, ततो मनुष्याणामुत्तरः—पर इति मानुषोत्तरः। अथान्यद् गौतम! मानुषोत्तरं पर्वतं मनुष्या न कदाचिदपि व्यतिव्रजितवन्तः व्यतिव्रजन्ति व्यतिव्रजिष्यन्ति वा, किं सर्वथा न? इत्याह—नान्यत्र, चारणेन पञ्चम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् 'चारणात्' जङ्घाचारणलब्धिसंपन्नात् विद्याधराद् देवकर्मण एव क्रियया देवोत्पादनादित्यर्थः, चारणादयो व्यतिव्रजन्त्यपि मानुषोत्तरं पर्वतमिति तद्वर्जनं, ततो मानुषाणामुत्तरः—उच्चैस्तरोऽलङ्घनीयत्वान्मानुषोत्तरः,

तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्याद्युपसंहारवाक्यं गतार्थं ॥ सम्प्रत्येतावानेव मनुष्यलोकोऽत्रैव च वर्षवर्षधरादय इत्येतत्सूत्रं प्रतिपादयितुकाम आह—'जावं च ण'मित्यादि, यावदयं मानुषोत्तरपर्वतस्तावत् 'अस्सिंलोए' इति अयं मानुषलोक इति प्रोच्यते न परतः, तथा यावद्वर्षाणि—भरतादीनि क्षेत्राणीति वा वर्षधरपर्वता—हिमवदादय इति वा तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते न परतः, एतावता किमुक्तं भवति ?—वर्षाणि वर्षधरपर्वताश्च मनुष्यलोक एव नान्यत्रेति, एवमुत्तरत्रापि भावनीयं, तथा यावद्गृहाणीति वा गृहापतनानीति वा तत्र गृहाणि प्रतीतानि गृहापतनानीति—गृहेष्वागमनानि तावदयं मनुष्यलोकः प्रोच्यते, गृहाणि गृहापतनानि वाऽस्मिन्नेव मनुष्यलोके नान्यत्रेति भावः, तथा ग्रामा इति वा नकराणीति वा यावत्सन्निवेशा इति वा, यावत्करणात् खेटकर्बटादिपरिग्रहस्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अत्रापि भावार्थः प्राग्वत्, तथा यावदर्हन्तश्चक्रवर्त्तिनो बलदेवा वासुदेवाश्चारणा—जङ्घाचारणविद्याधराः 'श्रमणाः' साधवः 'श्रमण्यः' संयत्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, तथा मनुष्याः प्रकृतिभद्रका इत्यादि यावद्विनीतास्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अर्हदादीनामत्रैव भावो नान्यत्रेति भावार्थः । तथा यावदुदारा बलाहका—मेघाः संस्विद्यन्ते संमूर्च्छन्ति—वर्षा वर्षन्ति, अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, मेघानामपि वर्षुकाणामत्रैव भावो नान्यत्रेति भावार्थः, तथा यावत् 'बादरः' गुरुतरः 'स्तनितशब्दः' गर्जितशब्द इति, 'बादरो विद्युत्कार इति वा' बादरा—अतिबहलतरा विद्युत् तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, तथा यावदयं बादरोऽग्निकायिकस्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, बादराग्निकायिकस्यापि मनुष्यलोकात्परतोऽसम्भवात्, तथा यावदाकरा इति वा, आकरा—हिरण्याकरादयः, नद्य इति वा निधय इति वा तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, तेषामपि मनुष्यक्षेत्रादन्यत्रासम्भवात्, तथा यावत्समया इति वा, समयः—परमनिरुद्धः कालविशेषो यस्याधो विभागः कर्त्तुं न शक्यते, स च सूचिकदारकस्तरुणो

वलवानित्यादिपूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो यावन्निपुणशिल्पोपगत एकां महतींपटशाटिकां पट्टशाटिकां वा गृहीत्वा शीघ्रं हस्तमात्रमपसारयन् यावता कालेनोपरितनतन्तुगतमुपरितनं पक्ष्म छिनत्ति ततोऽपि मनाक् सूक्ष्मतरो, जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकसमयानां समुदायः एकावलिका, सङ्ख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः सङ्ख्येयाऽऽवलिका निःश्वासः उच्छ्वासनिःश्वासौ समुदितावेक आनप्राणकालः, किमुक्तं भवति ?—हृष्टस्य नीरोगस्य श्रमबुभुक्षादिना निरुपक्रुष्टस्य यावता कालेनैतावुच्छ्वासनिःश्वासौ भवतः तावान् काल आनप्राणः, उक्तञ्च—"हट्ठस्स अणवकल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासनीसासे, एस पाणुत्ति वुच्चए ॥१॥" सप्त प्राणा एकः स्तोकः सप्त स्तोका एको लवः सप्तसप्ततिसङ्ख्या लवा एको मुहूर्त्तः, उक्तञ्च—"सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे। लवाण सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ १ ॥" अस्मिंश्च मुहूर्त्ते यद्यावलिकाश्चिन्त्यन्ते तदा तासामेका कोटी सप्तषष्टिर्लक्षाः सप्तसप्ततिः सहस्राणि द्वे शते षोडशाधिके, उक्तञ्च—"एगा कोडी सत्तट्ठि लक्खा सत्तत्तरी सहस्सा य। दो य सया सोलहिया आवलियाणं मुहुत्तंमि ॥१॥" उच्छ्वासाश्च मुहूर्त्ते त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, उक्तञ्च—"तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा। एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १ ॥" त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणोऽहोरात्रः, पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः, द्वौ पक्षौ मासः, द्वौ मासौ ऋतुः, ते च षट्, तद्यथा—प्रावृड् वर्षारात्रः शरद् हेमन्तः वसन्तः ग्रीष्मश्च, तत्र—'आषाढाद्या ऋतव' इति वचनाद् आषाढश्रावणौ प्रावृट् भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षारात्रः कार्त्तिकमार्गशीर्षौ शरद् पौषमाघौ हेमन्तः फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, ये त्वभिदधति—वसन्ताद्या ऋतवः (इति वसन्तः) ग्रीष्मः प्रावृट्शरदौ हेमन्तः शिशिर इति षडिति तदप्रमाणमवसातव्यं, जैनमतोत्तीर्णत्वात्, त्रय ऋतवोऽयनं, द्वे अयने संवत्सरः, पञ्चसंवत्सरं युगं, विंशतिर्युगानि वर्षशतं, इहाहोरात्रे मासे वर्षे वर्षशते चोच्छ्वासपरिमाणमेवं पू-

वैसूरिभिः संकलितम्—"एगं च सयसहस्सं ऊसासाणं तु तेरस सहस्सा । नउयसएणं अहिया दिवसनिसिं होंति विन्नेया ॥ १ ॥ (११३९०)। मासेऽवि य ऊसासा लक्खा तित्तीस सहस पणनउई। सत्त सयाइं जाणसु कहियाइं पुव्वसूरीहिं ॥२॥ (३३९५७००)। चत्तारि य कोडीओ लक्खा सत्तेव होंति नायव्वा । अडयालीससहस्सा चारसया होंति वरिसेणं ॥ ३ ॥" (४०७४८४००)। दश वर्षशतानि वर्षसहस्रं शतं वर्षसहस्राणां वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिः वर्षशतसहस्राणि एकं पूर्वाङ्गं, चतुरशीतिः पूर्वाङ्गशतसहस्राणि एकं पूर्वं, चतुरशीतिः पूर्ववर्षशतसहस्राणि एकं त्रुटिताङ्गं, चतुरशीतिः त्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितं, चतुरशीतिस्त्रुटितशतसहस्राणि एकमडडाङ्गं, चतुरशीतिरडडाङ्गशतसहस्राणि एकमडडं, चतुरशीतिरडडशतसहस्राणि एकमववाङ्गं, चतुरशीतिरववाङ्गशतसहस्राणि एकमववं, चतुरशीतिरववशतसहस्राणि एकं हूहुकाङ्गं, चतुरशीतिर्हूहुकाङ्गशतसहस्राणि एकं हूहुकं, चतुरशीतिर्हूहुकशतसहस्राणि एकमुत्पलाङ्गं, चतुरशीतिरुत्पलाङ्गशतसहस्राणि एकमुत्पलं, चतुरशीतिरुत्पलशतसहस्राणि एकं पद्माङ्गं, चतुरशीतिः पद्माङ्गशतसहस्राणि एकं पद्मं, चतुरशीतिः पद्मशतसहस्राणि एकं नलिनाङ्गं, चतुरशीतिर्नलिनाङ्गशतसहस्राणि एकं नलिनं, चतुरशीतिर्नलिनशतसहस्राणि एकमर्थनिकुराङ्गं, चतुरशीतिरर्थनिकुराङ्गशतसहस्राणि एकमर्थनिकुरं, चतुरशीतिरर्थनिकुरशतसहस्राणि एकमयुताङ्गं, चतुरशीतिरयुताङ्गशतसहस्राणि एकमयुतं, चतुरशीतिरयुतशतसहस्राणि एकं प्रयुताङ्गं, चतुरशीतिः प्रयुताङ्गशतसहस्राणि एकं प्रयुतं, चतुरशीतिः प्रयुतशतसहस्राणि एकं नयुताङ्गं, चतुरशीतिर्नयुताङ्गशतसहस्राणि एकं नयुतं, चतुरशीतिर्नयुतशतसहस्राणि एकं चूलिकाङ्गं, चतुरशीतिश्चूलिकाङ्गशतसहस्राणि एका चूलिका, चतुरशीतिश्चूलिकाशतसहस्राणि एकं शीर्षप्रहेलिकाङ्गं, चतुरशीतिः शीर्षप्रहेलिकाङ्गशतसहस्राणि एका शीर्षप्रहेलिका, एतावानेव गणितस्य विषयोऽतः परमौपमिकं कालपरिमाणं, एतदेवाह—पल्योपममिति वा,

पल्योपमस्वरूपं सङ्ग्रहणिटीकातोऽवसातव्यं, तत्र सविस्तरमभिहितत्वात्, पल्योपमानां दश कोटीकोट्य एकं सागरोपमं, दश कोटीकोट्यः सागरोपमाणां सुषमसुषमाद्यरकक्रमेण एकाऽवसर्पिणी, सागरोपमाणां दश कोटीकोट्य एव दुष्पमदुष्पमाद्यरकक्रमेणैकोत्सर्पिणी, तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्रैवंरूपकालपरिमाणासम्भवात्, कालद्रव्यस्य मनुष्यक्षेत्र एव भावात् ॥ 'जावं च ण'मित्यादि, यावच्चन्द्रोपरागा इति वा सूर्योपरागा इति वा चन्द्रपरिवेषा इति वा सूर्यपरिवेषा इति वा प्रतिचन्द्रा इति वा प्रतिसूर्या इति वा इन्द्रधनुरिति वा उदकमत्स्या इति वा कपिहसितमिति वा, एतेषामर्थः प्राग्वत्तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्रैषामभाव इति भावः ॥ 'जावं च ण'मित्यादि, यावच्चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रताराख्पाणि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, णमिति वाक्यालङ्कारे अभिगमनं—सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरप्रवेशनं निर्गमनं—सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्गमनं वृद्धिः—शुक्लपक्षे चन्द्रमसो वृद्धिप्रतिभासः निर्वृद्धिः—वृद्धेरभावः, कृष्णपक्षे चन्द्रमस एव हानिप्रतिभास इति भावः, अनवस्थितं—सन्ततं चारप्रवृत्त्या यत्संस्थानं—सम्यगवस्थानमनवस्थितसंस्थानं, एतेषां द्वन्द्वस्तैः संस्थितानि—यथायोगं व्यवस्थितानि अभिगमननिर्गमनवृद्धिनिर्वृद्ध्यनवस्थितसंस्थानसंस्थितानीति व्याख्यायन्ते तावदयं मनुष्यलोक इति प्रोच्यते, अन्यत्र चन्द्रादीनामभिगमनाद्यसम्भवात् ॥

अंतो णं भंते! मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगहगणणक्खत्तताराख्वा ते णं भदन्त! देवा किं उड्ढोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा?, गोयमा! ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा णो कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा नो चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा उड्ढमुहकलंबुयपुप्फसंठाणसंठि-

तेहिं जोयणसाहस्सितेहिं तावखेत्तेहिं साहस्सियाहिं बाहिरियाहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महयाहयनट्टगीतवादिततंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवादितरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा महया उक्कट्ठिसीहणायबोलकलकलसद्देण विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा अच्छयपव्वयरायं पदाहिणावत्तमंडलयारं मेरुं अणुपरियडंति ॥ तेसि णं भंते! देवाणं इंदे चवति से कहमिदाणिं पकरेंति?, गोयमा! ताहे चत्तारि पंच सामाणिया तं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अन्ने इंदे उववण्णे भवति ॥ इंदट्ठाणे णं भंते! केवतियं कालं विरहिते उववातेणं?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा ॥ बहिया णं भंते! मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगहणक्खत्ततारारूवा ते णं भंते! देवा किं उड्ढोववण्णगा कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा चारट्ठितीया गतिरतिया गतिसमावण्णगा?, गोयमा! ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा नो कप्पोववण्णगा विमाणोववन्नगा नो चारोववण्णगा चारट्ठितीया नो गतिरतिया नो गतिसमावण्णगा पक्किट्टगसंठाणसंठितेहिं जोयणसतसाहस्सिएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सियाहिय बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताहतणट्टगीयवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा सुहलेस्सा सीयलेस्सा मंदलेस्सा मंदायवलेस्सा चित्तंतरलेसागा कूडा इव ठाणट्ठिता अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेसाहिं ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासेंति उज्जोवेंति तवंति पभासेंति ॥

जया णं भंते! तेसिं देवाणं इंदे चयति से कहमिदाणिं पकरेंति?, गोयमा! जाव चत्तारि पंच सामाणिया तं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अण्णे उववण्णे भवति। इंदट्ठाणे णं भंते! केवतियं कालं विरहओ उववातेणं?, गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा ॥ (सू० १७९)

'अंतो ण'मित्यादि, 'अन्तः' मध्ये णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपास्ते भदन्त! देवाः किमूर्ध्वोपपन्नाः?—सौधर्मादिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य ऊर्ध्वमुपपन्ना ऊर्ध्वोपपन्नाः कल्पेषु—सौधर्मादिषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः विमानेषु—सामान्यरूपेषु उपपन्ना विमानोपपन्नाः चारो—मण्डलगत्या परिभ्रमणं तमुपपन्ना—आश्रितवन्तश्चारोपपन्नाः चारस्य—यथोक्तरूपस्य स्थितिः—अभावो येषां ते चारस्थितिका अपगतचारा इत्यर्थः गतौ रतिः—आसक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः, एतेन गतौ रतिमात्रमुक्तं, सम्प्रति साक्षाद्गतिं प्रश्नयति—'गतिसमापन्नाः?' गतिसमापन्नाः—गतियुक्ताः, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—गौतम! ते देवा नोर्ध्वोपपन्नास्तथा चारोपपन्नाश्चारसहिता नो चारस्थितिकाः, तथा स्वभावतोऽपि गतिरतिकाः साक्षाद्गतियुक्ताश्च, नालिकापुष्पसंस्थानसंस्थितैः 'योजनसाहस्रिकैः' अनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रैः 'साहस्रिकाभिः' अनेकसहस्रसङ्ख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्र बहुवचनं व्यत्ययपेक्षया, 'वैकुर्विकाभिः' विकुर्वितनानारूपधारिणीभिः 'महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेण'मिति पूर्ववत् 'दिव्यान्' प्रधानात् भोगार्हा भोगाः—शब्दादयो भोगभोगास्तान् भुञ्जानास्तथा स्वभावतो गतिरतिकैर्बाह्यपर्षदन्तर्गतैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषु 'उत्कृष्टतः' उत्कर्षवशेन ये मुच्यन्ते सिंहनादादयश्च क्रियन्ते बोलाः, बोलो नाम

मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन पूत्करणं, यश्च कलकलो—व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण महता समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणा मेरुमिति योगः, किंविशिष्टम्? इत्याह—'अच्छम्' अतीवनिर्मलजाम्बूनदमयत्वात् रत्नबहुलत्वाच्च 'पर्वतराजं' पर्वतेन्द्रं प्रदक्षिणावर्त्तमण्डलं चारं यथा भवति तथा मेरुमनुलक्षीकृत्य 'परिअडंति' पर्यटन्ति। पुनः प्रश्नयति—'तेसि णं भंते!' इत्यादि, तेषां भदन्त! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा 'इदानीम्' इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति?, भगवानाह—गौतम! यावच्चत्वारः पञ्च वा सामानिका देवाः समुदितीभूय 'तत्स्थानम्' इन्द्रस्थानमुपसंपद्य 'विहरन्ति' तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति, संजातौ शुल्कस्थानादिकपञ्चकुलवत्, कियन्तं कालं यावत्तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्ति? इति चेदत आह—यावदन्यस्तत्रेन्द्र उपपन्नो भवति॥ 'इंदट्ठाणे ण'मित्यादि, इन्द्रस्थानं भदन्त! कियन्तं कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! जघन्येनैकं समयं यावदुत्कर्षतः षण्मासान्॥ 'वहिया ण'मित्यादि, वहिर्भदन्त! मानुषोत्तरस्य पर्वतस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपास्ते भदन्त! देवाः किमूर्द्ध्वोपपन्नाः? इत्यादि प्राग्वत्, भगवानाह—गौतम! नोर्द्ध्वोपपन्नका नापि कल्पोपपन्नाः किन्तु विमानोपपन्नास्तथा नो चारोपपन्नाः किन्तु चारस्थितिकाः अत एव नो गतिरतयो नापि गतिसमापन्नकाः 'पक्किट्टगसंठाणसंठिएहिं'ति पक्वेष्टकसंस्थानसंस्थितैर्योजनशतसाहस्रिकैरातपक्षेत्रैः, यथा इष्टका आयामतो दीर्घा भवति विस्तरतस्तु स्तोका चतुरस्रा च तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्व्यवस्थितानां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राण्यायामतोऽनेकयोजनशतसहस्रप्रमाणानि विस्तरत एकयोजनशतसहस्राणि चतुरस्राणि चेति, तैरित्थम्भूतैरातपक्षेत्रैः साहस्रिकाभिः—अनेकसहस्रसङ्ख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्रापि बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया, 'महयाहये'त्यादि यावत्समुद्ररवभूतमिव कुर्वन्त इति प्राग्वत्, कथम्भूताः? इत्याह—शुभलेश्याः, एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः किन्तु सुखोत्पादहेतुपरमलेश्याका

इत्यर्थः, मन्दलेश्या, एतच्च विशेषणं सूर्यान् प्रति, तथा च एतदेव व्याचष्टे—'मन्दातपलेश्याः' मन्दा नात्युष्णस्वभावा आतपरूपा लेश्या—रश्मिसङ्घातो येषां ते तथा, पुनः कथम्भूताश्चन्द्रादित्याः? इत्याह—'चित्रान्तरलेश्याः' चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा, भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः, त इत्थम्भूताश्चन्द्रादित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः, तथाहि—चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणविस्तारा, चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि, ततश्चन्द्रप्रभासम्मिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभासम्मिश्राश्च चन्द्रप्रभाः इतीत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः कूटानीव—पर्वतोपरिव्यवस्थितशिखराणीव 'स्थानस्थिताः' सदैवैकत्र स्थाने स्थितास्तान् तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् उद्द्योतयन्ति अवभासयन्ति तापयन्ति प्रकाशयन्ति ॥ 'तेसि णं भंते! देवाणं जाहे इंदे चयई'त्यादि प्राग्वत् ॥

पुक्खरवरण्णं दीवं पुक्खरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जाव संपरिक्खिवित्ताणं चिट्ठति ॥ पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते?, गोयमा! संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥ पुक्खरोदस्स णं समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता?, गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता तहेव सव्वं पुक्खरोदसमुद्दपुरत्थिमपेरंते वरुणवरदीवपुरत्थिमद्धस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं पुक्खरोदस्स विजए नामं दारे पण्णत्ते, एवं सेसाणवि । दारंतरंमि संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । पदेसा जीवा य तहेव । से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति?—पुक्ख-

रोदे समुद्दे २?, गोयमा! पुक्खरोदस्स णं समुद्दस्स उदगे अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं सिरिधरसिरिप्पभा य दो देवा जाव महिड्ढीया जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से एतेणट्ठेणं जाव णिच्चे। पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे केवतिया चंदा पभासिंसु वा ३?, संखेज्जा चंदा पभासेंसु वा ३ जाव तारागण कोडीकोडीउ सोभेंसु वा ३॥ पुक्खरोदे णं समुद्दे वरुणवरेणं दीवेणं संपरि० वट्टे वलयागारे जाव चिट्ठति, तहेव समचक्कवालसंठिते केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं? केवइयं परिक्खेवेणं? पण्णत्ता, गोयमा! संखिज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, पउमवरवेदियावणसंडवण्णओ दारंतरं पदेसा जीवा तहेव सव्वं॥ से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ वरुणवरे दीवे २?, गोयमा! वरुणवरे णं दीवे तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहुओ खुड्डा खुड्डियाओ जाव विलपंतियाओ अच्छाओ पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरि० वण० वारुणिवरोदगपडिहत्थाओ पासातीताओ ४, तासु णं खुड्डाखुड्डियासु जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वता जाव खडहडगा सव्वफलिहामया अच्छा तहेव वरुणवरुणप्पभा य एत्थ दो देवा महिड्ढीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं जाव णिच्चे। जोतिसं सव्वं संखेज्जगेणं जाव तारागणकोडिकोडीओ। वरुणवरण्णं दीवं वरुणोदे णामं समुद्दे वट्टे वलया० जाव चिट्ठति, समचक्क० विसमचक्कवि० तहेव सव्वं भाणियव्वं, विक्खंभपरिक्खेवो संखिज्जाइं

जोयणसहस्साइं दारंतरं च पउमवर० वणसंडे पएसा जीवा अट्ठो गोयमा! वारुणोदस्स णं समुद्दस्स उदए से जहा नामए चंदप्पभाइ वा मणिसिलागाइ वा वरसीधुवरवारुणीइ वा पत्तासवेइ वा पुप्फासवेइ वा चोयासवेइ वा फलासवेइ वा महुमेरएइ वा जातिप्पसन्नाइ वा खज्जूरसारेइ वा मुद्दियासारेइ वा कापिसायणाइ वा सुपक्कखोयरसेइ वा पभूतसंभारसंचिता पोसमासतभिसयजोगवत्तिता निरुवहतविसिट्ठदिन्नकालोवयारा सुधोता उक्कोसग (मयपत्ता) अट्ठपिट्ठपुट्ठा (पिट्ठ निट्ठिजा) [मुखइंतवरकिमदिण्णकद्दमा कोपसन्ना अच्छा वरवारुणी अतिरसा जंबूफलपुट्ठवन्ना सुजाता ईसिउट्ठावलंबिणी अहियमधुरपेज्जा ईसासिरत्तणेत्ता कोमलकवोलकरणी जाव आसादिता विसदिता अणिहुयसंलावकरणहरिसपीतिजणणी संतोसततबिवोक्कहावविब्भमविलासवेल्लहलगमणकरणी विरणमधियसत्तजणणी य होति संगामदेसकालेकयरणसमरपसरकरणी कढियाणविज्जुपयतिहिययाण मउयकरणी य होति उववेसिता समाणा गतिं खलावेति य सयलंमिवि सुभासवुप्पालिया समरभग्गवणोसहयारसुरभिरसदीविया सुगंधा आसायणिज्जा विस्सायणिज्जा पीणणिज्जा दप्पणिज्जा मयणिज्जा सव्विंदियगातपल्हायणिज्जा] आसला मांसला पेसला (ईसी ओट्ठावलंबिणी ईसी तंबच्छिकरणी ईसी वोच्छेया कडुआ) वण्णेणं उववेया गंधेणं उववेया रसेणं उववेया फासेणं उववेया, भवे एयारूवे सिया?, गोयमा!

नो इणट्ठे समट्ठे, वारुणस्स णं समुद्दस्स उदए एत्तो इट्ठतरे जाव उदए। से एएणट्ठेणं एवं वुच्चति०, तत्थ णं वारुणिवारुणकंता देवा महिड्ढीया० जाव परिवसंति, से एएणट्ठेणं जाव णिच्चे, सव्वं जोइससंखिज्जं केण नायव्वं वारुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसुवा ३? ॥ (सू० १८०)

'पुक्खरवरण्ण'मित्यादि, पुष्करवरं णमिति वाक्यालङ्कारे द्वीपं पुष्करोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति ॥ 'पुक्खरोदे णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए' इत्यादि प्राग्वत् ॥ सम्प्रति विष्कम्भादिप्रतिपादनार्थमाह—'पुक्खरोदे ण'मित्यादि, पुष्करोदो भदन्त! समुद्रः कियच्चक्रवालविष्कम्भेन कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः?, भगवानाह—गौतम! सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः । 'से ण'मित्यादि, स पुष्करोदः समुद्र एकया पद्मवरवेदिकया सामर्थ्यादष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्या एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः ॥ 'पुक्खरोदस्स णं भंते!' इत्यादि, पुष्करोदस्य भदन्त! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि?, भगवानाह—गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितं, क्व भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य पूर्वार्द्धपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि, अत्र पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदे समुद्रे ॥ 'कहि ण'मित्यादि, क्व भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ॥ क्व भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य

पूर्वतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे ॥ 'कहि ण'मित्यादि, क भदन्त! पुष्करोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! पुष्करोदसमुद्रस्योत्तरपर्यन्तेऽरुणवरद्वीपस्य दक्षिणतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, एतदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे ॥ '**पुक्खरोदस्स ण**'मित्यादि, पुष्करोदस्य भदन्त! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमन्तरमेतत् कियत् '**अबाधया**' अन्तरित्वा व्याघातरूपया प्रज्ञप्तम्?, भगवानाह—गौतम! सङ्ख्येयानि योजनशतसहस्राणि द्वारस्य द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् ॥ '**पएसे**'त्यादि प्रदेशजीवोपपातसूत्रचतुष्टयं तथैव पूर्ववत्, तच्चैवम्—"पुक्खरोयस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा अरुणवरं दीवं पुट्ठा?, हंता! पुट्ठा, ते णं भंते! पुक्खरोदे समुद्दे अरुणवरे दीवे?, गोयमा! पुक्खरोए णं समुद्दे नो अरुणवरे दीवे। अरुणवरस्स णं भंते! दीवस्स पएसा पुक्खरोदण्णं समुद्दं पुट्ठा?, हंता पुट्ठा, ते णं भंते! किं अरुणवरे दीवे पुक्खरोदे समुद्दे?, गोयमा! अरुणवरे णं दीवे नो खलु ते पुक्खरोए समुद्दे। पुक्खरोए णं भंते! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता अरुणवरे दीवे पच्चायंति?, गोयमा! अत्थेगइया पच्चायंति अत्थेगइया नो पच्चायंति। अरुणवरे णं भंते! दीवे जीवा उद्दाइत्ता पुक्खरोदे समुद्दे०?" इति, (पुष्करोदान्वर्थे) भगवानाह—गौतम! पुष्करोदस्य णमिति पूर्ववत् समुद्रस्योदकम् '**अच्छम्**' अनाविलं '**पथ्यं**' न रोगहेतुः '**जात्यं**' न विजातिमत् '**तनु**' लघुपरिणामं '**स्फटिकवर्णाभं**' स्फटिकरत्नच्छायं प्रकृत्योदकरसं प्रज्ञप्तं, श्रीधरश्रीप्रभौ चात्र—पुष्करोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततस्ताभ्यां सपरिवाराभ्यां गगनमिव चन्द्रादित्याभ्यां ग्रहनक्षत्रादिपरिवारोपेताभ्यां तदुदकमवभासत इति, पुष्करमिवोदकं यस्यासौ पुष्करोदः, तथा चाह—'**से एएणट्ठेण**'मित्याद्युपसंहारवाक्यम्। 'पुक्खरोए णं भंते! समुद्दे कइ चंदा पभा-

सिंसु ?' इत्यादि पाठसिद्धं, सर्वत्र सङ्ख्येयस्य निर्वचनभावात् ॥ **'पुक्खरोदण्णं समुद्द'**मित्यादि, पुष्करोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं वरुणवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि पुष्करोदसमुद्रवच्चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपवेदिकावनखण्डद्वारतदन्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तव्यता वक्तव्या ॥ सम्प्रति नामान्वर्थमभिधित्सुराह—**'से केणट्ठेण'**मित्यादि, अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते वरुणवरो द्वीपो वरुणवरो द्वीपः ? इति, भगवानाह—गौतम! वरुणवरस्य द्वीपस्य तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे वहवः 'खुड्डा खुड्डियाओ जाव बिलपंतियाओ यावत्करणात् पुक्खरणीओ गुंजालियाओ दीहियाओ सराओ सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ विलपंतीओ अच्छाओ जाव महुररसणिचताओ' इति यावत्करणात् 'सण्हाओ रयणमयकूलाओ समतीराओ वइरामयपासाणाओ तवणिज्जतलाओ सुवण्णसुज्झरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सुहोयाराओ सुहुत्ताराओ नाणामणितित्थसुबद्धाओ चाउक्कोणाओ अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछन्नपत्तभिसमुणालाओ बहुलुप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियाओ पुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपडिपुण्णाओ पडिहत्थगभमन्तमच्छकच्छभअणेगसउणगणमिहुणविचरियसद्दुण्णइयमहुरसरनाइयाओ" अस्य व्याख्यानं प्राग्वत् । 'वारुणीवरोदगपडिहत्थाओ' इत्यादि, वारुणिवरे च वरवारुणीव यद् उदकं तेन **'पडिहत्थाओ'** प्रतिपूर्णाः 'पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पासाईयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ' इति पाठसिद्धम् । **'तिसोवानतोरणा'** इति तासां त्रिसोपानानि तोरणानि च प्रत्येकं वक्तव्यानि, तानि चैवम्—"तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणीणं दीहियाणं गुंजालियाणं सरसियाणं सरपंतियाणं सरसरपंतियाणं बिलपंतियाणं पत्तेयं २ चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पन्नत्ता, तेसि णं तिसोपाणपडिरूवगाणं इमे एयारूवे

वण्णावासे पन्नत्ते, तंजहा—वइरामया नेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पमया फलगा वइरामया संधी लोहियक्खमइओ सूईओ नाणामणिमया अवलंवणा अवलंवणवाहाओ पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं २ तोरणा पण्णत्ता, ते णं तोरणा नाणामणिमया नाणामणिमएसु खंभेसु उवनिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवचिया विविहतारारूवोववेया ईहामिगउसभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवरवेइयापरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताविव अच्चीसहस्समालिणीया रूवगसहस्सकलिया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं तोरणाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा पन्नत्ता, तंजहा—सोत्थियसिरिवच्छनंदियावत्तवद्धमाणगभद्दासणकलसमच्छदप्पणा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं उवरिं वहवे किण्हचामरज्झया नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हालिद्दचामरज्झया सुक्किल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरामयदंडा जलयामलगंधिया सुरम्मा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तेसि णं तोरणाणं उवरिं वहवे छत्ताइच्छत्ता पडागाइपडागा घंटाजुयला उप्पलहत्थया कुमुयहत्थया नलिणहत्थगा सुभगहत्थगा सोगंधियहत्थगा पोंडरियहत्थगा महापोंडरीयहत्थगा सतपत्तहत्थगा सहस्सपत्तहत्थगा सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।" अस्य व्याख्या पूर्ववत्। 'तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं पुक्खरिणीणं जाव विलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वहवे उप्पायपव्वगा निययपव्वयगा जगतीपव्वयगा दारुपव्वयगा मंडवगा दगमंडवगा दकमालगा दगपासाया उसडगा खडखडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।' इति प्रा-

ग्वत् । 'तेसु णं पव्वयगेसु जाव पक्खंदोलगेसु बहवे हंसासणाइं उन्नयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं पउमासणाइं सीहासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालियामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं । वरुणवरस्स णं दीवस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे आलीघरगा मालीघरगा केयइघरगा अच्छणघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गत्तघरगा मोहणघरगा चित्तहरगा मालघरगा जालघरगा कुसुमघरगा सव्वफालियामया अच्छा जाव पडिरूवा । तेसु णं आलीघरएसु जाव कुसुमघरएसु बहवे हंसासणाइं जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वफालियामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं। वरुणवरे णं दीवे णं तत्थ २ देसे तहिं २ बहवे जातिमंडवगा जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा नवमालियामंडवगा वासंतियमंडवगा दहिवासइमंडवगा सूरुल्लियामंडवगा तंबोलमंडवगा अप्फायामंडवगा अइमुत्तमंडवगा मुद्दियामंडवगा मालुयामंडवगा सामलयामंडवगा सव्वफालिहामया अच्छा जाव पडिरूवा । तेसु णं जाइमंडवेसु जाव सामलयामंडवेसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पन्नत्ता, अप्पेगइया हंसासणसंठिया अप्पेगइया कोंचासणसंठिया जाव अप्पेगइया दिसासोवत्थियासणसंठिया अप्पेगइया वरसयणविसिट्ठसंठाणसंठिया सव्वफालियामया अच्छा जाव पडिरूवा, तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति निसीयंति तुयट्टंति रमंति ललंति कीडंति पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुप्परक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणाणं फलवित्तिविसेसे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति' एतत्सर्वं प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं पुस्तकेष्वन्यथाऽन्यथा पाठ इति यथाऽवस्थितपाठप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमपि लिखितमस्ति, तदेवं यस्माद्वरवारुणीवात्र वाप्यादिषूदकं तस्मादेष द्वीपो वरुणवरः, अन्यच्च वरुण वरुणप्रभौ चात्र वरुणवरे द्वीपे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तस्माद्वरुणवरो—वरुणदेवप्रधानः, तथा चाह—'से एएणट्ठेण'मित्यादि। चन्द्रादिसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमाह—'वरुणवरे णं दीवे कइ चंदा पभासिंसु' इत्यादि

अर्थ—निश्चित स्थान पर पहुँच जाने पर आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के पहिले पहर में लघु सिद्ध-भक्ति, लघु योगि-भक्ति एवं लघु चैत्य-भक्ति का पाठ करके अपने सामयिक करने योग्य आसनों पर ही खड़े हो कर चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा का सङ्कल्प करे। अर्थात रात्रि को प्रदक्षिणा तो दे नहीं सकते, अतः सङ्कल्प मात्र करे। इसके पश्चात् पञ्च गुरु-भक्ति एवं शान्ति-भक्ति का क्रमशः पाठ करके वर्षायोग ग्रहण करे।

प्रश्न—क्या रात्रि मे मुनि दीपक के प्रकाश में भक्तियों का पाठ करे ?

उत्तर—ये भक्तियाँ मुनियों को कण्ठस्थ ही होनी चाहिए। यदि किसी तरह यह सम्भव न हो तो फिर ये कार्य दिन मे ही करने चाहिए। दीपक का उपयोग करना तो किसी भी तरह उचित नहीं। चातुर्मास्य स्थापन तो चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर से ही होगा. पर अन्य आवश्यक जो कार्य हैं—वे दिन में कर लेने चाहिए, जिससे रात्रि मे दीपक आदि की आवश्यकता ही न पड़े। इसके अतिरिक्त गत आठ मास मे जो दोष एवं प्रायश्चित्त किये हों वे सब संघ के आचार्य के समक्ष सरल भाव से निवेदन कर देने चाहिए। आचार्यों द्वारा भी आठ मास में जो कुछ दोष बन पड़े हों—उन सब का आचार्य संघ के वृद्ध मुनियों के समक्ष प्रायश्चित कर लें।

उक्त कार्य से निवृत्त हो जाने पर ग्रामान्तर जाने को मर्यादा बांधकर प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि अमुक स्थान तक इस वर्षा-काल में जाऊँगा आगे नहीं। वर्षा-योग एक ही स्थान पर किया जाता है। एक ही ग्राम या वसतिका मे भी स्थान-परिवर्तन नहीं किया जाता। परन्तु प्लेग, राज-द्रोह, देश-द्रोह आदि के होजाने पर स्थान-परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रश्न—गमनागमन की मर्यादा की प्रतिज्ञा करते समय क्या मुनि एक ग्राम से दूसरे ग्राम या नगर में जाने तक की मर्यादा रख सकते हैं ?

उत्तर—नहीं। इसका कहीं विधान नहीं है। हाँ ऋद्धि-प्राप्त मुनि ऋद्धि के निमित्त से अन्यत्र जाकर भी भोजन करते हैं—ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं। पद्मपुराण के ९२ वें पर्व मे सेठ अर्हद्दास की कथा मे इसका उदाहरण है। पर सर्व साधारण ऐसा नहीं कर सकते। वर्षा-काल मे रात्रि के समय मुनि को अपने वर्षा-योग के स्थान पर आना जरूरी है। यदि वे अधिक दूर जावेंगे तो वापस अपने स्थान पर कैसे आ सकते हैं ? वर्षा-ऋतु में मुनि को दो कोस तक जाने की आज्ञा है—इसके आगे नहीं। देखिए प्रायश्चित्त चूलिका में लिखा है—

घननीहारतापेषु कौशैर्वद्धि-स्वस्रग्रहैः।
क्षमणं प्रासुके मार्गे द्विचतुःषड्भिरन्यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—वर्षाकाल, शीतकाल और उष्णकाल मे प्रासुक मार्ग हो कर क्रमशः दो कोश, चार कोश और छह कोश जावे तो एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

तात्पर्य यह है कि वर्षा-काल (चातुर्मास्य) में संयमी दो कोश तक जा सकता है, अधिक नहीं।

संयमप्रकाश पूर्वार्द्ध—

द्वितीय किरण समाप्त।


मुद्रक—
दी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लि०,
जयपुर

ग्राहकों की सेवा में निवेदन



संयमप्रकाश की प्रस्तुत (द्वितीय) किरण के प्रकाशन में कुछ विलम्ब हो गया है। उससे इसके प्रेमी पाठक भी थोड़े अधीर हो उठे हैं। किन्तु पाठकों को यह जान कर सन्तोष करना चाहिए कि इस विलम्ब का कारण युद्ध-जनित वर्तमान परिस्थिति ही है। आज युद्ध के कारण पहले की अपेक्षा छह सात गुणा मूल्य देने पर भी यथेष्ट कागज सुलभ नहीं है। सरकारी नियन्त्रण भी इसमें बाधक है। इस समय कागज की मॉग इतनी बढ़ी हुई है कि हाथ से कागज बनाने वाले भी समय पर चीज तैयार करके नहीं देते और उसमें उत्तमता लानेका भी उतना ध्यान नहीं रखते। प्रेस वालों के सामने भी काफी अड़चने हैं। बढ़िया स्याही मौजूद न रहने से बीच मे कुछ दिनों के लिए इसका मुद्रण रोकना भी पड़ा। यही सब बातें विलम्ब का कारण हुई हैं। आशा है पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे। मुद्रण सम्बन्धी भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं उनका संशोधन आगे शुद्धि-पत्र मे कर दिया जावेगा।

प्रकाशक

